



शासनसम्राट् सूरिचक्र चक्रवर्ति-तपोगन्ध नभोनभोमणि-  
वाग्भट्टचारि-शासनप्रभावक-पूज्यपाद-महागुरुगण-  
श्रीमद्भिजय नेमिसूरि सद्गुरुभ्यो नमः

न्यायवाचस्पति-शास्त्रविशारदविरुदाहृत-पालत्रयचारि-शासनप्रभावक-  
सद्विधानेकग्रन्थ-पूज्यपादाऽऽचार्य श्रीमद्भिजय दर्शनसूरि प्रणीता-

## सम्मतितर्क महार्णवावतारिका

[ सम्मतितर्क मूल व्याख्यात्मिका ]

: प्रकाशिका :

मद्रासनगरस्था जैनमार्गप्रभावक ममा  
रीखरदास भधुतमल

४०९/४१० मीन्टस्ट्रीट-मद्रास सिटि-१

श्री नेमि स-८-विक्रमाब्द २०१३-श्रीवीराब्द २४८३

प्रतय.—८५०—कीमत रु १५

मर्ब इको स्वाधीन राग्या ठे—

Saraswati Pustak Bhandar,

Halikans Ratan Pole,

AHMEDABAD (India)

## ॥ आभारप्रदर्शन ॥

आ ग्रंथ प्रकाशनमा जे जे ज्ञानभक्त-दानरीर-श्राद्धवर्ष सदृष्टस्थो ए  
सलक्ष्मीनो सदुपयोग करवा निमित्ते आर्थिक सहाय आपी छे ते सर्वनो अमे  
आभार मानीए छीए.

### चिज्ञापन

श्री विक्रमनृप प्रतिबोधरू-शासनप्रभारक-पृथ्वपाद श्रीसिद्धसेनदिवाकरसूरि  
भगवन्ने वनावेल समतितर्क ग्रन्थनो अभ्यास करवाने इच्छनारा अभ्यासको बहु  
सरलरीते समनी शके अभ्यास करी शके ते भाटे ते मूल ग्रंथना प्रतिपदनु विस्ता  
रवी विवेचन करवा पूवैक आ मूल ग्रन्थनी लघु टीका वनावामा आपी छे  
परवादिकृत युक्तिसमूहनु सचोट खण्डन करवामां आपेल होवापी आ ग्रन्थनी  
महार्घता अने शासन प्रभारकता स्वभाविक सिद्ध थाय छे.

प्राप्तिस्थानम्—१ श्री रतिलाल चुलाखीदास—अमदावाद.

स्वामिनारायण चात्री घर न १७.

२ जमजतलाल गीरधर—जैन प्रकाशनमदिर

३०९/४ दोशीवाडानी पोस्ट—अमदावाद

३ जिनदास धर्मदासपेढी—महुवा घन्दर

तथा कदम्बगिरि ( बोदाना नेस ) ( मोगाष्ट )

### मुद्रणस्थानम्

भावनगरस्य महोदयमुद्रणालये गुलामचद लल्लुभाइ इत्यनेन

सम्पूर्णग्रन्थस्य मुद्रितम्

प्रस्तावना—रिपयानुरूपणिनादि सर्प अहमदावादस्य गाधीमार्गस्थित नयनमुद्रणालये

पण्डित भक्तलाल झवेरचन्द्रेण मुद्रितम्

## प्रस्तावना

तम स्तोम स हन्तु, श्री सिद्धसेनदिवाकर  
यस्योदये स्थित, मूर्कैरुर्कैरिव वादिभि ॥ १ ॥ प्रयुग्मसूरि

राजकुमार शुद्धोदन नौद्व गौतमे ननामी उपाडी जता माणसोने अने तेनी पाछळ रोरुळ करता तेना हुदुनीओने जोई पोताना सेजकने पुठ्यु आ शु ठे ? सेजके कधु 'कुमार' जुवान-जोध साजो सारो एक श्रेष्ठिपुत्र अचानक मरण पाव्यो ठे तेना मृतकने तेना सगाओ श्मशाने लइ जाय छे ' गौतम निचारे चडयो 'मानवमात्रनी आ दशा ? सौतुं मृत्यु अचूक मरण पडी शु धतु ह्यो ? वाळ किशोर युवान वृद्धानस्था मरण आ वधु कोनु ? दुनीयाना अनेक परावृत्त नोतुं कारण शु ?' शुद्धोदन सुखसुख निचारमा उडो उवर्षो पग तेनो ताग तेने न छाय्यो. तेणे फरी निचार्यु 'आ वैभव, पुत्र, स्त्री अने संपत्तिना मोहमय वातावरणमा मने आनो उकेल कर्षायी जडे आने माटे तो नीग्व शातिगळ स्थान जोए तेणे एक मधगते सुतेला पुत्र स्त्री अने वैभव भयो राजमहेल छोड्यो अने ते पगपाओ चाली नगर बहाग आयो दूरदूरना केइ आश्रमोमां कोइ 'ॐ नम. शिवाय' तो फोड 'हरे राम हरे कृष्ण हरे राम हरे हरे' करता तापमोनो अवाच तेने काने पड्यो गौतम आश्रमे आश्रमे कर्षा अनेक तापमो अने वर्षो सुधी तपस्याग अने ध्यान करनाराओनो ससर्ग सेयो पण तेने जम शु ? मरण शु ? मरण पडी शु स्थिति ? निगेरेनो उकेल न लायो गौतम एरुलो पड्यो. वर्षा सुधी आनो तेणे निचार कर्षा अने शोधी काट्यु के 'दुनीयानी देवताती बधी वन्तु क्षणनिश्चर छे ते धणे धणे नाश पामे छे दीयानी कलगी, भिन्न छतां आपणने सदृशताने लडने एरु लागे छे, तेम सदृशताने लडने दुनीयाना पदार्थोमा आपणने एरुता लागे छे नाकी उधु क्षणनिश्चर छे गौतमनो वाद-विचार क्षणक्षयमां स्थिर थयो तेणे क्षणक्षयने केन्द्रमा राखी बधी वातोनो उकेल आप्यो. राजकुमार गौतमना क्षणक्षयना निचाग्माथी नौद्वदर्शन प्रगट्यु

कारुणिक कपिले आ दुनियानी घटमाळनो उकेल पुरुष अने प्रकृति ए वे तत्त्वनी शोध द्वारा आप्यो अने ते वे तत्त्व उपर निर्भर रहेल तेनो तत्त्ववाद सांग्यदर्शनरूपे प्रगट्यो

भीमासक दर्शनकाराने मानवमात्र मतिभिन्नम, प्रमादादिधी अपूर्ण शक्तिगळो भास्यो अने तेथी तेणे वेदोने अपौरुषेय मान्या अने ते वेदी द्वारा अनेक वन्तुओना उकेल शोधी पोताना तत्त्ववादने तेणे स्थिर कर्षो

वैशेषिक अने नैयायिक दर्शनकारोण आ गधी घन्तुओना उक्तेल माटे अमापशक्तिसंपन्न ईश्वर, आत्मव्यापकतामाद विगरेनो आश्रय लइ तत्त्वनी व्यग्रस्था घटाधी

कोइए योगधी, कोइए भक्तिधी तो कोइए 'ब्रह्म सद् जगन्मिव्या' विगरेधी आत्मसतोष मान्यो. आम भारतमा कोइए कोइनु मृत्यु देखी जगत्नी विचित्रताना उक्तेलमा समग्रनीवनकाळ परोव्यो. कोइए पृथ्वी पाणी आकाश विगरे तत्त्वोने देखी तेनी गपेपणा आरंभी तो कोइए आपणे वयाधी आच्या अने वया जह्नु तेनी विचारणामा वर्षो काढी जुदा जुदा उक्तेलो आप्या पण आ घधा पाहळ पृथक्करण बुद्धि न होउने लइ आ घधा उक्तेलो-वादो केतलीकरन विवादमा परिणम्या अने तेने लडने दरेकनी साची मात पण एकरीजाना खडनमडनमा उत्तरी अग्रप्रत्यग परिष्कृत भारतना तत्त्ववादपुरुषने कोइए जगधी तो कोइए प्रत्यगधी पोताना तत्त्वमा परिपूर्ण मान्यो.

जैनदर्शने तत्त्वगवेषक बुद्धिधी अट्याता सर्वदर्शनोने अनेकातदृष्टिधी पोतानामा समावी लीघा अने क्षणिकमाद, नित्यवाद विगरे घधा वादो आपेक्षिक बुद्धिधी विचारवामा आवे तो कोइ खोटा नधी हाथी थाभला जेवो छे. सुपडा जेवो छे के दोरडा जेवो छे कहेनाग अधोने सर्वतः हाथीने अखलोकनार कहे के पगधी हाथी थाभला जेवो छे कानधी सुपडा जेवो छे अने पुंछडाधी दोरडा जेवो छे तेम जगन्ना तमाम वैभरो अने पर्यायो क्षणनिश्चर छे मोह न धरशो तेमज तेम पण न मानशो के कठी भागी एटले सोनु जंतु रबु. तमारु वाळपण, युवापण वृद्धपण अने मनुष्यपण भले जाय आवे पण तमारो आत्मा तो अमर अने नित्य छे तेनो निस्तार करवो के अधःपात करवो ते तमारा हाथनी वात छे

जैनदर्शननी आ सर्वमुखी दृष्टि ते तेनो अनेकातमाद छे, स्याद्वाद छे आ स्याद्वाददृष्टिने लइ सर्वदर्शनो जैनदर्शनमा समाय छे अने सर्वदर्शनोमाधी स्याद्वाददृष्टि जैनदर्शन अनुरूप तत्त्व शोधे छे आम भारतमा तमाम दर्शनो एकदृष्टि अने सर्वदर्शनोने समग्र करनार जैनदर्शन सर्वदृष्टि-अनेकातदृष्टि छे

कोइ पण पदार्थने तेनी घधी समवती बाजुने तपासरी ते अनेकातदृष्टि छे आ अनेकातदृष्टिनी साची समज नय, सप्तभगी, ज्ञान, अने ज्ञेयनी पुरी समज आवे तो ज आरी शके तेम छे आ नय, सप्तभगी, ज्ञान अने ज्ञेयनी पुरी समज आगम ग्रथोमा ठेर ठेर छूटी छूटी अनेक ठेकाणे आपामा आनी छे छता पण आ सगधी व्यग्रस्थित विचारणा करनार जैन दर्शनमा कोइ पण स्वतंत्र के प्रथम ग्रथ होय तो आ सम्मतितरुं ग्रथ छे जैनदर्शनना आतर तत्त्वने कसोटी उपर चढानी निर्मळ सुवर्ण रुपे जगत्ना समग्र तत्त्वमादो आगळ रजु करनार तेनो अनेकातवाद-स्याद्वाद छे आ अनेकातवादने सफल रीने पू आ सिद्धसेनदिवाकरखरिए आ ग्रथमां रजु कर्यो छे जेने लइ आ ग्रथ अने तेना कर्त्ता पू सिद्धसेनदिवाकरखरिए धर्मशास्त्रप्रभावक मनाया छे

मिक्षापात्र ठपर रही उमाडे पगे अने उमाडे माधे जगत् उपर विचरनारा जगत्ना जीर-  
माननु कल्याण इन्द्रानारा आपणा सर्व मुनिओ धर्मप्रभावरु महात्माओ छे तेमनी वेप, आचार,  
उपदश्रु अने आकृतिए केइ मानरगणोने तार्या छे अने कर्ने बोधिनीन उन्पन्न कर्या छे पण  
जेना कार्यनी वर्षोसुधी स्मृति रहे अने जेने याद करी इजागे मानबोनी निम्तार घाय ते पुरो  
जैनदर्शनना विशिष्टप्रभावरु महात्माओ छे

पू आचार्य सिद्धसेनदिवाकरसरि एवा विशिष्ट धर्मप्रभावरु महात्मा छे के जेमने अने  
तेमना सम्मति पयने तेमना पडीना थयेला ग्रयकारोमावी भाग्ये ज कोइए तेमने याद कर्या न  
होय काव्य, व्याकरण, न्याय, धर्मापदश्रु अने गीना अनेकविध सँकडो श्रयोनु सर्जन आपणा  
मुनिमहात्माओने हाये सर्जायु छे आ सर्जनो उपकार अने सौरम केन्द्र जैन शासनमा नहि  
पण जैन जैनेतर बधे निम्तरी छे छा नरी दृष्टि अने रिपयने आरपर पारसी ग्रथ निर्माण  
करनार महात्माओमा पू सिद्धसेनदिवाकरसरि, पू. जा हरिभद्रसरि, कलिकालमर्ण हेमचद्रसरि  
अने पू च यशोविजयनी महाराज निगेरे मुख्य छे पू सिद्धसेनदिवाकरसरि महाराजे जैनदर्शनना  
स्याद्वाद-अनेजातनादने जगत्ना चोरुमा झळइकती रीते अने अकाट्यरीते रजु करी एक बीजा  
तत्त्ववादोनी समन्वय करी सौने जणाव्यु के अनेजातनादना आमरा जिना व्यवहार के तत्त्ववाद  
कोई स्थिर धरो नहि तपत्याग अने ध्यान त्रिषाना उत्तरोत्तर त्रिकासना पगवाररूप गुणस्थाकोनु  
स्वरूप जैनप्रथोमा ठेर ठेर हतु छाता ते स्वरूपमा जगत्भरना आप्यात्मिकविक्रामने सप्रही दृष्टिओना  
स्वरूपने रजु करनामा पू आ हरिभद्रसरि प्रथम पक्तिए छे काव्य व्याकरण साहित्य विगेरे सर्व  
शास्त्रोनु महाराज निर्माण करनार कलिकाल सर्वज्ञ हेमचद्रसरि एवु ग्रथ निर्माण कर्यु के जैन  
दर्शनमा तो तेमना ग्रथो प्रभावरु रखा पण जैनेतरोए पण हमेशने माटे तेमना बधा ग्रथोने तेमना  
पोनाना ग्रथोमा प्रमाणित कर्या अने तेमनी माक्षिओ धरी कलिकाल सर्वत्ररूपे सबोप्या, तच-  
भरपुर कट्टीन न्यायप्रथोयी माटी राम स्तवन अने सञ्ज्ञाय मुचीनु अनेकविध साहित्य निर्माण  
करनार उ यशोविजयजीए तमाम तात्त्विक मतभेदोनी सफलना करी अने नव्यन्यायना अनेक  
प्रथोनु निर्माण करी जैनेतरविद्वान समाजने पण बताव्यु के जैनमुनिमहात्माओ साहित्यना  
सर्क्षेत्रमा सर्वकाळे सदा मोखरेज रखा छे

आ पू आचार्य हरिभद्रसरि-कलिकालमर्ण हेमचद्रसरि अने च यशोविजयजीमहाराज  
जे जैनशासनना महाप्रभावरु पुर्यो छे तप्रणे पण तेमना साहित्यसर्जनमा पू सिद्धसेनदिवाकर  
सरिनो महान उपकार गण्यो छे

अनेकात जयपताका शास्त्रवाचांसमुद्बध, पद्दर्शनसमुच्चय, पचरन्तु अने धर्मसंग्रहणी विगेरे  
प्रथोमा १४४४ ग्रथ प्रणेता पू आ हरिभद्रसरिजीए पू सिद्धसेनदिवाकरसरिनना सम्मतिक  
न्यायावतार अने वनीसीओमानी अनेक वस्तुओने साक्षिपाररूपे संप्रही छे पचवस्तुमा तेमणे

जणाव्युं छे के—

सुयक्रैरलिणा जओ भणिअ

‘आयग्यसिद्धसेणेण सम्मइए पइहिअजसेण

दुसम-णिसादिवायर कप्पत्तणओ तदक्खेणं ॥ १ ॥

पच ५४३ गा-१०-४८

दुपम (काळरूपी) निशामा दिवाकर-सूर्य जेना होइ दिवाकर नामवाळा अने प्रतिष्ठित यशवाळा श्रुतकेवळी जाचार्य सिद्धसेने कबु छे. ’

कलिकालसर्वज्ञहेमचंद्रसूरि महाराजे सिद्धहेमश्चानुशामनमा ‘अनुसिद्धसेनं कवयः’ कही सिद्धसेनदिवाकरसूरि महाराजने श्रेष्ठ कवि तरीके स्तव्या छे अने तेमणे अययोगव्यज्ज्जेदकारिकांमा

कच सिद्धसेनस्तुतयो महार्था, अशिक्षितालापकला क्व चैपा ।

तथापि यूथाधिपते पथस्थः, स्वलद्गतस्तस्य शिशुर्न शोच्य ॥

‘क्यां महाअर्थवाळी सिद्धसेनदिवाकरसूरिनी स्तुतिओ अने क्या नहि शीसेल आलापक वाळी मारी स्तुतिओ तोपण गजराजना मार्गमा रहल स्वलित गतिवाळो तेनो वाळक शोककरवा योग्य नथी ’ जणावी तेमनी द्वात्रिंशिकानी रचना करता पृ सिद्धसेनदिवाकरसूरिनी द्वात्रिंशिकाओने सामे राग्यी छे

उ यशोविजयजी महाराजनु अनेकरिय साहित्य ‘समतिप्रकरणना व्रणे कांडोने अनु-लक्षी सर्जायुं छे अने तेमणे तो तेमना यथाज ग्रथोमा सिद्धसेन दिवाकरसूरिने स्तव्या छे अने जाणे तेमना तत्वदृष्टिना साक्षात् गुरु सिद्धसेनदिवाकरसूरिज होय तेम तेमणे तेमनी भूरिभूरि स्तुति करी छे

आ उपरात आपणे त्या थयला नाना मोटा वधाए ग्रंथकारमहात्माओए तेमना गुणानुवाद गापा छे महाकाय स्याद्वादरत्नाकर जेना न्यायशास्त्रना ग्रथनिर्माता श्वादिदेवसूरि शैलीका चार्य, श्वादिचेतालशातिसूरि, ‘प्रद्युम्नसूरि, महिसेणसूरि, अमयदेवसूरि, मुनिरत्नसूरि विगेरे अनेके तेमना ग्रंथोमा तेमनी स्तुति करी छे

दिगंबर सप्रदायना श्मशहस्ति, श्चिद्यानद, श्वादिराज, श्चिक्वकोटि, श्चक्ष्मीभद्र, श्चअनतवीर्य, अने श्चअमलंके तेमना ग्रथ निर्माणमा पृ सिद्धसेनदिवाकरसूरिना आ सम्मति ग्रथ

१ पुजाभाह प्रथमाला मुद्रित सम्मति प्रकरण परिशिष्ट-३

२ श्रीसिद्धसेनहस्तिमद्रमुखा प्रसिद्धा । ते सूरयो मयि भयन्तु कृतप्रसादा ।

येषां विमृश्य ततत विविधात् निष्पादात् । शास्त्र विधीयति तनुप्रतिभो वि मातृ ॥ ८ ॥

३ द्रव्यानुयोग पूरणि सम्पदिवश्च । दशानप्रभातरैर्ना सम्मवादिभि

४ तथा च महामति

५ तदन्तोम स हन्तु श्री सिद्धसेनदिवाकर यत्योदये स्थित मुकैर्बैरिव वादिभि

અને દ્વાત્રિશિકાનો ઠેર ઠેર ઉપયોગ કર્યો છે અને કેટલાક પ્રયોગો ઉપર તો ટીકા ટિપ્પણો ફરી તેની મત્યે આદર બતાવ્યો છે ધવલ્લટીકાના પળ સમ્મતિનો ઠેર ઠેર ઉપયોગ થયો છે.

આમ પૂ આ સિદ્ધસેનદિવાકરસૂરિ અને તેમના સમ્મતિગ્રથને તેમના પછીના થયેલા તત્ત્વ-ગવેષક ગ્રંથકારોણ પરસ્પર સયુક્ત રીતે સ્તવેલ છે

વિક્રમની આઠમી શતાબ્દિથી સમ્મતિ દર્શનપ્રભાવક પ્રથ છે.

શાસ્ત્રોમા ઠેર ઠેર જણાવ્યું છે કે યુનિય નિર્દોષ આહાર ઘોરનો છતાં પણ દર્શનપ્રભાવક શાસ્ત્રોના અભ્યાસી યુનિને તેઓ નિર્દોષ આહાર ઘોરનાનો યોગ ન મળે તો અનેપણીય આહાર ઘોરીને પણ દર્શનપ્રભાવકશાસ્ત્રોનું અધ્યયન કરવું આ વાત નિશ્ચીથભાષ્યમાં

‘દસળપભાવગાણ સત્થાળઠાતે સેરતિજાડ’

ફહી જણાવેલ છે વિક્રમની આઠમી શતાબ્દિમા થયેલ જિનદાસગણિય નદીસૂત્ર ઉપર ચૂર્ણિ રચી છે, આ ચૂર્ણિમા પણ નિશ્ચીથભાષ્યની પેટે દર્શનપ્રભાવકશાસ્ત્રોના અભ્યાસીને અરુલ્લિત આહાર સેરનમા પ્રાયશ્ચિત ન લાગે તે જણાવ્યું છે અને તેમા દર્શનપ્રભાવક શાસ્ત્રો કોને ગણવાં તે જણાવતા સિદ્ધિવિનિશ્ચય અને સમ્મતિપ્રકરણનો તેમણે ઉલ્લેખ કર્યો છે

દસળગાળપ્પભાવગાણિ સત્થાણિ સિદ્ધિવિણિચ્છિયસમતિમાદિ ગેણ્હંતો અસથરમાણે  
જ અકપ્પિઅ પડિસેવતિ જયળાતે તત્થ સો સુહી અપ્રાયચ્છિત્તી મરતીત્યર્થ

(નિશ્ચીથચૂર્ણી)

‘કારણવશ જો યતનાથી સિદ્ધિવિનિશ્ચય સમતિ વગેરે દર્શનપ્રભાવક શાસ્ત્રોને શીલનાર સાધુ અકળ્પિત વસ્તુનું સેરન કરે તો પણ તે શુદ્ધ છે પ્રાયશ્ચિત તેને નથી લાગતું’

—આથી ઈ સ્પષ્ટ છે કે વિક્રમની આઠમી શતાબ્દિથી તો સમ્મતિતરું ધંથ દર્શનપ્રભાવક શાસ્ત્ર તરીકે જૈનશાસ્ત્રોમાં ઠેરઠેર ઉલ્લેખિત કરાયેલ છે

સિદ્ધસેનદિવાકરસૂરિજીવનપરિચય

આ દર્શનપ્રભાવક સમ્મતિપ્રકરણના રચયિતા સિદ્ધસેનદિવાકરસૂરિ વ્યારે થયા તેમનો જીવનવૃત્તાત શો હતો તે માટે આપણી પાસે બે સાધનો છે ૧ તેમની કૃતિઓ અને ૨ તેમનો પછીના થયેલા પ્રથકારોણ કરેલ સાહિત્ય

સિદ્ધસેન દિવાકરસૂરિના રચિત પ્રયોગમાં હાલ ૨૪ પ્રયોગો છે તેમા ૨૧ વરીસી અને ન્યાયા વતાર કલ્યાણમદિર ઈ ૨૩ સસ્કૃત કૃતિઓ છે અને પ્રાકૃતભાષામા રચેલ સમ્મતિપ્રકરણ છે. આ ચોવીસ પ્રયોગ પૈકી પાચમી અને ઈકવીશમી વરીસીમા ૧ પ્રાત ભાગમા સિદ્ધસેન શુબ્દનો ઉલ્લેખ છે વાકીના કોટપળ પ્રથમા સિદ્ધસેન દિવાકરસૂરિનો ઉલ્લેખ નથી કે તેમના જીવન સવચી બીજી વિશિષ્ટ માહિતી નથી





આ સવધમા અમારું માનહું એમ છે કે-આજથી ૧૦૦-૧૦૦૦ વર્ષ પહેલા ધયેલા પ્રથકારો જે કાઠ નિર્દેશ કર્યો હોય તેનાથી માત્ર વિવિધ અનુમાનોના જોરે જુદા જુદા નિર્ણય ઉપર આગી કાલની વ્યવસ્થાની ફેરવદલી કરવી તે વ્યાજની નથી આવી અમે તો પ્રભાવક ધરિત્ર, પ્રવંધકોશ, પ્રવધચિંતામણિ, વિક્રમચરિત્ર વિગેરે જૈન પ્રથો સિદ્ધસેન દિનાકરસૂરિને વિક્રમાદિત્યના સમકાલીન માને છે અને તે દરેક પ્રથોમા વિક્રમાદિત્યને તેમણે પ્રતિજોધ કર્યાનો ઉલ્લેખ છે તેનેજ અનુસરું વ્યાજવી માનીએ છીએ.

આજથી ૨૪૭૧ વર્ષ પૂર્વે ભગવાન મહાવીરનું નિર્વાણ અપાપાપુરીમા થયું. તેજ વખતે ઉજ્જૈનમા ચઢપ્રયોત મૃત્યુ પામ્યો ચઢપ્રયોતની ગાદીએ પાલક આવ્યો. આ પાલક અને તેના વંશજોએ ૬૦ વર્ષ રાજ્ય કર્યું. ત્યારવાદ ૧૪ વર્ષ નવનંદોનો અમલ ચાલ્યો અને ૧૫૬ વર્ષ મૌર્યવંશીઓનો અવતીમા અમલ રહ્યો. ભગવાન મહાવીરના નિર્વાણ વાદ ૨૧૩ વર્ષે અવતીમા સપ્રતિ મહારાજાહું સ્વર્ગમન થયું. ત્યારવાદ ૬૪ વર્ષે અરાજકતા ફેલાઈ પળ ત્યારપછી ૧૪ વર્ષે વીરનિર્વાણ ૩૦૮ સુધી મૌર્યશાસન જ અવતિ ઉપર રહ્યું. પરતુ ત્યારવાદ અરાજકતા ફેલાતા સુગમશીય પુષ્પમિત્રનો અમલ શરૂ થયો. આ અમલ ત્રિ.નિ ૩૪૮ સુધી ચાલ્યો તે અમલ નરમ પડતા વલમિત્ર અને માનુમિત્રનું ૬૦ વર્ષે વીરનિર્વાણ ૪૦૦ સુધી અવતીમા શાસન ચાલ્યું વીરનિર્વાણ ૪૦૦મા નરવાહને અવતિને કવજો લીધો, આ નરવાહને ૬૪૪ વીરનિર્વાણ ૪૪૦ સુધી રાજ્યશાસન ચલાવ્યું ત્યારપછી ત્યાંનો રાજા ડર્પણ થયો ડર્પણને ગર્દમી વિદ્યા સાધ્ય હોવાથી તે ગર્દમમિહ્ય તરીકે ઓચ્છવાયો આ ગર્દમમિહ્ય તુરવશનો હતો. વિદ્યા અને સત્તા એ બે એને ન પચી તેથી તે વ્યભિચારી અને મદો મત્ત થયો તેણે ધીના કાલકસૂરિના વ્હેન સરસ્વતી સાધીને ઉપાડી સધે અને કાલકસૂરિએ ઘણું સમજાવ્યું છતા તે ન માયો ત્યારે શક જાતિને લાવી વીર નિ. ૪૫૩ મા વર્ષે ગર્દમમિહ્યને પદ-અષ્ટ કર્યો ગર્દમમિહ્ય શઠથી મૃત્યુ પામ્યો અને અવતિ ઉપર શકોનો દોર ચાલ્યો તે વ્યવસ્થિત ન ચાલનાથી માલમગના સમઠનથી શક્તેને હાકી કાઢવામા આવ્યા અને ગર્દમમિહ્યના પુત્ર વિક્રમને મહાનિર્વાણ ૪૫૭ મા રાજ્યાધિષ્ટિત કર્યો. વિક્રમે ૧૩ વર્ષનો એવો સુદર રાજ્યદોર ચલાવ્યો કે પ્રજા સુખ પ્રસન્ન થઈ પૃથ્વીને તેણે ૫ સિદ્ધસેન દિનાકરસૂરિના ઉપદશથી અનુષ્ઠી બનાવી આમ મહાવીર નિર્વાણ વાદ ૪૭૦ વર્ષે વિક્રમ સવત પ્રવર્ત્યો

ભગવાન મહાવીરનું નિર્વાણ અને ચઢપ્રયોતનું મૃત્યુ	૦
પાલકના વંશજોનો અમલ	૬૦
નવનંદોનો અમલ	૧૪
મૌર્યસત્તા	૧૫૬
પુષ્પમિત્ર	૩૦
વલમિત્ર માનુમિત્ર	૬૦

નરવાહન	૪૦
ગર્દભમિહ	૧૩
શક	૪
વિક્રમનો રાજ્ય અમલ	૧૩

વિ. ૪૭૦

આ રીતે વિક્રમ સંવતની શરૂઆત મહાવીરનિર્વાણ ૪૭૦ વર્ષે ૧૫૬ આ વિક્રમના રાજ્ય ફાલ્ગુના સિદ્ધસેન દિવાકરસગિ હતા એટલે તેમનો ફાઠ વિક્રમની પ્રથમ શતાબ્દિ એજ મહાવીર નિર્વાણ પાંચમી શતાબ્દિ જ વ્યાજની લાગે છે. આ સિદ્ધસેન દિવાકરસરિના જીવન પરિચય માટે જુદા જુદા પ્રવચ્નો છે, તેમા તેમનો પરિચય આ પ્રમાણે જાણ્યો છે

### સિદ્ધસેન દિવાકરસરિ પરિચય

વિદ્યાધરગચ્છીય સ્કદિલસરિ ગૌડદેશમા પધાર્યા ત્યા કોગલનો મુકુદ નામનો બ્રાહ્મણ આવ્યો તેણે 'ભોગે મોગમય, સુમે વ્યમય' નું વચ સરિના મુગ્ધથી સામગ્યુ અને તેને વૈરાગ્ય થયો તેણે સ્કદિલસરિ પાસે દીક્ષા લીધી દીક્ષા વચ્ચે તેની ઉમ્મર વૃદ્ધ હતી તેણે ઉનાચ્છે ગાથા ગોત્રમા માઠી લોકો કંટાટ્યા અને કહયુ ઘરડે ઘડપણે કાંઈ મહારાજ ! આવડે ? મુકુદે (યક્ષમત્સિ) નામના ચૈત્યમા એકરીશ ઉપવાસ કર્યા અને સરસ્વતી સિદ્ધ કરી. મુકુદે જન્મે દીક્ષાને શુદ્ધનાદીશ્વરિ તરીકે જન જગતમા મસિદ્ધ થયા

વિક્રમે રાજ્ય ઉપર આઠ વચા વાદ તેણે સારા સારા વિદ્વાનો પોતાની સમામા રામ્યા હતા ફાલીદાય કરિ અને સિદ્ધસેન જેમા મહાકવિઓ તેની મમામા હતા આ મિદ્ધસેન કાલ્યાયન ગૌરીય હતો તેના પિતાનુ નામ દેવર્ષિ અને માતાનુ નામ દવશ્રી હતુ તેમને એક દેવેન હતી તેમનુ નામ સિદ્ધશ્રી ક્ષત્રુ આ સિદ્ધસેન વૈદિક ધર્મનો ઉપાસક હતો વાદવિદ્યાનો શોસ્ત્રીન હતો. કોશ્પણ વિદ્વાનનુ નામ સામગ્રે તો તેની સાપે તે ચર્ચા કરતો અને તેને નમાવતો

એક વખત શુદ્ધનાદી મહાવિદ્વાન આચાર્ય છે એનુ તેણે કયાયથી મામગ્યુ, સિદ્ધસેન તેમને મળ્યા ઉપડચો, મુગુપુર આગતા રસ્તામા તે શુદ્ધનાદીને મગ્યો અને તેણે કહ્યુ 'હુ તમારી સાથે વાદ કરવા ઇચ્છુ છુ'

સરિ કહ્યુ જગલમા આપણા વાદના ત્વરા સ્વોટાનો નિર્ણય કોણ કરશે ? સામે ઢોરો ચારતા ગોરાબ્જોને સિદ્ધસેને વોલાબ્યા અને તેમને મધ્યસ્થ રાસી જગલમા વાદ આરંભ્યો. સિદ્ધસેને સસ્ક્રતમા ઘણી ઘણી દલીલો કરી. સમયજાળ શુદ્ધનાદી

'નરી મારીયદ નરી ચોરીયદ પરદારમણ વિચારિયદ' કહી તાબોડા પાડતો રાસ આરંભ્યો ગોરાઝીયાઓ પણ તાબીઓ વૃદ્ધતા રાસમા જોડાયા અને વોલ્યા. મહારાજ ! તમે જીરયા આ સ્થલે પાઠકથી તેની વાદગરિ માટે તાબરસ ગામ વચ્ચુ

बृद्धवादी भरुच आव्या राजसभामा सिद्धसेन साथे विद्वानोनी मध्यस्थतामां वाद आर-  
भायो त्या पण सिद्धसेन द्वार्या एकनचनी सिद्धसेन बृद्धवादीना शिष्य थया. अने त्या तेमनु  
नाम वृद्धदचद्र पाडव्यु. विद्वान् कुमुदचद्र धोडान बखतमा जैनशैलिना अने जैनशास्त्रोना पारगामी  
थया गुरुए तेमने जाचार्यपदे स्थाप्या अने फरी तेमनु नाम सिद्धसेन स्थाप्यु आ पठी सिद्ध-  
सेनसूरि परिवार सह विद्वरना लाग्या

एकवार सिद्धसेन दिवाकरसूरि अचतीमा पधार्या. विक्रमादित्ये उत्तमपूर्वक पधारता सूरिनी  
परीया करवा मनमां नमस्कार कर्या, पण हाथ जोड्या विना ते सामे आर्वा उभो. गुरुए धर्मलाभ  
उचार्यो विक्रम राजा बोल्यो ' महाराज ! विना नमस्कारे धर्मलाभ

सूरिए कळुं 'धर्मलाभ स्तन करता अधिकछे अर्थनिज ते अपाय छे तमे मनयी वदना  
करी तेथीज तमने धर्मलाभ आप्यो छे '

राजा आश्चर्य पाय्यो अने तेणे गुरुने क्रोड सोना महोर आपना गाडी

[धर्मलाभ इति प्रोवते दुरादुदृष्टपाणये ।

सूरये सिद्धसेनाप ददौ कोटिं नराधिपः॥]

परतु कचनकामिनीना त्यागी गुरुए न लीपी राजाए आपेलु दान पाटु न लेनाय तेम  
कही ते धन तेणे जिणोंद्वारमा खळ्युं

एक बखत सिद्धसेा दिवाकरसूरि चिचोड तरफ विचरता हता त्या एक थामलो जोयो आ  
थामलो नहोतो पापाणनो, नहोतो लारुडानो के नहोतो माटीनो सूरिए वारीकाड्यी जोषु तो  
ते कोइ लेपथी वनावेलो लाग्यो सूरिजीए बुद्धिपठथी तेनी मनस्पतिओ पारखी अने विरुद्ध  
श्रीपधित्री द्वारा काणुं पडाव्यु तो ते थामलाना पोलणमा सुदर हस्तलिखित प्रतोनी सारो  
सग्रह देखायो आचार्य महाराजे एक प्रत हाथमा लीधी थोडु वाच्यु त्या प्रत अदृश्यपणे घुटग्राह  
ग्रह अने थामलानु छिट्ट पुराह गयु सूरि निचाममा पड्या अने मान्यु के दैवीमकेन आमां आगळ  
वधवानी ना पाडे छे पण तेमणे थोडु वाच्यु तेमा तेमने सुवर्णसिद्धि अने सर्पपमांथी सैन्य  
वनाववानी ए वे विद्या याद रही गड

सूरिमहाराजे चिचोडथी विहार आगळ आरभ्यो अने ते कुर्मारपुर नगरमां पधार्या. त्याना  
राजा देवपाळे सुदर सामैयु कर्युं राजा परम गुरुमत्त वन्यो एक बखत कामरु देशना राजा विजय-  
वर्माए कुर्मारपुरने घेरी लीधु देवपाळ पासे घाय सपत्ति अने लच्छर सुट्युं क्यारे कुर्मारपुर पडशे  
तेनो भोंसो न रती एटले आंसु साथे राजा सूरिमहाराजने पगे लागीने वहेवा लाग्यो 'महागज !  
तीडोना टोळा जेवु शत्रु सैन्य मारा नगरनो नाश करणे तेम लागे छे हु शत्रुने पहोंवी शत्रु  
तेम नथी ' गुरुए जाव्यासन आप्यु अने सुवर्णसिद्धिथी द्रव्य अने सर्पपनियाथी सैन्य सर्जी  
विजयवमनि तेने देशे पाछो मोकळ्यो.

आधी देवपाल गुरुने परम उपकारी मानना लाग्यो ते बोल्यो 'नाथ ! आप खरेखर दिवाक रतुल्य छो मारो शुभुभयनो अवकार तमे खरे अवमरे दुर कर्यो छे आ पछी दवपाले सिद्धसेन सरिने दिवाकरपदधी नगज्या अने सिद्धसेनसरि सिद्धसेनदिवाकरसरि तरीके त्यारवाद मसिद्धि पाम्या

राज्यना अति ससर्गे जते दिवसे सिद्धसेनसरि धर्मगुरुने बदले राजगुरुना ठाठथो रहेवा लाग्या. तेपालखीमां बेसी रोज राज्यसभाए जाय अने पालखीमा बेसी आवे आ वात तेमना गुरुमहाराज वृद्धिवादिए सामळी त्यारे तेमने घणु दुःख थयु 'शामननी प्रभायना करे तेरो विद्वान् आम शासननी अपभ्राजनामा केम पडी जाय छे ?' ए विचारें वृद्धवादिसरि गच्छथी जुदा पडषा अने कुर्मारपुर आव्या. सुगवासन उपाडाना समये भोइनो जग्याए कात्रळी ओढी पोते गोठनाई गया. ऋण भोई जुवान हता एटले सडसडाट चालता वृद्धवादि वृद्ध होगथी कंपता हता आधी पालखी घडीक नीची उची थया लागी एटले अदर बेटेल सिद्धसेन अफलाया अने बोल्या

'भूरिभारभरान्त रूध' किं तत्र बाधति ?'

'हे वृद्ध घणो भार उचरुनाथी शु तारो खभो दु खे छे ?'

वृद्धवादिए आ वचन सामळी विचार्युं के सस्कृतनी समर्थ विद्वान् एशआराममा केनो उपयोग शून्य बन्यो छे 'बाधते' प्रयोगने बदले बाधति बोले छे तेमणे कंपता अजाजे कबु.

'न तथा बाधते स्कंधः यथा बाधति बाधते'

(तमारा जेना समर्थ विद्वान् बाधते ने बदले बाधति प्रयोग उचारे छे तेथी मने जेटलु दुःख थाय छे तेटलु दु ख खमा उपरना भारथी थतुं नथी)

सिद्धसेन चमज्या, उपयोग शून्यता माटे तेमने शम् उपजी सुगवासनमाथी हटे उत्तर्या अने वृद्ध सामे नजर नासी तो गुरुमहाराजने जोया सिद्धसेन शम्माया गुरु पासे तेणे प्रायश्चित्त लीघु अने तपत्यागमा जोडाया गुरु थोडा वरत वाद सर्गे मचर्या गठना नायक सिद्धसेन शासन प्रभावना करता पृथ्वी पावन करवा लाग्या. [वृद्धवादीसरिए सिद्धसेनदिगुरुने पालखी उपाडी 'भूरिभारभरान्त' पद कही प्रतिरोध कर्यो तनो उल्लेख उपदेशप्रासाद विगेरेमा छे ]

प्रभाप्रचरित्र विगेरेमा तो आ सपथमा आ प्रमाणे लख्यु छे

'वृद्धवादीसरिए सामग्र्यु के सिद्धसेन राजभक्तिना मोहमा पडी पालखी तथा हाथी विगेरे वाहनो उपर सगा थड राजमदिरे जाय आवे छे तेथी तेमने समजानना गुरुमहाराज कुर्मारपुर नगरे गया

सिद्धसेन राजमार्ग उपर पालखीए बेसी जमानो तैयारी करे छे अने लोको तेनी बिल्दावली पोकारे छे ते वरते वृद्धवादीसरिए कबु

'विद्वान् ! मारी एक शक दूर न करो ?' एम कही नीचेनु पद्य

‘अणफुल्ली फुल्ल म तोडहु मन जारामा म मोडहु  
मणहुसुमेहि अचि निरंजणु हिंडहु काड वणेण वणु ॥२॥’

कथु. सिद्धसेने पधने समजवा सुउ प्रयत्न कर्यो पण ए अपभ्रश पधनो अर्थ तेमनेन समजायो त्त्यारे आडो उत्तर आपी कथुके ‘तमे वीरुं काइ पुछो’ पण वृद्धवादिए कथु के ‘एनेज फरी विचारो अने जमान आपो’ सिद्धसेने अनादरथी ए पधनो असबद्ध जेवो तेनो खुलासो कर्यो पण ते खुलासो गुरुए कउल न राख्यो त्त्यारे सिद्धसेने कथु तमेज तेनो अर्थ करी बतावो वृद्धवादिए कथु आ पद्य एम कहे छे के—

जीवनरुप नानरुडा कोमळ फुलवाळा मानरदेहना जीवनाशरुपी फुलोने तमे राजसत्कार अने अभिमानथी न तोडो, मनना यम नियम आदि षगीचाओने भोगविलासद्वारा न भागो मनना सद्गुणोरुप पुण्यो वडे निरंजन जिनेश्वरदेवनी पूजा करो एक वनथी बीजे वन शा माटे मटको छे

( बीजो अर्थ )

अथवा अणु एटले अल्प धान्य, ते अल्प विषयपणाथी मानरदेहना पुण्यो समजवा. ते अल्प पुण्यी नरदेहना शीलांग महाप्रत रूप पुण्योने विनाश कर नहि मनरुप आरामने मरडी नाख, एटले चिंतना विरुल्यजाळनो सहार कर तथा भुक्तिपदने प्राप्त थयेला निरंजन वीतराग देवनी पुण्योथी अर्चा न कर. अर्थात् गृहस्थने उचित छत्राय जीवनी निराधना रूप देवपूजामा प्रयत्न न कर कारण के ते सावय छे कीर्तिनी कामनाथी ससार रूप अरण्यमा शा माटे भ्रमण करे छे, अर्थात् मिथ्यावादाने तजी जिनेश्वरे कहेल सत्यमा आदर कर ए बीजो अर्थ बताव्यो

( त्रीजो अर्थ )

अथवा तो कीर्तिना स्याद्वाद वचन रूप पुण्योने तोड नहि तथा मनना अध्यात्मोपदेश रूप आरामने तोडी न नाख, अर्थात् खोटी व्याख्याथी तेनो विनाश न कर कळी रागादि लेपरहित निरंजन मननी, सुगधि अने शीतळ सदुपदेश रूप पुण्योथी पूजा कर. अर्थात् मनने श्लान्य वनाव तथा ससार रूप अरण्यना स्वामी परम सुखी होवाथी ते तीर्थकर छे, तेमना शब्द-सिद्धात स्रष्टमा भ्राति शा माटे लवे छे ? कारण के तेज सत्य छे. माटे तेमाज प्रेम-मानना राखनी जोइए ए त्रीजो अर्थ बताव्यो

आ सांभळी सिद्धसेनउ मगज विचारे चड्यु खरेखर आ पवित्रओ मारे माटेज घटे छे वृद्ध सामे धारिने जोयुं तो तेने ते वृद्ध बीजा कोइ नहि पण पोताना गुरु वृद्धवादीज लाग्या ते गुरुने नमी पडया अने कथु के ‘मि आपनी अवज्ञा करी तेनी क्षमा आपो. गुरुए कथु दुनीयाना

बीजा माणसो तो भूले पण तमारा जेवा महा विद्वान पण भूले तो बीजानी शी वात करवी ? तमे संतोपथी सद्धानने पुष्ट करी मारा आपेला शास्त्ररचनेने पचावो थामलामाथी प्राप्त थयेल पुस्तक शासनदवीए हरी लीधु ए योग्यज थयु कारण के अत्यारे तेने पचावनार योग्य त्यागी ओ क्या छे ? गुरुनो आ उपदेश सामळी सिद्धसेने कष्टु ' हे प्रमो ! जो भूलयी शिष्यो आडे रस्तें न जाय तो प्रायश्चित्त मिधायक शास्त्र शा काममा आवे ? माटे हवे तमे प्रायश्चित्त वडे मने शुद्ध करो' गुरुए घटर्तु प्रायश्चित्त जापी छेवटे तेमने पोताने आसने वेसाडया अने गुरु स्वर्गे सिधाव्या

संस्कृत भाषाना मकाण्ड विद्वान् सिद्धसेनने एरु बखत एनो विचार आव्यो के 'नमो अरि हंताणं,' विगेरे सत्रोने सुदर मस्कृत भाषामा बनाव्यां होय तो केतुं सारु ? श्रमणसधना वृद्धस्थ विरो चोंकी उठया अने गेल्या 'बाल, स्त्री अने मन्दना माटे आ मिद्धात आपणा पूर्वगणधर-भगवतोए प्राकृतमा गुथ्यो छे तेना उपर अनादरनो विचार केम कराय ? आ चिंतयन भयकर पापरूप छे आ पापनी शुद्धि माटे, शास्त्र पाराचिक प्रायश्चित्त कहे उे ' सिद्धसेनदिवाकरसरिने पोतानी उतावळनु भान आ-यु तेमणे पाराचिक प्रायश्चित्त स्वीकारी गच्छ छेडयो. मात वर्ष छुपा वेशे चारित्र पात्र्यु अने त्यारजाद तेओ शासनप्रभावना करवा अवति तरक चाल्या

अवतिना सीमाडामा ते बखते कुडंगेश्वरसु भव्य मंदिर हतु ते मंदिर यात्रासु घाम हतु पूजारी अने भक्तवर्ग आवे ते पहेला तो अग्रभूत जेमा वेगळाळो मिद्धसेन लिंग समस पण करी वेठा पूजारीओए उठाडवा धणो प्रयत्न कर्यो पण ज्यारे ते अग्रभूत न उठयो एटले राजा आव्यो अने तेणे कष्टु 'अग्रभूत ! महादेवनी अरना न होय, तेने तो नमस्कार, होय मिद्धसेन गेल्या 'हुं नमस्कार करीश. पण आ देव मारा नमस्कार नही सहन करी शके ?'

राजाए कष्टु ' एम ते होय ? करोने नमस्कार ?'

सिद्धसेने कल्याणमंदिरनु स्तोत्र आरभ्युं पृथ्वी कंपनी लागी धूमाडाना गोटेगोटा नीक-ळवा लाग्या प्रेक्षकोने लाग्यु के धदरयी अग्नि नीकळशे अने अग्रभूतने भरस्वी खाशे देवनी. आशाताना नुरुशान कर्यां विना थोडी रहे ? त्या तो तेरमो श्लोक बोलता लिंग फाट्यु अने तेमाथी पार्श्वनाथभगवाननी प्रतिमा प्रगटी

राजा आक्षय्य पाय्यो अने पृथ्वी के 'आ वधु शू ?' त्यारे सिद्धसेन दिवाकरसरिए राजाने अवति सुकुमाळ्युं वधुं वृत्तान्त कही अवतिपार्श्वनाथनो इतिहास समजाव्यो, विक्रम सिद्धसेनदिवाकरलो भक्त वन्यो अने तेणे मो गाम मंदिरना निभाव माटे आप्या श्रमणसंघ सिद्धसेनदिवाकरसरिना आ शमन प्रभावनाथी प्रसन्न थयो अने तेणे तेमने गच्छनायक तरीके पूर्वनी पेटे स्थाप्या सरिए आम प्रायश्चित्त पुरु कर्युं

एक समये सिद्धसेन फरी वर्षों बाद अवति आच्या अने पहरेगीरने

दिदक्षुर्मिशुरायातो वारितो द्वारि तिष्ठति ।

इस्त यस्तचतुःश्लोकं किमागच्छतु गच्छतु ॥१२४॥

‘हाथमा चार श्लोको लइ एक भिक्षु तमारा दर्शननी इच्छाथी आवेलो छे अने दरवानो-  
ए रोकवाथी दरवाजा उपर उभो छे, कहो के ते आने अगर जाय ?

राजाए सिद्धसेनदिवाकरने पोतानी पासे बोलाव्या अने तेणे तेमना चार श्लोको साभळ्या.

“ अपूर्वैय धनुर्विद्या भवता शिक्षिता कुत’

मार्गणौघ’ समभ्येति गुणो याति दिगन्तरम् ” ॥ १ ॥

“ अमी पानकुरकाभा सप्तापि जलराशय. ।

यद्यशोराजहसस्य पञ्च भुवनत्रयम् ” ॥ २ ॥

“ सर्वदा सर्वदोऽसीति मिथ्या सस्तूयसे बुधं. ।

नारयो लेभिरं पृष्ठं न वक्ष’ परयोपित’ ” ॥ ३ ॥

“ भयमेकमनेकैभ्यः शत्रुभ्यो विधिवत्सदा ।

ददासि तच्च ते नास्ति राजधिरमिदं महत् ” ॥ ४ ॥

‘हे राजन् ! आ अपूर्व धनुर्विद्या तु क्याथी शीरयो के जेमा मार्गण ( वाण के याचक )  
समूह पासे आवे छे अने गुण (धनुष्यनी दोरी अथवा यश) दूर दिगत सुधी जाय छे ?

आ साते समुद्रो जळपान करवामा कुरक जेना छे तेथी जेना यशरूप राजहसने त्रणे  
भुवन पाजरा तुल्य छे, अर्थात् त्रणे भुवनमा जेनो पञ्च गमाई रक्षो छे ?

हे राजन् ! तु सर्वदा सर्व इच्छितने आपनार छे, एम पढितजनो जे तारी स्तुति करे  
छे, ते मिथ्या छे, कारण के शत्रुओने तें पीठ नथी आपी अने पररमणीओने वक्षस्थळ नथी  
आप्युं. ३

हे राजन् ! अनेक शत्रुओने सदा कायदा प्रमाणे तुं एक भय ज आपे छे, छता ते तारी  
पासे उपस्थित नथी, आ एक मोटा आश्चर्यनी बात छे अर्थात् तुं सदा निर्भय छे ?

आ सामळी राजाए चार हाथी चार देश त्रिगेरे घणुं घणु आयना माड्युं पण तेमानुं काह  
गुर्य न लीघु अने कक्षु मात्र एटलु के अश्वारनगरमां चार द्वारवाळो सुंदर जैनभासाद बधावो.  
चिक्रमादित्ये ते नगरमां सुंदर जैनभासाद बधाव्यो अने तेनी प्रतिष्ठा सिद्धसेनदिवाकरसरि  
द्वारा करावी तेमनो ते परम भक्त बन्यो.

आ पठी सिद्धसेन भरुच गया. आ वखते भरुचमा बलमित्रनो पुत्र धनजय राज्य करतो  
होतो तेणे सुंदर सामैयु कर्तुं दैवयोगे भरुचने शत्रुओए घेरी लीघु बलमित्र मुहायो. ते निधासिद्ध



અને શક્તિસંપન્ન સિદ્ધસેનહરિને શરણે ગયો. તેમણે સર્પપવિચારી સૈન્ય સર્જી તેને ચંચારી લીધો વલમિત્રે ત્યારે કહ્યું 'ભગવંત સ્વરેશ્વર આપ સિદ્ધસેન તે સિદ્ધસેનજ છે'

વિદ્યમાદિત્યે સિદ્ધસેનદિવાકરહરિ પાસે શત્રુજયનુ માહાત્મ્ય સામઝ્યુ અને મહ્ય સઘયાત્રા કાઢી આદીશ્વરભગવતને મેટી શત્રુજયનો ઉદ્ધાર કર્યો હતો. આ સંઘ કેવો મહ્ય હતો અને તેમા કેટલુ સાજન હતુ તેનુ વર્ણન આજે પણ પર્યુપણમાહાત્મ્યમાં વચાય છે. યાદમાર સઘયાત્રા પૈકીની સઘયાત્રામા આ વિક્રમરાજાની સઘયાત્રા મુરચ ગણાય છે

આ પ્રમાણે પ્રમાત્રના કરતા સિદ્ધસેન દિવાકરસુરિ પ્રતિષ્ઠાનપુર ગયા હરિણ યોગ્ય શિષ્યને ગવ્હનો ભાર સોંપ્યો અને પોતે અણસણ કરી સ્વર્ગગામી બન્યા

થોડા વરત વાદ ણક ચારણ વિશાઢા નગરીમા આવ્યો અને સિદ્ધસેન દિવાકરના બ્દેન સિદ્ધશ્રી માચત્રી હતા તેમની આગઢ બોલ્યો

સ્ફુરન્તિ વાદિત્વત્રોતા' સામ્પ્રતં દક્ષિણાપથે ।

'હાલ દક્ષિણ દેશમાં વાદિઓ ચમકી રહ્યા છે'

સાધ્વી બોલી ઉઠયા 'સિદ્ધસેન દિવાકર હોય ત્યા વાદિઓ ચમકે ણમ વને કેમ ? તેમણે તે શ્લોકનુ ઉત્તરાથં ઉન્ચાયું

નૂનમસ્તગતો વાદી સિદ્ધસેન. દિવાકર

'વાદી સિદ્ધસેન જરુર સ્વર્ગગામી થયા હોમા જોઈ'

આ પછી સિદ્ધશ્રી સાધ્વી પણ અણસણ કરી સ્વર્ગગામી બન્યાં

પ્રવધર્ચિતામણિ પ્રવધક્રોશ વિદ્યમચરિત્ર ત્રિમેગેમા સિદ્ધસેન દિવાકરસુરિના જીવનચરિત્ર સંબંધમા કેટલાક તફાવત જરુર છે પણ પ્રસગોની સામ્યતા તો જરુર છે

કેટલાક પ્રથમા શુદ્ધવાદિહ્મિસાથેનો વાદવિવાદ, 'નમોર્હન્ મિદ્ધાચાર્યાપાધ્યાય સર્વસાધુમ્યઃ ની માફક સર્વશ્રોને સશ્કૃતમા વતારવાની ઈચ્છા, વિક્રમરાજાના મહાકાઢ મદિરમાથી પ્રગટ થયેલ અવતિપાર્શ્વનાથના મદિરનો ઈતિહામ, દેવપાઢ રાજાનો પ્રમગ, વિક્રમનુ ઘન વિગેરે પ્રસગોને વિસ્તૃત રીતે વિક્રસાવવામા આવ્યા છે. અને કોર્દક્રમા સક્ષિપ્ત રીતે સપ્રહિત કરવામા આવ્યા છે કેટલેક સ્થલે પ્રસંગોના ક્રમમા ફેરફાર છે પરતુ વિગત અને પ્રસગોને અનુસરી વધે સામ્યતા છે

આચાર્ય સિદ્ધસેન દિવાકરહરિનુ ચરિત્ર પ્રમાત્રક ચરિત્ર વિગેરે પ્રથોમા આપવામા આવ્યુ છે ત્યાં ચરિત્રકારે જનાવ્યુ છે કે આ ચરિત્ર અમે પૂર્વપુરુષો પાસેથી સામઢીને, પ્રાચીન પ્રથો જોદને અને પ્રાચીન પ્રશસ્તિ અને શિલાલેલો ઉપરથી તારવીને આપ્યુ છે. આમ આજથી ૮૦૦ વર્ષ પહેલાના આચાર્ય પ્રમાચદ્રહરિણ તૈયાર કરેલ તેમના ચરિત્રનેજ આપણે સાગોપાગ માનતુ જોઈ.

जैन परंपरामा केवलज्ञान अने केवलदर्शनमा उपयोग क्रमिक मनातो हतो आनु समर्थन विशेषान्तरमाप्य विगेरे प्रथोमा जिनभद्रगणिकमाभ्रमण विगेरे पूज्य आचार्यो ए कयुं छे आ समर्थनमा पण तेमणे आगम प्रथोनाज ह्याला आप्या छे सिद्धसेन दिगारुखरिए आ क्रमिज्ञानादनुं निरसन करि अभेदनु समर्थन कयुं छे. छता प्राचीन परपराथी जुदी वस्तु कहेवाथी तेमनी प्रत्ये केटलोकअणगमो जाग्यो परतु तेमनाग्रथथी जैनशासनना सर्वस्वरूप स्याद्वाद् शक्यो अने ते प्रतिष्ठान्त थता स्वयमेव सिद्धसेनखरि प्राचीन वस्तुथी जुदी वस्तुने रजु करनार होमा छता प्रभावक मनाया आथीज पाठ्यना विद्वान् ग्रथकारोए आ वादना खराखोटापणानो निर्णय न करता सिद्धसेनदिगारुखरि अने जिनभद्रगणि भगवंत ननेने समर्थ कही तेमना वन्ने प्रत्ये पूज्यता बतायी 'तत्र केवलिगम्य' कही समेटी छे.

आम जा सिद्धसेनदिगारुखरिआशासनप्रमाणक महापुरुष छे तेमनी पछी थयेला जैनशासनना एकेएक ग्रंथकार अने एकेएक महात्माओए तेमना जैनशासन उपरना नि.सीम उपकारने स्तव्यो छे. जैनशासनना आतरतत्र स्वाद्वादाने तेमणे जगतना चोक्रमा अकाट्य तरीके पुरवार करी बतावेल छे अने जैनतर्कशास्त्रना प्रस्थापक तरीके तेओ सर्वदा माटे आलेखायेला छे न्यायावतार समतितर्क कल्याणमदिर अने एकीस धनीसीओ एम ३४ ग्रथो जाजे तेमना विद्यमान छे

न्यायावतार छे तो ३२ श्लोकप्रमाण पण सिद्धसेन दिगारुखरिए ३२ श्लोकमा समग्र न्यायशास्त्र उतायुं छे तेना उपर सिद्धर्षिनी २०७३ श्लोक प्रमाण टीका अने भद्रखरिक्त १०५३ श्लोक प्रमाण टिप्पण छे.

आ सन्मतिप्रकरण ग्रंथ १६७ गाथा प्रमाण छे पण १६७ गाथामा समग्र तत्त्ववाद भयो छे. आना उपर अभयदेवखरिक्त तत्रयोधविधायिनी वादमहार्णवनामनी दृष्टीका २५००० श्लोक प्रमाण छे आ टीकाभाअभयदेवखरि सुधीना समग्र वादविवादोनी विचारणा करनामा आची छे अने स्याद्वाददृष्टिथी तमाम वस्तुने सगत करवामा आरी छे, आ सन्मति प्रकरण उपर मल्लवादीनी पण टीकाहती. पण ते आजे उपलब्ध थयी समतिप्रकरण नय, ज्ञान अने होयनी विचारणा करनार त्रण काठयी विभक्त छे जाना सवधी विशिष्ट माहिती आ ग्रथना रहस्यार्थमा वाचकोने आपनामा आरी छे एटले अहि तेनु विशेष वर्णन करता नथी.

कल्याणमदिर स्तोत्र ए आ ग्रथकारनुं ननापेल अद्भूत स्तोत्र छे 'अनुसिद्धसेन कनयः'नी उपमा कलिकाठमर्षे हेमचद्रखरि सिद्धसेन दिगारुखरिने आपना प्रेसाया होष तो ते आ स्तोत्रने लईनेज लागे छे आ स्तोत्र पार्थनाथ भगवाननी स्तुतिरूपे छे पण तेमा महाकविनी प्रतिमा पदेपदमा झळक्या विना रही नथी.

आ स्तोत्र अनेक जातना अलकारो अने पदना लालित्यथी एटलु बयुं सरस शोमे छे के कोईपण प्रसिद्ध कान्यग्रंथोथी ते रुप चढे तेवु छे

૨૧ દ્વાત્રિશિકાઓ આજે ઉપલબ્ધ છે. આ દ્વાત્રિશિકાઓમા અનુષ્ટુપ્, ઉપજાતિ, વસંત તિલકા, પૃથ્વી, શિવરિણી, મંદાક્રાન્તા, પુષ્પિતાયા, વંશસ્થ, આર્યા અને શાલિની વિગેરે વિવિધ છંદોમા રચાયેલી છે. આ દ્વાત્રિશિકાઓમા વૈદિક, ધૌઢ અને જૈનદર્શનના દાર્શનિક વિચારોનું નિરૂપણ છે.

આ સમતિપ્રકરણ ઉપર 'અનુમહ્યનાદિન તાર્કિકા.' કહી કલિકાલ સર્વજ્ઞ હેમચંદ્રચરિણે જેને સ્તવ્યા છે તે મલ્લાદિચરિણ આ ગ્રંથ ઉપર ટીકા રચી હતી તેમ ૧૪૪૪ ગ્રંથપ્રખેતા હરિમદ્-ચરિ અને ઉપાધ્યાય યશોવિજયજીની અષ્ટસહસ્ત્રીના લઘવાળથી જણાય છે.

‘સ્મૃતં ચ વાદિમુખ્યેન શ્રીમહ્યનાદિના સમ્મતૌ’ (હરિમદ્ચરિ)

‘इहार्थे कोटिशः भगा निर्दिष्टा मल्लवादिना

मूलसमतिटीकायामिदं दिङ्मात्रदर्शनम् (અષ્ટસહસ્ત્રી ડ યશોવિજય)

જૈનદર્શનની દિગંત પ્રમાણના કરનાર આ મહાપુરુષનો એકે સાગોપાગ ગ્રંથ આજે મલ્લતો નથી હાલ દ્વાદશશર નયચક્ર તેમનો બનાવેલો ગ્રંથ મુદ્રિત થાય છે તે મુદ્રિત થતા તેમના જીવન ઉપર સારો પ્રકાશ મળશે.

મલ્લાદિએ ધૌઢો ઉપર વિજય મેલ્લ્યો હતો અને તેનો સમય વિ. મ ૪૧૪ નો મનાય છે. સમતિ પ્રકરણ ઉપર તેમની લખેલી ટીકા કેટલા પ્રમાણ હતી અને કેવી હતી તેનું વિશેષ સમર્થન મલ્લતુ નથી પણ વૃહટ્ટીપ્પનકારે તે ટીકા ૭૦૦ શ્લોક પ્રમાણ હતી તેનું ઉલ્લેખિત કર્યું છે.

સન્મતિ પ્રકરણ ઉપર હાલ ઉપલબ્ધ થાય છે તે અમયદેવચરિની ૨૫૦૦૦ શ્લોક પ્રમાણ તત્ત્વાવગોધિની ઘૃત્તિ છે. ૧૬૭ ગાથાના સમતિ પ્રકરણગ્રંથને મહાકાવ્ય મહાન ગ્રંથ બનાવવામાં અને ભારતીય તમામ દર્શનશાસ્ત્રી સપૂર્ણ ગવેષણા કરનાર ગ્રંથ તરીકેનું બહુમાન સંમતિતર્કને મળ્યું છે જે અમયદેવચરિની ઘૃત્તિને લઈને છે. સિદ્ધસેનનિવારુરઘરિણે અનેકાતદષ્ટિનો પરામર્શ અને હતરદર્શનોની અનેકાતદષ્ટિમા વ્યવસ્થિત સરૂલના કરી છે, પણ આ ટીકાકારે તો પોતાના કાલક્રમુધીના ભારતીયદર્શનોના સમગ્ર વાદોનું નિરૂપણ વગી જૈનદષ્ટિએ અનેકાતદષ્ટિએ તેને વિવર્યા છે. આ અમયદેવચરિ વિક્રમની અગિઆરમી શતાબ્દિના પૂર્વાર્ધમા થયા છે. કેમકે ઉત્તરાધ્યયનની પાણ્ય ટીકાકર્તા વાદિવેતાલ શાતિચરિણે પ્રમાણશાસ્ત્રના ગુરુ તરીકે અમયદેવચરિને જણાવ્યા છે. આ શાતિચરિનો સ્વર્ગવાસ વિ સ ૧૦૯૬ મા થયાનું પ્રભાવકચરિત્તકાર જણાવે છે તેથી વિ સં. ૧૦૫૦ લગભગ અમયદેવચરિ થયા તેમ ચોક્કમ થાય છે.

આ સમતિ પ્રકરણ ગ્રંથ ઉપર વિદ્યમાન જો કોઈ ટીકા હોય તો ૨૫૦૦૦ શ્લોક પ્રમાણે એક જ તત્ત્વાવગોષિની ટીકા છે તેના ઉપર લઘુ કે, મધ્યમ બીજી કોઈ ટીકા ન હોવાથી આ ગ્રંથનું વાચન કરવાની હિંમત ચાલુ રાખવાના સારા અભ્યાસી સિવાય ભાગ્યેજ યોજો કોઈ સામાન્ય વિદ્વાન ધરી શકે છે આ ગ્રંથ ઉપર કોઈ સરઠ મધ્યમ ટીકા થાય તેવી પરમપૂજ્ય શાસનસમ્રાટ આચાર્યદેવ વિજયનેમિશ્રીશ્વરજી મહારાજજીની ઈચ્છા હતી અને તે કરવાની આજ્ઞા તેમના નવ્ય ન્યાયના પ્રમુખ અભ્યાસી પૂ આ વિજયદર્શનશ્રીજીને કરી કે સંમતિતર્ક ઉપર મધ્યમવૃત્તિ રચો કે જેથી સંમતિ અભ્યાસીને ઉપકાર થાય. અને હમેશની ઝુટિ પુરી થાય

પૂજ્યાપાદશ્રી ગુરુમંત્રી આજ્ઞાને શિરમાન્ય કરી દર્શનશ્રી મહારાજે સમતિપ્રકરણની પૂ આ અમયદેવશ્રીની ટીકાનો માદત મનન પૂર્વક અભ્યાસ કરી તથા તેના ઉપયોગી અનેક પ્રયોનો અભ્યાસ કરી ટીકા બનાવી આમાં તેઓશ્રી પૂ મૂલકારના આશયને અને ચૃહત્ ટીકાકારના વિવરણને પૂર્ણ ન્યાય આપ તે રોતે સક્ષિત્ત વિવરણ કરી આ મહામમાવક ગ્રંથને સુલભ બનાવવા પ્રયત્ન કર્યો છે અને તેને જ લઈને અમયદેવશ્રીની તત્ત્વાવગોષિની ટીકા વાદમહાણેવ નામધારક છે તેમાં આ ટીકા અત્યારે સમાન હોઈ તેમણે ટીકાનું સન્મતિમહાણેવાવતારિકા રાખેલ છે. જે ટીકાને માત્રે આપલી પ્રશસ્તિમા ચાલોપમારિણી શબ્દ ચાલુ આપે છે સન્મતિ પ્રકરણ માટેની આવશ્યક વૃત્તિ પુરી પાડી પૂ આ દર્શનશ્રી મહારાજે જૈનસમાજ ઉપર મહાન ઉપકાર કર્યો છે.

## સન્મતિતર્ક મહાણેવાવતારિકાકારના ગુરુદેવ

આ ટીકાના રચયિતા પૂ આ દર્શનશ્રીશ્વરજી મહારાજ છે. તેઓશ્રીનો અલ્પપરિચય પણ તેમના ગુરુ અને સકલ જૈનશાસનના શિરતાજ આચાર્યદેવ વિજય નેમિશ્રીશ્વરજી મહારાજ સાહેબના પરિચય વિના અપૂર્ણ જ રહે તેમ છે

### નેમિશ્રીયુગ

તપાગચ્છની પરપરામાં પૂજ્ય આચાર્યદેવ વિજયનેમિશ્રીશ્વરજી મહારાજ ૭૪ મી પાટે આવે છે

પૂર્વકાઠમાં હરિમદ્રયુગ, હૈમયુગ વિગેરે અમુક સમયને તે તે કાલના પ્રમાણિક પુરુષના નામથી સાહિત્યકારો અને ઇતિહાસકારોએ તે કાલની સમગ્ર પ્રવૃત્તિ ઉપર તે પ્રભાવક પુરુષનો પ્રભાવ હોવાથી તે કાલને તે તે મહાપુરુષના યુગ તરીકે ઓળખ્યો છે તેમ વર્તમાનમાં પણ

वि. स १९६४ पञ्जीयी आनसुधीनो काळ विजयनेमिसूरियुग कहीए ता वांधा जेवु नथी

पू आ विजयहीरसूरीश्वरजी महाराज, पूज्य आचार्य विजयसेनसूरीश्वरजी महाराज, पू आचार्य विजयदेवसूरीश्वरजी महाराज अने पू आचार्य विजयसिंहसूरीश्वरजी सुधीनो वधी काळ हीरसूरियुग तरीके मसिद्ध छे जो के पू विजयहीरसूरिजीना काळ करता पण सगई जैनशासन प्रभावना पू विजयदेवसूरिजी म. ना काळमां जैन मदिरो, विद्वानो अने पू श्रमण मुनिओनी माचूर्यवायी थइ होग छता ते वधामां मूलरूप प्रभाव तो पू विजयहीरसूरीश्वरजी महाराजनेज हतो. तेम आ काळमा बीजा बीजा आचार्योना हाये केटलांक विविध शासनना सुनिहित कार्यो थया छतां आ वधामा प्रेरणा अने विचार उद्गमना मूल तो पू आचार्य विजयनेमिसूरीश्वरजी महाराज छे.

### योगोद्बहन

प्रसिद्ध बात छे के, पू आ विजयसिंहसूरीश्वरजी महाराज पठी योगोद्बहनपूर्वक आचार्य पदवीनी परिपाटि भूलाई हती एटलुज नहि पण योगोद्बहनपूर्वक आचार्यपद लेवानी शरुआत पण थई चूकी हती. दीर्घदृष्टा स्व पूज्य आचार्यदेवे विचार्युं के जो आ रीति विकमी तो योगोद्बहन रीतिम जते दीनसे नाश पामशे अने श्रद्धा तथा ज्ञानभक्तिमा शिथिलता आवशे आयी योगोद्बहन तथा पंचमस्थाननी आराधनापूर्वक सघना अतिआग्रहथी भावनगरमा वि स १९६४मा स्व पूज्य गुरुदेव आ काळना प्रथम आचार्य थया

योगोद्बहनपूर्वकनी पूज्यश्रीनी आचार्यपदनु परिणाम ए आन्धु के योगोद्बहन विना कोइ पण कार्य शुद्ध नथी ते मापता समाजमा दृढ बनी अने जैन समाज तेना श्रद्धा अने सस्कार वळांरुमा सुनज मरुम बन्यो एटलुज नहि पण जे कोई योगोद्बहन विना आचार्यपद लेनारा हवा तेमनी परपरामा पण योगोद्बहन दाखल थया अने तओ पण योगोद्बहननी महत्ताना पूजक थया 'गुरोस्तु मौनव्याख्यान छिन्नत्ति शिष्यसशपात्र' आ पदने स्व पूज्य आचार्यदेवे कोइनी काई पण टीका रुपी वगर समग्र शासनमा प्ररतांयुं अने शासनना मूलरूप श्रद्धाना बीजक योगोद्बहन क्रियाने विना विनादे सर्वसमत बनानी

### ज्ञान.

आपणे सौं कोई जाणीए छीए के स्व पूज्य आचार्यदेवना दीक्षाकाळ बखते कल्पसुधी धिका बाची शके तेवा मुनिओ पण महाविद्वान् गणाता सामाय प्रकरणान, टबा, स्तवन, सज्जाय विगिरेतु ज्ञान आयी ते काळना मुनिओने माटे पर्याप्त गणातु स्व. पूज्य आचार्य-

देवे ज्ञाननी विपासानो नाद मुनिओमां प्रवर्ताव्यो. तेमणे पोते व्याकरण, न्याय साहित्यना ग्रथोना अभ्यास साथे जैन शासनमां सर्वशास्त्री अग्राह्या अने व्याकरण, न्याय विगेरेना अनेरु महाकाय ग्रथो वनाव्या आनु परिणाम ए आव्यु के आनो प्रभाव समग्र शासन उपर पड्यो अने जैन शासनमा अभ्यासनी रुचि प्रगटी. ठेर ठेर तत्त्वज्ञाननी जिज्ञासा जागी अने सर्व समुदायो पण पठन पाठननी प्रवृत्तिथी गाजवा लाग्या.

आम ररु कहीये तो आ काळमां ज्ञाननादने पल्लवित करवानु मूळ जो कोइ होय तो स्व पूज्य आचार्यदेवज छे

**प्रतिष्ठा अजनशलाका.**

शासन अने तेना बधा अगोनु अस्तित्व अने विनास तेना देवतत्त्व उपर छे आगमो ए देवनी वाणी छे मुनिओ ए देवना वचनने अनुसरिने भेख लेनारा छे अने क्रोडोनी व्यय पण थारका देवना वचनने अनुलक्षिने करे छे. भगवाननी मूर्ति देवमदृशज छे ते तो प्रतिष्ठा अने अजनशलाकाथीज वनी शके तेम छे. अजनशलाका अने प्रतिष्ठाथी देवतत्त्व प्रगटामनु ए पवित्र अने प्रभावक पुरुष सिवाय सभवतु नथी स्व पू. आचार्यदेवे संकडोवर्षथी विसरायेली आ विधिने जागृत करी अने विशालस्वरूपमा सौं प्रथमज तमना हाथे अजनशलाका, कदबगिरिमा थई आ रीते सर्व विधिविधानोना उद्गम पण आ काळे स्व पूज्य आचार्यदेवज छे.

**प्रभावना.**

आतापना के प्रभावना कोने कहेवाय तेनी शब्दोथी आपणे भले व्याख्या करीए पण खरी समज तो आ काळे जेणे पामवी होय ते तेमना दर्शन विना पामी शके तेम नथी. मोटा मोटा मुहधारी अने फटाटोप बनारा सन्यासीओ सर्वशास्त्रना पारगामीपणानो अभिमान धरायता विद्वानो. आजनी केळणीथी मोटी मोटी विश्वविद्यालयना अध्यक्षपदे विराजता चेरमेनो के दलील अने वकीलातमा सर्वश्रेष्ठ गणाता काउन्सीलरो, घनथी जमीनथी अद्धर चालनारा घनाइयो, राज्यखटपट अने कुशलतामा पकाता जुदा जुदा राज्यना रुमंचारीओ अने अतिरैमवथी उल्लेखला राजनीओ आ बधाए जेओना प्रथम दर्शने पोताने अल्प मानी तेमना चरणकमळमां पुकावता. आ सर्व आ काळे निहाळ्छु होय तो स्व, पूज्य आचार्यदेवने निहाळताच वनी शके तेम हतु

भावनगर अने धांगधाना दीगानो, मालवीयाजी अने आनदशकर बाणुभाई जेवा आधुनिक विद्वानो, सेतलवड अने भूलाभाई जेवा धाराशास्त्रीओ, स्व. मनसुखभाई मगुभाई अने स्व लाभाई दलपतभाई जेवा क्रोडाधिपतिओ अने भावनगर नरेश, बळानरेश जिगेरे राजवीओने जेमनी पासे बेसी तत्त्वपान करता जेमणे निहाळ्या छे तेज खरेखर प्रभापना आतापना कोने कहेवाय ते समजी शके तेम छे.

ધર્માવિજયજીએ મહાવીર ભગવાનના સ્તવનમા ગાયુ છે કે 'જેહનુ ક્ષેર નિવારણ મણિ સમ તુજ આગમ તુજ વિંબજી' આ સ્તવનમાં તેમણે જણાવ્યુ છે કે હે મગધન કલિકાલનુ ક્ષેર નિવારવામાં તમારુ આગમ અને તમારુ વિંબ એ વે મણિસમાન છે, ૨૨ પૂ આચાર્ય દેવે તેમના કાઠ્ઠમા શાસ્ત્રપઠનપાઠન અને જિનવિંબની અજનશલાકા પ્રતિષ્ઠાથી કલિયુગનુ ક્ષેર નિવારવામાં અપૂર્વ ફાઠ્ઠો આપી જૈનશાસનને ઉજ્જલ કર્યું છે અને ફરી હૈમયુગ, હીર યુગ વિગેરે યુગની સ્મૃતિ સાથે કલિકાલ સર્વેજ હેમચદ્રચ્છરિ અને જગદ્ગુરુ વિજયહીરચ્છરિજીની સ્મૃતિ આ કાઠ્ઠમા તેમના દર્શને તાજી કરાવી છે

જગન્ના અનેક શ્લાઠ્ઠાવાતો, કુતરૂના ઠેર ઠેર તોફાનો, જહવાદનો સુસવાતો પવન આ વધું છતા જૈનશાસન ઉપર એકછત્ર આળા પ્રવત્તવિવાનુ આ કાઠ્ઠમા જો કોઈના સદ્ભાગ્યે લલાયુ હોય તો આ મહાપુરુષને લલાટેજ હતુ

### તીર્થોદ્ધાર

કાપરહા, કદબગિરિ, શેરીસા વિગેરે તીર્થોના ઉદ્ધારને દેવનારાને રચાલ આવશે કે સ્વ. પૂજ્ય આચાર્યદેવ કેવલ જીર્ણ મદિરનો ઉદ્ધારજ કરાવનાર ન હતા પણ શાસનની પ્રમાવના કરે અને હજારો વર્ષ સુધી ચિરજીવ રહે તેવા તીર્થોને અસ્તિત્વમાં લાવી પ્રમાવના કરનાર પણ હતા શેરીસા તીર્થના સવધમા શાસ્ત્રોમાં ઠેરઠેર ઉલ્લેખ છે પણ કોણ જાણે ક્યાર તે નામ શેષ વન્યુ ? આ તીર્થનો ઉદ્ધાર અને મહિમા સ્વ પૂજ્ય આચાર્યદેવના પ્રતાપનુજ પરિણામ છે. શત્રુજયની સ્મૃતિ કરાવે તેવુ કદબગિરિ તીર્થ સ્વ પૂજ્ય આચાર્યદેવની દીર્ઘદષ્ટિ અને શાસનના રાગને જળાવે છે કાપરહા તીર્થનો ઉદ્ધાર તીર્થકાજે સ્વપી છુટવા સુધીની સ્વ પૂ આચાર્યદેવના સ્વમીરને યાદ કરાવે છે આ એક વે ત્રણ નહિ પણ ઠેર ઠેર સ્વ પૂજ્ય આચાર્ય દેવના હસ્તકે યથેલ તીર્થોના ઉદ્ધાર અને જિનમદિરો ઉભા ઉભા આજે પણ તેમની જીવન ગાયને ઉચ્ચારી રહ્યાં છે

### સઘયાત્રા

છહરી પાઠ્ઠતા નાના મોટા સઘ તો ઘણાં આ કાઠ્ઠમાં નીરૂઠ્ઠતા આપણે જોયા હશે. પણ જે સઘમાં હજારો માણસો, સેંકડો ગાહીઓ અને સેંકડોની સરખામા મુનિરાજો હોય તેવા સઘો તો સ્વ પૂજ્ય આચાર્યદેવની સાન્નિધ્યતામા નીરૂઠ્ઠેલ શેઠ માયેનલાલ મનસુખભાઈ અને શેઠ નગીનદાસ સ્વમચદના સઘો તો કમચિત્ નીરૂઠ્ઠયા છે સઘના દર્શનાર્થે પચીસ પચાસ ગાઉથી ઉલટતી માનવમેદની, રાજાઓ મહારાજાઓદ્વારા થતા સઘના સામૈયા અને સાધાર્મિક ભાઈઓ હસ્તક થતા સઘના આદરસત્કારે તો કોઈને ધર્મવીજ, કોઈને સમકિત અને કોઈને વિરતિપણુ આપી જીવન તાર્યાં છે

## અજોડ વ્યક્તિસ્વ.

સ્વ પૃજ્ય આચાર્યદેવની આશ્રમા કોઈ અર્પૂર્વે વ્રહ્મચર્યનુ તેજ હતું. તેમની સામે વધુ વસતુ ફકીટસે જોડ શકાતું નહિ. પ્રથમદર્શનેન તેમની આશ્ર આશ્રનારને નસ્વશિશ્વ ઓઝણી લેતી તેઓ આવનાર શુ કહેવા માગે તે અને શા આશ્રયે આવ્યો તે તે પ્રથમ દર્શનેન પારણી લેતા અર્થાત્ તેમની ચન્નુ આરપાર ઉતરી પૂર્વપશ્ચાત્ સર્વને નિહાઝી શકતી.

તેમની જીવનનો એકે પ્રવૃત્તિ એવી નથી કે આરમ્બ્યા પછી છોડવી પડી હોય કે આરમ્બેલી પ્રવૃત્તિ નિષ્ફળ ગઈ હોય કોઈ પણ પ્રવૃત્તિને તેઓ આરમ્બતા પહેલાં તે સવધી સુખ સુખ વિચાર કરતા અને આરમ્બ્યા પછી કોઈ સામે વટક જેટલી તે તૈયાગી રાસતા તેમના જીવનકાલ દરમિયાન એવા ઘણા પ્રસંગો આવ્યા છે પણ જેમા તેમણે શુભાચ્યુ તેમાં કોઈ દિવસ નિષ્ફળતા સાપડીજ નથી. તેમનો પ્રભાવજ એવો હતો કે તેમનું નામ સાંમઝતાંજ અર્ધું કાર્ય ઉઠ્ઠી જતું. તેમને પણ સાથેજ છે કે શાસનની સર્વમુલ્કી કોઈ એવી પ્રવૃત્તિ નથી બની કે જેમા તેમની દોરવળી મઝી હોય તે સાગોપાગ સફળ ન થઈ હોય

તેમનો અવાજ, તેમની આકૃતિ અને તેમનો સ્વભાવ આ સર્વે નાયકતાને સુચવનારા હતા તેમના અવાજમા સત્તાવાહિતા હોવા છતાં ઉડી સમજ હતી. તેમની આકૃતિ સામાને તેજથી આજતી હોવા છતાં સૌમ્યમરી હતી તેમનો સ્વભાવ હસમુલ્ક ડઠાં પૂર્વાપરની સર્વ વસ્તુનો અચગાહક હતો

આણદર્જી કલ્યાણજીની પેઢીના પ્રતિનિધિઓ, સમાજના અગ્રગણ્યો વિગેરે સૌના તે આધારમૂલ, સમગ્ર શાસનના હિતચિંતક અને સમગ્ર શામનના રક્ષક હોવાથી સમાજ તેમને શાસનસમ્રાટ્ તરીકે ઓઝલતો તે સ્વસ્વર વ્યાજબીજ હતું.

તેમનો જન્મ, દીક્ષા, પદપ્રદાન, તેમના હાથે થયેલા શાસનપ્રભાવનાના કાર્યો વિગેરે વધી વિગતો તો મહાકાવ્ય ગ્રંથથીજ કહી શકાય તેમ છે પણ અહીં તો માત્ર તેમનું આગુ દર્શન આપ્યું છે. અને તે પણ કેસ્વ આચાર્યદેવ નેમિસૂરીશ્વરજી મહારાજ આ કાઠના શાસનસમ્રાટ્ યુગપ્રધાન કે શાસનના કોહીનૂર જે રહો તે થયા હતા.

સ્વ પરમપૃજ્ય આચાર્યદેવનું શિષ્યમહલ્લ.

સ્વ પૃજ્ય આચાર્યદેવનો આજે પણ શાસનજેનાથી ઉન્નત શિર રહી શકે તેમો વહોઝી વિદ્વાન્ શિષ્યમમુદાય તે દર્શનશાસ્ત્રના પૂર્ણ અભ્યાસી સ્વડનલલલલલ અને આ ટીકા જેવા મહાકાવ્ય પ્રયોગોની શુચિતા સચિતા શાસ્ત્રવિશારદ પૂ દર્શનસૂરીશ્વરજી મહારાજ, આ કાઠે સૌને આદર્શરૂપ બને તેમા, પરમ ગુરુમક્ત, મદ્રિક, શિલ્પ જ્યોતિષ અને અલ્લ આગમજ્ઞાતા પૂ.



વિજયોદયસૂરીશ્વરજી મહારાજ, વ્યગ્રહારદક્ષ અને કોહના પળ તેજમા અંજાયા સિવાય સ્પષ્ટ અને સત્ય કહેનાર, ન્યાય વિશારદ, ઋષિત્વ પૂ નદનસૂરીશ્વરજી મહારાજ, અવસર જાણ, સરલ પરિણામી પૂ વિજયવિજ્ઞાનસૂરીશ્વરજી મહારાજ, પ્રાકૃત અને ગુજરાતી ભાષામા અનેકરૂઠિ સાહિત્યનુ સર્જન કરનાર પૂ. વિજયપદ્મસૂરીશ્વરજી મહારાજ, સાહિત્ય અને કાવ્યના અરંદ અભ્યાસ સાથે વિવિધ કાવ્યો ગુ થનાર પૂ વિજયામૃતસૂરીશ્વરજી મહારાજ, ન્યાય સાહિત્ય અને વ્યાકરણના પ્રકાઢ અભ્યાસી અને ત્રણે શાસ્ત્રોના વિપુલકાચ પ્રથરચયિતા વ્યાખ્યાન વાચસ્પતિ પૂ લાવળ્યસૂરીશ્વરજી મહારાજ, પ્રાકૃતભાષાના પ્રકાઢ-વિદ્વાન પૂ, વિજયકસ્તુરસૂરીશ્વરજી મહારાજ, મદ્રિક અને આગમ તથા પ્રકરણ પ્રયોના સારા અભ્યાસી પૂ પ સુમિત્રવિજયજી ગણિત, વ્યવહારનદીપ્ણ વિવિધપ્રથાભ્યાસી પૂ પ મેરુવિજયજી ગણિત, ન્યાય, વ્યાકરણ સાહિત્ય, સંગીત તથા ગુજરાતી ભાષાના સારા અભ્યાસી પૂ. પ દક્ષવિજયજી તથા પૂ. પ. સુશીલવિજયજી ગણિત, ન્યાયના પ્રકાઢ અભ્યાસી બુદ્ધિવૈભવી જ્ઞાનદવિજયજી મહારાજ, ન્યાય સાહિત્ય અને ગુજરાતીના સરસ અભ્યાસ સાથે રોચક લેખનશૈલિવાઢા પૂ. પ. ધુરધરવિજયજી મહારાજ, તથા સાહિત્ય વ્યાકરણ ન્યાયના સારા અભ્યાસી પૂ મહિમાપ્રભવિજયજી મહારાજ વિગેરે અનેક વિદ્વાનો જૈનશાસનને શોભાતી રહા છે

### સન્મતિતર્ક મહાર્ણવાવતારિકાના ટીકાકાર

આચાર્યદેવ વિજય દર્શનસૂરીશ્વરજી મહારાજ વાલપ્રભાચારિ અને નાની વયે દીક્ષા લઈ આજીવન સ્વપર દર્શનશાસ્ત્રના અભ્યાસમા જીવન ધીતાવનાર પરમ મદ્રિક મહાપુરુષ છે

આ ટીકાકાર મહાત્માનુ રતન અનેક મહાત્મોને ઉત્પન્ન કરનાર સૌરાષ્ટ્રના મુકુટમણિ સમાન મદા રમ્ય મધુમતી-મહુવા નગર ઢે તેમના પિતાનુ નામ રમલશી અને માતાનુ નામ ધની હતુ. વસલ્લચદ, હેમચદ અને જીવરાજ એવે માર્દઓ પડી તેમનો જન્મ વિ. સ ૧૯૪૩ ના પોપ સુદ ૧૫ ના દીવસે થયો હતો મસારઅપરથામા તેમનુ નામ સુદરજી પાઢવાર્મા આવ્યું હતુ સુદર યોગવાઢા સુદરજી વાલ્પકાઢ ચિંતાવે ત્યા તો શાસનસમ્રાટ આચાર્યદેવ વિજયનેમિસૂરી શ્વરજી મહારાજના પરિચરમા આવ્યા અને ભાગવતી પ્રવજ્યાની ભાવના જાગી વરાપર સોઢ વર્ષની વયે ત્રિ. સ ૧૯૫૯ મા અપાઢ શુદ ૧૦ ના રોજ ખાતનગરમા તેમણે દીક્ષા લીધી અને પૂ શાસનસમ્રાટ આચાર્યદેવ વિજયનેમિસૂરીશ્વરજી મહારાજના શિષ્ય થયા. ત્યા તેમનુ નામ દર્શનવિજય પાઢવાર્મા આવ્યુ પ્રતિભાસપન્ન મહાવિદ્વાન પૂ. આચાર્યદેવે દર્શનવિજયજીને મળાવરા માટે સુચ લક્ષ આપવા માહયુ અને તેમને ન્યાય વ્યાકરણ સાહિત્ય અને ધર્મશાસ્ત્રનો વિશિષ્ટ અભ્યાસ કરાવ્યો. આમ છતાં ન્યાયશાસ્ત્રના અભ્યાસમા તે સુચ સુચ ઉઢા ઉતર્યા અને

स्वपर न्यायशास्त्रना अनेक ग्रंथोनुं तेमणे अध्ययन कर्तुं पचमाद, मायुरी पचमणी, त्रिवेचना, सिद्धातलक्षण, वैशेषिकदर्शन उपस्कार, मुक्तावली दिनकरी रामकृती टीकाओ साथे श्रीहर्षकृत खड्गवाद्य, व्युत्पत्तिवाद विवेचना सामान्य तत्त्वकौमुदी तत्त्वमग्रह, सर्वदर्शनमग्रह चित्तुखी विगेरे छप दर्शन शास्त्रोनु अध्ययन कर्तुं आ साथे आपणा पूर्वाचार्यकृत उ-यशोविजयनी कृत न्यायालोक, खड्गवाद्य, नयमदीप, नयरहस्य विगेरे ग्रथदशम अष्टमहस्ती, समतितर्क शास्त्र वार्तासमुच्चय वृत्ति आदि अनेक सूत्रदर्शन शास्त्रना न्याय ग्रंथोनु मननपूर्वक विशद अध्ययन कर्तुं

आ दर्शनशास्त्रना पूर्ण अभ्यास वाद स्य पू. गुरुदेवे कछु के समतितर्क उपर तत्त्वज्ञो-  
धिनी टीका छे परतु ते विस्तृत होगार्थी मामान्य अभ्यासीओने भणना माटे बहुज कठीन पडे छे अने महाकाय ते वृत्तिने देखी सामान्य धोरजवाळा दूर खसे छे. तो सन्मतितर्क उपर एक सुदर मध्यम वृत्ति बनाओ जेयी अनेफने प्राप्ति पने आ गुरुदेवना गुरुवचनेने शिरसा वधररी समतितर्कनी टीका बनाववानो टीकाकारे सरल्प कर्षी अने तेमना जीवनकाळमांज ते ग्रथ बनावी ते सरल्प सफल कर्षी

वि स १९६९ मां कपडवचना पू. मुनिदर्शनविजयजीने गुरुदेवे स्वहस्ते पन्नास पदाहृत कया अने स १९७३ मां सादही गामे भारवाडमां उपाध्यायपद अर्षी तेमने गुरुदेवे उपाध्याय तरीक म्याप्या वि स. १९७९ मां रभातमा गुरुदेव भगवते स्य पृणित इन्ते आचार्यपद अर्षी आचार्यदाहृत कर्षी त्यारयी आचार्य विनयदर्शनपरिजनीना नामे प्रसिद्ध छे.

पू. आचार्य दर्शनग्रंथि महाराजे आ समतितर्क ग्रथ टीका उपरात आज वीजा पण महाराज घणा ग्रंथोनु निर्माण कर्तुं छे.

१ स्याद्वादना स्वरूपने स्पष्ट करतो साडा त्रण हजार श्लोक प्रमाण टीका नव्य पायनी स्याद्वादविन्दु ग्रंथ तेमनी नव्यपायनी उद्घाणतानो सुदर परिचय आपे छे

२ पू. उपाध्याय यशोविजयनी महाराजना बनावेल महा आकार ग्रथ खड्गवाद्य अपरनाम महानी स्तत्र उपर तेमनु स्वोपज्ञ विवरण छ. आ विवरणने स्पष्ट करती २५००० श्लोक प्रमाण तेमणे टीका रची छे जे आन दश वर्ष पहलां प्रसिद्ध थई गई छे

३ धर्युपणा कल्पलता ८०० श्लोक प्रमाण रची धर्युपण पर्वना आदिना त्रण व्याख्यानोना विषयोनु अतिविशद निरूपण कर्तुं छे

४ तत्त्वार्थ विवरण गुडार्थ दीपिका, आ ग्रथ टीकाकार महाराजे पू. उपाध्याय यशो विजयनी महाराजे तत्त्वार्थ सूत्र उपर विवरण रच्यु छे तेने स्पष्ट करनार छे आम न्याय व्याख्यान अने धर्मशास्त्र विगेरना टीकाकार उडा अभ्यासी अने सतत परिश्रमी मयम आचरणमां मस्त रहेनार महात्मा छे

## શિષ્ય પ્રશિષ્ય પરિવાર—

પૂ. ટીકાકાર દર્શનશ્રી મહારાજ સ્વર્ગસ્થ ગુરુદેવના વિદ્વાન નર આચાર્યોમા પ્રથમ આચાર્ય, વિદ્વાન અને પ્રતિભાસપન મહાત્મા છે. એમના એક ગુણવિજય નામના વિદ્વાન શિષ્ય હતા. તે વિ. સ. ૧૯૮૧ માં કાઠધર્મ પામ્યા તેમણે હેમ ધાતુમાલા યનાચુ હતુ. એમજ તેમને પૂ. પ. જ્યાનેદ વિજયજી મહારાજ, પૂ. પ. પ્રિયશરિત્રિનયજી મહારાજ ચિત્તે સારા વિદ્વાન શિષ્યો છે. જ્યાનેદવિજયજી બુદ્ધિવૈભવી અને ન્યાયશાસ્ત્રના ઉદા અમ્યાસી છે જે ટીકાકાર મહારાજની સાથે હમેશાં રહે છે. અને તેમની સાહિત્યપદ્ધતિમા હમેશા મદદનીશ રહે છે પૂ. પ. પ્રિયશરિત્રિનયજી પણ સારા ઉપદેશક અને સાહિત્યશાસ્ત્રના સારા બોધક છે.

## ટીકાકારનુ વ્યક્તિત્વ અને સ્થાન—

પૂ. આ દર્શનશ્રીજી મહારાજ યાવ, સાહિત્ય અને ધર્મશાસ્ત્રના સમર્થ વિદ્વાન હોવા છતાં મહાકાવ્ય ગ્રાંચીન અને નવ્ય ન્યાયગ્રંથોમા નિર્માણ કરનાર અને પ્રકાશક વિદ્વાન અમ્યાસી છે. જૈનસમાજમા આજે જે સારા ગણાતા વિદ્વાનો છે તેમાં તેઓ અગ્રેસર ગણનાપાત્ર વિદ્વાન છે અને ન્યાયશાસ્ત્રમા તે પ્રથમ પક્તિના મહા વિદ્વાન છે.

૩ યજ્ઞોવિજયજી મ. પઠી સન્મતિતર્કના અમ્યાસીઓ જૈનસમાજમાં વિરલજ થયા છે, પૂ. આચાર્યદેવ વિજયનેમિસ્ટ્રીશ્વર મહારાજે તેમના શિષ્ય મહજ્ને જુદા જુદા શાસ્ત્રોના પારગામી બનાવ્યા તેમા દર્શનશ્રી મહારાજ દર્શનશાસ્ત્રમાં સુવજ ઉડા ઉતર્યા એટલુ જ નહિ પણ સ્વહનસ્વાધ્ય તત્વાર્થ વિવરણ પ્રથમાધ્યાય મહારાજ અને સન્મતિતર્ક જેવા ગ્રંથો ઉપર વૃત્તિ રચી પૂર્વકાશના વિદ્વાનોની સ્મૃતિ કરાવી છે. સન્મતિતર્ક ગ્રંથ અનેકાંત દષ્ટિનો મૌલિક ગ્રંથ છે. આ મૂલ્ય ગ્રંથ અમ્યાસકોને મમજાય તેવો હૃદયગમ છે. આમ છતાં તેના ઉપરની મહાકાવ્ય વૃત્તિ દેહી કેટલાયે વાચકો તેને નમસ્કાર કરી તેની પ્રત્યે છેટેથી પૂજ્યતા વતાયી છે. પણ તેને અવગાહવાની વૃત્તિ કલ્પવી શક્યા નથી. આ સન્મતિતર્ક મહાગાવ્યતારિકા સર્વ અમ્યાસીઓને પ્રથમા ઉતરવા સોપાન પક્તિ વાંધનાર વૃત્તિકારે આજના અમ્યાસકો ઉપર મહાન ઉપકાર કર્યો છે. અને સેકડો વર્ષથી સન્મતિતર્ક માટેની જોશ્તી મધ્યમ વૃત્તિની સોટ પુરી પાઠી છે.

પૂ. આ દર્શનશ્રી મહારાજ વિદ્યમાન આચાર્યોમાં ગણનાપાત્ર આચાર્ય છે. વિદ્યમાન વિદ્વાનોમાં ન્યાયના પ્રથમ પક્તિના મહા વિદ્વાન તથા સ્વપરશાસ્ત્રના મનનપૂર્વક યથાર્થ જાણનાર હોવાથી અને મારા તારાની શક્તિથી પર રહેનાર અને સદા પઠનપાઠનમાં ઉચ્ચ રહેનાર નિરીહ મહાત્મા તરીકે પ્રસિદ્ધ છે.

આ ગ્રંથને સુદર લેનાર પેપરમાં સુનાચ્ય અક્ષરોમાં છપાવી પ્રસિદ્ધ કર્યો છે તે વાચક દર્શન શાસ્ત્રનો અભ્યાસ કરી સમક્રિત નિર્મલ કરી દર્શનની પ્રભાવના કરે. ૧૩

મફતલાલ શ્વેરચંદ ગાંધી

## संमति तर्क रहस्य

छेय्यक ५. श्री जयानदविजयजी गणि ।

मुग्धीत नामधेय पूज्यपाद आचार्य वर्य श्री सिद्धसेनदिवाकरस्यार प्रणीत समतितर्क मूळ ग्रथ ग्रण काडमा विभक्त करायेल छे प्रथमकांड ५४ गाथा प्रमाण छे द्वितीयकांड ४३ गाथा प्रमाण छे अने तृतीयकांड ६९-७० प्रमाण छे आम मूळ ग्रथ १६७ पद्योनो छे

समति तर्क प्रकरण मूळ ग्रथ आम अल्पकाय होया छता आ ग्रथ जैनशासनमा अद्वितीय प्रभावक ग्रथ गणायो छे अने आ प्रभावक ग्रंथ भणवा माटे साधु कारणत आधार्मिआहार सेवन करे तो पण तेने प्रापश्चित्तनो भागी गण्यो नथी. तत्कार्य तथा समतितर्क भणवामा अरण्यद रग लागे तो ते ग्रन्थनानिरन्तर एकचित्ते अभ्यासीने आधाकर्मादि दोष लागतो नथी तेम पञ्चरत्नपादि ग्रन्थमा पण कहु छे तेनु कारण समति प्रकरणमा नय-निक्षेप सप्तभगो ज्ञान अने ज्ञेयनी विशद युक्तिपूर्ण विचारणा करी अनेकातरादने प्रतिष्ठापित कर्यो छे.

आ समति प्रकरण उपर शासनशिरोमणिप ५. नयागीटीकाकार भगवन्त श्री अभयदेवसूरि महाराज्जनी रचेल २५००० श्लोक प्रमाण तत्त्वावबोधप्रियायिनी नामनी वृत्ति छे परतु आ वृत्ति जैनशासनमा 'रादमहार्णव'ना नामे ज प्रसिद्ध छे केमरु तेमा पूज्यपाद अभयदेवसूरि महाराजना वखत सुधीना जे थोड रादो हता, तेनो विस्तारपूर्वक विचार करामा आव्यो छे. आ रादो अतिविस्तृत अने काठिन्यपूर्ण होइ सामान्य अभ्यासी पण अरगाही तेनो परिचय मेळवी शके ते माटे सरळ भाषामा नियुक्त आ रादोमा सहजे प्रवेश करी शक्या ए हेतुधी समतितर्कमहार्णवावतारिका नामनो आ थ अमारा पूज्य गुरुमहाराज श्री विजयदर्शन-सूरीश्वरजी महाराजाए बनाव्यो छे

आ ग्रथ निर्माणतुं मुग्य प्रयोजन समतितर्कमहार्णवमा प्रवेश करवो ते छे आ ग्रथ सुगम उता तेनु अवगाहन जेनेतरदर्शनसम्बन्धि न्याय ग्रंथोना तथा जैनतर्कशास्त्रना थोडा घणा परिशीलन विना करी शक्या तेम नथो

हवे जेओने बिलकुल सस्मृत भाषानो परिचय नथी तेओ पण आ ग्रथमा गो विषय छे तेनु डुक दिग्दर्शन पावी शके ते आशपथी मूळ ग्रथने लक्ष्यमा राखी अहीं टूनमा तेनो निर्देश करवामा आवेल छे

मगल

शुक्रवातमा शासन प्रभावक आचार्य भगवतश्री सिद्धसेन दिवाकरसूरि महाराज शासन नी स्तुतिरूप मंगल करे छे, तेओ आ जैनशासनने चार गुणोनाळ्ळु रण्ये छे

आ शामन जिनेथर भगरत रचित होवाथी स्वत' सिद्ध ठे, बीजा हेतु निरपेक्ष प्रामाणिक ठे, १, यथार्थवस्तुने प्रतिपादन करनार छे २, जैनशासनने शरणे आवेलाने अनुपम सुख आपनार छे ३, अने एकातवाद रूप मिव्यामतोने दूर करनार छे ४, उद्देश.

ग्रथकार ग्रथनो उद्देश जणारता रहे ठे के आ ग्रथ हु एटला माटे बनायु छु के आगमोनो अभ्यास करसामा रस विनाना माणसो पण आ ग्रथने एकाग्रचित्तथी मनन कर्या पछी आपो आप श्रुतधरोनी उपासना करवा ललचाय, अर्थात् आ ग्रथ वाच्या पछी तेमने शाल्लोतुं चिंतन करसानी आपोश्राप इच्छा थरो

### अभिधेय

तीर्थरुत भगवानोना रचनोना अर्थतत्त्वने प्रतिपादक द्रव्यार्थिक नय अने पर्यायार्थिक नय अभिधेय छे द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक आ वे-नयना मुख्य भेदो छे, बीजा नयो एतो द्रव्यार्थिक अने पर्यायार्थिक नयना भेदो छे. आ ग्रन्थमा ते मुख्य वे नयनी अपेक्षाए स्याद्वादतत्त्वनु निरूपण करवामा आवशे.

मर्थात् ग्रथनो मुख्य प्रतिपाद्य विषय अनेकान्तवाद छे, आ अनेकान्त-नयोना स्पष्टी करणथी ज स्पष्ट थइ शक्रे तेम ठे, आ नयो अनेक होरा छता ते यथानो ममावेश द्रव्यार्थिक नये पर्यायार्थिक आ त्रैमां थाय छे आथी आ ग्रथनो मुख्य विषय द्रव्यार्थिक नय अने पर्यायार्थिक नय छे अने तेने अनुमरी ज्ञान अने ज्ञेयनी विचारणा छे

### प्रथमकांड

कोई पण वस्तुने तेनी बधी बाजुथी तपासयु ते अनेकान्त छे एटले एकज वस्तुमा रहेल बधाये परम्पर विरोधि धर्मोनो अपेक्षामेदथी विचार करी ते धर्मोनो एक वस्तुमा समावेशरूप रुधञ्चित् तत्त्वनु निरूपण ते अनेकान्त छे अने कोई पण वस्तुने तेनी बीनी बाजुनो अपलाप कर्या विना विचारणा करवी, एटले स्वविरोधिधर्मनी उपेक्षा करी एक धर्मनी विचारणा ते नय छे अनेकान्तमां बधा नयो सकलित थाय छे, आ नयो अनत छे केमके वस्तुमाअनत धर्मो छे

आ अनत धर्मोमाना बीजा धमने अपलाप कर्या विना एकुकाधर्मने प्रतिपादन करनार वचनमार्ग अनन्त होवाथी नयो अनन्त छे सिद्धांतमां वहु ठे क 'जाबइया वयणपहा ताव ह्या चैव होंति णयवाया' जेटला रचनमार्गो तेटला नयगादो छे आ यथा नयोनो समुच्चय रीत विचार करीए तो ते यथा वे भागमा व्हेंचाड जाय छे एक अमेददृष्टिमां अने बीजी भेददृष्टिमा, अमेददृष्टिने द्रव्यार्थिक नय अने भेददृष्टिने पर्यायार्थिक नय कह छे.

कोह एक मानवનો विचार भेददृष्टि तरफ बळी उरवामा आवे त्यारे हिन्दुस्तान नो, गुजरातनो, मुबईईलाकानो, अमदावादमा अमुरु पोळनो अमुरु शेरीनो अमुरुनो पुन एम विचाराय ठे तेज मनुष्यने अभद दृष्टिधी विचारवामा आवे त्यारे उलटा क्रमे विचाराय. अमुरुशेरीनो अमुरु पोळनो अमदावादनो मुबई इलाकानो गुजरातनो हिन्दुस्ताननो मानव जीव अने छेवटे आत्म प्रदेशमय ज्ञानमय सत् आम वस्तु एकनी एक होवा छता एकज वस्तुमा कोईनी दृष्टि भेदरूपे परिणमे छे, तो कोडनी दृष्टि अभेदरूपे परिणमे छे आ अभेद अने भेद वस्तुमा छे

आ बधी विचाराणाओना प्रकागेने जैनशास्त्रमा नैगम सग्रह व्यवहार ऋजुसूत्र शब्द सम भिरुढ अने एवभूत आ सात प्रकारना नयोमा समावेश करेल छे समतितर्क प्रथमा आ सात नयोने उ नयोमा सकलित करेल छे अभेददृष्टिरूप द्रव्यार्थिक नयमा सग्रह अने व्यवहार नयने लीधा ठे अने पयार्थिक नयमा ऋजुसूत्र शब्द समभिरुढ अने एवभूत ए चार नयोने सकलित कर्या छे.

वस्तुमात्रमा सामान्य (अभेद) अने विशेष (भेद) वेधर्म छे सामान्यग्राहि दृष्टि ते अभेददृष्टि द्रव्यार्थिकनयमा समाय ठे, अने विशेषग्राहि दृष्टि ते भेददृष्टि-पर्यायार्थिक नयमा समाय छे सत्त्वरूप तत्त्वने अखण्डपणे ग्रहण करनार प्रथम दृष्टि ते सग्रहनय छे, अने ते सत्ताने जीव अनीव आदिरूपे विभाग करी तेना भेदोमां ज्यारे दृष्टि प्रवर्ते त्यारे ते व्यवहार नय कहेवाय छे

आ सग्रह अने व्यवहारनय ए द्रव्यार्थिकनयना भेद छे भिन्न भिन्न सर्व वस्तुमा भेद ते वल्पनामूल होगथी असत्, अने अभेद ते पारमार्थिक होगथी कण्ठ सत् रूप अखण्ड तत्त्वने ग्रहण करनारी दृष्टि ते सग्रह नय छे, आ सग्रह नय शुद्ध द्रव्यार्थिक नय छे अने व्यवहार चलावना मयती जीव अजीव विगेरे विभागने करती दृष्टि ते व्यवहार नय छे आ व्यवहार नय अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय छे

आम कोई पण पदार्थना सामान्य तत्त्वने अवलंबी जाति के गुण आदिनी विशेषताथी गमे तेठला पेटा विभागो करवामा आवे छतां तमा काळने अवलंबी फेरफार न करवामा आवे त्या सुधी ते बधा विभागो व्यवहार नयमा समाय ठे. अर्थात् सत् रूप अखण्ड तत्त्वने जीव मनुष्य आर्य विगेरे भेदे उडित करी व्यवहार चलावना माटेनी दृष्टि ते ते पदार्थमा काळने अवलंबीने भेदमा न पेसे त्या सुधी ते व्यवहार नयनी मर्चादामां ठे, केमके आ बधा भेद होवा छतां ते दृष्टि परिमित अभदस्पर्शी ठे अने तेथीज ते द्रव्यार्थिक नय कहेवाय छे.

ભેદ તરફ વલેલી આ દૃષ્ટિ જ્યારે કાલકૃત ભેદમા પ્રવેશે છે અને ભૂત ભવિષ્યકાળને કાર્યનો અસાધક માની વર્તમાનકાલ પુરતુ જ તત્ત્વને સ્વીકારે છે ત્યારે તે ઋજુસૂત્રનયની મર્યાદામા આવે છે, આ ઋજુસૂત્રનયથી પર્યાયાર્થિક નયની શરુઆત થાય છે, તે એવભૂત સુધી લ્વાય છે, ઋજુસૂત્ર નયના માનેલ વર્તમાનકાલીન તત્ત્વમાં પણ લિંગ વચન પુરુષ આદિ ભેદે ભેદ માનનાર દૃષ્ટિ શબ્દનય ધને છે, અને શબ્દનયે માનેલ સમાન લિંગ અને સમાન વચનવાળા પર્યાયશબ્દોમા પણ વ્યુત્પત્તિ ભેદે મિનઅર્થમાનનાર દૃષ્ટિ તે સમભિરુદ્ધનય છે, અને વ્યુત્પત્તિથી ભેદ સ્વીકારેલ પદાર્થ પણ ક્રિયા કાલ પુરતો જ સત્ છે એમ માનનાર ભેદ દૃષ્ટિ તે એવભૂત નય છે. આ શબ્દ સમભિરુદ્ધ અને એવભૂત ત્રણે વાસ્તવિક જોઈએ તો ઋજુસૂત્ર વૃક્ષની શાखाઓ છે. ઋજુસૂત્ર શબ્દ સમભિરુદ્ધ અને એવભૂત આ ચાર નયો પર્યાયાર્થિક નયમા સમાય છે.

આમ દ્રવ્યાર્થિક નયમા સગ્રહ અને વ્યવહાર પક્ષાન્તરે નૈગમ સદ્ગ્રહ અને વ્યવહાર સમાય છે. પર્યાયાર્થિક નયમા ઋજુસૂત્ર શબ્દ સમભિરુદ્ધ અને એવભૂત સમાય છે

જેમા કોઈ પણ વિશેષ ન હોય તેવું વચન તે સત્-અસ્તિ છે, અને આ પ્રમાણે માનનાર શુદ્ધ દ્રવ્યાસ્તિક નય છે, અને જેમા કોઈ પણ સામાન્ય ન હોઈ એવું છેલ્લું અવિભાજ્ય વિશેષ વાચક વચન તે શુદ્ધ પર્યાયાસ્તિક નય છે. આ બન્નેની વચ્ચે આવનાર વધા વિભાગો સામાન્ય વિશેષના પ્રતિપાદક હોવાથી દ્રવ્યાર્થિક અને પર્યાયાર્થિક મિશ્રિત છે.

સત્ અસ્તિ આ શુદ્ધ દ્રવ્યાસ્તિક અને જીવ મુક્ત સસારી-અજીવ પરમાણુ સ્વયં ગુણ આ વધા મર્યાદિત સામાન્યના ઘોષક સાથે તેમાં વિશેષનો-વિભાગનો અને ભેદનો સ્પર્શ હોવાથી દ્રવ્યાસ્તિક પર્યાયાસ્તિક કહેવાય છે અને છેલ્લો અવિભાજ્ય વિશેષપાઠો પદાર્થ એક વ્યક્તિ નિષ્ઠ તે શુદ્ધ પર્યાયાર્થિક છે. અતિમ વિશેષ સિવાયની વધી વસ્તુઓ અનુક્રમે સર્વવ્યાપક સત્તા સામાન્ય સુધીમા સામાન્ય ઉપયોગ થતો હોવાથી દ્રવ્યાસ્તિકનયનો વિષય છે અને એજ વધા વિષય પર્યાયાક્રાંત હોવાથી પર્યાયાસ્તિકનયને પણ ગ્રાહ્ય ધને છે. માત્ર અતિમ વિશેષમાં સામાન્ય ઉપયોગ નથી અને સર્વવ્યાપક સત્તા સામાન્યમાં વિશેષ ઉપયોગ નથી

॥ ચાર નિક્ષેપામા દ્રવ્યાર્થિક પર્યાયાર્થિકનયની વિચારણા ॥

નામ સ્થાપના દ્રવ્ય અને ભાવ આ ચાર નિક્ષેપામા નામ સ્થાપના અને દ્રવ્ય આ ત્રણ નિક્ષેપા સુધી દ્રવ્યાર્થિક નયની પ્રવૃત્તિ છે નામ માત્રથી ઇદ્ર હોય તે નામ ઇદ્ર, ઇદ્રનું ચિત્ર હોય તે સ્થાપના ઇન્દ્ર, મરિચ્યમા ઇન્દ્ર ધનાર હોય અગર પહેલા ઇદ્ર હતો તે દ્રવ્ય ઇદ્ર, આ ત્રણે નિક્ષેપામા કોઈને કોઈ જાતનો દ્રવ્ય સાથે સંબંધ હોવાથી દ્રવ્યાસ્તિક નયના વિષયમા સમાય

छे, अने इन्द्रामनमा घोराणमान इन्द्र ते भाव इन्द्र, ते भाव निक्षेपरूप छे, ते पर्यायाधिक नयमा ममाय छे कारण के भाव इन्द्रमा वर्तमानमा इन्द्रपदना अनुभवनी-लिंग वचनना भेदनी,-व्युत्पत्ति भेदनी अने क्रियाकालनी आ बधी विशेषताओ होगथी विशेषताने लई भेद ज मुरप छे

॥उत्पत्ति स्थिति अने नाश ए पदार्थलक्षणमा द्रव्यार्थिक पर्यायाधिकनयविचरणा॥

उत्पत्ति स्थिति अने नाश ए पदार्थनु लक्षण छे 'उष्णाय-द्विद् भगा हृदि दण्डिलरक्षण,

द्रव्यास्ति नयनो विषय मामाय छे अने पर्यायास्ति नयनो विषय विशेष छे, जगत्ना कोई पण पदार्थमा विशेष विनानु सामाय नथी अने सामान्य विनानु विशेष नथी. तेज रीत उत्पत्ति अने नाश-स्थिति विनाना नथी, अने स्थिति-उत्पत्ति अने नाश विनाना नथी, आधी पदार्थ मानमा द्रव्यार्थिक अने पर्यायार्थिक बन्ने चटी गरु छे, छातां द्रव्यास्तिरनु वक्तव्य पर्यायार्थिकनी दृष्टिमा अस्तु छे, अने पर्यायार्थिकनु वक्तव्य द्रव्यास्तिरनी दृष्टिमा अस्तु छे, इमक द्रव्यास्तिक अभेद तरफ दळे छे, अने पर्यायास्तिक भेद तरफ दळे छे, उत्पत्ति स्थिति अने नाश श्रेणु भिन्न स्वरूप छता एक चीना साथे मलीने रहे छे, तेम द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक बन्ने नयोनु भिन्न स्वरूप होग छता बन्ने दृष्टि पदार्थ प्रतिपादनमा बराय त्पारज पदार्थनु साचु प्रतिपादन गणाय आ बन्ने दृष्टि सापक्षपणे प्रवर्ते त्यां सुधी नय छे निरपेक्षपणे प्रवर्त त्त्यारे ते दुर्नय बने छे अने आ दुर्नय ते मिथ्यात्व छे.

द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक अने तेना पेदा भेदो आ उधा नयो पोत पोताना विषयनी मर्यादामा रही प्रवृत्ति करे त्या सुधी नय छे अने ते सरि अपेक्षा पूर्वक वस्तुगत एक अशमतिपादक होवाथी सम्यक् नय छे, पण ज्यारे ते प्रतिपक्षनयनु खणन करे त्यारे ते मिथ्या नय छे हाथीनो एक अवयव पग थाभन्ना जेरो देखी हाथी थाभन्ना जेवो छे ते कहे त्या सुधी ते नय साचो छे एटले सुनय छे, पण हाथी थामला जेरोज छे, दोरडा जेवो नथी, ते कहनारा जुडा छे, तेम कहनारनु एकान्त वचन दुर्नय छे, कोइपण माणस जेम स्व पुत्रनो पिता तेम स्वपितानो पुत्र-बीजा पुरुषनो मामो काओ भत्रीनो पण होइ शके छे, आ वस्तुस्थिति समज्या विना विद्यमान एवा बीजा धर्मनो निषेध करी केवल एरुज धर्मप्रतिपादक पुरुषनु निरपेक्ष वचन-एकान्त वचन दुर्नय छे, बीजा धर्मनु खणन मण्डन करामा उदासीन भाव पूर्वक एक धर्मप्रतिपादक पुरुषनु सापेक्ष वचन सुनय छे

दुरुमां द्रव्यास्तिरनु वक्तव्य भेदरहित अभेद छे, अने पर्यायास्तिरनु वक्तव्य अभेद-रहित भेद छे, अने ते वक्तव्य भेद थाय त्याथी शरु थाय छे



भेद शूँ छे ?

पदार्थ मात्र कथञ्चिद् भेदाभेद उभयात्मक छे, अभिन्न सामान्य स्वरूप सत् उपर कल्पा येली अनेक भेदोनी परपरामां सदृश परिणाम प्रवाह कोई पण एक शब्दनो वाच्य बनी व्यवहार पाळे ते व्यजन पर्याय, अने तेना जे क्रमिक भेदो अविभाज्य लागे ते अर्थपर्याय, जेमके जीवना पुरुष पुरुष एवा सदृश परिणाम प्रवाहर्मा निर्विकल्प बुद्धि धाय छे ते व्यजन पर्याय, अने तेज पुरुषमा बाल युवान आदि अनेक विकल्पो नजरे पडे छे, ते बधा पुरुषरूप व्यजन पर्यायना अर्थ पर्यायो छे, आ बाल विगेरेना पण स्तनधय विगेरे तेना अर्थपर्यायो छे अने बाल ए व्यजन पर्याय छे

पुरुषनी साथे बाल युवान वृद्धत्व विगेरे तेना पेदा भेदो कथञ्चिद् भिन्नाभिन्नपणे रहेला छे बाल युवान वृद्धत्वनु स्वरूप जुदु होवायी ते पृथक् छे, अने ते बधा पुरुष साथे सक्कायेल होवायी अभिन्न छे आ बधी भिन्नाभिन्ननी विचारणा द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिकना विषयरूप छे अने तेयोज एकर गणातो पदार्थ स्वपर्याय परपर्याय विगेरेने लई अनत बने छे

कोइ पण परमाणु के जीव अवड होवायी व्यक्तिरूपे भले एक होय छता व्यजन पर्याय अने तणे काळना अर्थपर्याय अनत होवायी ते अनतरूपे भासमान धाय छे आम विशेषभूत द्रव्य एरु होरा छता विशेषभूत पर्यायोना भेदने लीधे जुदु जुदु मानवायी पर्यायोनी जेटली सरपा तेटली सरपावाळु द्रव्य बने छे

आम एकर पदार्थ अनतधर्मने लई अनत बने छे आ पदार्थमा रहैल कोइ पण एक धर्म अने तेना विरोधि धर्मनी अपेक्षाए प्रथम प्रण भङ्ग धाय छे, आ तण भग पण एकुकानयनी अपेक्षाए धाय छे, अने ते ते धर्मना सयोगयी बीजा चार भङ्ग धाय छे, छेला चार भग वे नय प्रण नयना सयोगयी धाय छे प्रथम भगमा जे धर्मनी मुख्यता होय ते धर्मनी सप्तभगा कहेवाय छे, आ रीते नयसयोग्यता घटित सप्तभङ्गी बने छे

आम नयनाद अने अनेकातवादनी विचारधारा अनत छता सुयोग्य अने व्यग्रस्थित छे जे विचारणा मात्रु वस्तुदर्शन प्रगटानी माणसने बहुश्रुत अने स्थिरबुद्धिक बनावे छे

अदि अतिगौरव भययी अति विस्तार कयो नयी ?

( अचन्द्रिष्ट )

अष्टम द्वादशार

जो हेउवाय परत्वमि, हेउओ आगमे य आगमिओ । सो सप्तमयपणवओ, सिद्धत विवा द्विओ ( हओ ) अन्नोति । का० ३ गाया ४५

मूलनिमेष पञ्जत्रयस्त, उज्जुसुभ्रयणविच्छेदो । तस्त उ साहपसाहा, सद्विरुप्पा सुहुमभेदा । का-१ गा-५ ॥ द्वादशारे

हेउविसयोग्यनीय, जइ वपणिज्ज पतो नियचेई । जइ त तथा पुत्तिल्लो दाहतो केण जिप्पन्तो ॥ का-३ गा ५८

॥ श्रीसम्मतिर्तर्कप्रकरणस्य आचार्यश्रीविजयदर्शनसूरिप्रणीतसम्मति-  
 तर्कमहार्णवावतारिकाख्यटीकाया. विषयानुक्रमणिका ॥

। प्रथमकारिकार्थानुक्रमणिका ।

अङ्का.	विषया.	पृ० पङ्क्ति.
१-१	मङ्गलाचरणे श्रीपार्श्वजिनस्तुतिः ।	१-१३
२	श्रीवीरजिनस्तुतिः ।	१-१७
३	स्वकार्ये प्रभावर्यस्वसुगुरो श्रीनेमिसूरिवर्याच्छुभाक्षिप' प्रार्थनम् ।	१-२१
४	त्रिभिः पदैः स्वाऽशक्यव्याख्यानमूलमम्मतिग्रन्थकृतिव्याख्याने स्वरुर्वैकेऽस्मिन् पृहद्भक्तिपूज्यश्रीमदऽभयदेवस्वरिणारयानानुसंधानगुणोपपत्तम् ।	१-२३
५	ससारसमुद्रमुत्तिर्पिता भव्याना तदुत्तरणसाधन सम्यग्दर्शनप्रवहणमेव, तत्र "द्वार मूलमिति" पद्यस्य "न सेणियो" इति गायान्याश्च समादकृतया प्रदर्शनम् ।	२-६
६	सम्यग्दर्शनवानचारिणाणा मोक्षसाधनत्वमुपपादितम् ।	२-१४
७	सम्यक्त्वस्य कारणतावच्छेदककोटिप्रवेशप्रयोजनमुपपादितम् ।	३-१
८	सम्यग्दर्शनादित्रयस्य तत्तन्नयभेदेन मोक्षासाधारणकारणत्वमाधरमनुमानमुप- दर्शितम्, ममप्रधानभावेन त्रिषु कारणत्वं, सम्यक्त्वं मोक्षानुकूलनिर्जरानिशेष- प्रयोनकरिशेषाश्रयत्वमिति चोपपादितम् ।	३-१०
९	प्रमाणापेक्षया सम्यग्दर्शनादित्रयस्य सम्यग्दर्शनत्वादिना न कारणत्व, किन्तु मोक्षानुकूलशक्तिमत्त्वेनैव, तणादीनामपि बहिष्मति बह्व्यनुकूलशक्तिमत्त्वेनैव कारणत्वम्, तच्च नैयायिकाद्यभिमत मण्डरूप न, किन्त्वखण्डशक्तिमत्पमि- तु- पपादितम् ।	४-१
१०	शक्तिरूपाखण्डकारणत्वस्याभिव्यक्तकन्यादेव सम्यग्दर्शनत्वादीना त्रयाणादत्र च्छेदस्त्वम्, एकरूपाप्यनेकामिव्यद्गम्यते "किञ्चाभिव्यज्यते जानि." इत्यादि स्याद्वादरत्नाकरचनसमाद आवेदित ।	४-११
११	शक्तिमत्त्वस्य शक्तिरूपकारणतावच्छेदकत्वे आशङ्कित आत्माश्रयणेऽपि पण्डित ।	४-२०
१२	सम्यग्दर्शनादिषु त्रिषु मोक्षानुकूलशक्तिमत्त्वेन मोक्षमपति कारणत्वे निवृत्त- शक्तिरूपे मोक्षमार्गत्वे एतन्वान्वयमाश्रित्य "सम्यग्दर्शनत्रानवाग्राणि मोक्षमार्ग." इति तत्त्वार्थशूत्रे मोक्षमार्ग इत्येकचनमित्युपपादितम् ।	४-२७
१३	सम्यग्दर्शनादित्रिकसमूहस्यान्यथासिद्धयैरुकारणत्व न सम्भवती यादृश्याकृता ।	५-१

अङ्काः	विषयाः	पृ० पङ्क्तिः
१४	सम्यग्दर्शनादित्रयाणां व्यापारव्यापारिभावेन कारणत्वम्, न साक्षादिति तत्स मूहस्यापि न कारणत्वमित्याशङ्का व्युदस्ता ।	५-८
१५	सम्यग्दर्शनादित्रिषु तत्पर्याप्तममुदायत्वेन मोक्षाऽनुकूलसम्पूर्णशक्तेः सद्भावेऽपि सम्यग्दर्शनेत्यादिप्रत्येकधर्मावच्छेदेनापि सम्यग्दर्शनादिप्रेरकैरेषु विशेषावश्य कमाप्योक्तितो देशतो मोक्षानुकूलशक्तिसद्भाव उपपादितः ।	५-१३
१६	सम्यग्दर्शनस्य शुद्धतरत्वाधिगतये द्रव्यानुयोगदृष्टीकरण न्याय्यमिति निगमनम् ।	५-३०
१७	अभ्यस्तव्यद्रव्यानुयोगशास्त्रप्रपञ्चनम् ।	६-१
१८	तत्र सम्मतितर्काग्न्यप्रकरणस्य यथोपादेयत्व तथोपदर्श्यं तत्कर्तुं श्रीसिद्धसेन दिवाकरस्यान्वर्थसञ्ज्ञत्वादिप्रदर्शनपुरस्सर तीर्थकृत्तीर्थनमस्करणप्रवृत्तिप्रदान्तः शासनस्य स्तुत्यर्हत्वं तत्फलञ्चाभिष्टुतं विस्तरत ।	६-४
१९	प्रसङ्गागतसर्वज्ञसिद्धिराविष्कृता, तत्र "ज्ञो ज्ञेये" इत्यादि पद्यमुपदर्शितम् ।	७-५
२०	मङ्गलस्य ग्रन्थघटकीकरणप्रयोजनं दर्शितम् ।	७-२६
२१	"सिद्धं सिद्धत्वाण," इति मङ्गलमुल्लिखितम् ।	७-२७
२२	स्वरूपोपदर्शनपुरस्सरं शासनस्य मिद्वत्त्वमाधरुमनुमानमुपदर्शितम् ।	७-२९
२३	तत्र हेतोरसिद्धिदोषस्यापारुणम् ।	८-१
२४	शासनस्य प्रामाण्यलक्षणेणमिद्वत्त्वानुधारणप्रयोजनमुपदर्शितम् ।	८-६
२५	"जिणाणं" इति विशेषणमन्तारितम् ।	८-२०
२६	शासनप्रणेतुर्जिनस्य रागद्वेषादिरहिनस्य सर्वानानागत्यभावेन श्रमप्रमादादि- पुरुषदोषाभावात्तत्प्रणीतस्य शासनस्य प्रामाण्यलक्षणं सिद्धं च स्यादेवेति दर्शितम् ।	८-२४
२७	"सिद्धत्वाण" इति विशेषणम्यावतरणपुरस्सरमर्थमुपदर्श्यं प्रयोजनमुपवर्णितम् ।	८-२८
२८	"हुममयनिमासण" इत्यस्यावतरणपुरस्सर विवरणम् ।	९-१
२९	शासनस्य जिनप्रणीतत्वेन निश्चितप्रामाण्यरूपेऽनुमानमुपदर्शितम् ।	९-९
३०	"भनजिणाणं" इत्यस्यावतरणपुरस्सर विवरणम् ।	९-११
३१	"ठाणमणो वमसुहमुग्गयाण" इत्यस्यावतरणपुरस्सर विवरणम् । अस्यैवान्तरणान्तर विवरणान्तरञ्च ।	९-२२ १०-४
३२	"मिद्ध" इति विशेषणमन्तार्यं विवृतम् ।	१०-८
३३	शामनस्य जिनप्रणीतत्वमाधरुमनुमान, तत्र व्यभिचारशङ्कोत्साराण हेत्वसिद्धि- दोषोद्धार, शासनमर्ता जिन एवति साधनञ्च ।	१०-१३

अङ्का

विषयाः

- ३४ ज्ञानमात्रे उत्पत्तौ स्वत एव प्रामाण्यं तत्माधनं, वेदागमस्य नित्यत्वेनाप्तगुणापेक्षाऽभावात्स्वतः प्रामाण्यं, तत्र न पौरुषेयत्वमित्यादिमीमांसकमतमुपदर्श्य प्रतिक्षिप्तम् । ११-१
- ३५ वेदस्यापौरुषेयत्वेन वक्तृगुणापेक्षाऽभावात्प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वे तथैव तस्याप्रामाण्यस्यापि स्वतस्त्वं स्यात्, अप्रामाण्ये दोषापेक्षाया आगश्यकत्वे प्रामाण्ये गुणापेक्षाया आवश्यकत्वमित्यादि मीमांसकमतत्पष्टने प्रपञ्चितम् । ११-१४
- ३६ यथा लौकिकवाक्ये आप्तवक्तृगुणहेतुकं प्रामाण्यमनाप्तवक्तृदोषहेतुकरूपप्रामाण्यतथैव वेदवाक्येऽपीत्युपमद्वयम्, लौकिकवैदिकवाक्ययोस्साभ्युपपादितम् । १२-१८
- ३७ मीमांसकस्य वर्णनित्यत्वविषयिणी शङ्कोत्थाप्यापाकृता । १२-२७
- ३८ तत्र वर्णानामुत्पत्तिविनाशौ प्रसाधितौ । १२-२९
- ३९ घनिगतोत्पत्त्यादिधर्मस्फारोपादर्णवत्पत्त्यादिप्रतीतिरिति मीमांसकमतस्य प्रतिक्षेपः, तत्र “यो ह्यन्यरूपसवेद्यः” इत्यादिपद्य सनादकं दर्शितम् । १३-३
- ४० अल्पत्वादिधर्माणां ध्वनिधर्मत्वे श्रोत्रेण तद्ग्रहणानुपपत्तौ “ध्वनिधर्मत्वपक्षे तु” इत्यादिन्यायमञ्जरीपद्य सत्त्वादकमुपदर्शितम् । १३-१६
- ४१ वर्णस्य नित्यत्वेऽपि तदानुपूर्वीनिशेषस्य सदर्थविशेषविशिष्टपुण्यस्वरूपमालाया इव पुरुषकर्तृकत्वमिति तद्रूपवेदस्य पुरुषकर्तृकत्वमित्यत्र “पदनित्यत्वपक्षेऽपि” इति वचनसमादौ दर्शितम् । १३-२७
- ४२ दृष्टकर्तृकरचनावैलक्षण्येन वैदिकरचनाया अपौरुषेयत्वशङ्का उत्थाप्य प्रतिक्षिप्ता । १४-३
- ४३ वेदवाक्यस्य नित्यस्यापि स्वतो न यथार्थानानजनकत्वं, किन्तु पुरुषकृतसङ्केतग्रहजन्यविशिष्टसंस्कारापेक्षस्य तस्य तत्रम्, पुरुषाश्च सर्वे प्रमादादिदोषवन्त एव परेणामिति नैनमपि यथार्थज्ञानं तत इति तस्य नित्यत्वाभ्युपगमो गनन्मानमित्र, तत्र “असंस्कार्यतया” इति वचनसंवादः । १४-१२
- ४४ परार्थवाक्योच्चारणान्यथानुपपत्त्या शब्दस्य यथा नित्यत्वं तथोपपाद्य तत्र “नित्यस्तु स्याद्दर्शनस्य परार्थत्वात्” इति मीमांसासूत्रं तद्भाष्यञ्चोपदर्श्य शब्दस्यापौरुषेयत्व मीमांसकैः प्रमाथितमिति मीमांसकप्रश्नः, तत्प्रतिविधानञ्च । १४-२०
- ४५ धूमव्यक्तीनामनित्यत्वेऽपि धूमत्ववृद्धित्वसामान्याभ्या यथा व्याप्तिग्रहः तथा गवार्थव्यक्तिगोशब्दव्यक्तीनामनित्यत्वेऽपि गोत्वगोशब्दत्वाभ्या सङ्केतग्रहणवाच्यवाचकभावादिकमिति प्रश्नप्रतिविधानाभ्या निष्टङ्कितम् । १५-१२

- अङ्काः विषयाः पृ० पङ्क्तिः
- ४६ गौशब्दस्याकृतिरचनत्व, तच्च शब्दस्य नित्यत्वादेव सम्भवति, तत्संयादक भाष्योपेतं मीमासाध्वनमुल्लिखितमेतस्य पूर्वेहनुना निरास आवेदितम् । १५-१७
- ४७ आकृतिव्यस्त्योर्भाष्यरचनेन स्वरूपमुपदर्शयित्कृतिविशिष्टव्यक्तौ सङ्केतग्रहण, यत्र न सामान्यं तत्र व्यक्तावन शक्तिस्तत्र "येषामर्थेषु सामान्यं" इति पदं सवादि दर्शितम् । १५-२७
- ४८ पूर्वं शक्त्या शब्दाज्जात्यरगम, पश्चादर्थोपस्था व्यक्त्यरगम इति मीमास कमतमाशङ्क्य खण्डित न्यायमतेन । १६-९
- ४९ न्यायमतस्यायुक्तत्व सामान्यव्यस्त्यो कथञ्चिद् भेदोपदर्शनेन व्यनस्थापित, सामान्यविशेषोभयात्मके वस्तु-येन सङ्केतग्रह, स्वाभाचिकशक्तिसङ्केतग्रहाभ्या मेव शब्दस्यार्थप्रत्यापकत्वम्, तत्र देवसृष्टिप्रसवादश्च । १६-१३
- ५० शब्दज्ञानस्य शब्दज्ञानत्वेनैव शा-दशोध्भवति कारणत्वम्, सङ्केतस्याकारमुपदर्श्य तज्ज्ञान प्रत्यक्षमिन्नमेव तज्ज-य शक्तिज्ञानमपि प्रत्यक्षमिन्नमेव कारणमिति व्यवस्थापितम् । १६-२०
- ५१ शक्तिग्रहस्य कारणत्वेऽपि सङ्केतज्ञानस्यापि कारणत्वमित्युपपादितम् । १७-६
- ५२ नियतसङ्केतसङ्केतस्य शब्दस्य न सर्वार्थान् प्रत्यनिश्चित्य, वाच्यनाचकभावस्य च यथोत्पत्तिमात्रेणानस्य बलेन शब्दानां प्रामाण्यं तथोपदर्शितम् । १७-१८
- ५३ नैयायिकाभ्युपगमदिशाऽनित्यानां शब्दानां मीमासकाभ्युपगमदिशा नित्यानां शब्दानाञ्च न प्रामाण्यम्, अस्थिरस्यापि शब्दस्वार्थेन सह वाच्यनाचकभाव सम्बन्धस्य ग्रहणमुपपादितम् । १७-२२
- ५४ शब्दानामनित्यत्वव्यनस्थित्या पराभिमतसृष्टिकर्तुरभावेन घातिकर्माद्यऽपरामृष्ट पुरुषविशेषप्रणीतत्वेन भवत सिद्धं वस्तुगनयथार्थानात्मकगुणजन्यत्वविनक्षापा तु परतः सिद्धं च प्रामाण्यमिति निगमितम् । १७-३०
- ५५ प्रामाण्यस्य परत उत्पत्तौ प्रमाणस्यानुमानम्योपदर्शनम् । १८-७
- ५६ गुणानामनुपलम्भादऽसत्त्वाशङ्का प्रतिक्षिप्ता । १८-१७
- ५७ चक्षुरादिगतनैर्मन्यादीनां गुणत्व व्यवस्थापितम् । १८-२५
- ५८ दोषवद् गुणस्योभ्युपगन्तव्यत्वं निगमितम् । १८-२९
- ५९ युक्तेस्तौल्ये दोषस्यैवाभ्युपगमो न गुणस्येति पक्षपातो न युक्त इत्यत्र "सुव्यक्त गुणमात्सर्यमिति" पद्यमुपदर्शितम् । १९-१
- ६० साधकानुमानादिना गुणव्यनस्थापन विस्तरत । १९-३

अङ्काः	विषयाः	पृ० पङ्क्तिः
६१	प्रमात्वस्य परिशेषाद् गुणजन्यतावच्छेदकत्वं निर्णीतम् ।	१९-१४
६२	यथार्थायथार्थमेवेन ज्ञानस्य द्वैविध्यमेव, तत्राद्यस्य गुणवत्कारणोत्पाद्यत्वं व्यवस्थापितम् ।	१९-१७
६३	गुणस्य दोषाभावमात्रेण चरितार्थत्व विस्तरतोऽपाकृतम् ।	२०-१
६४	ज्ञानस्य प्रामाण्यप्रामाण्यं चोत्पत्तौ परत एवेति निगमितम् ।	२०-२०
६५	प्रामाण्याप्रामाण्ययोर्निश्चयोऽभ्यासदशायां स्वतोऽनभ्यासदशायाश्च परत इति व्यवस्थापितम् ।	२०-२१
६६	अनभ्यासदशाया प्रामाण्यनिश्चयात्पूर्वं प्रवृत्तिः संशयादुपपादिता ।	२०-२३
६७	संशयादपि प्रवृत्तौ प्रामाण्यनिश्चयस्य किं प्रयोजनमिति शङ्का तत्प्रयोजनोपदर्शनेनापाकृता ।	२०-२८
६८	अत्र मद्भूतमुपदर्श्य "यथैव श्रयम ज्ञान" इत्यादि तत्त्वसंवाद च प्रदर्श्य तन्निरास आवेदित ।	२१-४
६९	अत्र चक्ररान्योन्याश्रयानवस्था दोषा, परिहृताः ।	२१-१६
७०	सन्दिग्धप्रामाण्याज्ज्ञानात्मवृत्तौ प्रेक्षासन्धत्वाशङ्का परिहृता ।	२१-२९
७१	प्रेक्षाकारित्वाऽप्रेक्षाकारित्वे न नियते इत्यत्र "प्रेक्षावत्ता पुनर्ज्ञेया" इति वचन संवादो दर्शितः ।	२२-७
७२	प्रामाण्यस्य निश्चये परतस्त्वस्वतस्त्वयोः स्याद्वाद्दरत्नाकरसंवादो दर्शितः ।	२२-१२
७३	अत्र प्रामाण्यस्य स्वतो ग्राह्यत्वमभ्युपगच्छता मीमांसकाना मीमासा दर्शिता ।	२२-१९
७४	मीमांसकरुमतत्रयानुगत एतौ ग्राह्यत्वमुपदर्शितम् ।	२२-२३
७५	ज्ञानमतीन्द्रिय तज्जन्या ज्ञातता प्रत्यक्षा, तथा प्रामाण्यसहितं ज्ञानमनुमीयत इति मद्भूततस्योपदर्शनम् ।	२२-२५
७६	ज्ञातताद्यपारूपेण मद्भूतस्य खण्डनम् ।	२३-१३
७७	अनुव्ययसाधेन ज्ञान तद्गतप्रामाण्यं च गृह्यते एवमपि मतत्रयसाधारण स्वतो ग्राह्यत्वमुपपद्यत इति धुरारिमिश्रमतमदर्शनम् ।	२३-२६
७८	अनुभवसिद्धप्रामाण्यस्य देहाज्जन्योपेन प्रामाण्यनिश्चयस्य परतस्त्वव्ययस्थित्या मिश्रमतव्युदसनम् ।	२४-२
७९	सर्वज्ञानस्य यथार्थत्वमेव, भ्रमस्थले ज्ञानद्वय, ज्ञानस्य स्वतो ग्राह्यत्व तत्प्रामाण्यमपि तेन गृह्यत इति प्रमाकरमतप्रदर्शनम् ।	२४-९
८०	प्रमाकरमतखण्डन भ्रमज्ञानस्य व्ययस्थापनेन सर्वज्ञानस्य यथार्थत्वमित्यस्य खण्डनम् ।	२४-१८

अङ्का.	विषया	पृ० पङ्क्तिः
८१	अत्र बहवः पूर्वपक्षममाधानप्रकारा दर्शिताः ।	२४-२५
८२	सर्वज्ञानस्य यथार्थत्वादेव प्रमाणाऽप्रमाणविभागोऽनुपपन्न इति प्रभाकरमतस्यापु- कतव निगमितम् ।	२६-१७
८३	सर्वज्ञानस्यायथार्थत्वात्प्रमाणाप्रमाणविभागोऽनुपपन्न इति शून्यतादिमतस्य खण्डनम् ।	२६-१९
८४	शून्यताखण्डने "शास्ता शास्त्र शिष्य" इत्यादिपद्यद्वयसंवादो दर्शितः ।	२७-१
८५	स्वप्रकाशत्वस्य ज्ञानेऽसिद्ध्या परत एव तत्र प्रामाण्याप्रामाण्यनिश्चय इति नैया- यिकमतस्य द्वितीयभाष्ये स्वप्रकाशत्वसाधनतोऽपाकरण भविष्यतीत्युपदिष्टम् ।	२७-६
८६	जिनप्रणीतस्यापि शासनस्य मिथ्यादृष्टिपरिगृहीतस्याऽयथार्थज्ञानजनकत्वेन निश्चितप्रामाण्यं न सम्भवतीत्याशङ्कोत्याप्य प्रतिविहिता ।	२७-१०
८७	संवादकतयोपदिष्ट "तदुभयमुत्पत्तौ परत एव, ज्ञसौ तु स्वतः परतश्चेति" द्वय व्याख्यातम् ।	२७-२६
८८	ज्ञानस्य प्रामाण्याप्रामाण्ये बहिरर्थापेक्षया, ज्ञानापेक्षया तु प्रामाण्यमेवेत्यज्ञात मीमांसाया "भावप्रमेयापेक्षायाम्" इत्यादिपद्य संवादकमुपदिष्टम् ।	२८-१
८९	सम्पद्भूतज्ञाननद्व गुरुपाठितश्रुतानां मिथ्यादृष्टीनामपि श्रौतज्ञानं यथार्थमे- वेति प्रसङ्गादन्यदप्यत्र चर्चितम् ।	२८-९
९०	सम्पददृष्टे, श्रौतज्ञान स्वगतं प्रमाण्यं गृह्णात्येवेति व्यवस्थापितम् ।	२९-५
९१	जिनानामिति बहुकृत्वचनेन कर्तृबहुत्वे तत्प्रणीतशामनबहुत्वे शासनमित्येक- वचनार्थकत्वस्य प्रकृत्यर्थतान्त्रेदके शामनत्वेऽन्वय इति बहुदृष्टान्तात्प्राम्भेनो- पपादितम् ।	२९-१५
९२	पदार्थं पदार्थेनान्वेतीत्यादिव्युत्पत्तिनिरोधपरिहाराय यथाऽप्यत्र परम्परास म्भयेन प्रकृत्यर्थे एरुत्वान्वयः तथा प्रकृतेऽपीत्युपदर्शितम् ।	३०-६
९३	जिनानां शासनमित्यस्य पृष्ठीनिभक्त्यर्थाविदनेन विवरणम् ।	३०-१९
९४	पौद्गलिकस्य जिनशासनस्य विरारुस्वभावस्येदानीं पर्यन्तमनस्थानं न सम्भव तीत्याशङ्का प्रतिविहिता ।	३०-२९
९५	श्रोतुर्थज्ञानस्य कथमागमत्वमिति प्रश्नप्रतिविधानं, तत्र वेदखरिद्वयसम्वादश्च ।	३१-११
९६	शामनस्य जिनप्रणीतत्वे प्रमाणास्य सिद्धत्वात् इत्यस्य हेतुस्वरूपपर्यवसितोऽर्थः प्रयोगत उपरिणितः, तस्य निश्चितान्यथानुपपत्तिरेवैक लक्षणं, न त्रिरूपादि, तत्र वेदखरिद्वयसंवादः, "नान्यथानुपपन्नतः" इति पात्रस्वामिपद्यसमादृशः ।	३१-२०

- अङ्काः रिपया ५० पङ्क्ति
- ९७ अन्यागमग्रामाप्यव्यवच्छेदकं जिनागमप्रामाण्यसाधनप्रणय "बुधमपविसासणं"  
इति विशेषणमत्रतार्यं व्याख्यातम् । ३०-५
- ९८ शासनमपेठगतमर्हत्त्वसाधनपरतयाऽन्यतार्यं च "बुधमपविसामण" इति  
व्याख्यातम् । ३२-१९
- ९९ पातञ्जलनैयायिकाद्यभिमतेश्वरगतशासनप्रणेत्त्ववण्डनपरतयाऽन्यतार्यं "भरजि-  
णाणं" इति विवृतम् । ३४-१३
- १०० रागादिक्लेशविगम मन्मानत ईश्वरस्य न सभरतीत्यत्र निर्हेतुरुकार्याभ्युपगमे  
देशकालस्वभानप्रतिनियमाभावे "नित्य सत्त्वममच्च वा" इति धर्मकीर्तिपद्यमन्त्रो  
दार्थित । ३४-२७
- १०१ ईश्वरे रागाद्यत्यन्तामाशाङ्का धर्म्यसिद्ध्याऽप्याकृता । ३४-२९
- १०२ ईश्वरसाधनमनुमान नैयायिकाद्यभिमतमाशङ्क्य निस्तरन प्रतिक्षितम् । ३५-९
- १०३ प्राणिगतविनिधकर्मप्रैरित ईश्वरो विषमफलान् प्राणिनः करोतीति पराकृतमा  
शङ्क्य प्रतिक्षितम् । ३६-५
- १०४ क्रीडाऋणादित ईश्वरस्य कर्तृत्वमित्यस्य प्रतिक्षेप । ३६-२६
- १०५ कृपयेश्वरस्य कर्तृत्वे "क्षुद्रग्रामे निवास" इत्यादियत्रेन स्याद्वादरत्नाकरोपद-  
र्शिताऽऽक्षेपा समुद्रान्विता । ३७-४
- १०६ लीलया स्वेऽथा वेधरस्य सृष्टौ प्रवृत्तिरमाहृता । ३७-८
- १०७ "ठाणमणोऽनुसुहमुच्यमाण" इति विशेषणमत्रतार्यं भावितम् । ३७-२३
- १०८ शुक्लध्यानस्य पृथक्त्ववितर्कसन्निचाराव्यायमेदेन ज्ञानाऋणीयादिचतुर्वि-  
धातिरुर्ममध्यानिःश्लेषमोहनीयरुर्मण दये तन्मन्तर शुक्लध्यानस्यैकत्ववित-  
र्काऽविचारान्यद्वितीयमेदेन ज्ञानानरणादिघातिरुर्मत्रये युगपत्प्रपिते सति  
तदनन्तरमघातिरुर्मणो भरोपगाहिणो यावत्स्थितिस्तावच्छरीरानिःश्लेषा न  
मुक्तिरिति ध्यानशतकनानावेदनपुरस्मरमात्रेदितम् । ३८-३
- १०९ मुक्तिसाक्षात्कारणशुक्लध्यानतृतीयमेदस्यैकप्रक्रियाऽनिवृत्तिध्यानानन्तर  
सर्वयोगविरोधाद्दृष्टे शैलेशीकाले शुक्लध्यानस्य व्युपगतक्रियाऽप्रतिपात्याव्य  
चतुर्थमेदेनानेपभरोपप्राहिकर्मक्षये सति भगवतो मुक्तिगमनमिति तत प्रात्र  
भरोपप्राहिकर्मकार्यशरीरशुखादेर्भनस्थमयोगिजिने सद्भानत शासनप्रणेत्त्व  
सर्वथा मिव्याज्ञाननिवृत्तितस्त प्रणीतशासनस्य च प्रामाण्यमित्यावैदितम् । ३८-२२



- अज्ञा. विषयाः पृ० प
- ११० “ठाणमणोपमसुहसुवगयाणं” इत्यस्यात्रयार्थक्यनम् । ३९-९
- १११ अपुनराग्न्या सिद्धिसेत्रं गताना न पुनरागमनमित्यनेन पुनरागमनाभ्युपगन्तुमंतं “ज्ञानिनो धर्मतीर्थस्य” इति “यदा यदा हि धर्मस्य” इति च वचनप्रतिपाद्यमयाकृतम् । ३९-२४
- ११२ भवबीजकर्माभावेन न भवाऽऽगमनमित्यत्र “न पुणो तस्स पस्सई” इति वचनप्रमाणतयोपन्यस्तम् । ४०-१
- ११३ भुक्ताः सर्वत्र तिष्ठन्तीति मतमपाकृतमात्मनः शरीरपरिमाणनियतपरिमाणव्यवस्थापनेन । ४०-६
- ११४ अशेषविशेषगुणात्पन्तोऽत्रेदाभ्युपगन्तुन्यायमतखण्डनपरतया “ठाणमणोपमसुहसुवगयाणं” इत्यत्रार्थं निवृत्तम् । ४०-१७
- ११५ भुक्तौ पारमार्थिकानन्दसुखानस्थान व्यवस्थापितम् । ४०-२३
- ११६ तस्योत्पादव्ययध्रौव्यलक्षणसप्तत्रिंशत् निवृत्तम् । ४०-३०
- ११७ भुक्तौ दुःखस्येव सुखस्याप्यमान इत्याशङ्कानिरासः । ४१-८
- ११८ यात्रजीवेत्सुखं जीवेदित्यादिनचनोपदर्शनेन देहनाशो भ्रुवितरिति मतमुपदर्श्यं निराकृतम् । ४१-१६
- ११९ आत्मनोऽज्ञादित्वं तस्य परमानन्दप्राप्तिर्भुक्तिः, तदानीं सर्वकर्मनिनाशो तज्जन्यानन्तज्ञानदर्शनाद्यष्टगुणानात्स्या भुक्तेः सिद्धौ चार्वाकमतं न युक्तमिति दर्शितम् । ४१-२४
- १२० “दीपो यथा निवृत्तिमभ्युपेनो’ इत्यादिवचनेन भुक्तो न कुत्रापि गच्छति किन्तु शान्तिमेतीति मतमुपदर्श्यं निराकृतम् । ४२-१९
- १२१ अत्रानुपदर्शितं बृहद्वीकातोऽज्जसेयम् । ४२-२५

॥ इति प्रथमकारिकार्थानुक्रमणिका ॥

॥ अथ द्वितीयकारिकार्थानुक्रमणिका ॥

- २-१ द्वितीयकारिकावतरणे अपायापगमाद्यतिशयचतुष्टयशालिभगवत्प्रणीतश्रुतमय देवतास्तुतिविध्वस्तसमाप्तिप्रतिषेधरुदुरितिशेष सूरि शास्त्रस्यादौ प्रयोजनाभिधेयसम्बन्धाधिकारिलक्षणानुपपन्नचतुष्टयस्य “शास्त्रस्य हि फले ज्ञाने” इत्यादिवचनमिद्वावश्यकर्तव्यत्वस्योपदर्शनाय “ममयपगमत्येति” द्वितीयकारिकासाहेति दर्शितम् ।

अङ्का	विषया	पृ० प०
२	द्वितीयकारिकासंक्षेपार्थोपदर्शनम् ।	४४-६
३	पदार्थोपदर्शने 'आगमलारहियञो' इत्यस्यार्थो दर्शितः ।	४४-१३
४	समयेत्यादिगायार्द्धस्यार्थो दर्शितः ।	४४-१९
५	'जह ह्ये तम यमुनेस्म' इत्यस्यार्थो दर्शितः ।	४५-१४
६	अनया गाथया मुख्यवृत्त्या प्रतिपाद्यस्य प्रयोजनम्यानन्तरसान्तरभेदेन द्विविधस्य विद्विन्य स्पष्टीकरणम् ।	४५-२४
७	सम्यग्भानपरिज्ञानादितो मुक्तयनाप्तिरित्यत्र "सम्यग्भानपरिज्ञानात्" इति पद्यमुपदर्शितम् ।	४६-११
८	अभिधेयसम्यग्घयो' सामर्थ्याद्रम्यमानताऽऽवेन्ति ।	४६-१४
९	एतदध्ययनाधिकारी दर्शितः ।	४६-२४
१०	सम्मतितर्करव्यपकरणे आदरणीयत्नमाधकमनुमान दर्शितम् ।	४६-३०
११	अनुबन्धस्य लक्षण, तत्सङ्गमनञ्च ।	४७-२

### । अथ तृतीयकारिकार्थानुक्रमणिका ।

३-१	तृतीयकारिकाया क्रमेणान्तरणद्वयम् ।	४७-१७
२	तत्र सप्रपञ्चनयम्वरूपज्ञानस्यानश्यकत्वे "अत्य जो न समिसवड" इति भाष्य-गाथासनाद , नयनानमन्तरेण तत्तमत्तदुदाशापाकरणे न स्यादित्युपदर्शितम् ।	४७-२०
३	यूनमात्रस्य नयश्रयत्नाभासप्रतिपादक "नत्थि नयेहिं विहूण सुच" इति भाष्यवचनम् ।	४७-२७
४	चतुर्दशपूर्वनिदादिव्याख्यातार्थयोग्यता सप्रपञ्चनयज्ञाने सत्येन सम्पद्यत इत्युपदर्शनम् ।	४८-५
५	तित्थयरयणसगहति तृतीया गाथा ।	४८-१०
६	गाथामहिसार्थं, तत्र सामान्यप्रस्तारस्य सप्रहाद्रमूलव्याकरणी द्रव्यास्तिक-नय , विशेषप्रस्तारस्यजुसुनादेर्मूलव्याकरणी पर्यायास्तिकनय', एतद्ग्रन्थकारमते नैगमस्य मद्ग्रहव्ययहारयोरन्तर्भावे इति द्रव्यास्तिकस्य द्वौ भेदौ, पर्यायास्तिकस्य च चत्वारो भेदा इति ।	४८-१२
७	विस्तृतार्थं, तीर्थ तीर्थद्वयम्वरूपव्याख्यानम् ।	४८-२१
८	प्रथमप्रतिविज्ञानाभ्या भगवत्स्तीर्थकरणप्रयोजनोपदर्शनम् ।	४८-२६

- अङ्काः विषयाः पृ० प.
- ९ तीर्थकृत्वभावस्य कादाचिन्कत्व, तस्य तीर्थकरणामकर्मविपाकोदयेनामि व्यक्तौ "उदए जस्म" इति वचन प्रमाणमावेदितम् । ४९—४
- १० ध्यानस्ये तस्मिन् कृड्यादिभ्योऽपि देशनाऽऽभिर्भाव इति "तस्मिन् ध्यानस-  
मापन्ने" इति वचनोदसित मतमपाठ्यम्, तत्र "कृड्यादि निस्तृणाना तु"  
इति वचनोदङ्कनम् । ४९—१४
- ११ देशनायां स्पष्टाक्षरत्वान्यथानुपपत्त्या भगवत्सुखोच्चरितत्व निगमितम्, प्रतिव-  
न्धकाभावाच्च तत्र, क्लिष्टकल्पनापरिहारश्चात्र । ५०—२
- १२ केवलज्ञानोत्पत्तौ कृतकृत्यस्य भगवतो न तीर्थकरणयोननमित्याशङ्कानिरासः । ५०—१२
- १३ "तीर्थप्रवर्तनफलमिति" "तन्स्वाभाव्यादेवेति" पद्यद्वय तत्त्वार्थद्वयस्य सवादक-  
सुपदर्शितम् । ५०—१६
- १४ आचाराङ्गादिवचनस्य तीर्थकर्मवचनत्व स्थापितम् । ५०—२०
- १५ द्रव्यास्तिरूपद्व्युत्पत्त्युपदर्शनम् । ५१—३
- १६ द्रव्यास्तिरुनयमन्तव्योपदर्शनम्, तत्र "तिर्यगूर्ध्वप्रचयिन" इति नयोपदेश-  
वचनसंग्रहः अशुद्धद्रव्यार्थिकमन्तव्यत्वमस्य । ५१—९
- १७ शुद्धद्रव्यार्थिकमन्तव्योपदर्शनं, तत्र मद्ग्रहनयमूलरूवेदान्तिमन्तव्यविषयकत्व-  
मावेदितम् । ५१—१६
- १८ पर्यवनयपदव्युत्पत्त्युपदर्शनम् । ५१—२२
- १९ तृतीयस्य गुणार्थिकरुनयस्यानभिमाने हेतुरुक्तं । ५१—२५
- २० व्यतिरिक्तसामान्यविशेषप्राहिणौ नयो कस्मान्नोन्तापिति शङ्का निराकृता  
सामान्यविशेषयोर्द्रव्यपर्यायान्तर्भावप्रलेन । ५१—२८
- २१ द्रव्यरूपोर्धतासामान्ये "पूर्वोत्तराखिलनिरर्त्तसमूहवर्ति" इति वचनं प्रमाणतया  
दर्शितम्, तिर्येगसामान्यस्य व्यञ्जनपर्यायेऽन्तर्भावः । ५२—६
- २२ पर्यायास्तिरुनयमन्तव्योपदर्शनम् । ५२—१५
- २३ पर्यायास्तिरुनयमन्तव्योपदर्शनं न किञ्चिद्वस्तु, किन्तु धणिकमिति प्रदर्शनम् । ५२—२२
- २४ द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकरूपकयोऽन्योय तुल्यपदेन परनाथकृतयोऽङ्गमन्त इति  
नैकरूपपक्षपातो युक्तः, किन्तु परस्परसापेक्षद्रव्यपर्यायोभयोपग्रहो युक्त इति  
निगमितम् । ५२—२४
- २५ अत्र "य एव दोषा किल नित्यपादे" इत्यादि हमश्रविवचनतत्तादो दर्शित । ५२—२९
- २६ 'मूलव्याकरणी' इत्यत्र द्विवचन भाव्य कथमेकवचनमिति शङ्कापाकरणम् । ५३—१

- अङ्का विषयाः पृ० प.
- २७ द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकौ मूलनयान्तिपत्र "तदित्य न्यायतः सिद्धौ" इति वचनसवाद । ५३-५
- २८ नामादिचतुष्टयद्वारादितस्त मूलनयचतुष्टयाद्याऽऽसन्न प्रतिक्षितम् । ५३-७
- २९ कुन्यसुनयनिययन्यरस्था दर्शिता । ५३-१०
- ३० देवसुरिमते तत्सूत्रोपदर्शनेन द्रव्यार्थिकस्य नैगमसद्ग्रहव्यवहाराणां यास्वयो भेदाः, एतत्प्रकरणकारमते "जो सामन्तगादी" इति भाष्यरचनाभिगमस्य सद्ग्रहन्यवहारयोरेतन्तर्भागात्सद्ग्रहन्यवहारो द्वौ भेदौ, पर्यायार्थिकस्य मतद्वयेऽपि ऋजुसदादयश्चत्वारो भेदाः, अत्र देवसुरिसूत्रभाष्यमनादो दर्शित । ५३-१२
- ३१ सैदान्तिकमते ऋजुसूत्रस्य द्रव्यार्थिकस्य चत्वारो भेदाः पर्यायार्थिकस्य त्रय इति दर्शितम् । ५३-२७
- ३२ अत्र मतद्वयविशेषार्थप्रतिपत्तये शिष्यबुद्धिर्दृष्टाय च नयविभागकारा उपदर्शिता । ५३-३०

### । अथ चतुर्थगाथार्थाऽनुक्रमणिका ।

- ४-१ चतुर्थगाथावतरणम् । ५४-२५
- २ सप्रहो द्रव्यार्थिकस्य शुद्धा प्रकृति, यवहारो द्रव्यार्थिकस्याशुद्धा प्रकृतिरिति चतुर्थगाथासक्षिप्तार्थे आवेदित । ५५-१
- ३ चतुर्थगाथानिस्त्रुतार्थोपनर्णनम् । ५५-५
- ४ सद्ग्रहरूपणानियमः सदात्मरूपार एवेत्यत्र युक्तिरुपदर्शिता "सर्वं चाक्य क्रियया परिसमाप्यते" इत्यादि र्थयारुणमतस्य मसङ्गादावेदनम् । ५५-१६
- ५ घटत्वपटत्वादिनिशेषस्यापि स मानरूपत्व यवस्था । ५५-२७
- ६ द्रव्यार्थिकनयशुद्धप्रकृतिमद्ग्रहनयमूलस्य वेदान्तदर्शनस्य शब्दनक्षमादी भर्तृहरिमत्स्य चोपदर्शनम् । ५६-६
- ७ द्रव्यार्थिकस्याशुद्धप्रकृतिर्व्यवहार इत्येतत्परतया "पडिरूवे पुण वयणत्यनिच्छत्रो तस्य चवहारो" इत्येतद्विष्टम् । ५६-१८
- ८ प्रकृति निवृत्त्युपेक्षालक्षणव्यवहारस्य कारणं दर्शितम् । ५७-२
- ९ सप्रहनये प्रकृत्यादिव्यवहारो जीपपद्यत इति व्यवहारनयाहृतमुपनर्णितम् । ५७-११
- १० क्रियापद त्रिनैव धान्यपरिसमाप्तिर्व्यवहारे दर्शिता । ५७-१९
- ११ ब्रह्मात्मसत्तैव पारमार्थिकीत्यस्यासङ्गतत्वमनेन वर्णितम् । ५७-२८

- अङ्काः विषयाः पृ० पं.
- १२ 'सदेव सौम्येदमग्र आसीद्' इत्यादि ब्रह्मवादिमायश्रुत्यभिमतब्रह्मभिन्नाशेष-  
मिथ्यात्वस्योन्मूलनम् । ५८-९
- १३ विप्रतिपन्नम्प्रति ब्रह्मसत्तासाधकानुमानस्यापश्यकत्वे तस्य मामाष्ये पक्षादी  
नामपि द्वैतानां सिद्धिः, अमामाष्येन ब्रह्मसत्तासिद्धिः, अत्र "हेतोरद्वैतसिद्धिश्चेत्"  
इति "कर्मद्वैतं फलद्वैतम्" इति च पद्यद्वयं द्वैतापादकमुपदर्शितम् । ५८-२२
- १४ प्रतिरूपमित्यादेर्व्यारिचानान्तरम्, तद्भावोपसर्जनं च । ५८-३०
- १५ व्यवहारनये व्यस्त्यात्मकानां यावता विशेषाणां वस्तुत्व, सामान्यानांश्चाव्या-  
घृतिरूपाणां कल्पितत्व, तत एव च सद्रव्यमित्यादिभिन्नजनादीनां सङ्गतत्वमुप  
वर्णितम् । ६०-१
- १६ नैगमव्यवहारयोः को विशेष इति प्रश्नप्रतिविधानं सत्तासामान्यग्राहिणो  
नैगमस्य सङ्ग्रहे तदन्यसामान्यतदाश्रयव्यक्त्यभ्युपगमनैगमस्य व्यवहारे चान्त  
र्भावेन । ६०-१४
- १७ अशुद्धद्रव्यार्थिकव्यवहारमूलकत्वं साङ्ख्यदर्शनस्य तत्र "अशुद्धाद् व्यवहारा  
ख्यात्" इति नयोपदर्शसंघादस्य च कथनम् । ६०-२०
- १८ नैगमनयातिरिक्तत्वाभ्युपगमत्वात् नैगमाभ्युपगमतदभिधायोपदर्शनम्, तत्र  
विशेषावश्यकभाष्यसमादक्ष । ६०-२८
- १९ नैगमाभ्युपगमतो वैलम्ब्येन व्यवहारनयाभ्युपगम, तत्रापि भाष्यसमादक्ष । ६१-९

### । अथ पञ्चमगाथाऽनुक्रमणिका ।

- ५-१ पर्यायनयस्य मूलमृजुधराः शब्दसमभिरूढैर्भूता शाखा-प्रशाखा प्रतिशाखा  
रूपा इत्येतत्प्रतिपादकतया "मूलनिर्मेणं" इति पञ्चमी गाथाऽप्रतारिता । ६१-२१
- २ पञ्चमगाथासंक्षेपार्थं । ६१-२७
- ३ तस्या एव निस्तृतार्थे . तत्र प्रसङ्गात् "कृदभिहितो भागो द्रव्यवत्प्रकाशते"  
इति न्यायार्थोपदर्शनम् । ६२-१२
- ४ मृजुधरस्य वर्तमानैरुपर्याय एव रचनसमाप्ति । ६२-१८
- ५ तत्र "पलालं न दहत्यग्निः" इति पद्यं वर्तमानैरुपर्यायत्वे समादकम् । ६२-२२
- ६ पलालादेस्तन्मते दहनकर्मत्वाद्यभासोपपादनम् । ६२-२६
- ७ मृजुधरतरो शाखाप्रशाखामतिशाखारूपता शब्दसमभिरूढैर्भूतेषूपपादिता । ६३-७
- ८ मृजुधराभ्युपगतमेकमेव वस्तु लिङ्गसङ्ख्यादिभेदेन भिन्नं शब्दनयो मयत्  
इति, तत्र "विरोधिलिङ्गसङ्ख्यादि" इति समादकम् । ६३-१३

- अङ्गा. विषया. पृ० पं
- ९ शब्दनयाम्युपगत पर्यायभेदेऽप्यभिन्नमर्थं समभिरूढो भिन्नमेव पर्यायभेदेन मन्यत इति, तत्र "पर्यायशब्दभेदेन" इति पद्य सवादकम् । ६३-२४
- १० व्युत्पत्तिनिमित्तक्रियाया सत्यामसत्याश्चैक वस्तु समभिरूढाभिमतं व्युत्पत्ति- निमित्तक्रियासद्भावकाल एवैरम्भूतोऽभ्युपैतीति तत्र "तत्क्रियापरिणामोऽर्थ" इति पद्य सवादकम् । ६३-२९
- ११ यथा च ऋजुसूत्रस्य पर्यायनयतरुत्वं शब्दादीनां शाखादित्य तथाऋजुसूत्रपद व्युत्पत्तिनिमित्तसंपर्यायार्थिकजनयसद्ग्राहकधर्मोपदर्शनेन भावितम् । ६४-१३
- १२ यथा चर्जुसूत्रादिचतुर्णामेकधर्मसङ्घट्टनेनर्जुसूत्रभेदत्व शब्दादीनां न तथा व्यवहारस्य सद्ग्रहभेदत्रमित्युपदर्शितम् । ६४-२७
- १३ पारिभाषिकर्जुसूत्रपदव्युत्पत्तिनिमित्तधर्मलच्छब्दादीनां नयभेदत्व स्यादि त्याशङ्कासमुद्धारणम् । ६४-३०
- १४ बाह्यार्थाम्युपगमपरर्जुसूत्रचनविस्तारस्य सौत्रान्तिक्रवैभाषिकमतमूलकारण- त्वम्, तन्मतयोश्च भेद आवेदित, आद्यस्य साकारविज्ञानवादो द्वितीयस्य च निराकारविज्ञानवादः । ६५-८
- १५ एतन्मते निर्विकल्पकरूपत्वमेव प्रमाणम्, तस्य यत्रैव सविकल्पकरजनरुत्वं तत्रैव ग्रामाण्यमिति दर्शितम् । ६५-१९
- १६ व्युत्पत्त्यन्तराश्रयणेन ऋजुसूत्रस्य विज्ञानमात्राम्युपगन्त्वयोगाचारमतमूलत्वमुप- दिष्टम् । ६५-२४
- १७ एव व्युत्पत्त्यन्तरानलम्बनेन ऋजुसूत्रस्य शून्यवादिमाध्यमिकमतमूलत्व दर्शितम् । ६५-२६
- १८ प्रकारान्तरेण ऋजुसूत्रस्य सौत्रान्तिकमतप्रकृतित्व, शब्दनयस्य च वैभाषिकमतप्र- कृतित्वम्, समभिरूढनयस्य योगाचारमतप्रकृतित्वम्, एरम्भूतनयस्य च माध्यमि- कमतप्रकृतित्व सम्मतिटीकाकृत्यतिपादित तद्वीकोट्टङ्कनेन दर्शितम् । ६६-३
- १९ तार्किकमते सैदान्तिकमते च पूर्वपूर्वनया बहुबहुविषयका उत्तरोत्तरनयाश्चाल्पा ल्यविषयका इत्युपपाद्य दर्शिताः । ६६-१७
- २० उक्तार्थं तत्त्वार्थश्लोकनार्तिकरूपधानि सवादकानि दर्शितानि । ६६-३१
- २१ दिवाकरमते नैगमो नास्तीति द्रव्यार्थिकनये सद्ग्रह. शुद्ध, व्यवहारस्त्वशुद्ध,, तत्र सम्मतिटीकाचनसंवादः । ६७-१७
- २२ पर्यायार्थिकनये उत्तरोत्तरनया' शुद्धशुद्धतरशुद्धतमाः पूर्वपूर्वनयास्त्वशुद्धाशुद्धत राशुद्धतमा भाविता । ६७-२३

- अङ्काः प्रियाः पृ० पं
- २३ सिद्धसेनमते सङ्ग्रहव्ययहारर्जुनार्यास्त्रयो नया अर्थनयाः, सैदान्तिरुमते नैगमसहितास्ते तथा, उभयमतेऽपि शब्दसमभिरुद्धैवभूतान्या नयास्त्रयः शब्दनया, अत्र तच्चार्थश्लोकरातिरुमंवादश्च दर्शितः । ६८—३
- २४ एते परस्परसापेक्षा सुनयाः, अन्यथा तु मिथ्यानया, तस्य तु शब्दादयः शाखाप्रशाखाप्रतिशाखा इति निगमितम् । ६८—११

### । अथ पष्ठगाथाऽर्थाऽनुक्रमणिका ।

- ६-१ नाम ठणोति पष्ठया गाथाया अन्तरणम्, तत्र नामादिनिक्षेपचतुष्टयमूलत्वं द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनययोस्तेन तयोर्व्यापकत्वमिति । ६८—१४
- २ अस्या एवाऽन्तरणात्तरम् । ६८—२१
- ३ नामादिनिक्षेपाय द्रव्यार्थिकस्य, भावनिक्षेप पर्यायार्थिकस्य, तत एव नपद्वय-विभाग इति सक्षिसार्थः । ६८—२३
- ४ अन्वयार्थिकनयम्, द्रव्यार्थिकस्य, नामादिग्राहित्वमेव न भावार्थग्राहित्वमित्यत्र हेतुरूपदर्शितः । ६८—२७
- ५ पर्यायार्थिकस्य भावनिक्षेपग्राहित्वमेव, न नामादिनिक्षेपग्राहित्वमित्यत्र हेतुरूप-दर्शितः । ६९—२
- ६ नामनिक्षेपस्य निरूपण कृततल्लक्षणादिना । ६९—१०
- ७ नामनिक्षेपस्य द्रव्यार्थिकनयामिमत्तत्स्थापनम् । ७०—१२
- ८ तत्र शब्दस्य पौद्गलिकत्वव्यवस्थापनम् । ७०—१५
- ९ शब्दस्य क्रियाऽन्त्रादिना पौद्गलिकत्वे “ज ते पोग्गलमइशा” इति भाष्यचर्चनं “वाससहिं जोयणेहिं” इति पारमर्षचर्चनं प्रमाणम् । ७०—२१
- १० शब्दरूपस्य नामनिक्षेपस्य कृतत्वेऽपि द्रव्यार्थिकनयामिमत्तत्त्वे युक्त्यन्तरोप दर्शनम् । ७०—२७
- ११ नाम्नो वस्तुस्वरूपत्रयस्थापनम् । ७१—४
- १२ स्थापनानिक्षेपनिरूपणम्, तस्य द्रव्यार्थिकनिक्षेपत्वव्यवस्थापनम्, वस्तुस्वरूप-त्वव्यवस्थापनम् । ७१—११
- १३ स्थापनाया पर्यवसितलक्षणप्रदर्शनम् । ७१—२२
- १४ नामस्थापनयोर्विशेषो व्यवस्थापितः । ७१—२४
- १५ सङ्भूतामङ्भूतस्थापनयोर्विविच्य लक्षणप्रदर्शनम्, तत्र “लेप्यगहत्वी” इत्याग-भयचनोद्भूतम् । ७१—२८

- अङ्का विषया पृ० पं.
- १६ द्रव्यनिक्षेपनिरूपणम् व्युत्पत्तिविशेषोपदर्शनेन तत्स्वरूपनिर्दिष्टम् तद्व्याख्ये-  
दन, उपदेशपदादिसवादाश्च । ७२—५
- १७ भावनिक्षेपनिरूपणम्, तत्र भावपदव्युत्पत्तिद्वयोपदर्शन, तत्र “भागे विरक्षि-  
तेति” पद्यसमादः । ७२—२३
- १८ उपयोगविशेषस्वरूपपर्ययसितं भावलक्षणम् । ७२—२८
- १९ भावनिक्षेपस्य पर्यायार्थिजनपनिक्षेपत्वम् । ७३—१
- २० सिद्धसेनमते देवद्वारिमते च द्रव्यार्थिकनयेन नामस्थापनाद्रव्यनिक्षेपा, पर्याया  
र्थिजनयेन भावनिक्षेपः । ७३—६
- २१ ऋजुवृत्रनयस्य पर्यायार्थिकनयत्वे ‘उज्जुवृत्रस्तेति’ सूत्रनिषेधाशङ्कापरिहारः । ७३—१०
- २२ अत्र सिद्धसेनसैद्धान्तिकाना मतमेद आवेदित । ७३—२०
- २३ सैद्धान्तिकमते द्रव्यार्थिकस्य चत्वारो निक्षेपा, पर्यायार्थिकस्य भावनिक्षेप  
एवेति, तत्र ‘भाव चिचेति’ रचनमुपदर्शितम् । ७३—२४
- २४ अत्र प्रश्नप्रतिनिधानानामनेके विचारा उपनिबद्धाः । ७३—३०
- २५ अत्र “इष्टः शब्दनयैर्भावा” इत्यादि पद्यकदम्बक नयोपदेशस्य सङ्गमनार्थमुपदिष्टम् । ७५—१५
- २६ पृथग्रूपयोर्द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिभ्योर्मिव्यादृष्टिन, समुदितयोश्च सम्यग्दृष्टिन,  
परस्परसापभनपद्व्यापेनया वस्तुभावात्स्य नामादिचतुष्टयात्मकत्वं, तत्र “सवि-  
निर्भूतः” इत्यादिवचन तत्समादकमुपदर्शितम् । ७५—२१
- २७ अनुयोगद्वारास्मरे “जत्य य ज जाणिज्जा” इति वचनेन निक्षेपचतुष्टयस्य  
वस्तुभावे प्रवृत्तिरावेष्टिता । ७६—६
- २८ तत्र शचीपतिमधिकृत्य नामादिचतुष्टययोजना कृता । ७६—१२

### । अथ सप्तमगाथाविषयानुक्रमणिका ।

- ७-१ नयद्वयाकलिना योन्वानुस्यूतत्र यपर्यायोभयात्मकमेव वस्तुतत्त्वं, न त्वेकैका  
त्मक, तत्र “द्रव्यं पर्यायत्रियुत” इति पद्यमुपदर्श्य “पञ्जनिस्तामष्ण” इति  
सप्तमी गाथाऽन्तारिता । ७६—१९
- २ सप्तमगाथासंक्षिप्तार्थोपदर्शनम् । ७७—८
- ३ तस्या विस्तृतार्थोपरणनम् । ७७—१५
- ४ अस्तीति वचन न मेदवाद्यभ्युपगतार्थप्रतिपादनमिति निर्णीत प्रश्नप्रति  
निधानाभ्याम् । ७७—२१



- अङ्काः विषयाः पृ० पं.
- ५ सामान्यमात्रप्रतिपादकचनस्य मिथ्यात्वे सङ्ग्रहमाद्युक्तमपि "यथा कटकशब्दार्थ" इति पद्यप्रतिपाद्यं निरन्तमिति, तत्पद्यार्थश्च दर्शितः । ७८—१
- ६ सर्वेषां घटपटादिशब्दानां तत्तद्रूपेण महामामान्यसत्ताभिधायकत्वमेवेत्यस्यापाकरणे हेतोरुपदर्शनम् । ७८—१२
- ७ सामान्यविनिर्मुक्तस्य विशेषस्य भेदाभेदाभ्यामिच्छ्यासहत्वात्प्रत्ययप्रदर्शितम् । ७९—१
- ८ एकान्तनयद्वयस्याप्रामाणिकत्वे तद्विपर्ययकान्तमामान्यैकात्तविशेषयोरसत्त्वमेव, यत् परस्परानुस्यूतमामान्यविशेषोभयात्मकमेव वस्तु सन्निति तत्पर्यायानेकारमकतया प्रधानगौणभावेनावगाहिनयद्वय प्रधानभावेनावगाहिप्रमाणं च शास्त्रहस्यमिति निगमः । ७९—४
- ९ अत एवैकस्मिन्नरुके शब्धतत्राशब्धतत्त्वप्रतिपादक "इमाणं भते" इति सूत्रसङ्गतम् । ७९—११
- १० "पञ्जनविस्सामण्णम्" इत्यादेरवतरणान्तस्म, तदनुसारि व्याख्यानन्तरश्च । ७९—१६
- ११ गायोचरार्द्धान्तरणम् । ७९—३०

### । अथाष्टमगाथाविषयानुक्रमणिका ।

- १-१ "पञ्जवणयजुवरुत" इत्यष्टमगाथावतरणम् । ८०—११
- २ उक्तगाथातात्पर्यायार्थे । ८०—१९
- ३ अयवार्थप्रदर्शनम्, तत्रापश्चिमत्रिरूपनिर्बन्ध इति विवृतम् । ८०—२१
- ४ अपश्चिमत्रिरूपनिर्बन्ध इत्यस्यैव विवरणांतरम् । ८०—२४
- ५ पर्यायानाम्नातसत्तामात्रप्रादरूप्रमाणामात्रो भावितः । ८०—२९
- ६ "पञ्जनयजुवरुत" इत्यादेर्याग्यानान्तरम् । ८१—७
- ७ महामामान्यस्य सामान्यरूपत्वमेव स्यात्, अन्त्यविशेषस्य च विशेषरूपत्वमेव स्यादित्याशङ्काया इष्टापत्त्या परिहारेऽपसिद्धान्तत्तममङ्गाशङ्कायाः परिहारः, तत्र "अयं द्र-योपयोग स्यात्" इति नयोपदेशयार्यागतमहासामान्यनिष्ठसामान्यैरूपत्वान्त्यविशेषगतविशेषैरूपत्वोक्तिः । ८१—२१
- ८ महासामान्यस्य सामान्यैकात्तरूपत्वेऽन्त्यविशेषस्य विशेषैकान्तरूपत्वेऽनैकात्त्वविरोध इत्याशङ्काया प्रतिविधानम् । ८२—५

### । अथ नवमगाथाविषयानुक्रमणिका ।

- १-१ "द्व्यद्विओत्ति तम्हा" इति नवमगाथावतरणम् । ८२—१०

- अङ्काः विषयाः पृ० पङ्क्तिः
- २ उक्तगाथायास्नात्पर्यायीं दर्शितः । ८२-१९
- ३ उक्तगाथाऽन्यवार्यरुचनम्, तत्र शुद्धजातीययोर्द्रव्यार्थिरूपपर्यायार्थिकनययोर-  
भासो व्यास्थापितः । ८२-२४
- ४ भजनया तयोत्रिशेष उपादितः । ८३-७
- ५ "भयणाइउ निसेतो" इत्यस्य व्याख्यानन्तरम् । ८३-१२
- ६ निवक्ष्याया विशेष इति व्याख्यानस्याभिप्राय उक्तः । ८३-१४
- १०-१ "द्व्यद्विप्रत्तव्यं" इति दशमगाथाविवरणम्, तत्र द्रव्यार्थिकनयाभिधेयस्य  
द्रव्यस्य पर्यायार्थिकमतेऽस्तुत्व पर्यायार्थिकामिधेयस्य पर्यायस्य द्रव्यार्थिक-  
मतेऽवस्तुत्वस्युपपादितम्, तात्पर्यायार्थश्च दर्शितः । ८३-२१
- २ तस्या अप्यर्थे उपदर्शितः । ८४-३
- ३ भजनया प्रधानोपसर्जनमावेनोपपत्त्या वस्तु द्रव्यपर्यायोभयात्मरूपेण, तत्र "सर्व-  
मात्रासमूहस्य" इति वचनमंबादः । ८४-१८
- ४ द्रव्यपर्यायनययो पर्यायद्रव्यप्रतिभासयोरनुभूयमानान्ये भेदस्य द्रव्यनयेनामे-  
दस्य पर्यायनयेन प्रतिक्षेपः कथमिति शङ्काया प्रतिविधानम् । ८४-२८
- ५ केवलध्रौव्याशस्य केवलोत्पादव्ययलक्षणपर्यायाशस्य च न वस्तुत्व किन्तुभ-  
यरूपत्वेन जात्यन्तरस्येत्यत्र" नान्ययो भेदरूपत्वात्" इति वचनसनादः । ८५-२४
- ११-१ "उपपत्ति विवति अ "इत्येकादशगाथाविवरणम् । ८६-१
- २ पर्यायनये नियमेनोत्पादव्ययस्वभाव वस्तु द्रव्यार्थिकनये नियमेन ध्रौव्यस्व-  
भारमिति गाथातात्पर्यार्थः । ८६-७
- ३ उक्तगाथान्यवार्यार्थोपदर्शनम् । ८६-११
- ४ उत्पादव्ययध्रौव्यैतन्नितयस्यान्वोन्वाग्निभूतस्यैव सत्प्रमित्यत्र "अनाद्यनिघने  
द्रव्ये" इति पद्य सनादकम् । ८६-२२
- ५ उत्पादव्ययध्रौव्याणि समुदितायेन सल्लक्षणमित्यत्र "उत्पादव्ययध्रौव्यपुक्त  
सत्" इति तत्त्वार्थसूत्र सनादकमुपदर्श्य तद्व्याख्यातम् । ८६-२९
- १२-१ "द्व्य पञ्चत्रिउयै" इति द्वादशगाथाविवरणम्, तत्र द्रव्यपर्यायी नैकान्तभिन्नौ,  
नाप्येकान्ताऽभिन्नौ, न चैकान्तपरस्परनिरपक्षभेदाभेदवन्तौ, किन्तु द्रव्यार्थिक-  
सुनयापेक्षया गुणीभूतभेदप्रधानीभूताभेदात्मक, पर्यायार्थिकसुनयापेक्षया  
गुणीभूताभेदप्रधानीभूतभेदात्मक, प्रमाणार्पणया प्राधान्येन कथञ्चिद्भेदाभेदोम-

- शङ्काः विषयाः पृ० पङ्क्तिः
- यात्मकं वस्तु, तत एव चोभयनपार्षणया प्राधान्येन परस्परानुविद्धोत्पादादिर  
यात्मकमित्युपदिष्टम् । ८७-११
- २ उक्तगाथातात्पर्यार्थि - द्रव्य पर्यायविषुवत नास्ति, द्रव्यविषुवताश्च पर्याया न  
सन्तीत्याद्युपदिष्टम् । ८७-२८
- ३ उक्तगाथावयवार्थः, तत्र द्रव्य पर्यायसहितमेव पर्याया द्रव्यराहिता एव गृह्यन्ते  
इति पर्यायद्रव्यविषुवतद्रव्यपर्यायाभार, किन्तु पर्यायद्रव्यसहितावेव द्रव्यप-  
र्यायानिति सदृष्टान्तमुपदर्शितम् । ८८-४
- ४ उत्पादस्थितिभङ्गाः समुदिता द्रव्यलक्षण, व्युत्पत्तिनिमित्तोपदर्शनेन लक्षणस्य  
प्रयोजनोपदर्शनं सदृष्टम् । ८८-२३
- ५ प्रकृतलक्षणप्रयोजने आत्मादिवस्तुमात्र द्रव्यपदनाच्यतया व्यग्रहर्तव्यम्, उत्पा-  
दस्थितिभङ्गसमाहारवच्चान्तिनुमाने हेतोः स्वरूपासिद्ध्याऽऽशङ्काया प्रतिविधानम् । ८९-१३
- ६ लौकिकप्रोधस्यापि स्याद्वादापेक्षतोपदर्शकं महारीस्तोवत "तद्वैम कुण्डलतया"  
इति पद्यमुपदिष्टम् । ८९-२१
- ७ अनुगतप्रतीतिनिषामक हेमत्वजातिरेव न तु हेमद्रव्यमित्याशङ्का हेमत्वस्य साङ्क-  
र्याजातिरूपत्वासिद्धेरपाकृता । ८९-२४
- ८ जातिसाङ्कर्यस्य हेमत्वव्याप्यकुण्डलत्वादिसवीकारेण परिहारेऽपि व्यक्त्यभेद  
विनाऽनुपपन्नाभेदग्रहणलादनुगतद्रव्यमभ्युपगन्तव्यमिति दर्शितम् । ८९-२८
- ९ अवस्थानामेवोत्पादविनाशौ न त्ववस्थातुरित्याशङ्कानिरास । ९०-७
- १० द्रव्यत्वजातिप्रत्यावृत्तिव्यादिद्रव्यमेव न तु पर्याय इत्याशङ्का द्रव्यत्वजातौ  
प्रमाणाभावादपाकृता । ९०-११
- ११ जन्यसजनकताच्छेदकतया द्रव्यत्वजातिसाधनमपि तन्पर्यतावच्छेदकतया घस  
कारणतावच्छेदकतया च सिद्धेन जन्यसत्त्वेन साङ्कर्यान्नि सम्भनतीति दर्शितम् । ९०-१४
- १२ यदि नोक्तकार्यतावच्छेदकतया नोक्तकारणतावच्छेदकतया जयसत्त्वसिद्धिस्तदा  
तद्वदेव न द्रव्यत्वजातिमिदिरिति दर्शितम् । ९०-२०
- १३ समनापसम्बन्धेन जन्यसत्त्वावच्छिन्नग्रत्युपादात्त्वार यनिपयतासम्बन्धेनेष  
रीयबुद्ध्यादीनामेव कारणत्वमिति द्रव्यत्वजात्यसिद्ध्या न तद्वत्त्वाद्द्रव्य न वा  
समवायिकारणत्वात्, किन्तु "व्यक्तान्यक्तात्मरूप यत्" इति श्लोकोक्तलक्षणोपादा

- अङ्काः विषया पृ० पङ्क्तिः
- नापरसंबन्धपरिणाभिकारणत्वाद् द्रव्यमित्युपपादितम् । ९०-२९
- १४ पृथिव्यादीनामात्मादीना च द्रव्यपर्यायोमयरूपत्व, तत्र “न द्रव्यमेव” इति खण्डखाद्यनचनसत्त्वाद् । ९१-५
- १५ पृथिव्यादिक जलादिरूपण परिणमतीत्यसहमानस्य जन्यपृथिवीत्वाच्चिह्न-  
म्प्रति पृथिवीत्वेन कारणत्वाभ्युपगमस्य प्रश्नोत्तराभ्या प्रतिक्षेपः, तत्र पृथिव्यादि-  
परमाणूना न रिजातीयत्व, किन्तु पुद्गलैरुजातीयत्वेन सर्वरूपेण परिणमनम् । ९१-१५
- १६ पृथिव्यभेजेवायूना स्पर्शादिमत्त्वेन पुद्गलद्रव्यपर्यायत्वानुमानम्, तत्र पक्षैरुदे-  
शासिद्धिदोषप्रतिक्षेपः । ९१-२१
- १७ जलादौ गन्धाद्युपलब्धप्रमङ्गपरिहारः, पयो गन्धवदित्याद्यनुमाने प्रत्यभुवाघादि-  
परिहारश्च । ९१-२७
- १८ पृथिव्यादीना पुद्गलैरुजातीयत्वेन गन्धरसादिक विविक्त लक्षण न सम्भवति,  
तत्र स्याद्वादरत्नाकरनचनम् “एकान्तेन विविक्त यत्” इत्यादिकं दर्शितम् । ९२-५
- १९ पृथिव्यादीनामभिन्नलक्षणत्वे जलादिष्वपि गन्धादीनामुद्भूतैव स्यादित्याद्य-  
नेकाशङ्काना प्रतिक्षेप । ९२-१६
- २० पृथिव्यादिपरमाणूनामेकजातीयत्वादेन “आदीपमाच्योम” इति श्लोकाभ्या  
रत्याया तैजसपरमाणूना तमोरूपेण परिणमनमुक्त सङ्गतम् । ९२-२९
- २१ जन्यपृथिवीत्वाद्यवच्छिन्न प्रति पृथिवीत्वादिना न हेतुत्व, किन्तु तादात्म्यम-  
न्वयेन पृथिवीत्वाच्चिह्नम्प्रति स्वघनसत्वसम्भवेन पृथिवीत्वात्किं हतुत्वम्,  
तत्र “भेदे हि द्वयणुनादीना” इति रत्नाकरवचनम् । ९३-१
- २२ परमाणो कारणत्व कार्यत्वश्चापेक्षाभेदेन, परमाणोर्भेदजन्य ढाट्कारणवचनस्य  
प्रामाण्यम् । ९३-१२
- २३ अवयवसयोगपूर्विकैः कार्यद्रव्यस्योपचिरिति न्यायमतस्यापुक्त्वम् अयमं  
दस्य कारणत्वञ्चोपपादितम्, अयशङ्काप्रतिविधानश्च । ९३-१७
- २४ पृथिवीत्वादे कार्यतावच्छेदकत्वेऽपि कारणतावच्छेदकत्वं न समवतीति  
शङ्काया. प्रतिविधानम् । ९३-२८
- २५ स्यात् सर्वगत स्यादसर्वगतो घटादिरिति सप्तमहीसङ्गमनम्, घटात्मक-  
परमाणूना विस्त्रसादिपरिणतिरजलादिरूपेण परिणमनम्, घटकृताङ्गादि-  
वचनश्चेतदर्थोपोद्गल दर्शितम् । ९४-८

- अङ्काः विषयाः पृ० पङ्क्तिः
- २६ जन्यद्रव्यत्वावच्छिन्नं प्रति तदनुद्गलशक्तिमत्त्वेन परिणामिपुद्गलस्य कारणत्वा-  
दिक व्यसथाप्य वस्तुमात्रस्य द्रव्यपर्यायोभयरूपत्वेनोत्पादव्ययप्रौढ्यपुनरुत्त्वेन  
द्रव्यत्व निष्टङ्कितम् । ९४-१४
- २७ द्रव्यत्वपुद्गिरपि समुदितैरेवोत्पादादिभिरित्यत्र “नाशोद्भवस्थितिभिरिव”  
इत्युपाध्यायोक्तपद्यसंवादः, उत्पादादित्रिभ्यस्य द्रव्यत्रप्रत्यक्षप्रति समुदायत्वेनैव  
कारणत्वं, एवं द्रव्यपदज यशब्दबोधग्रहण्यपि समुदायत्वेन रूपेणैकीकृतोत्पा-  
दादित्रितयधर्मावच्छिन्ने शक्तिग्रहस्य कारणत्वमिति न नानार्थत्वप्रसङ्ग इति  
व्यवस्थोपितम् । ९४-२१
- २८ पुष्पदन्तपदस्य नित्यद्विवचनान्तत्ववद्द्रव्यपदस्य नित्यबहुवचनान्तत्वप्रसङ्ग-  
शङ्काया अपाकरणम् । ९५-९
- २९ शब्दस्वाभाव्याद्द्रव्यपदस्य बहुवचनान्तत्वाभावऽप्यर्थस्वाभाव्याद्बहुवचनात्त्व-  
मसङ्गाशङ्काया प्रतिक्षेपः । ९५-१३
- ३० यत्रैकधर्मस्योद्देश्यतावच्छेदकत्व तत्र द्विवचनबहुवचनाभ्यामुद्देश्यतावच्छेदकव्या-  
प्यद्वित्वबहुत्वे बोध्यते, यत्र च नानाधर्मस्योद्देश्यतावच्छेदकत्व तत्र केवलद्वित्व-  
बहुत्वे एव ताभ्यां बोध्यते इत्यस्य निष्टङ्कनेन द्रव्यपदस्थले नानाधर्मस्योद्देश्य-  
तावच्छेदकत्वेन केवलस्य बहुत्वस्य भान स्यादित्याशङ्का व्युदस्ता । ९५-१७
- ३१ द्रव्यपदोत्तरबहुवचनाद्यापच्युद्धारायाश्रिते प्रकरान्तरे पुष्पदन्तपदे द्विवचनान्त-  
त्वोपपादनं, तत्र “नाशोद्भवस्थितिमति” इति पद्य न्यायखण्डखाद्ये उपाध्या-  
योक्त संवादकम् । ९६-१
- १३-१ त्रयोदशगाथावतरणम् । ९६-१६
- २ एकान्तद्रव्यास्तित्त्रनयाम्युपगत प्रौढ्यम्, एकान्तपर्यायास्तिकनयाम्युपगता-  
वुत्पादव्ययौ च द्रव्यस्य न लक्षणम्, प्रत्येकं मियोऽनपेक्षौ प्रत्येकलक्षणग्राहिणौ  
द्वावपि मिथ्यादृष्टौ इत्यर्थो दर्शितः । ९६-२२
- १४-१ नयद्वयारब्धतृतीयनयस्य सम्यग्दृष्टित्त्र भविष्यतीत्याशङ्काप्रतिविधानार्थकृतया  
चतुर्दशगाथावतरणम् । ९७-१
- २ तदर्थकथनं, तत्रोभयवादात्मकस्य तृतीयनयस्याभाव उपपादितः, प्राध्यायेन  
द्रव्यपर्यायोभयावगाहिनानस्य प्रमाणरूपत्वे स्याद्वादरत्नाकर-तत्त्वार्थलोकवा-  
तिरूपसंवादश्च । ९७-९

अङ्काः	विषया	पृ० पं.
३	मिथो निरपेक्षभावेन द्रव्यपर्यायग्राहिणोर्नययोर्मिथ्यात्व परस्पराज्यागरूपेण भज्यमानयोस्तयो प्रमाणसङ्गत्वमावेदितम् ।	९७-२०
४	मुख्यगौणविधया स्वपरार्थग्राहिणा सम्यग्दृष्टित्व युक्त, न तु स्वतन्त्ररूपितो- भयविषयग्राहिणामिति निगमितम् ।	९८-४
१५-१	मूलनययोरिदं स्वान्यनयविषयनिरपेक्षविषयग्राहिणामुत्तरनयानामपि मिथ्या त्वमित्युपदर्शनपरतया पञ्चदशगाथाऽवतारिता ।	९८-७
२	“जह एए” इति पञ्चदशगाथाऽर्थो दर्शितः। तत्र मूलभूतनययोर्मिथ्यादृष्टित्वव- दन्यनयानामपि मिथ्यादृष्टित्वमुपादितम् ।	९८-१२
३	तद्व्यतिरिक्तनयान्तरासन्नानो निगमितः ।	९८-२२
१६-१	“सञ्चणयसमूहम्मिबि” इति षोडशगाथाऽवतरणम्, तत्र सद्ग्रहादिनयाना सद्भावेषुपि मूलनयद्वयविषयविषयरूपत्वेन तद्दूषणदूषितत्वम् ।	९८-२५
२	उक्तगाथार्थोपदर्शनम्, उभयत्रादप्ररूपकोजतिरिक्तनयो नास्ति, सद्ग्रहादीना मूलनयप्रतिनातार्थस्यैव विशेषरूपेण प्रतिपादकत्वादिति प्रवञ्चितम् ।	९९-५
१७-१	सप्तदशगाथावतरणम्, पयोऽत्रादिदृष्टान्तेन धीरदध्यादीना कथञ्चिद्भेदाभेदवद् वस्तुमात्रस्य कथञ्चिद्भेदाभेदात्मरूपत्वेनोत्पादव्ययध्रौव्यात्मरूपत्वं, तत्र “पयो- घृतो न दध्यत्ति” इति पद्यसंवादः, तत्प्राग्भिप्रायोपवर्णनम् ।	९९-१६
२	बाह्यवस्तुवदात्मान्तरास्तुनोऽपि कथञ्चिद्भेदाभेदात्मरूपत्वं व्यवस्थापितम् तस्य भेदाभेदकान्तरूपताभ्युपगमे सरुलव्ययहारोच्छेदापादनेन ।	९९-२६
३	‘ण य दव्वद्वियपक्खे’ इति सप्तदशगाथाविवरणम्, द्रव्यार्थिरूपक्षे पर्यायार्थिकपक्षे च संसारो न समगतीति दर्शितम् ।	१००-५
४	एकान्तशाश्वतव्यक्तिवादिनि द्रव्यार्थिरूपेण कथं संसारानुपपत्तिरिति शङ्काया- प्रतिविधानम्, तत्र संसारस्वरूपोपदर्शनम्, संसारस्य गतिचतुष्कमेदाच्चतुर्निधत्वे स्थानाङ्गवचनसंवादश्च ।	१००-१३
५	औदयिकादिभावानां संसरणपरिणामः संसार इति पञ्चान्तरभावना, तत्र संसार आत्मनो द्रव्यपर्यायोभयरूपत्वेनैकानेकरूपत्वे सत्येन घटते इत्यस्य व्यवस्थापनम् ।	१००-१७
६	एकान्तनित्यात्मनि जन्ममरणायुपपादनमाशङ्क्य व्युदस्तम् ।	१००-२३
७	अतिरिक्तसयोगस्याऽपारुणम् ।	१०१-१
८	आत्मनो नित्यैकान्तरूपत्वे छेदभेदाद्यभावादिंसाद्यभावप्रसङ्गः, मन सयोगविशे-	

अङ्काः	विषया	पृ० प०
	पञ्चमस्य हिंसात्वमपाकृणम् ।	१०१-१०
९	मरणोद्देश्यरुमाणानुकूलव्यापारस्य हिंसात्व तद्वतश्च हिंसरुत्वमाशङ्क्य परिहृतम् ।	१०१-१७
१०	प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपतोषणं हिंसेत्येव युक्तमित्यात्मनो नित्यत्वेऽपि तत्पर्याय- म्यानित्यत्वेनोक्तहिंसाऽहिंसादिरुमुपपद्यत इति स्याद्वादपक्ष एव मसार सम- वति, न तु शाश्वतव्यक्तिवादपक्ष इति निगमितम् ।	१०२-२
११	एकान्तोच्छेदपक्षेऽपि समाराऽभाज' शङ्काप्रतिविधानाम्ना व्यनस्थापितः ।	१०२-९
१२	एकान्तोच्छेदपक्षे हिंस्यहिंसरुभावादेरमंभवात्ससारो न समयतीति कल्पात्तर भाजन विस्तरत ।	१०२-१५
८-१	एकान्तनित्यपक्षे एकान्तानित्यपक्षे च दूषणान्तरप्रतिपादनपरतयाऽष्टादशगाथा ऽनतरणम् ।	१०३-१२
२	"सुहृद्बुहसम्पजोगो" इति अष्टादशगाथाविवरणम्, सुखदुःखादिस्वरूप निरुच्य तत्संप्रयोगस्यैकान्तनित्यवादपक्षे न समव इति विस्तरत' प्रतिपादनम् ।	१०३-१५
३	द्रव्यार्थिक्रमते द्रव्ये गुणप्रतीतिभिर्नन्तव अत एव "इच्छइ ज दव्यनजो" इति भाष्योक्तिस्सामायिकमाश्रित्य संज्ञता, तन्मतस्यायुक्तत्व भावितम् ।	१०३-२४
४	नित्यस्यात्मन सुखस्वभावत्वे दुःखसंप्रयोगो न भवेद्, दुःखस्वभावत्वे सुखस- प्रयोगो न भवेदिति दर्शितम् ।	१०३-२९
५	कदाचित्सुखस्वभाव कदाचिद्दुःखस्वभाव इत्युपगमेऽनित्यत्व प्रसज्यत इति ।	१०४-२
६	नैगमनय सुखदुःखसंप्रयोगोपपत्तिराशङ्क्य प्रतिक्षिप्ता ।	१०४-४
७	समनायासिद्ध्या समनायिकारणत्व द्रव्यलक्षण न समवति, प्रत्यज्ञानुमानादिक न समनायसाधकरुमाण, समनायासिद्धयैव सुखदुःखसमनायिकारणत्वमपि नात्मनः ।	१०४-९
८	प्रकृत्युपघानतः पुरुषस्य सुखदुःखे स्त' "इति सारव्यमतस्य खण्डनम् ।	१०४-२६
९	एकान्तोच्छेदवादेऽपि सुखदुःखसंप्रयोगो न समवति, एकान्तोच्छेदवादः पर्या- यार्थिक्रनयाम्युपगमो दर्शित ।	१०५-८
१०	तन्मते ज्ञानसुखादिगुणातिरिक्त जीनद्रव्य नास्ति, तत्र सामायिकमाश्रित्य "पञ्जाजो चिञ्च वत्थु" इति भाष्यसंवादः ।	१०५-१५
११	सर्वप्रमाणैर्निर्दिष्टाभावाद्द्रूपादिभ्यो भिन्नस्य घटस्याभावो यथा तथा ज्ञानादिभ्यो भिन्नस्य स्थिरस्यात्मनोऽभाव इति न तत्र सुखदुःखसंप्रयोगः ।	१०५-१९

अङ्काः

विषयाः

पृ० पङ्क्तिः

१२ पञ्चदशेषि मुखदु खविस्त्वपनमयुक्तमिति ।

१०५-२२

१९-१ एकान्तनिश्चितमगाथातरणम्, तत्र संसारे कर्म योगादितत्त्वमित्तमालम्ब्य  
वात्मना बध्यते, कर्मणा च शरीरं निर्वर्त्यते तद्द्वारा च सुखं दुःखञ्चाप्तुमर्त्वात्मा,  
एकान्तनित्यानित्यपक्षे तदञ्जसमोपदर्शिकेयं गाथा ।

१०६-१०

२ प्रकृतगाथायामिदमर्थं, नत्र त्रिविधयोगनिमित्तमासाद्य प्रकृतिरन्वयपदेशवधा-  
त्मकं कर्म बध्यते, कथायन्त्राद्रसनघस्यतिबन्धात्मकं च बध्यते इत्येतदुभयमे  
कान्तापरिणतिनादे एकान्तोच्छिन्नादे च न सम्भवतीति प्रदर्शितम् ।

१०६-२०

३ अत्रयथा, तत्र योगस्य कर्मनिमित्तत्व कथमिति प्रश्नस्य प्रतिविधानम्,  
अन्यथ्यतिरेकाभ्यां योगस्यैव बन्धनिमित्तकारणत्वं व्यवस्थापितम् ।

१०६-२३

४ कर्मणो योगनिमित्तत्वे "कर्म जोगनिमित्तं" इति विशेषावश्यकमाप्यगा-  
थाटीकोक्तिसमादो दर्शितः ।

१०७-८

५ व्युत्पत्त्युपदर्शनपुरस्सरं कर्मपदस्यात्र प्रकृतिरन्वयपदेशवधपरत्वमुपदर्श्यं तस्य  
योगनिमित्तत्व "जोगो विरियं" इति पद्येन मनोयोगादित्रिविधयोगव्यापन-  
पूर्वमुपदर्शितम् ।

१०७-१४

६ एतद्भावोपदर्शने "एगपत्सोगाढ" इति पद्येनात्मा यथा योगनिमित्तेन कर्म  
स्वीयस्यप्रदेशेभ्रमति "कर्मनैर्देशं" इति पद्येनोपदर्श्यं तथा भावना कृता ।

१०७-२१

७ आत्मैव सन्नतकर्मणा ससरति मुच्यते चेत्यनेन "तस्मान्न बध्यते" इत्यादि  
सादृश्यमतयुदासः ।

१०८-४

८ "बध्द्विई कसायनमा" इत्यस्य त्रिररणम् ।

१०८-६

९ कर्मैव न सिद्धं कस्य बन्धादिकमिति शङ्को मूलनम् ।

१०८-१४

१० कर्मसिद्धिं पौराणिका अपि प्रतिपद्यन्ते इत्यत्र "यथायथा" इत्यादिप्रचनानि दर्शितानि,  
यौद्धा अपि मन्वन्त इत्यत्र "इत एकरुनते कल्पे" इति पद्यमुपदर्शितम् ।

१०८-१७

११ कर्ममाधकमनुमानं प्रमाणमुपदर्शितम् ।

१०८-२८

१२ कर्मणो पौद्गलिकत्वसाधनेऽनुमानं प्रमाणं दर्शितम् ।

१०९-९

१३ कर्मणो न द्रव्यत्वं, किन्त्वात्मगुणत्वमिति न्यायमतखण्डनम् ।

१०९-१९

१४ आत्मनः पारतन्त्र्य प्रसाध्य तन्निमित्तस्य कर्मणः पौद्गलिकत्वं दृढीकृतम्,  
तस्याऽमूर्त्तत्वे ततोऽनुग्रहोपघातो न स्यातामिति तद्द्रव्यमेव नारमगुण इत्युपपा-  
दितम् ।

१०९-२३



- अङ्काः विषयाः पृ० पङ्क्तिः
- १५ नित्यत्वैकान्तेऽनित्यत्वैकान्ते च योगनिमित्तककर्मबन्धस्य कपापहेतुरुच्यन्व-  
स्थितेश्चासम्भवे हेतूपदर्शनपरतयोत्तराद्धाऽनतारः । १०९-३०
- १६ अपरिणते उच्छिन्ने चात्मनि घ घस्थितिकारणाऽभागेपदर्शनम् । ११०-०
- १७ अपरिणामिन्यात्मनि योगानामसम्भयः सम्भवे वा कथञ्चिदनित्यत्वप्रसञ्जनम्,  
एकान्तोच्छिन्नात्मपक्षेऽपि येनात्मना यत्कर्मनिमित्त योगः कृतः तेनात्मना तत्कर्म  
बध्यते इति न स्यात्, ततश्च व्ययहारोन्नेद इत्यादिदर्शितम् । ११०-६
- १८ व्ययहारस्य भ्रान्तत्वमपाकृतम्, सन्ततेर्न ययार्थव्यवहारः । ११०-१०
- १९ अविचार्ये नित्यात्मनि स्थितिविधानुभागबन्धकारणरूपायोदयजन्यरागद्वेषाद्य-  
ध्यवसायानामसम्भयः, सम्भवे वा कथञ्चिदनेकत्वप्रसञ्जनम् । ११०-१३
- २० एकान्तानित्यात्मन्यनुसन्धानविकलेऽहमनेन सन्तुष्टोऽहमनेनाद्बुष्ट इति रागद्वेषाध्यय-  
सायासम्भय, ततश्च बहुच्यवहारनिलोपः, धीजाभावात्मन्ततिकल्पनाऽसम्भवेन  
न तन्निमित्तकत्वं व्ययहारस्येति । ११०-१५
- २१ उक्तानुसंधानप्रतीतिर्मिथ्यात्मन न सम्भवति, एकस्य चेतनस्य बाधारहितात्तुभ  
वविषयस्यापह्वाऽसम्भवात् । ११०-२०
- २२ मिथ्याऽध्यासोपहानार्थं यत्नोऽप्रत्यपि भोक्तरीत्यस्य खण्डनम्, उक्तप्रतीति-  
मिथ्यात्वासिद्धयानुपदर्शनेन । ११०-२४
- २३ अभिष्वङ्गादिषु चैतन्यानुस्यूतिप्रत्ययस्य मानमविकल्पत्वान्नानुगतवस्तुमाधक-  
त्वमिति शङ्काया निरासः । ११०-३१
- २४ एकान्तनित्यानित्यन्युदासेनोभयपथ एव घ घस्थितिकारण युक्तमिति निग-  
मितम् । १११-७
- २०-१ एकात्तरादिना संसारनिवृत्त्यर्थं प्रवृत्त्यादिर्न घटत इत्येतत्परतया विंशतितम  
गाथाऽनतारिता । १११-९
- २ "बघम्मि अपूरन्ते" इति गाथासहितार्थरुचनम्, तत्र अपरिणामनादात्मके  
एकान्तवादे संसारभयमाचुर्यपर्यालोचन मिथ्याज्ञानमित्यादि दर्शितम् । १११-१३
- ३ उक्तगाथाविस्तरार्थं, तत्र "बघम्मि अपूरन्ते" इत्यादि प्रत्येकत्राक्याना विन्त-  
स्तोऽर्थप्रदर्शनम् । १११-१६
- ४ गाथाऽस्य भागेपदर्शनम् । १११-२८
- ५ "बन्ध च विणा" इयुत्तरार्थस्य विवरणम् । ११२-२

- १-१ "तद्वा स त्रेषु नया" इत्येकत्रिंशतितमगाथाऽनंतरणम्, तत्र "जात्र ण एम जीवे" इत्यादिसिद्धान्तोत्तेरीतरागस्यापि चतुःपदमोमीलनादिक्रियामात्र मपि कुर्वत योगनिमित्त कर्मरन्धो भवति, तद्वन्धेषां मिथ्यादृष्टीनामनिरताना सर्वविरतानामपि सरूपायाणां च योगविशेषहेतुरुः कर्मरन्धो भवत्येवेति ध्रुवरा सिद्धम्, सर्वेषु योगक्रियाऽभावे नव्यकर्मरन्धाभावादितो मुक्तिरित्येतत्सर्वं स्याद्वादपक्षे, नैकान्तपक्षे इत्याहुक्तम् । ११२-१९
- २ एकान्तनित्यस्यात्मनो विचित्रकर्मरन्धहेतुमिथ्यात्वादिपरिणतिस्वभाव-तज- न्यविचित्रकर्मरन्धनादिस्वभावभेदेरनित्यत्वप्रसङ्गः, एकान्तानित्यस्य चात्मन प्रतिक्षणं भिन्नत्वेन यः कर्महेतुकर्ता स न कर्मकर्ता, कर्मकर्ता च न कर्मफल- मोक्ता, यथा धर्मणा धर्मः स एव न मुक्त इत्यनुभूयमानव्यवहारमात्रनिलो- पकारित्वेनैकान्तनयाः सर्वेऽपि मिथ्यानया । ११२-२८
- ३ उक्तगाथानिररणे सर्वनयत्रादाना मिथ्यादृष्टिमाधिकमनुमानमुपदर्शितम् । ११३-११
- ४ अन्योन्यनिश्चिता नया सम्यक्त्वस्वभावा इति दर्शितम् । ११३-१७
- ५ भागार्थोपदर्शनं, तत्र वाक्यरूपा एकान्ततत्त्वानगाहिनया मिथ्यात्वरूपापकाः स्याद्वादनिरपेया यावन्तस्ते तावन्तः परममयाः, अत्र नयोपदेशोक्तिः सनादिका । ११३-२१
- ६ अन्योन्यनयनिषयापरित्यागेन म्याद्वादमापेक्षास्ते प्रामाण्यं प्रतिपद्यते अत्र "जात्रन्तो वयणपहा" इति विशेषाशयरूपाप्यसंवादः । ११३-२५
- ७ ज्ञानात्मका अपि नया एकान्ततत्त्वानगाहिराभिप्रायरूपा स्वनिषयेतरनिष- योमूलका मिथ्यात्मका, त एवेतराज्ञमापेक्षाविषयग्राहका यथावस्थित वस्तुप्रत्ययरूपा समुन्निता प्रामाण्यं भवन्ते । ११४-२
- ८ इतरेतरनिषयापरित्यागवृत्तीना ज्ञानात्मरुनयानामेकदोषादासम्भवात्तत्का लाविद्यमानानां समुदाये कथं सम्यक्त्व-यपदस इत्याशङ्काप्रतिविधानम्, अप- रित्यक्तेतरधर्मविषयाध्ययसाय एव समुदाय इति प्रतिपादनेन । ११४-७
- ९ सम्यग्दृष्टिना स्याद्वादमर्यादया निषयविभागेन व्ययस्यापितस्तत्सर्वेऽपि परमि- दान्तः स्वमिद्वान्त एव । ११४-१९
- १० नयाना प्रयेकावस्थाया मिथ्यादृष्टित्वात्तत्समुदायेऽपि महामिथ्यादृष्टित्वमस- क्त्या न सम्यक्त्वमिति प्रश्नप्रतिविधानम् । ११४-२१

अङ्काः

विषयाः

पृ० पङ्क्तिः

११ उक्त एतार्थैः प्रश्नप्रतिविधानाम्या “न समेन्ति नयसमेया” इति “सन्धे समयन्ति सम्म” इति गाथाय्या विशेषावश्यकभाष्ये उक्तः ।

११५-४

२२-१ “जहङ्गो गलरत्नगुणा” इति द्वाविंशतितमपद्य नयसमुदाये न सम्यक्त्व प्रत्येकनयेषु सम्यक्त्वाभावादित्यत्र हेतोरनैकातिरुत्वप्रदर्शनार्थतयाऽनतारितम् ।

११५-१०

२ अनेकलक्षणगुणा वहर्यादयो विसृज्यन्ता रत्नावलीति व्यपदेश न लभन्त इत्यर्थो दर्शितः

११५-१५

२३-१ दाटार्तिके योजनपरा त्रयोविंशतितमा गाथा, तस्या अन्योन्यपक्षनिरपेक्षा निजरूपादसृष्टिनिश्चिता अपि नया सम्यग्दर्शनव्यपदेश न प्राप्नुवन्तीत्यर्थो दर्शितः ।

११५-२४

२४-१ “जह पुण ते चेव मणी” इति चतुर्विंशतितमगाथायाः यथा त एव षण्यो गुणविशेषभागप्रतिबद्धा रत्नावलीति व्यपदेश प्रतिपद्यन्ते प्रत्येकमज्ञा च जहतीत्यर्थः ।

११६-१०

२५-१ “तद् सन्धे णयवाया” इति पञ्चविंशतितमगाथायास्तथा सर्वे नयवादा यथाऽनुरूपविनियुक्तव्याः सम्यग्दर्शनशब्द लभन्ते न विशेषसज्ञा इत्यर्थः प्रपञ्चतो दर्शितः ।

११६-२३

२ एतद्गाथाभावार्थोपदर्शनम् ।

११७-८

३ तत्र कथं विशिष्टैकाध्ययसायलक्षणसमुदायार्थोपपत्तिरिति शङ्काप्रतिविधानम् ।

११७-११

४ नयप्रमाणात्मरुद्रीर्घोपयोगरूपैरुचैतन्यस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वात्तत्र रत्नावली दृष्टान्तोपादानं व्यर्थमित्याशङ्का प्रतिविहिता ।

११७-१४

२६-१ दृष्टान्तगुणप्रतिपादनार्थाया “लोह्यपरिच्छयसुद्धे” इति षड्विंशतितमगाथाया व्याख्यानम् ।

११७-२०

२ उक्तगाथाभावार्थोपदर्शनम्, तत्र दीर्घोपयोगरूपचैतन्ये लौकिकरूपरीक्षकाणां मेकानेकात्मरूपाभावात्सुखप्रतिपत्त्युपायस्वलक्षणरत्नावलीदृष्टान्तगतप्रथमगुणस्य स्पष्टीकरणम् ।

११८-१

३ प्रमाणनयापेक्षयैकानेकात्मकचैतन्यस्वरूपप्रतिपादकचान्यगनप्रामाण्यप्रतिपत्तिजनकत्वलक्षणप्रामाण्यप्रदर्शकत्वलक्षणदृष्टान्तगतद्वितीयगुणप्रदर्शनम् ।

११८-९

४ प्रज्ञापनाविषयत्वलक्षणतृतीयगुणप्रदर्शनम् ।

११८-१५

अङ्काः

विषया

पृ० पं.

५ सर्वथा सादृश्याभावनिरधनदृष्टान्तदार्ष्टान्तिरुभावानुपपत्त्याशङ्का व्यपाकृता,  
तथा रत्नसमुद्रापस्यैरकालीनस्य सम्भवो यथा तथा नैरकालीनस्य नयसमु  
हस्य सम्भव इति कथं प्रमाणसङ्केत्याशङ्काऽपि व्युदस्ता । ११८-२०

२७-१ "इहारा समूहसिद्धे" इति सप्तविंशतितमगाथावतरणम्, तत्र असदकरणादित्यादिना  
सारयमतस्य, सारयविशेषमतस्य, नैयायिकरुपेणिकादीना मतस्य, बौद्धमतस्य,  
एकान्तद्रव्यवादमतस्य, वेदान्तिमतस्य चोपदर्शनम्, दृष्टान्तासामग्र्यस्येति । ११९-१

२ उक्तगार्थार्थं, तत्र रत्नादिध्यावल्यादि समूहसिद्धे, परिणामकृतो वा, विरुल्पा-  
मिधानलौकिकव्यवहारापेक्षया, ते तं चेति सत्कार्यमाद, ण त् चेत्यसत्का-  
र्यमाद, त चेवचित्ति एकान्तद्रव्यमाद, ब्रह्ममात्र मा तत्त्वमित्यद्वैतमादो वा,  
एतया सर्वेषां वादानां मिथ्यावादत्वम्, कथञ्चिदर्थप्रवेशे सर्वेषां सम्यग्वा-  
दत्वमिति । १२०-३

३ "यदुत्पादव्ययध्रौवेति" उत्पादादिसिद्धिग्रन्थमचनाद्वस्तुमात्रमुत्पादादित्रय-  
योगि, तत्तत्तद्वस्तु तत्तदपेक्षया कार्यमकार्यमित्याद्यनेकान्तात्मकमिति । १२०-१९

४ तत्तद्वस्तुनोऽनुगतव्यावृत्तस्वरूपतयमानेकात्मकत्वा मध्यनुस्यूतरत्नालीदृष्टान्त-  
स्यापि तत्त्वसिद्धेस्तद्दृष्टान्तउल्लासप्रमाणात्मकचैतन्यस्याप्यापेक्षिकैरानेकात्म-  
कत्वसिद्धिरिति निगमितम् । १२०-२५

५ पूर्वोक्ततत्त्वमतेषु नियमेन मिथ्यात्वे वीनोपदर्शने प्रथमं सारयमतमुपदर्श्य  
तत्र मिथ्यात्ववीजमुपदर्शितम् । १२०-२८

६ कारणमेव स्थाभिन्नकार्यतया परिणमत इति सारयविशेषमते मिथ्यात्ववीजो-  
पदर्शनम् । १२१-२०

७ कारणेऽमदेव कार्यं सामग्रीतस्त्विहात्मकमुत्पद्यत इति नैयायिकरुपेणिकादिमते  
मिथ्यात्ववीनोपदर्शनम् । १२१-२२

८ कारणे सर्वथाऽसदेव क्षणिकं कार्यं कूर्मद्रुपात्मरूपपूर्वकारणादुपजायत इति बौद्धमते  
मिथ्यात्ववीजोपदर्शनम् । अत्र मश्रप्रतिविधानाभ्यां निचारं पल्लवित । १२१-२५

९ यत्सत्क्षणिकमिति व्याप्तेः सत्त्वहेतोः क्षणिकस्वसिद्धिरिति पराकृतो व्युदस्तः । १२१-२७

१० सत्त्वक्षणिकत्वयोः कृतकत्वानित्यत्वयोश्चातद्यावृत्तिरूपत्वाच्चद्वेदाद्भेद इत्याशङ्का  
निराकृता । १२२-१

११ सामान्यविशेषोभयात्मकस्य वस्तुनः सामान्याशमादायानुगतमतीत्युपपत्तिः । १२२-८

- अङ्काः विषयाः पृ० प.
- १२ काल्पनिकव्यवच्छेदभेदादतद्व्यावृत्तिभेदाभ्युपगमस्य खण्डनम् । १२२-१२
- १३ तत्तथावृत्तीनां बुद्धिमतिभासभेदाद् भेदाभ्युपगमस्य खण्डनम् । १२२-१९
- १४ सच्चक्षणीकत्वयोः कृतकत्वानित्यत्वयोश्चाभेदनियतस्तादात्म्यसम्बन्धस्तद्बलाद्भ्रम्यगमरुभात् इत्यस्य खण्डनम् । १२३-३
- १५ विनाशस्य स्वप्रतियोग्युत्पत्तिक्षणव्यरहितोत्तरक्षणभानित्वसाधनेन क्षणिकत्वसाधनस्य निराकरणम् । १२३-१७
- १५ भावस्य विनाशे स्वातिरिक्तकारणापेक्षाऽभावात्कारणक्रमाभावेन घसोत्पादने न विलम्ब इति क्षणिकत्वमित्यस्य खण्डनम् । १२३-२८
- १७ विनाशप्रतीत्यन्यथानुपपत्त्यादिना नस्तु न क्षणिकत्वमिति चोदस्य पूर्वपक्षः । १२४-२
- १८ स्वहेतौरेव हि भूतभविष्यद्वर्तमानस्वभावात्त्वेन त्रिकालस्यापितया प्रथमक्षण एवोत्पन्नो भाव इत्यादिना तत्खण्डनम् । १२४-१९
- १९ मित्राभिन्नोभयात्मरूपस्तु नि विशेषणविशेष्यभावाद्युपपत्तिः । १२५-१
- २० स्थिरपदार्थस्य पूर्वापरकालसम्बन्धित्वरूपविरुद्धधर्माध्यासाद् भेदे क्षणिकस्यापि परमाणो परमाणुपट्टकेन योगात् पड्यता स्यादिति अत्र "पट्टकेनेति" पद्यसंबन्धः । १२५-३
- २१ एकस्य परमाणोर्विभिन्नदिगवच्छेदेन विभिन्नपरमाणुसंयोगानां विरोधाभावाच्चद्वैत्येऽपि परमाणोर्न भेदः, तथा पूर्वापरकालवच्छेदेन पूर्वापरकालसम्बन्धयोर्विरोधाभावाच्चद्वैत्येऽपि स्थिरस्य न भेदापत्तिरिति । १२५-६
- २२ एकस्य परमाणो परमाण्वन्तरेण सर्वात्मनैरुद्देशेन वा संयोग इति निरूप्यनेन परमाण्वन्तरसंयोगखण्डनमप्युक्तम्, इमौ मयुक्ताविति प्रतीत्यन्यथानुपपत्त्या प्रकारान्तरेण संयोगरूपनस्य युक्तत्वादिति । १२५-१०
- २३ नैरन्तर्यमात्रेण संपुक्तप्रतीत्युपपादनस्य खण्डनम् । १२५-२४
- २४ विनाशे स्वप्रतियोग्युत्पत्तिक्षणव्यरहितोत्तरक्षणभानित्वसिद्धिर्निति निगमितम् । १२६-१
- २५ विनाशस्य निर्हेतुकत्वेन क्षणिकत्वसाधनस्य खण्डनम् । १२६-२
- २६ विनाशस्य ध्रुवभावित्वादिनाऽपि क्षणिकत्वसाधनस्य खण्डनम् । १२६-८
- २७ अक्षणिकस्य क्रमयोगपद्याभ्यामर्थक्रियाकारित्वे न सभरतीत्यतो न सत्त्वमिति चोदपूर्वपक्षः । १२६-१४

- अङ्का. विषया' पृ० पं.
- २८ एतत्प्रतिविधान स्थिरवादिन, क्षणिकेऽपि स्थिरवादिना क्रमयोगपद्याभ्यामर्थ-  
क्रियाविरोधो वक्तुं शक्य एव, तद्भावना च कृता, क्षणिकवायुपयस्तदोपाणा  
क्षणिकनादेऽप्यासन्न, तदोपोद्धारप्रकारो यः क्षणिकवादिन सोऽक्षणिकवादि-  
नोऽपीति निरूपणम् । १२८-११
- २९ क्षणिकपक्षे युगपत्कार्यकारित्व न सभनतीत्युपसंहृत्य तत्र क्रमिककार्यकारि-  
त्वमपि न सम्भवतीति भावितम् । १२९-१२
- ३० क्षणिके नानादेशव्याप्तिलक्षणस्य देशक्रमस्य नानाकालव्याप्तिलक्षणस्य कालक्र-  
मस्य न सम्भव, अत्र "यो यत्रैव स तत्रैवेति" प्राचीनपद्यसवादः । १२९-१४
- ३१ सादृश्यस्याक्षणिकस्याभ्युपगमे क्षणभङ्गवादाऽपगम इत्यत्र "अथापि नित्य  
परमार्थसन्त" इति न्यायमञ्जरीनचनसवादः । १२९-२८
- ३२-विरुद्धेन सत्त्वेन न क्षणिकत्वसिद्धिरिति निगमितम् । १३०-१
- ३३ स्थिरपक्षे समर्थं क्षेपायोग इति विलम्बो न भवेदिति क्षणिकनादिदत्तदोषनि-  
सनम् । १३०-३
- ३४ न सहकारित्व किन्तु सहितकारित्वमिति बौद्धाभ्युपगमस्य निरास' । १३०-१०
- ३५ कारणस्य स्वरूपलाभार्थं सहकार्यपक्षेत्यादि विरुल्लप्य यद्दूषण पूर्वं बौद्धेनोक्त  
तत्प्रतिविधानम् । १३०-१४
- ३६ तैस्सह करोतीत्यस्य विशेषणत्वमाश्रित्य स्थैर्यपक्षे यद्बौद्धोक्त दूषण तद्विद्वा  
भ्युपगतक्षणिकपक्षेऽपि दर्शितम् । १३०-१८
- ३७ तैस्सह करोति तैर्विना न करोतीति योऽस्य स्वभाव स पश्चादस्ति न चेति  
विरुल्लप्य स्थिरपक्षे बौद्धोक्तं दूषणं क्षणिकपक्षेऽपि समानमिति भावितम् । १३०-२४
- ३८ निर्विशेषणत्वेन श्रुद्धस्वरूपधर्मस्यैवेत्यादिसमाधान तुल्यम् । १३१-३
- ३९ उक्तदिशा द्वयोरप्येकातवादिनो मुन्दोपमुदयायेन प्रतिहतत्वान्नैकोऽप्येका-  
न्तपक्षो युक्तः, किन्तु मिथ सापेक्षभावेन स्याद्वादपक्ष एव युक्त इति । १३१-७
- ४० उक्तमर्थमभिहित "य एव दोषा फिल नित्यवादे" इति पद्येन हेमस्वरिणा । १३१-१२
- ४१ मिथ सापेक्षभावेन स्याद्वादपक्षस्य युक्तत्वे हेतुरुपदर्शितः । १३१-१५
- ४२ स्वभावभेदस्य काल्पनिकत्वेन विविक्तव्यपहारस्य काल्पनिकत्वमित्युपगमे  
"सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इति वदतो वेदान्तिनो विजय आपादित । १३१-२०
- ४३ एकान्तद्रव्यमात्रवादस्य निरास' । १३१-२७

- अङ्काः विषया पृ० प
- ४४ ब्रह्मवादनिरसनं, तत्र प्रसङ्गात् “अयं जीवो न कूटस्थम्” इत्यादि पञ्चदशीपद्य  
त्रयमुद्बुद्धितम् । १३२-१
- २८-१ “णिययवयणिजसच्चा” इत्यष्टात्रिंशतितमगाथावतरणम्; तत्र वस्तु नैकात्मकं  
किन्त्वस्तुभूयमानत्वेनानेकान्तात्मकं प्राचीननैयायिकमतसेवच्छेदकमेदेनैकत्र वृक्षे  
कपिसंयोगतदभावयोरिव, नव्यनैयायिकमते कपिसंयोगितद्वेदयोरिव, बौद्ध-  
मते चित्रज्ञाने नीलाकारत्वपीताकारयोरिव, स्वप्न्यादिपद्व्यादितत्त्वमि-  
मित्तापेक्षया सत्त्वासत्त्वयोरिवरुद्धत्वम् । १३२-२९
- २ अविरोधावगतये स्यात्पदघटितस्य वाच्यस्य प्रयोगः । १३३-७
- ३ यत्र न स्यात्पदप्रयोगस्तत्रापि “अप्रयुक्तोऽपि सर्वत्र” इति घचनेनैकान्तव्य-  
वच्छेदाय स्यात्पद द्वेयम्, एवकारास्वदित्युपपादनम् । १३३-८
- ४ विरुद्धधर्मस्य तत्तन्निमित्तापेक्षयाऽविरोधानभ्युपगमे यायादिमते भ्रान्तज्ञाने  
धर्म्यंशे प्रामाण्यं प्रकाशांशे चाप्रामाण्यं, सारव्यमते एकस्या एव प्रकृतेः त्रिगु-  
णात्मकत्वं, बौद्धमते एकस्य चित्रज्ञानस्य नीलपीताद्यनेकारात्त्वम्, रूपस्य  
रूपप्रत्युपादानत्व रसम्भति निमित्तत्वमिच्छादि न स्यात्, उक्तार्थं “साङ्ख्यः  
प्रधानमुपयन्निति” उपाध्यायवचन “चित्रमेकमनेकं च” इति हेमचरिवचनञ्च  
संवादकम् । १३३-१२
- ५ अनेकान्तात्मकरस्त्वेरुदेशविषयास्तर्वेऽपि सङ्ग्रहादयो नयाः परनयविषये  
गजनिमीलिकामन्त्रमानास्सम्बन्धानरूपा अपीतरनयविषयव्यवच्छेदेन  
स्वविषये प्रवर्तमाना मिथ्यात्वं प्रतिपद्यत इति । १३३-२७
- ६ णिययवयणिजसच्चा इति गायार्थः । १३४-५
- ७ भावार्थः, तत्र स्वाद्वादतत्त्वज्ञो नयमामाण्याप्रामाण्ययोर्नैकान्तमवधारयति किं तु  
इतराशतापेक्षसत्रनिमित्तापेक्षांशप्राहकत्वे नयानां प्रामाण्यमन्ययात्वंऽप्रामाण्यमि-  
त्यनेकान्तं निश्चिनोतीति । १३४-२१
- ८ इयं गाथा गुल्लचविनिश्चये किञ्चिद्भागेऽन्यथा पठिता तत्त्वाऽप्युल्लिख्य तदुप  
दर्शितश्चार्थ उल्लिखितः । १३४-२५
- २९-१ नयप्रमाणात्मकैरूपताव्यवस्थितमात्मरूपमनुगतव्यावृत्तात्मकमुत्तर्गापवादरू-  
पप्राप्तप्राहकात्मकत्वाद्यवतिष्ठते इत्यर्थोपदेशेनपरतया “द्वन्द्वद्वियवत्तत्र” इत्ये  
कोनत्रिंशत्तमगाथाऽन्यतरिता । १३५-४

अङ्काः

विषयाः

पृ० पं

- २ तदर्थकथन, तत्र पूर्वार्द्धेन द्रव्यार्थिरुसदृशहादिनयवस्तव्योपदर्शनम्, तत्र सर्वस्य सदसद्विशेषात्मकत्वादित्यस्याभिप्रेतोऽर्थो दर्शितः । १३५—८
- ३ “आरद्धो य विभागो” इत्याद्युत्तरार्द्धेन पर्यायनयवक्तव्योपदर्शनम् । १३५—२३
- ४ उक्तगाथाभावार्योपदर्शनम्, तस्य नयद्वयापेक्षया कथञ्चिद्भेदसम्पृक्ताभेदात्मकमेव वस्तुभ्युपगन्तव्यमित्यत्र पर्यवमानम् । १३५—३०
- ३०—१ पर्यायार्थिरुनयविषयस्य भेदस्य द्वैविध्यप्रतिपादकतया त्रिशत्तमगाथाऽत्रारिता । १३६—७
- २ “सो ऽण समासो चिय” इति त्रिशत्तमगाथात्रिरणम्, तत्र प्रथमं सक्षिप्तार्थं, ततश्च विस्तृतार्थं, पर्यायनयविषयो भेदः, शब्दनयनिर्घनार्थनयनिर्घनभेदेन द्विविधः, तत्र द्वितीय एकरिषः, प्रथमो भिन्नोऽभिन्नश्चेति द्विविधः । १३६—१०
- ३ “अल्पपवर” इत्यादिभाष्यप्रचनात्सदृशहृदयहारजुष्वान्ता अर्थनया, तद्विषयोऽर्थपर्यायोऽभिन्न इति भावना । १३६—२२
- ४ “सदृशहाण” इति भाष्यवचनाच्छ्रुतसमभिरुद्वन्भूताः शब्दनया, एतन्नयनयविषयव्यञ्जनपर्यायो भिन्नोऽभिन्नश्च । १३७—१
- ५ भाष्योपदर्शन, तत्र शब्दनये भिन्नो व्यञ्जनपर्यायः, समभिरुद्वनयेऽभिन्नो व्यञ्जनपर्यायः, एवम्भूतनयेऽप्यभिन्नो व्यञ्जनपर्यायः, यथा चैत्र तथा स्पटीकृतम् । १३७—७
- ६ व्यञ्जनविस्मयस्य शब्दात्मकस्य पुरुपादिद्रव्यरूपनस्तुधर्मत्वाभावात्कथमर्थस्य व्यञ्जनपर्याय इति शङ्काप्रतिविधानम् । १३७—२१
- ३१—१ एकानेकस्वरूपस्य वस्तुनस्त्रैकालिकानन्तार्थपर्यायव्यञ्जनपर्यायात्मकत्वादनन्तप्रमाणत्वमित्युपदर्शनार्थं कृत्वेनैकरिषत्रिशत्तमगाथाऽत्रारिता । १३७—२४
- २ उक्तगाथाचिरणम्, तत्रावतरणदर्शित एवार्थः । १३७—२९
- ३ यानन्तोऽर्थपर्यायाव्यञ्जनपर्यायाश्च द्रव्यस्यैकस्य तात्रप्रमाणत्वे पुद्गलपर्यायत्वानच्छिन्नं प्रति पुद्गलद्रव्यत्वेनोपादानत्व, न तु जन्यपृथिनीत्वाद्यवच्छिन्न प्रति पृथिनीत्वादिना तत्त्वमित्याधावेदितम् । १३८—८
- ४ एकस्य परमाणुद्रव्यस्यानेकैस्सह सम्प्रधे द्वादशारनयकसनादो दर्शितः । १३८—१९
- ५ प्रकृतार्थे सबादकतयोपदर्शित व्याख्याप्रज्ञप्तिरचनं व्याख्यातम् । १३८—२३
- ६ एकस्य द्रव्यस्यानन्तप्रमाणत्वे “जे एग जाणइ से सव्व जाणइ” इति सूत्रसंवादा उक्तसूत्रव्याख्यानश्च । १३९—१३



शब्दाः

त्रिपयाः

पृ० प

- २-१ पुरुषद्रव्यस्य व्यञ्जनपर्यायेणाभेदः अर्थपर्यायैश्च भेद इत्येकानेकात्मकत्वमित्यु-  
पदर्शकत्वेन “पुरिसम्मि पुरिससदो” इति द्वित्रिंशत्तमगाथाऽवतारिता । १३९-२४
- २ उक्तगाथाविवरणम्, तत्र पुरुषे पुरुषशब्दे जमादिमरणकालपर्यन्त, बाला-  
दिपर्यायाश्च बहुविकल्पा इति दर्शितम् । १४०-३
- ३-१ पुरुषद्रव्यस्तु मात्रमेकानेकरूपमन्यथाऽभ्युपगमे तत्र स्यादेवेत्युपदर्शनपरतया  
“अत्यिच्छि णिच्चियप्प” इति त्रयस्त्रिंशत्तमगाथाऽवतारिता । १४०-१९
- २ पुरुषद्रव्यस्यैकात्मैकरूपतया स्वयमपि बालाद्यवस्थां न प्राप्नुयादित्यर्थे स्पष्ट-  
तया भावितः । १४०-२४
- ४-१ उन्तार्थोपसहरणरूपतया “वजणपजायस्स” इति चतुस्त्रिंशत्तमगाथाऽवत-  
रिता । १४१-१७
- २ अस्या गाथायां सधिसार्थोपदर्शनपुरस्सर विस्त्रतार्थोपदर्शनम् । १४१-२०
- ४-१ “सत्रियप्प णिच्चियप्प” इति पञ्चत्रिंशत्तमगाथावतरणम् । १४२-९
- २ सविकल्पमेव निर्मिकल्पमेव वैकान्तेन पुरुषद्रव्यं द्रुवाणो न सिद्धान्ते निश्चितं,  
यथाऽवस्थितार्थविषयकनिश्चयान्न स इति तदर्थं उपदर्शितम् । १४२-१४
- ३ सम्पूर्णनिःशान्तात्मकरूपस्तुस्वरूपविषयकनिराकारपरिपूर्णबोधप्रत्यक्षस्य प्रतिपाद्यं  
प्रति प्रतिपादकभावस्य सप्तमङ्ग्यात्मकरूपोपदर्शनम् । १४२-२४
- ४ स्यात्पदालाञ्छितस्त्रिणावयवमात्रप्रतिपादने प्रतिपादकम्याञ्ज्ञैरुपुष्य प्रतिपादितम्,  
तत्र प्रतिपाद्यस्याज्ञानसंशयविपर्ययनिवृत्तये वाक्यस्य प्रयोक्तव्यत्वे यथा सप्त-  
विधत्राभ्यामतारो भवति तथोपपाद्य दर्शितः । १४३-३
- ५ घटः स्यादस्येवेत्याकाररूपस्य प्रथममङ्गस्योपपादने निमित्तभेदेनाविरोध  
घोतेनेन द्रव्याद्यपेक्षप्रतिनियनस्वरूपप्रतिपत्तये स्यात्पदस्य प्रयोक्तव्यत्व  
निर्णीतम् । १४४-४
- ६ प्रतिभङ्ग स्यात्पदैवकारपदप्रयोगान्शक्यत्वे खण्डत्वाद्यवचन साक्षितया दर्शितम् । १४४-१०
- ७ स्यान्नास्त्येव घट इति द्वितीयमङ्गसमर्थनम् । १४४-१६
- ८ एकान्तवचन मिथ्यावचनमिति मिथ्यानादित्स्वरिजिहीर्षया स्यात्पदप्रयोगा  
वश्यकता वाक्यमात्रे, तद्द्रवित्वाक्यप्रयोगनिषेधे ‘ओहारणीं भासा नेव भासेत’  
इत्यागमः प्रमाणम् । १४४-२४
- ९ अप्रयुक्तस्यापि स्यात्पदस्य सामर्थ्याद्गम्यत्वे “अप्रयुक्तोऽपि सर्वत्र” इति वचन  
प्रमाणं दर्शितम् । १४४-३०

प्रश्ना.

त्रिपया

५० पङ्क्ति

- १० स्यादप्रकृत्य एव घट इति तृतीयभङ्गसमर्थनम्, युगपत्प्राधान्येनास्तित्वनास्तित्वोभयधर्मप्रतिपादकस्य कस्यचिदेकस्य पदस्य सामानग्रिग्रहान्यतरात्मकस्य वाक्यस्याभासप्रतिपादनं, प्रसङ्गात्पुष्पदत्तपदस्य युगपच्चन्द्रसूर्यतन्त्रोभयरूपेण चन्द्रसूर्यबोधात्मकत्वनिचार । १४५—१
- ११ अकृतव्यत्वधर्मास्तित्वव्यवस्थापनम् । १४५—३०
- १२ स्यादस्त्येव स्यात्नास्त्येव घट इति चतुर्थभङ्गस्य समर्थनम् । १४६—४
- १३ पञ्चमपष्ठमसप्तमभङ्गानामुक्तयुक्तयोपपत्तिरावेदिता । १४६—१६
- १४ सप्तभङ्गीलक्षणतान्पर्यमुपवर्णितम् । १४६—२४
- १५ प्रमाणनयसप्तभङ्गयोः पृथग्लक्षणलक्ष्यत्वे मरुलादेशत्वे सतीनि प्रमाणसप्तभङ्गीलक्षणे, मरुलादेशत्वे सतीति नयसप्तभङ्गीलक्षणे विशेषणदेयमिति विवेचितम् । १४६—३०
- १६ प्रतिधर्मं सप्तभङ्गीप्रवृत्तौ सनादकस्य “धर्मे धर्मोऽन्य एवार्थे” इतिपद्यस्यार्थ उपदर्शितः । १४७—४
- १७ प्रथमभङ्गप्रतिपाद्यो धर्मो यन्नयमिदं तद्वर्मप्रतिपादनाद्यभङ्गघटिता सप्तभङ्गीतनयप्रवृत्ता, तत्र खण्डखाद्यवचनसनात् “धीग्राह्योर्न हि भिदाऽस्ति सहोपलम्भात्” इति तदीयपद्येन ग्राह्यग्राहकयोस्स्यादभेद एव, स्याद्भेद दप्वेत्यादि सप्तभङ्ग्याः तयागतनयप्रवृत्तत्वात्प्रपादितम् । १४७—१३
- ६-१ आद्यभङ्गत्रयोत्याननिमित्तोपश्लेषत्वेन पदत्रिशक्तमगाथाऽन्यतरिता । १४७—२४
- २ अत्यतरभूएहि य इति गार्थार्थ उपदर्शितः । १४७—२९
- ३ एतद्गाथाया अष्टसहस्र्यामुक्तोऽर्थ आनेदितः । १४८—४
- ४ एतद्गाथोपवर्णने कपिमयोगतद्भेदयोर्नव्यनैयायिकमते, प्राचीननैयायिकमते कपिमयोगतद्भावयोरेक इत्ये यथाऽच्छेदकभेदेनारस्थान, तथा स्वद्रव्यात्परद्रव्यात्प्रच्छेदकभेदेनैकर घटे सत्त्वासत्त्वयोरवस्थानमित्युपपादितम् । १४८—१०
- ५ अनुमानेन सत्त्वादिधर्माणामव्याप्यवृत्तित्वमिदं तदन्यथानुपपत्त्या स्वद्रव्यादीनामप्यच्छेदकस्वरूपेण युक्तम् । १४८—२१
- ६ अतिप्रसङ्गनिवारणानुभवशलेन स्वद्रव्यादीना प्रतिनियताना सत्त्वादिधर्मावच्छेदकत्वव्यवस्थापनम् । १४८—२५
- ७ व्यधिकरणधर्माश्चिद्व्यतिथिगोताकाभासपरत्वेन द्वितीयभङ्गस्य समर्थनं, निरुक्तामावाभ्युपगम शिरोमणेरपि, तत्र “अव्याप्यवृत्तिगुणिभेदमुदीर्य” इति खण्डखाद्यपद्य तम्प्रति शिखावचन सनादकम् । १४९—११

- अङ्काः विषयाः पृ० पङ्क्तिः
- ८ व्यधिकरणधर्माच्छिन्नप्रतियोगिताकाभाविषयकत्वे द्वितीयमङ्गलैयर्थाशङ्का प्रतिक्षिप्ता । १४९-२३
- ९ व्यधिकरणधर्माच्छिन्नानुयोगितानिरूपकाभाविषयकत्वेन द्वितीयमङ्गलसमर्थनम् । १४९-२९
- १० परद्रव्याद्यच्छेदेन घटेऽसत्त्व-प्रतियोग्यनवच्छेदकावच्छेदेन घटेऽसत्त्व-व्यधिकरणधर्माच्छिन्नप्रतियोगिताकाभाव-व्यधिकरणधर्माच्छिन्नानुयोगितानिरूपकाभाविषयकत्वेन द्वितीयमङ्गलस्य पञ्चतुष्टये यथा प्रथममङ्गलद्वितीयमङ्गलन्ययोर्न निरोधस्तथोपपादितम् । १५०-३
- ११ द्वितीयमङ्गलस्यानेकप्रकारेणोपपादनेऽप्यसिद्धान्तत्वप्रसङ्गाशङ्काया अपाकरणम् । १५०-२०
- १२ स्यादववक्तव्य एव घट इति तृतीयमङ्गलोपपादनाय युगपत्सत्त्वासत्त्वोभयस्य प्राधान्यविवक्षया तत्प्रतिपादक समासनाक्य निग्रहवाक्य च न विद्यते इत्येकैक समासमुपादायोपदर्शितम् । १५०-२२
- १३ तृतीयमङ्गलघटकस्यात्यद्वैतकारस्यो. प्रयोजनमुपदर्शितम् । १५१-२१
- १४ तृतीयमङ्गलैकल्याशङ्का प्रतिक्षिप्ता । १५१-२४
- १५ सद्रव्यादीनां सत्त्वस्य परद्रव्यादीनाञ्चासत्त्वस्यावच्छेदकत्वाभावात् सत्त्वादिधर्माणामवष्टाना सावच्छिन्नत्वाभावादुक्तदिशा प्रथमद्वितीयमङ्गलयोरभावे तृतीयादिमङ्गलानामप्यभावात्कथं सप्तमङ्गलसम्भवं इत्याशङ्का प्रतिनिहिता, अनुभवानुबोधदधिकरणस्याप्यवच्छेदकत्वात् सावच्छिन्नत्वञ्चावच्छेदधर्मस्यापीति प्रतिपादनेन । १५२-१
- १६ स्यादवक्तव्य एव घट इति तृतीयमङ्गलभावात् पुनरपि शिष्यबुद्धिदाढ्याय क्रमात् । १५२-२८
- १७ सर्वं मर्मात्मकमिति साङ्ख्यमतप्रतिक्षेपाय द्वितीयमङ्गलोपादानमित्येवं दिक्षावक्तव्यत्वस्य षोडश प्रकारा दर्शिता, तत्र साङ्ख्यमतनिरामाय युगपत्सत्त्वासत्त्वविवक्षयाऽवनतव्यत्व प्रथम । १५३-२३
- १८ घटस्य नामस्थापनाद्रव्यभावाभेदेन चातुर्विधे तत्र विधित्सितरूपेणास्तित्वाविधित्सितरूपेण नास्तित्त्व-युगपत्तदुभयरूपेणास्तव्यत्वेत्येव कल्पनया द्वितीयः प्रकारः, तत्राशेषपरिहारानुपदर्शितौ । १५३-२६
- १९ नामादिचतुष्टयप्रकारेषु प्रतिनियतस्थापनामस्थानरूपेण घट इतरेणाघटः, ताभ्यां युगपत्त्वधानतया निवक्षिताभ्यामवक्तव्य इति तृतीयप्रकार । १५४-१६

- अङ्काः विषयाः
- २० संस्थानविशेषरूपेण स्वीकृते घटे पृथुघ्नोदरादिसंस्थानं निज रूप मध्यावस्थित  
तेन रूपेण घटः, पूर्वोत्तरावस्थितकुशलरूपालादिलक्षणार्थान्तररूपेणाघटः,  
ताभ्या युगपत्प्रधानतया विवक्षिताभ्यामवाच्य इति तुरीय प्रकारः । १५४-२४
- २१ मध्यावस्थारूपे घटे वर्त्तमानक्षणरूपनिजरूपेण घटः सन्निति, अर्तमानक्षण  
स्वरूपार्थान्तरेणाऽस्मिन्निति प्रथमद्वितीयभङ्गा, ताभ्या युगपत्प्रधानतया विवक्षि-  
ताभ्यामवाच्य इति पञ्चमः प्रकारः । १५५-४
- २२ क्षणपरिणतिरूपघटस्य चाश्रुपप्रत्यक्षविषयत्व निज रूप तेन सत्त्वम्, अर्धेन्द्रिय  
जप्रत्यक्षविषयत्वेनार्थान्तरेणासत्त्व ताभ्या प्रथमद्वितीयौ युगपत्प्रधानतया  
विवक्षिताभ्यामवाच्यत्वमिति षष्ठ प्रकारः । १५५-१३
- २३ चाश्रुपप्रत्यक्षविषये घटे निजेन घटशब्दवाच्यत्वरूपेण सत्त्वात्प्रथम, अर्थान्तरेण  
कुटादिशब्दवाच्यत्वेनासत्त्वाद् द्वितीय, ताभ्या युगपत्प्रधानतया विवक्षिताभ्या-  
मवाच्यत्वात्तृतीय इति सप्तमः प्रकारः । १५५-२४
- २४ घटशब्दाभिधेयस्य घटस्य निजेनोपादेयान्तरङ्गापयोगरूपेण सत्त्वात्प्रथम,  
अर्थान्तरेण हेयबहिरङ्गानुपयोगरूपेणासत्त्वाद् द्वितीय, ताभ्यां युगपत्प्रधानतया  
विवक्षिताभ्यामवाच्यत्वात्तृतीय इत्यष्टम प्रकारः । १५६-९
- २५ उपयोगस्वरूपघटे अभिमतार्थानुबोधकत्वेन निजरूपेण सत्त्वात्प्रथमो भङ्गः, अन-  
भिमतार्थानुबोधकत्वलक्षणार्थान्तररूपेणासत्त्वाद् द्वितीयो भङ्गः, युगपत्प्रधानतया  
विवक्षिताभ्यां ताभ्यामवाच्यत्वात्तृतीयो भङ्ग इति नवमप्रकारः । १५६-१८
- २६ असाधारणेन निजरूपघटत्वेन घटस्य सत्त्वात्प्रथम, साधारणेनार्थान्तरसत्त्वेन  
घटस्यासत्त्वाद् द्वितीय, युगपत्प्रधानतया विवक्षिताभ्या ताभ्यामवाच्यत्वात्तृतीय  
इति दशम प्रकारः । १५६-३०
- २७ प्रतिक्षणमन्यान्यपरिणतिलक्षणार्थपर्यायेण निजेन घटस्य सत्त्वात्प्रथम, घटशब्द-  
प्रवृत्तिनिमित्तघटत्वात्मकव्यजनपर्यायेणार्थान्तरेणाम्वाद् द्वितीय, अभेदेन  
ताभ्या निर्देशेऽवाच्यत्वात्तृतीय इति एकादशप्रकारः । १५७-१७
- २८ सत्त्वमर्थान्तरभूतं विशेषपदकेत्वेनानन्वयित्वाच्च शब्दवाच्यमिति घटोऽपि तेना-  
वाच्य, अन्त्यविशेषो निज रूपमनन्वयित्वादवाच्य इति प्रथमद्वितीयौ, ताभ्या  
युगपत्प्रधानतया विवक्षिताभ्यामवाच्यताभ्या घटोऽप्यवाच्य इति तृतीय इति  
द्वादशप्रकारः । १५७-२७

श्रद्धा

त्रिपया

४० पङ्क्तिः

- २९ सादृश्यमते ऐक्यपरिणतिमापन्नाः मन्त्रादयो गुणा असन्द्भुररूपा अर्थान्तर  
ते विशेषणाभागाद्विशेष्याभागाद्वाऽन्यमिति प्रथमः, ऐक्यपरिणतिमापना  
सन्द्भुररूपा निज तथापि पूर्ववदवाच्यमिति द्वितीयः, ताभ्यामनायाभ्या  
युगपद्विवक्षितान्भ्यामनान्य इति तृतीयः, इति त्रयोदश प्रकारः । १५८-३
- ३० असद्वृत्तरूपा रूपादयोऽर्थान्तर सद्वृत्तरूपत्व निजं, ताभ्यामादिष्टो घटोऽन्यत्त्वव्य  
इति चतुर्दशप्रकारः । १५८-२३
- ३१ घटो रूपादिमानित्यत्र रूपादयोऽर्थान्तरभूता, मत्तुरयो निजः, ताभ्यामा  
दिष्टो घटोऽन्यत्त्वव्य इति पञ्चदशप्रकारः । १५९-३
- ३२ घटोऽर्थान्तरभूतः, उरुगस्तु निजः, ताभ्यामादिष्टोऽन्यत्त्वव्य इति  
षोडशप्रकारः । १५९-९
- ३३ षोडशाऽन्यत्त्वव्यविभक्त्येषु मध्ये एकादशसु विभक्त्येषु प्रथमद्वितीयमङ्गानन्तरम-  
न्यत्त्वव्यमङ्गप्रवृत्ति, द्वादशादिषु पञ्चसु प्रथमतः पञ्चान्यत्त्वव्यमङ्गप्रवृत्ति, तत्रो  
पाध्यायस्य विचार आवेदितः । १५९-१५
- ३४ अत्र पशुपालोक्तस्य प्रथमद्वितीयमङ्गप्रवृत्तिमूलस्वरूपावच्छेदकाऽनिर्धारणा  
क्षेपस्य प्रतिविधानम् । १५९-२३
- ३५ तत्र नयविशेषण स्वरूपस्यो सङ्कोचनिराशयोरुपजीवनेन सप्तमङ्गीमङ्गल्य-  
पादन यशोविजयोपाध्यायैर्विस्तरत इति । १५९-२५
- ३६ सङ्गप्रहनयविषयस्य महासामान्यरूपसत्त्वस्य तत्रप्रतिपक्षभूताऽसत्त्वस्य च व्यवहा-  
रनयविषयस्य चारण्डत्वत्सामच्छिन्नत्वाभावेन स्वद्रव्याद्यर्थाच्छिन्नमत्त्वप्रति  
पादकप्रथममङ्गस्य परद्रव्याद्यर्थाच्छिन्नाऽसत्त्वप्रतिपादकद्वितीयमङ्गस्य च बाधि  
तार्थकत्वाच्चदन्वमङ्गान्तराणामपि तथात्वात्सप्तमङ्गयनुपपत्तिरित्याशङ्क्या  
प्रतिविधानम् । १६०-१३
- ३७ सर्वस्य वस्तुनः सदसदात्मरूढे सत्ताया इव असत्ताया अपि समगतत्वैकत्वा  
विशेषात्सत्त्वैव, असत्ता तु विशेषणभेदाद्विद्यत इति प्राचीनोक्तिः कथं सङ्ग  
तेति प्रश्नस्य प्रतिविधानम् । १६१-१८
- ३८ अस्तित्व सत्त्वमैव, न तु वृत्तित्व, सत्त्वप्रतिपक्षभूत नास्तित्वमपि धर्मान्तरमेवे-  
त्युपपाद्य प्रथमद्वितीयमङ्गज-यानेकवैयभकार समभि-याहृतपदमहिम्ना  
दक्षित । १६२-१

- अङ्काः विषयाः पृ० पङ्क्ति
- ३७-१ "अहं देसो सन्भावे" इति सप्तत्रिंशत्तमगाथायाः क्रमेणावतरणत्रयमुपदर्शितम् । १६३-१
- २ निकलादेशमङ्गलचतुष्टयप्रथममङ्गलस्य स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येव घट इत्यस्योपदर्शनरूपोऽर्थोऽस्या गाथाया दर्शितः । १६३-२३
- ३ पूर्वार्द्धेन क्रमापितसन्वास-त्वोभय वस्त्ववयनस्य प्रतिपादित, पृष्ठञ्च तद्वस्तुगतमित्यर्थान्तरमिति शङ्कायाः प्रतिविधानार्थकतयोत्तरार्द्धोऽवतारितः । १६३-२६
- ४ सन्वासत्वोभयप्रधानकावयवद्वयाऽभेदेनार्पणया द्रव्यस्योक्तधर्मसम्भ्रममिति भावितम् । १६४-४
- ५ आद्यद्वितीयमङ्गाभ्यां तृतीयमङ्गे को विशेष इति प्रश्नस्य प्रतिविधानम् । १६४-१४
- ६ अवयवद्वारा विभागकरणे किं बीजमिति प्रश्नप्रतिविधानम् । १६४-१७
- ३८-१ स्यादस्त्येव स्यादवक्तव्य एवेति पञ्चममङ्गप्रतिपादकतया "सन्भावे आहट्टो" इति अष्टत्रिंशत्तमगाथाऽवतारिता । १६४-२४
- २ देशगताऽस्तित्वावक्तव्यत्वाम्नां देशाऽभिन्नत्वेन वस्तुनि अस्तित्वावक्तव्यत्वकथनलक्षणरूपार्थोऽस्या गाथाया दर्शितः । १६४-२८
- ३ उत्तरार्द्धमवतारोक्तोभयधर्माक्रान्तदेशद्वारेण देशिनो वस्तुनस्तथा व्यपदेश उपपादितः । १६५-५
- ४ प्रथमतृतीयमङ्गाभ्यामेतद्मङ्गस्य गतार्थत्वमाऽऽशङ्क्य प्रतिविहितम् । १६५-१०
- ५ स्यादस्त्येव स्यादवक्तव्य एवेति पञ्चममङ्गेन श्रमत्या दशास्तित्वविशिष्ट देशावक्तव्यत्वविशिष्टयोस्तादात्म्येन वैशिष्ट्या चयवोधासम्भवेऽपि लक्षणया बोध उपपादितः । १६५-१७
- ३९-१ स्यान्नास्त्येन स्यादवक्तव्य एवेति षष्ठमङ्गप्रतिपादकतया "आहट्टोऽसन्भावे" इत्येकोनचत्वारिंशत्तमगाथाऽवतारिता । १६५-२४
- २ अस्या गाथाया अर्थः, दशगतनास्तित्वावक्तव्यत्वाम्ना वस्तुनस्तथाव्यपदेश इत्येनरूप आवेदितः । १६५-२८
- ४०-१ स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येन स्यादवक्तव्य एवेति सप्तममङ्गप्रतिपादकतया "सन्भावासन्भावे" इति चत्वारिंशत्तमगाथाऽवतारिता तदर्थथोपदर्शितः । १६६-६
- २ सप्तमङ्गसामुदायगत प्रत्येकमङ्गतश्चेति द्विधा सप्तमङ्गीन्वं द्विधा मुनयत्व च प्ररूपितम् । १६६-१६

- अङ्काः विषयाः पृ० पङ्क्तिः
- ३ स्यादस्तीत्यादेः प्रमाणवाक्यत्व, तत्र प्रथमभङ्गात् प्रकारमुद्रया सकलधर्मावगति  
ससर्गमुद्रया च सरुलधर्मावगतिरिति पञ्चद्वयमुपपादितम् । १६६-२१
- ४ स्यान्नास्त्येवेत्यादिद्वितीयादिभङ्गजपरोधेऽपि प्रसारमुद्रया समर्गमुद्रया  
चानन्तधर्मात्मकत्वभानमतिदिष्टम् । १६७-१
- ५ एतद्विषये यशोविजयोपाध्यायैरष्टसहस्रीविररणे यद्विचेचितं तदुल्लिखित,  
तत्र बोधवैलक्षण्य दुर्नयमुनयस्वरूपादि च वर्णितम् । १६७-३
- ६ स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येवेत्यादि सप्तभङ्गीवत्स्यान्नित्यमेव स्यादनित्यमेवेत्यादि  
सप्तभङ्गी ज्ञेयेत्यतिदिष्टम् । १६७-१९
- ७ अनन्तधर्मात्मके वस्तुनि प्रतिपर्याय सप्तैव भङ्गा इत्यत्र किं बीजमिति प्रश्नस्य  
प्रतिविधानम् । १६७-२६
- ८ स्याद्वक्तव्य एव घट इत्यष्टमभङ्गः किन्तु स्यादिति शङ्काया निराकरणम् । १६८-७
- ९ सप्तभङ्गीज-याखण्डशाब्दबोध इवान्यनानेऽपि सप्तधर्मावभासो न वेति प्रश्नस्य  
प्रतिविधानम् । १६८-१६
- १० स्याद्वादव्युत्पन्नस्य प्रत्यक्षादिज्ञानेऽपि सप्तविधधर्मप्रतिभासे "पर्यायतो युगप-  
दप्युपलभ्यते" इति महावीरस्तवपद्य सपादकतया दर्शितम् । १६८-२०
- ११ स्याद्वादव्युत्पत्तेः शाब्दबोध एवोपयोगो नाप्येति शङ्काया प्रतिविधानम् । १६८-२७
- १२ किं वाक्य पूर्णोत्तर किञ्चाशोत्तरमिति प्रश्नस्य किमुत्तरमिति प्रश्नस्य प्रतिविधानम् । १६९-९
- १३ सप्तभङ्गजन्यक्रमिन्मस्रखण्डप्रोधानन्तरं सप्तभङ्गयात्मकमहावाग्भजन्यमहावाक्यार्थ  
बोधो भवतीति काममभ्युपगम्यतां, किन्तु सप्तविधप्रोधक्रमे को हेतुरिति  
प्रश्नस्य प्रतिविधानम् । १६९-१९
- १४ पूर्वपूर्वभङ्गजन्यप्रोधानामुत्तरोत्तरभङ्गजयबोधप्रति कारणत्वेन कारणक्रमात्का  
र्यक्रम इत्यत्र स्वण्डखाद्ये उपाध्यायप्रचनसवादो दर्शितः । १६९-२७
- १५ तृतीयचतुर्थभङ्गयोर्व्यत्यासमिच्छता दबसूरीणां द्वयमुपपदस्य तदनुसारि सप्त  
भङ्गीवाग्य पूर्णोत्तरमुपाध्यायाकलितमुपदर्शितम् । १७०-१
- १६ सप्तभङ्गया प्रतिभङ्ग सरुलादेशस्वभावत्व विकलादेशस्वभावत्व च, तत्र  
"कालात्मकरूपसम्बन्धा" इति पद्योक्तकालादिभिरष्टभिर्द्वारैरेकैकभङ्गस्य स्वम  
तिपाद्यधर्माभिन्नान्यधर्मप्रतिपादकत्वे तदन्यभङ्गस्यापि तत्प्रतिपादिनधर्मस्यैव

- अङ्काः विषयाः पृ० प.
- प्रतिपादकत्वे पौनस्त्य स्यादित्याशङ्कायाः प्रतिविधानम् । १७०-१६
- १७ सरुलादेशमहिम्नैकमङ्गम्य वस्तुनि स्वप्रतिपाद्यैरुधर्मद्वारा तदभिन्नतदितरा-  
शेषधर्मप्रतिपादकत्वेऽपि निमित्तभेदनिवेचन सप्तमङ्ग्यैवेत्यत्र खण्डखाद्यवचन-  
संवादो दर्शितः । १७१-२
- १८ अस्तित्वनास्तित्वादिवत्कारणत्वतदभावयोरन्याप्यवृत्तित्व निष्टङ्कितम् । १७१-३
- १९ अपेक्षाभेदन विरोधपरिहार कृतः । १७१-६
- २० अयादृशानि विरोधलक्षणाः यपाकृत्य तादृश विरोधलक्षणमुपदर्शितं, यस्य  
विभिन्नान् छेदेनैकं भावाभासयो सत्त्वेऽपि न भङ्ग इत्युपदर्शितम् । १७१-९
- २१ स्याद्वादनियन्त्रिताऽपि कारणता सप्तमङ्गीमुपादायैव सम्भवतीति दर्शितम्,  
तत्र "सप्तमङ्गीविधि" इत्यादिप्राचीनोक्तिः समादर्यनयाऽभिहिता । १७१-२२
- २२ कार्यकारणभासग्राहकयोरन्यव्यतिरेकयोः कथञ्चिदर्थोऽघटितत्वात्कथ कारण  
त्वात्त्वयापकृत्व स्याद्वादस्येति शङ्कायाः प्रतिविधानम् । १७१-२४
- २३ एकेन भङ्गेन कारणत्वे कथञ्चित्त्वसिद्धौ किं तत्र सप्तमङ्गीरूपनयेति शङ्काया  
प्रतिविधानम्, तत्र खण्डखाद्यवचन संवादक दर्शितम् । १७२-२
- २४ सप्तमङ्गीजन्यज्ञाने निरोधाऽभावान्न सशयत्वमिति दर्शितम् । १७२-८
- २५ सप्तमङ्गीज-यज्ञाने सशयत्वापाकरणेन सप्तमङ्गीतः सप्तधाऽनिर्घातितज्ञानमिति  
घटतः शिगेमणे स्याद्वादानभिनता प्रकटिता खण्डखाद्ये उपाध्यायेन, तद्ग्रथाभि-  
प्रायश्चावेदितः । १७२-१७
- २६ शिरोमण्युक्ताक्षेपखण्डनयुक्त्या सप्तमङ्ग्यादिखण्डनपर "नैकस्मिन्नसम्भवात्" ।  
इति शरीरकमीमांसाद्वय खण्डितम् । १७३-६
- २७ एकस्मिन् वस्तुनि एकपर्यायमात्रित्य विधिनिषेधरूप्यनाश्या व्यस्तममस्ताभ्या  
सप्तैव भङ्गा, तत सप्तमङ्ग्येन, एवविना अनन्ता सप्तमङ्गा इति अनन्तमस-  
मङ्गीभावेऽपि नानन्तमङ्गीत्यत्र देवद्विज्ञानाणि समादकानीति दर्शितम् । १७३-१२
- २८ एकेन भङ्गेन समासत सप्तधर्मप्रतिपत्ताऽपि निशेषतस्तत्प्रतिपत्तये सप्तमगप्रयो-  
गस्यावश्यकता दृष्टान्ताऽष्टमेन भाविता । १७३-१९
- ४१-१ सप्तमङ्ग्या येन नयेन यस्य भङ्गम्य प्रवृत्तिस्तत्प्रदर्शनपरतया "एव सत्तनियणो"  
इत्येकचत्वारिंशत्तमगाथाऽनंतरणम् । १७३-२९



अङ्काः

विषया

पृ० प०

- २ सङ्ग्रहव्यवहारजुंशुत्रलक्षणोऽर्थनये सप्तापि भङ्गाः, तत्र प्रथमभङ्गं सङ्ग्रहे, द्वितीयभङ्गो व्यवहारे, तृतीयभङ्गं ऋजुसूत्रे, चतुर्थं सङ्ग्रहव्यवहारयोः, पञ्चमः सङ्ग्रहजुंशुत्रयोः, षष्ठो व्यवहारजुंशुत्रयो, सप्तमः सङ्ग्रहव्यवहारजुंशुत्रेषु, एतन्नायना विहिता । १७४—३
- ३ साम्प्रताग्यशब्दनये सन्निकल्पः प्रथमभङ्गं, समाभिरुद्धैवम्भूतात्यशब्दनययो निर्विकल्पो द्वितीयभङ्गं, तद्भावना कृता । १७५—९
- ४ शब्दविषये शास्त्रे व्युत्पत्तिपक्षोऽव्युत्पत्तिपक्षश्च, तत्राव्युत्पत्तिपक्षे सर्वे शब्दाः सिद्धा एव, व्युत्पत्तिपक्षे च धातुना व्युत्पादनीयाः, तत्र 'नाम च धातुजमाह निरुक्ते' इति पद्य तद्विवरणं च, 'साम्प्रतं धातुरूपाणि' इति पद्यसमादयश्च ।
- ५ समभिरुद्धनयमतनैमित्तिकस्येव सज्ञानपारिभाषिकी, अत्र तत्कार्यचनमवादः । १७६—५
- ६ समभिरुद्धैवम्भूतनययो व्युत्पत्तिनिमित्तक्रियामात्रमव्युत्पत्तिनिमित्तकत्वेऽपि मात्र व्यभेद उपपादितो विस्तरत । १७६—१०
- ७ एवम्भूतनयनिष्कृष्टलक्षणं दर्शितम् । १७६—२६
- ८ शब्दनयेऽपि क्रमेण सप्त भगा उपदर्शिताः । १७६—२८
- ९ अर्थनये सप्तापि भङ्गाः, शब्दनये प्रथमद्वितीयौ द्वावेव भगानित्येव प्रकारान्त-  
राश्रयणेन गाथाऽन्तरणम् । १७७—२
- १० द्वितीयव्याख्यानमात्रोपदर्शनम्, सप्तभगोपरुणसमाप्तिः । १७७—८
- ११ सप्तभङ्गोनिगमनपर पद्यद्वयम् । १७८—१
- ४२—१ एकान्तपर्यायार्थिकनयनादप्रदर्शनपूर्वकतदऽप्रामाण्यप्रदर्शनपरतया "जह दनि  
यमप्यिय त" इति द्विचत्वारिंशत्तमगाथाया अन्तरणम् । १७८—९
- २ वर्तमानक्षणसम्बन्धित्वप्रकारेणैव द्रव्य सदिति पर्यायार्थिकनयाभिप्रायं न स  
वादेो यथावस्थितस्तुम्वरूपरूपणात्मक प्रत्यभिज्ञायाधितार्थकत्वात्, प्रमा-  
णात्मको वा न प्रतिपूर्णसमयप्रज्ञापनाऽनात्मकत्वादित्यनुमानेन तत्रामामाण्य-  
मित्युक्तगाथाऽर्थो दर्शितः । १७८—१४
- ४३—१ एका तद्रव्यार्थिकनयनादस्याप्रामाण्यमुपदर्शयितुं प्राक् तदभिप्रायावेद-  
कतया "पडिपुष्णजोव्वणगुणो" इति त्रिचत्वारिंशत्तमगाथाऽन्तरणम् । १७९—१७
- २ बालभावनचरितेन यूनो लज्जा अनागतसुखोपशानार्थं गुणेषु प्रणिधानं चाती  
तरत्तमानयोरनागतवर्तमानयोरैकत्व साऽयतीत्येकान्तद्रव्यार्थिकनयविषयस्तस्या  
अर्थो दर्शितः । १७९—२१

- अङ्का विषया पृ० प
- ४४-१ अनन्तरगाथादर्शितैकान्तद्रव्यार्थिकनयमतप्ररूपणा न परिपूर्णति प्रतिपादन परतया “ण य होइ जोव्वणत्थो” इति चतुश्चत्वारिंशत्तमगाथाऽनवारिता । १८०-४
- २ बालयूनोर्न सर्वथाऽभेदो नापि सर्वथा भेदः, किन्तु तयोः कथञ्चिद्भेदाभेद इति तदर्थो दर्शितः । १८०-८
- ३ नित्यस्यैकरूपस्यात्मनो न बालाद्यवस्था किन्तु शरीरस्यैवेति नैयायिकादीना मतस्युपन्यस्य प्रतिभिसम् । १८०-२४
- ४ गौरोऽहमिति प्रतीतेर्गौरत्वाशे भ्रान्तत्वस्य नैयायिकाद्यभिमतस्यापाकरणम् । १८१-२
- ५ स्वस्वभान्तो नीरूपे आत्मनि शरीरसम्बन्धोपाधिपयुक्तगौरत्वप्रतीति' काल्यनि-कीत्याशङ्काया निराकरणम् । १८१-१०
- ६ आत्मा नैकान्तेन नित्य', किन्तु कथञ्चित्, तस्याङ्गत्वेयप्रदेशस्य शरीरेण सह मिथः प्रदेशानुपक्तत्वेनैकलोलीभान्तो बालाद्यवस्थोपपत्तिः । १८१-१३
- ७ अतीतवर्तमानयोस्त्रिानागतवर्तमानयोरपि कथञ्चिद् भेदाभेदावित्यनागतवयोगुण-प्रसाधन युज्यत इति । १८१-१७
- ४५-१ कथञ्चिद् भेदाभेदात्मरूप्यात्मनो जात्यादिभिर्नालादिभिश्च सम्बन्ध इत्यर्थकृतया “जाइइल” इत्यादि पञ्चचत्वारिंशत्तमगाथाया अवतरणं, तदर्थञ्चोपपादित । १८२-१
- ४६-१ आघ्यात्मिकाध्यक्षतोऽप्यनुगतव्यावृत्तस्वरूपतयाऽऽत्मनः कथञ्चिद् भेदाभेदा-त्मरूपत्वप्रतीतिस्तथाभूतमेव तद्वस्त्वित्यर्थकृतया “तेहिं अतीताणागय ” इति षट्चत्वारिंशत्तमगाथाऽवतरणम् । १८२-२४
- २ अतीतदोषजुगुप्साऽनागतगुणाम्युपगमाभ्या कथञ्चिद्भेदाभेदात्मरूप्य पुरुष-द्रव्यस्येव वधमोक्षसुखदु खप्रार्थनातो जीन्य कथञ्चिद्भेदात्मरूप्य मिद्विरि त्युक्तगाथाधैस्तदुपपादनञ्च । १८२-२८
- ३ उत्पादव्ययप्रौढ्ययुक्त सदिति सूत्रोक्तसत्त्वान्यथानुपपत्त्योत्यादादिनयात्मरू-स्यात्मनोऽनाद्यन तस्य सिद्धिरुपपादिता । १८३-२०
- ४ तत्र देहादीनामहम्पदानान्यत्वमपाकृतम् । १८३-२१
- ४७-१ सदृष्टान्त जीनकार्मणशरीरयोरसाधारणधर्मेण भेदस्य प्रदेशाऽप्रविभक्तत्व लक्षणमाधारणधर्मेणाभेदस्य च प्रतिपादकतया “अप्पोष्णाणुगयाण” इति सप्तचत्वारिंशत्तमगाथाऽनवारिता । १८४-१२
- २ परस्परप्रदेशानुप्रतिष्ठयोर्दुग्धपानीययोरिव परस्परानुप्रविष्टप्रदेशयोरालम्ब

अङ्काः

विषयाः

पृ० पं

णोरशेषविशेषपर्यायेषु त्रिभजनमयुक्तमित्यर्थे उपदर्शित, अत्र "एगमेगेण जीनस्त" इत्यागमश्च समादित ।

१८४-१७

४८-१ जीनरुर्मणोरन्योन्यानुप्रवेशे तदाश्रितगुणानामप्यन्योन्यानुप्रवेशस्स्यादित्या-  
पत्तेरिष्टापत्तिलक्षणपरिहारपरतया "रूनाइपज्जमा जे" इत्यष्टचत्वारिंशत्तमगा  
थाऽन्तारिता ।

१८५-१

२ देहगतगुणा रूपादयो देहाभिने जीवे, जीनगतगुणा ज्ञानादयो जीवाभिने  
देहे प्रज्ञापनीया इति तदर्थं उपदर्शितः ।

१८५-६

३ भन्त्यस्मि इत्यत्राकारप्र-लेपे अभ्यस्ये शुक्तात्मनीत्यर्थे न च देहाश्रितगुणानां युक्ते  
मुक्ताश्रितगुणानां देहे सम्भव इत्याशङ्कायां समुद्धार ।

१८५-१७

४९-१ आत्मन एकत्वानेकत्वप्रमाधनपरतया "एव एगे आया" इत्येकोनपञ्चाशत्  
मगाथाऽन्तारिता ।

१८५-२८

२ एकात्मानुप्रविष्टत्वेनैकात्माऽभिन्नस्य मनोवचनसायदण्डात्प्रकृत्रिषिधदण्डस्यै-  
कात्माऽभिन्नाया मनोवचनसायक्रियात्मकृत्रिषिधक्रियायार्थैकत्व त्रिषिधोक्त  
क्रियाऽभिन्नत्वेन चात्मन कर्तृत्वविधयोगरूपत्व, अत्र एतस्यानेकत्वमित्ये  
काऽनेकात्मकत्वम्, 'एगे आया' इत्यादिस्थानाङ्गसमादितमित्युक्तगार्थम् ।

१८६-१

५०-१ समये वस्तुतो बाह्यान्तरविभागाभावेऽपि मानमत्वामानमत्वाम्या तथा व्यपदेश  
आत्मपुद्गलयोरन्योन्यानुप्रवेशादेकत्वेऽपीत्येतत्परतया 'ण य बाहिरओ भाओ'  
इति पञ्चाशत्तमगाथाऽन्तारिता तदर्थश्च ।

१८६-१४

२ मनःप्रतीत्यास्य तरविशेष इत्युक्तेरभिप्रायो दर्शितः ।

१८६-२७

३ आत्मनो मूर्च्छत्वे उत्पत्तिमत्व-साययत्व-कार्यत्रापादनानामपारुणम् ।

१८७-१

४ आत्मन साययत्वे प्राक् प्रसिद्धसमानजातीयारयारम्यत्वप्रमत्किस्स्यादि-  
त्याशङ्काया अपाकरणम् । तत्र घटाद्युत्पत्तौ नैयायिकप्रक्रिया निराकृता ।

१८७-१७

५ सुदृढव्यमेव पूर्वतन मृत्पिण्डपर्यायं परित्यज्योत्तरघटपर्यायरूपेण परिणमते इति  
परिणामवादं मामाणिकः ।

१८७-१६

६ यत्र सूक्ष्मरेण त्रिचतुरादिपरमाणु-लेपस्तत्रापि परिणमनमेव युक्त, न तु  
नैयायिकप्रक्रिया युक्ता, तथा सति बौद्ध एव विनयेतति ।

१८७-१८

७ तत्र घटनाशास्त्रम्युपगन्तमीमांसकरुमतस्य निरास ।

१८७-२५

८ देहात्मनोरभेदे देहवदोन्मनाशुपापत्तिरित्याशङ्काया अपाकरणम् ।

१८७-३०

९ शरीरावयवच्छेदे तन्प्रविष्टिच्छिन्नात्मावयवे पृथगात्मत्वप्रसक्त्यादिदोषापाकरणम् ।

१८८-४

- शङ्काः त्रिपयाः पृ० पं
- १० छिन्नात्मावयवस्यान्यत्र गमनादिक्रमपाकृतम्, उक्तार्थे पञ्चमाङ्गेऽष्टमशतके वृत्ती-  
योदेशके 'अहं भते ? कुम्भे बुग्मानलिया' इत्यादि वचनं सवादकम् । १८८-१०
- ११ प्रदेशानां शृङ्खलावयवव्यायेन सम्बद्धत्वादेव चैकस्य महद्विक्रदेवस्य परस्परं सङ्घ्रा-  
मकरणं, तत्र "देवेण भंते" इत्याद्यागमत्रचनं प्रमाणम् । १८८-२४
- १२ शरीरावयवच्छेदात्मावयवच्छेदयोर्विशेष आघेदितः । १८९-१
- १३ आत्मनो नित्यमहृत्माऽसिद्धया तेन गगनवद्विभुत्वानुमानमपाकृतम् । १८९-१२
- १४ तत्तच्छरीरपरिमाणभेदेनात्मनः परिमाणभेदाभ्युपगमे नानात्वापत्तिरित्याशङ्का  
व्यपाकृता । १८९-१३
- १५ पूर्वपरिमाणविशिष्टस्यात्मनः उत्तरपरिमाणविशिष्टस्य च भेद इष्ट एवेति  
व्युत्पादनम् । १८९-२१
- १६ बालयुवशरीरादेरिमात्मा उत्पादः स्यादित्यस्य निरामः । १८९-२३
- १७ देहात्मनोरन्योन्यानुप्रवेशित्वे देहस्य भ्रममात्राये देहिनोऽपि तथात्वप्रसङ्ग  
इत्यस्य व्यभिचारदोषप्रदर्शनेनापाकरणम्, देहात्मनोर्लक्षणभेदश्च दर्शितः । १८९-२९
- १८ देहात्मनोरन्योन्यानुप्रवेशित्वेऽप्यात्राश्रदात्मनो न शरीरपरतः तत्तेत्यस्य निरामोऽयो  
न्याश्रयपरिहारश्च । १९०-२
- १९ आमनस्यमात्मनो जन्मनः भागपि तैजसकर्मणश्शरीरसम्प्रधित्वेन तद्द्वारा  
रूपित्वेनारूपित्वप्रमङ्गस्यापाकरणम् । १९०-७
- २० आत्मनः कथञ्चिन्मूर्त्तामूर्त्तोभयस्वरूपत्वं निगमितम् । १९०-९
- ५१-१ एकान्तद्रव्यार्थिकनयैका तपर्यायार्थिकनयमभ्युपगमाप्रदर्शकत्वेन 'द्वन्द्वियस्म  
आया' इति एकपञ्चाशत्तमगाथाऽवतारिता । १९०-१२
- २ द्रव्यास्तिरुस्यात्मा कर्म बध्नाति कर्मफलश्चानुभवति, पर्यायास्तिरुस्य क्षणिक-  
विज्ञानात्मक एवात्मा न करोति न किञ्चिद्देदयते इत्यर्थः स्पष्टीकृत्य दर्शितः । १९०-१६
- ५२-१ द्रव्यास्तिकमते य एव कर्म कर्ता स एव तत्फलभोक्तेति, पर्यायास्तिकमते  
कर्ताऽन्यो कर्म तत्फलभोक्ता चाय इत्येतत्प्रतिपादकतया "द्वन्द्वियस्म जो चेत्"  
इति द्विपञ्चाशत्तमगाथाऽवतारिता तदर्थश्च प्रकटीकृतः । १९०-२९
- ५३-१ 'जे वयणिञ्जवियप्पा' इति त्रिपञ्चाशत्तमगाथावतरणं, तत्र द्रव्यास्तिकनये  
एकान्तनित्यात्मनि बहुनिधिरूपत्वात् कर्मकर्तृत्वस्वभावः कर्म फलभोक्तृत्वस्व-  
भावश्च नोपपद्येते, एव पर्यायास्तिकनयमते चैकान्तक्षणिकात्मनीति परस्पर

अज्ञाः

विषयाः

पृ० पं.

निरपेक्षनयद्वयोक्तिर्न युक्तेति न सा स्वसमयप्ररूपणा, किन्तु परस्परमापेक्षतत्त-  
द्वयापेक्षसप्तभङ्ग्यात्मकस्याद्वादोक्तिरेव युक्ता, सैव स्वसमयप्ररूपणेति  
निरूपणम् ।

१९१-१६

२ एकान्तद्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनययुक्तीना पर्यायार्थिकद्रव्यार्थिकनयव्युत्पादित्वा  
र्थासत्यत्वसाधनप्रगल्भाना नैकत्र वचन पक्षपातो युक्त किन्तु स्याद्वादेनोभ  
योपग्रहः कर्तव्य इति प्रतिपादनप्रतया द्वितीयाऽवतरणम् ।

१९२-३

३ अन्योन्यसापेक्षयोर्द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनययोः स्यान्मूर्त्त एनात्मा स्यादमूर्त्त एना  
त्मेत्यादयः सप्तभङ्गात्मका वचनप्रकाराः, ते यथार्थबोधजनकत्वात्स्वसमयप्ररूपणा  
स्वतन्त्रनयद्वयप्ररूपणा च तीर्थररस्याशातनेत्युक्तगार्थार्थः ।

१९२-१०

४ उत्सर्गतः स्याद्वाददेशनायास्तीर्थररविहितत्वे "सकेज याऽस्त्रितभाज भिन्नखू"  
इत्यादिसप्तकृताङ्गचतुर्दशाध्ययनोत्तगाथाया त्रिमञ्जवायं च वियागरेजा  
इत्युक्तिः प्रमाणम् ।

१९२-२६

५ कालिकश्रुते नयैर्व्याख्या न कर्तव्येति कथमुक्तमिति प्रश्नप्रतिविधानम् ।

१९२-३०

६ नयव्याख्याया अनुमतत्वे 'भासिज वित्थरेणवि' इति भाष्यगाथासंवादः ।

१९३-२

५४-१ प्रथमकाण्डादिम् "पुरिसज्जाय तु पद्मच" इति चतुःपञ्चाशत्तमगाथावतरण,  
तत्रोत्सर्गतो निखिलनयज्ञ प्रतिपचार प्रति परस्परसापेक्षनयद्वयोक्तिरूपप्रमाण  
वाक्योक्तिमका स्याद्वादप्ररूपणा कर्तव्येति प्रतिपाद्यापवादोऽयतरनयज्ञं तत्प्र  
यञ्च श्रोतृजनमुद्दिश्य तदज्ञातैरनयप्ररूपणाऽपि स्याद्वादप्रतिपादनयोग्यता  
जननी कर्तव्या, असत्ये वर्त्मनीति न्यायादित्युक्तगार्थाप्रतिपाद्योऽर्थो दर्शितः ।

१९३-५

२ उक्तगार्थार्थदर्शनपुरस्सर एकनयदेशनाया स्वरूपतोऽमत्यत्वेऽपि स्याद्वादव्यु-  
त्पादकतया फलतस्सत्यत्वमिति निगमितम् ।

१९३-१५

३ अथ प्रशस्तिः, पद्मिभिः कुलकं, सम्यग्दर्शनशुद्धिनिदान-सूक्ष्मतत्त्वरत्नपूर्णद्रव्यानु  
पोगमयसम्मतितर्कग्रन्थविस्तीर्णाभिपदेवस्वरिकृतन्यायानेऽल्पनुद्भवशक्यप्रवेशे  
तेपाभवगाहनार्थं कृताया सिद्धान्तानुगाया नौमनायामवतारिकारव्यवृत्तौ  
अनल्पाहर्षद्वम्ब्यचैत्याप्रतिमशोभे राजनगरपुरे न्यायनाचस्पत्यादिविद्दालङ्कृत  
विजयदर्शनसुरिणा विद्वद्भर्गमगीयमानानेऋगुणनिरस्य गुरुररथीनेमिद्वरे  
प्रभावात् त्रिखशन्धयुग्मे विक्रमान्दे मार्गशीर्षशुक्लैकादश्यामादिभकाण्डटीकेय  
कृता पूर्ति गता गुणवाङ्मिचितेऽमन्दानन्दं विस्तारयतिरन्यथैस्तस्य ।

१९४-२

॥ सम्मतितर्कप्रथमकाण्डमहाणवावतारिकारव्यवृत्तीकाविषयानुक्रमणिका समाप्ता ॥

# अथ सम्मतितर्कद्वितीयकाण्डमहार्णवावतारिकारव्यटीकाविषयानुक्रमणिका

अङ्काः विषयाः पृ० पं.

- ५५-१ मङ्गलाचरणं श्रीवीरस्तुति । १९५-४
- २ पद्यद्वयेन गुरुमवरश्रीनेमिद्विरिनमस्करणम् । १९५-६
- ३ 'ज सामण्यग्रहण' इति पञ्चपञ्चाशत्तमगाथावतरणम्, तत्रायोन्यानुस्यूत सामान्यविशेषोभयात्मकं हेय वस्तु "निर्दिशेपं हि सामान्य" इति वचनाद्यथा प्राक् प्रतिपादित तयोपयोगोऽपि सामान्याकारदर्शनं विशेषाकारज्ञानोभयात्मकः प्रमाणम्, न त्वेकान्तभिन्नदर्शनात्मको न वैकान्तभिन्नज्ञानात्मकः स इति । १९५-१०
- ४ सामान्यग्राहिदर्शनमेव प्रमाणमित्येकान्तद्रव्यार्थिकनयमतं विशेषप्रमाहितानमेव प्रमाणमित्येकान्तपर्यायार्थिकनयमतयोर्निरसनम् । १९५-१९
- ३ एतदुपदर्शकद्वितीयकाण्डस्य द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकाभिमतप्रयेकदर्शनं तानस्वरूप-प्रतिपादिका गाथेयमित्यवतरणार्थः । १९५-२१
- ६ यत्सामान्यग्रहणं दर्शनं तद् द्रव्यार्थिकस्य मते, विशेषात्मकवस्तुविषयकं यद्ग्रहणं तज्ज्ञानं पर्यायास्तिकस्य मते, द्वयोरपि नययोः प्रत्येकमीदम्भूतार्थग्राहकत्वमित्यर्थः । १९६-१
- ७ "कतिविहणं मते उवओगे" इति प्रज्ञापनावचनेनोपयोगस्य साकारानाकाराभ्यां द्वैविध्यं, साकारोपयोगो ज्ञानम्, अनाकारोपयोगो दर्शनम्, द्रव्यार्थिकनयेन दर्शनमात्रं प्रमाणं, पर्यायार्थिकनयेन ज्ञानमात्रं प्रमाणमिति प्रयेकनयार्पणा । १९६-१६
- ८ "ज सामण्यग्रहण" इति धर्मसङ्ग्रहणीवचनादुभयनयार्पणया सामान्यप्रधानं विशेषोपसर्जनं ग्रहणं दर्शनम्, विशेषप्रधानं सामान्योपसर्जनं ग्रहणं ज्ञानं, तयो रूपयोगयोरुपसर्जनीकृतवदितराकारयोः प्रामाण्यं, न तु निरस्तेतराकारयोरिति भावितम् । १९६-२६
- ९ ज्ञानोपयोगो दर्शनोपयोगो वा सर्वदा सर्वजीवेषु प्रसर्तते किं वा कदाचिनेति प्रश्नस्य प्रतिविधानं, तत्र 'उपयोगो लक्षणम्' इति तत्कार्यसूत्राल्लक्षणम्योपयोगस्य लक्ष्ये आत्मनि सर्वदावस्थानं निष्टङ्कितम् । १९७-१
- १० निर्गुणं द्रव्यद्वयवद्यते इति नैयायिकमते उत्पत्तिकाले गद्याभावेऽपि गन्धरसलक्षणं परिष्कृतं यथा पृथिव्या, तथा कदाचिदुपयोगाभावेऽपि परिष्कृतलक्षणं जीवे भविष्यतीति प्रश्नस्य नैयायिकादिप्रमादस्याप्रामाण्यव्यवस्थापनेन निरसनम्, तत्र तत्कार्यव्यटीकाभाष्यादित शुक्रादेरचेतनपरमाणुप्रभृतिपरिणातमजन्तव भावितम् । १९७-८

- अङ्काः विषयाः पृ० पङ्क्तिः
- ११ परमाष्वादिपरिणामतज्जन्यशुक्लादिवत् देवमनुष्यादिपर्यायानुगाम्यात्मद्र-ये  
पूर्वदर्शनानालक्षणोपयोगपर्यायस्योत्तरेण ज्ञानदर्शनात्मकोपयोगरूपेण परिणमन  
भवतीति तच्छून्यो न कदाप्यात्मा, सुप्रतिकालेऽप्य-यत्कज्ञानं तत्र सुखम-  
हमस्वाप्समित्याद्यनुभव. प्रमाणमिति । १९७-२२
- १२ सुप्रमाविन्द्रियवृत्तिनिरोधेन ज्ञानसामान्यकारणत्वमनोयोगाभावान्न किञ्चि-  
ज्ज्ञान तदेति नैयायिकप्रश्नस्य प्रतिविधानम् । १९७-३०
- १३ सुप्रमौ द्रव्येन्द्रियवृत्तिनिरोधेऽप्युपयोगलक्षणभावेन्द्रियजज्ञान सम्भवत्येव, तद्यु-  
क्तत्वे "जह ह्युहम भावित्दियनाणं" इत्यादिविशेषावश्यकमाप्योक्ति. प्रमाण,  
सविस्तर चास्य स्तोपज्ञतत्पर्यैविवरणटीकायामुक्तमिति । १९८-२
- १४ केवलदर्शनकेवलज्ञानावरणरुर्मभ्या सर्वाऽऽस्तीयदर्शनज्ञानयोरावृत्तत्वादुपयोगश्च  
स्योऽप्यात्मा कथं नेति शङ्कायाः प्रतिविधानम् । १९८-१३
- १५ केवलज्ञानावरणरुर्मणा सर्वात्मना केवलज्ञानस्यावृत्तत्वेऽपि तदनन्ततमभागो  
ऽनावृत्त एवावतिष्ठते, प्रमाण च तत्र नन्दीश्वरस्य "सञ्जजीवाण पि य" इति  
वचनम्, तदात्मकमन्दप्रकाशे हेतुः केवलज्ञानावरणमेवेति दर्शितम् । १९८-१६
- १६ तथा दर्शनाभावान्मन्दप्रकाशहेतुत्वं केवलज्ञानावरणस्य न सम्भवतीत्याशङ्काया-  
प्रतिविधानम् । १९८-२२
- १७ अर्शाशिनोः कथञ्चिदभेदादेकस्यैव केवलज्ञानस्यावृत्तत्वानावृत्तत्वलक्षणनिरुद्ध-  
माध्यासो न समन्तीति शङ्कायास्ममाधानम् । १९८-२६
- १८ केवलज्ञानानन्ततमभागानावारकस्य केवलज्ञानावरणस्य सर्वात्तित्वं कथमिति  
प्रश्नप्रतिविधानम् । १९९-१
- १९ अनन्ततमभागस्याप्यावरणे जीवस्याजीवत्वं स्यादित्यत्र "जह पुण सो वि"  
इत्यादिनदीश्वरवचनसंग्रहः । १९९-७
- २० सोऽपि चावशिष्टोऽनन्ततमभागो मतिज्ञानाधावरणैरावृत्तते एवमपि निगोदाय  
स्थाया काचिज्ज्ञानमात्राऽवतिष्ठते, तस्मात् प्रभृति ज्ञानविद्विभ्रमं नति, तत्र  
सर्वनिवृत्ते जीवस्येति "तस्मात्प्रभृतीति" पद्ययुग्मं संग्रहकम् । १९९-८
- २१ छत्रस्थस्य मतिज्ञानादिविषयीभूतार्थज्ञाने प्रतिवचको न केवलज्ञानावरणो  
दयः, किन्तु मतिज्ञानावरणाद्युदय एवेति । १९९-१७
- २२ केवलदर्शनावरणस्य समस्तवस्तुस्तोमतामायावगोधावाररुत्वेन सर्वात्तित्वोऽपि  
तदनन्ततमभागस्य नावाररुत्व, सोऽपि चक्षुर्दर्शनाधावरणैरावृत्तते, एवमपि

अङ्काः

विषया

पृ० प

- निगोदायस्थाया काचिदव्यक्तदर्शनमात्राऽनतिष्ठते, छद्मस्थस्य चर्तुर्दर्शनादि-  
विषयार्थदर्शने प्रतिगन्धस्ये न केवलदर्शनानारणोदय', किन्तु चक्षुर्दर्शनायणा  
घुदय एवेति । १९९-१९
- २३ केवलज्ञानानारणावृत्तस्यात्मनोऽनन्ततममागान्मरुमन्दप्रकाश एवापातरालाव  
स्थितमतिज्ञानाद्यायरणस्योपशमभेदमम्पादित नानात्व भवते, नानात्व च  
स्योपशमानुरूप, यथा मतिज्ञानाद्यायरणस्योपशमजनित' स मन्दप्रकाशो मति  
ज्ञानादिकमिति प्रतिपादितम् । १९९-२५
- २४ केवलज्ञानानारणीयेन सर्वान्गनाऽऽवृत्तेऽपि केवलज्ञाने तद्वृत्तमन्दादिप्रकाशरूपा'  
क्षोयोपशमिकरुभावात्मना मतिज्ञानान्यश्चत्वारो भेदा सर्वाया केवलज्ञानानारणा  
पगमे सति तदुत्पन्नकेवलज्ञानेन मतिज्ञानानारणस्योपशमनाशे न भवती  
त्युक्तम् । २००-२
- २५ उक्तदिशा निमित्तभेदेन सिद्ध पञ्चविध चान प्रत्यक्षपरोक्षद्वयरूपमेवेति दर्शितम् । २००-११
- २६ मतिज्ञानादिपञ्चविज्ञानमध्ये किं प्रत्यक्ष किं परोक्षमिति प्रश्नप्रतिनिधानम् । २००-१४
- २७ यद्यपि इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षमिति प्रत्यक्षलक्षणान्तरत्वात्तथाव्यवहारात् "इन्द्रिय-  
मणोमयं" इति विशेषावश्यकभाष्योक्तेश्च मतिज्ञान प्रत्यक्ष, तथापि निश्चयनय  
तस्तत्परोक्ष, तदुपपत्ति, "अस्मत्स पोग्गठक्येति" भाष्योक्तपरोक्षलक्षणान्तरत्व  
च तस्य । २००-१६
- २८ श्रुतवान परोक्षमिति व्यग्रस्थापित, तत्र नन्दीश्वरसवाद । २००-२४
- २९ प्रत्यक्षलक्षण, तत्र भाष्यमम्पति, तल्लक्षणस्य व्युत्पत्तिनिमित्तमात्रत्वं नैश्वयिक  
प्रत्यक्षपदमवृत्तिनिमित्त यदेव तदेव निश्चयप्रत्यक्षलक्षण, तदाहान्तमवधि  
ज्ञानादित्रय निश्चयप्रत्यक्षप्रमाणम्, तत्र नन्दीश्वरमसाद । २००-२६
- ३० व्यावहारिकनैश्वयिकप्रयत्नद्वयमाधागण स्पष्टत्वपर्यवसितमर्थमाशात्कारित्वं प्राय  
क्षलक्षण, द्विविध स्पष्टत्व, तस्यानुगमन स्पष्टतात्वेन विहितम् । २०१-५
- ३१ स्पष्टलक्षणप्रत्यक्षमपि गुणमुग्यभेदेन द्विविधम् । तत्रार्थं संव्यवहारनिमित्त  
मतिज्ञानात्मक, तदपि श्रुतज्ञानप्रतिश्रयत परोक्षमेव, द्वितीय विकलमरुल  
भेदेन द्विविध, तत्र विकलमवधिमेव पर्यवसानभेदेन द्विविध, सकल केवलज्ञान,  
तेषा स्वरूपत्रिपयकारणानि दर्शितानि । २०१-१०
- ३२ प्रमाणलक्षणं किमिति प्रश्ने स्वार्थसवेदेन प्रमाणमित्युक्तं, स्वार्थसवेदेनमिय-  
स्वार्थकथने पञ्चद्वय भ्रमेणाश्रितम् । २०१-१९



अङ्काः

त्रिपयाः

५० पं.

- ३३ स्वयोग्यार्थस्य विशदतया निर्णय स्वार्थसंज्ञेनमिति प्रथमन्याय्याने तेन सशयविपर्ययानव्ययमायदर्शनेन्द्रियकारकताकल्याद्यविकल्पाना प्रामाण्यनि रासः कृतः । २०१-२१
- ३४ स्वार्थयोग्यथाऽप्रस्थितत्वेन निश्चयः स्वार्थसवेदनमिति द्वितीयव्याख्याने यादृ-सुरारिमिथ-नैयायिक कापिलाना मतमपाकर्तुं स्वशब्दस्य ज्ञानाद्वैतवादि-माध्यमिकवेदान्तिना मतगपाकर्तुंमर्थशब्दस्य चोपादानं, सम्पूर्णलक्षणवाच्येन तु परपरिकल्पितस्याऽर्थापलपिहेतुत्वादे प्रमाणलक्षणपरनिरासः । २०१-२५
- ३५ उक्तलक्षणगतार्थमेव स्वपरन्यायमायिज्ञान प्रमाणमिति लक्षणम्, तत्र प्रतिपा-द्यानुसारेण लक्ष्य-लक्षण-तदुभयत्रिधानमिति । २०२-१
- ३६ प्रमाणत्वे विवदमान प्रति त्रिवादास्पद ज्ञान प्रमाणमिति स्वपरन्यायमायि ज्ञानत्वे विवदमान प्रति च त्रिवादास्पद प्रमाण स्वपरन्यायमायिज्ञानमिति शून्य-वादिनप्रति च सम्पूर्णलक्षणमेव त्रिवेषमिति । २०२-६
- ३७ अत्र स्वपरन्यायमायि ज्ञान प्रमाणमिति न युक्त ज्ञानस्य स्वविषयकत्वाभा वादिति नैयायिकस्य पूर्वपक्ष । २०२-१४
- ३८ ज्ञानस्य परन्यायसायित्व प्रमाणमिदमपि स्वपरन्यायपर न प्रमाणसिद्धमिति प्रपञ्चत उपपादितम् । २०२-१६
- ३९ स्वप्रकाशनादिनामार्हताना प्रतिविधान, तत्र 'एकस्मादेव विषयावभाससिद्धे' किं द्वयकल्पनया इति नियमबलाच्छाघनादेरुस्यमार्थविषयकत्ववत्स्वविषयकत्वम् । २०१-१३
- ४० न्यायमते यथा प्रतियोगित्वादिकमाश्रयस्वरूप नातिरिक्त तथा जैनमते स्ववि-षयकत्व स्वम्बरूपमेवेति स्वविषयत्वविषयत्वसिद्धया स्वप्रकाशत्वसिद्धिरित्या धुपदर्शितम् । २०३-१७
- ४१ भेदनियतस्य त्रिपयत्रिपयिभावस्य नाभेदे स्वीकागर्हत्वमित्यस्य भेदनियतस्य विशेषणविशेष्यभावस्य घटाभावे घटाभावे इति प्रतीतिबलाद्यथाऽभेदे स्वीकारः स्वभावरिशेषात्तथा प्रकृतेऽभेदेऽपि स्वभावरिशेषादेव स, स्वभावरिशेषश्च निर्वक्तुमशक्योऽपि शर्करामाधुर्यविशेषनत्प्रत्यारन्यातुमशक्य इति व्यवस्था-पितम् । २०३-२६
- ४२ ज्ञान स्वविषये व्यवहार प्रवर्तयत्स्वविषयेऽपि स्वस्मिन् व्यवहार प्रवर्तयति स्वव्यवहारशक्तत्वेन स्वविषयत्व, तच्चाभेदेऽपीति प्रमाकरानुयायिमतमात्मा श्रयान्यो याश्रयदोषप्रस्तत्वादसङ्गतमिति व्यवस्थापितम् । २०४-२

- अङ्काः विषयाः पृ० पङ्क्तिः
- ४३ ज्ञानस्य कथञ्चिद्भेदस्वीकारेणैकस्य ज्ञानस्य व्यसत्तायानुव्यसतायोमयाकार-  
त्वोपपादनेन पराशङ्काऽपनोदनम् । २०४-१३
- ४४ परापादितान्योन्याश्रयापाकरणेन स्वविषयत्वलक्षणं स्वप्रकाशकत्वं स्थिरीकृतम् । २०४-२४
- ४५ स्वेनैव स्वस्य प्रकाश इत्येव स्वप्रकाशात्मकं ज्ञानं "स्वस्य व्यवसायः" इत्या-  
दिदेवमृश्रिस्रानुमोदितं जैनमतं न युक्तं, स्वात्मनि क्रियाविरोधादिति पप्रश्नः  
परोपगतम्ब्रकाशेश्वरज्ञानानुपदर्शनेनापाकृतं । २०५-२
- ४६ एकस्मिन् ज्ञाने कर्मत्वकर्तृत्वक्रियात्वैतत्त्वितयभानासम्भवात्त्रिपुटीप्रत्यक्षासम्भ-  
वात्स्वसत्त्वेदनानानाऽसिद्धिरिति पराकृतनिरसनमाश्रयत्वरूपकर्तृत्वविषयत्वरूप-  
कर्मत्वविशेषणीभूतज्ञानत्वलक्षणक्रियात्वानां भानोपपादनेन । २०५-११
- ४७ विशिष्टयुद्धिम्प्रति विशेषणज्ञानस्य कारणत्वेन ज्ञानरूपविशेषणज्ञानामाहाद्विशेष-  
णतया ज्ञानस्य भानं कथं स्यादित्याशङ्का समानविचित्रेऽभिन्नविशेषणज्ञान-  
त्वेनैव विशिष्टयुद्धिम्प्रति कारणत्वमित्यनेनापाकृता । २०५-१७
- ४८ ज्ञानं विनाऽपि सुखादिविशिष्टतयाऽऽत्मज्ञानाऽज्ञानं न समानविचित्रेऽभिमित्या-  
शङ्काया अपाकरणम् । २०५-२३
- ४९ अर्थनिश्चयत्वेन ज्ञानस्य प्रसक्तत्वादर्थविषयकत्वमेवाभ्युपगमाहं, न स्वविषय-  
कत्वमिति प्रश्नप्रतिविधानम् । २०५-२५
- ५० प्रत्यक्षविषयत्वं प्रत्यक्षजनकत्वं न्यासमित्यनुव्यसतायात्मकप्रत्यक्षाजनके व्यवसाये  
तत्प्रत्यक्षविषयत्वं न सम्भवतीति प्रश्नस्य व्यभिचारान्निरुक्तव्याप्त्युपाकरणेन  
प्रतिविधानम् । २०५-३०
- ५१ इन्द्रियसन्निकर्षोत्पन्नं प्रत्यक्षमिति व्यवसाया मरुद्धानेन सहेन्द्रियसन्निकर्षा-  
भारत्कथं तत्प्रत्यक्षमिति प्रश्नस्य चक्षुषोऽप्राप्यकारित्वेन तत्सन्निकर्षं नित्यं  
चाक्षुषप्रत्यक्षस्य भावेन तत्रान्याप्येन्द्रियसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानं प्रत्यक्षमिति तद्वृक्षणं  
न सम्भवतीति प्रतिविधानम् । २०६-५
- ५२ चक्षुषोऽप्राप्यकारित्वमाद्यक्रमणतुमानम्, चक्षुषोऽसन्निकृष्टार्थप्रत्यक्षजनकत्वे  
प्रत्यक्षस्य प्रतिनियतविषयत्वं न स्यादतस्तस्य प्राप्यकारित्वमुपेयमित्यभिप्राय-  
कस्य नैयायिकप्रश्नस्य प्रतिविधानम्, तच्च प्रतिनियतविषयत्वे स्वारणकर्मक्षयोपशमा-  
दिलक्षणयोग्यतायान्तरत्वोपदर्शनेन । २०६-८
- ५३ ज्ञानम्यार्याजन्यत्वे तदनाकारत्वे च प्रतिकर्मव्यवस्था न स्यादित्यर्थजन्यत्व  
तदाकारत्वश्चाभ्युपेयमिति बौद्धमतमपाकृतम् । २०६-१९

- अङ्काः विषयाः पृ० पङ्क्तिः
- ५४ चक्षुषः प्रासार्थप्रकाशरूपे दाहच्छेदाद्यापत्तिर्दिशिता । २०६-२४
- ५५ रश्मिस्फुरणजलानलोरूपे दाहसैत्ये चक्षुषो भवत एवेतीष्टापन्याशङ्काऽप्राकृता । २०६-२६
- ५६ "लोअणमपत्तयिमय" इति भाष्यगाथापूर्वार्धेन लोचने अप्राप्यकारित्वसाध-  
कमनुमानमुपदर्शितम् । २०७-५
- ५७ चक्षुषोऽप्राप्यकारित्वसाधने मनोरदिति दृष्टान्ताभिधानमपुत्रं, देहा मनो  
निर्गत्य मेरुशिखरस्थजिनप्रतिमादिना स्रग्धने, अगुत्र मनो मे गतमिति  
लोकानुभवेति मनस प्राप्यकारित्वस्यैव भावात्, अत्र 'गतु नैष्ण मणो'  
इति भाष्यवचनमपीति पूर्वपक्षः । २०७-८
- ५८ उक्तप्रश्नप्रतिविधानम्, तत्र मनो न ज्ञेयेन संश्लिष्यते ज्ञेयकृतानुग्रहोपघाता-  
ऽभावात् लोचनरदित्याद्यनुमानेन मनसोऽप्राप्यकारित्वव्यवस्थापनम्, अत्र  
"नाणुग्गहोऽपघाया" इति भाष्यवचन प्रमाणम् । २०७-१४
- ५९ द्रव्य-भावभेदेन मनसो द्वैविध्यं, तत्र जीवात्मरूप्य भावमनसो देहव्यापित्वान्न  
देहाद् बहिर्निर्गमनं, तत्र "द्रव्य भावमणो वा" इति भाष्यवचन प्रमाणम्, द्रव्य-  
मनसोऽपि करणत्वाद्बहिर्निर्गमनमिति न युक्तं, अन्तःकरणरूपस्य तस्य शरी-  
रस्थस्यैव स्पर्शनरूपपरिच्छेदकत्वमिति न रहिर्निर्गमनम् । उक्तार्थे "अह  
करणभारभो" इत्यादि सार्धपद्यं प्रमाणम् । २०७-२०
- ६० अगुत्र मेरुशिखरादिगतजिनायतनादौ मदीय मनो गतमिति स्वमेऽनुभवयला-  
न्मनसः प्राप्यकारित्वमिति प्रश्नस्य आम्यमाणालातचक्रानुभवमनुकृतानुभव  
स्यासत्यनिपयत्वेन भ्रान्तत्वमेव, जाग्रदवस्थाया देहस्थस्यैव मनसोऽनुभूयमा  
नत्वादित्युत्तरम् । २०८-१३
- ६१ स्वभावस्थाया मेरुदौ गत्वा जाग्रदवस्थाया निवृत्तं तद्द्रविष्यतीति प्रश्नस्य  
प्रतिविधानम्, तत्र "सिमिणो न तहास्यो" इति गाथाद्वय प्रमाणम्,  
एतद्भावोपदर्शनञ्च । २०८-२०
- ६२ द्रव्यमनसो भावमनसश्च बहिर्निर्गमनाभावादप्राप्यकार्येण मन इति मनोरदिति  
दृष्टान्तो न साध्यत्रिकूल इति निगमितम् । २०९-३
- ६३ दृष्टान्ते मनसि प्राद्यरस्तुकृतानुग्रहोपघातशून्यत्वलक्षणहेतुवैकल्यमपि नास्तीत्यु-  
क्तहेतुना लोचनमप्राप्यकारि सिद्धयतीति । २०९-५
- ६४ चक्षुषस्तैजसत्वेन रश्मिमत्त्वाच्चद्रव्ययो निर्गत्य ज्ञेयेन सम्बन्धयन्त इति प्राप्यका-  
रित्वमेवेति नैयायिकप्रश्नः । २०९-९

- अङ्काः विषयाः पृ० पङ्क्तिः
- ६५ उक्तप्रश्नप्रतिविधान, तत्र चक्षुषस्तैजसत्वासिद्धिपरिहाराय नैयायिकाभिमतम्  
नुमानमुपन्यस्य प्रतिक्षिप्तम् । २०९-१३
- ६६ चक्षुषस्तैजसत्वसाधकस्य रूपादिषु मध्ये रूपस्यैवाऽभिन्नरूपत्वेतोः सन्निरुपा-  
जिनादिव्यभिचारवारणाय नैयायिकाभिमतस्य हेतौ विशेषणदानस्य अन्ननादिकं  
सहकृत्य मनसैव निध्यादिसाक्षात्कार इत्यस्य चापाकरणम् । २०९-१५
- ६७ चक्षुषो रश्मीनामुपगमेऽपि ते विषयदेश गता गोलकेनासम्भवा सम्भवा वा  
प्रत्यक्षजनका इत्यादिविकल्पनजालेन नैयायिकमतस्य खण्डनम् । २१०-२
- ६८ चक्षुषोऽप्राप्यकारित्वाभ्युपगमेऽप्राप्तत्वाविशेषान्निखिलवस्तुप्रकाशरूपत्वप्रसङ्ग  
इति शङ्काया प्रतिविधान, तत्र योग्यार्थग्रहणस्याभाव्यस्य प्रतिनियतार्थ-  
प्रकाशरूपत्वनियामरूपत्व समर्थितम् । २११-२५
- ६९ विषयनिष्ठव्यवधानाभावात्कूटरूपयोग्यताया अज्ञानाद्यजयचाक्षुषप्रत्यक्षप्रति-  
कारणत्वाभ्युपगमेन कूट्यादिव्यग्रहितस्याप्रत्यक्षत्वमुपपादितम्, तत्र स्फटिकादे-  
श्चाक्षुषज्ञानाप्रतिबन्धकत्व, भित्त्यादेश्चाक्षुषप्रत्यक्ष प्रति प्रतिबन्धकत्व च प्रकल्प्य  
नैयायिकाक्षेपो दूरीकृतः । २११-२९
- ७० व्यवहितार्थाप्रकाशरूपत्वेन हेतुना चक्षुषः प्राप्तार्थपरिच्छेदकत्वसाधन नैयायिक-  
स्यापाकृतम् । २१२-७
- ७१ व्यनधानस्य चाक्षुषज्ञानप्रतिबन्धकत्व, तदभावरूढस्य चक्षुषज्ञानकारणत्व, तयो  
प्रतिबन्धप्रतिबन्धरुभावप्रकारश्च दर्शितः । २१२-१२
- ७२ उक्तप्रतिबन्धकत्वमनभ्युपगम्य प्रकारान्तराश्रयणे "तस्य हेतुत्वापेक्षया तद्वेतोरेव  
हेतुत्वम्" इति न्यायेन तत्तन्नयनोमीलनस्य चाक्षुषज्ञान प्रति साक्षात्कारणत्व  
कल्पनस्य युक्तत्वं समर्थितम् । २१२-१८
- ७३ इन्द्रियसन्निकर्षजन्य ज्ञान प्रत्यक्षमिति सामान्यलभणालुगमालुरोधेन प्रत्यक्षत्वा-  
वच्छिन्न प्रतीन्द्रियसन्निकर्षत्वेनेन्द्रियसन्निकर्षस्य कारणत्व, यत्सामान्ययोरिति  
न्यायेन विशिष्य कार्यकारणमात्रकल्पनेऽपि चाक्षुषप्रति चक्षुस्मयोगत्वेन कारणत्व,  
तत्र चिन्तामणिसंवाद, इति न्यायमतस्य खण्डनम्, तत्र सामीप्यसम्बन्धेनैव  
चक्षुषः कारणत्व न जैनसिद्धान्तभङ्ग, चक्षुस्त्वविषयं सयुज्य प्रत्यक्ष जनयतीति  
न्यायमतखण्डन एव तात्पर्यादिति । २१२-२२
- ७४ संयोगेन चक्षुषः प्रत्यक्षजनकत्वे शाब्दाचन्द्रमसो युगपच्चाक्षुष न भवेद्, अत्र  
नैयायिकस्य सर्वापि समाधानप्रक्रियोद्धान्यापाकृता । २१३-१

- अङ्काः निपयाः पृ० पङ्क्तिः
- ७५ चक्षुर्मनसोः प्राप्यकारित्वासिद्धयेन्द्रियसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानं प्रत्यक्षमिति प्रत्यक्षलक्षणासम्भवाज्ज्ञानस्येन्द्रियसन्निकृष्टत्वाभावेऽपि प्रत्यक्षमुपपद्यत इति स्वपरव्यवसायिज्ञानं प्रमाणं सिद्धमिति निगमितम् । २१३-२०
- ७६ ज्ञानाकरणकं ज्ञानं प्रत्यक्षमिति प्रत्यक्षलक्षणस्य खण्डनम् । २१३-२३
- ७७ अर्थोपलब्धिहेतुः प्रमाणमिति वाचस्पतिमिश्रमतस्य खण्डनम् । २१३-२९
- ७८ बोधबोधस्वभावात् सामग्री प्रमाणमिति जयन्तमट्टोक्तप्रमाणलक्षणस्यापारुणम् । २१४-५
- ७९ बुद्धिवृत्तिरेव सत्प्रसमुद्भेकात्माऽध्यवसायः प्रमाणमिति साङ्ख्यमतस्य सम्यगुपदेश्यापाकृतम् । २१४-१५
- ८० अनधिगतार्थाविगाहिज्ञानं प्रमाणमिति मीमांसकमतस्य खण्डनम्, प्रश्नोत्तराभ्यां गृहीतविषयस्यापि ज्ञानस्य प्रामाण्यं व्यग्रस्थापितम् । २१४-२७
- ८१ स्मृतिप्रामाण्ये "अधाधिगतगन्तव्ये" इति स्याद्वादरत्नाकरग्रन्थसंवादादौ दर्शितः । २१५-९
- ८२ अनर्थजन्यत्वेन स्मृतेरप्रामाण्यशङ्काया अपाकरणम् । २१५-१३
- ८३ "प्रमाणमसंवादि ज्ञानं" इति प्रमाणवार्तिकोक्तेर्बौद्धमिश्रमतस्य संवादादकत्वप्रमाणसामान्यलक्षणस्य सम्यगुपदेश्य व्युदस्तम् । २१५-१७
- ८४ बाह्यार्थाभावेन तदालम्बनाभावात् निरालम्बनमेव ज्ञानं प्रमाणमिति स्वसंवेदनज्ञानाद्वैतवादियोगाचारारयनोद्धमतस्य खण्डनम् । २१६-१२
- ८५ ज्ञातताफलानुमेयो ज्ञानव्यापारो ज्ञानादिशब्दवाच्यः प्रमाणमिति मीमांसकमतस्य प्रमाणप्रमेयोभयनिह्वयशून्यतादिमतस्य चाद्यकाण्ड एव निरास इति स्मारितम् । २१६-२१
- ८६ स्वपरव्यवसायिज्ञानं प्रमाणमिति तत्पर्यवसायि स्वार्थसंवेदनं प्रमाणमिति च निर्व्यूढम् । २१६-२३
- ८७ स्वार्थसंवेदनस्य प्रमाकरणत्वे तत्फलं किमिति प्रश्नस्य स्वार्थसवित्तिरेव फलमित्युत्तरम्, तत्रैकस्य प्रमाणत्वप्रमात्वविरोध इत्याक्षेपस्य परिहारः । २१६-२५
- ८८ अन्यत्र परश्रद्धादिकरणद्वैधीभावादिकरणयोर्भिन्नत्वमेव दृश्यत इत्यतोऽभेदे कार्यकारणभावाभावात् इति प्रश्नस्य प्रतिविधानम् । २१७-६
- ८९ करणस्य भिन्नेनैव फलेन भाव्यमित्याग्रहे तु मत्यादिश्रद्धायोपशमिकप्रमाणानां भिन्नफलमादानहानधीस्पेक्षाबुद्धिधेत्युपपादनम् । २१७-९
- ९० ध्यायिष्केनलज्ञानस्य त्वौदासीन्यफलं, तत्र "पारम्पर्येणेति" "शेषप्रमाणानां" इति च प्र०प्र०द्वयं संवादकम् । १।५।। २१७-१३

शङ्काः

विषयाः

पृ० पङ्क्तिः

- २-१ “द्व्वद्विभोवि होऊण” इति द्वितीयगाथाञ्चतरणम् । द्रव्यायिर्कनयवित्रनायां सामान्यमात्रग्रहणलक्षणदर्शनस्यैव प्रामाण्यम्, पर्यायार्थिकनयवित्रक्षाया विशेषमात्रग्रहणलक्षणज्ञानस्यैव प्रामाण्यमित्युपदर्श्य तदुभयनयत्रियविषयकप्रमाणार्पणाय सामान्यविशेषोभयग्राह्यदर्शनज्ञानरूप प्रमाणमित्युपदर्शिका द्वितीयगाथा । २१७-१८
- २ गाथातात्पर्यार्थः प्राधान्येन सामान्याश्रयग्रहणपरिणामे दर्शने गौणतया विशेषाश्रयग्रहणपरिणाम, प्राधान्येन विशेषांशग्रहणपरिणामे ज्ञाने गौणतया सामान्याश्रयग्रहणपरिणामः समस्त्येवेति । २१७-२७
- ३ शब्दार्थोपदर्शनम् । २१७-३०
- ४ सामान्यविशेषौ मियोऽविनाभूतावेव प्रतीयेते इति प्रमाणार्पणया तदुभयात्मक आत्माद्यर्थ इति भावार्थः प्रपञ्चित । २१८-१७
- ३-१ “मणपञ्जराण तो” इति तृतीयगाथाचतरणम्, तत्र यथा छद्मस्थाना दर्शनज्ञानोपयोगौ क्रमेण भरत “जुगव दो नत्थि उवओगा” इति वचनात्, तथैव किं केवलानां केवलदर्शनोपयोगकेवलज्ञानोपयोगौ क्रमेण भरत, किं वा युगपत्, किं वा यदेव केवलज्ञान तदेव केवलदर्शनमिति प्रश्नप्रतिविधानम्, तत्र मतत्रयं तत्तत्रयवित्रक्षामेदप्रयुक्तं सुसमञ्जसम् । २१८-२४
- २ तत्र युगपदुपयोगद्वयवादिना मल्लादिप्रभृतीना मतं दर्शितम् । २१९-७
- ३ यदेव केवलज्ञान तदेव केवलदर्शनमिति सिद्धसादिनाकरमतम् । २१९-९
- ४ प्रथमसमये केवलज्ञान, द्वितीयसमये केवलदर्शनम् “सव्वाओ लद्धीओ” इति वचनात् “जुगव दो नत्थि उवओगा” इति वचनाच्चेति जिनभद्रगणिसमाश्रमणादीनां मतम् । २१९-१३
- ५ क्रमिकसामग्रीभेदाभावात्क्रमिकोपयोगरूपकार्यभेद कथमिति प्रश्नस्य क्रमिकसामग्रीभेदोपपादनेन प्रतिविधानम् । २१९-२२
- ६ द्वयोरुपयोगयोः क्रमेणोत्पादेऽपि विनाशहेत्वभावात्समयान्तरे तन्नाशो न स्यादिति प्रश्नस्य प्रतिविधानम् । २१९-२७
- ७ उक्तमतत्रयाणां साधारण्यो विप्रतिपत्तय उपदर्शिता । २२०-४
- ८ विप्रतिपत्तौ सत्यां प्रथम युगपदुपयोगद्वयवादिमतोपदर्शिका तृतीयगाथा । २२०-१२
- ९ मन पर्यन्तज्ञानपर्यन्तं ज्ञानदर्शनयोः पृथक्कालत्वलक्षणो विशेषः, केवलज्ञान पुनः केवलदर्शनपृथक्काल न, किं तु तदुभय युगपदुत्पत्तिरूपं, चक्षुरचक्षुरधिज्ञानानि

अङ्काः

विषयाः

पृ० पङ्क्तिः

चक्षुरचक्षुरवधिदर्शनेभ्यः पृथक्कालानि छन्नस्योपयोगज्ञानात्मकत्वात्, श्रुतमन'पर्या-  
यज्ञानादित्यादिः, केवलिनो ज्ञानोपयोगदर्शनोपयोगावेरुक्तालीनौ युगपदाविर्भू-  
तस्वभावत्वात्, यावेन तावेन, यथा रवे' प्रकाशतापावित्येव क्रमेण प्रयोग  
भाषना च ।

२२०-१७

४-१ "केई भणति जइआ" इति चतुर्थगाथावतरणम् ।

२२१-१०

२ निरुक्तगाथार्थः, जिनमद्रानुयायिनो भणन्ति यदा जानानि तदा न पश्यति  
जिन इति, स्रममलमरमानास्ते तीर्थकराशतनाऽभीग्व इति ।

२२१-१३

३ "केवली ण भते" इत्यादि सूत्रं, तस्यार्थश्च दर्शितः ।

२२१-१६

४ एकात्मगते केवलानन्येवलदर्शने पृथक्कालीने एकममयावच्छेदेन परस्पर  
विरुद्धस्वभावात्त्वादित्यादिप्रयोगास्तदर्धान्तर्गताः ।

२२२-१४

५ जिनमद्रानुयायिना तीर्थकराशतनाऽभीरुत्व यथा प्रकटयन्ति प्राचीनास्तथो-  
क्तस्रमव्याख्यानात्तरोपदर्शनेन भाषितम् ।

२२२-२६

६ "ज समय" इत्यादि स्रमार्थोपपत्तेर्न श्रीयशोविजयोपाध्यायाना ज्ञाननिन्दौ  
यत्तल्लमुद्भूतम् ।

२२३-१

५-१ "केवलनाणावरणेति" पञ्चमगाथावतरणम् ।

२२३-१६

२ केवल यथा केवलज्ञानावरणक्षयजन्यत्वेन ज्ञानं तथा केवलदर्शनावरणक्षयान्त  
रोद्भूतत्वेन दर्शनमपि, अत्र केवलज्ञानकेवलदर्शने युगपदेवोत्पद्येताम्, अव्य  
वहितपूर्वसमयावच्छेदेन तदुभयोत्पत्तिकारणसद्भावात्, युगपदुत्पद्यमानादिन्य-  
प्रकाशतापवत् परमाणौ रूपरसादित्रैद्वेति प्रयोग इत्यर्था दर्शितः ।

२२३-२१

३ युगपत्सामग्रीद्वयमद्भावेऽपि क्रमभावित्वस्वभावादेवोपयोगौ क्रमेणैव भवत  
इति शङ्कायाः समाधानम् ।

२२३-२८

४ मतिश्रुतज्ञानावरणयोर्युगपत्क्षयोपशमेऽपि यथा तदुपयोगक्रमस्तथा केवल-  
ज्ञानकेवलदर्शनावरणयोर्युगपत्क्षयेऽपि केवलिन्युपयोगक्रमः स्यादिति शङ्कायाः  
प्रतिविधानम् ।

२२४-७

६-१ "भणइ खीणावरणे" इति षष्ठी गाथा तदर्थश्च, क्षीणावरणे जिने यथा न  
मत्यादिज्ञानं अग्रहचतुष्टयरूप मतिज्ञानं वा तथा क्षीणावरणीये तस्मिन्  
पृथग्भावेन दर्शनं नास्तीति ।

२२४-१२

२ अनुमानप्रयोगश्चात्रैवम्—केवलज्ञानकेवलदर्शने एकममयावच्छिन्नोत्पत्तिके,

- अङ्काः विषयाः पृ० पं.
- एकसमयवर्तिसामग्रीकत्वात्, कस्यचित्पुस्तकस्य गद्दर्शनचारित्र्ये इव, ममच-  
चरित्ताइ जुगन इति वचनं दृष्टान्तमभ्यर्कम् । २२४-२२
- ६-१ क्रमनादिन आगमविरोधोपदर्शकृतया "सुत्तम्मि चेन साई" इति सप्तमी-  
गाथाऽन्तारिता । २२४-२८
- २ "केवलनार्णीण पुच्छा" इत्यादिसूत्रविरोधो भावितः साद्यपर्यवसितत्वात्पु-  
पत्तित । २२४-३१
- ३ लब्धिरूपेण केवलज्ञानकेवलदर्शनयोरपर्यवसितत्वप्रशंस्य प्रतिनिधानम्, विशि-  
ष्टरूपेणोत्पादनिनाशयोगिन्य च तयोरिष्टमेव, तत् एवोत्पादादिर्नैलक्षण्योपपत्तिः,  
एव द्रव्यमात्रस्य । २२५-१२
- ४ क्रमिकोपयोगनादिन तयोः प्रतिक्षणं त्रैलक्षण्यमुपयोगस्वरूपेण चापर्यवसित-  
त्वमित्याकृतमाशङ्क्य प्रतिक्षिप्तम् । २२६-४
- ८-१ क्रमाभ्युपगमे आगमविरोधोपमहरणपरतया "सतमि केनळे दंसणम्मि" इत्य-  
ष्टमी गाथाऽन्तारिता । २२६-१२
- २ निरुक्तगाथार्थः, केवलज्ञानकेवलदर्शनयोरपतरकाले तदवस्थाभावात्स तनिनाशे ते प्राप्ते,  
तथा च तदपर्यवसितत्वप्रतिपादकाऽऽगमविरोध इति भागार्थश्च दर्शितः । २२६-१५
- ९-१ ग्रन्थकर्तुः स्वपक्षदर्शकृतेन "दसणनाणारणमरण" इति नवमी  
गाथाऽन्तारिता । २२६-२६
- २ दर्शनज्ञानारणस्ययोः तदुभयकारणयोः समकालीनत्वे नैकस्य विनिगमकाभावात्  
प्रथममुत्पाद, उभयसामग्रीसत्त्वेऽप्यवतरोत्पाद तदितरस्याप्युत्पादस्यदित्यादि  
विवेचितम् । २२६-३०
- ३ "सञ्जाओ लद्धीओ सागारोअओगोअउत्तस्म" इति वचनात्मयम ज्ञानं ततो  
दर्शनं, "जुगन दो नत्थि उनओगा" इति वचनाच्च न योगपद्यमिति विद्यते  
विनिगमकमिति प्रशंस्य प्रतिविधानम् । २२७-६
- ४ केवलज्ञानकेवलदर्शनयोः क्रमोत्पन्न्युपगमे एरुक्षणोत्पत्तिकेवलज्ञानदर्शनयोरेरुक्षण-  
न्यूनाधिक्यपुष्कयोः केवलिनो क्रमिकोपयोगधारा न निर्वाहयितुं शक्येति । २२७-१३
- ५ "होच्च सम उप्पाओ" इत्यनेन तयोर्गुणपदेनोत्पत्तिरिति युगपदुपयोगद्वयनादि-  
मल्लवाद्याशङ्का । २२७-१६
- ६ श्रीसिद्धसेनदिचारस्यैकोपयोगनादिनो "हदि दुवे नत्थि उनओगा" इत्येकोपयोगनि-  
ष्टकनेनोक्ताशङ्काऽपकारणम्, तन्मते यदेन ज्ञान तदेव दर्शनमिति निष्कृतम् । २२७-२१



अङ्का'

त्रिपया.

पृ० प०

- १०-१ सकलसामान्यविशेषोभयत्रिपयरुममूहालम्बनैरुवाने सत्येऽ सर्वाज्ञतासम्भव',  
नान्यथेत्यावेदरुतया "जड सर्वं साधारं" इति दशमी गाथाञ्जतारिता । २२७-२५
- २ यदि सर्वं सामान्यविशेषात्मकं जगत् साकारमेकममेव जानाति पश्यति च  
सर्वज्ञ' तदा युज्यते सर्वदा सर्वज्ञत्वं सर्वदर्शित्वं च तस्य, एतद्वैपरीत्ये सति सर्वज्ञत्वं  
सर्वदर्शित्वं च न स्यादित्यर्थः परिष्कृत्य दर्शितः । २२७-२९
- ११-१ अन्यक्तत्वादपि पृथग्दर्शनं केऽलिनि न सम्भवतीत्यावेदकतया "परिशुद्ध  
साधारं" इत्येकादशगाथाञ्जतारिता । २२८-१५
- २ साकारत्वाच्चरुतस्वरूपं ज्ञानम्, अनाकारत्वाच्चरुत दर्शनमिति क्षीणावरणेऽर्हति  
न च युज्येते सुव्यक्तत्वाच्चरुतत्वे इत्यर्थः स्पष्टीकृत्य दर्शितः । २२८-१८
- ३ ग्राह्यद्वित्वाद् ग्राहकद्वित्वं नाशङ्कनीयं, तथा सति ग्राह्यान्त्यात्केऽलज्ञानान-  
न्त्य स्यात्, विषयभेदस्य ज्ञानभेदप्रयोजनरुत्याभावे तद्द्वित्वाद्द्वित्वमपि  
ग्रहणस्य नाभ्युपेयम् । २२८-२८
- ४ एकस्मिन् केऽलिप्रत्यये ज्ञानदर्शनत्वस्वभावाद्द्वयस्य निरोध इत्याशङ्क्यास्तयोरवि-  
रोधव्यवस्थापनेन परिहरणम् । २२९-१
- ५ अत्रार्थे स्तुतिकारस्य "एव कल्पितभेदमप्रतिहतम्" इति स्तुतिपद्यसमादो दर्शितः । २२९-८
- ६ श्रीसिद्धसेनदिवाकरमते केऽलिप्रत्यय एव नैक' किंतु चाक्षुषप्रत्ययोऽधि-  
प्रत्ययश्च वस्तुगत्यैक एव, ज्ञानदर्शनावरणकर्माऽपि परमार्थत एरुम्, कार्यविशेषो  
पादितश्च नैकमिति स्याद्वादः, वस्तुगत्यैक एव, ज्ञानदर्शनावरणकर्मापि परमार्थत  
एरुम्, कार्यविशेषादितश्च नैकमिति स्याद्वादः, अत्र निश्चयद्वारिश्चिकाया ग्रन्थकृत  
"चक्षुर्दर्शनवित्तानं" इति पद्यद्वयं संवादरुम् । २२९-१३
- ७ आकाशरुपेन केवलज्ञानकेऽलदर्शनावरणयोऽरुपाधितो भेदेऽपि परमार्थत एरुत्-  
मिति तत्क्षयजन्यताञ्चेदकमेरुमेव केऽलप्रत्ययत्वं, न तु विभिन्नं, येन धर्मि  
भेदेन सर्वज्ञे व्यक्ताव्यक्तान् स्यातामित्यादिर्भारार्थ उपदर्शितः । २२९-२२
- १२-१ क्रमिकोपयोगपक्षे युगपदुपयोगद्वयपक्षे च दूषणान्तरावेदरुत्वेन 'अदिद्ध अण्णार्थं  
च' इति द्वादशी गाथाञ्जतारिता । २३०-५
- २ क्रमिकोपयोगपक्षे ज्ञानकाले अदृष्टमेव, दर्शनकाले चाज्ञातमेव, युगपदुपयोग-  
द्वयपक्षे च सामान्यांशेऽज्ञातमेव विशेषांशे चादृष्टमेव केऽली भावते सदाऽपि,  
एकस्मिन् समये सर्वांशे ज्ञातं दृष्टं च भावते केऽलीति वचनविकल्पो न सम्भ-  
वतीत्यर्थे आवेदितः । २३०-८

शङ्का'

विषयाः

पृ० प

- ३ केवलदर्शने गौणवृत्त्या सरुलव्यक्तिमान् केवलज्ञाने गौणवृत्त्या सरुलजातिमान्मादायोक्तवचनिकल्पोपपादने छद्मस्थेऽपि तथा प्रयोगप्रसङ्ग आवेदित' । २३०-१३
- १३-१ उक्तपक्षद्वये अज्ञातदर्शित्वाददृष्टज्ञातत्वाच्च भगवत सर्वज्ञत्वं न संभजतीत्यावेदिका "अण्णाण पासतो" इति त्रयोदशी गाथा । २३०-१८
- २ अज्ञात पश्यन् अदृष्टञ्च जानानोऽर्हन् किं जानाति ? न किञ्चिज्जागति, किं पश्यति ? न किञ्चित्पश्यतीति यथ सर्वज्ञता तस्य भवेत् ? न कथमपीत्यर्थं आवेदित । २३०-२१
- १४-१ उक्तोपयोगयोऽन्यूनानाधिकमूल्यरूपविषयकत्वेनाप्येकत्वमित्यावेदिका "केवलनाणमणत्वं" इति चतुर्दशी गाथा । २३१-३
- २ केवलज्ञान यथाऽनन्तार्थविषयकत्वादनन्त तथा दर्शनमप्यनन्त प्रज्ञप्तम्, तयोरेकत्वाभावे दर्शनस्याल्पविषयकत्वादनन्तत्वं न स्यात्, तथा च "अणते केवलनाणे अणते केवलदसणे" इत्याद्यागमनिरोध इत्याद्यर्थं उपपादित' । २३१-६
- १५-१ क्रमवादिनोऽभेदवाद्युक्तदूषणसमाधानस्याभेदादिप्रतिविहितसमाधानपरतया "भण्णइ जह चउणाणी" इति पञ्चदशी गाथाऽप्रतारिता । २३१-२२
- २ उक्तगाथार्थं, तत्र मत्यादिज्ञानानां क्रमेणैव प्रवृत्तिर्न तु युगपत्, लघिमात्रमङ्गीकृत्य समकालं मतिश्रुते श्रोच्येते, न तूपयोगमित्यनस्तेषामुपयोगतः क्रमप्रवृत्ताऽपि तल्लघिमावाच्चतुर्त्तानी युज्यन्ते, तत्र "जे चउणाणी" इत्याद्यागमः । २३१-२७
- ३ मत्यादिज्ञानानां लघिरूपत्वे तदपेक्षया यौगपद्ये च "नाणलद्वीण भते" इत्याद्यागम प्रमाणतयाऽभिहित । २३२-१०
- ४ शङ्कातरमपाकृत्य स्वस्वयोग्यार्थविषयज्ञानानुबूलशक्त्यपरनामलघ्यपेक्षयैरमतिज्ञानादिचतुष्टयस्यैककालावच्छिन्नस्वमिन्नज्ञानसामानाधिकरूप्यलक्षणयौगपद्यमिति निगमितम् । अत्र "एकादीन्येकस्मिन् भाज्यानि त्वाचतुर्भ्यं" इति तत्त्वार्थसूत्रसङ्गमनञ्च । २३२-२८
- ५ केवलज्ञानदर्शनयोः क्रमप्रवृत्तापि सार्वैदिकतच्छक्तिसमन्वयादपर्यवसितत्वं, ततो ज्ञातदृष्टभाषित्वं केवलिन उपपद्यत इति क्रमोपयोगत्वादिन । २३३-१
- ६ तत्रैकोपयोगवादिन प्रतिविधान-ल्लाक्षस्थिके ज्ञाने नष्टे सति केवलज्ञानमुत्पद्यत इति न पञ्चज्ञानी यथैवार्हन् तथा भिनसामयिककेवलदर्शनकेवलज्ञानान् न स इति क्रमिकपक्षोऽपि न युक्तः । अत्र "नद्वम्भीति" प्रमाणं दर्शितम् । २३३-३

अङ्काः

विषयाः

पृ० पं०

- ७ ज्ञानदर्शनयो क्रमिकत्वे मत्याद्याउरणक्षयेऽपि एकदेशग्राहिणो मतिज्ञानादेरिव ज्ञानदर्शनाउरणक्षयेऽप्येकदेशग्राहिणो ज्ञानस्य दर्शनस्य च केवलिन्यनुपपत्तिर्भेद, अभेदेऽपि चान्वर्थोपपत्तिः केवलज्ञाने केवलदर्शनसज्ञा, न तु मतिज्ञानादिसञ्ज्ञेति । २३३-१२
- ८ क्रमवादे ज्ञानकाले दर्शनाभावात् केवली यदा जानाति तदा पश्यतीति दृष्ट्वात्वाद्यर्थसङ्घट्टनान्नोपपद्यत इति निरूपणम् । २३३-२०
- ९ लब्धिरुपधात्वर्थमुपादाय तत्सङ्गमनाशङ्काया निरामः । २३३-२३
- १० चक्षुष्मान् सर्वं पश्यतीत्यादावनन्यगत्या लब्ध्याश्रयणेऽपि सर्वत्र तदाश्रयणं न युक्तमिति निवेचितम् । २३३-२६
- ११ पट्टपर्यायमारोपमस्थितिकृत्वादिकमपि मतिज्ञानादेर्लब्धपक्षयैत्रत्यस्य दुर्वचत्वात्प्रस्थापितमिति । २३४-१
- १६-१ दृष्टान्तभावनापूर्वक क्रमेण युगपद्वा निरस्तोपयोगौ न स्त इत्युपदर्शकतया "पण्यप्रणिज्ञा भावा" इति षोडशी गाथाऽयत्तारिता । २३४-९
- २ "पण्यप्रणिज्ञा भावा" इत्यस्य "समत्तमुअनाणदसणाविमओ" इत्यस्य चाउरणपूर्वक व्याख्यानम् । २३४-१३
- ३ श्रुतज्ञानवमतिज्ञानं कथं न तथा भावितमिति प्रश्नसमाधाने "मतिश्रुतयोर्निबन्ध" इत्यादि तत्त्वार्थसूत्रेण मतिज्ञानस्य श्रुतज्ञानविषयविषयकत्वं भावितम् । २३४-२६
- ४ धर्मास्तिकायादिद्रव्याणामनतपर्यायानलीदृत्वेनैव वस्तुत्वे मतिश्रुताभ्यां तथैव तद्ग्रहणं भावितमिति प्रश्नप्रतिनिधानं । २३५-१२
- ५ श्रुतज्ञानं श्रुतानुसारेण जायत इत्यादि भावितम् । २३६-१
- ६ अवधिमन पर्याययोर्निभिन्नविषयकत्वाभिधायकतयोच्चारार्द्धानितार' । २३६-५
- ७ अवधिज्ञानस्य रूपिमात्रविषयकत्वे "रूपिप्रयवे" इति तत्त्वार्थसूत्र प्रमाणमुपदर्शितम्, अनधितानविषयसमर्धनेऽनेकानि भाष्यरचनानि दर्शितानि । २३६-८
- ८ मन पर्यायज्ञानस्य "मुण्ड मणोद्व्याह नरलोए सो मणिज्जमाणाइ" इत्युक्तविषयनिष्पन्नम्, तस्य विषयोऽनधिधिपयानन्ततमभागः, तत्र 'तदनन्ततमभागे मन.पर्यायस्य' इति तत्त्वार्थसूत्र प्रमाणम् । २३६-२५
- ९ यदि मन पर्यायज्ञानी मनोद्रव्याप्येव जानीते तदा किं संज्ञिजीवैर्मनसा चिन्तितं

अङ्काः

विषयाः

बाह्यस्तु नैव जानातीति मन्वप्रतिनिधानं, तत्र "जाणइ य पिहुजणो वि हु" इति  
वृहत्कल्पभाष्यरचनम्, अन्यदपि ब्रह्म चर्चितम् ।

२३६-३०

१० अनुमानादेव चिन्तनीय यस्त्वगच्छतीत्यत्र 'तेणानभासिए' इति विशेषावश्य  
कभाष्यरचन, मन पर्यवज्ञानस्य पर्यवसितलक्षण मत्यादिज्ञानचतुष्टयस्याऽ-  
सर्वार्थविषयकत्वनिगमनञ्च ।

२३७-१७

१७-१ असर्वार्थविषयकत्वा मत्यादिज्ञानचतुष्टयस्य विभागो युज्यते सर्वार्थविषयक  
त्वात्केवलज्ञानदर्शनयोर्विभागो न युज्यत इत्युपपादकतया "तद्वा चउञ्चि  
भागो जुञ्जइ" इति सप्तदशी गाथाऽनूतारिता ।

२३७-२२

२ तत्तत्स्योपशमरूपकारणभेदाच्चतुर्णां मत्यादिचानाना विभागो युज्यते, जिनाना  
न केवलज्ञानदर्शनविभाग, सकलत्वानावरणत्वानन्तत्वाऽक्षयत्वम्यो हेतुहेतु-  
मद्भावमापन्नेभ्य इत्यर्थे स्पष्टतया व्याख्यातः ।

२३७-२६

३ अक्रमोपयोगद्वयात्मक एक एवोपयोग, तत्रैकत्वं व्यक्त्या ब्यात्मरूपञ्चाशिरुजात्यन्तर-  
रूपत्वमित्येके, अपरे व्याप्यवृत्तिजातिद्वयरूपत्वम्, उपाध्यायाः केवलत्वमावरणशयात्,  
ज्ञानत्व जातिविशेष, दर्शनत्वञ्च विषयताविशेष इति भाटुरिति मतभेदोक्ति । २३८-१२

१८-१ ग्रन्थकृत स्वपक्षे आगमनिरोधपरिहारिणी 'परत्रचव्यपम्खा' इति अष्टादशी गाथा । २३८-१७

२ परवक्तव्यपक्षेभ्यः युगपज्जानानुत्पत्ति नागृहीतनिशेषणा विशिष्टबुद्धिरित्या  
द्यभ्युपगमेभ्योऽभिना 'ज समय पामइ नो त समय जाणइ' इत्यादिद्वयेषु  
अभ्युपगमा प्रतिभासन्ते, किन्तु सामर्थ्येनैव तेषां सूत्राणां व्याख्यानं नरु-  
करोतीत्यर्थो भावश्च प्रकटीकृतः ।

२३८-२०

३ परत्रचव्यपम्खेति गाथा प्रकारान्तरेणावतारिता, ज्ञानविन्दौ यशोविजयो  
पाष्यायै कृतं तद्व्याख्यानमावेदितम् ।

२३९-४

१९-१ मन पर्यावज्ञान विशेषमेव गृह्यदुत्पद्यते इति तज्ज्ञानत्वेनैव सूत्रे निर्दिष्ट,  
अक्रमद्वयात्मकैकैवल्योपयोगस्य तु एतत्वेऽपि सामान्यविशेषोभयग्रहणोन्मु-  
खत्वेन केवलज्ञानेन केवलदर्शनत्वेन च भिन्नप्रकारेण सूत्रे निर्देश इत्युपपा-  
दकतया "जेण मणोविसयगयाण" इत्येकोनविंशतितमा गाथाऽनूतारिता । २३९-२८

२३९-२८

२ यस्मात् मनोविषयगताना द्रव्यजाताना विशेषात्मकत्वेन सामान्यविषयक  
दर्शनं नास्ति, यद्वा दर्शनपदग्राह्यसामान्यभावान्मुप्यतया तद्ग्राहि दर्शन  
नास्ति, तस्मान्न मनःपर्यावज्ञान ज्ञानमिति सूत्रे निर्दिष्ट, केवल तु सामान्यविशेषो-

अङ्काः

विषयाः

पृ० पङ्क्तिः

भयविषयकैकोपयोगरूपत्वादुभयात्मकमेकमेव, 'केवलनाणे केवलदर्शणे' इति सूत्रमपि धर्मभेदेन धर्मिभेदप्रतिपादनपरमेव, न तु वस्तुगत्या धर्मिभेदप्रतिपादनपरमित्यर्थो भावश्च दर्शितः ।

२४०—७

२०-१ सूत्रे उभयरूपत्वेन परिपठितत्वाद्दुभयरूप केवल, न तु क्रमिकरुमाभ्रया क्रमेणोत्पादात् एकरालानभिन्नसामग्र्या युगपदुत्पादाद्वा तथेत्युपदर्शकतया निश्चितमगाथाञ्चतारिता ।

२४०—२०

२ 'चक्षुश्चक्षुरवधिकेवलाणा' इति गार्थार्थः, चक्षुश्चक्षुरवधिकेवलाना 'कइ विहेण भते' इत्यादिसूत्रेण आगमे दर्शननिरूपा. परिपठिता, तस्मात्केवलज्ञानदर्शने ते भिन्ने इति, केवल ज्ञानमध्ये पाठात् ज्ञानमपि, दर्शनमध्ये पाठाच्च दर्शनमपीत्येकमेव तत्त्वदेन व्यनहार्यमिति परिभाषामात्रमेतत् ।

२४०—२५

२१-१ सामान्यविशेषाजहदृश्येकोपयोगरूपतया ज्ञानत्व दर्शनत्व चेत्येकदशिमतोपदर्शकतया "दक्षणाग्रहमेत्त" इत्येकविंशतितमगाथाञ्चतारिता ।

२४१—४

२ दर्शनमग्रहमात्रे, घटोऽयमित्याकाराभिलाषो ज्ञानं भन्त्युपचारात्, यथा गतिज्ञाने, तथा केवलयोरपि, एतान्मात्रेण तु विशेषः, एकमेव केवल सामान्यादौ दर्शन विशेषादौ च ज्ञानमित्यर्थो दर्शितः ।

२४१—९

२२-१ एकदेशिनः क्रमिकभेदपक्षदूपकत्वपरा "दक्षणापुञ्ज नाण" इति द्वाविंशति तमा गाथा ।

२४१—१८

२ दर्शन माक् पश्चाज्ज्ञानमित्येव पूर्वापरीभार-छाद्मस्थिकोपयोगावस्थाया भवति, न चाय क्रमः केवल्युपयोगावस्थाया, तत्र पूर्वं केवलज्ञानस्यैव भावात्, ज्ञाननिमित्तकं तु दर्शनं कुर्यापि नास्ति, तेन सुविनिश्चिनुम. केवलनि ज्ञानदर्शने प्रमापादितभेद न भजत इत्यर्थो दर्शितः ।

२४१—२१

२३-१ मतिरूपे बोधे अवग्रहमात्र दर्शनमित्येकदशिमताऽयुक्तत्वपरतया "जइ ओग्ग-हमेत्त" इति त्रयोविंशतितमगाथाञ्चतारिता ।

२४२—७

२ यदि मत्यरबोधे अवग्रहमात्र दर्शनामिति विशेषित ज्ञानमित्युपगम्यते एव सति मतिज्ञानमेव दर्शनं प्राप्तं भवति, तथोपगमे "कइविहेण भते" इत्यादि प्रज्ञाप नैकोनविंशत्तमोपयोगावस्थापदाद्यस्य निरोधः प्रसक्त इत्यर्थः ।

२४२—१०

३ मतिज्ञानमेवावग्रहात्मना दर्शनम्, अपायात्मना च ज्ञानमित्येकदशिमतदूपण-परत्येनोक्तगाथाया अनतरणान्तरम् ।

२४२—२२

अङ्काः

रिषयाः

पृ० पं.

- ४ “उगहमिच्छं” इत्यादिपाठमत्रलभ्य ज्ञानमिदुसम्मतोऽर्थो दर्शितः । २४२-२६
- २४-१ “एव सेमिदियदसणम्मि” इति चतुर्विंशतितमगाथा तदर्थश्च, शेषेन्द्रिय दर्शनेष्वपि मतिज्ञानमेव दर्शने स्यात्, न च तद् युक्तम्, पूर्वोक्तस्य परिपोषात्, अथ तेषु ज्ञानमात्रं गृह्यते, चक्षुष्वपि तथैवास्त्विति विनेचितम् । २४२-२९
- २५-१ शास्त्रे चभुर्दर्शनादिप्रवादकारणोपदर्शकतया “नाणमपुट्टे” इति पञ्चविंशति तमगाथाऽवतारिता । २४३-११
- २ असृष्टेऽर्थे चभुर्जन्यज्ञानमेव चक्षुर्दर्शनं, चाश्रुपतानावरणचाक्षुषदर्शनावरणकर्मणो प्रत्यक्षमते एकैव कार्यमेदत् उपाधिभेदतश्च भेद, तत्र प्रयुक्तं ‘चभुर्दर्शनं विज्ञानमिति स्तुतिगतवचनं प्रमाणम् । २४३-१४
- ३ अतीन्द्रियपरमात्वादिनिषयमानसज्ञानमचभुर्दर्शनम्, लिङ्गजन्यातीतानागतमपि यकज्ञानं भुक्त्वा, एतदुपलक्षणं भावनात्रयज्ञानातिरिक्तपरोक्षज्ञानमात्रस्येति । २४३-२१
- २६-१ मन पर्यायज्ञाने दर्शनलक्षणातिप्रसङ्गपरिहारपरतया ‘सणपञ्जनाण’ इति षड्विंशतितमगाथाऽवतारिता । २४४-४
- २ मन पर्यवज्ञानं दर्शनं स्यादित्यतिप्रमङ्गापादनं १ युक्तम्, मनोद्वयार्थग्राहकत्वेन प्रवर्तमानस्य तस्यासृष्टघटाद्यर्थनिषयकत्वाभावादिति तज्ज्ञानरूपमेव मन पर्यवज्ञानी घटादिकमनुमानेनावगच्छतीत्यत्र “तेणावभासिए” इति भाष्यं प्रमाणम् । २४४-८
- २७-१ ‘मइमुपनाणमिच्छो’ इति सप्तविंशतितमगाथा, भवितुश्चतुर्ज्ञाननिमित्तं छद्मस्येऽर्थोपलम्भो भवति, तयोरेकतरिमन्त्रपि दर्शनं न सम्भवतीति दर्शनाभाव इति तदर्थं । २४४-२३
- २८-१ असृष्टेऽर्थे भवतः श्रुतस्य किञ्च दर्शनन्वमित्याशङ्कानिरुत्यर्थतया “ज पच्च क्वमगहणं” इत्यष्टाविंशतितमगाथाऽवतारिता । २४५-१
- २ श्रुतज्ञानममिता अर्था प्रत्यक्षेण न गृह्यन्ते, तस्माच्छ्रुतज्ञानम्यावज्जत्वाभावात् रोक्षार्थग्राहकत्वाच्च सत्रलेऽपि श्रुतज्ञाने प्रत्यक्षशब्दो न प्रवर्तते श्रुतज्ञानं दर्शनशब्दवाच्यं न भवतीति व्यञ्जनावग्रहाविषयार्थप्रत्यक्षतः दर्शनत्व, अचक्षुर्दर्शनमित्यत्र ननर्थं ‘पुट्टे दास’ अप्राप्यकारित्वेन चक्षुषा सादृश्यं मनसि, न श्रोत्रदौ, तत्र ‘पुट्टे सुणेइ सइ’ इत्यावश्यकसूत्रोक्तिः प्रमाणम् । २४५-४
- २९-१ ध्यवहारतः प्रत्यक्षत्वाभावादवधिदर्शनं न स्यादित्याशङ्कामभाधानरूपतया “ज अपुट्टा भावा” इत्येकोनविंशतितमगाथाऽवतारिता । २४५-२६

अङ्काः

विषया

पृ० पं

२ यस्मादस्पृष्टाः परमात्वादयोऽत्रधिज्ञानप्रत्यक्षविषया भवन्ति तस्मादवधिज्ञाने दर्शनशब्दोऽप्युपयुक्तः, दर्शनलक्षणे साव्यवहारिकप्रत्यक्षपारमार्थिकप्रत्यक्ष साधारणप्रत्यक्षत्वान्छिन्नं प्रविष्टमित्यर्थः ।

२४६—१

३०—१ अवधिज्ञान इव केवलज्ञानेऽप्युत्तलक्षणमयाहनमित्यावेदकतया 'जं अपुष्टे भावे' इति त्रिंशत्तमगाथाऽत्रतारिता ।

२४६—११

२ यस्मात् अस्पृष्टान् भवान् नियमात् केवली जानाति पश्यति च, नस्मात्तज्ज्ञान दर्शनञ्चोभयरूपमत्रिशेषतः सिद्धम्, एतद्भानार्थश्च दर्शितः ।

२४६—१५

३ ज्ञानविन्दौ मनःपर्यायज्ञानस्य दर्शनत्वाभावनिएङ्कनमऽत्रावेदितम्, तद्भानार्थ दर्शितः ।

२४६—२३

३१—१ आत्मक एक एव केवल्योपयोग इति फलितस्य स्वमतस्य निगमनपरतया 'साई अपञ्जसिय' इत्येकत्रिंशत्तमगाथाऽत्रतारिता ।

२४७—७

२ पूर्वोक्तनीत्या केवलान्नोद्यो द्वयात्मक एक एवेत्यभ्युपगमे स्वसमयः, अन्यथा परसमयः इति तात्पर्यार्थिसुपदर्श्याभयस्यरिक्तोऽर्थ आवेदितः ।

२४७—१०

३२—१ भावतो जिनोक्ताखिलतत्त्वविषयसमूहालम्बनश्रद्धानलक्षणसम्यग्दर्शनमपि भतिज्ञानस्यैनापायाशरूपमेव, पृथग्विभागादिप्रक्रिया गौडपन्यायात्, सम्यग्दर्शनत्व जातित्रिशेषो विषयतात्रिशेषो वा, तद्वच्छिन्ने दर्शनावरणक्षयोपशमा-नामेकशक्तिमत्त्वादिना हेतुत्वमिति ज्ञानावरणविशेष एव दर्शनावरणमित्यभि प्रायकृतया "एत्र जिणपण्णे" इति द्वात्रिंशत्तमगाथाऽत्रतारिता तदर्थश्च दर्शितः । २४७—२०

३३—१ यस्मिन् रुचिरूप दर्शनं तस्मिन् सम्यग्ज्ञानमस्ति न वेत्याशङ्कानि शृचिपरतया "सम्मन्नाणे णियमेण" इति त्रयस्त्रिंशत्तमगाथाऽत्रतारिता ।

२४८—४

२ सम्यग्ज्ञाने नियमेन सम्यग्दर्शनं, दर्शने तु विकल्पनीय सम्यग्ज्ञान सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शनञ्चार्थापत्तिसिद्धम्, यद्वा सामान्यदिक्मेवोपपन्न भवतीत्यर्थो दर्शितः । २४८—९

२४८—९

३४—१ केवलज्ञानावरणक्षयकारणादुपजायमानत्वात्सादि केवलज्ञान, पुनरुत्पादविना शानात्मकत्वादपर्यवसित तदित्येवन्मननिरासपरतया "केवलज्ञान साई" इति चतुस्त्रिंशत्तमगाथाऽत्रतारिता ।

२४८—२१

२ केवलज्ञान साद्यपर्यवसित क्षत्रे दर्शितमित्येतावन्मात्रेण गर्विता केचन सन्तमपि पर्यवसितत्वादिक नामभ्युपगच्छन्ति, न सम्यग्ज्ञानदिनस्ते इत्यर्थः ।

२४८—२९

- अङ्काः विषयाः पृ० पं.
- ३५-१ "जे सपयणार्हया" इति पञ्चत्रिंशत्तमगाथा, तद्भानार्थस्तु वज्रपभनाराचसहननादय  
 ये भवस्यकेरलविशेषपर्यायास्ते सिद्धस्वरूपानाप्तिसमये न भवन्ति, भवस्य  
 केवलज्ञानपर्यायतया केरलज्ञान विध्वस्त भवतीति दर्शितम् । २४९-३
- ३६-१ 'सिद्धत्तणेण य पुणो' इति पट्त्रिंशत्तमगाथाया अवतरणद्वयम् । २४९-१८
- २ सिद्धत्वेनात्मकर्मसर्वांशपृथग्भात्रलक्षणेन पुनः सिद्धस्यकेवलज्ञानाख्याज्यपर्याय  
 उत्पन्नं केवलमार्गं त्वज्येक्ष्य क्षत्रे केरलज्ञानमपर्ययसितमिति दर्शितमित्यर्थः । २४९-२६
- ३ केरलज्ञानम्य साद्यपर्ययसित्वादिऋ तत सप्तभङ्गी प्रवृत्तिस्तत्रेति भावितम् । २५०-९
- ३७-१ जीवोऽनादिनिधन' केरलज्ञानं तु पुनस्साद्यपर्ययसितमित्यत्रैव विरुद्धधर्माध्या-  
 सात्तयोर्भेदे कथं केरलज्ञानस्यात्मस्वरूपतामाश्रित्य तस्योत्पादनिनाशाभ्यां  
 केरलज्ञानस्य तौ भवत इत्युपपादनमित्याशङ्कापरतया 'जीवो अणाहनिहणो' इति  
 सप्तत्रिंशत्तमगाथाञ्ज्वतारिता । २५०-१९
- २ जीवोऽनादिनिधनः केरलज्ञानं तु सादिकमनन्तम्, इति स्मूलमुद्विगम्ये विरु-  
 द्धधर्माध्यासे सति तयोरत्यन्तभेदात् कथं जीवस्वरूप केरलज्ञान  
 भवेदित्यर्थः । २५०-२६
- ३८-१ "तम्हा अण्णो जीवो" इत्यष्टत्रिंशत्तमगाथा, जीवज्ञानादिपर्याययोर्विरुद्धधर्मा-  
 ध्यासात्लक्षणभेदाच्चाण्योऽयं भेद इति केचिद्याख्यातारोऽभ्युपगच्छन्तीत्यर्थः । २५१-४
- ३९-१ एतन्मतखण्डनपरम् "अहं पुण पुञ्जपयुत्तो" इत्येकोनचत्वारिंशत्तमगाथा, अयं  
 पुन द्रव्यपर्यायैकान्तभेदाभेदवादस्य प्रतिषेधलक्षणोऽर्थो 'द्रव्यं पञ्जरविउय'  
 इत्यादिना पूर्णं प्रयुक्तो यद्यपि तथाप्युदाहरणभिदमिति वक्ष्ये इत्यर्थः । २५१-१३
- ४०-१ उदाहरणोपदर्शिका 'जहं कोइ सड्डिवरिसो' इति चत्वारिंशत्तमगाथा, यथा  
 कश्चित्परायुष्कमाश्रित्य पण्डित्वात् पुरुषं त्रिंशत्तमस्मन् नराधिपो जात,  
 उभयत्र मनुष्ये राजनि च जातशब्दो र्पणविभाग दर्शयति इत्यर्थः, तद्भाना  
 र्थश्च प्रपञ्चितः । २५१-२४
- ४१-१ जीवद्रव्यम्य केरलित्वपर्यायो विशेष इत्युपनयपरा "एण जीवद्रव्य" इत्येक-  
 चत्वारिंशत्तमगाथा । २५२-२०
- २ पूर्वोक्तदृष्टान्तनीत्या जीवद्रव्यमनादिनिधनं यस्माद्विशेषितम्, सानसदृ-  
 शास्तु केरलित्वपर्यायं ऊर्ध्वतामामान्यात्मकनीन्द्रव्यम्य विशेष इत्यर्थं  
 उपपादितं, तत्र उपदेशरहस्यनन्दिस्त्रयवचनगर्भता च विचारपुष्टयर्थम् । २५२-२२



अङ्काः

विषयाः

पृ० पं०

४२-१ नैकान्ततो द्रव्यं पर्यायेभ्यो भिनमेवेत्युपदर्शिका " जीवो अणाहनिहणो " इति द्वित्रित्वारिंशत्तमगाथा ।

२५३-२७

२ अनादिनिधनो जीवो विशेषविरुलो जीव एवेति न वक्तव्यम्, यस्मात्पुन्या युक्त्वा जीवो देवायुक्त्वा जीवाद् भिन्न इत्यर्थः, भाषार्थश्च प्रदर्शितः, द्रव्यपर्यायोभयात्मक वस्त्विति निगमित च ।

२५३-३०

४३-१ जीवकेवलज्ञानयोः कथञ्चिदेकत्वात्तयोर्मिथो धर्मसंक्रम इति प्रतिपादकतया "संखेज्जमसखेज्जं" इति त्रित्रित्वारिंशत्तमगाथाऽनन्तरिता ।

२५४-१८

२ द्रव्यार्थिरूपपर्यायार्थिरुनपरिपक्षाभेदेनात्मन एकरुंयेयासंरयेयरूपत्वात्कथञ्चिच्च दभिन्नमपि केवलमेक संरयेयमसंरयेयश्च, ज्ञेयानन्त्यात्तदग्राहितयाऽनन्तपर्याय केवलम्, तदभिन्नात्माप्यनन्तपर्याय, केवलज्ञानान् जीवपर्याया रागद्वेषमोहा अपि तथा, अत्र 'एगे भं दुवे भं' इति सूत्र सवात्कम् ।

२५४-२४

३ केवलज्ञानकेवलदर्शनोपयोगद्वययोगप्राभ्युपगन्तृश्रीमिच्छादिमत-तत्र मिक्त्वाभ्युपगन्तृजिनभद्रगणिप्तमाश्रमणमत-तद्द्वयाभेदोत्तरीरुतृसिद्धसेनदिवाकरमताना यान् प्रति प्रदर्शनस्यानाभ्यरुत्वं यान्प्रत्यावश्यरुत्त तदुपदर्श्यं तद्विवेकोपदर्शनावतार ।

२५५-२५

४ परस्परविरुद्धस्वरित्रयमतेऽनेकरुत्तैर परस्य प्रामाणिकत्वेन तद्भिन्नपक्षद्वयस्या

ईच्छासूत्राधिततया तदभ्युपगन्तृणा मिथ्यात्वमङ्ग इत्यागङ्गाया अपाकरणम् ।

२५६-१२

५ "नत्थि नएहिं विहृणं सूत्त" इति सिद्धान्तवचनाचचनयेन तत्तस्य प्रवृत्तमिति तत्तन्नयाभिज्ञस्वस्वयुरुत्तमप्रायाविच्छिन्नतत्तन्नयगर्भवाचनाप्रवाहायाताम्बुयोऽपि सूरिपक्षा प्रमाणकोटिप्रविष्टा इति तेषां सूरीणां केषामपि नापसिद्धान्तोक्त्या मिथ्यात्वप्रसङ्ग इति भाषितम् ।

२५६-२१

६ क्रजुध्वननयाभिप्रायमजलन्ध केवलज्ञानकेवलदर्शनकमिमेत्पाद प्रतिपादयन्ति जिनभद्रगणिप्तमाश्रमणा ।

२५६-२५

७ भेदाभ्युपगन्तृव्यवहारनयाभिप्रायमाश्रित्यैकममया विच्छिन्नोत्पत्तिकेवलज्ञान केवलदर्शनभेद प्रतिपादयन्ति मल्लयादिनः ।

२५७-१

८ अमेदाभ्युपगन्तृमङ्गप्रहनयमाश्रित्य ज्ञानत्वदर्शनत्वोपाधिमेजादुभेदेऽपि व्यक्त्या केवलज्ञानकेवलदर्शनयोरेक्यमामनन्ति श्रीमिच्छसेनदिवाकरा इति नैकस्मिन्नपि सूत्रिवरे आभिनिवेशिकमिथ्यात्वमङ्ग इति ।

२५७-६

- अङ्काः विषयाः पृ० पं.
- ९ प्राचा वाचामित्यादिसप्तपदैर्ज्ञानविन्दौ श्रीयशोविजयोपाध्यायैरुक्तमतत्रयेऽपि तत्तन्त्रयापेक्षाभेदप्रयोज्य ग्रामाप्य प्रतिपादितम्, तेपा क्रमेणार्याशोक्ता । २५७-२०
- १० द्वितीयकाण्डात्ते टीकाकृता नयपद्यानि कृतानि, तत्र प्रथमपद्ये यथैकस्मिन् ज्ञाने कणभुग्मतेऽशभेदेन प्रमात्वाप्रमात्वयोर्न विरोधः तथा पृथगपेक्षात एकस्मिन् ज्ञाने प्रमात्वप्रमाणत्वयोरपि न विरोध इति दर्शितम् । २६३-३
- ११ द्वितीयपद्ये केवलज्ञानदर्शनोत्पत्तौ त्रयोऽपि स्वरिपक्षा नयस्यत्रकुष्ठधिया विरुद्धा इव मामन्ते, स्रनयानुयोगविदुषा तथ्या इति । २६३-७
- १२ अर्बुदादौ चतुरुत्तरद्विसहस्रमितेऽन्द्रे काण्डोऽयं सम्पूर्ण इति तृतीयपद्ये दर्शितम् । २६३-१६
- १३ पञ्चमादिपद्यरथेण द्वितीयकाण्डात्तममङ्गलरूपाह्वैस्तुतिविशेषणपदगर्भतया टीकाकृता स्वनाम-स्वशिय-प्रशिष्यनामोद्बुद्धनं कृतम् । २६३-२८
- १४ स्वगुरुवरश्रीनेमिघरिस्तुतिरूपेऽष्टमपद्ये विशेषणाऽन्तर्गततया दर्शनस्यार्थघट स्रिनामोल्लेखः कृतः । २६४-१
- १५ नवमपद्ये यातुद्दिश्यैप यत्नो न, यञ्चोद्दिश्यैप यत्नः कृतः तत्परदर्शनम् । २६४-५

॥ इति द्वितीयकाण्डस्य विषयानुक्रमणिका समाप्ता ॥

॥ अथ तृतीयकाण्डस्य साऽऽरभ्यते ॥



- १-१ मधुपुरीपुरस्थश्रीवीरप्रभो' स्तुतिलक्षणं मङ्गलम् । २६५-५
- २ "सामण्णम्मि विसेसो" इति प्रथमगाथायाः प्रमेणान्तरणद्वयम्, तत्र सामान्य विशेषणयोस्न्योन्यानुस्यूतत्वप्रतिपादकं तृतीयकाण्डमिति । २६५-१३
- ३ "सामण्णम्मि विसेसो" इति द्वितीयगाथाव्याख्यानम् । २६५-१९
- ४ सामान्यविशेषणयोस्न्योन्यानुस्यूतत्व भावितम् । २६६-११
- २-१ "एगंतणिच्चिसेसं" इति प्रथमगाथाऽवतरणम्, तत्र सामान्यविशेषणयोरेकान्त-मिहत्वाभ्युपगमे प्रत्यक्षादिप्रमाणनिरोधोऽनिष्टापादनञ्च । २६६-१९
- २ "एगंतणिच्चिसेसं" इति द्वितीयगाथाव्याख्यानं, तत्र सामान्यस्य निर्विशेष त्वे द्रव्यस्य स्वपर्यायनिवृत्तिप्रमङ्ग आवेदित । २६६-२४

- ३ आत्मनो द्रव्यपर्यायोभयरूपत्वोपपादिका “ न द्रव्यमेव तदसौ ” इति स्वप्न-  
खाद्योक्तिः । २६७—३
- ४ विशेषस्य निस्सामान्यत्वे पर्यायस्य स्वद्रव्यनिवृत्तिप्रमङ्ग उपपादितः । २६७—५
- ५ भिन्नयुद्धिग्राह्यत्वेन द्रव्यपर्याययोरेकान्तभिन्नत्वाशङ्का प्रत्यभिज्ञापमाणवलेन  
तयोः कथञ्चिद्भिन्नाभिन्नत्वव्यवस्थापनेन व्युदस्ता । २६७—१३
- ६ वस्तुमानस्य सामान्यविशेषोभयात्मकत्वनिगमन, तत्र ‘तत्सामान्यविशेषाख्येति’  
स्याद्वादरत्नाकरपद्यसंवादः । २६७—२४
- ७ तृतीयकाण्डप्रतिपादनीयं पूर्वमेवानेकगाथाभिः प्रतिपादितमिति पिष्टपेषण  
कल्पत्वाभारम्भणीयं तृतीयकाण्डमिति प्रश्नप्रतिविधानम् । २६७—२७
- ८ तत्र नैयायिकैर्नैयायिकान्तरयोगवेदात्तिशौद्धा अपेक्षामेवेन तदतत्त्वभावमनेका-  
न्तमभ्युपगच्छन्तोऽप्यनेकान्ततत्त्वे प्रत्यक्षादिविरोधमुद्गापयन्ति, तत्परिहारायानेकधा  
क्रियमाणमनेका तत्तत्परिहरणं न दोषग्रहमिति प्रतिविधानान्तरम् । २६८—१
- ३—१ “पञ्चुष्पन्नं भावं” इति तृतीयागाथाऽन्तरणम्, तत्र आयक्षिकरचनमाप्तस्य,  
एकान्तवचनमनाप्तस्य, अथा सामान्यविशेषाद्यनेकान्तप्रतिपादक वच आप्तस्य,  
इतरदितरस्येति । २६८—१४
- २ पञ्चुष्पन्नं भावमिति तृतीयागाथाविवरण, तत्र वर्तमानपर्यायस्यातीतानागत  
पर्यायाभ्यां द्रव्यरूपेण समन्वयवचन सर्ववचनमन्यदनाप्तवचनमिति दर्शितम् । २६८—२२
- ३ वर्तमानपर्यायस्यातीतपर्यायात्मकत्वे सत्कार्यवादापचित्साप्ताज्य, तत्र च दोष  
प्रसञ्जनमिति प्रश्नः । २६८—२७
- ४ तथा वर्तमानपर्यायस्य भ्रिप्यत्पर्यायात्मकत्वे दोषापादानम् । २६९—७
- ५ कथञ्चित्सदसत्कार्यवादाभ्युपगमेन दोषामारप्रतिपात्तकृत्प्रश्नप्रतिविधानम् । २६९—११
- ६ कथञ्चित् सदसत्कार्यवादानुपगमे उपादानकारणत्वस्य दुर्घटताऽऽवेदिता नैयायिकोपगतो  
पादानत्वखण्डनेन । २६९—१३
- ७ यद्यत्कूर्तद्रूपात्मकं तत्तन्बोपादानकारणमिति यौद्धमतस्य खण्डनम् । २६९—१८
- ८ वर्तमानपर्यायस्य भ्रिप्यत्पर्यायात्मकत्वे भ्रिप्यतो वर्तमानकाले उपलब्धि  
प्रसङ्गदोषस्यापाकरणम् । २६९—२६

- ९ कारणस्य कथञ्चित्सजननस्वभावो निगमितः । २६९-२६
- १० असत्कार्यवादे कारणाभावादेव शशङ्कादेरसतो नोत्पत्त्यापादनमिति नैयायिक-  
द्रूपणप्रतिविधानाशङ्का खण्डिता, अत्र पूर्वपक्षप्रतिविधानाभ्या विचारः पल्लवितः । २६९-२८
- ११ प्रत्यक्षप्रमाणसिद्धोऽसद्वादो वैकल्पिक सदसद्वाद मिथ्यात्वेन गमयतीत्यत्र  
सविदेव भगवतीति यन्नैयायिकेनोक्तं तद् सविद्रोऽपि कथञ्चिद्भेदाभेदाद्-  
मन्तरेणानुपपत्तिरित्युपपादनेन खण्डितम् । २७०-१६
- १२ आत्मज्ञानयो' कथञ्चिद्भेदाभेदाभावेऽपि समवायनलाद् गुणगुणिभाज इति  
नैयायिकोक्तमाशङ्क्य प्रतिक्षिप्तम् । २७०-२१
- १३ एकान्तसत्कार्यवादाशङ्काखण्डनपूर्वक सदसत्कार्यवाद समर्थ्य वर्तमानपर्यायस्याऽव्य-  
व्ययेन त्रिकालास्तित्वप्रतिपादक वचन प्रतीत्य उच्यते इति निगमितम् । २७०-२६
- १४ द्रव्यान्तरनिस्तृतमपि प्रतीत्य वचनमित्यस्योपपादन, तत्र परमाणुपुञ्जव्यतिरि-  
क्तावयविद्रव्याभाज इति यौद्धमते नैबत्, किन्त्वतिरिक्तानवयविद्रव्याभ्युपगन्त-  
न्यायमतेनेति विचारितम् । २७१-२
- १५ तद्यथा प्रतीत्यवचन तथा जैनीप्रक्रिया समाश्रित्य भावितम् । २७१-१७
- १६ समवेतकार्य समवायिकारणे उत्पद्यत इति समवायिकारणमेव तत्राधार इति  
नैयायिकाशङ्कानिरास । २७१-२३
- १७ मृदुपादानाद् घटकार्योत्पत्तिः, तत्र "सामायमेव तव देव तद्दूर्ध्वताख्यम्" इति  
महावीरस्तववचनसवादः । २७१-२५
- १८ सयोगस्य पर्यायरूपत्वे "एगत्त च पुहुत्त" इति उत्तराध्ययनसूत्रं प्रमाणं दर्शितम् । २७१-३०
- १९ कपालद्वयसयुक्तावस्था घटोत्पत्तिः, विभक्तानवयवात्मकनयोत्पन्नकपालद्वयात्मको  
घटनाश्च इति व्यनस्थाप्य मृदुद्रव्यस्योत्पादव्ययध्रौव्यगालित्वेन सद्रूपत्वमावेदितम्,  
तत्र "तेनोत्पादव्ययध्रौव्येति" स्याद्वादरत्नाकरपद्यसवादश्च । २७२-१
- २० द्रव्यान्तरनिस्तृतमित्यस्य व्याख्यानन्तर, तत्र दीर्घतर मध्यमाद्गुलिद्रव्यमपेक्ष्य  
इत्थत्समङ्गुगुणकद्रव्यमित्याद्यपि प्रतीत्य वचनमिति भानितम् एतद्भारार्थश्च । २७२-९
- ४-१ "द्वय जहा परिणय" इति चतुर्थगाथान्तरणम् । तत्र वर्तमानपर्यायस्यातीता-  
दिकालानच्छेदेन सत्त्वे कालत्रयस्यैक्यापादनाशङ्कनम्, तत्परिहारपरं गाथा । २७२-१९
- २ "द्वय जहा परिणय" ति गाथाविरणं, तत्र धर्माधर्माकाशास्तिकाया गति-  
स्थित्यवगाहनोपलम्भकतया परसयोगजपर्यायैश्च, पुद्गलास्तिकावारय परमाश्रादिक

पद्गुणहान्यादिकार्यतया द्वयणुकादिकार्यतया च, जीनास्तिरूपाख्य च मनुष्यादितत्तद्रत्यादिपर्यायतया तत्तदर्थप्राहिज्ञानादिपर्यायतया च कालाख्यञ्च तत्तद्गुणलक्षणपुराणादिभावहेतुतया ऋतुविभागेन समयविभागेन च यत्परिणतं तथैव तस्मिन् समये वर्तमानकालेऽस्तीति दर्शितम् । २७२-२६

३ उक्तार्थे घम्त्थिकाएणं मते !” इति भगवतीव्रत प्रमाणतया दर्शितम् । २७३-५

४ अतीतानागतपर्यायाभ्यां वर्तमानपर्यायस्य द्रव्यार्थिकनपादेशेनाभिन्नत्व पर्यायार्थिकनपादेशेन च भिन्नत्वमिति कथञ्चिद्भिनाभिन्नत्वमिति तत्प्रतिपादकजननस्य प्रतीत्यवचनत्वं निगमितम् । २७३-११

५-१ “परपञ्जर्वेह” इति पञ्चमगाथावतरणम्, तत्रात्मादिपदार्थस्य सदृशपर्यायैरस्तित्व विमदृशपर्यायैर्नास्तित्वमित्युपपादनाय पञ्चमी गाथेति । २७३-२२

२ “परपञ्जर्वेह” इति पञ्चम्या गाथाया निररणम्, तत्र त्रिजातीयज्ञानग्राह्यैः परपर्यायैर्नास्तित्व, सदृशैर्व्यञ्जनपर्यायैरस्तित्व न त्वर्थपर्यायैरित्युपपादितम् । २७३-२७

३ वस्तुमात्रस्याऽभिलाष्याऽनभिलाष्यत्वधर्मद्वयं भिन्नापेक्ष्य, तत्र “अभिलाष्यानभिलाष्यं” इति पद्यसंवादः । २७४-८

४ त्रिकालानुगतव्यञ्जनपर्यायैरेव सर्वस्यास्तित्व न त्वर्थपर्यायैरित्युपपादित, सामान्यमात्रस्य शब्दवाच्यत्वमपाकृतम्, सामान्यमात्रशब्दवाच्यत्वाभ्युपगन्तृमीमासकमतस्य व्यक्तिमात्रशब्दवाच्यत्वाभ्युपगन्तृमतस्य च खण्डनम् । २७४-१७

५ जातिव्यक्त्योरेकान्तमेदपक्षे सम्बन्धाभावाद्विशिष्टबुद्धयनुपपत्तिमुपदर्श्य कथञ्चिद्भेदाभेदपक्षः समर्थितः । २७५-३

६-१ “पच्युष्णमि” इति पट्टीगाथाऽनतारिता । २७५-१५

२ तद्विवरण, तत्र वर्तमानेऽपि पययि द्रव्यं भेदाभेदात्मिका विकल्पपद्धतिमेति, तत्र एकगुणकृष्णत्वाद्यनन्तगुणाना मध्यात्केनचिद्गुणविशेषेण युक्तं तदिति हेतुरुपपादितम् । २७५-२०

३ प्रत्युत्पन्ने आत्मद्रव्यपर्याये कथमनेकात्त्वमेवेति शङ्का प्रतिविहिता, तत्र त्रैलक्ष्य्यमुपपादितम् । २७६-४

४ एकस्याप्यात्मनो द्रव्यात्मरूपायात्मेत्याद्यष्टविधत्वे ‘कश्चिद्वाणं मते ! आया पञ्चा ?’ इति स्रोक्तित्तं सिद्धान्तसिद्धता दर्शिता । २७६-११

७-१ कोन उपायन्तो” इति सप्तमी गाथाऽवतारिता । २७६-२८

- २ उक्तगाथाविवरणम्, तत्र स्वस्मिन् स्वय कोपोत्पादकः पुरुषः परभवप्रादुर्भावपरिणति-  
विशिष्टस्य जीवस्य कारको भवतीति पूर्वोत्तरयोस्तयोः कार्यकारणामनो  
कथञ्चिद्भेद इत्युपपादितम् । २७७—१
- ३ सरागस्यैवात्मनो जन्मेति पूर्वोत्तरभवानुयायिन एकस्यैवात्मनो भावात्कथं भवभेदेन  
भेद इति प्रश्नस्य प्रतिविधानं, विशेषणभेदाद्विशिष्टयोर्भेदोऽपि मुख्यवृत्त्येति  
साधितम् । २७७—८
- ४ एकस्यापि जीवस्य स्वभावभेदाद् भेद उपपादितः । २७७—१७
- ५ परभवजीवात्कोपपरिणतिमापद्यमानस्य जीवस्य सर्वथा भेद एवास्त्विति शङ्का-  
प्रतिविधानं, स्वात्मनैव स्वात्मनि कोपपरिणत्युत्पत्तिरिति निश्चयनयमतमेतत् । २७७—२१
- ६ अन्यस्मिन् जीवे कोपमुत्पादयन् पुरुषस्तस्य कारक इति व्यवहारनयेन व्याख्यान्तरम् । २७७—२८
- ८-१ द्रव्यगुणयो कथञ्चिद्भिन्नाभिन्नत्वममहमानाना मतस्योत्पापकृतयाऽष्टमी गाथाऽ  
वतारिता । २७८—१
- २ “रुरसगंधफासा” इत्यष्टमगाथाविवरणम्, तत्र द्रव्याद् गुणानामसमानग्रहण  
लक्षणत्व भेदप्रयोजकमुपवर्णितम् । २७८—५
- ३ द्रव्यगुणयोरसमानलक्षणप्रतिपादकवैशेषिकसूत्रद्वयमुपदर्शितं, भेदसाधकमनुमानञ्च । २७८—१२
- ९-१ तमतनिराकरणपरतया “दूरे ता अण्णत्त” इति नममीगाथाऽवतारिता । २७८—२०
- २ “दूरे ता अण्णत्त” इति गाथानिवरणम्, गुणगुणिनोरेकान्तेन भिन्नत्वममभा  
वनीय, गुणशब्दः पर्यायभिन्ने गुणे पर्याये वा प्रवर्तते इति परीक्षा कार्या । २७८—२३
- ३ भिन्नप्रमाणग्राह्यत्वमिन्नलक्षणत्वाम्या द्रव्याद् भिन्ने सिद्धे गुणे गुणशब्दः  
प्रयुज्यते इति किं तत्र परीक्षारूपेणेति प्रश्नप्रतिविधानम् । २७८—२९
- ४ रूपवान् घट इत्यादिप्रतीत्या भेदे मतुप्रयोगाद् गुणगुणिनोरेकान्तभेदसिद्धि-  
रित्याशङ्का निराकृता, नित्ययोगेऽत्र मतुप्रविधानम् । २७९—३
- ५ एकान्तभेदे सम्बन्धयोगात् मतुप्रत्ययार्थस्य नित्यसम्बन्धस्य कथञ्चिद्भेदाभेदात्म-  
कस्यैव भानमित्युपपादितम् । २७९—७
- ६ गुणो द्रव्याद् भिन्न इत्यनुमाने घर्मिणो गुणस्य पर्यायात्मकत्वतदनात्मकत्ववि-  
कल्पेन बाधासिद्ध्यादिदोषप्रदर्शनम् । २७९—१४
- ७ द्रव्यं गुणादिभ्यो भिन्न गुणत्वादित्यनुमानं रूपादेरपि सरया मकगुणत्वेन  
व्यभिचारतो व्युदस्तम्, रूपादौ सङ्ख्याप्रतीतेर्भ्रान्तिव्यमपाकृतम्, तत्र वैशेषि-  
काभिमतमुद्भाव्य व्युदस्तम् । २७९—१६

- ८ गुणस्य सर्वाया द्रव्याद्भिन्नत्वेऽन्यथद्वयोत्कृष्टगुरुत्वतोऽन्यथविन्युत्कृष्टतरगुरुत्वोपलब्धिप्रसङ्ग उपपादितः । २८०—३
- ९ वस्तु द्रव्यपर्यायात्मकं, तत्र द्रव्यमनुगतं, व्यावृत्तं पर्यायः क्रमभाविस्तहभाविभेदेन द्विविधः, तत्र क्रमभाविनः पर्याय इति सहभाविनो गुण इति संज्ञेति निगमितम् । २८०—१०
- १० उक्तार्थं महावीरस्तवस्य 'स्वद्रव्यपर्यायगुणानुगता हि तत्रा' इति श्लोकटीका वचनसंवादो दर्शितः । २८०—१६
- ११ आत्मनि क्रमभाविपर्यायाः सुखादयः, सहभाविपर्याया ज्ञानादय इत्यत्र तत्रार्थश्लोककार्तिस्तीकासंवादः प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कारसूत्रसंवादश्च दर्शितः । २८०—१७
- १२ गुणपर्याययोः कथञ्चिद्भेदमभिप्रेत्यैव "गुणपर्यायद्रव्यम्" इति सूत्रसदृशम् । २८०—२५
- १०-१ द्रव्यं पर्यायाश्रित्येव विभागो युक्तो न तु द्रव्यं गुणः पर्यायश्रितिः, गुणस्य पर्यायाद्भिन्नत्वे तृतीयो गुणोऽस्तिरुनयोऽपि प्रभूक्तः स्यादिति प्रतिपादनपरतया दशमी गाथाऽन्तारिता । २८०—३०
- २ 'दो उण णया भगनया' इति गाथास्पष्टीकरणमत्रतरणसमानार्थकम् । २८१—५
- ११-१ भगवता गुणार्थिरुनयो न नियमितः किन्तु पर्यायार्थिक एवेत्यर्थकतया "जं च पुण अरिहया" इत्येकादशी गाथाऽन्तारिता तथैव व्याख्याता च । २८१—१०
- १२-१ "वण्णपज्जेवहि" इति सूत्रे पर्यायशब्देन गुण एव किं नोक्तः स्यादित्याशङ्कासमाधानपरतया "परिगमण पज्जाभो" इति गाथाऽन्तारिता । २८१—१७
- २ उक्तगाथाविवरणम्, तत्र सहभाविभिः क्रमभाविभिश्च भेदैः परिच्छेदः पर्यायः, अनेकरूपतया वस्तुनो ज्ञान गुण इत्येवं तुल्यार्थो गुणपर्यायशब्दौ, तथापि भगवतः पर्यायार्थिरुनयोद्वारेणैव देशनेति पर्यायशब्देनाभिधान गुणपर्यायशब्दयोर्व्युत्पत्तिनिमित्ततौल्येऽपि प्रयुक्तिनिमित्तभेदान्न पर्यायशब्दत्वमिति । २८१—२०
- १३-१ पर्यायशब्दः क्रमभाविधर्मनाचक एव, गुणशब्दश्च सहभाविधर्मनाचक एवेति गुणार्थिरुनयोऽन्यथाऽभगवतोपदिष्ट एवेत्याशङ्कापरतया 'जपति अत्थि समये' इति त्रयोदशीगाथाऽन्तारिता । २८२—१०
- २ उक्तगाथाविवरणं, तत्र "एगुणकालएदुगुणकालए" इति मिद्वान्ते गुणशब्दमयोगात् रूपादिपरिणामो गुणविशेष इति गुणार्थिरुनयोऽपि विद्यत इति शङ्का । २८२—१६
- १४-१ तन्मतिविधानपरतया 'गुणसद्वतरेणावि' इति चतुर्दशी गाथाऽन्तारिता । २८२—२३

- २ तत्र गुणत्वानच्छिन्नराचरुगुणशब्दमन्तरेणापि पर्यायविशेषमर्यावाचकं सः,  
सत्यानशास्त्रधर्मो गुणः, तद्वाचको गुणशब्दः प्रयुक्तो, न तु गुणार्थिरुनवाभिप्रायरुः । २८२-२६
- १५-१ उक्ताधैद्वीकरणार्थतयाऽनवतारिता “जह दममु दसगुणमि य” इति पञ्चदशीगाथा । २८३-९
- २ तत्र दशसु द्रव्येषु दशगुणिते एकस्मिन् द्रव्ये च गुणशब्दाधिस्येऽपि दशत्वं  
तुल्यं यथा, तथा प्रकृतेऽपि, “गुणपर्यायनद्रव्यम्” इति तत्त्वार्थसूत्रे सहभावि  
धर्मवाचकगुणशब्दमभित्याहारात्पर्यायशब्दस्य क्रमभाविपर्यायार्थरूप्यापि गोपलीवर्द-  
न्यायेन भेदप्रतिपादकत्वं न दोषानहमिति न गुणाधिक्यम् । २८३-११
- ३ गुणपर्याययोर्भेदः कल्पनिकः, स चास्तत्तदभेदाविरोधी, कल्पनाचीर्जं तु  
व्युत्पत्तिविशेषाधानम्, अत एव “गुणाणमासौ दन्व ” इत्युत्तराध्ययनरचन  
“दन्वनामे गुणनामे पञ्चवशामे” इत्याद्यनुयोगद्वाराचनं च सङ्गतमिति । २८३-२०
- ४ नाणदंसगद्वयाण दुवे अह इत्यादि भगवतीरचनं गुणार्थिरुनयमतिपादक-  
मित्याशङ्का व्यपाकृता । २८३-२६
- १६-१ द्रव्यपर्याययोरेकान्ताभेदवादिमतोपदर्शकतया “एयंतपम्वनाभौ ” इति  
षोडशी गाथाऽनवतारिता । २८४-३
- २ तद्विवरणम्, तत्र द्रव्याद्येकान्तभेदादः पूर्वमेव यद्यपि निरस्तः, तथापि द्रव्यैका-  
न्ताभेदवाददाढर्थाथं उदाहरणमात्रमुपदर्श्यत इति । २८४-७
- १७-१ “पिउ-पुत्त-णत्तु-भाणिञ्ज” इति सप्तदशी गाथाऽनवतारिता, तत्र द्रव्यव्यतिरिक्तं  
गुणकर्मादिकं नास्ति, यथा पितृपुत्रादयो न पुंसो भिन्नाः, पितृत्वादिकं पुराणेषुपि तदभिन्नं  
तथा द्रव्यवृत्तयो रूपादयो गुणा कर्मापि च द्रव्यादव्यतिरिक्तत्वाद् द्रव्यमेव । २८४-१२
- १८-१ ‘जह संनधविसिद्धो’ इत्यष्टादशगाथाऽनवतारणम्, तत्र अतिरिक्तगुणाभावेऽपि  
चतुरादीन्द्रियसम्बन्धतथाभुपादिप्रत्ययानुबलशक्तिमत्त्वेनैकस्मिन् द्रव्ये रूपसा  
दिव्यपदेशगोचरत्वं, एकरूप्यानेकरुमङ्गाकरणमात्रेण नानात्वं न, एकरूप्यापि गीर्वाण  
नायस्य श्रेत्रादिशब्दैर्व्यवहियमाणत्वेन नानात्वप्रसङ्गादिति । २८५-१
- २ उक्तगाथाविवरणम्, तत्र यथा स पुरुषः पुरुषत्वेनाभिन्नोऽपि पितृपुत्रादि-  
सम्बन्धनिमित्तीकृत्य पुत्रपित्रादिव्यपदेशं प्राप्नोति तथा द्रव्यमिन्द्रियगत  
रूपादिविशेषणं लभते, एतद्भवार्थं आवेदितं, शङ्कान्तरं व्युदस्तम् । २८५-९
- १९-१ एकान्तद्रव्याद्वैतवादाप्राभाष्यनापनाय स्याद्वादसिद्धान्तगणितरूपतया “होत्राहि  
द्वुगुणमद्भुदः” इत्येकोनविंशतितमगाथाऽनवतारिता । २८५-२२



२ उक्तगाथाविवरणं, तत्रैकमेव द्रव्यं यदि रसनासम्बन्धा मधुरादिरसस्य नयनमन्त्र  
न्यात्कृष्णादिरूपस्य च व्यपदेशमाह तर्हि रसतो द्वित्र्यादिगुणमधुर यावदनन्तगुण-  
मधुर रूपतो द्वित्र्यादिगुणकृष्ण यावदन तगुणकृष्ण तद्द्रव्यं कुतस्स्यादिति, पुरुषदृष्टान्तेऽपि  
न त्वल्पको महान् वा भवति सम्बन्धतः पुरुषः, अस्य भागार्थ उपदर्शितः । २८६—२

२०-१ एकान्ताभेदवाद्याशङ्कारूपतया 'भण्डइ संघघमा' इति विंशतितमगाथाम  
वतार्यं तद्विवरणम् । २८६-१३

२ तत्र सम्बन्धसामान्यरशाद्यदि सम्बन्धित्वसामान्यमनुमतं तत्र, तदा सम्बन्ध  
विशेषद्वारेण सर्वधिविशेषोऽपि किं नाम्युपगम्यत इति । २८६-१६

२१-१ तत्समाधानरूपतया 'जुञ्जइ संघघमा' इत्येकविंशतितमगाथामवतार्यं तद्विवरणम्,  
तत्र स्याद्वादिमते सम्बन्धविशेषादिसद्भानात्सम्बन्धविशेषमयुक्तं सम्बन्धविशेषो युक्तः,  
द्रव्यैकान्तवादिमते सम्बन्धविशेषाभावात् सम्बन्धविशेष इति तल्लुतः कुतो  
रूपादिविशेषपरिणाम इति । २८६-२१

२२-१ अनेकान्तवादिमतेऽपि रूपसादेः पद्मगुणहानिदृष्ट्यादिपरिणतिः कथमुपपन्नेति  
पराशङ्कोपदर्शनपूर्वकतादृशपरिणत्युपपादनपरतया " भण्डइ विमपरिणय" इति  
द्वाविंशतितमगाथाऽन्तारिता । २८७—३

२ उक्तगाथाविवरणं, तत्र शीतोष्णस्पर्शत्रिद्विरोधादाप्रफलादिकमेकदा द्विगुणाद्यनन्तगुण-  
षुद्धिहानिरूपविपरिणतिपरिणतं कथं भविष्यतीत्यत्र परनिमित्तं भवति वैषम्यं,  
न वा परनिमित्तमेव तदित्येकान्तोऽस्तीत्युपपादितम् । २८७—७

३ गुणानां साश्रयत्वव्यवस्थापनेन निराधारगुणानुपपत्त्यैकान्तगुणाद्वैतवादनिरसनम्,  
तत्रान्यदपि गुणैकान्तवादिनोऽभिमतमाशङ्क्य व्युदस्तम् । २८७-२३

४ द्रव्यस्य गुणरूपत्वे रूपान्तरं घट इत्यादि मतीतिर्न स्यात्किन्तु रूपं घट इत्यादि  
प्रतीतिरापद्येतेत्यादि उपदर्शितम् । २८८—२

२३-१ भेदैकान्तवाद्यभिमतद्रव्यगुणलक्षणानुपपत्त्युद्भावकतया 'दब्बस्स द्विई' इति  
त्रयोविंशतितमगाथाऽन्तार्यं व्याख्याता । २८८-११

२ तत्र द्रव्यस्य ध्रौव्यं गुणस्वोत्पादविगमाविति लक्षणं केवलद्रव्यस्य केवलज्ञान-  
गुणस्य युज्यत इति त्रिलक्षणत्वं तत्र घटते, न तु द्रव्यस्याप्यादेरिति द्रव्यार्थान्त-  
रभूतगुणमादिवचनव्यमुपपाद्य दर्शितम् । २८८-१४

- २४-१ तदुत्तरतया “द्वयत्यतरभूतया” इति चतुर्विंशतितमगाथाऽनन्ताग्निता । २८८-२८  
 २ तद्विवरणम्, तत्र परमते द्रव्यार्थान्तरभूता गुणा मूर्ता जसूर्ता वेति विकल्प्य  
 उभयत्र दूषणमभिहितम् । २८९-१
- २५-१ “सीसमई विष्कारणमेत्तथोऽय” इति पञ्चविंशतितमगाथाऽनन्तगन्ध, तत्र  
 पूर्वोपवर्णित सर्व विप्रक्षामात्रेण जात्यन्तरात्मके वस्तुनिभेनाभेदाद्यन्तरकथाया  
 अमम्भवादित्येकमत्रतरणम् । २८९-११
- २ आर्हतानामुत्सर्गत. स्याद्वादरूपसप्तभङ्ग्यात्मरूपमाणवाक्यस्य तदेकवास्यता-  
 पन्नतत्तन्नयनाक्रयाना च यथार्थतत्त्वाधिगमकानामभिधानमुचितम् न तु मिथ्या  
 रूपाणामसद्रूपेणाततच्चप्रतिपादकानाम्, तथापि स्याद्वादव्युत्पत्त्याधानाय  
 नयवादेष्वपि प्रवृत्तिरुचिता, असत्ये वस्तुनि स्थित्येति न्यायेन चरन्त्यतोऽस्तरा-  
 नामपि नयाना फलत. सत्यत्वादिति द्वितीयमत्रतरणम् । २८९-१३
- ३ उक्तगाथाविवरण, तत्र विनीतविनेयपुद्बिविकाशमात्रफलकोऽय मत्रघ, अथया  
 स्याद्वादानात्मिका कथा स्वसिद्धान्ते नास्त्येव, अत एव “नैवायधारणी भाषा  
 भाषेत” इति सिद्धान्तोक्त सङ्गतम्, अय निषेध म्यतन्त्रनयप्रिय एवेति दर्शिनम् । २९०-३
- २६-१ “ण वि अथि अणयाभो” इति षड्विंशतितमगाथा यद्वस्तु यद्वर्मान्वित  
 तथैव त प्रतिपादयन्तस्मम्यग्जादिनोऽन्यथा मिथ्याभादिन इत्यर्थकृतयाऽनन्तारिता । २९०-१७
- २ उक्तगाथाविवरण, तत्र जैनसिद्धान्ते गुणगुणिनोरेभान्तभेत्नाद एभान्तामेद  
 वादश्च नास्ति, तावेकान्तेन भिन्नावेव एकान्तनाऽभिन्नावेवेति मन्यमाना भादिनो  
 यथार्थतत्त्वं न जानन्तीत्यर्थे भाषार्थश्च दर्शित । २९०-२३
- ३ सद्युक्तयैतावता प्रवन्धेनानेकान्तनाद एव सिद्धिकोटिं नीत इति प्रतिवाप  
 तद्भानना, तत्र ज्ञानात्मनोर्धैटरूपाशोश्च एकान्तेन मेदम्पाऽभेदस्य च खण्डनम् । २९१-३
- ४ द्रव्यगुणयोर्भेदमिश्रिताभेदसाधनानुमानदर्शनम्, तत्र साध्याप्रसिद्धिदोषा-  
 पाकरणम्, कपिसंयोगमिन्ने वृक्षे कपिसंयोगमेत्साधनात् । २९१-२५
- ५ मेदामेदोभयस्य पक्षे मिद्धितो जात्यन्तरात्मकरन्तुसिद्धि, तत्र ‘स्याद्वादतस्त  
 तु चाक्षमयान्तरङ्गम्’ इति महारारस्तत्रचनसगाद । २९२-३
- ६ परस्परविरादरूपत्वेन निरद्वयोर्मेदामेदयोर्नैकर समावेश इति तन्त्रान्तरी-  
 याऽऽशङ्का तत्र हत्वसिद्धिन्धान्ताऽसिद्धि स्वस्यासिद्धिशङ्कापरिहार । २९२-८
- ७ उक्ताऽऽशङ्कानिराम, पर प्रति विरोधाच्चानसिद्धये विरोधलक्षणपृच्छा, तदुत्तरस्य  
 विरोधलक्षणप्रतिपादनरूपस्य खण्डनम् । २९२-१७

- ८ परप्रतिपादितेश्चोपदोपमुक्ते विरोधलक्षणे स्वसम्मतिः, तथाविधविरोधसङ्घा-  
पेऽपि विभिन्नावच्छेदेन भेदाभेदयोरेकत्र सद्भावा उपपन्नत एवेति, विरोधलक्षणा-  
न्तरस्यापि प्रकृतेऽनुपयुक्तत्व भावितम् । २९३—३
- ९ अनेकान्ततन्नाभ्युपगमे विरोधगपलेशो नास्तीत्यत्र "भिन्नापेया यथैकर" इत्य-  
ञ्घ्यात्मोपनिषद्चनमवादः । २९३—१७
- १० यदवच्छेदेन भेदस्तदवच्छेदेन भेद एव एवमभेद एवेति नैऋतमयरूपम्,  
एकावच्छेदेनोभयस्वीकारे सङ्करप्रमङ्ग इत्यनयोः पराकरणम्, नात्र सद्यथाप्रति-  
पत्त्यादयोऽपि दोषा इत्युपपादितम् । २९३—१८
- ७-१ "भयणा वि ह्यु भयन्वा" इति सप्तविंशतितमगाथाऽनुरणम्, तत्रानेका-  
न्तेऽनेकान्ताभ्युपगमेऽनरस्था, अनेका तेऽनेका तानभ्युपगमे एकान्तत्वप्रसक्तिः,  
तथा च वस्तुत्वहेतौ अनेकान्तात्वसाधकैः अनेकान्ते व्यभिचार इत्याशङ्का । २९३—३०
- २ उक्ताशङ्काप्रतिप्रधान, अनेकान्तेऽनेकान्ताभ्युपगमे नानरस्था, न्यायमते  
तृतीयचतुर्थान्तेऽनेकान्तयोः प्रथमद्वितीयात्पताभावात्मकत्वञ्जैनमतेऽपि  
तृतीयचतुर्थान्तेऽनेकान्तयोः प्रथमद्वितीयान्तेऽनेकान्तरूपत्वादिति । २९४—४
- ३ उक्तगाथाविररणम्, तत्र यथाऽनेकान्तः सर्वद्रव्याणि तदतत्त्वभावात्मकतया  
ज्ञापयति, तथाऽनेकान्तमपि स एकाताऽनेकान्तात्मकतया ज्ञापयति । २९४—१६
- ४ नयापेक्षया तत्रैकान्तर्यं प्रमाणापेक्षया चाऽनेकान्तत्व, 'अनेकान्तोऽप्यनेकान्त-  
इत्युक्तेः', 'रयणपभा सिप सासया' "द्व्यङ्गुयाए मामया" इत्यागमोक्तेश्च । २९४—२३
- ५ अत्र विशेषे 'देशेन देशदर्शनं भजनापये तु' इति खण्डखाद्यश्लोकीकृतोऽवसेयः,  
तत्राऽनरस्थापरिहारोऽन्योन्याश्रयश्च प्रामाणिकः, सामान्यविशेषभावेन सप्तभङ्गी  
द्वयविश्राम इति च प्रदर्शितम् । २९५—३
- ६ प्रमाणत्वमाश्रित्यानेकान्तो नयत्वमाश्रित्यैकान्त इति खण्डखाद्योक्तेरर्थो भावा-  
र्थश्च दर्शितः । २९५—१७
- ८-१ "णियमेण सद्वहो" इत्यष्टाविंशतितमगाथाविररणम्, तत्र पडेऽत जीवा-  
कायाश्चेत्येव श्रद्धायाः परमायतं पट्टकायान् न श्रद्धाते इत्यस्य स्पष्टीकरणम्,  
तथा श्रद्धावानो न भावसम्पत्तिः, किन्तु द्रव्यसम्पत्तिः, तत्र 'अणभिग्गहिय  
कुदिङ्गी' इत्याद्युत्तगाव्यपनवचनमनादः । २९६—९
- २ उक्तार्थे हेतुपदसंज्ञक "हृदी अपजवेसु" इत्याद्युत्तरार्थे, भङ्गात्तरसंवलनरहितेषु  
धर्मेषु श्रद्धाव्यञ्जसंपूर्णा भवतीत्यर्थः, एवञ्चादिप्रकाररहितेषु पट्टेषु कायेषु  
श्रद्धापि सञ्चिता भवतीत्यर्थश्च द्रव्यश्रद्धापरेवसन्ना भवतीति पर्यवसितः । २९६—२५

- ३ तस्याः सक्षिप्तद्वारूपत्वे 'एकविहदुविहतिविहा' इति सिद्धान्तोक्तिः प्रमाणतया दर्शिता । २९७—१
- ४ शास्त्रे सम्पत्त्वस्य द्रव्यभाजमेदेन द्वैत्रिष्य यथा प्रोक्तं तथा विवेचितम्, तत्र 'तुह वयणं तत्तर्ह' इति वचनसमाद । २९७—११
- ५ शुभात्मपरिणामविशेषानुगतं द्रव्यसम्बन्धस्य भाजसम्बन्धमपि न व्यभिचरति, प्रज्ञप्तौ रुचिभेदानां क्षायोपशमिकादिभाजमेदेष्वन्तर्भावितत्वादित्यापक्षिकं द्रव्यभाजसम्बन्धम् । २९७—१९
- ६ 'हृदी अपञ्जनेष्टु' इत्युत्तरार्धस्य व्याख्यानान्तरम् । २९७—२३
- ७ पट्जीवनिर्वायास्तद्घाते चाधर्म इत्यत्रापि सप्तमङ्गीनन्यगोषोत्पत्तितो नाव्यापकत्वमनेकान्तस्येति निगमितम् । २९८—१
- २९—१ अनेकान्तस्य व्यापकत्वे गच्छति तिष्ठत्यादन्वियमो न स्यादित्याशङ्कोद्वरणार्थ-परतया 'गङ्परिणय गङ् चैत्र' इत्येकोनत्रिंशत्तमगाथाऽन्यतरिता । २९८—४
- २ उक्तगाथाविवरणं, तत्र गतिक्रियापरिणतं द्रव्यं गतिमदेवेत्युपगच्छद्भिर्भा-दिभिः प्रतिनियतोर्ध्वादिगतिमदेवाभ्युपेय, तत एव नियत-यनहार, ततश्च विरक्षितप्रतिनियतदिगपेक्षया गतिमत्, अयदिगपेक्षया चाऽगतिमदित्यनेकान्त-स्सिद्धो भवति, भावश्चास्य दर्शितः, तत्र शङ्कान्तरपरिहारश्च । २९८—९
- ३ गतिमत्त्वागतिमत्वयोरपेक्षाभेदेनैकत्र समानेशे गच्छयपि न गच्छतीत्यपि व्यवहारः स्यादित्याशङ्काया इष्टापत्त्या परिहारः, शङ्कातरस्याप्येतेन निरासः, सामान्यविशेषयोः कथञ्चिदभिन्नत्वेन विशेषाभाजस्यापि सामान्याभावत्वमुप-पादानेकान्तो भावितः । २९९—८
- ४ उक्तदिशा स्थितितदभावयोरैकत्रोपदर्शनेन स्थितानप्यनेकान्तो व्यनस्थापितः । ३००—७
- ३०—१ वस्तुमात्रस्य तदतत्त्वभावत्वरूपत्वे दाहानुकूलशक्तिमत्त्वाद्दहन इति स दाहानुकूलशक्त्यभावाद्दहनस्तदानीमेव, तथैव पचनोऽप्यपचन इत्याशङ्काया अपेक्षाभेदेन स्वभावद्वयस्यैकत्रोपपत्तिस्स्यादेवेत्येव परिहाजपरतया 'गुणनिव-त्तिय सण्णा' इति त्रिंशत्तमगाथाऽन्यतरिता । ३००—१०
- २ उक्तगाथाविवरणं, गुणोत्पादितसङ्घातं दहनपचनादयोऽनेकान्तात्मका द्रष्टव्या, यद्द्रव्यं यथा प्रतिपिद्धं तथाऽद्रव्यं भवतीत्यर्थं उपपादितः । ३००—१९
- ३१—१ स्वरूपापेक्षया जीवो जीवः, जजीवोऽजीवः, पररूपापेक्षया जीवो न जीवः, अजीवो नाजीवः इत्येवमनेकान्तात्मकत्वोपपादनपरतया "कुभो ण जीवद्विय" इत्येकत्रिंशत्तमगाथाऽन्यतरिता । ३०१—४

- २ उक्तगाथाविरण, तत्र कुम्भो जीवद्रव्यं न, जीवोऽपि कुम्भद्रव्यं न भवति, तस्माद्द्वावप्यद्रव्यं परस्परव्यावृत्तात्मकौ भवत इत्यर्थो भावार्थश्च दर्शितः । ३०१—९
- ३ अजीरो जीवापेक्षया नाजीर इयुपगमे नब्रूह्यस्य प्रकृतार्थगमरूपत्वेनाजीवस्य जीवत्व प्रसक्तमित्याशङ्काया निराकरणम् । ३०१—१६
- ४ अनेकान्तस्य काल्पनिकत्वेन वस्तुगतसद्दर्माऽसाधकत्वमाशङ्क्य परिहृतम् । ३०१—२०
- ३२-१ 'उप्याओ दुत्रियप्पो' इति द्वात्रिंशत्तमगाथाया अवतरणद्वयं, तत्र भगवता द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयावपेक्ष्य प्रतिक्षणमुत्पादव्ययधौव्ययुक्तजगदाख्यापि त्रिषथा, तत्रोत्पाद' किमेकविध एव उत प्रकारान्तररूपोऽप्यात्याशङ्कामभाधानायेयमिति प्रथमावतरणम् । ३०१—२३
- २ उत्पादादयो विभिन्नप्रतीतिसाक्षिना आधारत्वादिवदतिरिक्ता एव, न त्वाद्यक्षणसम्बन्धादिरूपा, क्षणेऽभावात्, उत्पादादीना घटत्वादिना प्रतियोगित्वं मृत्त्वादिना चानुयोगित्वं, द्रव्ये तु पर्यायोपहितरूपेण प्रतियोगित्वमित्यादिकं व्यनस्याप्योक्तयुक्तिसिद्धातिरिक्तोत्पाद किमेकविध एव किं वा प्रकारान्तररूपोऽपीत्याशङ्कासमाधानायेयमिति द्वितीयावतरणम् । ३०१—२९
- ३ उक्तगाथाविरण, प्रायोगिकरूपासिद्धमेदेनोत्पादस्य द्वैत्रिव्यम्, तयोर्लक्षणम्, तत्राद्यो मूर्तिमद्द्रव्यावयवभारव्यत्वात्समुदयवादोऽपरिशुद्धः, तद्भानश्च दर्शितः, उत्पादस्य प्रयोगजयत्वसिद्धिश्च कृता । ३०२—२४
- ३३-१ द्वितीयमेदरूपविन्नसाजनितोत्पादस्य द्वैत्रियप्रतिपादकतया 'साभावोऽपि समुदयरुओव' इति त्रयविंशत्तमा गाथाऽवतारिता । ३०३—१३
- २ उक्तगाथाविरण, तत्र वैज्ञानिक उत्पाद समुदयकृत एकत्विकश्चेति द्विविध, तत्र समुदयजनितत्वं मूर्त्तानयननियतत्व, आद्योऽभेदधनुरादीनामुत्पादो घटादीनामप्रथमतयोत्पादश्च, स्वाभाविसिद्धे पादे हेतुवपेक्षायामपि प्रायोगिकोत्पादे हेतुपेक्षाधौऽन्यादृष्टादिग्रहणार्था प्रवृत्तिरूपवन्ना, प्राधान्येनोक्तद्वैत्रिव्यव्यवस्थिते. कालादित्तुष-रुणामश्या कार्यनियतत्वं गौणविधयाऽक्षतमेन । ३०३—१६
- ३ विज्ञप्तापरिणामिनो वस्तुन. स्मभान्त एव विनाशशीलत्वमिनोत्पादशीलत्वमपि, उत्पादविनाशयोरिति स्थितेरपि स्वाभाविकत्वमिति तस्य कारणान्तराऽनपेक्षमेव स्वभावप्रयुक्तमुत्पादादित्रयमिति । ३०३—२९
- ४ आकाशादीना त्रयाणां परप्रयय ऐकत्विक उत्पादोऽनियमेन, अत्रापि स्यादैकत्विकः स्यादनैकत्विक इत्यनेकात्, अस्य भावो दर्शितः । ३०४—३

- ५ आकाशादीनामविचलितात्मनामुत्पाद एव नास्ति बुतस्तेषूत्पादानेकान्त  
इति प्रश्नस्य प्रतिविधानम् । ३०४-२५
- ६ आकाशादीनामुत्पादस्यावगाद्यावगाहकादिभ्या निष्पत्ते कथमेकत्विकसज्ञा  
युक्तेत्याशङ्काप्रतिविधानम् । ३०५-२
- ७ तेष्वनैकत्विक उत्पादः कथमिति प्रश्नप्रतिविधानम् । ३०५-१३
- ३४-१ प्रायोगिकवैस्रसिकभेदेन नाशस्यापि द्वैविध्यमित्यर्थकतया “ निगमस्य वि  
एस मिही” इति चतुर्विंशत्तमगायाऽऽस्तारिता । ३०५-१९
- २ उक्तगायानिवरणम्, तत्र नाशस्य निर्हेतुकत्वेन प्रायोगिकविनाश एव नास्तीति  
कथं द्वैविध्यमिति प्रश्नप्रतिविधानम् । ३०५-२२
- ३ भावस्वहेतोर्येत्यद्यमानस्तादृशो भवति येनोत्पत्तिसमनन्तरमेव विनश्यतीति  
प्रश्नप्रतिविधानम् । तत्र शङ्कान्तरप्रतिविधानञ्च । ३०५-२८
- ४ समुत्पन्नजनितैकत्विकाभ्या वैस्रसिकविनाशद्वैविध्यं, तत्र समुत्पन्नजनितविनाशस्य  
समुदयविभागमात्रार्थान्तरभासगमनभेदेन द्वैविध्यमुपपाद्य भासो दर्शितः । ३०६-८
- ५ घटस्य मिनाशो विभक्तकपालकट्टम्यकात्मक इत्यत्र ‘यदुत्पत्तौ’ इत्यादिद्वयद्वय  
प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कारस्य सनादकमुक्तम् । ३०६-२६
- ६ अर्थान्तरभासगमनलक्षणो विनाश उपपादितः । ३०६-२९
- ७ आकाशादीना त्रयाणामुत्पादव्यययोः परनिमित्तकत्वाचाद्युपचारिकानित्याशङ्कायां  
‘उष्पज्जेइ धा’ इत्यादित्रिषद्या भगवता तल्लितयस्वरूप लक्षण जगत पारमार्थिकमेव  
सत्त्वमभिहितमित्याकाशादित्रयमपि तद्रूपतयैव सदिति तेषामपि तयोः पारमार्थि  
कत्वमिति समाधानम् । ३०७-८
- ३५-१ उत्पादव्ययस्थितीनामेकप्रतियोगिनिरूपितत्वेन तद्विशिष्टद्रव्यनिरूपितत्वेन  
वा भिन्नकालता, अतो द्रव्यादर्थान्तरभूतास्ताः, भिन्नप्रतियोगिनिरूपितत्वेन  
तद्विशिष्टद्रव्यनिरूपितत्वेन वा तासामभिन्नकालता, अतो द्रव्यादनर्थान्तरभूतास्ता  
इति प्रतिपादकतया ‘तिष्णिवि उपायाई’ इति पञ्चविंशत्तमगायाऽऽस्तारिता । ३०७-२३
- २ तद्विवरणम्, उत्पादादित्रयोप्यभिन्नकाला भिन्नकालाश्चेत्युपदर्श्यं ते यथा  
भिन्नकाला यथा चाऽभिन्नकालास्तथा विधेचितम् । ३०८-३
- ३ अत एवोत्पादादीना त्रयाणा द्रव्यादर्थान्तरत्व द्रव्यादनर्थान्तरत्व च, द्रव्यस्य  
वोत्पादादित्रिभ्योऽर्थान्तरत्वमनर्थान्तरत्व चोपपादितं, तत्रैककालत्वसाधकम-  
नुमानं, तत्र हेत्वसिद्धिपरिहारश्च । ३०९-२

- ४ अत एव वस्तुमात्रस्याविभक्तद्रव्यपर्यायोभयसंसर्गात्मत्वाद् जात्यंतरत्वं, तत्र  
'नान्वयो भेदरूपत्वात्' इति पद्यसंवादश्च । ३०९-२१
- ५ भिन्नापेक्षोत्पादविनाशयोरेककालत्वरतुनाऽनर्थांतरत्वसाधकमनुमानम्, उक्त-  
दिशा ध्रौव्योत्पादध्रौव्यविनाशात्मरुद्धयेऽनर्थान्तरतोस्तद्देवत्वतद्व्याप्तवलादेव  
भायनीयेति । ३०९-३१
- ७ उत्पादादीनामभिन्नकालत्वम्, भिन्नकालत्वमप्यस्ति, अत एवार्थान्तरत्वम्,  
तत्साधकानुमानप्रयोगश्च दर्शितः । ३१०-४
- ८ स्वात्वादप्रक्रियायामुत्पादादीना भिन्नाभिन्नकालताऽर्थान्तरताऽनर्थान्तरता च  
सिद्धयति, न त्वेकान्तवादप्रक्रियायामिति निगमितम् । ३१०-८
- ३६-१ उक्तार्थस्फटीकरणार्थं प्रत्यक्षप्रतीतोदाहरणप्रतिपादकतया 'जो आउच  
णकालो' इति पट्टत्रिशचमगाथाऽऽतारिता । ३१०-११
- २ उक्तगाथाविररण, तत्र आकुञ्चनप्रसारणयोस्तद्विशिष्टद्रव्यस्य च भिन्ना  
कालत्व, पूर्वोत्तरपर्यायिनाशोत्पादयोरनुगतद्रव्यावस्थितथाभिन्नकालत्व च । ३१०-१४
- ३ आकुञ्चनप्रसारणक्रियाद्वयपरिणतद्रव्यस्य प्रत्यभिज्ञानप्रमाणतोऽभेदव्यवस्था-  
पनेन क्षणिकैकान्तपदार्थत्वादिमतस्वच्छेदमिति दिष्टं । ३११-४
- ४ जलोर्मिवदुत्पादव्ययादिविकारः काल्यनिरु एव, कूटम्यमेव नित्य द्रव्यमिति  
प्रश्नप्रतिविधानम्, द्रव्ये पूर्वापरस्वपर्यायाः प्रतिक्षणं विनश्यन्ति समुत्पद्यन्ते  
चेत्यत्र 'अनाद्यनिधने द्रव्ये' इति पद्यसंवादः । ३११-१९
- ५ पूर्वापरोर्मिभावेन यथा जल परिणमते, तथा तच्चद्रव्यमेव पूर्वापरपर्यायरूपेण  
परिणमते इति परिणामादस्य न्यायत्वप्रसङ्गतम्, उत्पादादीना त्रितोष-  
परिहारश्च कृतः । ३११-२६
- ३७-१ उत्पादादीना प्रत्येकमेकैक रूप योत्पादादित्रयात्मक तथाभूतवर्तमान  
मत्रिष्यत्कालत्रययोगेनाप्येकैक रूपं त्रिकालतामासादयतीत्येतत्प्रतिपादकतया  
'उप्यज्जमाणकाल' इति सप्तत्रिशचमगाथाऽऽतारिता । ३१२-३
- २ उक्तगाथाविररणम्, तत्र उत्पद्यमानमुत्पन्नं विगतं विगच्छद् द्रव्यं प्रज्ञापयन् त्रिकालविषयं  
यथा भवति तथा निशिनटीति गाथार्थो भावार्थश्चावेदितः । ३१२-११
- ३ तत्र व्यवहारनयेनाभिन्नकालानामुत्पादादित्रयाणां प्रत्येकमेकैकमिससर्गितया  
त्रैकाल्यं तेन नयेन यथा प्रतिपाद्यते तथा भाषितम् । ३१२-१८
- ४ उत्पद्यमानं पट प्रथमतन्तुप्रवेशकालावच्छेदेन किञ्चिदसो नोप्यन इत्यसहमानस्य  
नैयायिकत्वाशङ्काऽपाकृता । ३१२-२९

- ५ उत्पद्यमान किञ्चिदशेनोत्पन्नमित्यस्य सनादक 'चलमाण चलि' इति भगवतीश्वरवचनम् । ३१३—५
- ६ उत्पद्यमानस्योत्पन्नत्वमुत्पत्त्यमानत्व यथा तथोत्पन्नस्योत्पन्नमानत्वमुत्पत्त्यमानत्वञ्च भावितम् तथोत्पत्त्यमानस्योत्पद्यमानत्वमुत्पन्नत्वञ्च दर्शितम् । ३१३—१२
- ७ एवमेवोत्पन्नोत्पद्यमानोत्पत्त्यमानभेदाः प्रत्येकशो निगतादिभिः स्थितादिभिश्च समभेदा ज्ञेयाः, एव स्थितिनिगमात्पि । ३१३—१७
- ८ एतेषां भेदानां काल्पनिकत्वं न, प्राज्ञैर्यथार्थतयैराकलनादिति दर्शितम् । ३१३—१९
- ९ अनेन प्रकारेण त्रिकालनिषय द्रव्यस्वरूप प्रतिपात्यद्वाक्य प्रमाणमन्यथा तदप्रमाणमिति निगमितम् । ३१३—२९
- १० अत्रैकाशीतिभेदाः, ते 'पद्मं गृह्यते तदिह घन्तु गृहीतमेव' इति लोकोटीकायामेतद्दीक्षाकर्तृकर्तृकायां प्रदर्शिता, विशेषजिवाभुभिस्ततो विज्ञेया इत्युपदेशः । ३१४—१
- ३८—१ अर्थान्तरभगवन्लक्षणविभागाद्योत्पादयोरेवमात्रात्तन्निष्पन्नाया स्थितेरप्यभावात्तत्रैकाल्य न सम्भवीति चादिन प्रति तदभ्युपगमप्रदर्शनपूर्वकोपदेश परतया "द्वयतरसयोगाहि" इत्यष्टिशतमगाथाऽनारिता । ३१४—८
- २ उक्तगाथानिवरण, तत्र 'सयोगानां द्रव्यम्' इति विशेषिकपञ्चमस्य बलाद्देशेपिकादयो यथा द्रव्यान्तरमयोगे पदादिपर्यङ्ग यम्योत्पाद स्वीकृतान्ति तथा प्रदर्शक पूर्वाद्धम्, ते उपादार्यानिभावा विभागगतमुत्पाद नेच्छन्तीत्यर्थे स्पष्टीकृतम् । ३१४—१३
- ३९—१ कृतस्ते उत्पादार्यानिभेदा इत्याशङ्क्यसमाधानपरतया 'अणु दुःखणुर्हि' इत्येकोनचत्वारिंशत्तमगाथाऽनारिता । ३१५—१
- २ उक्तगाथानिवरण, तत्र द्वाभ्यां परमाणुभ्यामात्मत्वे अणुद्रव्ये अणुरिति व्यपदेशः परमाणुगतद्वित्वसंयातस्तत्राणुपरिमाणम्यैतोत्पादात्, त्रिभिर्द्रव्यैश्चैरात्रे द्रव्ये अणुकमिति व्यपदेशः, तत्र प्रयत्नानुरोधेन बहुत्वसंख्यातो महत्परिमाणस्योत्पादः, एतद्भावार्थः, तत्र नैयायिकादिप्रक्रिया वर्णिता ।
- ३ अणुकत्र्यणुकादिकार्यद्रव्यस्य तत्र परिमाणस्य चोपत्तिप्रक्रिया निरूपयन्तो नैयायिकैरशेषिकौ स्वीयाज्ञता व्यञ्जयतः, यत्र परमाणोः सयोगे सत्येव द्वयणुकमुत्पद्यते इति न, किं त्वेकमामयिकार्या सघातभेदाभ्यामप्युत्पद्यते, तथा भेदादपीति, अत्र जैनी प्रक्रिया दर्शिता । ३१५—२५
- ४ उक्तार्थे 'सङ्घातभेदस्य उत्पद्यन्ते' इति तत्त्वार्थसंवादः । ३१६—६
- ५ केचन चादरस्कृधा प्रत्यक्षगोचरा भवन्तीत्यत्र 'भेदसङ्घाताभ्यां चाक्षुषा' इति तत्त्वार्थसूत्रवृत्तिवचनमुपदर्शितम् । ३१६—१२



- ६ विचित्रपरिणामाः पुद्गला, चाक्षुषप्रत्यक्षे वादरपरिणाम एव कारणम्, तत्राप्यनुद्भूतरूपादिभावे न प्रत्यक्षमिति तत्प्रत्यक्षे उद्भूतरूपमन्वयवधानाभावालोकादिक चाक्षुषज्ञानारणीयकर्मक्षयोपशमाधावरुनया कारणं प्राच्यमिति । ३१६-१५
- ७ “बालान्तरस्य सूर्यांशौ” इति पत्रोपपन्नित नैयायिकाभिमतपरमाणुस्वरूपमपाकृतम् । ३१६-२०
- ८ जैनमते परमाणुर्न नित्य एव किन्तु विभक्तभावेनोत्पत्तिभावात्कथञ्चिन्नित्यानि-त्योभयरूप इत्यभिप्रायरेणोत्तराद्धेन परमाणुरूपघट इति व्याचर्णितम् । ३१६-२५
- ९ पृथग्भारलक्षणभेदे सति विभागपर्यायरूपेण परमाणूत्यादे सनादकं ‘भेदादणु’ इति तत्त्वार्थसूत्रम्, भेदादेव परमाणुरूपघटे न सद्भातादिति भाष्यसनायम् । ३१७-३
- १० परमाणूनां नित्यत्वान्नोत्पत्तिर्युक्तेति शङ्कानिराकरणम्, अत्र कार्यद्रव्यप्रागभावात्सयोर्नैकत्वमित्युपपत्तये प्रमाणनयतत्त्वालोकात्कालङ्कारोक्त महत्तन्ततदुभयलक्षणप्रतिपादक-सूत्रचतुष्टयम्, प्रागभावाच्चसयोरैक्यभावे तत्तत्स्वरूपपरमाणूनामप्यैक्य न संभवतीति द्रव्यार्थिकनयादेशाद् द्रव्यस्वरूपतयाऽनस्थिता एव पर्यायनयादेशात्तत्कार्यभावे नोत्पद्यमानाः कथञ्चिन्निरास्ते इति । ३१७-५
- ११ वादरपरिणामपरिणतमहाद्रव्ये परमाणुभावेन परमाणूनां नाशाभ्युपगमात् अत्रयवविभागोत्तर परमाणुभावेन विभक्ततया चोत्पादाभ्युपगमात् ‘कारणमेव तदन्त्य’ इति पारमर्षोक्तिविरोध इति प्रश्नप्रतिविधानम्, तदुक्त्यभिप्रेतार्थो-पदर्शनेन । ३१७-२२
- १२ व्यक्त्यात्मना परमाणोर्नित्यत्वव्यवस्थापनेन परमाणुर्नित्य इति व्यवहारस्य भ्रान्तत्वापत्तिरित्याऽऽशङ्काया निरमनम् । ३१८-४
- १३ एतेन परमाणुवो नित्या एव कार्यरूपाश्च पृथिन्यादपश्चत्वारोऽनित्या एतेति नैयायिकप्रव्रियाया निराम । ३१८-१४
- १४ परमाणोरपेक्षाभेदेन कारणत्व कार्यत्वञ्चेत्यत्र द्वादशारनयचकटी क्रासम्भतिरावेदिता । ३१८-१६
- ४०-१ ‘बहुआण एगसद्दे’ इति चत्वारिंशत्तमगायानतरण, तत्र पृथिव्यादिसप्तत्रयिका-रणकार्यान्च्छेदकजयपृथिवीत्वादिधर्मानाक्रान्तत्वात्परमाणूनामुत्पत्तिर्न सम्भव-तीत्याशङ्कानिराम, तादात्म्यसम्बन्धेन पृथिवीत्वाद्यन्च्छेदे स्वर्वांसत्वमन्वयेन पृथिवीत्वादिनोपादानकारणत्वव्यवस्थापनेन । ३१८-१९
- २ सयोगेन विभागेन च कार्यद्रव्योत्पादाभ्युपगमे सयोगजकार्यद्रव्ये विभागस्य विभागजकार्यद्रव्ये सयोगस्य व्यभिचाराशङ्काया कार्यद्रव्ये वैजात्याभ्युपगमेन कार्यतावच्छेदककोटौ तत्तत्कारणाव्यवहितोचरत्वमवेशेन बोधयोरेकशक्तिमत्त्वेन

कारणत्वाम्युपगमेन वा निराकरणम्, तथाऽनम्युपगमे त्रिप्रदेशिकरूपकधादेः काणुमेदे द्विप्रदेशिकस्याकरिभूतापत्तिः, परमाणुद्वयादिसयोगाद् द्रव्यकाणुत्पत्तिकल्पने महागौरवञ्च । ३१८-२३

- ३ उक्तार्थे सयोगाच्च विभागाच्चेत्यादीनि दशपञ्चानि सनादकानि, सयोगज्ञेको-  
त्पादे विभागानेकोत्पादे चानुमनसाक्षिको व्यग्रहार प्रमाणतयाऽऽपेक्षितः । ३१९-१
- ४ “बहुआण एगसदे” इति गाथानिरर्णं, तत्र बहूना द्रव्यकाणुदीनां सयोगैर्यथैकस्य  
द्रव्यकाणुदेरुत्पादो भवति अन्यथैकाभिधानाद्यनुत्पत्तिः, तथा विभक्ताना बहू-  
नामवयवानामुत्पादः, अयथानेकाभिधानाद्यनुत्पत्तिरिति । ३१९-२७
- ५ मृद्गरपाताद् घटो विनष्ट इत्येव मतीयते व्यवहियते चेत्यतिरिक्तविनाशस्यैव  
सिद्धिरित्याशङ्क्या निराकरणं विनाशस्योत्तरपर्यायरूपत्वव्यवधानेन । ३२०-६
- ६ अतिरिक्तविनाशाभावे “दृष्टस्तावदर्थं घटोऽत्र निपतन्” इति वचनमुपोद्बलम् । ३२०-११
- ७ घसस्योत्तरपर्यायरूपत्वे साधनन्तत्वं न स्यादिति शङ्काप्रतिविधानम् । ३२०-१५
- ८ मृद्द्रव्यं द्रव्यरूपेण ध्रुव सत्तत्त्वैर्लोत्तरपर्यायाभ्यां विनाशोत्पातात्मकमिति  
तत्रयात्मकम्, यथा चोत्पादन्ययधौव्यस्वभावा द्रव्यायंतयाऽभिन्ना-  
पर्यायार्थतया च लक्षणभेदेन भिन्ना इत्येवमालीनधर्मिरूपतया परस्परतात्मकत्वेन  
प्रत्येकमेकैकरूपं व्यात्मकं, तथैव कालत्रयापेक्षयाऽपि पूर्ववत्त्वात्मकमतोऽन-  
न्तपर्यायात्मकमेकं द्रव्यमिति निगमितम् । ३२०-१८
- ४१-१ अनन्तकाले स्वयमनन्ततां विघ्नाणा उत्पादादयो द्रव्ये कथञ्चित्स्वा-  
भिन्नैऽनन्ततामानयत्, एकक्षणे एवस्मिन्द्रव्येऽनन्तपर्यायत्वं द्रुत इत्याशङ्क्या  
मेकक्षणेऽप्यनन्तोत्पादविगमस्थितीनां सम्भवोऽस्त्येवेत्युत्तरपरतया ‘एगसम-  
यम्भि’ इति एकचत्वारिंशत्तमगाथाऽनन्तारिता । ३२०-२८
- २ उक्तगाथाविररण, तत्रैकस्मिन् क्षणे एवद्रव्यस्य बहव उत्पादाः तत्सम-  
सख्यमा विनाशास्तत्समपर्यया- स्थितयश्च, तत्र शास्त्रनातासमुच्चपटीका-  
वचनसंवाद, सामान्यरूपतया स्थितिरैकापि तत्तत्पर्यायोत्पादावच्छिन्ना । ३२१-२१  
तत्तत्पर्यायविगमामच्छिन्ना च भिन्नैवेति दर्शितम् । ३२१-५
- ४२-१ एकक्षणामच्छिन्नसयोगविभागज्ञानतोत्पादादित्रिकैरुत्स्वभावस्तुनो दृष्टा-  
द्वारेण निश्चयार्थतया “षाय-मण” इति द्विचत्वारिंशत्तमगाथाऽनन्तारिता । ३२१-२१
- २ उक्तगाथाविररण, तत्रैकदा प्रत्येक कायमनोवचनादीनां विशिष्टोत्पादानुपपन्नस्य  
कायमनोवचनद्विराख्यादिगतिविशेषापेक्षया सयोगभेदापेक्षया च ज्ञानविषयत्वा-  
दपेक्षया चैकस्यैव द्रव्यस्यानेकधोव्यतिमानादनन्तपर्यायात्मकत्वं निगमितम् । ३२१-२५

- ३ उक्तयुक्त्यैकरुद्रव्यस्यानन्तपर्यायात्मकत्वं सिद्धमप्यस्मिन्नादिप्रत्यक्षागोचरत्वात्कथं  
श्रद्धेयमिति प्रश्नप्रतिविधाम् । ३२२-१५
- ४ अप्रत्यक्षस्याप्यनन्तपर्यायात्मकत्वस्य गुरुत्वादिवत् प्रसङ्गविपर्ययाभ्यां  
सिद्धिरावेदिता । ३२२-२०
- ५ एक पर्याय गृह्यतामप्यर्हत्सिद्धान्तदृढसंस्कारवता भावतस्तथापरिज्ञानमस्त्येव, वस्तुप्र-  
हणपरिणामस्याशक्यत्वात्, तत्र 'पञ्चायमासयन्तो' इति भाष्यरचनसंवादः । ३२२-२५
- ४३-१ हेतुवादाहेतुवादभेदेनागमद्वैविध्यप्रतिपादकतया "दुषिहो धर्मावाजो" इति  
त्रिचत्वारिंशत्तमगाथाऽवतारिता ।
- २ उक्तगाथानिवरण, तत्र धर्मावाइस्पाहेतुवादहेतुवादभेदन द्वैविध्यम्, दत्तर्थश्रोक्तः,  
तत्र भव्याभव्यत्वप्रतिपादकागमोऽहेतुवादः । ३२३-५
- ३ भव्याभव्यविभागप्रतिपादकवचनेऽप्यनुमानप्रवृत्तेर्नाहेतुवादत्वं तस्येति प्रश्न  
प्रतिविधानम् । ३२३-१६
- ४ भव्याभव्यप्रतिपादकागमवचने यथावैतलनिर्णायकत्वेनानुमानप्रवृत्तापि भव्या  
भव्यस्वरूपे स्वतन्त्रानुमानप्रवृत्तेरभावादवाहेतुवादत्वं भव्याभव्यत्वप्रतिपादका-  
गमस्य प्रतिपादितम् । तथा च भव्यत्वाभव्यत्वादयोऽहेतुवादसिद्धाः, तन्व्ये  
च हेतुवादसिद्धा इति भाष्यार्थो दर्शितः । ३२३-२०
- ४४-१ हेतुवादविषयत्वप्रतिपादकतया अहेतुवादागमसिद्धस्याप्यर्थस्य तत्तद्वर्त्मिण्यहेतुवादा-  
गमोक्तलिङ्गेन हेतुवादागमसिद्धत्वमपीत्येतत्प्रतिपादकतया वा 'भविष्यो सम्मदसण'  
इति चतु चत्वारिंशत्तमगाथाऽवतारिता । ३२३-२६
- २ उक्तगाथानिवरण, तत्र सस्यग्दर्शनेत्यादहेतुरूपतया व्याख्यानेनानुमानप्रयोगो  
दर्शितः, आगमसिद्धेऽपि भव्यत्वादानुमानमयोजनमुपदर्शितम्, तत्र 'प्रत्यक्ष  
परिरुलितमप्यर्थम्' इति वाचस्पतिरचनसंवादः, प्रेसावच्योपपत्तयेऽनुमानागमा-  
वश्यकता च दर्शिता । ३२४-१
- ३ एतेनैकान्तहेतुवादिनो मतमुपदर्श्य प्रतिज्ञिसम् । ३२४-१८
- ४ आगमादेव तत्रसिद्धिरित्यागमैकान्तवादिनो मतमुपदर्श्य दूषितम् । ३२४-२८
- ५ प्रत्यक्षानुमानाभ्यामेव तत्रसिद्धिरितिवादिनोऽमत्यनादित्व दर्शितम् । ३२५-४
- ६ सर्वविदं प्रत्यक्षादेव तत्रप्रतिपत्ति, अनुमानविदा पुनरनुमानादपीत्वेकात्म-  
पिनिरस्तम्, अत्र "सिद्ध चेद्वेतुतः सर्वम्" इत्यष्टसहस्रीपद्यसंवादः । ३२५-७
- ७ आगमप्राबोध्यं हेतुप्राबल्यमप्यस्मिन्निरुद्धमित्यनासृष्टव्रतित्वादसंवादः । ३२५-१४

- ४५-१ आगमस्य निरूक्तोभयरूपत्वे सिद्धे तदुभयङ्ग एव स्वममयस्य प्रक्षापकः,  
तदितरस्तु तद्विरोधक इत्युपपादनार्थतया 'जो हेउनायपरमग्नि' इति पञ्च  
चत्वारिंशत्तमगाथाऽन्तारिता । ३२५-१७
- २ उक्तगाथाविवरण, तत्र युक्तिमार्गमहे जीवकर्मार्थी भवत्तमपुणितप्रणयनप्ररीणो  
देवलोऽपृथिवीसङ्ख्यादागममात्रगम्येऽर्थे आगममात्रप्रनापनाप्ररीणो यः स  
स्वसमयस्य प्ररूपक इति । ३२५-२५
- ३ प्रागुक्तविशेषणविमलः साधुञ्जिनचनानुयोगविनाशकः, उक्तार्थसंवादकं  
'अहं वस्तवाणेज्वलं' इत्यादिगाथाचतुष्टय पञ्चस्तुक्प्रथमस्य । ३२६-३
- ४६-१ हेतुनादसिद्धमर्थं यो हेतुना साधयति, आगममिद्विज्ञाऽऽगमेन, तस्य नयनाद  
परिशुद्धः, नान्यस्यैतत्प्रतिपादकतयाऽहेतुहेतुनादभेदभिन्नागमस्य वाक्यनयनरू-  
पस्य परिशुद्धेतरभेदं द्विरुपताप्रतिपादकतया वा 'परिसुद्धो नयवाओ' इति  
पञ्चत्वारिंशत्तमगाथाऽन्तारिता । ३२६-१९
- २ उक्तगाथाविवरणम्, तत्र आगममात्रार्थसाधको नयनात् 'परिशुद्धः', अनन्त  
धर्मात्मके वस्तुन्त्येकधर्मस्य स्वेतरसकलधर्मसापेक्षस्य प्रतिपादकत्वात्, स एव  
स्वप्रतिपाद्याद्येतरसकलार्थनिषेधरूपे त्वपरिशुद्ध इति । ३२६-२४
- ३ नयनाद एव दुर्निर्णीतं भ्रान्तद्विजनरूपेणापरिशुद्धो द्वायपि पक्षो निषेधयति । ३२७-१
- ४ अहेतुवादागमः श्रुतप्रमाण, हेतुनादागमो नयनाद, ताभ्यां संस्कृत तच्चज्ञान  
प्रमाणमिति निगमितम् । ३२७-१९
- ४७-१ परिशुद्धनयनाद स्याद्वादिकनामयतापन्नः स्वममयरूप, अपरिशुद्धनयनादस्तु  
स्याद्वादिकनामयतारहित परसमयः, तत्किंयत्सङ्ख्याक इत्याशङ्काममाधानरूपतया  
'जावइया वयणपद्दा' इति सप्तचत्वारिंशत्तमगाथाऽन्तारिता । ३२७-२१
- २ उक्तगाथाविवरणम्, तत्र यावन्तो धचनपथास्तावन्त एव नयवादा भवन्ति  
यावन्तो नयनादास्तावन्त परसमया इत्यस्य स्पष्टीकरण परमार्थोपदर्शनेन । ३२७-२८
- ३ तत्तत्रयनादात्मरूपपरसमयानामपरिमितत्वे तन्निराधनभूतानां नयानामप्यपरिमित  
त्वमिति 'ये किं त एण' इत्याद्यनुयोगद्वारद्वारेण सप्तया नयविभागोऽनुपपन्न इति  
प्रश्नप्रतिविधानम् । ३२८-७
- ४ तत्र स्थूलन्यायेन मूलजातिभेदतः सप्तनया, ततोऽपि सूक्ष्मतरभेदविनाया  
मेकैकनयः शतभेद इति सप्तनयानां प्रभेदाः सप्तशतानि, तत्र "इक्षिको य  
सयविहो" इत्यादिविशेषानर्थरूपाव्यसवादाः । ३२८-११
- ५ सूक्ष्मतरदृष्टिपर्यालोचनया त्वनन्तत्र नयानां तदुत्थनयप्रनादरूपपरसमयानामपि । ३२८-१५

- ६ मूलत एव नयविचारो नारम्भणीयो निष्कलत्वादित्यस्यापाकरणमनेकप्रकार-  
नयज्ञानफलोपदर्शनेन । ३२८-१८
- ७ असाधारणव्यवहारेतरमेदानुमितिप्रयोजनक लक्षण यथा जीवाजीवादीना,  
तथा नपस्याप्यावश्यं, ततो नयसामान्यज्ञाने जाते, तद्व्यभेदजिज्ञासया मूल-  
जातिभेदतः सप्त नैगमादयो नया इत्युच्ये तेषामपि लक्षणमवश्य वक्तव्यमिति  
प्रश्नप्रतिविधानम् । ३२८-२८
- ८ नयसामान्यलक्षणं तत्प्रतिपादकं 'नीयते येनेत्यादिप्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कार-  
घटम्, तत्सवादी च 'श्रुतार्थीशाश एवेह' इति श्लोकः । ३२९-९
- ९ उपाध्यायोक्त नयसामान्यलक्षण, तत्र 'सत्त्वासत्त्वाद्युपेतार्थे' इति नयोपदेशप्रम्,  
अपेक्षात्व जातिविशेषो विपयिताविशेषोवेति दर्शितम् । ३२९-१७
- १० घटोऽस्तीत्यादिवाक्यज यशाब्दघोधानुभवे भानामानादपेक्षात्वासिद्ध्याऽपेक्षात्मकनय  
ज्ञानसत्त्वे किं प्रमाणमिति प्रश्न तत्प्रतिविधानञ्च, तत्र विरुद्धत्वेन प्रतीयमान  
नानाधर्मविशिष्टं वस्तु अपेक्षा विना निवक्षितकथमप्रकारकनि-यमग्राह्य न स्या  
दित्यादि भावितम् । ३२९-२३
- ११ तदभावतद्याप्यवचादिज्ञानप्रतिगम्यतावच्छेदककोटौ लौकिकसन्निकर्षजन्यत्वा  
दिनिवेशापेक्षाऽपेक्षा यत्निवेशे लाघवमित्यपेक्षान्यमिद्धि, तद्धर्मप्रतिपक्षरक्त्या  
निश्चित धर्मिणि तद्धर्मन्चाज्ञानान्यथानुपपत्तिश्च तत्र प्रमाण, तस्या सर्वतो  
घटनत्वे 'अन्यथानुपपत्तिश्चेत्' इति खण्डनखण्डनयोक्त पद्यद्वयं दर्शितम् । ३२९-२८
- १२ अपेक्षा विना लौकिकच्यवहारोऽपि न स्यादित्यादियुक्तिरपेक्षात्वमाधिका  
प्रश्नप्रतिविधानाम्या भाविता । ३३०-११
- १३ तत्त्वार्थभाष्योक्त नैगमनयलक्षण तद्विवरण च कृतम् । ३३०-२८
- १४ जातिघटित नैगमलक्षण, तद्घटकविशेषणप्रयोजनञ्च प्रदर्शितम् । ३३१-१५
- १५ "दन्वत्थिओत्ति" इति सम्प्रतिग्रन्थपर्यालोचनया तु नैगमस्य यावन्तोऽध्य-  
वसायविशेषास्तावदप्यतमत्व लक्षणम्, एवमन्यनयानामपि । ३३१-२६
- १६ नयोपदेशतृच्युक्त तथान्यदपि लक्षण तद्घटकविशेषणप्रयोजनञ्चोपदर्शितम् । ३३२-२३
- १७ सद्ग्रहलक्षण तत्त्वार्थभाष्योक्त, तद्विवरणम्, जातिघटितञ्च तल्लक्षणं तद्विशेषण-  
प्रयोजनञ्चेत्यादि भावितम् । ३३३-११
- १८ तत्त्वार्थभाष्यानुसारि व्यवहारलक्षणं तद्घटकविशेषणव्यावृत्ति, तथा लक्षणान्तरञ्च । ३३४-८
- १९ द्रव्यार्थिकनयस्य सद्ग्रहव्यवहाराम्यामेव विभागकरणदेतत्प्रसङ्गकारमते  
नास्ति नैगमनयोऽतिरिक्त, तल्लक्षणायासौ निष्कल एवेत्यादि विचारितम् । ३३४-२६

- २० व्यवहारनये घटोऽस्तीत्यादिव्यवहार स्वरूपसत्त्वैत्र, तमते महासामान्यं नास्ति, स्यादस्येव घट इत्यादि सप्तमद्ग्या प्रथमभङ्ग मद्ग्रहेण, द्वितीयभङ्गो व्यवहारेणेत्यादि भाषितम् । ३३५—३
- २१ व्यवहारस्य पर्यवसितलक्षणमेतत्प्रकरणार्तमतानुसारि दर्शितम् । ३३५—१९
- २२ व्यवहारस्य प्रतिव्यक्तिस्वरूपसत्त्वाभ्युपगमो महामामान्यसत्त्वाऽनभ्युपगमपरो द्रव्यत्वाद्यवान्तरसामान्यस्य तेनाभ्युपगमादिति व्यवस्थापितम् । ३३५—२१
- २३ ऋजुसूत्रनयलक्षणप्रतिपादकं तत्त्वार्थभाष्यम्, एतन्नयेऽतीतानागतकालयोरस-  
त्त्वमुपपादितम्, अतीतानागतकालभेदेनाऽर्थभेदः, तेन धाचरभेदः, तज्ज्ञानमपि  
भिन्नमेव, 'अतीतानागताकार' इत्याद्युक्ति, 'भारत्ये वर्तमानत्व' इत्याद्युक्ति-  
चानुसृत्यर्जुसूत्रानुगतलक्षणं दर्शितम्, तत्रानुयोगद्वारद्वारसत्त्वैत्र भाषितम् । ३३६—२०
- २४ नामादिव्यत्यादि तत्त्वार्थभाष्यनिरूप्यलभ्य लक्षणा साम्प्रतापरमंनश्च दनयस्य,  
तत्र तद्विशेषणप्रयोनन दर्शितम् । ३३७—१८
- २५ 'इच्छ विसेसिततर' इत्यादिविशेषावश्यकनिर्युक्त्यनुयोगद्वारद्वारोक्त्यनुसारेण  
लक्षणान्तरं दर्शितम् । ३३७—२९
- २६ शब्दनयमन्तव्यमुपदर्श्यं तदनुसारि शब्दनयलक्षणमुपदर्शितम् । ३३८—२
- २७ सममिरूढनयलक्षण अनुयोगद्वारद्वार-विशेषावश्यकनिर्युक्तिरचनानुसारेण । ३३८—१५
- २८ सत्त्वैत्रैवसद्भ्रम, सममिरूढ इति तत्त्वार्थभाष्यानुसारि सममिरूढलक्षणम्,  
तदुक्तिभाष्यमुपदर्श्यं तन्निष्पृष्टलक्षणं च दर्शितम् । ३३८—२२
- २९ एवम्भूतनयस्वरूपोपदर्शकं विशेषावश्यकमाप्यवचनं 'एव जह सदत्यो' इति,  
तद्व्याख्यानं च, तदनुसारि एवम्भूतनयलक्षणमुपदर्शितम् । ३४०—१
- ३० विशेषावश्यकनिर्युक्ति-तत्त्वार्थभाष्यञ्चाऽनुसृत्योक्तस्य 'एवम्भूतस्तु सर्वत्र' इति  
नयोपदेशश्लोकास्य व्याख्यायामुपाध्यायैर्निरूपितं लक्षणमुपदर्शितम् । ३४०—१४
- ३१ सप्तनयविषयोपदर्शकानां 'शुद्धं द्रव्यं समाश्रित्य' इत्यादिप्राचीनाचार्योक्ता-  
पधानामुपदर्शनम् । ३४०—२४
- ४८-१ किं दर्शनं किं मूलभूतनयमममित्याशङ्कानिश्चयैतया 'ज फापिल दरिसण'  
इत्यष्टत्वारिंशत्तगायाञ्चतारिता । ३४१—९
- २ उक्तगाथाविवरण, तत्र फपिलप्रणीतसाहस्यदर्शनं व्यवहारनयलक्षणाऽशुद्ध  
द्रव्यार्थिकनयनिकल्पप्रसूतम् "द्वयद्विचयनयपपडी" इत्यनेन वेदान्तदर्शनस्य  
सद्ग्रहनयलक्षणाशुद्धद्रव्यार्थिकनयप्रसूतत्वेन पूर्वास्तत्वाद्, उक्तार्थं सम्मति-

टीकाकारस्वचनसम्मतिः 'अशुद्धाद्वयप्रहाराख्यात्' इति नयोपदेशचनसत्त्वाद्दश,  
पतञ्जलप्रणीत सैश्वरसाङ्ख्यमतमपि व्यवहारनयप्रसङ्गतमिति । ३४१-१५

३ बौद्धदर्शनं परिशुद्धपर्यायनयप्रसङ्गम्, तच्च सौत्रान्तिरूपैमापिक्रमोपाचार-  
माध्यमिकभेदेन चतुर्विधम्, पर्यायार्थिकनयोऽप्युत्सृज्यतश्च सममिच्छैरम्भूत-  
भेदतश्चतुर्विध इति यथाक्रम प्रकृतिनिवृत्तिभारः, तत्समनुगमनञ्च कृतम् । ३४२-९

४ उक्तार्थं खण्डखाद्योवितसङ्गतिः, 'ऋजुसूत्रादित' इति नयोपदेशोवितसङ्गतिश्च । ३४२-१७

५ 'अर्थो ज्ञानसमन्वितो' इति पद्यं सौत्रान्तिरूपादिचतुर्विधमौगतमतमन्तव्या  
षगमकम्, तन्नावायोपदेशनम् । ३४२-२३

६ तत्र सौत्रान्तिरूपैमापिक्रमोर्नन्तव्यं तद्विशेषश्च । ३४२-२७

७ विज्ञानमात्राभ्युपगमपरस्य योगाचारस्य मन्तव्य, तन्मते बाह्योऽर्थो न परमार्थ  
इत्यत्र 'बाह्यो न विद्यते ह्यर्थो' इति श्लोकरूपाद्, तथा 'विज्ञानजडरूपेभ्यो'  
इत्यादि पद्यत्रय संवादक तत्रसङ्ग्रहग्रथस्य । ३४३-३

८ सर्वशून्यतावादिमाध्यमिकमते तु 'न सन्नासन्न सदसत्' इति पद्येन सदसदादि-  
चतुष्कोटिभिर्निर्मुक्तमेव तत्रम्, तन्मन्तव्यं चोपदेशितम् । ३४३-२३

९ विचार्यमाणा' सर्व एव भावा निस्स्वभावा इत्यत्र 'शुद्ध्या विविच्यमानानां'  
इत्यादिपद्यद्वय सनादकम् । ३४४-३

१० भेदव्यवहारस्य कल्पितत्वे 'केनपिण्डोपमं रूपं' इति पद्यसंवाद' । ३४४-९

४९-१ परस्परनिरपेक्षैकैकनयाऽलम्बिनोः साङ्ख्यसौत्रौगतमतयोर्मिथ्यात्वे द्रव्यार्थिक-  
नयविषयसामांय पर्यायार्थिकनयविषयविशेषश्चाभ्युपगच्छतो वैशेषिकदर्श-  
नस्य नयद्वयावलम्बित्वेन सम्यक्त्र स्यादित्याशङ्कानिषेधार्थतया "दोहि वि  
नएहि णीय" इत्येकोनपञ्चाशत्तमगाथाऽनन्तरिता । ३४४-१३

२ उक्तगाथाविरण, तत्र द्वाभ्यां नयाभ्यां पृथग् च्यवस्थापित द्रव्यादिसप्तपदांश  
प्ररूपक वैशेषिकमत मिथ्या, तन्मूलयोर्द्रव्यार्थिकनययोः स्वविषयप्रधानत्वेना  
न्योन्यनिरपेक्षत्वात्, जैनाभिमती तु तौ सापेक्षत्वात् सम्यग्रूपविति दर्शितम् । ३४४-१८

३ वैशेषिकदर्शनस्य मिथ्यात्वसाधनमनुमानमुपदर्शितम् । ३४४-२६

४ उक्तगाथाया अवतरणात्तरम्, तद्विरण, सामान्यस्य विशेषाद्विशेषस्य च सामान्या  
भेदसाधकमनुमानम्, द्वाभ्यां नयाभ्यामिति नयोपदेशपद्यमेवाद्दश । ३४४-२९

५ यथास्थान नयद्वयविनियोजन शास्त्रस्य सम्यक्त्वप्रयोजक, परस्परसापेक्षतत्त्वय-  
विनिर्मुक्तमित्य साङ्ख्यस्यात्पदघटितसप्तभङ्गात्तत्त्वमद्वावाक्यस्य पूर्णोत्तरत्व,

भवच्चिद्मद्गद्वयमात्रप्रतिपादनं स्याद्वाद्युत्पन्नापेक्षया, स्याद्वाद्युत्पन्नश्रोतृत्वं  
प्रति तु सप्तविधमद्गप्रतिपादनमावश्यकमेव । ३४५-१५

६ सप्तमद्गात्मकमहावाक्यसम्भ्रमप्रतिपादनम्, सप्तमद्गीप्ररूपगाथा स्वसमर्थार्थ  
प्रज्ञापनात्यमाधिकमनुमानं, एकान्तभिन्नसामान्यविशेषप्रतिपादकवैशेषिक-  
दर्शनस्य मिथ्यात्वमिति । ३४५-२९

७ एतत्प्रकरणकर्तृमते वैशेषिकदर्शनस्य सदग्रहव्यवहारप्रकृतिकत्वे नैगमनयो  
न कस्यापि दर्शनस्य प्रवर्तक इति भावितम्, तत्र "हेतुर्मतस्य कस्यापि" इति  
नयोपदेशवचनं समादितया प्रोक्तम् । ३४६-८

८ देवसूर्याद्याचार्यमते नैगमनप्रकृतिक वैशेषिकदर्शनम्, तत्र "दर्शितेयं यथा  
शास्त्रम्" इत्यनेनान्त्यस्थापयसवाद्, तत्समानतः नैयायिकदर्शनस्यापि नैगम-  
नप्रमूलकत्वेन मिथ्यात्वम् । ३४६-१५

९ ब्रह्मैव सत् जगन्मिथ्येति ब्रह्माद्ब्रह्मैतनादात्मस्य वेदान्तदर्शनस्य तथा 'अनादिनिघर्नं  
ब्रह्म' इति पयोक्तस्य भर्तृहरिमतस्य अन्तर्ब्रह्माद्ब्रह्मैतनादस्य मद्ग्रहणप्रमूलकत्वेन  
एव मीमांसकमतस्य व्यवहारनयप्रवृत्तत्वेनैकान्तनयात्त्वमित्यादिमिथ्यात्वम् । ३४६-२६

१० अनेकात्वादिनामिथैकान्तनादिनामपि समानस्य घटादिज्ञानस्य मिथ्यात्वे  
किं धीजमिति प्रश्नप्रतिनिधानम् । ३४७-२२

११ मिथ्यादृष्टेर्दृष्टे घट एवामिति ज्ञानस्य व्यवहारदृष्ट्या प्रामाण्येऽपि निश्चयदृष्ट्या  
न प्रामाण्यं, किंत्वज्ञानत्वमेव, अत एव भवर्षीज तत्, स्याद्वादिना तु तज्ज्ञान  
सम्यग्ज्ञानमित्यादि विचारितम् । ३४७-२४

१०-१ अयोन्यनिरपेक्षनयाश्रितस्य मिथ्यात्वमेतत्पर्यक्तया 'जे सनयापदोसे'  
इति पञ्चाशत्तमगाथाऽन्तरारिता । ३४८-१६

२ उक्तगाथाविवरणम्, एकान्तसद्वादपक्षे माहुर्याना यान् दोषान् बुद्धरुणभुक्प्रणोतदर्शन-  
भक्त्वा प्रतिपादयन्ति, साह्याथाश्वासद्वादपक्षे, ते सर्वेऽपि दोषा सत्याः, अत  
एव तत्तच्छास्त्रं सर्वं मिथ्येति । ३४८-१९

३ स्वपक्षेतरपक्षे तत्तद्वादिभिर्मिथो भूरि दोषापादनेनाप्रामाण्यज्ञापनं कृतम् । ३४८-२६

४ अन्योयमेकात्वादियुक्तयो मिथ्य एकान्तनादिपक्ष प्रतिक्षिपन्ति, न त्वनेकान्तनादि-  
पक्षमित्युपसंहृतम् । ३५०-१

५ जात्यन्तररूपेऽनेकान्ते प्रत्येकश्लोक्तदोषाभावे "न नरः सिद्धम्पत्नात्" इति  
पद्य संवादक, अर्हच्छास्त्रमेव दोषाऽसंसृष्ट सम्यग्भावं भजते, नापदिदि । ३५०-८



- ५१-१ अन्वयव्यतिरेकाभ्यामुक्तार्थदृढीकरणार्थतया 'ते उ मयणोऽणीया' इत्येक  
पञ्चाशत्तमगाथाऽत्रतारिता । ३५०-१६
- २ उक्तगाथाविवरणम्, तत्र द्रव्यार्थिरूपपर्यायार्थिरूनयौ मजनोपनीतौ सम्यग्दर्शन  
मनुचरं भवतः, यदा त्वयोन्यनिरपेक्षतया स्वतन्त्रद्रव्यपर्यायप्रतिपादकत्वयो-  
पनीतौ भवतस्तदा न सम्यक्त्व प्रतिपद्येते, यस्माद् भवद्दुःखविमोक्षं प्रत्येक  
द्वावपि न पूरयत इत्युपपाद्य दर्शितम् । ३५०-१९
- ३ कारणात्कार्यं कथञ्चिद् भिन्नमभिन कथञ्चित्सत्त्वात्तन्चेत्युभयरूपमिति दर्शितम् । ३५१-१०
- ५२-१ उक्तार्थोपसहरणरूपतया 'नत्थि पुढवीरिसिद्धौ' इति द्विपञ्चाशत्तम  
गाथाऽत्रतारिता । ३५१-१२
- २ उक्तगाथाविवरणम्, यस्मात्कारणीभूताया मृत्तिकाया भिन्नः कार्यभूतो घटो  
नास्ति तस्माद्धेतोर्युज्यतेऽनन्य, तत्र हेतुरूपपादितः, पृथुमुद्गोदराद्याकारता-  
लक्षणव्यक्तस्वरूपेण पूर्वं घटो नासीत्, तस्मात्कारणीभूतमृदात्मरूपधीतोऽन्यो  
घट इत्युपपादितम्, भागार्थश्च दर्शितः । ३५१-१५
- ५३-१ सदाद्येकान्तनादवत् कालाद्येकान्तवादेऽपि मिथ्यात्वमेवेत्युपदर्शकतया 'कालो  
सहाय णिपई' इति गाथाऽत्रतारिता । ३५२-११
- २ उक्तगाथाविवरणं, तत्र कार्यमात्रग्रत्यसाधारणकारण काल एवेति कालवादि  
मतम्, स्वभाव एवेति स्वभाववादिमत, नियतिरेवेति नियतिवादिमत, पूर्वकृतक  
मैवेति पूर्वकृतकमनादिमत जन्धारयपुरुष एवेति पुरुषवादिमतमेकान्तात्मक  
स्वस्वागमलोकोक्तिपरैरु प्ररूपितम् । ३५२-१४
- ३ उक्ततत्तदेकान्तनादाना मिथ्यात्व प्ररूपितम्, एकैरुमात्रस्य कारणत्वखण्डनेन । ३५२-२९
- ४ समुदिताना कालस्वभावादीना कारणत्वाभ्युपगमस्य सम्यक्त्व, तत्रापि विनश्चिंतो  
हेतुः प्रधानीभूतोऽन्ये गुणीभूता इत्यादि श्रयञ्चितम् । ३५३-१०
- ५४-१ नास्त्येवमत्तयादय' पडैका तनादाश्चार्नाकादिभिः प्रकल्पिता मिथ्यारूपा,  
त एव स्यात्पदाङ्गिताः सम्यग्रूपा इति प्रतिपादनार्थतया 'नत्थि ण निच्चो'  
इति चतुःपञ्चाशत्तमगाथाऽत्रतारिता । ३५३-१६
- २ उक्तगाथाविवरणं, तत्र मद्याङ्गैर्म्यो मदशक्तिरूपश्चभूतेभ्यः कायाकार आत्मी  
त्यद्यते, न तु तद्रूपव्यतिरिक्त आत्मा समस्तीति नास्त्यात्मेति चार्वाकमतम् । ३५३-२३
- ३ 'सुखी भवेयमिति' 'आत्मनि सति परसत्तेति' पद्याभ्या नित्यात्माभ्युपगमतस्त  
दर्थं कर्म कुर्यातां जमादिरु, क्षणिकत्वमवादिनस्तु वैवृत्तिरिति नैरात्म्यदर्शनं मोक्ष  
साधनमिति न नित्य आत्मेति क्षणिकवादिवाद्मतम् । ३५३-२८

- ४ अस्त्यात्मा नित्य , किन्तु पुष्करपलाशवधिलेपः, पुरुष. भोक्ता, न कर्ता,  
प्रकृतिरेव कर्त्री, तत्र साङ्ख्यतत्त्वबौद्धीनचनसरादतो न करोत्यात्मेति  
साङ्ख्यमत दर्शितम् । ३५४-११
- ५ अन्त करणावच्छिन्नचैतन्य जीव , तस्य चौपचारिकमेव मोक्षहृत्वं न पारमा-  
र्थिकमिति नात्मा वेदयते इति वेदान्तिमतम् । ३५४-१६
- ६ यद्वा क्षणित्वाच्चित्तसन्ततेर्षेन कर्म कृत नासौ तद्वेदयते इति बौद्धमतमाश्रित्य  
न वेदयते इति, अत्र बौद्धमते यथा न वेदयते इति न सम्भवति यथा च सम्भवति  
तत्क्रमेणोपदर्शितम् । ३५४-१९
- ७ रागादीनामत्यन्तक्षयो न केनापि कर्तुं शक्य इति नास्ति सर्वज्ञः, तत्र  
“यत्राप्यतिशयो दृष्टः” इति भाट्टपद्यद्वय सारादकमुपयस्य सर्वभावात्  
यावज्जीवमग्निहोत्रादिकर्मोपदेशा मोक्षसाधकत्रियानुष्ठानकालानुपदर्शनात्मवर्षज्ञान-  
भ्युपगन्तुणा यज्वना मते नास्ति निर्वाणमिति मीमांसकमतम् । ३५५-१
- ८ नियतिवादिमत यथा स्वभावत एव मोक्षो भवति, न मोक्षोपायः कश्चिदिति  
स्वभाववादिमतम् । ३५५-११
- ९ एतानि षडपि मिथ्यात्वस्य स्थानानि, तैगभिप्रहिक मिथ्यात्वं चार्वाक-  
दीना षण्णा । ३५५-१४
- १० तत्र चार्वाकमतखण्डनम्, शरीरगतिरिक्तात्म यवस्थापनेन । ३५५-१७
- ११ आत्मनोज्जादित्वं कर्मकर्मिद्वयस्यायोन्यपरिणामस्त्वादनादित्व, तेन कर्म  
जीवसम्बन्धस्यानादित्वेन तज्जयससारस्याप्यनादित्व, तत्र ‘पुंविं भते’ इत्यादि  
भगवतीरचनमरादः । ३५५-२५
- १२ धनस्पत्यादात्रासिच्छ्युपदर्शनम्, तत्र प्रामाण्यनिर्णायक ‘सि वेमि इमं पि’  
इत्यादिबचन । ३५६-४
- १३ इन्द्रियाद्यधिष्ठातृत्वेनात्ममिद्विरागेदिता, अरूपित्वादात्मा बाह्येन्द्रियैर्नो  
पलभ्यते, न त्रभारात्, मानसप्रत्यक्षेण तूपलभ्यते एवेति दर्शितम् । ३५६-२२
- १४ बौद्धमतमाश्रित्योक्तस्यात्मा न नित्य इत्यस्य खण्डनमतिदिष्टम् । ३५७-२
- १५ प्रत्यभिज्ञाप्रमाणेन स्थिरात्मसिद्धिः प्रपञ्चिता, स्वैर्याभावे प्रत्यभिज्ञानोपपादन  
प्रतिक्षिप्तम् । ३५७-१५
- १६ ‘इत एकनरते कल्पे’ इत्यादि बौद्धागमोजपि नित्यात्मप्रतिपादक इति दर्शितम् । ३५८-५
- १७ साङ्ख्यमतमाश्रित्योक्तस्य न करोत्यात्मेत्यस्य खण्डनमतिदिष्टम् । ३५८-११

- १८ वेदान्तिमतमाश्रित्योक्तस्य न वेदयत इत्यस्य खण्डनम् । ३५८-२
- १९ बौद्धमतमाश्रित्य न वेदयते इत्यस्य यत्पर्ययमानं कृतं तस्यापि खण्डनम् । ३५९-
- २० मीमांसकमतमाश्रित्योक्तस्य न निर्माणमस्तीत्यस्य खण्डनम् । ३५९-
- २१ दोषारणयोर्दानिरियादिना सर्वज्ञमात्रं पूर्णं कृतमित्युपदर्शितम्, सर्वज्ञस्य ध्यानविशेषजन्याशेषकर्मक्षये मुक्तिरावेदिता, सर्वज्ञानमतीन्द्रियप्रत्यभूमिति तत्र "यत्राप्यतिशयोद्धृष्ट" इत्युक्तिरऽज्ञानविलासितैव, तस्या इन्द्रियप्रत्यक्षापेक्षया चरितार्थत्वादिति । ३५९-
- २२ सर्वे पदार्था कस्यचित्प्रत्यक्षस्य विषया प्रमेयत्वादित्यनुमानं सर्वज्ञज्ञाने प्रमाण-  
ह्युपादितम्, तत्र परेषा विरुद्धोद्भाजनपुरस्सरं प्रथमं प्रतिक्षिप्तं । ३६१-
- २३ अग्निहोत्रं जरामर्यं वा कुर्यादिति अतौ वाशब्देन भोक्तृकालोऽपि प्रदर्शित इति । ३६१-२५
- २४ नास्ति मोक्षोपाय इत्यनुपायनादिमतखण्डनमतिदिष्टम्, तत्राहुस्माद्भवतीत्यत्र किं शब्दस्य हेतुपरत्वादिविरुद्धत्वेन खण्डनम्, तत्र हेत्वभावाद् भवतीत्यादि-  
पञ्चपक्षा उद्भाव्यापाकृताः । ३६१-२९
- २५ नास्त्यात्मेत्यादिवादाः पडपि मिथ्यात्वस्य स्थानानीत्युपसंहारः । ३६२-०१
- ५५-१ उक्तविपरीतान्यस्त्येवात्मेत्यादीन्यपि पडैकान्तवादे मिथ्यात्वस्थानानीत्यु-  
पदर्शकतया 'अथि अविणासधम्मो' इति पञ्चपञ्चाशत्तमगाथाऽप्रतारिता । ३६२-२६
- २ उक्तगाथाविनरणम्, तत्र अस्त्यात्मेत्यादीनि पडप्येकान्तात्मकानि मिथ्यात्व-  
स्थानानि, तेषां मध्ये यस्य यत् तदुपदर्शनम् । ३६२-२९
- ३ चतुर्थचरण 'एस्सम्मत्तस्स द्वाणाई' इति पाठान्तरात्मकम्, तत्र सम्पत्त्वस्थान-  
त्वमेवा यथा तथोपदर्श्यं तत्सनादिनयोपदर्शोक्तस्य "पडेतद्विपरीतानि" इत्यादि-  
श्लोकार्थस्य वृत्ति 'अथि जिओ तह णिओ' इति वचनसमादृश्यं । ३६३-१४
- ५६-१ अनेकान्तवादमन्वयैवानुमानप्रमाणप्रतिरुद्धयते इति स्यादादिन एवानु-  
मित्युपपत्ति, न त्वेकान्तवादिन' साधर्म्यतो वैधर्म्यतो वेत्युपपादकतया 'साहम्मओव्व  
अत्थ' इति पञ्चपञ्चाशत्तमगाथाऽप्रतारिता । ३६३-२२
- २ उक्तगाथाविनरणं, तत्र साधर्म्यत इत्यस्यार्थह्युपदर्श्यं परस्य ततोऽर्थमाचने दोष  
उपदर्शितं, एव वैधर्म्यतस्त्वस्युच्यतेऽपि । ३६३-२७
- ३ अन्योऽयं प्रतिरुद्धो द्वावप्येतानसद्वादावित्यस्य भावार्थः, तत्र परं सामान्य  
विशेषं वा तदनुभयं वा तदनुभयं वा साध्यं साधयितुं न शक्नोतीत्यस्यार्थ-  
स्योपदर्शनम् । ३६४-११

- ४ तत्पुत्रत्वहेतौ श्यामत्वस्यानौपाधिकसम्बन्धो व्याप्तिर्नास्ति, शाकपाकजत्वस्योपाधित्वादित्यगमरुत्वमिति पञ्चरूपनादिनो नैयायिकस्य मतमाशङ्क्य प्रतिक्षिप्तमिच्छिता यथानुपपन्नत्वस्यैव हेतुलक्षणत्वपर्यवसानेन । ३६४-२५
- ५ रूपत्रयवादिनो बौद्धस्य मतखण्डनमतिदिष्टम्, तथा च बौद्धनैयायिकैर्नैशिकाभिमतहेतुमात्रेषु लक्ष्येषु अनुगतत्वात्तद्वाद्यभिमतहेत्वाभासेष्वलक्ष्येषु व्यावर्तमानत्वाच्चिच्छिता यथानुपपन्नत्व हेतुलक्षण, न तु निरूपम्, तस्याऽसिद्धत्वविरुद्धत्वव्यभिचारित्वव्यग्रच्छेदकत्वेनात्रशयकृत्वेऽपि नियमेनानुमित्यनुपयुक्तत्वात् । ३६५-३
- ६ नियमेन पक्षधर्मत्व साध्यगमताङ्ग नेत्युपसंहृतम्, तत्र 'पित्रोश्च ब्राह्मणत्वेन' इत्यादिपद्यद्वय भङ्गस्य सनादकमुक्तम् । ३६६-११
- ७ पक्षसत्त्वमत्सपक्षसत्त्व निपक्षासत्त्व च साध्यगमरुतानङ्गमिति दर्शितम् । ३६६-३०
- ८ बौद्धाभिमतपक्षसत्त्वादिनिरूपसद्भावेऽपि बाधितहतो सत्प्रतिपक्षितहतोथ न गमनत्वमित्यबाधितत्वात्सत्प्रतिपक्षत्वे अपि गमरुताङ्गे इति पञ्चरूपोपपन्नलिङ्ग, तत्र 'पञ्चलक्षणकालिङ्गात्' इति जयन्तपद्यसवाद इति नैयायिकप्रश्नः । ३६७-८
- ९ उक्तप्रश्नप्रतिविधान, प्रैरूप्यवत्पञ्चरूपत्वस्याऽपि हेत्वाभासे सम्भोपोपादानेनातिव्याप्त्याऽगमरुत्व व्यवस्थापितम् । ३६७-२५
- १० अबाधितत्वामत्यतिपक्षित्वरूपद्वय शङ्कासमाधानाभ्या निराकृतमिति तद्घटितपञ्चरूप न युक्त, किन्तु निश्चितान्यथानुपपन्नत्वमानमेकरूपमिति निगमितम्, तत्र 'अन्यथाऽनुपपन्नत्वम्' इति पद्यसवादः, तद्रूपमान् हेतु, तदन्यो हेत्वाभास इति दर्शितम् । ३६९-४
- ११ नैयायिकाभिमत दुष्टहेतुलक्षण, दोषसामान्यलक्षणञ्चोपदर्शितम् । ३६९-८
- १२ जैनमते सद्धेतुभिन्नहेतुत्वमेव दुष्टहेतुलक्षण, तत्र जैनतर्कपरिभाषासवादः, तस्यासिद्धविरुद्धान्तरान्तिराल्खयो भेदा प्रत्येकं सलक्षणा, ज्ञान्तरभेदाथ भाजिता । ३६९-१६
- १३ जैन प्रति अचेतनास्तत्र च विज्ञानेन्द्रियायुर्निरोधलक्षणमरणरहितत्वादिति बौद्धानुमाने 'से वेमि इमपि' इत्याद्यागमवचनेन हेतो प्रतिवाद्यऽसिद्धत्वमुपदर्शितम् । ३६९-३५
- १४ धैशेषिकादिक प्रत्यपि बौद्धोक्तानुमाने प्रतिवादिनो वैशेषिकादेस्तृष्णा विज्ञानेन्द्रियायुर्निरोधलक्षणमरणस्य भोगाधिष्ठानशरीरगवचनेन "नर्मदातीरसम्भूता" इत्यादि 'श्मशाने जायते वृक्षः' इत्याद्यागमेन चाम्युपगतत्वेन हेतोरसिद्धत्वैवेति प्रतिवाद्यऽसिद्धो हेतुः । ३७०-३
- १५ जैन प्रति सुखादयोऽचेतना उत्पत्तिमत्त्वादित्यनुमान साङ्ख्य करोति तदा वाद्यऽसिद्धो हेतुः । ३७०-१२

- १६ विरुद्धस्य लक्षणम्, तत्संवादिजैनतर्कपरिभाषोक्तस्य विरुद्धलक्षणस्य विवेचनम् । ३७०-१४
- १७ अनैकान्तिकस्य लक्षणम्, तत्प्रभेदस्य चोपदर्शनम् । ३७०-१९
- १८ सोपाधिकत्वेन स श्यामो मित्राननयत्वादित्यत्र हेतुर्न्याय्यत्रासिद्ध इति नैयायिकमतस्य खण्डनम्, तस्य सन्दिग्धनिपक्षवृत्तिः हेतुरनैकान्तिक इत्यत्रैवान्तर्भावात् । ३७१-२०
- १९ अप्रयोजकापरनामाऽकिञ्चित्कारण्यहंतो पक्षाभासेऽन्तर्भावान्नातिरिक्तहेत्वाभासत्वमित्युपदर्शितम् । ३७१-६
- २० कालात्ययापदिष्टम्यापि पक्षदोषा तर्भावनेन हेत्वाभासत्तमपाकृतम् । ३७१-१३
- २१ प्रकरणसमस्यासिद्धान्तर्भावादतिरिक्तहेत्वाभासत्तमपाकृतम् । ३७१-२०
- २२ जैनमते साधारणानैकान्तिक एक एवानैकान्तिकभेदो न त्वसाधारणानुपसंहारिणानित्युपपादितम् । ३७१-२२
- २३ पक्षासिद्धिरपि पक्षदोष एव न हेतुदोष इति । ३७२-२
- २४ निश्चितान्ययानुपपत्त्यात्मककलक्षणको हेतुर्गमको न त्रिलक्षणादिरिति निगमितम्, सोऽपि गमकः प्रधानगौणभावेन परस्परस्वरूपानहृद्धृत्तिमाधर्म्यवैधर्म्यरूपात्, न तु केवलात्साधर्म्यादित्त । ३७२-३
- २५ जैनमते एका तेन केवलान्वयि हेतुः केवलव्यतिरेकी च हेतुर्नास्ति, व्यवहारस्तु तथोभयसद्भावेऽपि वस्तुत्वप्रमेयत्वादायन्वयव्याप्ति एव केवलान्वयीति, लक्षणाद्यात्मकहतोश्च व्यतिरेकव्याप्ति एव केवलव्यतिरेकीति । ३७२-७
- ५७-१ सामान्यविशेषयोस्वरूपमिथो विभिन्नमेवेत्यनूद्य तन्निराकरणचिकीर्षया 'द्वन्द्वियवत्तत्त्वं' इति सप्तपञ्चाशत्तमगाथेत्येवमवतरणम् । ३७२-२२
- २ उक्तगाथाविवरण, तत्र द्रव्यार्थिकरूपपरमत्वम्य विशेषनिरपेक्ष सामान्यं, पर्यायास्तिरूपवक्तव्य सामान्यनिरपेक्षो विशेष एव, एतावेकत्र दर्शितौ स्वस्वप्रतिनियतापेक्षया प्रादमतिशयाते इति । ३७२-२७
- ३ तथैवाप्यक्षप्रमाणानुभूयमानत्वहेतुना वस्तुमात्रे सामान्यविशेषोभयात्मकत्वं साधितम् । ३७३-९
- ४ विशेष-सामान्य-तदुभय-तदनुभयमात्रेषु दोषोद्भावनतोऽनैकान्तवादव्यवस्थापनम् । ३७३-२०
- ५८-१ म्याद्गर्भमेव साध्य परदूषणानाक्रान्त साधयितु योग्य, न त्वेका तात्मकमित्युपदर्शनपरतया 'हेतुविसञ्जीवनीय' इत्यष्टपञ्चाशत्तमगाथाऽवतारिता । ३७४-११
- २ उक्तगाथाविवरणम्, तत्र हेतुज्ञानजन्यानुमितिचिधेयतथोपनीत वस्तु दूषणवादी

- यया प्रतिपाद्य दूषयति तद्द्वितीयधर्माक्रान्त स्यात्पदगर्भं यद्यदर्शयिष्यत्  
पूर्वपक्षवादी तदा न केनापि जेतु शक्य इति प्रदर्शितम् । ३७४-१६
- ५९-१ एतत्पटीकरणार्थतया 'एयन्तासम्भूय' इत्येकोनपष्ठितमगाथाञ्चतारिता । ३७४-२८
- २ उक्तगाथाविवरण, एकान्तासद्भूतमनिश्चितं च सद्भूतं यदन् वादी लौकिक-  
परीक्षकाणां निन्दामार्गमामोति, ततः परार्थानुमित्यर्थं निश्चितान्यथानुपपन्न  
एव हेतुः प्रयोक्तव्यः, प्रतिज्ञादिकं यदपेक्षयाऽनुपपन्नं यदपेक्षयोपपन्नं तत्प्र-  
दर्शितम्, तत्र देयसूत्रिविचनं च प्रदर्शितम् । ३७५-१
- ६०-१ अध्यक्षादिप्रमाणसिद्धत्वेनाबाधितस्यानेकान्तात्मकरस्तुनः प्ररूपणैः सन्मार्गं  
इयुपसहारार्थतया 'द्वयं स्वित्च काल' इति पष्ठीतमगाथाञ्चतारिता । ३७५-१४
- २ उक्तगाथाविवरणम्, द्वयक्षेत्राद्यष्टभासानाश्रित्य समानरूपतया भावाना  
स्याद्वादात्मिका प्ररूपणा परमार्थदृष्ट्या वस्तुतत्त्वसाधिका । ३७५-१८
- ३ द्रव्यादीनष्टभासानामत्येकं स्वरूपत उपदर्श्यं तदपक्षया समानरूपतया निरूपणा  
सन्मार्गं, तत्र हेतुस्यदर्शितम् । ३७५-२२
- ४ अनुभरसिद्धमप्येकानेकात्मकं वस्तु प्रतिक्षिपन् वैशेषिकी नैयायिको वा चित्रपटे,  
चित्रैररूपमपि कथमभ्युपेयादित्युपदर्श्यं तत्र नव्यनैयायिकानां प्राचीननैयायिकानां  
च मतव्यं विविच्य दर्शितम्, विचारश्चाभिनयः प्रकटितः । ३७५-३०
- ५ तत्र मतद्वयस्य नानास्वभावाभ्युपगमचित्रैररूपमात्राभ्युपगमपरस्यानुभरसिद्धत्व  
शुक्लनीलादिनानारूपाणां चित्ररूपस्यैरूपस्य च चित्रपटेऽभ्युपगमो युक्त इति नानारू-  
पसमानाधिकरणचित्ररूपमेकमित्यभ्युपगन्तजैनमतस्य प्रपञ्चनम् । ३७६-८
- ६ चित्रपटे एकं चित्ररूपमेव, शुक्लाद्यैकैकाववावच्छेदेन चक्षुःसन्निरूपं रूप  
प्रत्यक्षं मनस्येव, चित्रत्वप्रत्यक्षं तु परम्परयाऽत्रयगतनीलेतररूपपीतेतररूपादि-  
ग्रहण्यं तत्कारणतयाऽभ्युपगतस्याभावाच्च भवति, अत्रोदयनमतसवाद् इति  
नैयायिकपूर्वपक्षः । ३७७-६
- ७ उदयनाचार्यानुयायिपूर्वपक्षप्रतिविधानं जैनस्य, तत्र चित्रावयविनि युक्ति-  
लान्नानारूपमद्भाव प्रसाध्य शुक्लाववावच्छेदेन चक्षुःसन्निरूपं तत्र शुक्ल  
रूपस्यैव प्रत्यक्षमिति दर्शितम् । ३७८-२
- ८ अत्रयविनि चित्रे एकस्यैव चित्ररूपस्याभ्युपगन्ता यदि कारणविशेषाभ्रयणेन  
शुक्लाववावच्छेदेन चक्षुःसन्निरूपं चित्रत्वप्रत्यक्षाभावं चित्रत्रय्यरूपप्रत्यक्षं चोप-  
पादयेत्तदा वर क्लृप्तेष्वेव नानारूपेषु व्यासज्यवृत्तिचित्रत्व, तस्य समानाधि

करणानारूपग्रहव्यङ्ग्यत्वमिति शुक्लाद्येकावयवावच्छेदेन चक्षुस्सन्निकर्षे शुक्ला-  
द्येरूपस्यैवग्रहादुक्तव्यञ्जकाऽभावात् तत्र चित्रत्वप्रत्यक्षमिति । ३७८-१४

९ एतत्पक्षे चित्ररूपमतिरिक्तं नास्ति, किन्तु व्यासज्यवृत्तिचित्रत्वजातिप्रत्यक्षा-  
चित्रत्वव्यवहार इति । ३७९-७

१० यत्रावयविनि नानाशुक्लादिरूपाण्यनुभूयन्ते तत्रैकं चित्ररूपमप्यनुभूयते इति तदप्य-  
भ्युपेयमित्येकानेकचित्रद्रव्यस्वभावः तत्र शुक्लादिस्वभावो देशनियतधर्मः, चित्रस्वभावः  
स्वधनियतधर्मः, विभिन्नसामग्रीतस्तदुभयग्रह इत्युपगमे सर्वं चतुरस्रम् । ३७९-८

११ अनपैव दिशा द्विहस्तादिमितेऽवयवि यनेरुपरिमाणवचनमुपपादितम् । ३७९-१६

१२ चित्रद्रव्यमेव स्वसामग्रीप्रभव, तत एव चित्रतदितररूपोभयम्भवानस्तस्य, न  
त्वेकान्तनैयायिकपरिकल्पितकार्यभारणभावादिक युक्तमित्यादि विचारितम् । ३७९-२१

१३ अर्थसमाजसिद्धत्वेनैकानेकस्वभावचित्रद्रव्यत्व न कस्यचित्कार्यताच्छेदकमिति  
नैयायिकाशङ्काऽप्याकृता । ३८०-३

१४ चित्रानयविनि नैकं चित्ररूपं किन्त्वव्याप्यवृत्तिनानारूपाणीति नव्यनैयायि-  
कमत युक्त्या व्युदस्यैकानेकस्वरूपद्रव्याभ्युपगमः स्याद्वादिनः प्रामाणिक  
इति दर्शितम् । ३८०-१५

१५ नव्यनैयायिकाभ्युपगतस्याव्याप्यवृत्तिनानारूपस्य खण्डनमतिदिष्ट, स्याद्वादि-  
युक्तिनिरुद्धे दर्शितः । ३८०-३०

१६ चित्रावयविनि व्याप्यवृत्तिभ्ये नानारूपाणीति मतस्य खण्डनमतिदिष्टम्, तत्र  
“आश्रयव्यापित्वेप्येकावयवसहिते” इत्यादि सम्मतिटीकाकृद्चनसमादध । ३८१-२२

१७ शङ्कान्तरमप्युद्गाव्योक्तमत व्युदस्तम् । ३८१-२७

१८ यथैकानेकतया रूपस्य चित्रत्व तथा वस्तुमानेऽपि, यथा ग्राह्ये तथा ग्राहके  
ज्ञानेऽप्येकानेकस्वभावत्व, तत्राखण्डाया एकाकारताया, सखण्डानाञ्च  
बद्धीना विषयतानामनुभवात्, नैयायिकैरप्येतन्निराकरणं कर्तुमशक्यम्, अत्र  
“चित्रमेकमनेकञ्च” इति उपाध्यायवचनसमादध । ३८२-९

६१-१ अनिपुणा पुनः प्रत्यक्षादिप्रमाणत्राधितार्थैकरूपाप्यागमस्या घपरम्परान्यायेन  
प्रामाण्यमाधयन्तोऽन्यगतस्त्रतात्पर्यार्थिषु प्येत्येतत्प्रतिपादनार्थतया ‘पाठैरुक्तनयपहगर्थ’  
इत्येकपष्ठितमगाथाऽत्रतरिता । ३८२-२१

२ उक्तगाथाविवरण, तत्र एकैरुक्तग्रहादितत्तन्नयमशत-वेदान्त-मीमांसा-वैशेषिक-  
नैयायिक-चार्वाक-बौद्धदर्शनस्यैवाप्यधीत्य स्त्रधरा वयमिति शब्दमात्रसन्तुष्टा

अविदितघ्नान्तर्गतपरमाहस्यभूतभाषार्थाः तत्तन्नायाधीनमज्ञमङ्गुपादिसह-  
टितपथार्थसूत्रार्थविचेनतत्परखुद्विहीना इत्यर्थो दर्शितः ।

३८२-२६

६२-१ अन्यनयानपेक्षैरुनयाश्रयेण घ्नानभिप्रायव्यावर्णनपराणा वादिना दूषणोपद-

र्शकतया 'सम्मदसणमिणमो' इति द्विपष्ठितमगाथाऽवतारिता ।

३८३-१७

२ तद्विचरण, तत्र सकलधर्मप्रतिपादकत्वलक्षणसकलधर्मपरिममाप्तत्ववत्त्वात्पद-

घटितवचनप्रवर्तकत्वेन सकलधर्मपरिसमाप्तवचनीय सम्यग्दर्शनं निर्दोषमित्यर्थः । ३८३-२०

३ अनमिलाप्यधर्मप्रतिपादकत्वप्रसङ्गमीत्या स्यात्पदघटितवचनस्य सकलधर्मप्रति-  
पादकत्वं न सम्भवतीति प्रश्नस्य प्रतिप्रधानम् ।

३८३-२७

४ उक्तसम्यग्दर्शनमात्मोत्कर्षविनष्टा, श्लाघमाना विनाशयन्ति, अस्य भावशोपदर्शितः । ३८४-३

६३-१ शासनमत्तास्ते सम्यग्दर्शनं कथं विनाशयन्तीत्याशङ्कानिर्मुक्ततया 'न ह्यु-

सासनमत्ती' इति त्रिपष्ठितमगाथाऽवतारिता ।

३८४-९

२ तद्विचरणम्, न खलु शासनमक्तिमात्रेण स्याद्वाङ्मसिद्धान्तजाता भवति, न च

स्याद्वादसिद्धान्तामिहितपथारस्यितरस्तुतस्त्वज्ञानमन्तरेण भावमम्यन्त्वं, यथा  
स्मादद्या श्रद्धानुसारीणा सम्यक्त्व तत् 'सत्पर्यादि' इत्यादि ज्ञानविदुवचनात्  
तदेव सत्यमित्यादिनाहितनासनारूपं द्रव्यमम्यक्त्वमेवेति ज्ञातव्यम् । ३८४-१३

३ न जीवादितत्त्वैकदेशप्रानाजपि नियमात् अनेकान्तात्मनस्त्वस्वरूपपर्यायप्ररू-  
पणाया निश्चितो भवति, तत्र हेतुरपदर्शितः ।

३८४-२३

६४-१ 'अल्यापरमसदिग्धम्' इत्यादिवचनोक्तलक्षणं घ्नं महापुत्रपणीत गम्भीरार्थं,

तन्मात्रं न विशिष्टार्थो धक्षम, किन्तु व्याख्यानविशेषद्वारेत्येतत्प्रतिपादनार्थतया  
'सुक्तं अत्यनिमेण' इति चतुःपष्ठितमगाथाऽवतारिता ।

३८५-३

२ तद्विचरणं, तत्र घ्नार्थयोर्निर्वाचनं, सूत्रितासिद्धमेदेनार्थम्य द्वैत्रिष्य, तस्य स्यान्  
अनन्तार्थभूतं घ्नं, निर्युक्तस्यादिनिरपेक्षेण तन्मात्रेणार्थप्रतिवर्त्तिनं सम्भवति, 'मूत्रं केवलसुक्तं'  
इत्याद्युपदेशरहस्यवचनात्त्रैवलक्ष्यस्य मूर्त्त्वमर्थस्य प्रकृतजिह्वात्वमुपदर्शितम् । ३८५-९

३ पत्रककेत्याद्युपदेशपदवचनादर्थस्य पदार्थ-वाक्यार्थ-महानाक्यार्थैदम्पर्यार्थमेदेन  
चतुर्विधत्वं, प्रत्येकं तेषां चतुर्णां स्वरूपलक्षणमुपदर्शितम् ।

३८५-१७

४ प्रतिघ्नप्रसक्तक्रमेण व्याख्यानं निश्चितप्रामाण्यकं सम्यग्ज्ञानं, तत्र वाक्यार्था-

दिज्ञानं मतिरूपं श्रुतज्ञानाम्यन्तरं श्रुतद्वयसम्मतं, तत्र एव समानाक्षरलामाना  
चतुर्दशपूर्वविदामपि क्षयोपशमनैचिन्त्याद्विचित्रमतिविशेषैः पदस्थानप्रतिवर्त्तं श्रूयते,

तत्र "अक्षरलमेण" इत्यादि विशेषानशयकमाम्यसंवादः ।

३८५-२३



५ न सुचमेत्तेणेत्यन्तार्यं व्याख्यातम्, सूत्रमात्रेणावाधितार्थप्रतिपत्तिर्नेति । ३८५-२८

६ "अत्यगई" इत्याद्युचरार्थमन्तार्यं व्याख्यातम्, नयनादगहनलीनेत्यस्योपपत्तये  
'नत्थि नएण विहूणं' इत्याद्युचितसङ्घटनम् । ३८६-७

६५-१ अर्थात्सूत्रेणार्थसम्पादने विधिनाऽधिकृततो यत्तो विधेयः, अन्यथा शासनमालिङ्ग्यकारित्वं  
स्यादित्याशयतया "तम्हा अहिगयसुत्तेण" इति पञ्चपष्ठितमगाथाऽन्तारिता । ३८६-११

२ तद्विवरणम्, तत्र सूत्रार्थो बलीयानिति हेतोः अधिगतसूत्रेण अर्थविपयकप्रमा-  
णतत्तन्नयस्वरूपावधारणे दृढयत्नेन भाव्य यस्मादाचार्यधीरहस्ता आप्तशासन  
चिडम्भवन्तीति ज्ञायतामित्यर्थो व्यक्तोक्तः । ३८६-१७

६६-१ अनिश्चितशास्त्रार्थस्य बहुश्रुतत्वादिदर्पात् सूत्रतात्पर्यान्वयबोधोराच्च सिद्धान्त-  
प्रत्यनीकृत्यमित्यर्थकतया "जह जह नहुस्सुओ" इति पञ्चपष्ठितमगाथाऽन्तारिता । ३८६-३०

२ तद्विवरणम्, तत्र श्रुतपह्यग्राहितया यथा यथा बहुश्रुतत्वख्यातिमाऽ मन्दमतिप्रभृतीनां  
शास्त्रज्ञत्वेन सम्मतः शास्त्रतत्त्वानभिज्ञैर्विन्नेयमृन्दैः परिवृतश्च समयेऽविनिश्चितार्थ-  
अविनिश्चितार्थमैदम्पर्यञ्च तथा तथा सिद्धान्तविनाशको भवतीति । ३८७-३

३ अत्र "सच्चण्णुहि षणीय" इति सिद्धातगाथाद्वय तदर्थश्च समादक उपदर्शितः । ३८७-१२

६७-१ "चरणरूपणपहाणा" इति पष्ठितमगाथाया अवतरणद्वयम्, शास्त्रमधीत्य तदर्थोऽन्वधारणम्,  
अवधृतस्यार्थस्य प्रमाणनयामिप्रायतः परिभाजनीयत्वमिति, म्याद्वाद एव प्रवचनसार  
एतस्मिन्निश्चिते चरणरूपणानुष्ठानस्य निश्चयशुद्धः सारोऽभिगतः स्यादिति  
च ब्रमेण दर्शितम् । ३८७-२२

२ तद्विवरणम्, तत्र चरण 'द्यसमणवम्म' इत्यादिगाथोक्तमसतिभेदम्, 'करण पिंड-  
विमोही समिई' इत्यादिगाथोक्तमसतिभेदम्, तदुभयानुष्ठानप्रवृत्त्येऽस्तीना  
स्वसमयपरसमयमुक्तव्यापारा चरणरूपणस्य सार निश्चयशुद्ध न जानन्ती  
त्येकोऽर्थं संक्षिप्तो दर्शितः । ३८८-३

३ उरतगाथात्रिस्तुतार्थं, स्वसमयत्वे परसमयत्वे च हेतुपदश्रुतेन अय स्वसमयः अपञ्च  
परसमय इत्येतस्मिन् परिज्ञाने मुक्तव्यापारा इत्यस्यार्थ उक्तः । ३८८-१३

४ चरणरूपणयोस्मार निश्चयशुद्ध न जानन्तीत्यस्यार्थद्वयमुपदर्शयोपपादितम् । ३८८-१९

५ 'मण्णइ तमेन सच्चं' इत्यागमाद् यद्दृष्टमिदं तदेव सत्यमित्येतावतेन सम्य  
ग्दर्शनमद्भाष इत्याशङ्क्य परिहृतम् । ३८८-२५

६ अत्रागमत्रिरोधाशङ्कोत्थाप्यापाकृता, तत्र ये यथोदितचरणरूपणप्रवृत्त्यासेवन  
द्वारेण प्रधानादाचार्योत्सवसमयपरसमयमुक्तव्यापारा न भवन्ति ते चरणरूपण-  
सारं निश्चयशुद्ध जानन्त्येवेत्यर्थः, तत्र "त स णयविमुद्धं" इत्यागमः प्रमाणम् । ३८८-२९

- ७ गीतार्थनिश्चितस्यागीतार्थस्य गुरुपास्तत्र्य फलतो ज्ञानदर्शनलक्षणमित्यत्र “गुरुपास्त-  
ततनाणं” इतिहरिभद्रसूरिवचनसमाद , गीतार्थाऽनिश्चितस्य तस्य प्रताद्यनु-  
ष्ठानवैफल्य, तत्र “गीयत्यो य विहारो” इत्याद्यागमः प्रमाणमिति दर्शितम् ।  
उक्तगाथायाः तृतीयोऽर्थश्चतुर्थोऽर्थश्च विस्तरेण प्रदर्शिनः । ३८९—५
- ८ तत्र द्रव्यमभ्यवत्वमात्रसम्यक्त्ययोस्वरूप 'जिणयगमेव तत्त' इत्यागमत्रये  
नोक्तम् । ३९०—३
- ६८-१ परस्परसापक्षे एव ज्ञानक्रिये मोक्षानुकूलश्रितमत्त्वेन मोक्षप्रति कारण, न  
तु निरपेक्षे काले इत्यर्थकृतया 'नाण किरियारहिय' इत्यपठितमगाथाऽनारिता । ३९०—८
- २ तद्विवरणं, क्रियारहित ज्ञान क्रियामात्र चेत्येकान्तौ द्वारपि पक्षौ जन्ममरण  
दु खेम्यो मा भैषीरिति दर्शयितुममर्थौ । ३९०—१३
- ३ कस्तथा समर्थ इत्याशङ्काया परस्परसापक्षसमुद्भिततद्भयात्मरूपश्च एवेति  
प्रतिपादित, 'ह्य नाण क्रियाहीण' इति विशेषाशयक्रियैर्भुक्तिमत्रादोऽत्र दर्शित' । ३९०—१९
- ४ ज्ञानमात्रत्रियामात्रयोरीप्सितार्थप्रापकत्वप्रतिषेधसाधके अनुमाने दर्शिते । ३९०—२६
- ५ सम्यग्ज्ञानसम्यक्क्रियोभयत्र पुनः भयमुक्तत्प्रसाधकरुमनुमान, तत्र “सजोग  
सिद्धीए फलं” इति विशेषाशयक्रियैर्भुक्तिवचन प्रमाणम्, तत्सवाङ्कं  
'चक्षुम्मानेकः' इति वचनञ्च, सम्यक्क्रियासम्यग्ज्ञानोभयस्येष्टफलसिद्धिजन-  
कत्वसाधकरुमनुमानश्च दर्शितम् । ३९०—२९
- ६ उक्तदिशा प्रतिपादितस्य ज्ञानक्रियाभ्या मोक्ष इत्यस्य 'नाण पयामयं सोहओ'  
इति विशेषाशयक्रियैर्भुक्त्या प्रतिपादितेन ज्ञानतपःसयमेभ्यो मोक्ष इत्यनेन  
निरोध इति प्रश्नस्य प्रतिविधानम् । ३९१—९
- ७ तत्र तप संयमयोः क्रियायामन्तर्भावे 'सजमतगोमई ज' इति वचनमत्राद । ३९१—१६
- ८ ज्ञानग्रहणत सम्यग्दर्शनस्याक्षेपण 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारिणाणि मोक्षमार्गः' इति  
तत्त्वार्थाधिगमसूत्रेणापि न निरोध इत्यतिदिष्टम् । ३९१—१८
- ९ यद्वा मतिज्ञानस्य रुचिरूपोऽपायाश एव सम्यग्दर्शनमिति तस्य ज्ञानरूपत्वादेव  
न निरोध , गोवृषयायेन सूत्रे पृथग् निर्देशः, त्रयाणा च मोक्षानुकूलैकशक्ति-  
मत्त्वाच्छिन्नकारणत्वस्वरूप मोक्षमार्गत्वं सूत्राभिप्रेतमिति । ३९१—२२
- १० सम्यग्दर्शनादित्रयस्य ज्ञानक्रियोभयस्य वा केन रूपेण कारणत्वमिति प्रश्नस्य  
प्रतिविधानम् । ३९१—२४

- ६९-१ यदार्थस्त्वरत्नाकरस्य कृताविकल्पदार्थप्रकाशस्यानभिमतनीयस्य जिनरचनस्य स्तुतिरूपामन्तिममङ्गलात्मिका प्रकरणपरिममाप्तावन्तिमगाथां श्रीसिद्धसेनदिवाकर स्वरुक्ताग्नित्येव रूपा 'महं मिन्ऽउदसण' इत्येकोनमस्तितमगाथाऽउत्तारिता । ३९२-४
- २ उक्तगाथाविवरण, तत्र जिनरचनस्य कल्याणप्रार्थना, जिनवचनस्य निर्वचन, तदुक्तिप्रयोजन, तद्विशेषणस्य मिथ्यादर्शनममूहमयस्येत्यस्य निर्वचन, तत्प्रयोजनञ्चोपदर्शितम् । ३९२-११
- ३ मिथ्यादर्शनानां प्रत्येकारस्थाया मिथ्यादृष्टित्वात्तत्तमूहेऽपि महामिथ्यादृष्टित्वप्रसक्त्या तमय जिनरचन कथं सम्यग्भाव प्रपद्यत इति प्रश्नस्य प्रतिविधानम् । ३९२-२७
- ४ जिनरचनस्य मिथ्यादर्शनसमूहमयत्वादेव तस्य समुद्ररूपस्य वेदान्तादिप्रकृतिभूता प्रत्येकनयास्तद्भावात्, तमयश्च जिनरचनसमुद्रोऽमलं रत्नत्रयं प्रद्यत इति तदर्थिनस्तत्कारि भवत जिनमाश्रयन्ते, अत्र 'नयास्तत्र स्यात्पदलाञ्छना इमे' इति दिवाकररचन सवादकम् । ३९३-६
- ५ अमयसारस्सेत्यस्य अमयसायस्सेति पाठान्तरस्य च भगवत इति विशेषणस्य च संविग्रमुखाधिगम्यस्येत्यस्य च निर्वचनं, तत्प्रयोजनञ्च दर्शितम् । ३९३-१२
- ६ इयं च जिनरचनकल्याणप्रार्थना प्रकरणपरिममाप्तावन्तिममङ्गलात्मिका स्तुतिरिति निगमनम् । ३९३-२९
- ७०-१ दर्शनाद्यष्टद्वारिनामगर्भम्बगुरुनेमिसुरीश्वरस्तुतिरूपान्तिममङ्गलरूप पद्यद्वयम् । ३९४-३
- २ तृतीयपद्ये नव्योक्तिमेवमथनेनागमाब्धिसमुत्थमुनयामृतपानं बुधस्याशंसनम् । ३९४-७
- ३ चतुर्थपद्ये लघुवृत्तिपूर्तिकरणस्यानमं वत्सरमासदिनाद्यावेदनम् । ३९४-९
- ४ तार्किकशिरोमणि-श्रीसिद्धसेनदिवाकरप्रणीतसम्मतिनैर्कप्रकरणस्य विशिष्टानेकनिरुद्धसमलङ्कृत-श्रीविजयनेमिसुरीश्वर-पट्टाब्धिचन्द्र-न्यायवाचस्पति-शास्त्रविशारद-विजयदर्शनमूरि-विरचिताया सम्मतितर्कमहार्णवावतारिका यसम्मतिनैर्कलघुटीकायास्ममाप्तेस्तद्वचनम् । ३९४-११
- ५ एकोनचत्वारिंशत्तरयकानि प्रशस्तपद्यानि । ३९५-२
- ॥ इति श्रीसम्मतिनैर्कमहार्णवावतारिकाविययानुक्रमणिका समाप्ता ॥



# ॥ श्रीसम्मतिकर्महार्णवावतारिकान्तर्गतसाक्षिभूतग्रन्थनामावलिः ॥

## सम्मति०महा०पत्राङ्कानि

- १ आचाराङ्गसूत्रम् १३९, ३५६, ३६९
- २ सूत्रकृताङ्गसूत्रम् ३०, ९४, १९२.
- ३ स्थानाङ्गम् १००, १८६
- ४ भगवती ११२, १३८, १८८, २३२  
२३९, २५५, २७३, २७६, २८१  
३१३, ३५६
- ५ अयुयोगाधारधाम् ५३, ५८, ७३, ७६,  
३२८, ३३७, ३३८
- ६ उत्तराध्ययनम् २७१, २०६
- ७ विशेषाभ्यक्तभाष्यम् ३८, ३९, ४७,  
५३, ६१, ६५, ७०, ७३, ७४, ७५,  
१०३, १०५, १०७, ११३, ११५,  
१३६, १३७, १९३, १९८, २००, २०७,  
२०८, २१९, २२२, २३५, २३६,  
२३७, २४४, ३२२, ३२८, ३३७,  
३३८, ३४०, ३८५, ३९०, ३९१,
- ८ नदीसूत्रम् १९८, १९९, २००, २०१,  
२५०, २५३
- ९ दशमैशालिम् ३५१
- १० प्रज्ञापनासूत्रम् ४२, १९६, २२१, २२५  
२४२, २४५
- ११ आवश्यकसूत्रम् २३३, २४५, ३९२
- १२ बृहत्कल्पभाष्यम् २००, २३३, २३७.
- १३ पञ्चवस्तु ३२६,
- १४ पञ्चमहद्ग्रह २२४
- १५ प्रमाणनयतत्त्वालीकालङ्कार. १६, २७,  
३१, ५३, १७०, १७३, २०५, २१७  
२८०, २८३, २८९, ३१७, ३२९  
३३२, ३६०, ३६५, ३७१, ३७५

## सम्मति०महा०पत्राङ्कानि

- १६ स्याद्वादरत्नाकर. ४, २२, ३७, ९२  
९३, २१५, २३४, २६७, २७२  
२७४, ३३२, ३३३, ३४६
- १७ द्वादशारनयचक्रम् १३८
- १८ तत्त्वार्थसूत्रम् ४, ७५, ८६, ८८, ९२  
१०६, १७६, १९७, २३२, २३४  
२३६, २४२, २८०, २८३, २८९  
३०४, ३१६, ३१७, ३३०, ३३७,  
३४०, ३९१
- १९ तत्त्वार्थत्रिसूत्री ३०५
- २० तत्त्वार्थविमरणम् ३१, ५४, २४७  
२४८, २५५
- २१ सम्मतिकर्मवृद्धवृत्तिः ५९, ६०, ६६  
९४, २१८, २४२, २४७, ३३१  
३३५, ३४१, ३८१
- २२ स्याद्वादमञ्जरी ५२, ९२, १३१
- २३ उपदेशपदम् ७२, ३८५
- २४ वीतरागस्तोत्रम् १३३
- २५ प्रथमरति २७६
- २६ अष्टम् ५०
- २७ ध्यानशतकम् ३८
- २८ पञ्चाशकम् ३८९
- २९ धर्मसंग्रहणि. १९६, २१८
- ३० निरयद्वात्रिशिका २०९, २४३
- ३१ उत्पादादिसिद्धिः १२०
- ३२ अष्टमहस्त्रीविमरणम् १४८, १६७, २९७  
३२५

## सम्मति०महा०पत्राङ्कानि

- उपदेशाहस्यम् २५३, २९७, ३८५  
 अनेकान्तव्यवस्था १५९, २९७, ३४६  
 न्यायखण्डखाद्यम् ५२, ८८, ८९, ९१,  
 ९४, ९६, १३३, १४४, १४७, १४९,  
 १६८, १६९, १७०, १७१, १७२,  
 २६७, २७१, २९२, २९५, ३०४, ३१४  
 नयोपदेशः ५१, ५३, ५६, ६०, ६२,  
 ६३, ६४, ६६, ७५, ७६, ८१, ११३,  
 ३२९, ३३१, ३३५, ३३७, ३३९,  
 ३४०, ३४१, ३४२, ३४५, ३४६, ३६३  
 अध्यात्मोपनिषत् २९३  
 ज्ञानविदुः २२१, २२६, २२७, २३८,  
 २३९, २४०, २४२, २४६, २५७, ३८४,  
 ९ गुरुत्वविनिश्चय १३४  
 ० प्रतिमाशतकम् ६२, २९७  
 १ जैनतर्कपरिभाषा ३६९, ३७०  
 २ शास्त्रार्थासिद्धयुचय' ७४, ९९  
 ३ अस्पृशहतिवाद' ३२५  
 ४ गौतमाष्टकम् ३१  
 ५ आत्ममीमांसा २८  
 ६ तन्त्रार्थश्लोकार्थिकम् ६७, ६८, ९७,  
 २८०  
 ७ चिन्तामणि. २१२  
 ८ कुसुमाञ्जलि ६२, ३६२  
 ९ कारिकावलि १९७  
 १० न्यायमञ्जरी १३, १४, १२९, २१४, ३६७  
 ५१ पक्ष्वा— ११, ३२४  
 ५२ व्यधिकरणधर्माच्छिन्नामात्र १८९  
 ५३ न्यायसूत्राणि २७७, ३६५, ३८३

## सम्मति०महा०पत्राङ्कानि

- ५४ वैशेषिकसूत्राणि २७८, २७९, ३१४,  
 ३१५, ३६५, ३८२  
 ५५ वैशेषिकसूत्रोपस्कारटीका ३७०  
 ५६ व्युत्पत्तिवाद' ३०  
 ५७ श्रीद्वैर्षकृतखण्डनखण्डखाद्यम् ३३०  
 ५८ सादृश्यतत्त्वकौमुदी १०४, १०८, ११९,  
 २६९, ३४९, ३५४  
 ५९ शाबरभाष्यटीका ११, १५  
 ६० मीमांसादर्शनसूत्राणि तद्भाष्यञ्च १५,  
 ३४७, ३८२  
 ६१ शारीरकमीमांसासूत्राणि १७३  
 ६२ मीमांसाश्लोकानुार्थिकम् २१, ४३,  
 ३५५, ३६६  
 ६३ पञ्चदशीचित्रप्रकरणम् १३२  
 ६४ वामन्यपदीयम् ५६, १४६, ३४७  
 ६५ श्रुति. ५८, ८१, २५७, ३४६, ३५३  
 ६६ संहिता २६२  
 ६७ वेदान्तदर्शनसूत्राणि ३८२  
 ६८ योगदर्शनसूत्राणि ३४  
 ६९ तत्त्वसङ्ग्रह' ३४३  
 ७० न्यायविदुः ३४, ३६५  
 ७१ प्रमाणवार्तिकम् २१५  
 ७२ बौद्धदर्शनसूत्राणि ३८३  
 ७३ सर्वदर्शनसङ्ग्रह ४१  
 ७४ चार्वाकदर्शनसूत्राणि ३८३  
 ७५ हैमसूत्राणि २२१  
 ७६ पाणिनीयसूत्राणि ३०, ४४, ४५,  
 १४५, १७५,  
 ७७ शाकटायनयाकरणम् १७५  
 ७८ पातञ्जलमहाभाष्यतट्टार्थिकम् ५५, ५७, १२६  
 ७९ अमरकोशादि ५०, ५५

## ॥ आचाराङ्गसूत्रादिटीकान्तर्गतसाक्षीभूतसम्मतितर्कगाथासूचि ॥

आचाराङ्गटीका			उत्तराध्ययनवृहद्वृत्ति		
काण्ड	गाथा	पृष्ठ	काण्ड	गाथा	पृष्ठ
१	२१	८० प्र	१	३-६	२१ प्र
१	१२	८५ द्वि	३	४७	६७
३	४५	१४७ प्र	अनुयोगदाटीका		
१	३१	१७१ द्वि	३	४७	२४७
स्रक्ताङ्गटीका			विशेषाध्ययनरुमाध्यम्		
१	२१-२२-२३ २४ २५	२११	३	५२	२१०४ ८६४
३	५३	२११	३	४९	२१९५ ८९९
स्वानाङ्गटीका			विशेषाध्ययनरुवृहद्वृत्ति		
३	६६	२५० प्र	३	५२	३३
३	४७	३९० द्वि	१	४७	३३
३	४९	३९१ प्र	१	३	१३४६
च्यारयाप्रज्ञप्तिटीका			विशेषाध्ययनरु-कोट्याचार्यवृत्ति		
३	३७	१८ द्वि	१	४७	२४
दशरैकालिङ्गीका			३	५२	२४
३	५२	३२ द्वि	१	३	९७६
१	१८	४० प्र			

## ॥ श्वेताम्बरपूर्वाचार्यकृतग्रन्थान्तर्गतसाक्षीभूतसम्मतितर्कगाथासूचिः ॥

द्वादशारनयचक्रम्			प्रमाणमीमासा		
काण्ड	गाथा	पृष्ठ	काण्ड	गाथा	पृष्ठ
१	३१	३			
३	४७	७	३	४९	१५-प्र पृ. १अ ३१ म
१	२८	३९	(समापान्तर) स्याद्वादमञ्जरी		
३	६९	९५	३	४७	३१०
१	४	१३४	अष्टाविंशतिश्लोकीकाया		
१	३	३०४			

काण्ड	श्ल	गाथा	काण्ड	गाथा	श्ल
तत्पर्यभाष्यबृहद्वृत्तिः (पत्राकार)			१	४१	५५
१	२१	१-अ. ६स	१	४७	२१८
	२८	प्र. ३५-प्र	२	३५ ३६	१४९
		पञ्चमस्तु	३	१०-११ १३-१४-१५	२३
३	४५	१५०	३	१२	२१
३	५३	१५७	३	३२	१५४
३	६६	१४३	३	३३	१५५
		उपदेशपदम्	३	३३	१५८
३	५३	१४० म. पृ.	३	३४	१६१
३	६५	३७२ प्र. पृ.	३	३८-३९	१५७
		द्रव्यानुयोगतर्कणा	३	३९	२३१
काण्ड	गाथा	श्ल	३	४१	१५३
१	३२	४६	३	४९	६३
१	३२	२२६	३	६७	३

॥न्यायाचार्यश्रीयशोविजयोपाध्यायमन्थगतसाक्षीभूतसम्मतिर्कगाथासूचिः॥

काण्ड	गाथा	श्ल	काण्ड	गाथा	श्ल
	अनेरान्तव्यवस्था		१	३८	७० द्वि
१	४	१० द्वि	१	३९	७१ म
१	५	५४ म.	१	४०	७१ द्वि
१	८	२८ प्र	१	४१	५७द्वि ७२ म
१	९-१० ११	२८ द्वि	१	५३ ५४	६५ द्वि
११	२१ १६-२१	२९ प्र	३	५६	७४द्वि
१	२२-२३	२९ द्वि	३	७८	७५ प्र
१	२४-२५ २६	३० प्र	३	९ १०-११	७५ द्वि
१	२७-२८	३० द्वि	३	१२	७६म ८० द्वि
१	३५	२६ द्वि	३	१३-१४	७६ म
१	३६	६९ प्र	३	१५	७६ द्वि
१	३७	७० प्र	३	१७ १८	८२ म
			३	१९-२० २१	८२ द्वि

काण्ड	गाथा	पृष्ठ	काण्ड	गाथा	पृष्ठ
३	२२ २३	८३ प्र	३	३	२५ प्र
३	२४ २५-२६	८३ द्वि	३	८	२६१ प्र
३	२७	८४ प्र	३	९-१०-११ १२	२६१ द्वि
३	२८	८४ द्वि	३	१३ १४ १५	२२३ द्वि
३	२९	८५ प्र	३	२७	२५९ प्र
३	३०	८५ द्वि	३	२८	२५९ द्वि
३	३३	८२ प्र	३	२९-३१	२१९ द्वि
३	३९	८१ द्वि	३	३२	२२० द्वि
३	४८	३१ प्र	३	३३	२०१ प्र
३	४९	४ प्र	३	३४	३५ प्र
३	३१ ६७	८६ प्र	३	३५	३६ प्र
			३	३८ ३९	२३५ प्र
			३	४०	६८ प्र
			३	४३ ४४	२७४ प्र
			३	४७ ४८ ४९	२४ द्वि
			३	५०	७९ प्र
			३	५३	२५६ प्र
			३	५६ ५७	नयामृततरङ्गिणी
			१	३	२९ प्र
			१	८-९	३० द्वि
			१	१०	३१ प्र
			१	१२-१३ १४	३५ द्वि
			१	१५-१६	३६ प्र
			१	२८	२८ द्वि
			१	३१	३ द्वि
			१	३४ ३५	१२ प्र
			१	४१	१३ द्वि
			१	५३	८८ प्र
			१	५४	१५ द्वि

## शास्त्रवाची-समुच्चय टीका

१	६	२४२ प्र
१	९	२३१ प्र
१	१० ११	२३१ द्वि
१	१२	२२४ प्र
१	२१	२३० प्र
१	२८	२३० द्वि
१	३६	२५२ द्वि
१	३७ ३८-३९	२५३ प्र
१	४०	२५३ द्वि
१	४३ ४४	२५८ प्र
१	४७ ४८	११५ प्र
१	४९ ५०	११५ द्वि
१	५१-५३	११६ प्र
१	५२ ५४	११६ प्र
२	३५	३४२ प्र
२	३६	३४२ द्वि



काण्ड	गाथा	पृष्ठ	काण्ड	गाथा	पृष्ठ
३	६	१९ द्वि	१	४१	२११ द्वि
३	२५	१५ द्वि	१	४७	९३ प्र
३	२८	९६ द्वि	२	३२	४ प्र
३	३७	४३ द्वि	३	३५	९३ द्वि
३	४७	८९ प्र	३	५	१९५ द्वि
३	५३	९२ द्वि	३	२८	३०९ प्र
अष्टसहस्री			३	३२	१६८ प्र
१	३५	५४ प्र	३	४१	१११ प्र
१	३६	२०८ द्वि	३	४३-४४	३०८ द्वि
१	३७	२१० द्वि	३	४५	३०९ द्वि
१	३८-३९-४०	२११ प्र			

## ॥ महावीरस्तवकल्पलतिकासमलङ्कृत-महावीरस्तवमूलगतसम्मतिगाथा ॥

काण्ड	गाथा	पृष्ठ	काण्ड	गाथा	पृष्ठ
१	८	२६६ प्र	२	१६-१७	११३ द्वि
१	२८	३१६ द्वि	२	१८-१९-२०	११४ प्र
३	६	३२५ द्वि	२	२१-२२	११४ द्वि
१	२५	३१९ प्र	२	२३-२४	११५ प्र
१	२९	१३२ प्र	२	२५-२६	११५ द्वि
३	३५	४१९ द्वि	२	२७थी ३०	११६ प्र
ज्ञानार्णवसमन्वितज्ञानविन्दुपराङ्कानि			२	३१	११७ प्र
१	८-३५	१०६ द्वि	२	३२-३३	११७ द्वि
२	३-४	१०८ द्वि	गुरुतन्त्रविनिश्चय		
२	५	१०९ द्वि	१	२८	१२ द्वि
२	६थी ९	१११ प्र	३	२७	१७ द्वि
२	१०-११	१११ द्वि	३	५४	१८० प्र
२	१२	११२ प्र	३	६६	७२ द्वि
२	१३-१४	११२ द्वि	प्रतिमाशतकम्		
२	१५	११३ प्र	१	५	२९३

काण्ड	गाथा	श्लोक
३	६७	६२
३	२८	६२
प्रथमचतुष्टयान्तर्गतोऽस्मृशङ्कगतिनाद		
३	४४ ४५	३५ प्र
२९२ परमुद्रित धर्मपरीक्षा		

१	३	९९
१	२८	२८
३	२७	२६२
३	४७	९५
३	४८ ४९	९९

## उपदेशरहस्यम्

१	५४	४० द्वि
३	२७	४१ द्वि
३	४५	६१ प्र
३	६६	६१ द्वि
३	६७	४३ प्र

## अध्यात्ममतपरीक्षा

३	४९	३६ प्र
---	----	--------

## तत्त्वार्थशिवरणाऽऽद्याध्यायः

२	३२-३३	१७ प्र
१	२१	२९ द्वि
१	२८	३० प्र

काण्ड	गाथा	श्लोक
१	३७	५३ प्र
१	३	६९ प्र
१	९	७१ प्र
१	८	७५ प्र
३	२५	८३ प्र

## द्रव्यगुणपर्यायाराम

काण्ड	संगाथा	दाल	गाथा
३	६७	१	२
३	१०थी १५	२	११-१२
१	३२	४	५
१	४१	४	१३
३	६७	४	१४
३	४९	५	६
३	३७	९	१२
२	३५-३६	९	१४
३	४१	९	१८
३	३२	९	१९
३	३३	९	२०-२३
३	३८ ३९	९	२१
३	३४	९	२६
१	४७	१३	१०
१	३२	१४	६
३	३९	१४	१६

॥ दिगवराचार्यकृतग्रन्थसाक्षिभूत-सम्मतिर्कगाथासूचिः ॥

## कमायपाहुड-जयधवलदीक्षा

काण्ड	गाथा	श्लोक
१	३५	२१८
१	४	२२०

काण्ड	गाथा	श्लोक
३	४७	२४५
१	११-१२-१३	२४८
१	१७ थी २१	२४९

काण्ड	गाथा	पृष्ठ	काण्ड	गाथा	भाग	पृष्ठ
१	८	२५२	१	६	३	३
१	३१	२५३		तत्त्वार्थश्लोकान्तिकम्		
१	९	२५६				
१	२८	२५७	३	४५	३	
१	६	२६०		पञ्चास्तिकायटीका		
२	४	३५१	३	६७	२५०	
२	५९	३५२		सिद्धिविनिश्चयटीका		
२	१२ १३	३५६				
२	३	३५७	३	५०	३२४ (लिखितपत्र)	
२	६	३५९		द्वादशारनयचक्र		
	पद्मखण्डागमधनलाटीका			३	५८	सप्तम-अर
काण्ड	सं-गाथा	भाग	पत्र	१	४७	अष्टम-अर
१	३१	२	६	१	६	अष्टम-अर





मर्मतनस्वतन्त्र-शासनमन्त्राद्-सुग्नियक्यकर्मति तपोग-जिपति जगदगुरु-सदा-कार्य  
 श्रीमान् विजयनेमिगुणीश्वरु मलाराज साहेबश्रील



११ म-सवत् १९२६ कार्तिक शु १ शुनिवार भद्रमती (भद्रा) वीक्षा स १९४५ जेठ शुभ ७ भावनगर  
 गल्पिप -स १९१० कार्तिक व १० प-पासप- मागसर शु ३ वषा (वदनीपुर)  
 आचार्यपद-स १९१४ जेठ शुभ ५ भावनगर  
 स्वर्गवास-स २००५ आसा १० ०)) १)वाला शुभवार भद्रा.

## ॥ श्रीगुर्वष्टकम् ॥

विशेषाघातत्वात्त्वमसि पुरुषेष्टतम इतो,  
 महिम्नः सामान्य तत्र तु समवेता अपि सुराः ।  
 गुणाधारो द्रव्यात् पृथगपि सुरूर्मांस्यज्मवनः  
 नमामस्त्वा देवालयमपि गत मद्बृहदयगम् ॥ १ ॥  
 गुरुस्त्वत्तो भीतो गुरुरर ! गतो देवसदन,  
 गत त्वां तत्रापि प्रथितमरलोक्त्यातिचकित् ।  
 स्वयं शिष्यो भूत्वा किमु तव कविं मीपयति यत्,  
 ननु त्वा काव्योपि श्रयति नमन तेऽस्तु चरणे ॥ २ ॥  
 हरस्त्वं शिष्याणां हरसि हृदयध्वान्तमनिश,  
 विरञ्च्युक्तिं किन्ते वचनमतिशेते न गहनम् ।  
 सुकल्पव्याप्तैः प्रभवति तदीया कृतिरिय,  
 परा कल्पातीता गुरुरर नमस्तेऽस्तु सततम् ॥ ३ ॥  
 गणेशास्ते शिष्या वदनमपि भारत्यधिगता,  
 नयग्रामोऽणौ ते मनसि रमलेऽनेकपयसाः ।  
 प्रमाणस्वातत्र्य तत्र मतिगत भाति विमलम्,  
 नमामस्त्वा नित्यं गुरुवरमभीष्टालिकलितम् ॥ ४ ॥  
 गुणोर्धैर्व्याप्ते ते हृदि परिमिते श्रीतिरमिता,  
 गताऽऽनीनां पार तदनुगमनास्तेऽपि च गुणाः ।  
 प्रतापस्तैः सर्वैर्जगदपि परिन्याप्य च गतो,  
 गुणे चित्र तैस्त्रिभृतमपि नमस्यामि चकित् ॥ ५ ॥  
 गुणान् वन्दु शक्तस्त तत्र सुगुरो यश्श्रुतधरः,  
 यत कालोऽनन्तो जिनत्रचनगीश्वरु भवना ।  
 अमेयोऽत्राच्यो वा गुणगणगतस्ते यदि गुणो,  
 विशिष्याज्जारयेयो गुणिगुणनमस्योऽसि च तदा ॥ ६ ॥  
 त्वमेव त्वां स्तोतुं गुरुरर समर्थोऽसि नितरां,  
 गुणग्रामो यत्ते न च परपरिन्देद्य इयता ।  
 न सादृश्य पूर्णं त्वयि जगति कस्यापि कृतिनो,  
 नमामस्त्वा पूर्णामृतशुखमय पूर्णमवरम् ॥ ७ ॥

न स्रीणां त्वचोऽतिशयघटना काऽपि विमुखा,  
 सती त्वा ध्यायन्ती जगति सधवा मुक्तिमुभगा ।  
 घरेण्या वाणी ते निखिलमतगा मानमहिता,  
 हितार्था सैवैका स्तुतिरपि गुरो ते परिणता ॥ ८ ॥  
 इदं स्तोत्रं गुर्वष्टरुमहितकर्माष्टरुहर,  
 पठेत्प्रातः सायं त्रिकरणपदुर्यो नियमतः ।  
 सरस्वत्या वास' स भवति सभाया सुमहितो,  
 न तस्याग्रे कोऽपि प्रभवति विपश्चिद्विरदितुम् ॥ १ ॥  
 शुचिर्विम्व स्वच्छं हृदयमने स्थाप्य च गुरोः,  
 पठेद्वीमान् भक्त्या सुसमयमभिव्याप्य परितः ।  
 इदं स्तोत्रं तस्यानधिगतिविहीनार्थप्रचुरा,  
 नयग्रामालीढा प्रमरति सदा गीर्मितिचिता ॥ २ ॥

॥ इति गुर्वष्टरुम् ॥

॥ श्रीगुर्वष्टकटिपणी ॥

विशेषाधारत्वादिति, वि पक्षी पक्षिजातीयो गण्डः । शेषः सहस्रफणः शेषनागः । तौ विशेषौ वाहनतया शय्यारूपतया आधारौ यस्य विष्णोः स विशेषाधारः, तस्य भावो विशेषाधारत्व, तस्मात् । पुरुषेषु आत्मसु मध्ये उत्तम उत्कृष्टो यथा विष्णुः पुरुषोत्तम इति गीयते तथा हे गुरो ! त्वं विशेषाणां सर्वतः प्रस्वतन्त्रप्राचीनजैनतीर्थोद्धारकर्तृत्वादीनामन्यपुरुषव्यावृत्तानामाधारत्वात्पुरुषेष्वात्मसु मध्ये उत्तम उत्कृष्टोऽसि । ननु विष्णुरूपेन्द्रत्वात्सुरोऽहं ननु मनुष्य इति कथं पुरुषोत्तम इत्याकाङ्क्षायामाह—इतो महिम्नः प्रत्यज्ञतोऽनुभूयमानात्तत्तल्लोकप्रजितप्रतिष्ठादिकार्यैरुपजातभयमाहात्म्यात् त्रिभुवनव्यापिनः । ममवेता तत्तल्लोकमभिव्याप्य स्थिताः । सुरा देवा, अपि, किमुत उपेन्द्राख्य एको देव सर्वे देवा । लोके मनुज्जादिपञ्चगतिषु देवगते प्राधान्यम् । देवा अपि सामान्य साधारण भवदपेक्षयाऽप्यगुणयोगि, तदायेषां कथं केत्यपिना घोत्सते । तथा च पुण्योत्तमाद्विष्णोरपि सुराच्चमुत्तम इति । अन्योऽपि विशेषस्त्वयि समस्तीत्याह—गुणाधारो द्रव्यात्ययगपि, द्रव्याल्लक्ष्मीस्वरूपात्, पृथगपि विभिन्नोऽपि तत्सामित्वादिरहितोऽपि । गुणाधार आत्मगुणानां सम्पत्तानदर्थं नचारित्राणां भेदसहित्वभेदलक्षणाऽत्रिपञ्चभावसम्भवेनाश्रयस्त्वमसि, विष्णुस्तु लक्ष्मीस्वामी भूत्वा तदासक्त एव मायिरुगुणस्य सत्त्वारयस्याधारो न तु मोक्षमार्गस्य । तथा सुकर्मा द्रव्याद्विष्णोऽपि त्वं शोभननिरनुपधर्मशाली, असि, विष्णुस्तु नैव शोभनकर्मशाली किन्तु

रक्षःप्रभृतिश्चगृहनाद्यशुभकर्मणानेव । तथा अभयनः, भवन गृह न विद्यते यस्य सोऽभयनः  
 अनागारः त्वमसि, विष्णुस्तु लोकविशेषैर्बहुष्ठादिनिगासी गृहयानेव, अतः सर्वथा विष्णोरुक्त  
 एस्त्वमसि । नियतगृहनिगासित्वाभावात्सर्गगतानाविष्वभृतत्वेन सर्वगत त्वा सुरालयगतमपि  
 देवाल्यगतमपि । मद्द्रव्यगामद्द्रव्यस्थित, नमामः प्रणमाम ।

ननु व्यापकत्वेन भवद्द्रव्यगतत्व न भवत्कृतं प्रणतिकर्मत्वप्रयोजकं, तथा सति  
 पुरुषान्तराणामपि सर्वानां तत्त्व स्यादिति चेत्, सत्यम्, अत एव स्वऽभ्यस्तवैशेषिक-  
 दर्शनगतसप्तपार्थाध्यापनकर्तृगुरोरपदिष्टपदार्थस्मृतिविषयतया मद्द्रव्यगतत्व परमोपकारित्वेन  
 प्रणतिप्रयोजकमित्यभिप्रायेण विशेषाधारत्वादित्यत्र विशेषपदार्थस्य सामान्यमिति सामान्य  
 पदार्थस्य समवेता अपीत्येनद्द्रव्यगततया समनायपदार्थस्य गुणाधार इति गुणपदार्थस्य द्रव्या-  
 दिति द्रव्यपदार्थस्य सुखमिति, कर्मपदार्थस्याभयन इत्यभावपदार्थस्य च सन्निवेशनेन  
 तादृशसप्तपदार्थनिरूपणात्मक वैशेषिकदर्शनं प्रथमस्तुतिपद्ये प्रकृतम् । एतत्सन्निवेशस्य  
 स्तुतावित्थमुपयोगः । अत्यो नित्यद्रव्यवृत्तिविशेषः परिकीर्तित इति वचनात्स्वतो यावृत्ता  
 नित्यद्रव्याणां व्यावर्त्तन्त्वान्नित्यद्रव्यवृत्तयो यावन्ति नित्यद्रव्याणि तावत्सहस्यत्र विशेषाः,  
 इति विशेषाधारत्वात् इ गुरो ! यद्वि त्वं पुरुषोत्तम तदाऽन्येऽपि जीवाः पुरुषोत्तमाः स्युः । इतो  
 महिम्नः एतादृशमादृश्यलक्षणमहन्त्वात्सामान्येन समननुयोगित्वप्रतिभोगित्वाऽन्यतरसम्बन्धेन  
 समनायनलक्षणसमवेतत्वधर्मेण सादृश्यात्सुरा देवा अपि समवेताः सामान्य स्युः । यथा सुरा  
 स्तावन्मात्रेण सामान्यं न, तथा भवानपि विशेषाधारत्वतोऽन्यनित्यद्रव्यसाधारणाच्च भवितु-  
 मर्हति पुरुषोत्तमः । गुणा रूपमादयश्चतुर्विंशतिविधा द्रव्येभ्येन वर्तन्त इति तदाधारस्तत्र कथं  
 द्रव्यात्पृथक्, द्रव्यभिन्नस्य गुणाधारत्वासम्भवात् । एव कर्माऽपि पञ्चविधं मूर्त्तद्रव्येभ्येन वर्तत  
 इति सुकर्मा त्वं कथं द्रव्यात्पृथक्, भयनं भारोऽभयनोऽभयनः, सोऽपि भानरूपस्तत्र कथमित्येव  
 विरोधोऽनभासत इति विरोधभासततया वैशेषिकदर्शनस्युज्यते, तत्परिहास्तु पूर्वमर्थमेदा  
 भ्रयणात्कृत इति विरोधाभासश्चमत्कृतिमादधातीति ॥ १ ॥

सुराचार्यासुराचार्याभ्यां विशिष्टत्वादपि त्वं नमस्योऽसीत्याह—

गुरुरिति । हे गुरुरः ! त्वत्तो भीतो गुरुः बृहस्पतिः, देवसदनं स्वर्गं, गतः । तत्रापि  
 स्वर्गेऽपि, गत त्वा, प्रथितं विशिष्टविद्यादिगुणयोगादिन्द्रप्रभृतिदेववरमम्माननामम्भाषितम्,  
 अवलोकय दृष्ट्वा, अतिवन्तित्त अतः परं किं करणीयमित्येव कादिशीको जातः, भीत्या  
 स्वर्गं गतस्यापि भीतिस्तस्युपस्थितवेति तत्राणोपाय एतस्य शिष्यभयनमेवेत्याकलयेर सिमु,  
 तत्र स्वयं शिष्यो भूत्वा । कर्मिः असुराचार्यं शुकः, भीषयति, यत् यस्मात्कारणात् । ननु  
 निश्चितम्, काव्योऽपि शुकोऽपि, त्वा श्रयति गुरुत्वेन त्वा स्वीकरोति, एवं सत्येव बृहस्पतितो



न मय तस्य, अभिनवशियाभ्यां सुरासुराचार्याभ्या सेनिते ते चरणे तत्र पदकमले, नमन प्रणाम, अस्तु भवद्वित्यर्थः ॥ २ ॥

शिवब्रह्मभ्यामपि त्व विशिष्ट इति त्वा स्तोमीत्याह—

हर इति । तमोगुणयुक्तो महादेवः पराभिमतो महाप्रलये जगदेव सहरतीति हर इति गीयते । तत्र पुनः शिष्याणाम् तैरामिना हृदयघ्ना तमात्मगतमनादिकालीनमलानलक्षणा घ कारम्, अनिश सर्वे जिनोक्तमौक्षमार्गज्ञानदर्शनचारित्रलक्षणा लौकिकालोकारिभारिनेन हरसि विनाशयसीति हर' । ते तत्र, गहनं जिनोक्तागमार्थसङ्घटितमूर्तिकल्पेन मन्दमत्पगम्य विशिष्टसूक्ष्ममतिमात्रगम्य, वचनम्, विरञ्च्युक्तिं विरञ्चिर्ब्रह्मा, तस्योक्तिं वचन पराभिमत-  
षेदलक्षणागम विन्नातिशेते अपि त्वतिशेते एव, ब्रह्मवृत्तिविशिष्टा च तत्र कृतिरित्याह—  
सुकल्पन्यासैरेति, तदीया ब्रह्ममन्त्रिणी कृति वेदरचना ब्रह्मनिर्मितो वेद इति यावत्, ब्रह्मदिन रूप इत्युच्यते इति सुरूप्य यासैव ब्रह्मैकदिवसमात्रस्यायिन्येव, दिवसान्तरे पुन रथैव वेदकृति, या या ब्रह्मण' कृति. सा सर्वापि कल्पमात्रस्यायिन्येव, इय प्रत्यस्ततोऽनुभू-  
यमाना तत्र कृति. परा उत्कृष्टा कल्पातीता । कल्प. कल्पना तमतीताऽतिक्रांता कथमिय मित्य सञ्जाता यत' परं. कल्पनात्सैरपि बाधितु न शक्यते, एतस्मात्कारणान् हे गुरुवर । ते तत्र, नम त्वामुदित्य नमस्कार, सतत सर्वदाऽस्तु ॥ ३ ॥

पराभिमतो महेश एक गणेशपुत्रक एव, तत्र पुनरनेकगणेशपुत्रक इत्यादिहेतोरपि तत्र उत्कृष्ट' स्तुत्यर्ह इत्याह—गणेशा इति । ते तत्र शिष्या' पट्टधरा गणेशा' गणधरा', तस्य महेशस्य पत्नी पार्वती देहार्थीभूता, तत्र तु भारती सरस्वती वदनमपि सुरमण्यधिगता सुरद्वारा हृदयाश्रिता अपिना शरीरे मुखरूपाययस्य प्राधा-यमपि तदाश्रितस्य सर्वाश्रितत्वमिति भारतीस्वरूप एव तत्र सद्रूप इति प्रतिपादित भवति । नयग्राम बैरगमम द्युहादिमत्प्रिधनयममुदाय, अनेकपथग' निभिन्नमार्गगामी, ते तत्र, अणौ सूक्ष्मे, तेना पुपरिमाणस्य जैनमतेऽनभ्युपगमेऽपि न क्षति । अनन्तधर्मात्मक मनस्यपि कयाचिद्वेषेण याऽणुत्व सम्भवत्यपि, मनसि अ-त-करणे, रभते अपेक्षाभेदेन त्रिसोपरिहारलक्षणासुख मनुमरति, यत एव परिदृष्टनिरोधा नयस्त्व हृदयङ्गतामन्त एव तत्र गतिगतं त्वज्ज्ञानगत, प्रमाणम्यातस्य प्रत्यक्षपरोक्षभेदेन द्विप्रिधस्य मतिश्रुतावयिमन पर्यायकेवलानानात्मक-  
पञ्चप्रिधनानामकरस्य प्रमाणस्य यस्त्वतन्त्रसिद्धस्वर-यसमायात्मक-वलक्षणप्रामाण्योपेतत्वे नानन्तधर्मात्मकस्त्वगाहित्वलक्षण स्वातन्त्र्य, विमल परोक्षेकातदोपलक्षणमलरहित, भाति प्रजागते, नित्य सर्वदा, अमीषालिकलित पारमार्थिकेष्टममिभिवृषित, सुररर त्राम्, नमाम प्रणाम ॥ ४ ॥

कीर्तिप्रतापादिगुणगणैश्चान्तात्सो भवान् गुणिगणेन नमस्करणीय इत्याह-गुणौघैरिति गुणौघैर्गुणसमूहैः, व्याप्ते सर्वतः पण्डिते, परिमिते परिच्छिन्नप्रमाणे, ते हृदि तत्र हृदये, अमिता मातृमशक्या, कीर्तिर्यज्ञ, अर्चनीया समुद्राणा, पारगता चतु ममुद्रानुल्लङ्घ्य देशातरं गता, चतु ममुद्रपर्यन्तव्यापिनी तत्र कीर्तिः, तेषु च तद्बृहदयव्यापिनोऽपि गुणास्तदनुगमना कीर्त्यनुगमना, कीर्त्या सह तत्र गुणा अपि समुद्रपारगता इति यावत्, तैः सर्वैः त्वन्कीर्तित्वद्गुणं मम, तत्र प्रताप प्रकृत्येन, जगदपि त्रिभुवनमपि, परिध्याप्य सर्वतो व्यापन कृत्वा, गतश्च, एतावताऽभिज्याप्त पूर्वस्थानमपरित्यज्येन गता न तु पूर्वदेश विहायेति सूचितम् । अत एव हे गुरो ! चित्रमाश्चर्यं यथा स्यात्तथा चकितः किमन्योऽप्येवमीदृशोऽभूदस्ति भारी वेत्येव विचाराकलितचिचोऽह, तैः पूर्वोपदर्शितगुण कीर्त्यादिभिः, भूत परिपूर्णम्, अपि, त्वा नमस्यामीति ॥ ५ ॥

सर्वनिष्ठातत्त्वामिह एव जिनोपदिष्टकालादिसचिरस्मद्गुणग्रामान् वस्तु समर्थो नान्य इत्याह-गुणानिति । हे गुरो ! तत्र गुणान् स वस्तु वस्तु यथार्थतया प्रतिपादयितुमिति यावत्, शक्त, समर्थः, यः श्रुतधरः विशिष्टश्रुतधर इत्यर्थः, एतत्कारोऽत्र दृश्यः, यो हि यज्जानाति स एव तत्रप्रतिपादयितुमीशः, श्रुते विशिष्टश्रुतधरात्तद्गुणगणाभिज्ञो नास्त्वेष । नन्विदानीं विशिष्टश्रुतधरो नास्ति ततोऽज्ञाता गुणा न स्वनाहार्हा इत्यत आह-यतः कालोऽनन्त इति यद्यप्यतीता विशिष्टश्रुतधरा नेदानीं सन्ति, इदानीन्तनास्त्रस्मत्सदृशा न विशिष्टश्रुतधराः, भविष्यत्काल तु भविष्यन्ति बहवः श्रुतधरा ये भवतो गुणान् स्वज्ञान-विषयीकृतावस्तु सकाले समर्था एव तथा भूत भवन्तमनागतं च सर्वमतीता अपि श्रुतधरा नातु प्रगल्भा एव, वस्तुन इदानीमपि श्रुतधरा क्षेत्रान्तरे निहरन्त्येव, अथवा ननु यदीया गुणा अनन्ता न विशिष्टश्रुतधरैरपि युगपदेव वस्तु शक्या इत्यत आह-यत इति, यदि कालोऽनन्तो न भवेत्, न भवेयुः श्रुतधरैरपि तत्र गुणा अनन्ता वस्तु योग्या, यदा तु कालोऽप्यनन्तः तदुपलक्षिता श्रुतधरा अप्यनन्ता, तदा तत्र गुणा श्रुतधरचनगोचराः सभावयितुं शक्या इति भावः । ननु कालस्य क्षणस्वरूपस्यैकस्यानन्तत्वं नास्ति तत्रप्राह-स्यानन्तत्वेऽपि घौडमेघ तस्यैकत्वं न चास्तिकं, वचन च परार्थमेव भवति तत्र परो न श्रुतज्ञानी तस्य स्वयमेवासमद्गुणगणज्ञत्वेन तत्रप्रत्यस्मद्गुणगणकथनस्य श्रुतज्ञानिकृतैकस्यानुपयुक्तत्वान्, किन्त्वश्रुतज्ञानी, स चानन्तेनापि कालप्रगृहेण कल्पितेन श्रुतज्ञानिवचनादस्मद्गुणस्तोमं ज्ञातुं न समर्थ इत्यस्मद्गुणस्वरुण श्रुतज्ञानिकृतया सम्भावितमपि निष्प्रयोजनमेवेत्यत आह जिनप्रचनगीश्वारुभननेति, जिनप्रचनान्तिष्ठा वाणी समीचीनस्याद्वादस्वरूपेत्यर्थः, न खलु जिनमते किमप्येकान्तैर्नैकस्वरूपमेव वस्तु, तनोपदिष्टा श्रुतधरोऽपि तत्र गुणान्

वचतुं समर्थोऽममर्थोऽपि, त्वद्गुणस्तुति' श्रुतधरकृतंका भवति न भवति चेत्वेव स्याद्वाद्  
 ष्वात्रापि पद निधत्ते तेन श्रुतधरेणापि वचतुमशम्यास्त्वद्गुणा इति भावः । उच्यतेभिप्राया-  
 नुमधानेनाह-अमेयोऽज्ञाच्यो वेति । यदि त तत्र, गुणगणगत' गुणगणे वर्तमानः, गुणः  
 पुरुषोचमभवदाश्रितत्वनिवधनो गुणविशेष, अमेयो मातुमशम्य', एतावानस्य महिमेत्या-  
 दिरूपेण परिच्छेत्तुमशम्य इति यावत्, वा अथवा परिच्छेदातीतत्वात् अवाच्यः सकलवचना-  
 त्रियय', केनापि वचनेन निर्देष्टुं न शक्य इति यावत्, अत एव विशिष्यानाख्येयः स्वासा  
 धारणरूपेणारयातुमशम्य', अस्ति कश्चिद्गुणविशेषोऽमेयोऽनिर्वचनीय इति सामायतः  
 प्रदिपादयित्तु शक्य एव, तदा गुणगणगतगुणविशेषेण निर्वचनीयेन स्तोतुमशम्यतादशायामपि  
 च पुन' गुणिगुणनमस्योऽस्ति गुणिनां गुणगता पुरुषाणां ये लोरूपसिद्धा गुणास्ते' स्वगतै'  
 नमस्कारार्होऽस्तीत्यर्थः ॥ ६ ॥

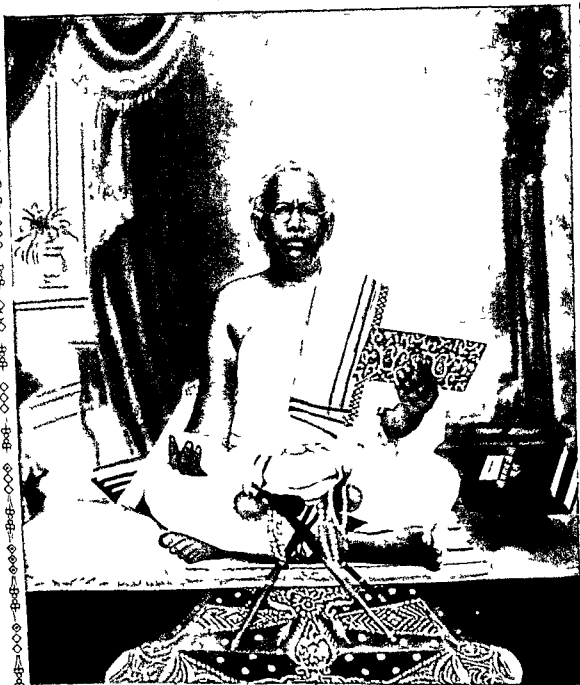
तत्किमहं गुणविशेषाकलितगुणगणयथावद्वर्णनद्वारा स्तुतिविषयो न भवाम्येव,  
 नैवम्, यथा मर्ननः साऽसाधारणस्वरूपेण सर्वज्ञव्यतिरिक्तजनासवेयोऽपि स्वसंवेधः,  
 ज्ञान पराप्रकाश्यमपि स्वरुद्राश्यम्, तथा त्वमपि परकृतृस्तुतिमोचगताऽतीतोऽपि  
 स्वकर्तृस्तुतिगोचरो भवसीत्याह-त्वमेवेति । हे गुरुवर ! धर्मशुभदेशदानेन शिष्याणां  
 परमपुण्याधैमार्गसम्पन्नानादिनिदानानां श्रेष्ठ !, अथवा गुणैर्बृहस्पतेरपि वरेण्य !  
 त्वां स्वस्वरूप, स्तोतुं स्तुतिकर्मं कर्तुं, त्वमेव नितरामतिशयेन, समर्थं शक्तिमान्, अस्ति  
 भवसि । कथमयो मां स्तोतुमसमर्थं ? यत् यस्मात् ते तत्र, गुणग्राम गुणसमूह', इयता  
 एतान्ब्रूनाधिक्यपरच्छिन्नप्रकारेण, परपरिच्छेद्यो न च, त्वद्विद्युत्पूरणपरिच्छेदगोचरो न  
 भवति, स्वमतिगोचर यावत्प्रकारेण स्तुतिकरणेऽपि तदधिकप्रकाराणां त्रिशिष्टधाममकुशलानां  
 परित्यक्तत्वेन न्यूनोक्तिसद्भावात्, यावन्तो वैशिष्ट्ययुद्धधामानपद्वो गुणास्त्वयि समवेता-  
 स्ते नाप्यत्र समनयन्तीति ताद्गुणवत्प्रलम्भणमाधारणधर्मेण त्वयि सादृश्यं न कस्यापि,  
 एकैकोऽपि शुभो निशिष्टस्वरुद्रगतो नाप्येति तेनापि सादृश्यं न त्वयि पश्येति नोपमयाऽपि  
 त्वद्वर्णनं परेण कर्तुं शक्यमित्याह-न सादृश्यमिति । जगति कस्यापि कृत्विज सादृश्यं त्वयि  
 न पूर्णमित्यन्वय, अर्धस्तु व्यक्त एव, अर्धं सादृश्यमुपादायोपमा तु १ विच्छित्तिविशे  
 षाधाने पटीकमीति न सा स्तुतिरित्यभिमधि, महात् स्वमुद्येन सगुणवर्णनात्मिका  
 स्वस्तुतिं न कर्तुमीत्यभिमधार्थं यदि समर्थोऽपि त्व स्तुतिं न करोपि अन्यस्तु तथा  
 कर्तुमिद्विदग्ध ष्यत्येव स्तुतिगोचरत्वाभावनन्तमपि स्वामेतद्गुणवैशिष्ट्यमुपादाय सर्वातिश-  
 यिन प्रगमाम इत्याह-नमाम इति, पूर्णाश्रितमुखमयमत्र पूर्णं त्वां नमाम इत्यन्वय,  
 कतिपयकालान्तरमेवोक्तगुणसम्पन्नस्त्व भविष्यसीति निर्णयन्तो वय प्रणमाम इत्यभिमधि ।  
 अक्षराद्यस्तु व्यक्त एव, अक्षरमित्यत्र न वरो विद्यते यस्मादिति निग्रह इति ॥ ७ ॥

4

1991

1

२५ सामनभ्याः १॥ १८॥ विपति सततवृत्तत्र श्रियैः क्वचित् प्रीत्याभ्याशानि जगद्गुरुः प्रातः अभ्यास्य पूजयथा  
 लडाभ्याः श्रीम. निरयनेमिसुगीधरल भडाराजश्रीलना पढाभ्याः भान्दर  
 लडाभ्याः श्रीमद् विजयहरानसुगीधरल भडाराजश्रील



११ भ-स १९९३ पा १५ भूसाय २, दीक्षा-स १९९८ अपा ३ सु १ लानय  
 गल्पि -म १९९८ अपा ३ सु ५ (३५३५००)

५ धामप -स १९९८ अया सु ६ ३५३५०० ॐ पाध्यायप-न्यायवाचस्पति-शास्त्रिहार  
 ५ १ ल-म १९९७ भागशर १ उ मा डी (भारवा.) आध्यायप -नी १९९८ विशाभ व ३ पभात

ॐ अर्हं नम ॥

सदा मोक्षोपासिसकलजनतापापहारिनिर्मलबाणी-विशसायानस्यत्रिभिधानाय श्रीगौतमस्वामिने नम ।  
न्यायव्याकरणसिद्धांतादिपाराधारसमयगाहनसमुपलब्धानलरतस्त्रमणिसन्दृष्ट्यादभ्रप्रध-  
मालेभ्य शासनसम्राट् स्त्रिचक्रचक्रवर्त्तिश्रीविजयनेमिसूरिसद्गुणभ्यो नम ।  
तत्पट्टमुवाभानु-न्यायवाचस्पति-शास्त्रविशारदविरुद्विभूषित-तपागच्छमङ्गारकाऽऽचार्य-  
श्रीविजयदर्शनसूरिप्रणीत " सम्मतितर्कमहार्णवावतारिकारूपटीका "-  
ममलङ्कृत श्रीविक्रमादित्यादिमहाभूषतिप्रतिषेधक-महातर्कनादि  
शिरोमणि-श्रीसिद्धसेनदिवाकरभगवत्सदृष्टमम्पद्दर्शनविशुद्धिकृ  
द्व्यानुयोगगाहनकृशाप्रबुद्धिगम्यानलरामलतत्रप्रतिपादक  
स्याद्वादसिद्धान्तोपनिषद्विचारश्रेणिप्रौढमलाघायक-

# श्रीसम्मतितर्कप्रकरणम् ॥

मगलाचरणम्

न जात्वस्त यायी न जलद्वनिरुद्धामलविभो,

गत्रा भेत्ता नित्य नृहृदयगुहावर्त्तितमसां ।

सदा राह्वग्रस्योऽखिलभविकजोद्धोधनपरः,

जयत्यर्हन् सूर्योऽतिशयमहिमा पार्श्वजिनराट्

॥ १ ॥

यदीयस्याद्वादामितनयतरङ्गालिललिता-

गमाब्धिस्थान्मात्रामलपदपृपत्सङ्गतिवशात् ।

विदृष्यद्वाद्यालिस्वमतिजनितत्तन्नयविप,

स्तुवे द्राक् पीयूषीभवति तमह वीरजिनपम् ॥

॥ २ ॥

काम्प्रोजवाजीव ह्येषु सर्व,-षिष्विद्धतेजा शमितारिवर्ग ।

श्रीसूरिसम्राट् गुरुनेमिसूरि, शुभाशिप मेऽत्र तनोतु कार्ये ॥ ३ ॥

सिद्धान्तपाथोनिधिसिद्धसेन-दिवाकरस्यातिप्रभाजकस्य ।

श्रीसम्मतिसन्धकृति क सूक्ष्म बुद्धयैकगम्या परवाच्यदूष्या ॥ ४ ॥

द्रव्यानुयोगाल्पतरार्थभासा, क्क चाल्पधीमे विपमेऽपि तत्त्वे ।

सत्यप्यह वच्मि गुण स एष, सर्वः प्रणीता किल येन वृत्तिः ॥ ५ ॥

सद्युक्तिविक्षिप्तकुवादियुक्तिः, तस्यैव पूज्याभयदेवसूरेः ।

यन्निम्नमार्गेऽपि समीकृतेऽच्छे, वज्रेण यान्त्यल्पधियोऽपि शीघ्रम् ॥६॥

( त्रिभिर्विशेषकम् )

अथ पुनः पुनर्जन्मजरामृतिरूपापारनीरनिकरपूरित बहुप्रकारपरिभवपातालोत्खण मनल्पमोहमहावर्तदुरुत्तरमनेककदाग्रहग्राहनिवहृष्टदग्रमिध्यात्प्रकालकूटसम्पूर्णिष्ठतमनवरतोप जायमानमनोरथमहोर्मिमालाव्याकुल कषायग्रहणानलज्जालाकराल व्याधिशतनक्रचक्रालय पश्यता त्रासोत्पादक महागम्भीर समारममुद्रमुत्तितीर्षता मव्यजनघ्राताना तदुचरणेऽव्याहृत मुरयसाधनमद्धानङ्गमेदभिन्नागमाऽशेषतरार्थभ्रद्धानलक्षणसम्पग्दर्शनप्ररहणमेव । तदुक्तम्-

“ द्वार मूल प्रतिस्थान-माधारो भाजन निधिः ।

धर्महेतोर्द्विपदकस्य, सम्यग्दर्शनमिष्यते ॥ १ ॥ ” इति ।

न सेणियो आसि तथा बहुस्सुओ, न या पि पन्नत्तिधरो न वापगो ।

सो आगमिस्साई जिणो भविस्सह, समिक्ख पन्नाह वर खु दसण ॥२॥ इति च ।

न चैव तर्हि पोतायमानसम्पग्दर्शनोत्पत्तौ सत्या तद्वतां तदनन्तरमेव भवसमुद्रोत्तरण क्रिमिति न भवतीति वान्यम्, न हि मृद्द्रव्यमात्रेण दण्डमात्रेण वा घट उत्पद्यमानो लोकै रनुभूयत इत्येकं कारण निखिलकारणान्तरसापेक्षमेव कार्योत्पादनसमर्थमित्यत्रापि कारणा न्तराऽभावात् । तथा च तदितरकारणमद्भावे सति सम्यग्दर्शनमन्वे मोक्षसत्त्वं तदितरकारण सत्त्वेऽपि तदभावे तदभावा इत्यन्वयव्यतिरेकत्वान्मोक्षाऽसाधारणकारण सम्यग्दर्शनमिति सिद्धम् । एवमेव सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्रञ्चाप्यन्वयव्यतिरेकाभ्या मोक्ष प्रत्यमाधारणकारण ज्ञेयम् । तथा च यथा शिषिकोद्वाहिपुरुषा मिथः सापेक्षभाव गता एव शिषिकोद्वाहनात्म ककार्यं प्रति कारण तथैव सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि परस्परसापेक्षता गतान्येव मोक्ष प्रति कारणमित्याशयः । ननु पूर्वोक्तान्यव्यतिरेकाभ्यामस्तु सम्यग्दर्शनस्य सम्यग्ज्ञानस्य च कारणत्वम्, न च चारित्रस्यापि तद् युक्तम्, मरुदवाभातुर्द्रव्यचारित्ररूपकारणाभावेऽपि मोक्षात्मककार्योत्पत्तिभावेन व्यतिरेकव्यभिचारादिति चेद्, भैरम्, यतो न द्रव्यचारित्रत्वेन मोक्ष प्रति चारित्र्यस्य हेतुत्वम्, किन्तु सम्यक्चारित्रत्वेनैव, तद्धर्मान्निच्छिन्नैवैव सह मोक्ष स्यान्वयव्यतिरेकानुविधानात् । तस्य च परमकाष्ठोपन्नस्य सर्वस्वरूपस्य मात्रचारित्रस्य शैलेशीतरणकाले सद्भावादेव तस्या मुक्तिभावात्, तथा च तदा तस्या अवशिष्टान्त र्मुहूर्त्तानुष्णाया द्रव्यचारित्रग्रहणेऽप्राप्त्येऽप्यायुषोऽल्पकालतया द्रव्यचारित्रस्य ग्रहण

कालाभावेनाऽभावेऽपि नोक्तदोषः । ननु मोक्ष प्रति दर्शनत्वेन ज्ञानत्वेन चारित्रत्वे-  
नैव दर्शनादीनां कारणत्वमस्तु, किं तत्र सम्यग्प्रदोषादानेन कारणतापच्छेदकगौरवा-  
पादकेनेति चेद्, मैवम्, तथा सति मिथ्यादर्शनमपि मिथ्याज्ञानमपि तत्रश्रद्धाविकूल-  
चारित्रमपि च मोक्षकारण स्यात्, न चान्वयव्यतिरेकानुविधानाऽभारान्मिथ्यादर्शनादिक-  
मोक्षकारणमभ्युपगन्तुं युक्तमिति तद्वारकतया सम्यग्निशेषणस्य सार्थकत्वेन सम्यग्दर्शनादे-  
सम्यग्दर्शनत्वादिनैव मोक्ष प्रति कारणत्व युक्तियुक्तम्, न तु दर्शनत्वादिना, दर्शनत्वस्य  
मोक्षकारणत्वाभाववति भव्याभव्यपुरुषीयमिथ्यादर्शनेऽपि ज्ञानत्वस्य च तादृशपुरुषीय-  
मिथ्याज्ञानेऽपि चारित्रत्वस्य च जिनोक्ततत्रश्रद्धात्रिकले तादृशपुरुषीयद्रव्यचारित्रेऽपि  
वृत्तित्वेन मोक्षनिष्ठकार्यतानिरूपितकारणत्वातिरिक्तवृत्तितया कारणताऽतिप्रसक्तत्वेन कारण-  
तानवच्छेदकत्वादिति । अनुमानश्चात्र तत्तन्वयभेदेन सम्यग्दर्शनादित्रय मोक्षमाधारण-  
कारण मोक्षभावप्रयोजकभावप्रतियोगित्वाद्, यद् यद्भावप्रयोजकभावप्रतियोगि तत्त-  
दसाधारणकारणम्, यथा घटस्य दण्डः, तथा चेद् तस्मात्तथेति नयविप्रक्षयाऽन्वयव्य-  
तिरेकाभ्यां सम्यग्दर्शनत्वादिना मोक्षमप्रति सम्यग्दर्शनादित्रयमपि कारणम्, घटत्वान-  
च्छिन्नमप्रति मृदण्डचक्रचीवरादिकमिदं, न च सर्वसर्वचारित्रलक्षणचरमकारणमात्रेणैव कार्ये  
सिद्धे तत्पूर्ववर्तिनः धायिकसम्यग्दर्शनस्य केवलज्ञानस्य चाऽन्यथासिद्धिः, व्यग्रहितत्वादिति  
वाच्यम् । चरमकारणस्य तत्पूर्ववर्तिनः कारणत्वरक्षणार्थमेव यत्र व्यापारविधया कल्पनं न च  
तत्र व्यापारेण व्यापारिणोऽन्यथासिद्धिः, अन्यथा दण्डादेरपि चक्रभ्रमणक्रिययाऽन्यथासिद्धि-  
स्स्यात्, स्याच्च परामर्शेण व्याप्तिज्ञानस्यान्यथासिद्धिः, एव धायोपशमिक्रमस्यक्रियाया-  
केवलज्ञानोत्पादन एवोपक्षीणत्वात्तस्यास्तेन मोक्षकार्यं प्रत्येकमन्यथासिद्धिस्स्यादिति तदुभयस्य  
कारणत्वे सिद्धे व्यापार एव कारणं न व्यापारी, व्यापार्यैव कारणं न व्यापार इति विनिगन्तु-  
मशक्यत्वात्, सर्वसर्वचारित्रकाले धायिकसम्यग्दर्शनकेवलज्ञानयोरपि विद्यमानत्वेन  
फलोपयोगितया मुख्यत्वाऽविशेषात् । आधुनिकदर्शनादिष्वपि मोक्षानुकूलनिर्जराविशेष-  
प्रयोजकविशेषाश्रयत्वं सम्यक्त्व प्रत्येकमव्याहृतमिति त्रयाणां तुल्यपरकारणत्व नयार्थ-  
णानुपपन्नम् । एतेन कारणीभूतसम्यग्दर्शनादित्रयप्राप्तावपि तत्रयेण तद्भवे मोक्षफल-  
भवत्येवेति नैव नियमः, ऐदयुगीनकालस्यातिविषमत्वेन सम्यग्दर्शनादित्रये सम्यग्पत्तमा-  
नानामपि तत्तत्पुमा तत् इदानीं मोक्षानवाप्तेरितीदानीं सम्यग्दर्शनादित्रयप्राप्त्यर्थं प्रवृ-  
त्तिर्निष्फलेवेत्यारंकाऽपि निरस्ता, मोक्षफलोत्पत्तिर्हि न साक्षात्सम्यग्दर्शनादित्रयेण,  
किन्तु समुदिततत्रयसाध्यविशिष्टकर्मनिर्जराद्वारैव, स्मृतिफलोत्पत्तिरनुभवतस्सकारद्वारैव,  
मीमांसकमते स्वर्गफलोत्पत्तिर्निर्जराः प्रधानाऽपूर्वद्वारैव वेति तादृशनिर्जराद्वारमम्पत्तौ  
सम्यग्दर्शनादित्रयप्रवृत्तेरिदानीमपि तस्मात्फलस्यानपायत्वात्, उक्तनिर्जराद्वारसम्पत्तौ तत्  
पूर्वकालीनसम्यग्दर्शनादित्रयस्यैव परमकाष्ठापन्नधायिकसम्यग्दर्शनादित्रयरूपेण परिणति-



भावे कालान्तरे मुक्तिफलोत्पत्तेः । प्रमाणार्पणया तु पर्यालोच्यते, सम्यग्दर्शनसम्यग्ज्ञान  
 सम्यक्चारित्राणां त्रयाणां मन्साऽमाधारणधर्मरूपेण सम्यग्दर्शनत्वादिना न मोक्ष प्रति  
 कारणत्वम्, तथा सति कारणतावच्छेदकभेदेन कारणताभेदप्रसक्त्या मोक्ष प्रत्येक-  
 कारणत्व सिद्धं न स्यात्, किन्तु मोक्षानुकूलशक्तिमत्त्वेनैव, कारणत्वमपि न नैयायिका  
 धर्म्युपगतकार्यनियतपूर्ववर्तितावलक्षणं मखण्डरूपम्, तृणत्वमणित्वादिप्रत्येकधर्मेण  
 वह्नित्वावच्छिन्नमप्रति कारणत्वे व्यतिरेकव्यभिचारस्स्यादिति तन्निवृत्तयेऽनन्यगत्या कार्ये  
 वैजात्यमभ्युपगम्य विजातीयवह्नित्वावच्छिन्नमप्रति तृणत्वेन, विजातीयवह्नित्वावच्छिन्न प्रति  
 मणित्वेन, विजातीयवह्नित्वावच्छिन्न प्रत्यरणिनादिना च कारणत्वाम्भुपगमे विशेषरूपेणा  
 नेककार्यकारणभावप्रसङ्गतो यावत्सु वह्निजनकेष्वनुगता या शक्तिस्तद्रूपेण नियतकार्यकारण  
 भावापक्षया गौरवमारमन्थरत्वात्तत्पक्षस्य प्रमाणपथातीतत्वात्, किन्ताखण्डशक्तिरूपमेव,  
 सम्यग्दर्शनस्य सम्यग्ज्ञानस्य सम्यक्चारित्रस्य च शक्तेरभिव्यञ्जकविधयाऽवच्छेदकम्,  
 कारणताज्ञाने तदवच्छेदकज्ञान कारणमिति नियमेन भवन्मते धर्मविधयाऽवच्छेदकज्ञानमपे-  
 क्षितम्, अस्मन्मते त्वभिव्यञ्जकविधयेत्यय विशेषः सर्वत्र कार्यकारणभावे ज्ञेयः । न चैकस्या  
 नेकाभिव्यञ्जकत्वमनुभवपथाऽतीतमिति वाच्यम्, “किञ्चाभिव्यञ्ज्यते जातिः सस्या-  
 नाद् येन केनचिद् । गोत्व लाङ्गूलशृङ्गादिसस्थानवशातो यथा” इति स्याद्वाद-  
 रत्नाकरपञ्चमपरिच्छेदाऽष्टमसूत्रवृत्तिरचनात् क्वचित्सास्नातः क्वचिच्च विलक्षणलाङ्गूलात्  
 क्वचिच्च विलक्षणशृङ्गाद्दृष्टादभिव्यङ्ग्यतयैरुस्य गोत्वस्यानुभवगोचरत्वादेव, तस्य चा  
 भिव्यञ्जरुस्य सम्यग्दर्शनत्वाद् प्रत्येकवर्तिनस्म्यग्दर्शनादित्रितयवर्षखण्डशक्तिरूप-  
 कारणत्वापक्षया न्यूनवृत्तित्वेऽपि न क्षतिः, सखण्डकारणताया अवच्छेदकस्यैवाऽन्यूनानति-  
 रिक्तवृत्तित्वनियमात् । ननु शक्तिमत्त्वेन कारणत्वे कारणतानाने तदवच्छेदकज्ञानस्यापेक्षि  
 तत्वेन कारणतावच्छेदिकायाऽशक्तेर्नानाच्छक्तिरूपकारणताज्ञानम्, तज्ज्ञाने च तज्ज्ञान  
 मित्यात्माश्रय इति चेत्, मैवम्, प्रतियोगिताज्ञाने प्रतियोगितावच्छेदकज्ञानस्य कारणत्व-  
 मित्यत्रापि घटामात्रीप्रतियोगिताया प्रतियोगितावच्छेदकघटत्वरूपत्वपक्षे आत्माश्रयदोष  
 परिहाराय घटत्वत्वेन घटत्वात्मकावच्छेदकज्ञान प्रतियोगितात्वेन घटत्वात्मकप्रतियोगिता  
 ज्ञान प्रति कारणमिति यथा नैयायिकैस्सीक्रियत तथाऽस्माभिरपि शक्तित्वेनावच्छेदकीभूत-  
 शक्तिज्ञान कारणतात्वेन शक्त्यात्मकरूपकारणताज्ञान प्रति कारणमिन्मभ्युपगमेनोक्तदोषामावात् ।  
 तथा च मोक्षानुकूलशक्तिमत्त्वावच्छिन्नशक्तिरूप कारणत्व परस्परमापेक्षमस्यग्दर्शनादिषु त्रिष्वे-  
 कमेवेति स्थितम् । अत एव “सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः” इति तत्रार्थप्रथमसूत्रे  
 मार्गपदोत्तरसिप्रत्ययप्रकृत्यर्थतावच्छेदके मोक्षानुकूलशक्तिमत्त्वेन रूपेण मोक्ष प्रति मार्गत्वा-  
 ऽपरपर्यायकारणत्वे एकरूपज्ञापनाय मार्गपदोत्तरमिप्रत्ययप्रयोगो विहित, अन्यथा अमति  
 बाधके विशेष्यविशेषणपदयोस्ममानुपचनकत्वमिति नियमान्मार्गपदोत्तरजस्त्वितिप्रमङ्ग

स्यादिति । ननु सम्पग्दर्शनादिप्रयाणा समूहस्यैकस्यान्वयतिरेकाभ्यां कारणत्वमहाभ्यु-  
 पगमो न युक्तः, घटत्वारच्छिन्नमप्रति दण्डत्वेन मृत्वादिना च प्रत्येकरूपेण दण्डमृदादीना  
 कारणत्वे सिद्धे तत्समूहस्यान्वयामिद्वत्त्ववत् सम्पग्दर्शनत्वेन मन्मथरान्तत्वेन सम्प-  
 कचारित्रत्वेन च प्रत्येकरूपेण सम्पग्दर्शनादीनामन्वयव्यतिरेकाभ्यां कारणत्वे सिद्धे तत्समूह-  
 स्याप्यन्यथामिद्वत्त्वादिति चेत्, मैवम्, परम्परनिरपेक्षैकैककारणमात्रेण स्वरूपयोग्येनापि  
 तत्र फलोपघानरूपकारणत्वाभावान्मोक्षकार्योत्पत्त्यभावेन मोक्षमप्रति परस्परमापेक्षतत्तत्कारण-  
 समूहस्यैवान्वयव्यतिरेकाभ्यां कारणत्वात्, अत एव " नैक कारणं किन्तु सामग्री वै  
 जनिका " इति सिद्धान्तस्मद्गच्छते । न च क्षायिकसम्पग्दर्शने मतिं केवलज्ञानमुत्पद्यते, तेन  
 च सर्वसंस्काररूपचारित्रमिति तेषां व्यापारव्यापारिभावैरेव मोक्षकारणत्वम्, न माक्षादिति  
 तत्समूहस्यापि न तदिति वाच्यम्, व्यापारकाले व्यापारिणो नाशो नावश्यकः, व्यापार-  
 लक्षणे द्वारिनाशविशिष्टत्वाऽप्रवेशादिति सर्वसंस्काररूपचारित्रकाले ममुदितैतद्विषयस्यैव  
 मोक्षफलोपयोगितया व्यापारान्मुरयत्पारिशेषात्प्रमाणविश्रुत्या तत्समूहस्यैव मोक्षकारण-  
 त्वात् । " तिष्ठ ममायोगेण नेहान् लब्धमिति " इत्युक्ते । यद्यपि मोक्षानुकूलसम्पूर्णशक्ति-  
 स्सम्पग्दर्शनादिप्रयपर्याप्तसमुदायत्वारच्छेदन परस्परसापेक्षसमुदितज्ञानादिषु त्रिष्वेव  
 पर्याप्ता, तत्र फलोपघानमामर्थ्यसङ्घातात्, तथापि सम्पग्दर्शनत्वादिप्रत्येकधर्मावच्छेदनाप्ये-  
 कैकेषु सम्पग्दर्शनादिषु " वीसु ण सब्बहच्चिय, सिक्कतातेह्व व साहणाऽभावो । देसो  
 बगारिया जा, सा समवायम्मि सपुष्णा ॥ ११६४ ॥ " इति विशेषावश्यकभाष्योक्तेः  
 प्रत्येकावस्थायांमपि देशोपकारित्वाद्देशतो मोक्षानुकूलशक्तिमज्जाव इति तच्छक्तिशालि-  
 सम्पग्दर्शने शिथिलबन्धनवद् महामिध्यात्वीदये कदाचिद्विनश्यत्यपीति मोक्षामिलायुक्तं  
 स्तच्छुद्धिः सन्दहत्रिषोपधिःत्स्या मिध्यात्वमहार्णवतारणतरिका मिध्यावामनाग्रहम-  
 न्नकल्पा कर्त्तव्या, सा च यथार्थदृष्टाभ्यस्तेभ्यः प्रमाणनयकरणकपद्द्रव्यगुणपर्याय  
 विचारप्रधानकद्रव्यानुयोगशास्त्रेभ्य । उक्तञ्च— " दणिए दमणसुद्धी दसणसुद्धस्म चरण  
 तु " इति । अयं स्वममयः प्रमाणनयैरनेकान्ततत्त्वप्रतिपादकत्वात्, अयञ्च परसमयो  
 नयान्तरनिरपेक्षनयगोचरैकान्ततत्त्वप्रतिपादकत्वादित्येव स्वममयपरममयपरिज्ञानेनेतरव्य-  
 वच्छेदनानेकान्ततत्त्वानयोधमन्तरेण चरणकरणप्रधाना गीतार्थपुर्वाज्ञाऽनधीनप्रवृत्तिःकाश्चरण  
 करणयोस्तारमपि निश्चयशुद्ध बाह्यदृष्टयो नैव जानन्ति, किन्तु परममयतत्त्वाऽप्रामाण्यज्ञापन  
 पूर्वज्ञानेकान्तात्मस्त्वसमयतत्त्वप्रामाण्यनिश्चयार्थं प्रमाणनयाधीनद्रव्यगुणपर्यायपरिपयकनिर-  
 न्तरपत्पर्यालोचनं तदात्मकान्तर्दृष्टिबुद्धजना एव जानत इति सुधारमातिशायिभगवन्म-  
 खाञ्जनिर्गततत्त्वामृतरमपिपासुभिः स्वपरममयतत्त्वं उद्भृत्तमीतार्थगुरुमगवन्मूखेन पठित्वा  
 श्रुत्वा वा मत्तात्पर्यं विभाव्य विनिश्चित्य च तत्पारभूतद्रव्यानुयोग एव दृढीकर्त्तव्यः, येन  
 सम्पग्दर्शने विशुद्धतर स्यात् । तथापि ग्रन्थकार एव स्पष्टीकरिष्यति ।

तानि च द्रव्यानुयोगशास्त्राणि मगज्जरीगणधरश्रुतधरादिप्रणीततत्तच्छास्त्राणि अन्य  
तीर्थिकप्रज्ञापनागोचरातीतपदार्थसिद्धिमाधनानि द्रव्यानुयोगत्रिपयानन्तगहनपदार्थरत्न  
भृतत्वेनाऽश्लेषनयतरङ्गव्याप्तत्वेन च समुद्रकल्पानि मन्दमेधोभिर्दुरगमाहाणि यथार्थतया  
दुःशक्यार्थाधिगमानि च, यथा समुद्र दृष्ट्वा तरणोपायमजानतां पुमा सुखेन बाहुभ्यां प्रतरामीति  
नैव चित्तवृत्तिर्भवति, अतिमाहमवृत्त्या प्रतरणप्रवृत्ता अप्यल्पमात्र गता दुरुत्तरोऽप्यमिति मत्वाऽ  
तिखिन्ना\* प्रतिनिवृत्ता नैव तत्पार प्राप्नुवन्ति तद्वत्प्रकृतेऽपीति बुद्ध्वा तदनुग्रहार्थमर्हत्प्रवचन  
समुद्रोद्घृतद्रव्यानुयोगत्रिपयतत्तत्प्ररत्नानां सश्लेषतस्मद्वाहक अखिलनयसमर्दगहन महातर्क  
सुखपूर्वकृतचरग्रहणधारणनिश्चयजननयोग्य "सम्मतितर्कार्यप्रकरणम्" नदीतटागादिव  
झलवदनिष्ठाननुबन्धित्वाच्छक्योपायतया कालसहननायुर्दोषादल्पप्रज्ञाशक्तीनामपि विनीतान्ते  
वासिनां प्रमाणनयमद्वादिगम्भीरतत्त्वजिज्ञासूनामपूर्वतत्परान्तरग्रहणाऽनुपममक्तिबहु  
मानमप्रीचीनापूर्वोच्छामशालिमानसाना सुशक्यागमाह सुशक्यार्थाधिगमश्चाल्पेनैव तत्त्वाव  
षोषपाटवाधानममर्थेनैतेन ग्रन्थेनानर्घ्यानल्पार्थस्तान्येतेऽनाघमवाप्नुवन्तितीच्छया कर्तुं  
कामो त्रिनयादिप्रमत्तमहुकृन्तिस्तीमानुपकृतकृपासुधामभ्यगभ्यस्ततदर्थोपबृंहितबुद्धीनां तेषां  
सूक्ष्मेक्षिकया द्रव्यानुयोगप्रधानशास्त्रमष्टद्रावगाहोऽप्यमूल्यरत्नोपमतदर्थाधिगमोऽपि च  
सुशक्य एवेति मन्वानः केरलज्ञानिमन पर्यायज्ञान्यादिभगवदकीर्तगमभव्यात्महृदय  
गुहाव्याप्तमहामिध्यात्वान्वकारविचरमरुत्वेनानाप्तयथार्थनामा तार्किकशिरोमणितात्तपाद-  
श्रीसिद्धसेनदिवाकर, सरुलजगज्जीवपरमार्हच्छामनरसैरुलीनवाचिकीर्पालक्षुणकरुणैक  
व्याप्तचेता अमृतपर्येण यथार्थतत्त्वोपदेशसुधारयेण प्रफुल्लितमहकारयनमिर प्रवृत्तितामोद  
विस्तार प्रभुशामन प्रफुल्लभावमानीय भव्यात्मनां जलद्वरत्तसौरभ्याऽऽग्राणानन्दं प्रदित्सु  
अर्हतामर्हता शामनपूर्विकेत्यतः पूजितरूजको लोक इति न्यायेन च सुधामधुरया गिरा  
शामनार्थोपदेशमये "णमो तित्यस्त" इत्युक्तिपूर्वकत्रिलोकत्रमगज्जमस्कृत शामनमेव  
मरचककृच्छ्रास्त स्तुत्यर्हम्, ऐदयुगीनात्यन्तपरमार्थहितायहस्य तस्य च यथार्थगुणसम्पत्स्तुतौ  
स्वश्रद्धागुणोपबृंहकतर्कावतारगर्भाया विशिष्टमत्स्यभिव्यञ्जिकायां कृताया तत्प्रणेत्याऽपायाप  
गमादिनिविधातिशयद्विंशत्यर्हत्प्रभुरपि तद्द्वारा स्तुत एवेति निश्चिन्तन् कल्याणपरम्परैकहेतु  
तत्स्तुत्याऽनुत्तरमाग्यलब्धया कृतार्थमात्मानमभिमन्यमानस्तदमाधारणानयनान्यानपेक्षित  
निष्टङ्कितप्रामाण्यकत्वपरसमयाप्रामाण्यज्ञापकृतमज्जिनप्रणीतत्रादिगुणस्तुत्यात्मकभावमद्गल  
स्वस्य तदिष्टानोद्भूतापूर्वशुभमावोच्छामत\* प्रारिप्सितममाप्तिप्रतिबन्धकदुरितविशेषनिवर्त्तक  
तावच्छेदकशक्तिमत्तया प्रारिप्सितममाप्तिप्रतिबन्धकप्रिभवावविधातद्वारा ग्रन्थसमाप्सादि  
फलकम्, उक्तलक्षणमद्गलध्रवणैकतानभूतस्य श्रद्धानुमारिशिष्यस्यापि च समाराब्धिमज्ज  
त्प्राणिमणोदिधीर्षुमगज्जप्रणीतशामनमत्केतत्प्रकरणकारोद्भावितयथार्थगुणश्रवणमात्रेणासशय  
शामनविषयज्ञाविच्छिन्नोच्छासशालिचित्तप्रसादमातन्वानस्य शामनाभिधेयतत्त्वविषयकबहु-

मानजिज्ञासाग्रहणधारणादिप्रज्ञोदयक्रमेणाऽविघ्नेतच्छास्त्रपारगमनादिकलक, तर्कप्रशानुमारि-  
शिष्यस्यापि च "अभ्यासादभ्यासोऽगिवर्धते" इति न्यायात् प्रज्ञादीना गुणानामभ्यासा  
चत्पुरुषेषु तत्काले तत्रमादिभावेन प्रकर्षदर्शनात् कस्मिंश्चित्पुरुषविशेषे मिथ्या  
ज्ञानादेस्समूलकाप कषणात् गर्वोत्कृष्टप्रकर्षकाष्ठापन्नानोत्पत्तेः नून जगति सम्भाव्यत  
एव विश्वविश्वान्नेषुतत्रयथार्थवेत्ता सर्वज्ञो भगवान् । किञ्च यस्य यस्त्वभावस्त प्रति  
बन्धेन प्रतिषद्धस्तन् न स्वकार्यसाधनप्रमविष्णु, प्रतिबन्धभावे चानिर्गलतया स्वकार्य  
साधयत्येव, यथा बद्धेर्दादादकत्स्वभावस्सूर्यकान्तमण्यभावविशिष्टचन्द्रकान्तमणिना प्रति  
बद्धो न दास्य दहति, तदभावे च दास्ये मति तद्दहत्येव तथा सर्वज्ञेयान्मासित्वे चिदान्मनः  
स्वभाव एव, छन्नस्थात्मनि तत्प्रतिबन्धस्तु ज्ञानावरणीयादिघातिकर्मत्तमप्रतिबन्धककृत  
एवेति प्रतिबन्धक्रीभूतस्रलयातिकर्मापगमे मत्याभिर्भूतेन तेन स्वभावेनानन्तपर्यायालि  
ङ्गितजीवाजीवादिनिखिलजगत्तत्रप्रकाशनान्नुतरां सिद्धमेव भगवत्स्वर्णत्वमिति । तदुक्तम्-

“ज्ञो ज्ञेये कथमज्ञस्या-दसति प्रतिबन्धके ।

दास्येऽग्निर्दाहको न स्यात्, कथमप्रतिबन्धक ॥ १ ॥ इति ।”

तथा च कस्यचित्पुंसो ज्ञान सरलार्थमाक्षात्कारि तद्ग्रहणस्वभावात्त्वे मति प्रक्षीणप्रति  
बन्धप्रत्ययत्वात्, यद्यद्ग्रहणस्वभावात्त्वे सति प्रक्षीणप्रतिबन्धप्रत्यय तत्तत्माक्षात्कारि, यथाऽ  
पगततिमिरादिप्रतिबन्ध चाक्षुषणान रूपसाक्षात्कारि, सरलार्थग्रहणस्वभावात्त्वे मति प्रक्षीण-  
प्रतिबन्धप्रत्यय च कस्यचित्पुंसो ज्ञान, तस्मात्तथा, न चात्र हेतुर्विशेषणासिद्ध्याऽसिद्धः,  
आगमद्वारेणोपार्थग्रहणस्वभावात्त्वे ज्ञाने प्रसिद्धत्वात्, नापि विशेष्यामिद्ध्याऽसिद्धः,  
सकलार्थग्रहणस्वभावे ज्ञाने प्रतिबिम्बस्वभावे आदर्शे मलमिष रागादय एव प्रतिबन्धकाः,  
तेषामात्यन्तिकरुध्यस्य सम्यग्दर्शनज्ञानैराग्यादीनां परमप्ररूपेण सिद्धेः, यदुत्कर्षतारतम्याद्  
यस्यापचयतारतम्य तस्य परमप्ररूपे तदत्यन्त प्रक्षीयने, यद्योष्णस्पर्शस्य परमप्ररूपे शीत  
स्पर्श इति नियमात् । तथा चोक्तयुक्तिप्रयुक्तिपूर्वकानुमानतस्मत्फलार्थमाक्षात्कारसङ्घटितमूर्ति-  
सर्वज्ञेयानसिद्धेस्त्वत्प्रणीत शासनमपि निश्चितप्रामाण्यादियथार्थगुणमित्येव निश्चिन्वतस्मबहु-  
मानमङ्गलश्रवणतद्विचित्रमादोत्पत्त्या परीक्षापूर्वकतदभिहिततत्रश्रवणमननिदिष्यामनद्वारा  
श्रुतप्रज्ञाजनरूपव्यमानैतत्प्रकरणनिर्विघ्नाव्ययनपरिसमाप्त्यादिफलकमित्यवशिष्टाचारानुमि  
तकर्त्तव्यताक तन्मङ्गल शास्त्र प्रणेतुकामः स्वशास्तुर्माहात्म्यज्ञापनार्थं ग्रन्थघटकीभूत करोति ।

“सिद्ध सिद्धत्थाण, ठाणमणोचमसुत् उधगयाण ।

कुसमयचिस्तासण, मासण जिणाण भवजिणाण ॥ १ ॥”

‘सासण’ यथास्थितार्थप्रतिपादकं द्वादशाङ्गयात्मकं शासनं ‘सिद्ध’ इदं शासनम्-  
अप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दितज्ञानविषयप्रामाण्यविशिष्टयथार्थज्ञानजनकत्वात् प्रमाणमवेत्या-

कारको यो जिनप्रणीतत्वव्यतिरिक्तहृत्पनपेक्षप्रामाण्यनिश्चयस्तद्विषयभूतम् । न चात्रोक्तहृत्त्व-  
सिद्धिः, धौतज्ञानमुत्पद्यमान स्वप्रकाशत्वात् स्वमिव तद्गतप्रामाण्यमपि गृह्णाति, तस्य नियमेन  
स्वतो ग्राह्यत्वादिति तस्मिन् धौतज्ञाने प्रामाण्यज्ञाने सति तत्प्रतिबन्धेन तदुत्तर सशय  
विपर्ययलक्षणं नैवाऽप्रामाण्यज्ञान भवतीत्यतोऽप्रामाण्यज्ञानानास्फुटितज्ञान स्वतः प्रामाण्य  
ज्ञान तद्विषयभूत यत्प्रामाण्यं तद्विशिष्ट यन्धौतयथार्थज्ञान तज्जनकत्वहृतोऽशाभनपक्षे सत्त्वात् ।  
तद्याग्रे विवेचयिष्यते । इदमत्र तत्रम्-इदं शासनं प्रमाणमेवेति प्रामाण्यनिश्चये एवकारेणा-  
ऽप्रामाण्यं तत्र व्यरच्छिद्यते, तत्र च सर्वांशे शासनस्य प्रामाण्यमावदितं भवति, अन्यथा  
किञ्चिदंशे यथार्थज्ञानजनकं किञ्चिदंशे यथार्थज्ञानजनकमपि यदि जिनशासनं स्यात्तदाऽपि  
यदंशे यथार्थज्ञानजनकं तदंशे प्रमाणं भवत्येवेति नान्यागमतो वैशिष्ट्यमस्य स्यात्, ईदृश  
प्रामाण्यनिश्चयश्च सर्वथा यथार्थज्ञानजनकत्वाद् यथार्थज्ञानमात्रजनकत्वाद्वा, न तु यथार्थज्ञान  
जनकत्वात्, किञ्चिदंशे यदयथार्थं किञ्चिदंशे च यथार्थं तादृशज्ञानजनकं सति तस्य सत्त्वात्,  
तदेव यथार्थज्ञानं सर्वथा यथार्थज्ञानरूपं यथार्थज्ञानमात्रं वा यद्प्रामाण्याऽसहचरितप्रामाण्य  
विशिष्टं, तदेव च प्रामाण्यमप्रामाण्याऽसहचरितं, यद्प्रामाण्यज्ञानानास्फुटितज्ञानविषयं,  
अप्रामाण्यसहचरितं तु प्रामाण्ये अप्रामाण्यज्ञानास्फुटितज्ञानविषयत्वेनाप्रामाण्यज्ञानाना  
स्फुटितज्ञानविषयत्वाऽसम्भवात् । यद्यपि सर्वथा यथार्थज्ञानजनकत्वाद् यथार्थज्ञानमात्र  
जनकत्वाद्धेत्यपि हेतुः सम्भवति, तथापि सर्वथाऽव-यथार्थज्ञानमात्रत्वाद्यगममार्थमप्रामा-  
ण्यज्ञानानास्फुटितज्ञानविषयप्रामाण्यविशिष्टत्वात्तदगमस्यापेक्षणीयत्वेन तस्यैव हेतुषट्कत्वेन  
प्रवेशः, ईदृशविचारानादरे तु यथार्थज्ञानमात्रजनकत्वस्यैव प्रामाण्यव्याप्तत्वात्तज्ज्ञानादेव  
प्रामाण्यनिश्चयस्य सम्भवेनाऽप्रामाण्यज्ञानानास्फुटितज्ञानविषयप्रामाण्यस्य यथार्थज्ञानविशे-  
षणतयोपादानं निफलमेवति बोध्यम् । ननु शासनं मिद्विश्वकलशुणस्यतो निश्चितप्रामाण्यक  
मित्येव कुत इत्याशङ्कानिवृत्त्यर्थमाह-'जिणाण' जिनानाम्, रागादीन् जितवन्त इति  
जिना', तेषां जिनानाम् । अस्य शासनमित्यनेनान्यत्र, तथा च शासनस्य कृदन्तत्वात्तद्व-  
योगे जिनानामित्यत्र कर्त्रर्थे विहितायाऽप्यष्ट्या अर्थस्य कर्तृत्वस्याधेयत्वमभ्यन्वेन प्रकृत्यर्थे  
जिनान्वितस्य निरूपकत्वमभ्यन्वेन शासनेऽन्यथात्तज्जिनकर्तृकं, जिनप्रणीतमिति यावत् । यो  
हि रागद्वेषाऽज्ञानादिदोषपरास्पृष्टस्तस्मिन्नल्पज्ञे पुमि भ्रमप्रमादप्रिलिप्ताकरणाऽपाटववचना  
कौशलादिमम्भावनया तत्प्रणीतं तत्र मनदिग्धप्रामाण्यकं स्यात्, जिनास्तु सर्वथा रागद्वेष  
मोहपराजयानन्तरमशेषजगत्त्रयमाधात्कारे सत्येव भवन्तीति तत्र भ्रमप्रमादादयो न केऽपि  
दोषास्सम्भवन्तीत्यतस्तत्प्रणीतं शासनं मिद्विभवति । नन्विदं शासनं जिनप्रणीतमेवेति कुत  
इत्याशङ्कयामाह-'सिद्धत्थाण' मिद्धार्थानां, अत्र पञ्चाः प्रतिपादकत्वात् त्वेन प्रमाणान्त  
राऽत्रिसराद्यर्थप्रतिपादकमित्यर्थः । अस्य हेतुत्रिषया विशेष्यत्वाद् जिनप्रणीतत्वमन्तरेणानुप-  
पद्यमानस्य प्रमाणान्तराऽविसवादिद्वयमवादर्दूरान्तरितार्थप्रतिपादकत्वहृतोऽस्ति शासनं जिन

प्रणीतमेवाभ्युपगन्तव्यमिति भावः । ननु जिनास्मर्वथा रागादिजयोद्भूतानन्तार्थसाक्षात्कार-  
 शालित्वात् सर्वज्ञा इति तत्प्रणीतमेवात्रिस्तत्रादिवचनविशेषरूपं ज्ञानमनिश्चितप्रामाण्य  
 कमिति कुतः, बुद्धादीनामपि तदनुगैः सर्वज्ञतयाऽभिमतत्वेन तत्प्रणीतानामपि ज्ञानानां  
 निश्चितप्रामाण्यशालित्वादित्याशङ्कानिवृत्तये बुद्धादिज्ञानानाममर्षज्ञप्रणीतत्वमेवेति प्रति  
 पादनार्थमाह—‘कुसमयविशामण’ कुसमयविशामणम्, कुसमया मिथ्याज्ञानानामितचित्त  
 वृत्तिपरवादिप्रणीतप्रमाणबाधितार्थप्रतिपादकतत्तद्दर्शनान्तरसिद्धान्तास्तेषां दृष्टेऽत्रिपये विरो-  
 धाद्युद्धावकत्वेन विशामन निष्वसकम्, तथा च दर्शनान्तरसिद्धान्तानां बाधितार्थप्रतिपाद-  
 कत्वेनोन्मत्तत्रचोवदप्रामाण्ये सिद्धे कुसमयविशामणमिति विशेषणेन सर्वज्ञविशेषसिद्धेस्तत्प्र-  
 णीतमेव ज्ञानमनिश्चितप्रामाण्यमिति सिद्धम् । प्रयोगश्चात्र—इदं ज्ञानमनिश्चितप्रामाण्यक  
 जिनप्रणीतत्वात् यन्नैव तन्नैव तीर्थान्तरज्ञानमवत्, न चास्य हेतोरमिद्धिः, अन्यथाऽनुपपद्य  
 मानप्रामाणिकातीन्द्रियाद्यर्थप्रतिपादकत्वरहेतोस्तस्य मिद्धेरिति । अथ सर्वज्ञप्रणीत ज्ञानम,  
 तत्प्रणीतत्वाच्च तत्प्रमाणमिति युक्तमुक्तम्, रागादीन् जितवन्त इति जिना इति त्वयुक्त  
 मुक्तम्, सामान्ययोगिनि तस्य घटमानत्वेऽपि अनादिसिद्धे ज्ञानादिमर्षजगत्स्रष्टीश्वरे  
 तस्याघटमानत्वात्, तत्र सहजत एव रागादिलक्षणकलेशशुभ्रहितत्वस्य सद्भावात्, न  
 पुनर्विषयभावनापरिपाकरशादेव तस्य रागादिशून्यः, येन तत्र रागादीन् तत्प्रतिपक्षैराग्या  
 म्यासादिस्वव्यापारेण जितवन्त इति वच सार्थकं जिनार्थप्रतिपादकत्वेन स्यादिति  
 नित्येश्वरवादिनो ये मन्यन्ते तन्मतनिरामयाह—‘मयजिगण’ मयजिनानाम् । मयशब्देन  
 मयकारणीभूता रागाद्योऽत्रोपचाराद्विवक्षिता, तान् जितवन्त इति मयजिनाः, तेषां  
 ज्ञानम्, तत्प्रणीत तदिति यावत्, न तु पूर्याक्तलक्षणेप्रणीतम्, दृढतरनिरन्तराम्यस्ता  
 नित्यत्वादिद्वादशभाजनाद्यात्मक कर्मक्लेशादिनयोपायमन्तरेण स्वभावरत एवेश्वरे कर्मक्लेशादि  
 विगमस्याऽमम्भवात् । उपचाराश्रयणे किं प्रयोजनमिति चेत्, उच्यते, न ह्यविकलकारणे  
 रागादान्ध्वस्ते तत्कार्यस्य समारस्य जय कर्तुं शक्य इति प्रतिपादनमेव, अथाखिल  
 तत्प्रमाणात्कारे सति भवस्यजिना जीवन्मुक्तास्मन्तो योगिन कचन काल भवेऽतिष्ठन्ते  
 इत्येव न, किन्तु तदव्यवहितोत्तरभय एव परममुक्तिमवाप्नुवन्तीति तत्र शरीराऽभावे  
 वकृत्वाम्भवेन ज्ञानमप्रणेतृत्वात्तन्निर्णयि च ये मन्वन्त तन्मतनिरामयाह—‘ठाणमणोव  
 मसुद्धमणयाण’ स्थानमनुपमसुखमपगतानाम्, तिष्ठन्ति कर्मक्षयोत्पन्नानन्तज्ञानाद्यष्टगुण  
 शालिशुद्धात्मानोऽस्मिन्निति स्थानम्, लोकाप्रलक्षणम्, न त्रियते उपमा यस्य तदनुपमम्,  
 अनुपम सुख यस्मिन् तत्तथा, तादृश स्थान ‘उप’ इति कालमासीप्येन गतानां—प्राप्तानाम्,  
 मत्रोपप्रादिकर्मणां यावता कालेन ध्वयस्स्यात्तत्प्रमाणोऽस्तीयान् कालो व्ययधानभूतो  
 येषां तेषामिति भावः, यदा ‘उप’ इत्युपमर्गं प्ररूप्याची, तेन तादृशस्थानं प्ररूप्येण गताना-

मिति, यद्यपि वेद्यमानतीर्थकरनामकर्मादिसद्भावेन भवजिनास्तत्स्थान नालङ्कृतवन्तस्तथाप्यत्र 'परांथे प्रयुज्यमानाः शब्दा वतिमन्तरेणाऽपि तमर्थं गमयन्ति' इति न्यायादनुभूयमानतीर्थकरनामकर्मलेशमद्भावेऽपि तद्गता इव गता इत्यर्थः कतव्यः, तेषाम्, तेन शासन-प्रणेतृत्व तस्यामवस्थाया तेषामुपपन्नमेव, यद्वा "मुक्ता" सर्वत्र तिष्ठन्ति, व्योमवचापवर्जिताः" इत्येतस्य निरासार्थमाह सूरिः—“ठाणमणोवमसुहृद्गुणवगयाण” अनुपमसुख स्थान “उप” इति प्ररूपेण—अपुनरावृत्त्या गतानाम्—उपगतानामिति सङ्घिसार्थः । विस्तृतार्थस्त्रयम्—अत्र 'सास-णम्' इति मुख्य विशेष्यम्—शास्यन्ते प्रतिपाद्यन्ते जीनाजीनादयः पदार्थाः प्रमाणांतराऽबाधितत्वेन यथार्थस्वरूपतयाऽनेनेति शामन द्वादशाङ्गमित्यर्थः । तर्हि परापेक्षया प्रामाण्यविशिष्ट किं वा स्वमहिम्नैवेत्यत आह—सिद्धमिति, यथा कनक स्वयमेव पवित्रमिति तत्पात्रिच्यकरणे नान्यापक्षा, तथेदं शामनमपि स्वमहिम्नैव निश्चितप्रामाण्यम्, न तु हेत्वन्तरापेक्षया, यथाऽल्पपुरुषप्रणीतग्रन्थे सर्वज्ञप्रणीताऽऽगमाऽविरुद्धार्थप्रतिपादकत्वादिहेत्वन्तरापेक्षणात्परापेक्षनिश्चितप्रामाण्यम्, नात्र तथा, अस्य घातिकर्मकलेशादिसकलदोषापरामृष्ट-पुरुषविशेषप्रणीतत्वेनैव प्रामाण्ये हत्वन्तरानपेक्षणादिति । अथास्य शासनस्य जिनप्रणीतत्वमेव नास्तीति तत्र प्रामाण्य निरयकाशमिति निप्रतिपन्नम्प्रति किं मानमिति चेत्, उच्यते, इदं शामन गुणवत्पुरुषप्रणीतम्, अन्यथाऽनुपपन्नावाधितार्थप्रतिपादकत्वात्, लौकिकसत्त्ववाग्मदित्यनुमानमेवेति, न चात्र व्यभिचारशङ्का विधेया, यतो यदीदं शासन गुणवत्पुरुषप्रणीतं न स्यात् तर्ह्यन्यथाऽनुपपद्यमानाऽवाधितार्थप्रतिपादकमपि न स्यात् उन्मत्तपुरुषवाग्मदित्यनुकूलतर्कसद्भावात् । न चात्रोक्तहेतोरमिद्धिरिति वाच्यम्, द्रव्यपर्यायापेक्षया कथञ्चित्तया नित्यत्वादिस्वरूपतया शामनप्रतिपाद्यस्यार्थस्य प्रत्यक्षप्रमाणेन तथैव प्रतीतेः, न च नित्या नित्यत्वयोरिद्वत्त्वात्तद्वर्माक्रान्तावगाहिनी सा प्रतीतिध्रान्तेति वाच्यम् न्यायमते श्रान्तज्ञाने धर्मिप्रकाराशात्रच्छेदनं प्रामाण्याऽप्रामाण्ययोरिव शाखामूलानच्छेदनैकस्मिन्नेव वृक्षे कपिसयोगतदभाययोरिव वा बौद्धसिद्धान्तसिद्धे चित्रज्ञाने नीलाकारत्वपीताकारत्वयोरिव वा साङ्ख्यमतमभ्युपगततायामेकस्या ऋतौ सत्त्वादित्रयात्मकत्वस्येव वा तत्तदपेक्षामेदन तयोर्विरोधाभावात् । एतच्चरमग्रे निरूपयिष्यते । तथा चोक्तानुमानेन गुणवत्पुरुषप्रणीतत्वसिद्धौ य एवैतच्छामनकर्तृगुणवत्पुरुषः स एव जिनः, तादृशपुरुषान्तराऽमम्मन्वात्, तदसंभवात्प्रतिपादादपिष्यते । तद्वं शामनस्य जिनप्रणीतत्वसिद्धौ तत्र हेत्वन्तरानपेक्षणेन स्वतः प्रामाण्य सायकाशमेव । यद्वा वाक्यरचनाम्प्रति वाक्यार्थज्ञानस्य कारणत्वेन तस्य स्वार्थत्वे तस्या प्रामाण्यम्, अथार्थत्वे चाऽप्रामाण्यमित्यतश्शामनस्य प्रामाण्ये आप्तवक्तृ-यथार्थवाक्यार्थज्ञानात्मकगुणवन्त्यत्रमेव तत्रम्, अन्यथा प्रामाण्यमेव न स्यादिति तादृशज्ञानात्मकगुणाधीनत्वाच्छामनस्य प्रामाण्य परत इति गीयते तदापि तज्ज्ञानानुमतमेवेति ।

मीमांसकास्तु ज्ञानमात्रे उत्पत्तौ स्वत एव प्रामाण्यमनधिगताऽबाधितार्थविषयकज्ञान-  
 त्वलक्षणं तद्विभ्रष्टविशेष्यतानिरूपिततन्निष्ठप्रकारतानिरूपकज्ञानत्त्वलक्षणं वा, ज्ञानोत्पाद-  
 कसामध्यतिरिक्तगुणादिसामध्यन्तरानपेक्षत्वात्, वेदागमस्याऽप्यपौरुषेयतया नित्यत्वेन  
 “शब्दसामान्यस्य ज्ञानजनकत्वेन प्रामाण्यमम्भवाच्चोदनायाश्च शब्दत्वादतस्सम्भरत्येवाती-  
 न्द्रिये धर्मे चोदनाया. प्रामाण्यम्” इति शाबरभाष्यप्रभाटीकोक्तेरधिगताबाधितार्थाऽग्नाहि-  
 ज्ञानजनकत्वात् प्रामाण्यम् आप्तवक्तृगुणाऽपेक्षाऽभावात्स्वतः । यतो नाप्तवक्तृगुणसङ्गान्त्पा  
 वेदागमे प्रामाण्यम्, शब्दोच्चारणमात्र एवाप्तस्य व्यापारात् । शब्दः पुनरविसर्गादिनीं  
 वस्तुप्रतीतिं विदधानः स्वमहिम्नैव प्रमाणभूतः, नातोऽस्मिन्नाप्तप्रणीतत्वाभावात्प्रामाण्यम्,  
 यतः शब्दस्थलेऽपि विज्ञानोत्पादकमेव प्रामाण्योत्पादकम्, नाप्तप्रणीतत्वम्, अतस्तदभागे  
 न दोषाय, प्रामाण्यप्रयोजकामात्रो ह्यप्रामाण्यमाधिपति, नाप्तप्रणीतत्वाभाव इति नानुमा-  
 नादिवेद्यत्वेन परतः प्रामाण्यम् । अनुमानप्रयोगस्तु प्रामाण्यव्यवहारमाधनार्थमेव, न तु  
 प्रामाण्यसिद्ध्यर्थम्, सिद्धेऽप्यर्थे इच्छादिना व्यवहारार्थं हेतुपन्यासो लोकेऽवलोक्यत एव ।  
 अत एव “प्रत्यक्षपरिकलितमप्यर्थमनुमानेन बुभुस्तन्ते तर्करसिका.” इति वाचस्पति-  
 वचनसङ्गच्छत इत्याहुः । तन्न विद्वन्मनोरञ्जकम्, वेदे प्रामाण्यस्याप्तवक्तृगुणाऽपेक्षाऽभावेन  
 स्वतस्त्वे तत्राप्रामाण्यस्यानाप्तवक्तृदोषाऽपेक्षा नास्तीति तदपि स्वतस्स्यादिति विपर्ययस्य  
 सुवचत्वापत्तिरस्यात् । अथाऽप्रामाण्यम्प्रति वक्तृदोषाणामन्यव्यतिरेकौ स्तः, अत एव  
 “तदन्तर्गतो दोषो मिथ्याभावस्य हेतुः” इत्युक्तमिति चेत्तदप्यपेक्षलम्, प्रामाण्यम्प्रति  
 वक्तृगुणानामपि तयोन्तुल्यत्वात् । तथाहि—पुरुषगुणे सति वाक्यप्रामाण्यं दृश्यते, तस्मि-  
 न्नसति च तन्नानुभूयत इत्यन्यव्यतिरेकाभ्यां पुरुषगुणकृतं वाक्यप्रामाण्यमवगम्यते,  
 तद् यद्यन्यथासिद्धान्वयव्यतिरेकोभयसङ्गावेऽपि पुरुषगुणप्रयोज्यं नेष्यते तर्हिप्रामाण्य-  
 मपि पुरुषदोषाधीनं न स्यात्, गुणान्वयव्यतिरेकयोरिव दोषान्वयव्यतिरेकयोरप्यन्यथा  
 सिद्धत्वात्, न च दोषस्थलीयावेव तावन्यथासिद्धाविति वक्तुं शक्यम्, विपर्य-  
 यस्यापि सुवचत्वात्, विशेषाऽभावात्, इष्यते च पुरुषदोषाधीनमप्रामाण्यं भवद्भिः,  
 तद्वत्पुरुषगुणकृतं प्रामाण्यमप्येष्टव्यम्, यतो लोकेऽपि वचनप्रकारेषु गुणवत्पुरुषप्रणीत-  
 त्वादव गुणाधीनं प्रामाण्यम्, तदभावे च दोषाधीनमप्रामाण्यमिति व्यग्रस्थोपलभ्यते,  
 प्रयोगशक्तिवत्—वेदवचनं वक्तृगतयथार्थज्ञानात्मकगुणाधीनप्रामाण्यवत् श्रोत्रयथार्थबोध  
 जनकत्वात् उभयसम्प्रतिपन्नाप्तवचनवत्, न चात्र वेदस्याऽपौरुषेयत्वात्तद्वचनं स्वत एव  
 प्रमाणमित्युक्तसाध्यं मास्तु हेतुरस्त्विति व्यभिचारशङ्का कर्तव्या, यदि तद् वक्तृयथार्थ-  
 ज्ञानात्मकगुणाधीनप्रामाण्यवत् स्यात्तर्हि श्रोत्रयथार्थबोधजनकमपि न स्यात्, उन्मत्त-  
 पुरुषवाक्यवत्, इष्यते च श्रोत्रयथार्थज्ञानजनकम्, तस्मात्तद् वक्तृयथार्थज्ञानाऽऽत्मकगुणा-  
 धीनप्रामाण्यवदित्यनुकूलवर्कसङ्गावात् । लिङ्गसादृश्यादिभ्रान्तज्ञानरूपदोषाभावमात्राभ्रातृ-



मित्युपमिती प्रमे इति लिङ्गमादृश्यादिविषयक्यथार्थज्ञानमपि गुणस्तद्देतुस्तद्ब्रह्मच्छान्दप्रमाऽपि दोषाभावमात्रात् न भवतीति तत्र यथार्थवाक्यार्थज्ञानमपि गुणो हेतुरिति यथार्थवाक्यार्थज्ञानात्मकगुणवत्पुरुषोच्चरितत्वेन वेदे प्रामाण्य परतोऽभ्युपगन्तव्यम् । अपौरुपेये वेदे अकर्तृकत्वेन दोषनिवृत्त्यै प्रामाण्यमस्त्विति चेत्, तर्हि तत एव गुणनिवृत्त्याऽप्रामाण्यमपि स्यात् । गुणनिवृत्तरप्रामाण्यमप्रति सामर्थ्यं न क्वापि दृष्टिशोचरमिति चेत्, तर्हि दोषनिवृत्तेः प्रामाण्यमप्रति क्व सामर्थ्यमनुभूतमित्युच्यताम् ? । लोकत्रयसीति चेत् ? तुल्यमुभयत्र । लोकत्रयमामप्रामाण्ये दोषा एव कारणम्, गुणनिवृत्तिस्त्ववर्जनीयमन्निधिरित्यप्रामाण्य दोषाधीनत्वेन परत इति चेद्, मैवम्, प्रामाण्यं प्रत्यपि गुणा एव कारणम्, दोषनिवृत्तिस्तु स्वभावसिद्धेति प्रामाण्यमपि गुणाधीनत्वेन परत इति विपर्ययस्यापि सुप्रचत्वात्, दोषापगमप्रयुक्तौ गुणानामवर्जनीयमद्वाधो न तु स्वकारणोपजाता गुणाः, येन चादृशगुणजन्य प्रामाण्य परतस्स्यादिति चेत्, तर्हि गुणोत्सारणप्रयुक्तो दोषाणामवर्जनीयसद्भावोऽप्यस्त्वित्यऽप्रामाण्यमपि स्रत इत्यपि स्वीक्रियताम्, न च गुणाभावस्यैवाऽप्रामाण्य प्रति प्रयो जकत्वेन परप्रयोज्यत्वात्परतस्त्वमैव तस्य सिद्धयतीति वाच्यम् भावकारणप्रयोज्यत्वे सत्येव परतस्त्वस्वीकारात्, गुणाभावस्य च भावरूपत्वाभावात्, अन्यथा दोषाभावमात्रप्रयोज्यत्वमादाय प्रामाण्यस्य स्रतस्त्वसाधन तत्रापि न सद्गच्छेत्, प्रामाण्यस्य दोषाभावरूपपरप्रयोज्यत्वात् । अथैव सति वेदानामपौरुपेयतया गुणदोषयोरुभयोरभावे तद्देतुक्रयोः प्रामाण्याऽप्रामाण्ययोरभावाच्चूतीपराशेश्चासम्भवाभिस्त्वभावत्रयापत्तिस्स्यादिति चेत्, किं न खलु भो. खलस्वमात्रमात्मान त्वष्टुपालमसे, य. किलामीपामकर्तृकत्वं पूरुकोपि । तस्मादाप्तवत्पुणहेतुरु प्रामाण्यमनाप्तवत्दोषहेतुकश्चाप्रामाण्य यथा लोकत्रयसि तथैव वेदेऽप्यस्त्वित्येव मार्गश्रेयस्तरतोऽभ्युपगमनीय इति तस्याप्तवत्पुणहेतुकत्वे सत्येव प्रामाण्य सिद्ध स्यात्, नान्यथा । वेदे निपरीताभ्युपगमे को दोष इति चेत्, उच्यते, दोषाऽऽमक्तपुरुषप्रणीतत्वादप्रामाण्यमित् गुणवत्पुरुषप्रणीतत्वादेव प्रामाण्यमपि लौकिकत्रयाक्येषूपलब्धम्, लौकिकत्रयाक्यमश्च वेदवाक्यम्, य एव लौकिकाश्चब्दास्त एव वैदिका इत्यतश्चब्दस्वरूपा विशेषानुचार्यमाणत्रप्रयोज्यपुरुषाश्रयणत्रसङ्केतग्रहमव्यपेक्षार्थप्रतिपादकत्वादिलक्षणममानधर्मकत्वं सत्यपि पूर्वाक्त्रयव्यतिरेकानुविधाने सत्यपि च तत्र गुणवत्पुरुषप्रणीतत्वाभ्युपगमे च्चदप्रामाण्यहेतुभूतात्तोच्चरितत्वस्याऽभावेन प्रामाण्यायैव जलाञ्जलिर्दत्तो भवेत् । ननु वर्णा नित्या एव “ य एव पूर्वमुच्चरितो गकारः स एवाय गकारः ” इत्यादि प्रत्यभिज्ञाबलात्सिद्ध्यन्ति, तथा च वर्णममूहात्मरूपदममूहविशेषवाक्यसमूहविशेषरूपस्य वेदस्य नित्यत्वेन गुणवत्पुरुषप्रणीतत्वाभावात् परतः प्रामाण्यमिति चेद्, न, उत्पन्नो गकारो विनष्टो गकार, इदानीं श्रुतपूर्वो गकारो नास्ति, निवृत्तः कोलाहल इत्यादिप्रतीत्योत्पादविना दृशीलाना वर्णानामनित्यत्वेन स एवाय गकार इति प्रत्यभिज्ञायाससजातीयत्वेन रूपेण

व्यक्त्यभेदावगाहित्वेन सेषं दीपज्वालेति प्रत्यभिज्ञाया इव प्रामाण्येऽपि व्यक्तित्वेन व्यक्त्यभेदावगाहित्वेन यत्प्रामाण्यं तस्याभावात् । अयमल्पो महान् कर्कशो मधुरश्शब्द इति भेदप्रतिमासकषाद्यकप्रत्ययस्य सद्भावेन तस्याः प्रामाण्याभावाच्च, न च पुरुषे तुरगवर्ति-वेगाध्यारोपाद्वेगेन पुरुषो यातीति प्रत्ययत्तद्धर्णस्य तद्व्यञ्जकध्वनेश्च भेदाग्रहाद् ध्वनिगतोत्पत्त्यादिधर्मस्य गादानारोपादुत्पत्तौ गकार इत्यादिप्रतीतेर्घनिनिष्ठोत्पत्त्यादिविषयकत्वेन भ्रमत्वम्, एव व्यञ्जकध्वनिगताल्पत्वमहत्त्वादिधर्माणां गादिवर्णेष्वध्यारोपात्तप्रत्ययस्यापि भ्रान्तत्वमिति स न भेदमाधनधम इति वाच्यम्, गादिवर्णानां निस्स्वरूपत्वावाप्तिप्रसक्तेः, यतो यः कदाचिदप्यन्यथा प्रतीयते तस्यैवान्यदाऽन्यथा प्रत्ययने भ्रान्तत्वम्, यथैकत्वेन प्रतीयमानस्येन्दोर्द्वित्वेन प्रत्ययने । तदुक्तम्—

यो ह्यन्यरूपसवेद्यस्सवेद्येतान्यथाऽपि च ।

स भ्रान्तो न तु तेनैव यो नित्यमुपलभ्यते ॥ १ ॥ इति ॥

न चात्र कदाप्यल्पमहत्त्वादिधर्मानव्यासिततया गादिस्वरूपेऽपि केनचित्प्रतीयत इति । न चामिव्यञ्जकस्य प्रदीपादेरल्पमहत्त्वे तदभिव्यङ्ग्यस्य घटपटादरल्पमहत्त्वादिप्रतिमातोऽपि दृष्ट इति । किञ्चाल्पत्वादिधर्माणां ध्वनिधर्मत्वपक्षे श्रोत्रेण तद्वहनमपि न स्यात् । उक्तञ्च न्याममञ्जरीम्—

ध्वनिधर्मत्वपक्षे तु श्रोत्रेण ग्रहणं कथम् ।

नहि वायुगतो वेग, श्रवणेनोपलभ्यते ॥ १ ॥ इति ॥

किञ्च मालाऽनेन कृतेत्यादौ सन्दर्भविशेषविशिष्टपुष्पस्वरूपाया मालायां विशेष्यस्य पुष्पादेस्मिद्धत्वेऽपि सन्दर्भरूपतद्गतविशेषणस्य पुरुषकर्तृकत्वमादायैत्र तद्विशिष्टपुष्परूपायां मालायां पुरुषकर्तृकत्वस्य व्यवहारवत् तुष्यत् दुर्जन इति न्यायेन विशेष्यीभूतवर्णानां नित्यत्वाऽभ्युपगमेऽप्यर्थप्रत्ययानुकूलरचनाविशेषरूपानुपूर्वीविशेषरूपविशेषणस्य पुरुषविशेषकर्तृकत्वमादायैतानुपूर्वीविशेषविशिष्टवर्णात्मकवेदस्यापि पुरुषविशेषकर्तृकत्वमुपपन्नं स्यादेव । यतो न हि पुरुषप्रयत्नमन्तरेण क्वचिदक्षरविन्यासो दृष्टश्च्युतो वा, दृष्टस्य श्रुतस्य च तत्प्रत्याऽनुसारिणी कल्पना प्रमाणमात्रं भजते, न यथा तथा कल्पना । एव सत्यपि वेदे पदानां रचना स्वामात्रिकीति चेत्, तर्हि पदेऽपि तन्तूनां रचना नैसर्गिकी भवेदिति साध्यकर्तृका स्यात्, पटरवनां दृष्टा तत्कर्तृत्वमनुमीयत इति चेत्, तर्हि वेदरचनारामपि तुल्यमेतत्, उक्तञ्च—

“ पदनित्यत्वपक्षेऽपि, वाक्ये तद्गचनात्मके ।

कर्तृत्वसम्भवात्पुसो वेदः कथमकृत्रिमः ॥ १ ॥

पटादिरचना हृष्टा, तस्य चेत्साऽनुमीयते ।

वेदेऽपि रचना हृष्टा, कर्तृत्व तस्य गम्यताम् ॥ २ ॥ इति ॥ "

सेति कर्तृत्वैत्यर्थः । ननु वैदिकी रचना पौरुषेयी न भवति दृष्टकर्तृकरचनाविलक्षण-  
त्वादन्तरीक्षवदित्यनुमानतो रचनाया अपौरुषेयत्वसिद्ध्या तद्विशिष्टवर्णात्मरुवेदोऽप्यपौरु-  
षेय एव सिद्धयतीति चेत्, मैत्रम्, विशिष्टा रचना दृश्यमाना उत्करणाऽसमर्थमेव कर्तारं  
निराकुरुते, न पुनः कर्तृमात्रमपि, न खलु पुराणकूपप्रासादादौ विशिष्टा रचना प्रतीयमाना  
कर्तृमात्रं निराकुर्वती प्रसिद्धा, उत्करणाऽसमर्थस्यैव शिल्पिनस्तथा निराकरणात्, न हि  
कर्त्रन्वयव्यतिरेकानुविधायिनो घर्मा. कर्तारं विना घटन्ते, ततो वैदिकी रचना पौरुषेयी  
न भवतीत्याद्यनुमानमयुक्तमेवोक्तम्, दृष्टकर्तृकरचनाविलक्षणत्वस्य हेतोरुक्तनीत्या तत्राऽ-  
सिद्धत्वात्, सिद्धत्वे वा तद्विलक्षणस्यैव कर्तृरनुमीयमानत्वेन कर्तृमात्राऽनिषेधकत्वात् । ततो  
वेद पौरुषेयो वचनरचनावत्त्वाद् भारतादिवदित्याद्यनुमानेन वेदस्य पौरुषेयत्वमभ्युपगन्त-  
व्यम् । अपि च वेदानाक्यादऽनवरत तदर्थज्ञानोत्पत्तिप्रसङ्गेन न स्वतस्तस्य तदुत्पादनव्या-  
पारः, किन्तु पुरुषकृतसङ्केतग्रहजन्यविशिष्टसंस्कारसव्यपेक्षस्यैव तस्य तदुत्पादनव्यापारः,  
ते च पुरुषास्सर्व एव भवता प्रमादाज्ञानररणापाठव्यतिरिक्तसादिदोषवन्त एवाम्भ्युपगता इति  
तत्कृतमङ्केतग्रहजन्यसंस्कारो न यथार्थ इति तत्सव्यपेक्षवेदजन्यार्थज्ञानमयथार्थं स्यादिति  
नित्यवेदस्याभ्युपगमो गजस्नानमनुकरोति । तदुक्तम्—

असंस्कार्यतया पुभिस्सर्वथा स्याच्चिरर्थता ।

संस्कारोपगमे व्यक्त, गजस्नानमिद भवेत् ॥ १ ॥ इति ।

एतेन नाम्नकृतगुणमद्भान्त्या वेदागमे प्रमाणत्वम्, शब्दोच्चारणमात्र एवाप्तस्य  
व्यापारादित्यादि पूर्वोक्तं निरस्तम्, अथाऽगृहीतमङ्केतस्य पुंसोऽर्थप्रतिपत्त्यस्यममवेन स्वार्थेन  
साक गृहीतसङ्केत एव शब्दशब्दप्रतीतिं जनयति, तत्र मङ्केतग्रहश्च यदा प्रयोजकवृद्धस्य  
गामभ्याजैनां शुबलां दण्डेनेत्यभिधानादनन्तरमेव प्रयोज्यवृद्धस्तेन तामानयति तदा  
पार्श्वस्योऽनुत्पन्नमङ्केतो बालोऽय देवदत्तो गजानयनविषयकप्रतिपत्तिमान् तद्विषयकदण्डादि-  
प्रहारानुकूलचेष्टावत्त्वादित्येव तत्प्रतिपत्तिमनुमिनोति, तत्प्रतिपत्त्यन्यथाऽनुपपत्त्या तत्र  
शब्दस्य समुग्यार्थतया शक्तिं च परिकल्पयति, ततश्च यदा गां नय घटमानयेत्युक्ते प्रयो-  
जकवृद्धेन प्रयोज्यवृद्धो गा नयति घटञ्चानयति तदा तत्तत्पदावापोद्वापाम्भ्यां तस्मिन् तस्मिन्  
अर्थे तत्तच्छब्दशक्तिं निश्चिनोति, इत्येव प्रकारेण सम्पद्यते, तथा च शब्दस्यास्थिरत्वे पुनः  
पुनरुच्चारणस्यैवामानतोऽन्वयव्यतिरेकाम्या शक्यवगमामावेनार्थप्रतिपत्त्यजनकत्वात् प्रेक्षा-  
दर्थैरनुच्चार्यमेव स्याद्वाक्यम्, उच्चार्यते च परानवोधाय तत्, ततो गजानयनाद्यर्थनिषयक-  
प्रत्ययरूपपरावबोधफलकत्वं शब्दस्य नित्यत्वं एवोपपद्यते, न त्वनित्यत्वे, प्रत्युच्चारण शब्द-

मेदे सम्बन्धग्रहणाऽसम्भवात्, अगृहीतसम्बन्धस्य च शब्दस्य नैवार्थप्रत्यायकत्वम्, तथात्वे सर्वस्यापि शब्दस्य सर्वार्थप्रत्यायकत्व स्यादित्यतः परार्थवाक्योच्चारणान्याऽनुपपत्तेर्निश्चीयते धूमादिप्रगृहीतसम्बन्धोऽर्थप्रतिपादकशब्दो नित्यः, नित्यत्वे च तस्यैव शब्दस्य पुनः पुनरुच्चारणे बहुश उपलभ्यमानत्वात्सम्भ्रमति सम्बन्धग्रहणमर्थप्रत्यायकत्वञ्चेति । अत एव मीमांसादर्शनसूत्रकार आह—“ नित्यस्तु स्यादर्शनस्य परार्थत्वात् ” ॥ अ. १, पा. १, सू. १८ इति । तद्भाष्यम्—नित्यशब्दो भवितुमर्हति । कुतः—दर्शनस्य परार्थत्वात् । दर्शनमुच्चारणम्, तत्परार्थं परमर्थं प्रत्याययितुम्, उचरितमात्रे हि निनष्टे शब्दे न चान्योऽन्यानर्थं प्रत्याययितुं शक्नुपात् । अतो न परार्थमुच्चार्येत । अथ न विनष्टस्ततो बहुश उपलब्धत्वादर्थान्तरगम इति युक्तमित्यादि ” । नित्यत्वे च तस्य कैमुतिकन्यायप्राप्तमेवापौरुषेयत्वमिति चेत्, तदत्यन्ताऽभङ्गत्वमेव, अनेकामा धूमव्यक्तीनामेकैकशस्त्रमाद्येन सहावर्गदृशा व्याप्तेर्ग्राहयितुं प्रहीतुं चाशक्यत्वेन गृहीतव्याप्तिकापाश्च धूमव्यक्तेः पक्षधर्मत्वाभावेनानुमित्युच्छेदमयेन तस्या अपि नित्यविस्तृतापत्तेः । स्यादेतत् अनित्यानामपि तत्तद्वह्निधूमव्यक्तीनामन्वयव्यतिरेकाभ्यां धूमत्वेन बह्वित्वेन सर्वोपसहारेण व्याप्तिग्रहणमभवेन नैवमस्माकं प्रतिबन्दिषीमीपिकेति चेत्, तर्ह्यत्रापि विनाशिनीनामपि गगार्थव्यक्तीनां गोशब्दव्यक्तीनां च गोत्वेन गोशब्दत्वेन चागुगतीकृत्य सङ्केतग्रहणे का भवता क्षतिः, सामान्यविशिष्टयोरविश्वसितविशेषयोर्व्यक्तयोरनुमेयानुमापकभावस्यैव वाच्यताचक्रमात्रस्यापि समरुक्षतादिति । एतेन गोशब्दोच्चारणे मति सर्वगोत्रिययकः प्रत्ययो युगपज्जायते, ततश्च गोशब्दादिराकृतिवचन इत्यवगम्यते, व्यक्तिवचनत्वे तु तेन तद्व्यक्तिमात्रप्रत्यय एव भवेत् । विना प्रयोगबाहुल्येन सकृच्छ्रयमाणस्य गवादिशब्दस्याऽनित्यत्वेनाभिमतस्याकृत्या वाच्यभूतया सह सङ्घासङ्घिमानलक्षणसम्बन्धः कथयितुं प्रहीतुं वा न शक्यते । अङ्गुल्यादिनाऽऽकृतिविशेषनिर्देशपूर्वकमनित्यस्यापि शब्दस्य सम्बन्धस्य कथनं ग्रहणं वा कुतो न सम्भवतीति चेत्, उच्यते, एकस्मिन् गोपिण्डे पार्थिवत्वरूपत्वादिरूपाणां बह्वीनामाकृतीनां मद्भागादिना प्रयोगबाहुल्येन गोशब्दवाच्यां गोत्वरूपामाकृतिं पार्थिवत्वादितो विभक्ता गोशब्दादिरन्वयव्यतिरेकाभ्यां नावगमयेदिति नित्ये शब्देऽभ्युपगम्यमाने तस्य बहुकृत् उच्चारणभ्रमणसम्भवादन्यव्यतिरेकाभ्यां तत्तदाकृतिविशेषावगमकन्व सुलभमित्यर्थकं “ गोशब्द उच्चारिते सर्वं गवीषु युगपत्प्रत्ययो भवति । अत आकृतिवचनोऽयम् ” इत्यादिमाष्योपेतम् “ सर्वत्र यौगपधात् ” अ. १, पा. १, सूत्र १९ । इति मीमांसादर्शनसूत्रमपि निरस्तमवसेयम् । का पुनराकृतिः का व्यक्तिरिति । द्रव्यगुणकर्षणां सामान्यमात्रमाकृतिः । असाधारणविशेषा व्यक्तिः । अ. १, पा. ३, सू. ३० । इति शाबरमाष्यवचनादाकृतिपदग्राह्या या जातिस्तत्र शक्यमभ्युपगमे गोपदशक्यतावच्छेदकं भवेतराऽसम्भवेतत्वे सति सकलगोममेवत्वलक्षणं गोत्वत्त्वं

स्यात्, एव घटपदादावपि ज्ञेयम्, तस्य चानेकपदार्थघटितत्वेन सखण्डरूपतया तत्प्रत्यक्षस्य जातिविशिष्टव्यक्तौ शक्यत्वमुपगमे गोपदशक्यतानच्छेदिकाया गोत्रजातेरखण्डरूपतया लघुरूपत्वेन तदपेक्षया गौरवास्पदत्वेनायुक्तत्वात् । न च व्यक्तीनामानन्त्याद् गौगृह्णप्रादि कया प्रतिव्यक्तिमङ्केतकरणाऽसम्भव इति वाच्यम्, जातिविशिष्टायां व्यक्ताप्रिवक्षितविशेष रूपायामत एवोदासीनरूपायां सङ्केतकरणस्य तद्ग्रहणस्य च सम्भवाद्, आकाशादिशब्दवद् येषां च शब्दानामर्थेषु जातिर्नास्ति तत्र तेषां केवलायां व्यक्तावेव सङ्केतकरणम् । उक्तञ्च—

येषामर्थेषु सामान्य, न सम्भवति तैः पुनः ।

उच्यते केवला व्यक्ति, - राकाशादिपदैरिव ॥ १ ॥ इति ॥

न च पूर्वं शब्दाच्छक्तिद्वारा जात्युपगमः पश्चाद्बर्धक्ति विना जात्यनुपपत्तेरर्थापत्त्या व्यक्त्यवगम इति क्रमिकप्रतीत्यनुभव इति वाच्यम्, निरस्य शब्दव्यापारामावात् । किञ्च व्यक्तेरवाच्यत्वे विभक्त्यर्थम खयाकर्मत्वादेस्तत्राऽनन्वयस्यस्यात् । न च तत्रानन्वय इष्ट एवेति वाच्यम् । सुब्जिमक्तीना प्रकृत्यर्थान्मितस्वार्थबोधकत्वस्य व्युत्पत्तिसिद्धत्वादिति न्यायपन्थाः । न चायमपि समीचीनो मार्गः, यतो जातिव्यक्त्योर्नैकान्तमेदः, किन्तु कथञ्चिदेव, सामान्यविशेषात्मकस्यैव वस्तुनः मर्त्याया प्रतिपत्तौ प्रतिभामनादिति तदात्मके वस्तुन्येव पूर्वोक्तनीत्या सङ्केतग्रहः, न त्वेकान्तमिन्नजातिविशिष्टव्यक्तौ, न च तन्मात्रेण शब्दस्वार्थप्रत्यायकत्वमपि, किन्तु स्वामात्रिकशक्तिसङ्केतग्रहाभ्यामेव, शब्दे स्वामात्रिक शक्तिमन्तरणार्थप्रत्ययोत्पादकत्वाभावात् । नहि षण्डः पुत्रोत्पादको दृष्ट इति स्वतोऽशक्तस्य कस्यापि कार्योत्पादकत्वाददर्शनात् । उक्तञ्च प्रमाणनयतत्त्वालोकात्कालङ्कारे “स्वामात्रिक सामर्थ्यसमयाभ्यामर्थबोधनिषन्धन शब्दः” । ४ । ११ । इति । इदमत्राशयेयम्, यद्यपि शब्दः श्रोत्रेन्द्रियप्राप्तः तथापि न श्रूयमाणादेव शब्दाच्छब्दबोधो भवति । शब्दबोध प्रत्यर्थोपस्थितिद्वारा शब्दज्ञानस्य शब्दज्ञानत्वेनैव कारणतम्, न तु शब्दप्रत्यक्षत्वेन, तेन जन्यायामर्थोपस्थितावपि सङ्केतग्रहो योऽपेक्षणीयः सोऽपि न श्रोत्रेन्द्रियजन्यप्रत्यक्षरूपः, अस्मात्पदादयमर्थो बोद्धव्यः एतत्पदजन्यबोधत्रिपयोऽयमर्थो भरतिरत्येव रूपस्य इदं पदम म्मर्थं बोधयतु—एतदर्थविषयकबोधजनकमिदम्पदमत्रित्येव रूपस्य चेच्छाविशेषलक्षणस्य सङ्केतस्य विषयताविशेषसम्बन्धेन शब्दगतत्वेऽपि श्रोत्रेन्द्रियाप्राप्तत्वेन तज्ज्ञानस्य श्रोत्रेन्द्रियजन्यप्रत्यक्षरूपः नामावात्, किन्तु अनुभवात्मकमपि प्राथमिक सकतग्रहण श्रोत्रेन्द्रिय जन्यप्रत्यक्षमिदमेव, निरुक्तमङ्केताभिष्यज्यमानतयाऽभिमतस्य वाच्यताचक्रमावस्वार्थगत वाच्यतामामर्थ्यरूपशक्तिलक्षणस्य पदगतताचक्रतासामर्थ्यरूपशक्तिलक्षणस्य वा श्रोत्रेन्द्रियाप्राप्तत्वेन तदभिष्यक्तिर्निरुक्तसङ्केतग्रहाज्ञायमाना न श्रोत्रेन्द्रियजन्यप्रत्यक्षात्मिका, किन्तु तदन्यज्ञानरूपैव, न हि प्रत्यक्षमेवामिष्यक्तिशब्देन वक्तु योग्य नान्यदित्यस्ति नियमः,

शक्तिः कारणतश्चैदिका वा शक्तिरिति पञ्चद्वयेऽप्यतीन्द्रियायाश्चैरभि  
व्यञ्जकत्वादेव बह्विजनकतान्पूनवृत्तीनामपि तृणस्वारणिप्रमणित्वादीना बह्विजनकता-  
वच्छेदकत्वावचारात्, न च कारणतातदवच्छेदकान्यतररूपाया अतीन्द्रियायाश्चैरभि  
व्यक्तिः प्रत्यक्षात्मिका, किन्तु ज्ञानान्तररूपैव, अथाप्यभिव्यक्तिरिति व्यपदिश्यते, शाब्द-  
बोधे च यथा स्मरणलक्षण मङ्केतप्रहणमपेक्षित, तथा वाच्यवाचकभावप्रहणमपि स्मरण-  
लक्षणमपेक्षितमिति । नन्वेव तर्हि श्रूयमाणाच्छब्दात्तद्गतशक्तिबलाच्छब्दप्रत्ययोत्पत्तेश्चैव  
कारण तत्रास्तु किं सङ्केताभ्युपगमेनेति चेद्, मैत्रम्, जिनानुगैः सर्वे शब्दास्मवार्थवाचका  
इति नियमाभ्युपगमादेकस्मादपि शब्दादशेषार्थप्रतीते प्रसङ्गस्स्यात्, न च सा भव-  
तीत्येकैकशब्दस्य सर्वार्थवाचकत्वेऽपि मङ्केतमहकृतस्येव शब्दस्य स्वयोग्यताऽपरपर्याय  
शक्तिमाहात्म्यतः प्रतिनियतार्थप्रतीतिजनकत्वेन प्रतिनियतार्थप्रतीतिव्यपहारोपपादनाय  
सङ्केताभ्युपगमस्यापि भाकल्यात् । अत एव न शक्तिबलाद् गवादिशब्दादश्वादिप्रतीतिः, न  
वाऽव्युत्पन्नस्यापि पुमः सर्वगोशब्दाऽविविधगृत्तिसोशब्दस्त्रावच्छिन्नगोशब्दात्सदृशपरिणा-  
मलक्षणगोत्वावच्छिन्नगोव्यक्तिबोधः, सङ्केतो ह्यपमर्थोऽस्य शब्दस्य वाच्यः, अस्य चार्थ-  
स्याय शब्दो वाचक इत्येवरूपो वाच्यवाचकयोर्विनियोग, स येन पुमाऽनापोद्वापद्वारा  
निश्चितस्त्वस्यैव पुमः पुनर्गोशब्दश्रवणे तत्समृत्तौ शब्दः स्वशक्तिद्वारा स्वार्थं प्रतिपादयति,  
नापरस्य पुमः, नान्यार्थश्च । प्रतिनियतमङ्केतानुसारिणो नियताच्छब्दात्प्रतिनियतार्थप्रति-  
पत्तिदर्शनात्, एतेन न शब्दस्वरूप निपतार्थप्रतिपत्तिहेतुः, तस्य सर्वार्थान् प्रत्यविशिष्टत्वादि  
त्यपि निरस्तम्, निपतमङ्केतमहकृतस्य शब्दस्य सर्वार्थान् प्रत्यविशिष्टत्वाऽसिद्धे । ततो  
वाच्यवाचकौत्पत्तिममयमभ्युप्युशक्तिस्वरभासस्य कथञ्चिन्नित्यानित्यस्य वाच्यवाचकाम्या  
कथञ्चिद्विन्नस्य सामान्यविशेषोभयस्वभावस्तुगोचरोपचरितमङ्केताभिव्यक्तस्य वाच्यवाच-  
कभावसम्बन्धस्य बलेन तात्त्रादिसयोगजन्याना शब्दानामर्थान्बोधलक्षणशाब्दबोधानुकूल  
सामर्थ्यं स्वामात्रिक्रुररीकृत्य तेषा प्रामाण्यं प्रतिपत्तव्यम् । न पुनरनित्याना शब्दाना  
मेकान्तमिन्नमामान्यविशिष्टेऽनुल्लिखितशाब्देषादिविशेषेऽर्थे आनापोद्वापद्वारा निश्चित  
सङ्केतमात्रशेनार्थावबोधजनकानाम्, न वा नित्यानामपि शब्दाना नित्यवाच्यवाचकभाव-  
सम्बन्धाभिव्यञ्जकमङ्केतमलेन जातिमात्रावबोधकानामर्थान्वया व्यक्त्यवगमकानामिति ।  
अस्थिरस्यापि शब्दस्यार्थेन मह वाच्यवाचकभावसम्बन्धस्य गुणीभूतजातिविशिष्टप्रति-  
नियतार्थसङ्केतप्रहयलेन ग्रहस्तु बह्विधूमव्यक्तयोरनित्यत्वेऽप्यविवक्षितव्यक्तिविशेषस्य बह्वि-  
त्वावच्छिन्नस्याऽविवक्षितव्यक्तिविशेषरूपे धूमत्वावच्छिन्ने ऊहाख्यतर्कमलेन मर्गोपसहारेण  
व्याप्तिग्रह इव सम्भवत्येवेति न तत्र कोऽपि दोषः । इत्यल परलपितेन, ग्रन्थगौरवमीत्याऽ  
धिरु यन्नोक्त तद्वन्धान्तरादस्मत्सहबन्धस्याद्वादपिन्दुतथापसेयम्, तदेव शब्दानामनित्यत्वं

सिद्ध्या सृष्टिकर्तुरीश्वरस्य च निराकृतत्वाच्चिराकरिष्यमाणत्वाद्य तत्कर्वृक्त्वाभावेन घाति-  
 कर्मबलेशादिसकलदोषाऽपराभृष्टपुरुषविशेषप्रणीतत्वेनैव हेतुन्तरानपेक्षणेन स्रतस्मिद्ध  
 शासनस्य प्रमाकरणत्वलक्षण प्रामाण्यम्, वक्तृगतयथार्थज्ञानात्मकगुणजन्यत्वविवक्षाया तु  
 परतः प्रामाण्यमपि, अत एव द्वादशाङ्गयात्मकज्ञानप्रतिपाद्यार्थविषयकज्ञाने प्रमात्रलक्ष  
 णस्य प्रामाण्यस्योत्पत्तिज्ञानकारणगतगुणापेक्षणात् परत इत्युच्यते, एवमेव प्रत्यक्षज्ञानादा-  
 यपि प्रामाण्यस्य ज्ञानकारणगतगुणापेक्षया अप्रामाण्यस्य च ज्ञानकारणगतदोषापेक्षयोप-  
 जायमानत्वाच्चदुभयमुत्पत्तौ परत इति । ननुत्पत्तौ परतः प्रामाण्ये किं प्रमाणमिति चेत्,  
 उच्यते, प्रामाण्य ज्ञानहेत्वतिरिक्तहेत्वधीन ज्ञानवृत्तिरेव सति कार्यप्रतिशेपत्वात्, अप्रामा  
 ण्यत्वात् । यदि पुनः प्रामाण्य ज्ञानहेतुमात्राधीन भवेत्तदा निर्निवादाप्रामाण्य पार्षणेन्दुद्वय  
 सवेदनमपि प्रमाणतामास्फुरन्देत्, ज्ञानहेतोस्तत्रापि सत्त्वात्, अन्ययोक्तसवेदानानुत्पत्तिप्रस-  
 क्तिस्त्वात्, कारणाभावे कार्यभावस्यावश्यम्भावनियमात् । अथ तत्र ज्ञानहेत्वतिरिक्त-  
 दोषोऽभ्युपेयत इत्यप्रामाण्यमिति चेत्तर्हि प्रमात्मकज्ञानेऽपि ज्ञानहेत्वतिरिक्तगुणोऽप्यभ्युप-  
 गम्यताम्, युक्तेस्तौल्यात्, प्रामाण्य विज्ञानमात्रोत्पादकनिग्विलहेत्वतिरिक्तहेत्वत्त्वाद्य विना  
 नमात्रानुवृत्तावपि व्यावर्त्तमानत्वात्, यदिथ तदित्य, सम्यग्ज्ञाने विज्ञानमात्रानुवृत्तावपि  
 व्यावर्त्तमानाप्रामाण्यवत्, तथा चेद तस्मात्तथा । न चात्र हेत्वमिद्विरिति वाच्यम्, मिथ्या  
 ज्ञाने विज्ञानमात्रानुवृत्तावपि प्रामाण्यव्यावृत्तेरुभयमप्रतिपन्नत्वात् । तथा चोक्तानुमाने-  
 नापि ज्ञाने परत प्रामाण्योत्पत्तिरभ्युपगन्तव्येति । अथ प्रत्यक्षज्ञानकारणचक्षुरादीन्द्रिये  
 सूक्ष्मेक्षणेऽपि गुणानुपलम्भात् ते न मन्तीति चेत्, अत्र चक्षुरादीन्द्रियं किमतीन्द्रिय  
 शक्तिरूप किं वा बाह्यगोलकादिरूप गृह्यत इति विकल्पद्वयम्, नाद्यः गुणत्वं दोषाणामप्य  
 भावप्रसङ्गात्, अतीन्द्रियस्येन्द्रियस्य प्रत्यक्षेणाग्रहणे तद्गतगुणानामिदं तद्गतदोषाणामप्यनु  
 पलम्भस्य तुल्यत्वात् । नापि द्वितीयः, यतोऽत्रापि गुणानुपलम्भः किं स्रप्रत्यक्षेण किं वा  
 परप्रत्यक्षेणेति विकल्पद्वयम्, तत्र नाद्यविकल्पो युक्त, दोषाणामप्यनीक्षणेनाभासप्रसङ्गात्  
 स्रस्पर्शनप्रत्यक्षेणापि स्रचक्षुर्गोलकादिमात्रस्यैवोपलम्भात् । नापि द्वितीयविकल्पो युक्तः,  
 परप्रत्यक्षेण काचकामलादिदोषा इव नैर्मल्यादिगुणा अपि परपुरुषीयचक्षुर्गोलकादीक्ष्यन्त  
 एवेति न तदनुपलम्भाच्चदभावो युक्त । अथ तदहर्जातस्यापि चालस्य नैर्मल्यादिस्वरूपेण  
 नयनादीन्द्रियप्रतीतेर्नैर्मल्यादीना गुणरूपत्वात् इत्युच्यत इति चेत्, तर्हि जन्मकालीन-  
 तिमिररोगव्याप्तस्य तत्कालोत्पन्नरालस्य तिमिरादिदोषाकान्तेन्द्रियप्रतीतेरिन्द्रियस्वरूपा  
 तिरिक्तदोषाणामप्यभासः कथं न स्यात् ? कथञ्चैव रूपादीनामपि बुम्भादिगुणस्वभावता,  
 उत्पत्तेरारभ्य कुम्भे तेषां प्रतीपमानत्वाऽपिशेपात् । तदेव परचक्षुर्गोलकादौ दोषाणामिव  
 गुणानामपि परप्रत्यक्षप्रतीयमानत्वाद्गुणमात्सर्य परिहाय निष्पक्षपातेन दोषा इव गुणा  
 अप्यभ्युपगन्तव्याः । अन्यथा

“सुव्यक्त गुणमात्सर्यं, - भकारणमिदं तच्च ।  
दोषैकपक्षपातित्वं, किं भूमस्तत्सम्बन्धुना ॥ १ ॥”

इत्थुक्तं सत्यापितं स्यात् । ननु गुणविप्रतिपन्नं प्रत्यनुमानमेव तत्साधकं शरणभूतमिति तत्कीदृशमिति चेत्, तदपि शृणु सावधानीभूय, विवादाध्यामितेषु ज्ञानहेतुषु गुणा-  
स्मन्ति, अन्यथाऽनुपपद्यमानसम्पद्ग्वानजनकत्वात्, यद्वा प्रमा ज्ञानसामान्यकारणमिन्न-  
कारणजन्या ज्ञानत्वे सति कार्यविशेषत्वात् अप्रमावत् । यदि च ज्ञानसामान्यकारण-  
मात्राधीना भवेदप्रमाऽपि प्रमैव भवेत् । अस्ति हि तत्र ज्ञानसामान्यहेतुः, अन्यथा ज्ञानमपि  
सा न स्यादित्यनुमानेन सामान्यतस्तादृशमिन्नकारणजन्यत्वमिद्वौ चाक्षुपादिप्रमा चक्षुरा-  
दीन्द्रियवृत्तिगुणजन्या प्रमाविशेषत्वात्, यच्चैव तथैवम्, भ्रान्तज्ञानवदिति व्यतिरेक्यनुमानेन  
तादृशगुणजन्यत्वमिद्वौ तद्वदकृतया गुणसिद्धिः, यद्वा प्रमा कारणवृत्तिगुणजन्या कार्य-  
विशेषात्मकत्वात्, यद्यत्कार्यविशेषात्मकं तत्तत्कारणवृत्तिगुणजन्यं, मालाकारणैषुण्यगुण-  
सञ्जातस्रग्वत्, यद्वा प्रमात्वजन्यत्वसम्बन्धेन गुणव्याप्यं तत्कार्यमात्रवृत्तित्वात्, यद्यत्कार्यं  
मात्रवृत्तिं तज्जन्यत्वसम्बन्धेन तद्व्याप्यम्, यथा धूमत्वजन्यत्वसम्बन्धेन वह्निव्याप्यं  
मित्याद्यनुमानप्रकारा गुणसाधनेऽवबोद्धव्याः । यद्वा प्रमात्वं ज्ञानसामान्यकारणमिन्न-  
कारणजन्यतावच्छेदकं ज्ञानवृत्त्यनित्यधर्मत्वात् अप्रमात्वंवदिति सामान्यानुमानेन तादृश-  
साध्यसिद्धौ दोषजन्यतावच्छेदकत्वसाधनेन परिशेषानुमानेनेन्द्रियादिगतगुणजन्यतावच्छेद-  
कत्वप्रमात्वस्य सिद्धयति । किञ्च सविकल्पकज्ञानं कार्यं यथार्थायथार्थमेतेन द्विविधमेवाव-  
लोक्यते, न तु तृतीयप्रकारम्, तत्राद्यं गुणवत्कारणोत्पाद्यम्, द्वितीयन्तु दोषवत्कारणो-  
त्पाद्यम्, ज्ञानकार्यस्य द्वैविध्ये च सति तत्कारणेनापि द्विविधेनैव भाव्यमित्युक्तकारणाति-  
रिक्तं कार्यवत्कारणमपि नोपलभामह इति सम्यग्ज्ञानलक्षणं कार्यं गुणवत्कारणादेवोपजायत  
इति मिद्धम् । एतेन यथार्थज्ञानं स्वरूपावस्थितेभ्य एव कारणेभ्यो जायत इति न तत्का-  
रणगतगुणरूपनायै तत्प्रभवतीति निरस्तम्, गुणदोषविरहितस्य तृतीयकारणस्यासम्भवात् ।  
ननु क आह तृतीयकारणमस्तीति, किन्तु नैर्मल्यादिकं नयनादीन्द्रियाणां स्वरूपमेव, न  
पुनः स्वरूपातिरिक्तो गुण इति चेत्, कुतो नैर्मल्यादेर्नयनादिस्वरूपतावगतिः, नयनादित-  
पार्थक्येन तस्यानुपलम्भास्तेति चेत्, तर्हि तिमिरादिदोषा नयनादिस्वरूपाः पृथक्तयाऽनुप-  
लम्भात् नैर्मल्यादिवदित्यपि सिद्धं कथं न स्यात् ? । किञ्च तत्र स्वरूपशब्दवाच्यार्थः को  
भवदभिलषित इति वाच्यम्, अथ किमत्र वक्तव्यम्, तादात्म्यं तन्मात्रत्वं वेति चेत्,  
तर्हीऽऽद्यविरूपे नैर्मल्याद्गुणत्राऽनिषेधः, तादात्म्यस्य गुणत्वेन सहानिरोधात्, अन्यथा  
रूपादेरपि गुणत्वं न स्यात् । अथ रूपादिरु घटादिधर्मव्यतिरिक्तमेवेति तद्गुणरूपमेवेति चेत्,  
तर्हि नैर्मल्यादावपि तुल्यमेतदित्यपि निवार्यताम् । नापि द्वितीयो विकल्पो युक्तः, यावद्-  
द्रव्यमावि षदेव तद्वत् तन्मात्रस्वरूपम्, न च तथा नैर्मल्यादिकम्, चक्षुरादानुवर्तमानेऽपि



नैर्मल्यादेर्निवर्त्तमानत्वादिति तस्य तन्मात्रत्वाऽनुपपत्तेः । एतेन नैर्मल्यादिगुणकार्यस्य यथार्थप्रत्यक्षस्य दोषामात्रमात्रेणापि चरितार्थत्वे सति किमतिरिक्तगुणकल्पनयेत्यपि निरस्तम्, गुणाभावमात्रेणापि काचकामलादिदोषकार्यमयथार्थप्रत्यक्ष सेत्स्यतीति किमतिरिक्तदोष कल्पनयेति विपर्ययस्यापि सुवचत्वात् । किञ्च दोषामात्रोऽपि न तुच्छरूपोऽभ्युपगन्तुमर्हः, खरगृहस्येव तस्यामत्कल्पत्वेन भीमासकैरभ्युपगमात्, किन्तु पर्युदामवृत्त्या गुणात्मक एवेति गुणाभावे स तदात्मकः कथं स्यात् । अथाभावस्याधिकरणस्वरूपत्वेनाभ्युपगमाद् दोषरहितचक्षुस्स्वरूप एव दोषाभावः, स एव यथार्थबुद्धिद्विष्टत्पादयतीति तत्कारण तयाऽभ्युपेयते इति चेत्, तर्हि भूतलस्वरूपस्यापि घटाभावस्य तद्विषयकप्रत्यक्षमप्रति घटा भावत्वेन कारणत्ववत् ताम्प्रति दोषाभावत्वेन तस्य कारणत्वमभ्युपगतं स्यात्, तदपेक्षया गुणत्वेन कारणत्वे लाघवतर्कोऽपि किञ्च स्मृतिगोचरीक्रियते । “ सविदेव भगवती वस्तु- तत्रप्रसाधनी ” इत्युक्तेर्लोकप्रतीतितोऽपि गुणा अभ्युपगन्तव्याः, सा चैवम्-कश्चित्काच कामलादिदोषरूपितलोचनस्तथाविधोपघप्रयोगसमासादितनिर्मलतरचसुर्गुणः केनचित् परमसुहृदा पृष्टो ब्रूते, मे लोचने पूर्वं काचकामलादिदोषग्रस्ते समभूताम्, अधुना त्वोपघ प्रयोगेण निर्मलतागुणसमालिङ्गिते सम्पन्ने इति, न तु विस्मृत्यापीदं वक्ति, यदुत पूर्वं दोषविकृते मे लोचने अभूताम्, इदानीं पुनस्तयोरोपघप्रयोगेण तिमिरादिदोषाभावमात्रं तुच्छं सञ्जातमिति । एतेन “ इन्द्रियादिस्वरूपमेव ह्यन्यनिरपेक्षमर्थाऽविसर्वादिज्ञानोत्पा- दकम्, अञ्जनादीनां च दोषापगमे व्यापारः, न गुणाधाने ” इति मीमांसाश्लोकरातिक- तात्पर्यटीकावचनमप्यहस्तितम्, तथा च गुणत्रयपुरादिमामग्रीत उत्पद्यमानं ज्ञानं प्रामाण्यविशिष्टमेव, दोषत्रयपुरादिमामग्रीतत्रोत्पद्यमानं तत् अप्रामाण्यविशिष्टमेवेत्युच्यते इति सिद्धं ज्ञानस्य प्रामाण्यमप्रामाण्यं च द्वितयमपि ज्ञानकारणगतगुणदोषरूपं परमपेक्षयो- र्द्वय इत्यत उत्पत्तौ परत इति । निश्चीयते तु तदुभयमभ्यामदशायां स्ततः, यतस्तत्र प्रतिपादोद्धार परतः प्रामाण्यमप्रामाण्यं वा निश्चित्य प्रवृत्तिर्निवृत्तिर्नां न, किन्तु प्रयमह्वाने स्वतस्तन्निश्चित्यैव, अनभ्यासदशायां तु परत इति । नन्वनभ्यामावस्थायां न ज्ञाने स्वतः प्रामाण्यनिश्चयस्तर्हि ततः प्रवृत्तिः कथमिति चेत्, प्रामाण्यसंशयादेवेति जानीहि । अथ प्रवृत्तिं प्रति न संशयः कारणमित्यपि न च वाच्यम्, यतः कदाचित्फलप्राप्त्या वशीकृतान्तरात्मानं कृपीवला अपि सस्यसम्पत्त्यादिफलनिश्चयाभावेऽपि तत्सम्भावनयैव कृप्यादौ फलसुद्धिश्चैव प्रवर्त्तमाना दरीदृश्यन्ते, सम्माननाया अपि सन्देहप्रतिशेपत्वात्, ननु यदि प्रामाण्यसंशयादपि प्रवृत्तिस्तर्हि घटज्ञानं प्रमात्मकं सत्त्वादिप्रवृत्तिजनकत्वादित्या धनुमानादिलक्षणात् सनादकज्ञानात् प्रामाण्यनिश्चयस्य किं प्रयोजनम्, प्रवृत्तपर्यं हि प्रामाण्यनिश्चयं कर्त्तव्यं, सा च सन्देहादपि जातति चेत्, उच्यते, तत्र प्रामाण्य- निश्चयस्य तद्विषयसन्देहापगम एव प्रयोजनं सुप्रतीतमिति किं प्रयोजनान्तरनिरूपण-

प्रयासेन । तस्यापि किं प्रयोजनमिति चेत्, स्थाने प्रश्नः, किन्तु सशयापगमस्याभ्यास-  
लक्षणमेव प्रयोजनं किं न परामृशसि । यदा ह्येकदा सवादकज्ञानात्प्रामाण्य निश्चितं भवति  
तदा सुखेनैवान्यदाऽभ्यामात्स्वत एव प्रामाण्यनिश्चयपूर्विका प्रवृत्तिस्मिद्भवति प्रतिपत्तुणा  
मिति । एतेन प्रथमे प्रवर्त्तकज्ञाने प्रामाण्यनिश्चयाऽभावे ततः प्रवृत्तिर्नोपपद्यत इति  
तन्निश्चयात्प्रवृत्तिः, प्रवृत्तौ सत्या तथा सवादकज्ञानम्, तस्माच्च प्रवर्त्तकज्ञाने प्रामाण्य-  
निश्चयः, ततः प्रवृत्तिरिति दुर्निराश्रयककारतारः । किञ्च सवादकज्ञानमप्यनिश्चितप्रामाण्य  
न प्रवर्त्तकज्ञाने प्रामाण्यनिश्चयोत्पादने समर्थमिति तस्यापि प्रामाण्यनिश्चयोऽप्यस्मात्सवाद-  
कज्ञानादित्यभ्युपगमेऽननुस्था, प्रवर्त्तकज्ञानाच्चेत् तर्ह्यऽन्योऽन्याश्रयः । सवादकज्ञानस्य स्वतः  
प्रामाण्यनिश्चयाम्युपगमे च प्रवर्त्तकज्ञानस्य तथाभावे किं क्रतुः प्रद्वेषः । यदाह भट्टः—

“ यथैव प्रथमं ज्ञानं, तत्सवादमपेक्षते ।

सवादेनापि सवादः, परो मृग्यस्तथैव हि ॥ १ ॥

सवादस्याथ पूर्वेण, सवादित्वात्प्रमाणता ।

अन्योऽन्याश्रयभावेन, प्रामाण्यं न प्रकल्पते ॥ २ ॥

कस्यचिन्तु यदीप्येत, स्वत एव प्रमाणता ।

प्रथमस्य तथाभावे, प्रद्वेषः केन हेतुना ? ॥ ३ ॥ ”

इत्यपि निरस्तम् । यदि हि सवादकज्ञानाटेकान्तेन प्रवर्त्तकज्ञाने प्रामाण्यं निश्चित्यैव  
ततः प्रवृत्तिः प्रतिज्ञायते, तदा स्याच्चक्रदूषणारतारः, न चैनम्, अनभ्यामदशार्थां प्रामा-  
ण्यसन्देहकादपि प्रथमज्ञानात्प्रवृत्तिभावात्, तत्र प्रामाण्यनिश्चयस्तु प्रवृत्त्यनन्तरभाविः सवादक-  
ज्ञानात् । ननु तत्रापि पूर्वज्ञानेन प्रामाण्यनिश्चयेऽन्योऽन्याश्रय इत्युक्तं प्रागिति चेत्, सत्यं  
सुक्तम्, न च युक्तसुक्तम्, अभ्यामदशायां सवादकज्ञानस्य स्वत एव, अनभ्यामदशायां तु  
संवादकज्ञानान्तरादेव प्रामाण्यनिश्चयात् । न चैव तर्हि तत्रापि सवादकज्ञानान्तरापेक्षायां  
मनवस्थेति वाच्यम्, सवादकज्ञानान्तरेनभ्यासदशापदैरेव भाव्यमिति नियमाऽभावात् ।  
एतेन नोदकाहरणरूपार्थक्रियाज्ञानेनार्थनिश्चयद्वारा पूर्वज्ञाने प्रामाण्यनिश्चयः, तस्यापि  
स्वभावात्स्थायामर्थव्यभिचारेण तेनार्थनिश्चयासम्भवात् । नापि तज्जन्यसुखोत्पत्त्या पूर्वज्ञाने  
प्रामाण्यनिश्चयः, अयथार्थादपि स्वप्ने च-दनलेपादिज्ञानात्सुखोत्पत्तेः, स्वप्नकालीनाऽऽ-  
शामोदकादिमक्षणचन्यस्यास्थ्यसुखोत्पत्तेश्चार्थव्यभिचारित्वात् । तथैव सवादकज्ञानादपि  
पूर्वज्ञाने न प्रामाण्यनिश्चयः, तस्यापि स्वप्नकालेऽर्थव्यभिचारित्वादेवेत्यपि निरस्तम्,  
जाग्रत्प्रत्ययत्वे सत्यर्थक्रियाज्ञानजनकं सवादकज्ञानजनकं वा ज्ञानं प्रमाणमिति लक्षणे कृते  
सति स्वप्नकालीनेऽर्थक्रियानाने सवादकज्ञाने च व्यभिचारप्रदर्शनस्यायुक्तत्वादेवेति । ननु  
प्रवर्त्तकज्ञाने प्रामाण्यमन्देहे मत्यपि प्रवृत्तौ प्रेक्षावच्च न स्यादिति चेत्, सत्यम्, यस्यैव

छन्नस्थपुम एकदा प्रेक्षावरणकर्मणः क्षयोपशमस्तस्यैव पुमः कालान्तरे तदुदयः, पुनश्च कालान्तरे तत्क्षयोपशम इति कारणीभूतस्य प्रेक्षावरणकर्मक्षयोपशमस्यानियतभावेन तत्कार्यस्य प्रेक्षावचस्वस्याप्यनियतमात्रात् । तथा च यः कश्चित्छन्नस्थात्मा एकदा प्रेक्षावरणक्षयोपशमनिशेपादवाप्तप्रेक्षावद्वयपदशः सुनिश्चितप्रामाण्यात्प्रमाणात् क्वचित्प्रवर्त्तते सोऽप्यन्यदा तथाविधक्षयोपशमानवाप्स्या समासादिताप्रेक्षावद्वयपदशः सशयादेरपि क्वचित्प्रवर्त्तत इति न कश्चित्प्रतिनियतं प्रेक्षापूर्वकारी तदितरो वा । तथा चोक्तम्—

“ प्रेक्षावत्ता पुनर्ज्ञेया, कदाचित्कस्यचित्प्रवर्त्तित् ।

अप्रेक्षाकारिताप्येव,—मन्यत्राशेषवेदिनः ॥ १ ॥ ” इति ।

तदेव सिद्धमभ्यासदशार्थां प्रवर्त्तकज्ञाने सत्रादकज्ञानानपेक्षणात् स्वतः प्रामाण्यनिश्चयः, अनभ्यासदशार्थां तु यादृशोऽर्थं पूर्वस्मिन् ज्ञाने प्रथापथमवतीर्णस्तादृश एवासी येन विज्ञानेन व्यवस्थाप्यते तल्लक्षणसत्रादकज्ञानापेक्षया जायमानत्वात्परत इति । तदुक्तं स्याद्वादरत्नाकरे—

“ तदित्थं ज्ञप्तिमाश्रित्या—नभ्यस्ते विषये स्फुटम् ।

प्रामाण्यं परतः सिद्धं,—मभ्यस्ते स्वत एव तु ॥ १ ॥ ” इति ।

एतेन सत्रादकज्ञान समानजातीय किं वा भिन्नजातीयम्, समानजातीयमध्येकमन्तानप्रभव किं वा भिन्नमन्तानप्रभवम्, भिन्नजातीयमपि किमर्थक्रियाज्ञानमुत्तान्यदित्यादि कुचोद्यावकाशो निरस्तः, प्रामाण्यनिश्चयवदप्रामाण्यनिश्चयोऽप्यभ्यासदशार्थां बाधकज्ञानमनपेक्ष्य जायमानस्त्रतो भवतीत्यभिधीयते, अनभ्यासदशापन्ने तु ज्ञाने पूर्वांशुमविषयी कृतस्य रजतस्य प्रतिषेध बोधयतो नेद रजतमित्याद्याकारस्योत्तरकालभाविषाधकज्ञानस्याऽपेक्षया प्रादुर्भवन् परत इति । अत्र मीमांसकास्त्रेव मीमांसयन्ति—यदि हि ज्ञान स्रगतं प्रामाण्यं स्वतो निश्चेतु न शक्नुयात्, तर्हि जगति निश्चयात्यन्ताभाव एव स्यादित्यान्वयमेवाशेषस्य जगतः सम्पद्येत, न हि स्त्रतोऽनिश्चीयमानोऽर्थः परतो निश्चेतुं पार्यते, परस्यापि तद्वदेवाऽसामर्थ्यात् । अतो यत्र कापि वा स्वतो ग्राह्यत्वमङ्गीकरणीय तद्वत्प्रवर्त्ततः सर्वज्ञानेष्वेव प्रामाण्यं स्वतो गृह्यत इत्यभ्युपगमनम् । तत्र स्वतो ग्राह्यत्व प्राथमिकज्ञानग्रहग्राह्यत्वम्, तदप्रामाण्याग्राहकयावज्ज्ञानग्राहकमामग्रीग्राह्यत्वमिति यान्त् । एतादृशं स्वतो ग्राह्यत्व मीमांसकानां त्रिष्वपि मतेषु सममेव, तत्र भाङ्गानां मते ज्ञानमतीन्द्रिय घटोऽथमित्यादिज्ञाने जाते तेन ज्ञातता नाम कश्चित्सन्निपय पदार्थो घट उत्पद्यते, घटत्वेन घटो ज्ञात इति प्रत्यक्षज्ञानोत्पत्तेः, अत एव मा प्रत्यक्षा, न चोक्तप्रत्यक्षज्ञान ज्ञानस्य वैशिष्ट्यमत्रगाहते, नयनादे रात्मगुणाग्राहकत्वात् मनमथ बहिरस्त्रात्—येण घटरूपनिशेष्याग्राहकत्वात्, किन्त्वतिरिक्तज्ञाततायाः, तथा च घटत्वरूपघटवृत्तित्वे मति घटत्वप्रकाररूपात्तात्त्रनिपयकप्रमात्मकप्रत्यक्षानुभवरूपलिङ्गज्ञानेन ज्ञाततापक्षे घटत्वरूपघटनिशेष्यकघटत्वप्रकारकज्ञानजन्यत्वरनुमीयते,

तथा चानुमित्या घटत्ववद्घटविशेष्यकत्वे सति घटत्वप्रकारकत्वलक्षणप्रामाण्यप्रकारेणैव घटज्ञान विषयीक्रियत इति सा प्रामाण्यमादायैव पर्ययस्यतीति स्वग्राहकेणैव प्रामाण्यग्रह', येनैव प्राथमिकज्ञानग्रहस्तेनैव तद्गतज्ञानस्त्वधर्मत्रयप्रामाण्यस्यापि ग्रह इति यावत्, तत्र तदप्रामाण्यग्राहकयावज्ज्ञानग्राहकनामग्रीपदेन परामर्शघटितमामग्रीपरिग्रहे तज्जन्यानुमित्यात्मकज्ञानविषयत्वात्प्रामाण्य स्वतो ग्राह्य म्पद्यते, तथापि किं बीजमिति चेत्, उच्यते, घात्वर्थक्रियाजन्यफलशालित्यमेव कर्मत्वम्, तच्च घट जानातीत्यादौ ज्ञानक्रियार्कर्मत्व घटे घात्वर्थज्ञानात्मकक्रियाजन्यज्ञाततालक्षणफलाभ्युपगममन्तरेण नोपपद्यत इत्येवमभ्युपगत ज्ञाततालिङ्गेन ज्ञान तद्गतप्रामाण्यश्चानुमीयते, यतो ज्ञान क्रियात्मकम्, क्रिया च फलानुमेया, ज्ञानारूपज्ञातृव्यापारमन्तरेण ज्ञातताख्यफलाऽनिष्पन्नेरिति तदन्यथाऽनुपपत्त्या तदनुमानात् । तथा च येनानुमानेन ज्ञानमनुमीयत तन्नैव ज्ञानस्त्वत्रतद्गतप्रामाण्यमपीति न परतः प्रामाण्यनिश्चयावकाश', किन्तुक्तनीत्या तदप्रामाण्याऽग्राहकयावज्ज्ञानग्राहकसामग्रीग्राह्यत्वलक्षणस्वतस्त्रोपपत्तेस्सत प्रामाण्यनिश्चय इति कुमारिलभट्टमतमपि न युक्तियुक्तम्, लक्ष्यभेदेन लक्षणभेदात् 'चैत्र ओदन पचति, काष्ठ छिनत्तीत्यादौ भवतुक्त लक्षण कर्मत्वम्, परन्तु घात्वर्थज्ञानस्थले तस्य मपिपयकत्वेन विषयत्वलक्षणमेव कर्मत्वमित्येवावन्मात्रस्वीकारेण घटादौ कर्मत्वस्योपपन्नत्वात् ज्ञानविषयत्वातिरिक्तज्ञातताया प्रामाणाभावात्, अन्यथा अय मया ज्ञात इत्यनुमन्यत् अयमितः अनुमितोऽयमित्याद्यनुमनोऽपि मरतीति तद्वलादीयताऽनुमितताऽपि च पदार्थान्तर भङ्गैस्स्वीकृत स्यात् । किञ्च प्रामाण्यस्य स्वतो ग्रहेऽनभ्यामदशोत्पन्नज्ञाने प्रामाण्यसशयो न स्यात्, ज्ञानग्रहे तद्गतप्रामाण्यस्यापि निश्चयात्, तस्याऽनिश्चये वा न स्वतः प्रामाण्यग्रहः, ज्ञानाग्रहे च धर्मिज्ञानाभावात् प्रामाण्यसशयोऽपि न स्यादिति । न वा ज्ञानमतीन्द्रियम्, न वा ज्ञानारूपव्यापारोऽपि ज्ञातताख्यफलात्मकलिङ्गज्ञानेनानुमेयत्वादऽतीन्द्रियः, घटमिच्छामीतिवद् घट जानामीति प्रत्यक्षस्य सर्वानुभवसिद्धत्वात् । घटत्वेन घटो ज्ञात इति प्रत्यक्षस्यापि घटत्वप्रकारकप्रत्यक्षविषयो घट इत्यर्थकत्वेनातिरिक्तज्ञातताग्राह्यत्वाभावात् । किञ्च न हि क्रियास्वभाव ज्ञानम्, अपि तु फलस्वभावमेव, अपि च क्रियाऽपि प्रत्यक्षद्रव्यवर्तिनी प्रत्यक्षैव, भाङ्गाना मते प्रत्यक्षश्चात्मा, तत्किमनेनापराद्, पदतदीयक्रियाया अप्रत्यक्षत्वमुच्यते, अधिक ग्रन्थान्तरादनुमेयम् । नन्वेव तर्हि अय घट इत्याकारकज्ञानोत्पत्तिद्वितीयक्षणे घटत्वेन घट जानामीत्याद्यनुपपत्तायस्त्वुत्पद्यते, तत्र च घटत्वत्रयिष्टविशेष्यतानिरूपित विशेष्यत्वान्छेद्यघटत्रयिष्टप्रकारतानिरूपितप्रकारिताप्रकारेण ज्ञानस्य मानम्, तदेव च प्रामाण्यग्रहप्रयोऽनुमित्युक्तानुपपत्तायैवैव ज्ञानस्यैव तद्गतप्रामाण्यस्यापि ग्रह इति तदप्रामाण्याप्रादिका यावती ज्ञानग्राहिका सामग्री व्ययमायात्ममनः सयोगादिरूपा तज्जन्यो ग्रहोऽनुपपत्ताय', तद्विषयत्व प्रामाण्ये उपपद्यत इति तस्य स्वतो ग्राह्यत्वोपपत्तिस्स्यादनेति

स एव प्रमाणभूतः पक्षोऽस्तु किं परतःप्रामाण्यनिश्चयाभ्युपगमेनेति गुरारिमिश्रमतमप्ये-  
कान्तरूप न युक्तम्, अनभ्यासदशापानुप्ययमायानन्तर प्रामाण्यसन्देहस्य सर्वानुभव-  
सिद्धत्वात्, निश्चिते प्रामाण्ये सति मन्देहाऽयोगात् । तस्मादनभ्यासदशायां यादृशोऽर्थः  
पूर्वस्मिन् विज्ञाने प्रथापथमरतीर्णस्तादृश एवामौ येन विज्ञानेन व्यपस्थाप्यते तल्लक्षण  
संवादकज्ञानापेक्षया जायमानत्वात्परतः प्रामाण्यनिश्चयः, अभ्यासदशायां तु प्रमेयाभ्यभि-  
चारित्वाज्ज्ञाने स्वतः प्रामाण्यनिश्चयः, संवादकज्ञानाऽनपेक्षणादित्युक्तं प्राक् । जैनमते  
ज्ञानस्य स्वप्रकाशत्वेऽपि तद्गत प्रामाण्य ततः कथञ्चिद्भिन्नमिति तद्गहोऽपि न नियत इत्यतः  
स्वप्रकाशोऽनभ्यासदशापन्नज्ञाने ज्ञानाऽभासेऽपि प्रामाण्यं न भासत इति तत्तदर्थ उपपद्यत  
इति । अत्राह प्रमाकरः—शुक्तादि रजतमित्यादिज्ञानमपि दोषवशात् प्रमुष्टतचारु रजत  
मिति स्मरणम्, इदमिति च प्रत्यक्षमिति यथार्थज्ञानद्रव्यात्मरुमित्यत सर्वज्ञानस्य यथार्थ  
त्वादेव कस्यचिज्ज्ञानस्य प्रामाण्यं कस्यचिच्चप्रामाण्यमिति विभाग एवानुपपन्नस्वर्हि तदुभय  
निश्चयस्वरतः परतश्चेति वार्त्ता सुतराममम्मविनी, ज्ञानमात्रस्य स्वप्रकाशात्मकत्वेन ज्ञानात्म  
विषयरूपत्रिपुटीविषयकत्वात् व्यवसायाऽनुपपत्तमापथोरैषाद् 'घटमह जानामीत्याद्याकार  
व्यवसायेनैव स्वप्रकाशात्मरुन प्रामाण्यग्रहणं सञ्जायत इति ज्ञानरस्येव तद्गतप्रामाण्यस्यापि  
तेनैव ज्ञानेन निश्चयात् स्वरतः प्रामाण्यनिश्चयस्यैव सर्वस्मिन् ज्ञाने सद्भावात्, तत्रैतन्मते  
तदप्रामाण्याग्राहक्यावज्ज्ञानग्राहकाममग्रीपदनेन्द्रियसन्निकर्षादिघटितमामग्रीपरिग्रहात्तज्जन्य  
व्यवसायात्मरुग्रहविषयत्वात् स्वरतो ग्राह्यत्व प्रामाण्यस्य घुपपादमेवेति चेत्, उच्यते  
समाधिः, न तावत्सर्वज्ञानस्य यथार्थत्वादेवोक्तविभागोऽनुपपन्नः, याथार्थ्याऽयाथार्थ्यप्रक्षे-  
पदुचर तद्विरोधात्, तथाहि—विपरीतमवगत मयेति लौकिकी ज्ञानविषयिका प्रतीतिः,  
अन्यथाऽऽवगतमि-पन्यथात्पातिरिति च वैनयिकी प्रतीतिर्यथार्था न चेति प्रश्ने यदि  
यथार्थेत्युत्तर तदेव रजतमित्याकारकप्राथमिकज्ञानस्य स्वविषयीभूतस्याऽयथार्थत्वम्, प्राथ-  
मिकज्ञानविशेषकायथार्थत्वप्रकारकप्रतीतिश्च पश्चाद्भाविन्या यथार्थत्वम्, यदि न यथार्थं  
त्युत्तर तदा प्राथमिकज्ञानस्य यथार्थत्व प्राथमिकज्ञानविशेषकायथार्थत्वप्रकारकज्ञाना-  
त्मिकायास्तस्याऽयथार्थत्वमिति यथार्थाऽयथार्थविभागोपपत्तेर्मज्ञानस्य यथार्थत्वादेव  
विभागोऽनुपपन्न इति न युक्तियुक्तम् । ननु विपरीतमवगत मयति विपरीतज्ञानविषयिका  
अन्यथाऽऽवगत मयेत्यन्यथारूपातिविषयिका वा प्रतीतिर्नास्त्विति नोक्तप्रभावकाशङ्क,  
केवल तादृशसन्देहप्रयोग एव, न च स वस्तुमाधक इति चेत्, सैव वद, यतो विपरीत  
ज्ञानविषयिका अन्यथात्पातिविषयिका वा प्रतीतिस्त्वेषामभिगानेन भवत्येव, न चानुभवे  
परीक्षकाणां विवादस्ममवति, अन्यथा यद् यज्ज्ञान न तत्सर्वं शुद्धसलापरूपमिति वदतोऽपि  
वक्त्र नैव वकीमवेत्, तथा च ज्ञानमात्रस्योच्छ्रित्तिप्रमत्किमस्यात् । न चोक्तज्ञानव्यवहारो  
नास्तीति वक्तुं शक्यम्, सतोऽपलाये तद्वत् सर्वस्यैव सतोऽपहृतिप्रसङ्गात् । नन्वस्तुक्तज्ञान

व्यवहारः, तथाप्युक्तव्यवहारविषये ज्ञानेऽन्यथाख्यातित्वमस्ति न चेति विप्रतिपद्यामहे इति चेत्, भवम्, - यतो विप्रतिपत्तिर्विधिनिषेधोभयकोटिका भवतीति भवदभ्युपगतनिषेध-कोटौ - तत्प्रतियोगिनोऽन्यथाख्यातित्वस्य कुत्रापि सत्त्वमस्ति न चेत्पुन्यताम्, अस्तीति घृम इति चेत्तर्हि पर्यवसित विवादेन, यत्रैव सत्त्वं तस्यैवापथ्यार्थत्वेनोभयवादिमिदत्वात् । नास्तीति चेत्तर्हि कुत्राप्यसतो निषेधः कर्तुमशक्य एव, यतो न हि प्रेक्षावद्भिरसतश्शश-शृङ्गस्य निषेधः क्रियते । अथ तत्र महिष्यादौ प्रमिद्धमेव शृङ्गं शशीयत्वेन रूपेण निषिध्यते तद्दन्नापीच्छादौ प्रसिद्धमेवान्यथात्वं व्यधिकरणप्रकारत्वलक्षण ख्यातौ निषिध्यते, नन्वेव तर्हि शुक्ताविद रजतमित्माकारकस्येदत्वावच्छिन्नप्रतिशेषतानिरूपितरजतत्वनिष्ठप्रकारतानि रूपकस्य ज्ञानस्याभावे रजतार्थिनः मरुमरीचिकादाविद जलमिति ज्ञानस्याभावे च जला-र्थिनः प्रवृत्तिः कथं स्यादिति चेत्, उच्यते, इदं रजतमिति सम्पग्ज्ञानद्वय, विभिन्नकारण-जन्यत्वात् विभिन्नगोचरत्वाच्च, तत्रेन्द्रियकारणजन्यमिदमिति प्रत्यक्ष पुरोवर्तिशुक्तिकाश कलविषयकम्, तत्र दोषवशाच्चद्रुतशुक्तिवर्तिशेषस्याऽग्रहः । माधारणमास्वरूपदर्शनोद्भू-सस्कारजन्य रजतमिति स्मरणं दृष्टपट्टादिव्यवस्थितरजतविषयकम्, न च ततोह्येत्वाभावात्कथं तस्मरणमिति वाच्यम्, गृहीतग्रहणस्वभावेऽपि तस्मिन् स्मरणे दोषवशाद्गृहीततत्तांश प्रमोषाद्भजतमात्रग्रहणस्यैव स्मृतिरूपत्वात्, तस्मादेव च स्मरणात्प्रवृत्तिरिति चेत्, तदपि न विद्वन्मनोरञ्जकम्, पुरोवर्तिनं यमुदिश्य प्रवृत्तिस्तद्विषयकज्ञानादेव साऽनुभूयत इत्यन्यविषयकज्ञानादान्यत्र प्रवृत्त्यममवात्, अन्यथाऽतिप्रसङ्गात् । अथोक्तज्ञानमपि प्रवृत्तौ नियामकमभ्युपगम्यत एवेति चेत्, तर्हि शुक्त्यादौ रजतादिभेदग्रहेऽपि प्रवृत्त्यापत्तेः, प्रवृत्तिकारणीभूतोक्तज्ञानद्वयस्य सत्त्वात् । न च दोषाधीनः पुरोवर्तिनि स्तत्रोपस्थित रजतमेदाग्रहः प्रवृत्तिनियामक इति नोक्तदोषः, अयम्भाव - इदं रजतमित्यस्य ज्ञानद्वय रूपत्वेऽपि तत्र द्रष्टुं शुक्तिरजतयोरसमर्गग्रहो नास्ति, तावदेव रजतमर्थमर्थयमानोऽपि इदंशब्दवाच्ये पुरोवर्तिनि प्रवर्तते, न च ज्ञानद्वयरूपत्वे कथं विशिष्टव्यवहार इति वाच्यम् ज्ञानयोरपि मिथोऽससर्गग्रहाभावात्, तथा च रजतस्मृतेः पुरोवर्तिद्रव्यमात्रग्रहणस्य च मिथः स्वरूपतो विषयतश्च दोषप्रयुक्तमेदाग्रह एव प्रवर्तक इति वाच्यम् रजते नेदं रजतमिति ज्ञान मन्यथाख्यातिप्रमङ्गमीत्या न मेदाग्रहरूपमिति मेदाग्रहस्य सत्त्वाच्चरूपि प्रवृत्त्यापत्तेः ।

अथ रजतमेदाससर्गग्रहामान एव तदर्थ इति नोक्तदोष इति चेत् तर्हि सत्यरजतस्थले विशिष्टज्ञानस्य हेतुताया भवतापि कल्पत्वाद् रङ्गगोचररजतार्थिप्रवृत्तानपि तत्कल्पनाया एवोचितत्वात्, न च सवादिप्रवृत्तौ तत्कारणम्, विसत्त्वादिप्रवृत्तौ तत्कलक्षणमेदाग्रहः कारणमिति वाच्यम् सत्त्वादिसत्त्वादिभेदेन कार्यकारणभावद्वयापेक्षया लाघवतर्कमहकारेण प्रवृत्तिमात्रे विशिष्टज्ञानस्यैव हेतुत्वकल्पनौचित्यात् । किञ्च निरुक्तमेदाग्रहस्य प्रवृत्तिं प्रति

कारणत्वाभ्युपगमे स्वतन्त्रोपस्थितानिष्टमेदाग्रहस्य निवृत्तिं प्रति कारणत्वमभ्युपगन्तव्यम्, एवञ्च रजतरङ्गयोरिमे रङ्गरजते इति ज्ञाने जाते भवन्मते रजते रजतमेदग्रहस्यान्यथा ख्यातिप्रमङ्गमयादनभ्युपगन्तव्यत्वेन रजतप्रवृत्तिकारणस्य स्वतन्त्रोपस्थितेटरजतमेदाग्रहस्य सत्त्वेन रजतगोचरप्रवृत्ते रङ्गगोचरनिवृत्तिकारणस्य स्वतन्त्रोपस्थितानिष्टरङ्गमेदाग्रहस्य दोषबलाद्भावेन रङ्गगोचरनिवृत्तेश्च युगपदेव रजते प्रमङ्गः, एव रङ्गेऽपि रङ्गमेदग्रहस्यान्यथाख्यातिप्रमङ्गमयादनभ्युपगन्तव्यत्वेन रङ्गमेदाग्रहस्य रङ्गगोचरनिवृत्तिकारणस्य सद्भावाद्रङ्गगोचरनिवृत्तेर्दोषबलाद्रजतमेदाग्रहस्य भावेन रजतगोचरप्रवृत्तेश्च युगपदेव प्रसङ्गः, एवमनुमितिम्प्रति परामर्शस्य विशिष्टज्ञानत्वेन कारणत्वे अयोगोलक बहिर्मदित्यनुमित्युलोघेन बहिष्कृत्याप्यधूमवद्दयोगोलकमित्यन्यथाख्यातिरापद्येत, मेदाग्रहस्य कारणत्वे तु हृदे बहिष्कृत्याप्यधूमवद्देदाग्रहाद् हृदो बहिर्मानित्यन्यथाख्यातिरकामेनाप्यभ्युपगन्तव्येति । तादृशमेदाग्रहस्य प्रत्युपनियामकत्वे च सिद्धे विवादापन्न रजतसवेदन पुरोरर्चिशुक्तिशकल गोचरमेव, तत्रैव प्रवृत्तिनिमित्तत्वात्, यद् यत्रैव प्रवृत्तिनिमित्तं तत् तद्गोचरमेव, यथा सम्यग्रजते रजतज्ञानम्, पुरोरर्चिन्येव शुक्तिशकले प्रवृत्तिनिमित्तं चेद ज्ञान, तस्मात्तद्गोचरमेवेति । किञ्च नेद रजतमिति वाचकप्रत्ययानन्तर यदेव शुक्तिशकल कलघातरूपेण मया प्राक् प्रत्याकलित तदेवेदमिति प्रत्यभिज्ञानमात्मलामनुभवदनुभूयत इति तद्बलेनापि शुक्तिशकले इदं रजतमिति ज्ञानमखण्डैकरूपमेव कामलादिदोषदूषितनेत्रादिमामभ्या पूर्व रजतानुभवजनितसस्कारप्रबोधप्रभवस्मरणद्वारा जायमानमभ्युपेयमिति । तदेव सर्वज्ञानस्य यथार्थत्वादेव प्रमाणाप्रमाणविभागोऽनुपपन्न इति प्रमाकरमतमपि न युक्तियुक्तमिति सिद्धम् । कुमारिलाद्यभ्युपगतपक्षत्रयेऽप्यधिक विस्तरमपात्रेह प्रतन्यत इति । एतेन सर्वज्ञानस्यायथार्थत्वात्प्रमाणाप्रमाणविभागोऽनुपपन्न इति शून्यत्वादिमतमपि निरस्तम्, सर्वं ज्ञानमयथार्थमिति ज्ञानस्य यथार्थत्वायथार्थत्वाभ्यामुत्तरिरोधात्, तथाहि—मर्वज्ञानमयथार्थमिति ज्ञानस्य यथार्थत्वे सर्वान्तर्गतं तज्ज्ञानमपीति तस्य यथार्थत्वात् सर्वं ज्ञानमयथार्थमित्यसङ्गतं स्यात् । अयथार्थत्वे च तद्विशेषीभूतस्य सर्वज्ञानस्य यथार्थत्वप्रमक्तयोक्तमसद्गतं स्यादिति । किञ्च शून्यतासाधक किञ्चित्प्रमाणमस्ति चेत्कथं सर्वशून्यता, प्रमाणस्यैव वस्तुरूपत्वात्, कथञ्च सर्वज्ञानमयथार्थमिति उच्यतेऽपि शोभां लभेत ? शून्यतासाधकप्रमाणाभ्युपगमेन सर्वज्ञानस्यायथार्थत्वात्, सर्वान्तर्गतस्य शून्यतासाधकयथार्थज्ञानस्य सद्भावात् । ननु सर्वज्ञानमयथार्थमित्यभ्युपगच्छन् कथं शून्यतासाधकप्रमाणस्य यथार्थत्वं स्वीकृत्यादिति चेत्, तर्हि शून्यतामिद्धिः कथम्, यथार्थप्रमाणनिरन्धनत्वाद्बिदुषामिष्टसिद्धेः, अथ शून्यतासाधकप्रमाण नास्तीति चेत्तर्हि कथं शून्यता मिद्धेत्, प्रमाणमन्तरेण कस्यापि वस्तुनस्तिद्वेषमावात्, उक्तञ्च शून्यतानिरासंन्यत्र—

“शास्ता शास्त्र शिष्यः, प्रयोजन वचनहेतुदृष्टान्ताः ।  
सन्ति न शून्य ब्रुवतस्तदभावाच्चाऽप्रमाण स्यात् ॥ १ ॥

प्रतिषेद्धप्रतिषेधौ स्तश्चेच्छून्य कथं भवेत्सर्वम् ? ।

तदभावेन तु सिद्धा, अप्रतिषिद्धा जगत्पर्याः ॥ २ ॥” इति ।

तस्मात्किञ्चिज्ज्ञान प्रमाण किञ्चिचाप्रमाणमिति विभाग एव परमार्थभूतोऽम्बुपगन्तव्य इति निष्कर्षः । अत्र योगाः सङ्गिरन्ते—उक्तनीत्याऽस्तु प्रमाणाप्रमाणविभागाः, परन्तु स्वतः परतः प्रामाण्याऽप्रामाण्यनिश्चयविभागो न प्रमाणपद्धतिप्रतिष्ठामञ्चति, सप्रकाश-ज्ञानासिद्धया स्वतः प्रामाण्यनिश्चयाऽयोगेन परत एव प्रामाण्यनिश्चयस्य सद्भावादिति चेत्, मा त्वरध्वम्, यतस्त्वप्रकाशज्ञानप्रतिष्ठापनमग्रे द्वितीयकाण्डे करिष्यामः । इत्यल प्रसङ्गानुप्रमङ्गेन, प्रकृतमनुसरामः । ननु जिनप्रणीतद्वादशात्मकशामनस्य निश्चितप्रामाण्य परपुरुषगतप्रमात्मकतदर्थविषयकशाब्दबोधजनकत्वनिश्चयविषयत्वलक्षणमेव, न च तदुपपद्यते, अतिमधुरस्यापि स्वातिनक्षत्रजलस्याग्नीविषमुखपतितस्य विपरुषेण मद्बुर्वनपेशमिथ्यादृष्टि परिगृहीतस्याङ्गानङ्गप्रविष्टस्य सम्पक्थुतस्याप्यथयावस्थितबोधतो वैपरीत्येन योजना निम्नधारूपेण परिणतिभावेन मिथ्यादृशां तदर्थविषयकाप्रमात्मकशाब्दबोधजनकत्वादिति चेत्, मा त्वरस्य, उच्यते समाधिः, समुद्रदोषात्समुद्रनिहितम्बुद्रत्वविशिष्टपटो न भ्रियते इति न, किन्तु स्त्रीयड्रत्वदोषादेव, एकचन्द्रमसि द्विचन्द्रज्ञान यज्ञापते तन्न चन्द्रदोषात्, किन्तु पुरुषीयदृष्टिदोषादेव, तद्वत्प्रकृतेऽपि मवाच्छिमसुद्दिधीर्षुमद्गुरुनिरपेक्षाणां मिथ्यादृष्टीनां केषांचित्स्वपथनिबद्धोद्गुरानुबन्धाना स्वतस्मिद्वान्तावलोकनतो यन्मिथ्याज्ञान जायते तदपि न सम्पक्थुतस्य प्रमात्मकज्ञानजननाऽप्रामाण्यदोषबलाद्वा, किन्तु पूर्वमत्रीयमिथ्यायासनाजनिताऽयथार्थमङ्केतानुबन्धानसहितस्त्रीयमिथ्यात्प्रदोषप्राचल्यादेवेति तज्ज्ञानमज्ञानमेव, उक्तदोषविगमेन सम्पदर्शनाद्यप्युद्बो तत्सहकृत ध्रुवमप्रामाण्यज्ञानानास्फु-न्दितज्ञानविषयप्रामाण्यविशिष्टयथार्थज्ञान जनयति, यथा स्त्रीयदृष्टिदोषनाशे नैर्मल्यगुणसह-कृत चक्षुरेकचन्द्र इति प्रमात्मक ज्ञान जनयति, न च तत्र पश्चादिद ज्ञान प्रमा न वेति सशयः, न वेद ज्ञानमप्रमात्मकमेवेति त्रिपर्ययज्ञान भवति, अत एवोत्पत्तौ प्रामाण्यमप्रामा-ण्यञ्च परत एव, ज्ञातौ तु स्वतोऽपि सिद्धान्ते गीयते, उक्तञ्च प्रमाणनयत्त्रालोकालङ्कारे—  
“तदुभयमुत्पत्तौ परत एव, ज्ञातौ तु स्वतः परतश्चेति ॥” १ ॥ २१ ॥ इति ॥

अत्र ‘तदुभयमिति’ प्रामाण्यमप्रामाण्यञ्चेत्यर्थः, “परत एव” इति कारणगत-गुणदोषापेक्षयैवेत्यर्थः । तदुभयमपि बहिरर्थापेक्षयैव, न तु ज्ञानापेक्षया, तदपेक्षया ज्ञान मात्रस्य प्रमाणैकरूपत्वात् । तदुक्तमाप्तमीमांसायां—



“ भावप्रमेयापेक्षायां प्रमाणाभासनिवृत्तः ।

बहिः प्रमेयापेक्षायां प्रमाणं तत्र वेति च ॥ १ ॥ ” इति ॥

भावेति सामान्यशब्दोऽपि बहिरित्यभिधानाज्ज्ञानस्वरूपे वर्धते इति । “ स्वतः परत  
 वेति ” अभ्यासदशायां सत्तादकबाधकज्ञानमनपेक्ष्य प्रादुर्भूयन् प्रामाण्याप्रामाण्यनिश्चयः  
 स्वतो भवतीत्यभिधीयते, विषयाशेषम्यासजन्यक्षयोपशमस्यैव तत्र व्यापाररूपत्वात् ।  
 अनभ्यासदशायां तु सत्तादकबाधकज्ञानाऽपेक्षया जायमानोऽसौ परतः, पूर्वं प्रामाण्या  
 प्रामाण्यग्रहसामग्र्यसिद्धेरित्यक्षरार्थः । तद्वत्प्रकृतेऽप्युक्ताशयशुद्धौ श्रुतजन्यतदर्थविषयक-  
 ज्ञाने तद्वत्त्वे स्वतः प्रामाण्यज्ञाने च नाप्रामाण्यसंशयविपर्ययाविति श्रुतस्योक्तलक्षण  
 निश्चितप्रामाण्यं निर्वहत्येवेति । नन्वेव तर्हि सम्यक्श्रुतज्ञानवता परोपकारैकधुरीणसुगुरुणा  
 सिद्धान्तोक्तविधिना यथार्थरूपेण पाठितानां मिथ्यादृष्टीनां किं प्रमात्मकमेव भ्रौतज्ञानं  
 जायते किम्याऽन्यथेति चेत्, प्रमात्मकमेवेति जानीहि । न चैव तर्हि तेषां ज्ञानस्य  
 सज्ज्ञानत्वप्रसक्त्या सम्यग्दृष्टित्वप्रसङ्ग इति वाच्यम्, यतस्तेषां पूर्वपूर्वमन्वीयमिथ्या-  
 वासनायासितानामेकान्तदृष्टीनां सहस्रप्रोक्तमिदमित्यमेवेति सम्यक्तत्त्वार्थश्रद्धानाभा  
 वाग्निमथ्यात्वदोषप्राबल्यादेव प्रमात्मकेऽपि तस्मिन् भ्रौतज्ञाने इदं ज्ञानं प्रमात्मकं न चेत्या-  
 कारक एतज्ज्ञानविशेष्यरूपप्रामाण्यतदभावप्रकारकोऽप्रामाण्यसंशयः, यद्देह ज्ञानमप्रमात्मक  
 मेवेत्याकारकमेतज्ज्ञानविशेष्यकाऽप्रामाण्यप्रकारक विपर्ययात्मकमप्रामाण्यज्ञानं तदानीं  
 जायते, प्रमात्मकभ्रौतज्ञानेऽप्रामाण्यसन्देहे तद्विषयेऽप्यसत्यत्वसन्देहाद्विपर्ययात्मकाप्रामा-  
 ण्यज्ञाने वा तद्विषयेऽपि यथाद्विपरीतज्ञानाच्चज्ज्ञानमज्ञानमेवेति सम्यग्ज्ञानाभावाच्च सम्य-  
 ग्दृष्टित्वप्रसङ्गः । निस्स्वार्थैकान्तपरमार्थहितबुद्ध्या जिनोक्तत्वामृतरसनिपायिसद्गुरुमगवत-  
 श्रुत यथार्थमधीयाना अपि मिथ्यादृष्टय एकान्ततत्त्वमेव सत्यं मन्यन्ते, न त्वनेकान्ततत्त्व-  
 मित्यनेकान्ततत्त्वप्रतिपादकश्रुतजन्यज्ञाने प्रमात्मकेऽपि प्रामाण्यं सन्दिहन्ति, विपर्ययन्ति  
 वा, न तु सम्यग्दृष्टय इव श्रुतस्य जिनप्रणीतत्वेन तज्ज्ञानं प्रमात्मकमेवेति निश्चिन्व-  
 न्ति, अत एव “ चोद्म दस य अभिज्ञे, नियमा सम्म तु सेसए भयणाए ” इति सिद्धान्त  
 वचोऽपि सद्गच्छते, तथा च प्रामाण्यवत्यपि भ्रौतज्ञाने संशयविपर्ययान्यतरलक्षणं यदप्रामाण्य  
 ज्ञानं तद्विषयतरलक्षणमलकालुष्येण न मिथ्यादृष्टिज्ञानं शुद्धम्, ज्ञाने हि शुद्धिर्न केवलप्रमा-  
 ण्यलक्षणा, तथा सति मिथ्यादृष्टीनां निस्सीमकृपासुधासिन्धुसुगुरुणाऽभ्यापितानां यथा-  
 श्रुतार्थज्ञाने जाते तत्र तथात्वप्रसक्त्या तेषु सम्यग्ज्ञानालिङ्गितत्वं स्यात्, किन्त्वप्रामाण्य  
 ज्ञानानास्फन्दितज्ञानविषयप्रामाण्यलक्षणा, मा च सम्यग्दृष्टीनां भ्रौतज्ञाने स्वतः प्रामा-  
 ण्यज्ञाने सति तदुत्तरं नैव तत्र संशयविपर्ययान्यतरलक्षणाऽप्रामाण्यज्ञानं भवतीति तत्र  
 सद्गच्छते, मिथ्यादृष्टीनां तु भ्रौतज्ञाने स्वतः प्रामाण्यज्ञानमेव न भवति, अन्यथा

तत्प्रतिबन्धकेन तद्गुचरमुक्तलक्षणप्रामाण्यज्ञानमेव न भवेद्, भवति च तदिति तेषामप्रामा-  
 ण्यज्ञानानास्क्रन्दितज्ञानस्यैव श्रौतज्ञाने स्वतः प्रामाण्यज्ञानात्मकस्याभावेन न तद्वि-  
 पयप्रामाण्यलक्षणा शुद्धिस्सगतेति तादृशशुद्ध्यभावात्निष्पादृष्टिज्ञान न सम्पद्ज्ञानम्,  
 तज्ज्ञानगतप्रामाण्यस्याप्रामाण्यज्ञानास्क्रन्दित श्रौतज्ञाने यत् स्वतः प्रामाण्यज्ञान तद्वि-  
 पयत्वात् । ननु सिद्धान्ते स्वप्रकाशात्मकत्वैवाभ्युपगते ज्ञाने प्रामाण्य स्वतः परतिश्च  
 गृह्यत इति परतो ग्राह्यतायां यदा सम्पद्गृहेः श्रुतजन्यनाने प्रामाण्यज्ञान न जात  
 तदानीमप्रामाण्यज्ञानानास्क्रन्दितज्ञानविषयत्वस्य तज्ज्ञानगतप्रामाण्येऽभावाच्चज्ज्ञान शुद्ध  
 न स्यादिति चेत्, भैवम्, यज्जिनैः प्रणीत तच्चभ्यमेवेति धृष्टत सम्पद्गृहेः श्रुताद्य-  
 ञ्ज्ञान जायते तद्यथा स्व गृह्णाति तथा स्वगतप्रामाण्यमपि गृह्णात्येव, तज्ज्ञानगतप्रामा-  
 ण्यस्य नियमेन स्वतो ग्राह्यत्वात्, परतो ग्राह्यत्व तु प्रामाण्यस्य तत्रैव यत्र प्रामाण्यशङ्का-  
 घवतारः, प्रकृते तु नैवम्, मेपजस्य रोगप्रशमने पूर्वं रेचनकृतरोगिकोष्ठाशयशुद्धिर्पेधा  
 सहकारिणी तथोक्तशुद्धिविशिष्टज्ञानोत्पत्तौ श्रुतस्य सम्पद्दर्शनलक्षणाशयशुद्धिस्सहकारि-  
 णीति तदभावे सत्यप्रामाण्यज्ञानास्क्रन्दितश्रौतज्ञानार्जकत्वेऽपि तत्सत्त्वेऽप्रामाण्यज्ञानाना  
 स्क्रन्दितज्ञानविषयप्रामाण्यविशिष्टज्ञानार्जकत्वेन श्रुतात्मकशामनस्योक्तलक्षणनिश्चितप्रामाण्य  
 निर्वाहत्वेवेति भावः । अत्रेदमवधेयम् ' सामण ' इत्यत्र विशेष्यात्मकशामनपदोत्तरसिप्रत्य  
 यार्थस्यैकत्वस्य माक्षात्सम्बन्धेन शामनपदार्थेऽन्वयाऽभ्युपगमे एकस्मिन्नेव शासने 'जिणाण'  
 इति बहुवचनमहिम्नाऽनेकजिनप्रणीतत्वमनिष्टमापद्येतेत्यतो ' वेदाः प्रमाणम् ' इत्यत्र विशेषे  
 षणीभूतप्रमाणपदोत्तरसिप्रत्ययार्थैकत्वस्य सिप्रत्ययप्रकृत्यर्थतावच्छेदक प्रमितिकरणत्व याव  
 च्छब्दनिष्ठमेकमेवेति तत्रान्वयवत् " जात्याकृतिव्यक्तयः पदार्थः " इत्यत्र विशेषणीभूत  
 पदार्थपदोत्तरसिप्रत्ययार्थैकत्वस्य सिप्रत्ययप्रकृत्यर्थतावच्छेदक पदवाच्यत्वं जात्याकृतिव्य-  
 क्तिव्येकमेवेति तत्रान्वयवच्च तस्य प्रत्येकजिनप्रणीतस्वीयतच्छामनसमूहनिष्ठे एकस्मिन्  
 शासनपदार्थैरुद्देशे सिप्रत्ययप्रकृत्यर्थतावच्छेदके शामनत्वेऽन्वयः, तथा चैकत्रविशिष्टशासन-  
 त्वेन रूपेण सजातीय यच्छासनमतीतानागतवर्त्तमान तत्सर्वं सकलरागादिदोषाऽपराभृष्ट  
 जिनामिहितानेकान्तात्मकार्थविषयऋनिश्चितप्रामाण्यकथयार्थप्रतीतिजनकत्वात् "सिद्ध" इति-  
 पदलन्घनिश्चितप्रामाण्योपेतमिति सिध्यति । अत एव " तत्रपर्यालोचनायां तु सूत्रार्थोभय  
 रूपत्वादागमस्यार्थपेक्षया नित्यत्वात् सूत्रापेक्षया चानित्यत्वात् कथञ्चित् कर्तृसिद्धिः ",  
 इति प्रज्ञापनावृत्तिवचनाद् द्वादशाह्यात्मके शासनेऽर्थापेक्षयाऽनादिभूतेऽपि शब्दरचना  
 पेक्षया सादिरूपे " जिणाण " इति पदलन्घार्थेन जिनप्रणीतत्वेनैव सिद्धप्रमाणभावे  
 ' न प्रामाण्यप्रसाधनाय प्रमाणात्तरगवेषणा कार्या ' इति दर्शितम् । कालत्रयावच्छिन्न-  
 शासनानां बहुत्वेऽपि ' सामण ' इत्यत्रैकवचनं तु तच्छासनोक्तार्थेषु सर्वजिना-  
 नामवैमल्यतो वर्त्तमानतीर्थकरप्रणीतशामनस्याप्यतीतानागततत्तज्जिनप्रणीतप्रणोप्यमाणत्वं

सच्छासनप्रतिपाद्यतरामिन्द्राऽन्यूनानधिकाऽबाधिततत्रप्रतिपादकत्वेन रूपेण तत्तच्छा-  
सनैस्सहामेदसूचकमेवेति, अत एव महनीयमान्यगणधरश्रीगौतमस्वामिप्रश्नोत्तररूप-  
तत्तत्त्रयेषु भयैव नोच्यते किन्त्वर्थतोऽतीततीर्थकैरप्येवं प्रोक्तम्, उपलक्षणन्यायेनानागत-  
तीर्थकैरप्येव वक्ष्यते चेत्येवमर्थसूचक "पञ्च" इतिप्रश्नश्रीमहावीरभगवता प्रोक्तमिति ।  
"जिणाण" इत्यत्र शासनत्वावच्छिन्नस्य तत्तच्छासनस्य तच्चिन्नप्रणीतत्प्रतिपादनाय  
बहुवचनमिति । ननु शासनपदार्थैकदेशे शासनत्वे सिप्रत्ययार्थैकत्वान्वये कर्त्तव्ये सति  
"पदार्थः पदार्थेनान्वेति न तु पदार्थैकदेशेन" इति व्युत्पत्तिविरोधप्रसङ्ग इति चेत्,  
तर्क्युक्तदृष्टान्तद्वये सम्पन्नो व्रीहिरित्यत्र च दीयतां दृष्टिः, उक्तदृष्टान्तद्वये पदार्थैकदेशे  
सिप्रत्ययार्थैकत्वस्यान्वयाम्बुपगमात् । सम्पन्नो व्रीहिरित्यत्रापि च सम्पन्नयाश्रयानेक-  
व्रीहिष्वेकत्वस्य बाधेन व्रीहित्व एव व्रीहिपदोत्तरसिचिमकत्यर्थैकत्वस्यान्वयस्वीकारात् ।  
अथ तत्रापि स्वाश्रयवत्त्वसम्बन्धेन सिप्रत्ययार्थैकत्वस्य सिप्रत्ययप्रकृत्यर्थ एवान्वयस्वीका-  
राश्लोक्तव्युत्पत्तिविरोधप्रसङ्ग इति चेत् तर्हि प्रकृतेऽपीदृश्येव गतिरिति विमाच्यताम् ।  
तथा चोक्तदृष्टान्तत्रयेऽपि यथाक्रम स्वाश्रयप्रमाकरणत्प्र-पदवाच्यत्व-व्रीहित्वद्वारैव वस्तु-  
गत्या नानाविधप्रमाकरणपदवाच्यव्रीहिष्वेकत्वस्याऽन्वयस्वीकारवत् प्रकृतेऽपि स्वाश्रय-  
शासनत्वद्वारैव परमार्थतस्तत्कालावच्छिन्नभिन्नभिन्नजिनप्रणीततत्तच्छासनेष्वेकत्वस्यान्वय-  
स्वीकारात्तत्र सर्वत्र निश्चितप्रामाण्योपपत्तेर्न काऽपि क्षतिः । एतेन शासनत्वस्यात्रानुच्छिन्नस्य  
मानजातिरूपस्यान्वयितावच्छेदकशासनत्वरूपेणानुपस्थितेस्तत्र न सिप्रत्ययार्थैकत्वस्या  
न्वय इत्यप्यारेका निरस्ता, शासनत्वेन रूपेणोपस्थिते शासनपदार्थ एव स्वाश्रयवत्त्वरूप  
परम्परासम्बन्धेन तस्यान्वयस्वीकारादिति । अथ तत्केवामित्यत आह—“जिणाण” इति  
जिनानामिति, रागद्वेषादिरूपानरातीन् जयन्ति समूलकाप कपन्तीति जिनाः, तेषाम्,  
यथा कृष्णस्य कृतिरित्यत्र “कर्त्तृकर्मणो. कृति” २-३-६५ इति पाणिनीयसूत्रेण कर्त्तरि  
पठ्ठी तद्वच्छासनस्यापि कृदन्तत्वात्तद्योगे 'जिनानाम्' इत्यत्रापि कर्त्तरि पठ्ठी, तथा च  
षष्ठ्यर्थस्याप्येवसम्बन्धेन प्रकृत्यर्थजिनान्वितस्य कर्त्तृत्वस्य निरूपकत्वमम्बन्धेन शासने  
ऽन्वयाद्यथा कृष्णस्य कृतिरित्यस्य कृष्णनिष्ठकर्तृत्वानिरूपककृतिरूपार्थपर्यवमापि कृष्ण  
कर्त्तृककृतिरित्यर्थः' तद्वद् जिनानां शासनमित्यस्य जिननिष्ठकर्तृत्वानिरूपक शासनमित्यर्थ  
पर्यवमापि जिनकर्त्तृक शासनम्, अर्थतो जिनप्रणीत शासनमित्यर्थः । यद्वा जिनानामित्यत्र  
सम्बन्धार्थे पठ्ठी, सम्बन्धश्च कार्यकारणभावात्तमक, तथा च स्वनिष्ठकारणतानिरूपितकार्य-  
त्वसम्बन्धेन जिनसम्बन्धि, जिनप्रणीतमिति यावत्, अर्थतस्तदुपदिष्टत्वादिति भावः ।  
ननु “सोऽङ्ग जिणवरमत गणहारी फाउ तक्खओवमम” इति सूत्रकृतान्निर्णय-  
मिधानाच्छ्रीतीर्थैव भगवत्प्रमाणित “उत्पज्जेइ वा विगमेइ वा धुवेइ वा” इति मातृ-  
कापदत्रयधवगमात्, रासप्रकृत्युत्तज्ञानावरणकर्मण्योपपत्तेन चतुर्दशपूर्वविदा श्रीगणधर-

मगवता “ श्रीरुद्धमानात् त्रिपदीमवाप्य, घृहूर्चमात्रेण कृतानि येन । अङ्गानि पूर्वाणि चतुर्दशाऽपि, स गौतमो यच्छ्रुत्वाञ्छित मे ॥ १ ॥ इत्युक्तेर्घृहूर्चमात्रेण विनीतशिष्य सुखग्रहणगुणनधारणनिश्चयाद्यर्थं पद-वाक्य-प्रकरणा-ऽध्याय-प्राभृतादिनियतक्रमेण रचितं द्वादशाङ्गयात्मकश्रुतमेव शानमिति तस्य शब्दरूपतया पौद्गलिकत्वेन विशरा रुस्वमात्रत्वात्तदानीमेव विनष्टं तत् नैतावत्कालपर्यन्तं स्वस्वरूपेण सत्तामनुभवितुमर्हतीति कथमिदानीं तदेवास्तीति श्रद्धेयमिति चेत् यद्यपि गणधरमगवता सूत्ररूपेण प्रथितं द्वादशाङ्गयात्मकं वचनमिदानीं नास्त्येवेति मत्पमेतत्, तथापीदानीं तदनुवादे श्रुतज्ञाननिधानाचार्यमगवदनुक्रमेण पुनः पुनस्तद्दुश्चारात्मकेऽनूद्यस्य मगवद्वचनस्य गणधरवचनस्य वाऽभेदोपचारादाप्तागमत्व ज्ञेयम्, आगच्छत्याचार्यपरम्परया वामनाद्वारेणेत्यागमः शासनद्वादशाङ्गपरपर्याय इति व्युत्पत्तेः । अभिहितञ्च-तत्त्वार्थविवरणे “ इदानींतनतदनुवादेऽप्यनूद्याभेदोपचारात्तथात् ” इत्यादि । नन्वेव तर्हि आगम्यन्ते मर्यादायाऽऽबुध्यन्तेऽर्था अनेनेत्यागम इति व्युत्पत्त्याऽऽप्तवचनाज्जात श्रोतुरर्थज्ञानमागम इत्यपि सिद्धान्ते गीयते, तत्कथमिति चेत्, उच्यते, मुख्यवृत्तिमाश्रित्यैव तत्रामिधीयते, अत्र तु श्रोतृज्ञानकारणत्वादाप्तवचनस्य तद्रूपद्रव्यागमे कारणे भावागमरूपकार्योपचार कृत्वैवागमत्व प्रोक्तमिति, अत एव तातपादश्रीवादिदेवधरिभिः—

“ आप्तवचनादाधिर्भूतमर्थसवेदनमागमः ॥ ४ । १ ।

उपचारादाप्तवचनञ्च ॥ ४ । २ । ” इत्युक्तमपि सङ्गच्छते ।

ननु मुख्यार्थबाधे उपचारः प्रयोजने सति क्रियत इत्यत्रोपचारप्रयोजन क्रिमिति चेत्, उच्यते, शिष्याणामरिच्छिन्ननिराषाधश्रद्धोत्पादनफलमेव लक्षणाधीजमिति जानीहि ।

नन्विदं शानम जिनप्रणीतमित्यत्र किं मानमित्यत आह—“ सिद्धत्वाण ” इति । सिद्धाः प्रमाणान्तरसमादतो निश्चिता येऽर्था नष्टमृष्टिचिन्तालालामालामसुखामसुखजीवितमरणग्राहोपरागमन्त्रीपधादयस्तेषामित्यर्थः, अत्र पष्ठ्यर्थः प्रतिपादकत्वम्, तत्र प्रकृत्यर्थस्य सिद्धार्थात्मिकस्य स्वनिष्ठप्रतिपाद्यतानिरूपितत्वमम्बन्धेनान्वयः, तस्य चाश्रयत्वमम्बन्धेन शासनेऽन्वयः, इदञ्च हेतुविधया विशेषणम्, तथा चेदं शानम प्रमाणान्तरसमादियथोक्तनष्टमृष्ट्यादिष्वर्था न्तरितदूरार्थप्रतिपादकत्वान्वयथानुपपत्तिहेतोर्जिनप्रणीतमेवाऽऽभ्युपगन्तव्यम्, यन्नैवम् तन्नैवम्, यथा परकल्पितदर्शनान्तरम्, न चात्र व्याप्तिनिश्चायकदृष्टान्तान्वेषणं कर्तव्यम्, श्रीमामकाभ्युपगतार्थापचाधिवास्मिन्ननुमाने माध्यमिण्येव व्याप्तिनिश्चयात्, न हेतुस्मपक्षमत्ररूपामात्रसद्वेतुर्न स्यादिति वाच्यम्, गर्भकत्वोपपत्तेर्वैद्याभ्युपगतस्य त्रिरूपस्य नैयायिकाद्यभ्युपगतस्य पञ्चरूपस्य च किञ्चित्करत्वात्, अत एव श्रीमद्वादिदेवधरिभिरमगवद्भिः

तच्छासनप्रतिपाद्यत्रामिन्द्राऽन्यूनानधिकाऽबाधिततत्रप्रतिपादकत्वेन रूपेण तच्चच्छा-  
 सनेऽस्मद्दामेदसूचकमेवेति, अत एव महनीयमान्यगणधरश्रीगीतमस्वामिप्रशोचररूप-  
 तत्त्वद्वयेषु मयैव नोच्यते किन्त्वर्थतोऽतीततीर्थकैरप्येव प्रोक्तम्, उपलक्षणन्यायेनानागत-  
 तीर्थकैरप्येव ब्रह्मपते चेत्येवमर्थसूचकं “ पञ्चत ” इतिप्रश्नश्रीमहावीरमगवता प्रोक्तमिति ।  
 “ जिगाण ” इत्यत्र शासनत्वावच्छिन्नस्य तच्चच्छासनस्य तच्चजिनप्रणीतत्वप्रतिपादनाय  
 बहुवचनमिति । ननु शासनपदार्थैकदेशे शासनत्वे सिप्रत्ययार्थैकत्वान्वये कर्त्तव्ये सति  
 “ पदार्थः पदार्थेनान्वेति न तु पदार्थैकदेशेन ” इति व्युत्पत्तिविरोधप्रसङ्ग इति चेत्,  
 तर्ह्येकदृष्टान्तद्वये सम्पन्नो ग्रीहिरित्यत्र च दीयतां दृष्टिः, उक्तदृष्टान्तद्वये पदार्थैकदेशे  
 सिप्रत्ययार्थैकत्वस्यान्वयाभ्युपगमात् । सम्पन्नो ग्रीहिरित्यत्रापि च सम्पन्नाश्रयानेक  
 ग्रीहिवेकत्वस्य चायेन ग्रीहित्व एव ग्रीहिपदोत्तरसिप्रत्ययार्थैकत्वस्यान्यस्वीकाराच्च ।  
 अथ तत्रापि स्वाश्रयवत्त्वसम्बन्धेन सिप्रत्ययार्थैकत्वस्य सिप्रत्ययप्रकृत्यर्थ एवान्यस्वीका-  
 रात्तोक्तव्युत्पत्तिविरोधप्रसङ्ग इति चेत् तर्हि प्रकृतेऽपीदृश्येव गतिरिति विभाष्यताम् ।  
 तथा चोक्तदृष्टान्तप्रत्येऽपि यथाक्रम स्वाश्रयप्रमाकरणत्वं-पदनाच्यत्व-ग्रीहित्वद्वारैव वस्तु-  
 गत्या नानाविधप्रमाकरणपदवाच्यग्रीहिवेकत्वस्याऽन्यस्वीकारवत् प्रकृतेऽपि स्वाश्रय-  
 शासनत्वद्वारैव परमार्थतस्तत्कालावच्छिन्नभिन्नभिन्नजिनप्रणीततच्चच्छासनेऽप्येकत्वस्यान्वय-  
 स्वीकारात्तत्र सर्वत्र निश्चितप्रामाण्योपपत्तेर्न काऽपि श्रुतिः । एतेन शासनत्वस्यात्राऽनुच्छिन्न-  
 मानजातिरूपस्यान्वयितावच्छेदकशासनत्वत्वरूपेणानुपस्थितेऽत्र न सिप्रत्ययार्थैकत्वस्या  
 न्वय इत्यप्यारेका निरस्ता, शासनत्वेन रूपेणोपस्थिते शासनपदार्थ एव स्वाश्रयस्वरूप  
 परम्परासम्बन्धेन तस्यान्वयस्वीकारादिति । अथ तत्केषामित्यत आह—“ जिगाण ” इति  
 जिगानामिति, रागद्वेषादिरूपानरातीन् जयन्ति समूलकाप कवन्तीति जिनाः, तेषाम्,  
 यथा कृष्णस्य कृतिरित्यत्र “ कर्तृकर्मणोः कृति ” २-३-६५ इति पाणिनीयसूत्रेण कर्त्तरि  
 षष्ठी तद्वच्छासनस्यापि कृदन्तत्वात्तद्योगे ‘ जिगानाम् ’ इत्यत्रापि कर्त्तरि षष्ठी, तथा च  
 षष्ठ्यर्थन्यायेपत्वसम्बन्धेन प्रकृत्यर्थजिगान्प्रतिपत्तस्य कर्त्तृत्वस्य निरूपकत्वसम्बन्धेन शासने  
 ऽन्वयाद्यथा कृष्णस्य कृतिरित्यस्य कृष्णनिष्ठकर्तृत्वानिरूपककृतिरूपार्थपर्यवसायि कृष्ण  
 कर्त्तृककृतिरित्यर्थः । तद्वद् जिगानां शासनमित्यस्य जिननिष्ठकर्त्तृत्वनिरूपक शासनमित्यर्थ  
 पर्यवसायि जिनकर्त्तृक शासनम्, अर्थतो जिनप्रणीत शासनमित्यर्थः । यद्वा जिगानामित्यत्र  
 सम्बन्धार्थे षष्ठी, सम्बन्धश्च कार्यकारणभावात्मकः, तथा च स्वनिष्ठकारणतानिरूपितकार्य-  
 त्वसम्बन्धेन जिनसम्बन्धि, जिनप्रणीतमिति यावत्, अर्थतस्तदुपदिष्टत्वादिति भावः ।  
 ननु “ सोऽङ्ग जिगणवरमत गणहारी काठ तक्खओवसम ” इति सूत्रकृताङ्गनिर्णय-  
 ष्मिधानाच्छ्रीतीर्थवरमगवद्भाषित “ उप्पजेइ वा विगमेइ वा धुवेइ वा ” इति मातृ-  
 रासप्रकृष्टभुतज्ञानावरणकर्मधयोपशमेन चतुर्दशपूर्वविदा श्रीगणधर

भगवता “ श्रीपद्वैमानात् त्रिपदीमवाप्य, गृहृत्तमात्रेण कृतानि येन । अङ्गानि पूर्वाणि चतुर्दशाऽपि, म गौतमो यच्छतु वाञ्छित मे ॥ १ ॥ इत्युक्तेर्गृहृत्तमात्रेण विनीतशिष्य सुखग्रहणगुणनधारणनिश्चयाद्यर्थं पद-त्राय-प्रकरणा-ऽध्याय-प्राभृतादिनिघतक्रमेण रचित द्वादशाङ्गयात्मकश्रुतमेव शासनमिति तस्य शब्दरूपतया पौद्गलिकत्वेन विशरा रुस्वमात्रत्वात्तदानीमेव विनष्टं तत् नैतावत्कालपर्यन्तं स्वरूपेण मत्तामनुभवितुमर्हतीति कथमिदानीं तदेवास्तीति श्रद्धेयमिति चेत् यद्यपि गणधरभगवता द्युरूपेण प्रथितं द्वादशाङ्गयात्मकं वचनमिदानीं नास्त्येवेति मत्पमेतत्, तथापीदानीं तदनुवादे श्रुतज्ञान-निधानाचार्यभगवदनुक्रमेण पुनः पुनस्तदुच्चारणात्मकेऽनूद्यस्व भगवद्वचनस्य गणधरवचनस्य वाऽभेदोपचारादाप्तागमस्व ज्ञेयम्, आगच्छत्याचार्यपरम्परया वामनाद्वारेणेत्यागमः शासनद्वादशाङ्ग्यपरपर्याय इति व्युत्पत्तेः । अभिहितञ्च-तत्रार्थविररणे “ इदानींतनतदनुवादेऽप्यनूद्याभेदोपचारात्तथात्त ” इत्यादि । अन्येन तर्हि आगम्यन्ते मर्पाद्याऽनुष्यन्तेऽर्था अनेनेत्यागम इति व्युत्पत्त्याऽऽप्तवचनाज्जात श्रोतुरर्थज्ञानमागम इत्यपि सिद्धान्ते गीयते, तत्कथमिति चेत्, उच्यते, मुख्यवृत्तिमाश्रित्यैव तत्रामिधीयते, अत्र तु श्रोतृज्ञानकारणत्वादाप्तवचनस्य तद्रूपद्रव्यागमे कारणे भावागमरूपकार्योपचार कृत्यैवागमस्व प्रोक्तमिति, अत एव सातपादश्रीवादिदेवसुरिभिः—

“ आप्तवचनादाचिर्भूतमर्थसत्त्वेदनमागमः ॥ ४ । १ ।

उपचारादाप्तवचनञ्च ॥ ४ । २ । ” इत्युक्तमपि सङ्गच्छते ।

ननु मुख्यार्थबाधे उपचार, प्रयोजने सति क्रियते इत्यत्रोपचारप्रयोजनं किमिति चेत्, उच्यते, शिष्याणामत्रिच्छिन्ननिराबाधश्रद्धोत्पादनफलमेव लक्षणाधीनमिति जानीहि ।

नन्विदं शासनं जिनप्रणीतमित्यत्र किं मानमित्यत आह—“ सिद्धत्वात् ” इति । सिद्धाः प्रमाणान्तरसमादतो निश्चिता येऽर्था नष्टप्रतिचिन्तालामालामसुखासुखजीवितमरणशोभोपरा-गमन्त्रौपधादयस्तेषामित्यर्थः, अत्र पप्रथर्थे, प्रतिपादकत्वम्, तत्र प्रकृत्यर्थस्य सिद्धार्थोक्त-कस्य स्वनिष्ठप्रतिपाद्यतानिरूपितत्वमम्बन्धेनान्य, तस्य चाश्रयत्वसम्बन्धेन शासनेऽन्यथा, इदञ्च हेतुविषया विशेषणम्, तथा चेदं शासनं प्रमाणान्तरसवादिष्योक्तनष्टप्रवृत्त्यादिसमा-न्तरितदूरार्थप्रतिपादकत्वान्यथानुपपत्तिहेतोर्जिनप्रणीतमेवाऽभ्युपगन्तव्यम्, यन्नैवम् तन्नैवम्, यथा परकल्पितदर्शनान्तरम्, न चात्र व्याप्तिनिश्चयकट्टणान्त्वेषणं रुच्यम्, मीमां-सकाम्युपगताथार्थविवास्मिन्ननुमाने माध्यधर्मिण्येष व्याप्तिनिश्चयात्, न चैवं तर्क्यं हेतुसप्तपक्षसत्त्वरूपामावात्सद्देतुर्न स्यादिति वाच्यम्, निश्चितान्यथाऽनुपपत्तिनियमादेव हेतोर्गमकत्वोपपत्तेर्बोद्धव्युपगतस्य त्रिरूपस्य नैयायिकाद्यभ्युपगतस्य पञ्चरूपस्य च तत्रा-किञ्चित्करत्वात्, अत एव श्रीमद्वादिदेवसुरिभगवद्भिः—निश्चितान्यथानुपपत्त्येकलक्षणो

हेतुरिति ॥ ३ । ११ ॥ न तु त्रिलक्षणकादिरिति ॥ ३ । १२ ॥ तस्य हेत्वाभासस्यापि  
सम्भवादिति ॥ ३ । १३ ॥ इति निष्टङ्कितं सङ्गच्छते । उक्तञ्च पात्रस्वामिनाऽपि—

“अन्यथाऽनुपपन्नत्व, यत्र तत्र त्रयेण किम् ।

नान्यथाऽनुपपन्नत्व, यत्र तत्र त्रयेण किम् ॥ १ ॥” इति ।

एतद्योगे विवेचयिष्यते । ननु जिनप्रणीतत्वात्तच्छासनं यथा निश्चितप्रामाण्यं तथा  
सुगतकपिलादिप्रणीतत्वादपि तच्छासनं तथाभूतं किञ्च स्यादित्याशङ्कानिवृत्त्यर्थमाह—यद्वा  
जिनशासनविपक्षभूतं यद्यच्छासनं तत्तद्गतप्रामाण्यनिरासे सत्येव तत्प्रामाण्यं निराबाधं निश्चीयेत,  
अनेकान्ततत्त्वप्रतिपादकजिनशासनप्रतिपक्षभूतश्चैकान्ततत्त्वप्रतिपादकं बौद्धकापिलादिशास्त्र  
मित्यतस्तत्प्रामाण्यनिरासपूर्वकतत्प्रामाण्यनिश्चयार्थं शासनविशेषणमाह “कुसमयविज्ञासणम्”  
इति । कुत्सिता प्रमाणबाधितैकान्ततत्त्वप्रतिपादकत्वेन समया बुद्धकपिलादिप्रणीत  
सिद्धान्ताः कुसमयाः, तेषां निशामनं विपरीतं शास्यते दृष्टेद्विषये विरोधाद्युद्धारकत्वेनाऽ  
प्रामाण्यं ज्ञाप्यतेऽनेनेति निशासनम्, कुसमयविशेष्यकाऽप्रामाण्यप्रकारक एते कुसमया  
अप्रमाणभूता इत्याकारकं यत्कुसमयेष्वप्रामाण्यज्ञानं तत्करणमित्यर्थः । तथा च बौद्धकापि  
लादिशासनं न निश्चितप्रामाण्यं दृष्टेद्विषये प्रमाणबाधितैकान्ततत्त्वप्रतिपादकत्वात्,  
यद्यद्वचनं दृष्टेद्विषये प्रमाणबाधितार्थविषयकं तत्तद्वचनं न निश्चितप्रामाण्यकम्, असम्बद्ध-  
प्रलाप्युन्मत्तवचनवत्, किन्तु प्रत्यक्षानुमानादिप्रमाणाबाधितमिच्छातत्त्वभावधर्म-  
विशिष्टवस्तुप्रतिपादकत्वात् शास्त्रावच्छिन्नकपिसयोगप्रकारकमूलान्च्छिन्नतदभासप्रकारक-  
वृक्षविशेष्यकप्रतिपक्षजनकशास्त्राच्छेदेन वृक्षः कपिसयोगी न तु मूलावच्छेदेनेति वाक्य  
वज्जिनशासनमेव निश्चितप्रामाण्यमभ्युपगन्तव्यम् । यद्वा ननु दूरान्तरितवृक्षमवादर्शयव  
हिताव्यवहिताद्याः सर्वेऽपि पदार्थाः कस्यचित्प्रत्यक्षा ज्ञेयत्वात्प्रमेयत्वाद्वास्तुत्वाद्वा घटादिव  
दित्यनुमानेन ज्ञानप्रकर्षतारतम्यं क्वचिद्विश्रान्तं तारतम्यत्वात् महत्परिमाणानुपरिमाणादि-  
प्रकर्षतारतम्यवदित्याद्यनुमानेन वा सर्वज्ञस्य सिद्धावपि सर्वज्ञ आगमकर्त्ता भवत्येव सर्वज्ञो  
विशिष्टमर्थेषुपदिशत्येवेति नियमासिद्धौ न सर्वज्ञत्वाकलिते पुरुषधारेये आगमप्रणेहृत्व  
सिद्धिपथमुपयाति, न च सर्वज्ञस्यागमप्रणेहृत्वसिद्धिमन्तरेण सर्वज्ञप्रणीतत्वमागमस्य  
प्रकृतस्य सिद्ध्यति, न च सर्वज्ञप्रणीतत्वमन्तरा निश्चितप्रामाण्यरूत्वलक्षणं स्वतः सिद्धत्वं  
मागमस्योपपत्तिपद्धतिमेति । यदि केनापि हेत्वन्तरेणागमप्रणेहृत्वमपि सर्वज्ञस्य सिद्ध्यत्येव  
तदा स हेतुरभिधातव्य एव केनचिद्वचनेन, ज्ञातस्यैव हेतोस्माद्यमाधनपटिष्ठत्वात्, तथा  
च तादृशहेतुत्परिकरशुद्ध्यादिप्रतिपादकवचनसन्दर्भलक्षणप्रकरणस्यापेक्षितत्वे तद्गुणावना-  
यासोऽनायासेनैव सिद्धः प्रतिपादनगौरवफलको न निरोद्धुं शक्य इति चेत्, सत्यं, प्रकारान्त  
रेण सर्वज्ञसाधने स्यादेवैष उपालम्भः, न त्वेवम्, किन्तु यस्य ज्ञासनविशेषलक्षणस्य वचनस्य

येन पुरुषघोरयेण करण तत्कर्तृकतया च प्रामाण्यं स पुरुषघोरयेस्तेनैव वचनविशेषेण लिङ्गभावमापद्यमानेन सर्वज्ञतया सिद्ध्यति, तथाहि अस्मदादिभिः पृथिव्या' काठिन्यादिकं साक्षात्कृत्य कठिना पृथ्वीत्यादि वचनमुच्चार्यते, न चास्मदादिकर्तारमन्तरेणैव तादृशवचनविशेष उपजायते, वैशिष्ट्यं चोक्तवचनस्य स्वविषयाविसवादित्वाऽऽलिङ्गपूर्वकत्वानुपदेशपूर्वकत्वानन्वयव्यतिरेकपूर्वकत्वधर्मः, तथाविधञ्चोक्तवचन स्वप्रतिपाद्यार्थमाक्षात्कार्यस्मदादिज्ञानप्रभव यथा तथा नष्टमुष्टिचिन्तालामालामसुखामसुखजीवितमरणग्रहोपरागमन्त्रोपघशक्त्यादीनां स्वस्वप्रतिनियतकार्यकारणत्वेन स्वस्वप्रतिनियतकारणकार्यत्वेन च प्रतिपादकप्रकृतशासनमपि स्वविषयाऽविसवादित्वाऽऽलिङ्गपूर्वकत्वानुपदेशपूर्वकत्वानन्वयव्यतिरेकपूर्वकत्वधर्मविशिष्ट स्वप्रतिपाद्यनष्टमुष्टाद्यर्थमाक्षात्कारिपुरुषघोरयेज्ञानप्रभवम् । अनुमानप्रयोगश्च यो यद्विषयाविसवाद्यलिङ्गानुपदेशानन्वयव्यतिरेकपूर्वको वचनविशेषः, स तत्साक्षात्कारिज्ञानविशेषप्रभवः, यथाऽस्मदादिप्रवर्चितः पृथ्वीकाठिन्यादिविषयस्तथाभूतो वचनविशेषः, नष्टमुष्टिविशेषादिविषयाविसवाद्यलिङ्गानुपदेशानन्वयव्यतिरेकपूर्वकवचनविशेषश्चाप्यंशामनलक्षणोऽर्थ इति । यथैव नष्टमुष्ट्यादयोऽर्थादशासने प्रतिपादितास्तथैव ते प्रमाणान्तरेणोपलभ्यन्त इति तत्प्रतिपादकस्य शासनस्याविसवादित्वात्, सम्यगर्थपरिज्ञानसामग्रीवैकल्यतो विसवाद आपाततः कस्यचित्स्फुरन्नपि नाविसवादप्रतिरोधी, तस्य शासनवचनाऽमत्यार्थत्वाप्रयुक्तत्वात् । चन्द्रैकत्वप्रत्यक्षस्य भ्रान्तद्विचन्द्रप्रत्यक्षेण त्रिसवादवत्, अतीन्द्रियैर्नष्टमुष्ट्यादिभिस्ममविनाभूतस्य लिङ्गस्याप्यस्मदाद्यक्षाविषयत्वाच्च लिङ्गप्रभवत्वमपि तत्प्रतिपादकशासनस्येत्यलिङ्गप्रभवत्वात्, यो हि लिङ्गमतीन्द्रिय साक्षात्कर्तुमीशः स नष्टमुष्ट्यादिकमपि साक्षात्कर्तुं समर्थ इति तत्साक्षात्कारिज्ञानप्रभवत्वेमेव तस्येति । उपदेशपरम्पराप्रभवत्वे चकतुरज्ञानदुष्टाभिप्रायवचनाकौशलादिदोषैः श्रोतुर्वा मन्दबुद्धित्वविपर्यस्तबुद्धित्वगृहीतविस्मरणत्वादिदोषैः प्रतिपुरुष हीयमानस्यानादौ काले मूलतश्चोच्छेदे एतावन्त कालमागमनमेव न भवेदत उपदेशपरम्पराप्रभवत्वादेवान्तराऽन्तरा त्रिच्छिन्नस्यापि नष्टमुष्ट्यादिप्रतिपादकस्यास्य सूक्ष्मादिपदार्थसाक्षात्कारिज्ञानवता पुरुषविशेषेणाभिव्यक्तस्यैतावत्कालमागमनमिति भवत्यनुपदेशपूर्वकत्वम्, अनियतदिकप्रमाणफलकालादीनां ग्रहोपरागादीनां रमकल्कादिभेदवत्, कर्पादिमात्राभेदतो बालमध्यमाद्यवस्थाभेदतो मूलपत्राद्यवयवभेदतो विभिन्नानेकयोगसम्पर्कज्ञानत्वविजातीययोगोपशमनशक्तिशालिनीनामौषधीनाञ्च शासनप्रतिपाद्यानामन्वयव्यतिरेकार्थ्या युगसहस्रेणाऽप्यसर्वज्ञैस्मदादिभिर्ज्ञातुमशक्यानां प्रतिपादकस्यास्य शासनस्यानन्वयव्यतिरेकपूर्वकत्वमपि सिद्धिपथमतस्तत्वेत्युपदेशितार्थनिरसद्यचनाभिप्रायान् क्षुरिराह—कुसुममयविसासणम् इति—अत्र ममयानां त्रिशासन समयत्रिशासन, क्षुरिव ममयविशासन कुसुममयविशासनमिति समासः, कुपदमत्र लक्षणया पृथिवीशामनार्थकम्,



समयपदञ्च सम्यक्प्रमाणान्तरात्रिसवादिस्त्वेनेयन्ते परिच्छिद्यन्ते इति समया इति व्युत्पत्त्या  
 प्रमाणान्तरात्रिसवादिपरिच्छेदविषयपरम्, ते च त्रिषयाः प्रकृते नष्टमृष्टिचिन्तालालामालाम  
 सुखामुखजीवितमरणग्रहोपरागमन्त्रौपधशक्त्यादयः, विशासनमित्यत्र विरुपमर्गश्च विविधा-  
 र्थकः, विविधञ्च प्रकृते अन्यपदार्थकारणत्वेनान्यपदार्थकार्यत्वेन चानेकप्रकारमित्येव स्वरू-  
 पम्, शाननपदञ्च प्रतिपादकपरम्, उपमानभूत पृथिव्याश्शाननञ्च पृथ्वीकाठिन्यादि-  
 प्रतिपादकचनविशेषरूपम्, उपमानोपमेयभूतयोः पृथ्वीशासनममयविशामनयोः मादृश्यञ्च  
 प्रकृते स्वविषयाविसाद्यलिङ्गानुपदेशानन्यव्यतिरेकपूर्वकस्वविषयसाक्षात्कारिज्ञानवि-  
 शेषप्रभन्त्वरूपमाधारणधर्माभ्याम्, तत्र पृथ्वीकाठिन्यादिप्रतिपादकचनविशेषे उपमान  
 भूतपृथ्वीशासने निरुक्तधर्मद्वय सिद्ध चादिप्रतिपादिनोः, उपमेयीकृते प्रकृतशामने तु  
 पूर्वोक्तयुक्त्या स्वविषयात्रिसवाद्यलिङ्गानुपदेशानन्यव्यतिरेकपूर्वकत्वं सिद्धम्, स्वविषय  
 साक्षात्कारिज्ञानविशेषप्रभन्तन्तु विप्रतिपन्नम्, तदपि सिद्धेनोक्तधर्मेण स्वाधिनाभूतेन  
 मिध्यत्येवेति गाथासूत्रायवेन 'कुममयत्रिसामण'मित्यनेन सुसूत्रितम्भन्त्यवतरणोपदर्शित  
 मर्थनिकुरन्त्वमिति । अथ " कर्म-क्लेश-त्रिपाकाशयैरपरामृष्ट पुरुषविशेष ईश्वरः " [योगद०  
 पा. १, सू. २४] इति सूत्रोक्तलक्षणलक्षित "ज्ञानमप्रतिष यस्य, ऐश्वर्यञ्च जगत्पतेः ।  
 वैराग्यं चैव धर्मञ्च, सह सिद्धं चतुष्टयम् ॥ १ ॥" इत्यभिद्युक्तोक्त्यनुसारिस्वभावात्सिद्धज्ञानै  
 श्वर्यवैराग्यधर्मैतच्चतुष्टयत्रिष्टिष्ट ईश्वर एव शासनप्रणेता, तेनानादिसर्वज्ञेन सर्वजगत्सष्ट्या  
 प्रणीतस्याच्च तत्प्रमाणम्, न तु रागद्वेषादीन् शत्रून् जितवन्त इति जिना इति व्युत्पत्ति  
 सिद्धलक्षणलक्षितः सामान्ययोगी तत्प्रणेतेति ये पातञ्जलनैयायिकादयो मन्यन्ते तन्मत  
 निरासायाह- 'भवजिणाण' भवजिनानाम् । भवन्ति नारक-तिर्यग्-नरामरपर्यापत्वेनोत्पद्यन्ते  
 प्राणिनोऽस्मिन्निति भवः समारः, तद्धेतुत्वाद्वागद्वेषादयो भवशब्देनोपचाराद् विवक्षिताः,  
 तान् जितवन्त इति भवजिनास्तेषाम्, उपचाराश्रयणे किं वीचमिति चेत्, उच्यते, न ह्यवि-  
 कलकारणे रागादान्धस्ते उत्कार्यस्य समारस्य जयः शक्यो विधातुमिति प्रतिपादनमेव ।  
 यतो दृढतमनिरन्तराभ्यस्तानित्यत्वादिद्वादशभावनान्यात्मकेन रागादिजयोपायेनैव पुरुष  
 विशेषे निश्शेषरागादिजयस्स्यात्, न तु स्वभावत एव, न ह्युपायव्यतिरेकेणोपयसिद्धिः,  
 अन्यथोपेयस्य निर्हतकत्वेन देशकालस्वभावात्प्रतिनियमो न स्यादिति सर्वप्राणिनामीश्वरत्वं  
 न वा कस्यचित्स्यात् । तदुक्तं धर्मकीर्तिनाऽपि—

“ नित्यं सत्यमसत्त्वं वा, हेतोरन्यानपेक्षणात् ।

अपेक्षातो हि भावानां, कादाचित्कत्वसम्भवः ॥ १ ॥ ” इति

तत्र रागादिक्लेशविगमः स्वभावात् एवेश्वरम्येति युक्तमिति । अथ यस्य देशतः क्षयो  
 दृश्यते तस्य सर्वधाऽपि क्षयः, दिनकरनिकरनिरोधरुननीननीरदमालावत्, देशतो रागादि-

क्षयो दृश्यते तत्तत्पुरुषेभिरिति सर्वथाऽपि कस्मिंश्चिदपि पुरुषधारीये रागादिक्षयस्मम्भाव्यत एवेति यः पुमान् पूर्वं रागादिमान् स्यात् तस्मिन्नुक्तोपायेन तद्विगमो युक्त एवेति को न स्वीकुरुते ? अत्रस्य सहेतुकत्वात्, पुरुषविशेषे ईश्वरे तु सर्वथा रागात्यन्ताभाव एव, न तु पूर्वं रागः पश्चात् तद्वत् इति रागत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकात्यन्ताभावस्यानादिसिद्धस्य तत्र कालत्रयेऽपि सत्त्वे बाधकाभाव एव, रागादिकालीनत्वाभावविशिष्टेश्वरात्मकतदीयस्वरूप सम्बन्धस्य सत्त्वेन सम्बन्धिनोऽत्यन्ताभावस्यापि तत्र सत्त्वात्, तादृश एव कर्मकलेशाद्य भावः पूर्वोक्तपातञ्जलसूत्रे अपरामृष्टपदेन त्रिवक्षितः, न तु कर्मकलेशादिध्वमरूप इति चेत्, मैत्रम्, ईश्वरात्मकस्य धर्मिण एवासिद्धौ तद्वर्माणं तादृशरागात्यन्ताभावादीना सुतरां कल्पयितुमशक्यत्वात् । विमत क्षित्यङ्कुरादिक सरुचूर्कं कार्यत्वाद् घटवदित्यनुमानेनेश्वर धर्मिसिद्धिरिति चेद्, यदि कार्यत्वेन हेतुनेश्वरस्माद्येत तर्हि तस्य रागादिदोषस्त्वमपि स्यादेव, दृष्टानुसारिणी कल्पना न तु यथा कल्पना तथा तत्रव्यवस्था, कल्पनाया निरङ्कुशत्वेन तत्राऽव्यवस्थाप्रसङ्गादित्यर्थकेन दृष्टानुसारिणी हि कल्पना न तु कल्पनानु सारिणी दृष्टिरिति न्यायेन सर्वस्य कुम्भकारादेः कर्तृदापप्रस्तस्यैव दृष्टत्वेनेश्वरस्यापि तद्वत् एव सिद्धेः, यो यो विपमकारी स स दोषवानिति व्याप्तिमूलकात् 'ईश्वरो दोषवान् विपम- कार्यकारित्वात् अस्मदादिवदित्यनुमानादपि हीनमध्यमोत्तमभावेन प्राणिभेदान् विदधति त्वन्मतसिद्धे ईश्वरे रागद्वेषादिदोषत्रयसिद्धेश्च, न चोक्तानुमाने ईश्वर एव व्यभिचार इति वाच्यम्, यतः पक्षीभूते तत्र न व्यभिचारप्रदर्शनं युक्तम्, पक्षे पक्षसमे वा न व्यभिचार इत्यपि युक्तोक्तेः । व्यभिचारस्यलान्तरन्तु नास्त्येव । दोषवत्येव विपमकार्यकारित्वस्य लोकेऽनुभूयमानत्वेन दृष्टविरुद्धकल्पनाया अप्रामाणिकत्वेनात्र व्यभिचारशङ्काऽपि न युक्ति- युक्तेति । न चात्र पर्वतो वह्निमान् धूमात् महानसवदित्यनुमानाद् वह्निसिद्धौ पक्षधर्मता बलाद् यथा पर्वतीयस्यैव वह्नेस्सिद्धिस्तथोक्तानुमानादपीश्वरसिद्धौ पक्षधर्मताबलान्निर्दोष स्यैवेश्वरस्य सिद्धिस्स्यादिति तेन न रागादिदोषवत्त्वस्य प्रसङ्ग इति शङ्क्यम्, क्षित्यङ्कुरादि- रूपे पक्षे ईश्वरमात्रसाधनेनैव तस्यानुमानस्य चरितार्थत्वेन तत्र निर्दोषत्वादिधर्मस्यापि साधने उदासीनत्वात्, पर्वते वह्न्यनुमानस्य पक्षधर्मताबलात्पर्वतीयवह्निमाधकत्वेनैव चरितार्थत्वा- च्छ्रुतोष्णत्वादिधर्मसाधने उदासीनत्ववत्, न चोत्कर्षसमा जातिरियम्, सा च साध्याऽव्या- पकस्य दृष्टान्तगतस्य धर्मस्य पक्षे आपादनलक्षणा, यथा शब्दोऽनित्यः कृतकत्वादित्यत्र कृतकत्वहेतुना यदि घटवच्छब्देऽनित्यत्र साध्येत तर्हि तेनैव हेतुना शब्दे सायवत्त्वमपि स्यात्, अत्रानित्यत्वापेक्षया सावयवत्वस्याऽव्यापकत्वम्, गन्धादावनित्यत्वस्य सत्त्वेऽपि सावयवत्वाऽभावात्, तथाऽत्रापि सकर्तृकत्वापेक्षया दोषवत्कर्तृकत्वस्याप्यव्यापकत्वमेव, क्षित्यादौ सकर्तृकत्वस्य सत्त्वेऽपि दोषवत्कर्तृकत्वस्यामानात्, तस्यैव च दोषवत्कर्तृकत्वस्य क्षित्यङ्कुरादौ भवताऽऽपाद्यमानत्वादिति वाच्यम्, निर्दोषस्य कर्तुः क्वचित्सिद्धौ सत्यामेव

दोषवत्कर्तृकत्वस्य सकर्तृकत्वाऽव्यापकत्वमपि सम्भवेत्, तदेव तथापि न वयचित्सिद्ध, सर्वस्य कर्तृदोषवत् एव दृष्टिगोचरत्वादिति दोषवत्कर्तृकत्व सकर्तृकत्वव्यापकमेवेति व्यापकधर्मापादनादुक्तलक्षणाया उत्कर्षसमाया जातेरत्राप्रारम्भे, रागाद्वेपादिदोषाभावे तत्र सदोषत्वव्याप्यविषयमर्तृत्वमपि न स्यात्, व्यापकाभावे व्याप्याभावस्यावश्यम्भावात् । प्राणिगतविषयधर्मप्रेरित ईश्वरो विषयफलान् प्राणिनः करोति, न स्वेच्छयेति विषयफलकारित्वेऽपि न सदोषत्वप्रसङ्ग इत्यपि न च वाच्यम्, जडस्य कर्मणः प्रेरकत्वाऽयोगात्, न चेश्वरप्रेरित कर्म ईश्वरस्य प्रेरकमिति वाच्यम्, कर्मेश्वरयोः प्रवर्च्यप्रवर्चयितृत्वे इतरेतराश्रयदोषप्रसङ्गात्, अथातीतकर्मणा प्रेरित ईश्वरो वर्चमान कर्म तत्फलाय प्रेरयतीत्यनादित्यात् प्रेष्यप्रेरकभावस्य नानुपपत्तिरित्यपि नाशङ्कनीयम्, यतोऽतीतकर्मणोऽपि जडत्वान्नेश्वरप्रेरकता, न च तदपीश्वरेण प्रेरित सदीश्वर प्रेरयतीत्यपि वाच्यम् उक्तान्योन्याश्रयप्रसङ्गात् । अथ ततोऽप्यतीतकर्मप्रेरितेश्वरप्रेरित तदेवेश्वर वर्चमाने कर्मणि फलदानाय प्रेरयतीति चेत्, न, मानहीनाया मूलक्षयावहाया अननस्थायाः प्रसङ्गात् । किञ्चेश्वरस्य कर्मप्रेरितत्वाभ्युपगमे कर्माधीनप्रवृत्तिकस्त स्यादिति तस्य कर्मपरतन्त्रत्वापत्त्या स्वतन्त्रतैव हीयेत, एवञ्च रथ्यापुरुषवदनीशतैव स्यात् । किञ्चेश्वराभ्युपगमोऽप्यत्र पक्षे न घटते, यतः कर्मैव तत्कालक्षेत्राद्यपेक्षतत्फलप्रदानोन्मुख विचित्रां त्रिलोकीं करिष्यति । नन्वचेतनचेतनानधिष्ठित न क्रियाया प्रवर्त्त इति नियमात्कर्मप्रेरितेश्वरप्रेरितमेव कर्म विविधकार्यकरणे समर्थ नान्यथेति चेत्, भैवम्, उक्तनियमे प्रमाणाभावात् । यत्तु फलदाने ईश्वरस्य कर्म निमित्तमात्रम्, न प्रेरकमिति नोक्तदोष इति, तदपि न विद्वन्मनोरञ्जकम्, तत्तत्राणि मिस्तत्तद्विषयकर्मणि कारयितुरीश्वरस्य रागादिदोषवत्त्वानपायात्, पूर्वकर्मापेक्षया कर्म कारयितृत्वे चोक्ताऽप्रामाणिकाऽननस्थादोषतादवस्थ्यात् । अपि च न हि कश्चिददोषप्रयुक्तः स्वार्थं परार्थं वा प्रवर्त्तमानो दृश्यते, स्वार्थं प्रवृत्त एव च सर्वो जनः परार्थेऽपि प्रवर्त्तते, तथा च ईश्वरः स्वार्थरागादिमान् प्रवर्त्तकत्वात् मम्मत्पुरुषप्रदित्यनुमानेन रागादिभ्यः सिद्ध्यति, तत्सिद्धौ चेश्वरस्याऽनीश्वरत्वप्रसङ्गः । न चोक्तानुमाने कारुणिके व्यभिचार इति वाच्यम्, परदुःखप्रयुक्तस्वदुःखनिवृत्त्यर्थित्वात्तस्य । तथा च कारुणिके स्वदुःखनिवृत्तिरूपस्वार्थसद्भावेन व्यभिचारो नेति भावः । अथोदासीन एवेश्वर प्रवर्त्तक इति तु व्याघातदोषप्रस्तत्वान्नेन युक्तम्, एतेन क्रीडायै ईश्वरो जगत्पर्जने प्रवर्त्त इत्यपि निरस्तम्, क्रीडायाः सदोषत्वव्याप्यत्वेन तदर्थं प्रवर्त्तकत्वे तस्य सदोषत्वप्रसङ्गात्, या या क्रीडा सा सा दोषजन्येति व्याप्यापीश्वरक्रीडाभिन्नत्वे सतीति विशेषणदानमप्यद्यापीश्वराऽसिद्धयाऽसम्भवदुक्तिरुम् । क्रीडायां जन्यत्वविशेषणमपि नोचितम्, इतरावारकत्वात्, तन्निवर्त्त्याया नित्यलीलाया अद्यापीश्वराऽसिद्धेश्वरसिद्धत्वात् । एतेनेश्वरः करुणयैव प्रवर्त्त इत्यपि पक्षो निरस्तः, यतः कारण्यामृतपूरणवित्तसोऽनुपमसुखाभिममान् प्राणिनो विदध्यात्, न तु विविधाधि-

न्याधिदुःखामिभूतान्, यदभिहितम् “सृजेद्य शुभमेवैकमनुरुम्पाप्रयोजितः” इति ।  
केपाञ्चिजन्तूनां परमसुखमावत्त्वेन केपाञ्चिच्चातिदुःखमावत्त्वेनोत्पादने त्रिपमप्रवृत्तिप्रमङ्गतः  
कारुण्य नाममात्रावशेष स्यात् । उक्तञ्च स्याद्वादरत्नाकरे—

“क्षुद्रग्रामे निवास’ कचिदपि सदाने रौद्रदारिद्र्यमुद्रा,  
जाया दुर्दर्शकाया कटुरटनपट्ट पुत्रिकाणां सवित्री ।  
दुःखामिमेष्यभावो भवति भवभृतामत्र येषां यतैतान्,  
शम्भुर्दुःखैकदग्धान् सृजति यदि तदा स्यात्कृपा क्षीदृगस्य ? ॥१॥” इति

अत एवेश्वरस्यापरम्पारलीलेति तयैव जगत्सर्जने प्रवर्षत इत्यपि वार्चम्, लीलाया  
दोषविलामरूपत्वेन दोषाक्रान्तत्व स्यात्तस्य, रवेर्जगत्प्रकाशने स्वभाववदीशस्य स्वमावादेव  
जगत्सृष्टौ प्रवृत्तिरित्यपि न विद्वन्मनोरञ्जकम्, यत् ईश्वरे न स्वभावः प्रतिनियतदेशकाला  
घधिकरणकप्रतिनियतस्वस्वामाधारणधर्मविशिष्टकार्यजननात्मक एवाभ्युपगन्तव्यः । अन्य  
थाऽनियतदेशकालकार्योत्पत्तिप्रसङ्गः कथमुद्दरणीयस्स्यात्, तादृग्स्वभावो विचित्रविपाके  
तत्तत्प्राणित्रिभिर्धर्मण्येवाऽभ्युपगम्यताम् । तथा च चेतनानधिष्ठितेनापि तत्तत्तत्कर्तृकेन  
कर्मणैव तत्तत्स्वभावबलाधिलोकीकार्यं भविष्यतीति किमीश्वरकल्पनापरिच्छेदेनेति । एतेने-  
श्वरस्य यथेच्छ जगत्सृष्टौ प्रवृत्तिरित्यपि निरस्तम्, इच्छाया मोहजन्यत्वेनेश्वरे रागादिमन्त्र  
स्यात् । जगद्विधायकेश्वरनिश्चय विस्तरणास्मत्कृततत्त्वार्थविकरणटीकार्या विहितमिति  
तत् एव तद्विस्तरार्थिनाऽवलोकनीयम्, ग्रन्थगौरवमीत्या नेहाधिक प्रपञ्चयत इति, तदन  
लोके रागादिमन्त्र एव कर्तारो दृष्टा इति तादृशस्यैव जगत्कर्तुरीश्वरस्य मिद्विस्स्यादिति  
तस्य विपक्षभावनाम्पासेन रागादिजये मत्स्येव शासनप्रणेतृत्व सिद्ध्यति, नान्यथेति भवः  
ससारः तद्धेतुत्वाद्वागादिक जितयन्त इति भजजिना इति सिद्धम् । “भजजिनानाम्”-  
इत्यत्र भवे चिना’ भजजिनास्तेषाम्, लुप्तमत्तम्या आधेयत्वार्थकत्वेन भवस्थजिनानाम्  
भवस्थकेरलिनाम्, यद्वा भवे वर्तमाना भववर्चमानाः, भववर्चमानाश्च ते जिना भवजिना  
इति मध्यमपदलोपिसमास्तपामित्यप्यर्थो ज्ञेयः । अथ यद् यस्य कारण तद्विपक्षसेवनेन  
सर्वथा तन्निवृत्तौ तत्कार्यस्याप्यभारः, यथा विकृतिभावापन्नश्लेष्माद्यात्मककारणस्य तद्वि-  
पक्षौपघोषचारतः सर्वथा निवृत्तौ तत्कार्यभूतविशिष्टशिरोऽर्थाद्यभारः तथा भवकारणस्य  
रागादेस्तद्विपक्षदृष्टानस्थापन्नसुविशुद्धाऽप्यात्मभावनातस्मर्वथा निवृत्तौ तत्कार्यभूतस्य भव-  
स्याभावस्स्यादिति तच्छ्रवणमुक्त्यवाप्तौ मत्या सर्वथा रागादिनिवृत्तिलक्षणरागादिजयवता  
जिनानां शासनप्रणेतृत्वानुपपत्तिः, मुक्त्यवस्थायां जिनानामशरीरत्वेन शासनस्य च  
शब्दात्मकत्वेन तत्कारणताल्लादिसयोगादेरभावात्, अथ सर्वथा रागादेर्न निवृत्तिरिति  
मुक्त्यवाप्तेः प्रागेव जिनानां शासनप्रणेतृत्वान्नोक्तदोष इति चेत्, तर्हि रागलेशाच्छिष्टत्वेन

तेषां सर्वथाऽऽप्तत्वं नेति तत्प्रणीतशासनस्य नेकान्तिकं प्रामाण्यं स्यात्, कपिलादि-  
प्रणीतशासनस्यैवेत्याशङ्क्याह सूरिः—“ठाणमणोवमसुहमुत्तमयाण” इति । अयम्भावा-  
घात्यघातिभेदेन कर्म द्विविधम्, तत्राद्यस्य ज्ञानावरणीयादिभेदेन चतुर्विधस्याऽऽत्मीया  
नन्तज्ञानादिवत्तुष्टयावारकस्य मध्ये क्षपकश्रेणिमारुह्य शुक्लध्यानस्य—

“सविआरमत्थयजण-जोगतरओ तय पढमसुक्क ।

होइ पुहुत्तविअक्क, सविआरमरागभावस्स ॥ ८० ॥” इति ॥

ध्यानशतकग्रन्थसत्काशीतितमगाथोक्तलक्षणेन पृथक्त्ववितर्कमविचाराख्याद्यभेदेन  
प्रायः पूर्वघरनिषेव्येण निशेषमोहनीयकर्मणोऽचिन्त्यसामर्थ्यस्य महाशैल्युपोपमस्य ध्ये  
कृते तदनन्तरं तस्य ।

“ज पुण सुनिप्पकप, निवायसरणप्पईवमिध चित्त ।

उप्पायट्टिहभगा-इयाणमेगम्मि पज्जाए ॥ ८१ ॥

अधियारमत्थयजण-जोगतरओ तयं विइयसुक्क ।

पुव्वगयसुआलवण-मेगत्तविअक्कमधियार ॥ ८२ ॥”

इत्युक्तलक्षणेनैकत्रवितर्काऽनिचाराख्यद्वितीयभेदेनाकपायलक्षणस्थरीतरागगुणस्थानभू-  
मिकेन क्षीणमोहगुणस्थानान्त्यसमये ज्ञानावरणादिघातिकर्मत्रये युगपत्क्षपिते सति तदनन्तरं

“सुक्कज्झाणाइ दुगघोलीणस्स ततियमपत्तस्स एताए ।

आणतरियाए वट्टमाणस्स केवलनाण स्समुप्पज्जइ ॥ १ ॥”

इति सिद्धान्तवचनाद् ध्यानान्तरकाले सयोगिगुणस्थानकाद्यसमयेऽनन्तज्ञानादिवत्  
ष्टयावाप्तावपि द्वितीयभेदरूपाघातिकर्मणो भरोपग्राहिणो यावत्स्थितिस्तावन्न शरीरनिष्ठिः,  
अत एव न मुक्तिः, जघन्यतोऽन्तर्गृह्यत्तंभुत्कृष्टतो देशोना पूर्वकीटिं यावत् केरलिमगवतां  
मव्यजनप्रतिबोधनार्थमस्खलत्प्रवृत्तिभावात्, ततः परं ।

“निव्वाणगमणकाले केवल्लिणो दरनिकट्ठजोगस्स ।

सुहुमकिरियाऽनिअट्ठिं, तइयं तणुकायकिरियस्स ॥ ८३ ॥” इति

इति ध्यानशतकवचनात्त्रयोदशगुणस्थानकान्त्यान्तर्गृह्यत्तंकाले मुक्तिमाधात्कारणस्य  
शुक्लध्यानस्य घृक्षमक्रियाऽनिवृत्त्याख्यद्वितीयभेदे तेन भगवता ध्याते सति तदनन्तरं

“हस्सक्खराइ मज्झेण जेण कालेण पच भण्णन्ति ।

अत्थइ सेलेसिगओ तत्तियमेत्तं तओ काल ॥”

विशेषावश्यकामध्यवचनात् अ इ उ ऋ लृ पचह्रस्वस्वरकालमानचतुर्दशाऽयोगिगुणस्थानके

तस्सेव य सेलेसि, गयस्स सेलेसु व निप्पकपस्स ।  
 बुच्चिन्नकिरियमप्पडि-वाइ ज्ञाण परमसुक ॥ ८४ ॥

इति ध्यानशतकग्रन्थवचनात् “ बुच्चिन्नकिरियमप्पडिवाइ सेलेसिकालम्मि ” । ३०६९ ।  
 इति विशेषावश्यकमाप्यवचनाच्च सर्वयोगनिरोधाद्द्वैतशैलेशीकाले व्युपरतक्रियाऽप्रति-  
 पास्याख्यचतुर्थमेतदेनाशेषमवदुःखविटपिदावानलकल्पेनाशेषमवोपग्राहिकर्मक्षये कृते सत्येव  
 तस्य मगवतो मुक्तौ गमनमिति मत्रोपग्राहिकर्मकार्यभूतशरीरमुखादेर्मवस्थमयोगिजिने सद्-  
 भावेन न तस्य शासनप्रणेतृत्वानुपपत्ति, न वा रागादिलेशसद्भावाभावादाप्तत्वक्षतिरिति  
 नाप्तमुख्ये शासनप्रणेतरी जिने अयथार्थवाक्यकारणस्य मिथ्याज्ञानस्य सर्वथैव निवृत्तेस्त-  
 त्प्रणीतशासनस्याऽप्राप्त्यप्यपीति । अवयवार्थस्त्वेवम्-तिष्ठन्ति सकलकर्मक्षयावाप्ताऽनन्त-  
 ज्ञानमुख्यरूपाध्यामिताश्शुद्धात्मनोऽस्मिन्निति स्थान लोकाग्रलक्षण त्रिशिष्टक्षेत्रम्, न त्रिघते  
 उपमा इन्द्रियविषयाद्यनपेक्षतया स्वाभाविकात्यन्तिकत्वेन सकलव्यावाधारहितत्वेन च  
 सर्वसुखातिशायित्वाद्यस्य तदनुपमम्, अनुपम सुखमखण्डानन्दरूप यस्मिंस्तत् तथा, तत्  
 ‘उप’ इति कालसामीप्येन गतानाम् प्राप्तानाम् । यद्वा ‘उपोढः प्रकर्षेण प्राप्नो रागो येन  
 स उपोढराग, तेन इत्यर्थक ‘उपोढरागेण’ इति यद्वाक्य तद्गतोपशब्दवत् ‘उप’ इति उप-  
 सर्गोऽत्र प्रकर्षवाची, तेन स्थानमनुपमसुख प्रकर्षेण गतानामिति । यद्यपि वेद्यमानतीर्थकर-  
 नामकर्मादिमद्भावेन भवजिनमगवन्तो लोकाग्रलक्षण त्रिशिष्टस्थान न समुपागतास्तथापि  
 “ परार्थे प्रयुज्यमानाः शब्दा वतिमन्तरेणापि तमर्थं गमयन्ति ” इति न्यायादनुभूयमान  
 तीर्थकृन्नामकर्मलेशसद्भावेऽपि तद्गता इव गता इत्युक्ता, तेषाम्, तेन शासनप्रणेतृत्व-  
 तस्याभवस्थाया तेषामुपपन्नमेव ” यद्वा तिष्ठत्यनवस्थाननिबन्धनकर्माभावेन सदाऽऽस्थितो  
 भवति स्वात्मा यत्र तत्स्थानम्, व्यवहारनयतो लोकाग्रलक्षण सिद्धिक्षेत्र “ वत्थु वसइ  
 सहावे सत्ताओ चेषणा व जीवम्मि ” इति वचनाच्चिश्चयनयतः क्षीणकर्मणो जीवस्य  
 यथावस्थितस्वरूप “ इय सिद्धाण सोकरत, अणोऽम नत्थि तस्म ओवम्म ” इति सिद्धा-  
 न्तवचनात्तदनुपममुपमातीत प्रकर्षेणापुनरावृत्त्या गतानां प्राप्तानामिति । एतेन

“ ज्ञानिनो धर्मतीर्थस्य कर्तारः परम पदम् ।

गत्वाऽऽजाच्छन्ति भूयोऽपि, भव तीर्थनिकारतः ” ॥१॥ इति

“ यदा यदा हि धर्मस्य, ग्लानिर्भवति भारत । ।

अभ्युत्थानमधर्मस्य, तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥ १ ॥ ”

इति च कपाञ्चिनत निरस्तम्, धीजे दग्धे अङ्कुराभाववच्छुक्लव्यानाग्निनाऽखिल  
 कर्मणि दग्धे कर्मरूपकारणामावेन भगवन्नात्मरूपायांभावात् । उक्तञ्च—

“ न पुणो तस्स पसूहं, वीयाभावादिहकुरस्सेव ।

धीय च तस्स कम्म, न च तस्स तय तओ निच्चो ॥१॥ ” इति

किञ्चेह तदागमन रागादिसद्भावे मत्थेव भवेत्, नान्यथा, तथा चानुन्मूलितरागादि-  
दोषत्वात्तद्वचसोऽप्राप्त्याप्यमेव स्यात्, अथोन्मूलितमर्वथारागादिदोषो मुक्तात्मेति चेत्,  
तर्हि कुतः पुनस्तदागमनमिह, कारणीभूतरागाद्यभावेन तत्कार्यागमनानुपपत्तेः । अत एव  
“मुक्ताः सर्वत्र तिष्ठन्ति, व्योमवत्तापयर्जिताः” इति पररूपितमतमपि निरस्तम्, यद्देशा  
वच्छिन्नयद्गुणोपलब्धिसम तत्परिमाणनियतपरिमाणकः, यथा कपालद्वयावच्छि-  
न्नोपलभ्यमानगुणको घटः कपालद्वयपरिमाणनियतपरिमाणकः । शरीरात्मकदेशावच्छेदे-  
नैवानुभूयमानबुद्ध्यादिगुण आन्मेति स तत्परिमाणनियतपरिमाणनित्यनुमानेन आत्मा  
स्वकर्मनिरूपितप्रतियोग्यनुयोगिभाजमस्वन्धाश्रयकृतशरीराजगाहकनभःप्रदेशमह्वयासमव्या-  
प्तसद्दूरुयाकनभःप्रदेशाऽऽगाहनाकः स्वशरीरावच्छिन्नमोगवत्त्वात्, यच्चैव तन्नैव यथा घटः,  
इत्यनुमानदृष्टीकृतपर्यवमन्नस्वरूपेणाऽऽत्मनो व्यापकत्वाभासिद्धिरित्यव्यापकस्य तस्या  
ऽऽतपशुष्कवीजकोशबन्धनविनिर्माकप्रयुक्तोर्ध्वगमनस्वभावैरण्डनीवद् घनमृत्तिकाएलेप-  
सम्बन्धपरित्यागप्रयुक्तजलोपरिगतिस्वभावानालायुञ्च सर्वकर्ममङ्गपरिमुक्तस्योर्ध्वगमनस्वभा-  
वत्त्वेन “ जत्तियाइ जीगे ओगाहो जत्तियाए चेव फुसमाणो मच्छइ ” इत्यादि सिद्धान्तोक्त  
प्रकारेण लोकाग्रस्थानगतस्थानवस्थितिकारणकर्माऽभावेन सर्वदा तत्रैवाऽऽवस्थानादिति ।  
अथवाऽऽच्छेदकतासम्बन्धेनाऽऽत्मविशेषगुण प्रति तादात्म्यसम्बन्धेन शरीरस्य कारणत्वेन  
तदभावात्त मुक्तौ तदुत्पत्तिरित्येषविशेषगुणात्यन्तोच्छेदलक्षणात्ममुक्त्यभ्युपगन्तुर्नैयायिक  
मतनिरासार्थमाह धुरिः “ ठाणमणोत्तमसुहम्मज्जयाण ” इति । स्थितिः—स्थान  
स्वरूपप्राप्तिः, तदनुपमसुखम् ‘ उप ’ इति सकलकर्मक्षयानन्तरमव्यवधानेन गतानां  
प्राप्तानाम्, अनेकान्तभाजनाजनितनिखिलजगत्तत्त्वविषयककेवलज्ञानोपबृंहितशैलेश्यस्या-  
चरममयोपजातनिखिलवेदनीयकर्मक्षयानिर्भूतमनन्तसुखस्वभावात्मनः कथञ्चिदन्यभूत  
स्वरूप प्राप्तानामिति यावत् । यो यो गुणो येन येनात्रिपते तत्तन्नाशे सति म म  
आविर्भवति, यथा रविप्रकाशगुणो मेघेनाद्धतस्मर्वथा तन्नाशे सति सर्वाशनिरावृतः प्रकटी  
भवति तथाऽऽत्मीयानन्तसुखरूपपरमानन्दगुणोऽपि पात्रन्न शक्तिस्त्वाद्भेदनीयकर्मणाऽऽ-  
वृतस्वभावस्पर्शाखिलवेदनीयकर्मक्षये मुक्तौ सत्यां सत एव सर्वाशप्रकाशीमतीति तल्ल  
क्षणेव साऽभ्युपगन्तव्या, यतस्सबचन्दनप्रतितादिभोगोपमोगजन्यव्यावहारिकसुख प्रत्येता-  
त्मनः सयोगादेः कारणत्वेन मुक्तौ तदभावात्तदभावेऽपि न पारमार्थिकानन्दसुखस्याप्यभावः,  
तस्य निराधरणात्ममात्रजन्यत्वात् । न च पश्चादपि तस्य विनाशः, तद्विरोधशुत्तरविशेष  
गुणाभावेन नाशकहेत्वभावात् । न चैव तर्हि तन्मोत्पादक्ययधौष्यलक्षण सत्त्वं न स्या  
दिति वाच्यम्, स्वरूपतो धौष्यम्, प्रतिक्षणमेदेन पूर्वपूर्वक्षणविशिष्टस्य तस्य विनाशः

उत्तरोत्तरमयोत्पत्त्या तद्विशिष्टस्य तस्य चोत्पत्तिरित्येवमुत्पादव्ययध्रौव्यलक्षणस्य मन्त्र-  
स्याऽक्षते, “पद्गुणहानिवृद्धिभ्यां, यथाऽगुरुलघुस्तथा। पर्यायः क्षणभेदाच्च, केवलाख्योऽपि  
सम्मतः” । १ । इत्युक्तेः । अत्र क्षणभेदात् केवलज्ञानपर्यायोऽपि भिन्न एव प्रदर्शितो  
पथा तथा स्वस्वरूपतो ध्रुवस्वभावमप्यनन्तसुख तत्तत्क्षणविशिष्ट भिन्नमेव, विशेषणभेदेन  
तद्विशिष्टस्यापि कथञ्चिद्भेदादित्युत्पादव्ययध्रौव्यलक्षण मन्त्र तस्योपपन्नमेव । न चान्  
विशेषणस्यैव नाशोत्पादाविति वाच्यम्, यतः शिखायां विनष्टाया शिखी विनष्ट इति  
प्रतीतेरप्यनुभूयमानत्वेन विशिष्टस्यापि तथात्वमभ्युपगन्तव्यम्, अधिकमत्रास्मत्सन्देह  
स्याद्वादविन्दुतोऽवसेयमिति ॥ एतेन दुःखकारणीभूतस्य पापस्यैव सुखहेतुपुण्यस्यापि  
तत्राभावाद्दुःखस्यैव सुखस्याप्यभाव एव युक्त इत्यारेकापि निरस्ता, व्यावहारिकसुख  
प्रत्येव पुण्यस्य कारणत्वेन कृत्स्नकर्मक्षयजन्यसिद्धत्वपरिणतिरनुभूक्तात्मनो वैषयिकसुख  
विलक्षणाया वेदनीयकर्मक्षयजन्यालौकिकनिरावाधमाद्यनन्तसुखपरिणतेर्मावादिति । मुक्ता  
त्मनि घातिकर्मचतुष्कक्षयमनुपपन्नानन्तज्ञानदर्शनचारित्र्यीर्यलक्षणानन्तचतुष्कगुणा अघा  
तिकर्मचतुष्कक्षयनिष्पन्नानन्ताऽक्षयस्थित्यमूर्च्छमावाग्यावाधसुखाऽगुरुलघुभावलक्षणगुणास्त  
स्यानवर्णादिप्रतिषेधात्मका अन्येऽपि च गुणा विद्यन्त इत्यात्यन्तिकाशेषविशेषगुणोच्छेद-  
लक्षणा मुक्तिर्न युक्तियुक्तेति सिद्धम् । एतेन

“ यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्या घृतं पिबेत् ।

भस्मीभूतस्य देहस्य, पुनरागमनं कृतः ? ॥ १ ॥

अङ्गनाऽऽलिङ्गनाञ्जन्यं सुखमेव पुमर्थता ।

कण्टकादिबन्धाजन्यं, दुःखं निरयं उच्यते ॥ २ ॥

त्याज्यं सुखं विषयसङ्गमजन्मं पुसा, दुःखोपसृष्टमिति सृष्टविचारणैषा ।

व्रीहीञ्जिहासति सितोत्तमतण्डुलाद्यान्, को नाम भोस्तुपकणोपहितान्

हितार्थी ॥ ३ ॥

लोकसिद्धो भवेद्राजा, परेशो नाऽपरः स्मृतः ।

देहस्य नाशो मुक्तिस्तु, न ज्ञानान्मुक्तिरिष्यते ॥ ४ ॥ ”

इत्यपि निरस्तम् । वीतरागजन्मादर्शनात् मरागस्यैव जन्म, रागस्य च कारणं  
पूर्वानुभूतविषयानुचिन्तनम्, पूर्वानुभवश्च जातमात्रस्यास्मिन् जन्मनि न मन्मरतीति  
तदर्थं पूर्वजन्माभ्युपगन्तव्यम्, तदपि सरागस्यैवेत्येतद्गवीयाद्यस्तन्यपानादिप्रवृत्तिजनक  
स्तन्यपानं मदिएमाद्यनमिति मत्कृतिमाध्यमिति च यस्मरणं तत्कारणपूर्वमवानुभवद्वारा  
तत्पूर्वजन्म एव तत्पूर्वपूर्वजन्मप्रथमप्रवृत्तिकारणरागानुबन्धानुरोधेन विषयत्रवाहतोऽनाद्येव



जन्म सिध्यति, जन्म च जन्मघन्त विनाऽनुपपन्न सत्पूर्वपूर्वोत्तरोत्तरमवानुयायिनमेतद्भ-  
 वीयाऽऽद्यस्तन्यपानादिप्रवृत्तिजनरुतत्तद्विषयस्मृतिपूर्वभवीयतत्समानविषयकानुभवकारमा-  
 त्मान साधयति । एतद् विवेचयिष्यते चाग्रे । एवञ्चाऽऽत्मनोऽनादित्वे सिद्धे आत्माऽनन्तः  
 भावत्वे सत्यनादित्वात्, यन्नैव तन्नैवम्, यथा घट इत्यनुमानात्तस्यानन्तत्वमपि सिद्ध्यति,  
 तस्य चानन्तकृत्वश्चतुर्गत्यात्मकमवपरिभ्रमणमन्यथाऽनुपपन्न सत्तत्कारणतया प्रवाहतोऽ-  
 नादिकर्म साधयतीत्यनादिकालसम्बद्धाऽऽत्मकर्मणोरनादिकालसम्बद्धमृत्सुवर्णद्रव्ययोरग्नि  
 सयोगेनेव शुक्लघ्यानाग्निना सर्वथा पृथग्भावे मति इह शरीर परित्यज्य स्वकर्मक्षयकृत  
 त्रिमागहीनचरमशरीरपरिमाणमपरिमाणवत्तया ममश्रेणैकममयेनैवोर्ध्वं गतः

“ अलोए पडिहया सिद्धा लोयग्गे य पइट्टिया ।  
 इह योदिं चइत्ताण तत्थ गन्तूण सिज्झइ ॥ १ ॥ ”

इति प्रज्ञापनासुप्रवचनात् केवलाकाशास्तिकायरूपालोके गत्यादिमहायकधर्मास्तिका  
 याद्यभावेन प्रतिस्खलनाल्लोकमूर्द्धनि प्रतिष्ठितो-निरावृतस्वभावमात्राविर्भूताखण्डानन्तचिदा  
 नन्दादिस्वरूपमुक्तिमयाप्नोतीति पूर्वोक्तयुक्तिमिर्मिथसस्युक्तात्मकर्मणोरनादित्वस्य नाना  
 विधमिध्यात्वादि कारणवशोपनतविचित्रकर्मपरिणतिकृतचतुर्गत्यात्मकसमारसन्ततात्मपरिभ्र-  
 मणस्य च परमशुक्लघ्यानादिनाऽऽत्मसम्बद्धाशेषकर्मत्रियोगलक्षणकर्मक्षये सति कर्मकारणा-  
 भावात् समारपरिभ्रमणात्मकतत्कार्यनिवृत्त्याऽऽत्मनोऽष्टकर्मक्षयजन्यानन्तज्ञानदर्शनाद्यष्ट  
 गुणावाप्त्या मुक्तेश्च सिद्धौ “न देहातिरिक्त आत्मेति देहविनाशो मुक्तिः” इति चार्वाकमत  
 न युक्तमिति सिद्धमित्यल पल्लवितेन । एतेन

“ दीपो यथा निर्वृत्तिमभ्युपेतो, नैवावर्णिं गच्छति नान्तरिक्षम् ।  
 दिश न काञ्चिद्विदिशं न काञ्चित्, स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम् ॥ १ ॥  
 जीवस्तथा निर्वृत्तिमभ्युपेतो, नैवावर्णिं गच्छति नान्तरिक्षम् ।  
 दिश न काञ्चिद्विदिशं न काञ्चित्, स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम् ॥२॥”  
 इत्यपि मतमपास्तमवसेयम् । ग्रन्थगौरवमीत्याऽत्र यन्नोक्त तद् बृहट्टीकातोऽवबोद्धव्य-  
 मिति प्रथमकारिकार्थः परिपूर्तिं प्राप्त इति ।

“ यद्यत्र न ग्रन्थमहत्त्वभीत्यो,—कत तद् यदग्रेऽप्यधिकं न वक्ष्ये ।  
 तटीकयाऽर्च्योभयदेवसूरे-जानन्तु विस्ताररुचीद्वप्रज्ञाः ॥ १ ॥ ”

अथ मगवान् जगत्प्रयजयिमहामोहमल्लस्य सर्वथा पराजय तन्नान्तरीपकज्ञानावरण-  
 दर्शनावरणान्तरायाख्यघनधातिकर्मत्रयपराजयश्चाकृत्वा नाशेषविश्वत्रयगोचरकेवलज्ञानल-  
 क्षणविशिष्टज्ञानानन्त्यमवाप्नोति, न च तदुत्पत्तिं विना तस्य कमनीयाशोकाद्यष्टमहाप्रातिहार्य-

सपर्यामकृत्रिमानुपमभक्तिभरनिर्भरसुरासुरनिकायनायका अनेन मगवता सनाथा भवामेति  
सन्मतिमाविभ्राणा विरचयन्ति, न च शचीपत्यादिकृतपूजाविरहे स स्याद्वाददेशनागिरः  
प्रयुङ्क्त इति हेतुहेतुमद्भावोत्पद्यमानगायान्तर्गतजिनादितत्पदसम्बन्धितायायापगमातिशयज्ञा  
नातिशयपूजातिशयवागतिशयचतुष्करूपस्वार्थपरार्थसम्पत्तिशालिमगवत्प्रणीतश्रुतमयेष्टदेव-  
तासोह्यमस्तुतिविध्वस्तसमाप्तिप्रतिपन्धकदुरितविशेषस्वरिस्सर्वेऽपि व्यवहाराः प्रयोजन-  
व्याप्ताः, नान्तरेण प्रयोजन प्रवृत्तिनिवृत्ती, पश्चादयोऽप्यमिमन्घाय प्रयोजन प्रवर्तन्ते निवर्तन्ते  
चेति श्रोतुः प्रस्तुयमाने शास्त्रे निर्विघ्नप्रवृत्त्यर्थं तत् सप्रयोजनमादौ वाच्यम्, तदुक्त मीमांसाश्लोक  
वार्तिके “अनिर्दिष्टफल सर्वे, न प्रेक्षापूर्वकारिभिः । शास्त्रमाद्रियते तेन, वाच्यमग्रे प्रयोजनम्  
॥ १ ॥ सर्वस्यैव हि शास्त्रस्य, कर्मणो वापि कस्यचित् । यावत्प्रयोजन नोक्त, तावत्तत्केन  
शृण्वते ॥ २ ॥” इति । तदपि चेदनभिमत्प्रयोजनेन सप्रयोजन वक्त्रा विरच्येत तदा जननी-  
पाणिपीडनोपदेशवचन चतुराणामतितरामनादरस्स्यात्, प्रवृत्तिकारणीभूतस्य बलवदनिष्टान  
नुबन्धित्वविशिष्टेष्टमाधनताज्ञानस्याभावादिति तत्रामिमत् प्रयोजन वाच्यम्, तदपि शक्योपाय  
न चेत् प्रदर्श्येत तदा विषादिमर्वविघ्नशामकतक्षकनागराजशिरोरत्नादानोपदेशवत् प्रेक्षा-  
वद्भिस्तदुपदर्शक शास्त्रमनादेय स्यात्, प्रयोजने सत्यपि तत्साधनानुष्ठान मत्कृतिसाप्य  
मित्याकारकस्य प्रवृत्तिकारणकृतिसाप्यत्वप्रकारकज्ञानस्याभावादित्यनुगुणोपाय प्रयोजन  
वाच्यम्, येन यद् दृष्टा तत्प्राप्त्याशावशीकृतस्वान्तप्रेक्षावद्भिः प्रवृत्तिस्तादराऽऽदृता शीघ्र  
स्यात्, अम्यथापि च ।

“शास्त्रस्य हि फले ज्ञाने, तत्प्राप्त्याऽऽशावशीकृताः ।

प्रेक्षावन्तः प्रवर्तन्ते, तेन वाच्य प्रयोजनम् ॥ १ ॥” इति ॥

एव शास्त्रमभिधेयशून्य चेत्, तदोन्मत्तादिवाक्यवदानर्थक्य सम्भावयन् प्रेक्षान् श्रोतु  
न प्रवर्ततापीत्यभिधेय सुखोपादेयमस्यावश्य वाच्यम् । एव शास्त्र सम्बन्धरहित चेत्तदापि—

“जरङ्गवः कम्बलपातुक्काम्पा, द्वारि स्थितो गायति मङ्गलानि ।

त ब्राह्मणी पृच्छति पुत्रकामा, राजोरुमाया लशुनस्य कोऽर्थः ? ॥१॥”

इत्यादिनिराकाङ्क्षवाक्यवत् तथाऽमम्बद्दशदाडिमादिवाक्यवत्प्रेक्षाकारिणामवज्ञास्पद्  
स्यादित्यादौ सम्बन्धोऽप्यमङ्गतिदूरीकरणार्थं वाच्यः, एवमजिज्ञामिताभिधेयकत्वेनान-  
धिकारिक चेत्तदा प्रेक्षावद्भिर्नाद्रियेत, प्रेक्षावन्वक्षतेरित्यस्य शास्त्रस्य कोऽधिकारीत्यपि  
वाच्यम्, यदम्यथापि—

“विययक्षाधिकारी च, सम्बन्धश्च प्रयोजनम् ।

विनानुबन्ध ग्रन्थादौ, मङ्गल नैव शास्पते ॥ १ ॥” इति ॥

तथा च शास्त्रीयश्रोतुप्रवृत्तिप्रयोजकज्ञानविषयीभूतप्रयोजनाभिधेयसम्बन्धाधिकार्यात्मकाऽनुबन्धचतुष्टयमस्मिन् प्रकरणेऽस्ति न वेति शङ्काशङ्कमुद्धर्तुकामस्तत्प्रदर्शनप्रवर्णाकृत्स्नशास्त्रार्थमद्वाहिकामादिवाक्यरूपा गाथामाह—

“ समयपरमत्थवित्थर-विहाडजणपञ्जुवासणसयन्नो ।  
आगममलारहियओ, जह होह तमत्थमुन्नेस्त ॥ २ ॥ ”

अत्र “ आगममलारहृदयः ” इत्येतच्छब्दप्राहस्यागमार्थप्रतिपत्त्यसमर्थहृदयस्यैदद्युगीनात्यल्पज्ञानस्य प्रसिद्धत्वात्तद्बुद्धिद्वयाद्गघदहनन्यायेनाप्राप्त समयपरमार्थविस्तरविहाटजनपर्युपासनसकर्मणो यथा भवति तमर्थमुन्नेष्ये इत्येतद्विधीयते । समयस्यार्हदागमस्य प्रमाणांतराबाधितत्वेन यथार्थतया तत्तद्दर्शनान्तरोक्तार्थोऽपेक्षया परम उत्कृष्टो योऽर्थस्तस्य यो विस्तरो रचनाविशेषः तस्य विहाटः श्रोतुबुद्धिप्राप्तार्थप्रकाशको यो जनश्चतुर्दशपूर्वविदादिलोकः तस्य पर्युपासन सेवाजनिततद्व्याख्यानं तत्र सकर्मणः तद्व्याख्यातार्थयथार्थधारणसमर्थो यथा भवति तथा तमर्थमुन्नेष्ये लेशतः प्रतिपादयिष्ये इत्युक्तविधेयस्य सङ्केपार्थः । पदार्थस्तुन्यते “ आगममलारहियओ ” इति-आगममलारहृदयः, तत्राविच्छिन्नमद्गुरुपारम्पर्येण वामनाद्वारेणागच्छतीत्यागमः, यद्वा आ समन्ताद् गम्यन्ते ज्ञायन्ते जीवादयः पदार्था अनेनेत्यागमः, शास्त्रम्, आद् पूर्वकाद् गम् धातोः “ गमश्च ” ३-२-४७ इति पाणिनीयसूत्रेण खच्प्रत्यये आगमशब्दनिष्पत्तिः । मलमिव आरा प्राजनकविभागो यस्याऽसौ मलारः, गौर्गली, आगमे तद्वत् कुण्ठमागमार्थप्रतिपत्त्यसमर्थं हृदय यस्य स तथा, अकृत्रिमवरमक्तिबहुमानप्रसन्नसुगुरुप्रदीयमानागमप्रतिपाद्यगम्भीरार्थग्रहणानुकूलप्रज्ञाविहीनत्वेनातिमन्दधीरिति यावत् । “ समयपरमत्थवित्थरविहाडजणपञ्जुवासणसयन्नो ” इति, समयपरमार्थविस्तरविहाटजनपर्युपासनसकर्मणः, सम्यक् प्रमाणान्तराऽविसर्वादित्वेनेत्यन्ते निश्चीयन्तेऽर्था अनेनेति समयः, यद्वा सम्यक् अवैपरीत्येनाप्यन्ते परिच्छिद्यन्ते जीवादयोऽर्था अनेनेति करणप्रत्यये समयः । सम्यक् याथाध्येनाप्यन्ति अयन्ते वा जानन्त्यर्थान् अनेनेति वा समयः, अथवा सम्यक् अयते परिच्छिन्नन्ति जीवादर्थान् यस्म समयः, सम्यगयन्ति गच्छन्ति जीवादयोऽर्थास्वस्वरूपे प्रतिष्ठा प्राप्नुवन्त्यस्मिन्निति वा समयः, अर्हन्मतानुसारिशास्त्रम् । परमः प्रमाणान्तराबाधितप्रमाणगोचरयथार्थस्वरूपः, अर्थते परिच्छिद्यते ज्ञानविषयीक्रियत इत्यर्थः । परमश्चाप्तार्थश्च परमार्थः, प्रमाणान्तराबाधिततया नास्तत्रिकोऽर्थः, समयस्य परमार्थः समयपरमार्थः, तस्य विस्तरो रचनाविशेषः, विस्तीर्यत इति विस्तरः, “ स्तुब् ” आच्छादने ऋयादिको धातुः । ततः “ ऋदोरप् ” । ३ । ३ । ५६ । इति सूत्रेणाप्प्रत्ययः । नन्वर्थस्य विस्तरणमित्यर्थे शब्दसम्बन्धिनः प्रथमस्याभावात् अर्थविस्तारस्यैव गृहीतत्वात् “ विपूर्वाद् स्तुणातेर्षञ् स्यादशब्दविषये प्रथमे इत्यर्थकस्य “ प्रथमे

वावशब्दे " । ३ । ३ । ३३ । इति पाणिनीयसूत्रस्य प्राप्तेः घञप्रत्ययान्तविस्तारशब्दस्यैव प्रयोक्तृमुचिततया नात्राप्यप्रत्ययान्तस्य विस्तरशब्दस्य प्रयोगसममीचीन इति चेत्, भवम्, यतश्शब्दार्थयोरभेदपक्ष समाश्रित्य विस्तरशब्दप्रयोगो विहितः, भेदपक्षेऽपि शब्दार्थयोः पारमार्थिकसम्बन्धोऽस्तीति प्रतिपादयितुमेवाभेदविवक्षामाश्रित्यार्थविस्तारेऽपि शब्दविस्तरत्व समारोप्य घञोऽप्राप्तिं सम्पाद्यावन्तस्यैव प्रयोगः कृत इति, तस्य विहाट इति विशेषेण हाटयति दीपयति श्रोतबुद्धौ प्रकाशमानानर्थान् प्रकाशयतीति विहाटः, विपूर्वात् हृद्घातोर्दीपनार्थकाद् घञप्रत्यय. " हलश्च " ३ । ३ । १२१ । इति पाणिनीयसूत्रेण, स चासौ जनश्च चतुर्दशपूर्वत्रिंशदादिश्रुतस्थविरलोको विहाटजन, तस्य पर्युपासनम् परित उपास्तिरिति पर्युपासनम्, सेरा, आम् उपवेशने इति घातोः पर्युपात्मकोपमर्गद्वयवशतः सेवार्यै वर्धमानाद् मात्रार्थे ल्युट् प्रत्ययः । पर्युपासनपदनात्र कारणे कार्योपचारात् सेवाजनितव्याख्यान लक्षणया बोध्यम्, कारणीभूतसेवामम्पादनेन चतुर्दशविंशदादिमकाशात् तदीयव्याख्यानप्रवर्तनस्य कारयितुं शक्यत्वात् । तत्र विहाटजनव्याख्याने महकर्णार्थ्यां पृच्छत इति सकर्ण त्रिकरणयोगसौल्लामश्रवणैकमात्रधानीकृतकर्णव्यापारः तद्व्याख्यातार्थमुखग्रहणधारणनिश्चयादिकरणपटुमर्न्दुद्विरपि " जह होइ तमत्थमुत्सेस " यथा इति येन प्रकारेण भवति त तथाभूतमर्थमुत्सेष्ये लेञ्चत " प्रतिपादयिष्ये । यद्वा " उत् " उपसर्ग उत्कृष्टार्थघोतक इत्युत्कृष्टतया नेष्ये प्रापयिष्ये, स्वप्रतिपादनमहिम्ना तमर्थं धोतृजनबुद्धिविषयीकरणद्वारा तदीयहृदयगम करिष्ये । प्रतिपादयिष्या विदुषा प्रतिपादितोऽप्यर्थो यदि श्रोतृजनबुद्धौ नावतरति तदा प्रतिपादयितुरेव जाह्यमत्रगम्यते, " चक्षुरेव हि तज्जाह्य, यतः श्रोता न बुध्यते " इति न्यायात्, अतश्शास्त्रीयदिव्यचक्षुस्सुगुरुनिस्सीमकृपासुधाश्रुतसमुद्रान्तनिमग्नताऽवाप्ताऽनर्घगम्भीरातिघृक्षमाऽनल्पतत्त्वरत्नसुस्पटीकरणप्रकारेण अतिकृष्टितबुद्धयोऽपि श्रोतृजना यमर्थमर्हच्छास्त्रपरमरहस्यभूत श्रुत्वा मतात्पर्यं विभाव्य विनिश्चित्य च द्रव्यानुयोगविषयकागमाऽतिगहनसूक्ष्मतरानप्यर्थान् सुखेन प्रहीतुं धारयितुं निश्चेतुमतिपटुप्रज्ञा इतरसकलशास्त्रेषु प्रामाण्याप्रामाण्यविवेककर्तारश्च भवन्ति तमर्थमनेन प्रकरणेनाहमपि प्रतिपादयिष्ये इति भावः । अथाभिधेयसम्बन्धयोम्मामूर्वाद्गम्यमानत्वेन प्रयोजनार्थितयैव शास्त्रश्रवणादौ श्रोतृजनस्य प्रबुद्धेः प्राधान्येन प्रष्टव्यङ्गभूत प्रयोजनमेव मुख्यवृत्त्या प्रतिपादयितुमुपन्यस्तपाऽनया गाथया तद् यथा व्यञ्जितं तथोच्यते, तत्र प्रयोजनद्वेषा कर्तुं श्रोतुश्च, पुनर्द्विविधम् अनन्तरं मान्तरं च । तत्र कर्तुरनन्तरं प्रयोजन आगममलारहृदयस्समयपरमार्थविस्तरविहाटजनपर्युपासनमकर्णो यथा भवति तथार्थव्युत्पादनं गाथयैव साक्षाद्भिर्दिष्टम् । श्रोतृस्त्वेतत्प्रकरणार्थप्रतिपत्तिस्तदन्तर्गततया प्रतीयते, मान्तरप्रयोजनन्तु द्वेषा प्रधानमप्रधानञ्च, तत्राप्रधानं कर्तुंस्सत्त्वानुग्रहख्यात्त्यादिकम्, प्रधानन्तु " मर्वज्ञोक्तीपदेशेन यः सत्त्वानामुपग्रहम् । करोति दुःखवशात्ताना, स प्राप्नोत्यचिराच्छिरम् " ॥ १ ॥ इत्युक्तेः परम

पदप्राप्तिरूपमवसेयम् । धीतरागशासनतत्त्वामृततरसपायित्वेन सङ्गातः परानुग्रहैकलीन-  
 चित्तानां तस्याऽवश्यम्भानात्, यतो न हि शास्त्रपरमरहस्यवेदिनस्ताक्षात्परम्परया वा  
 निश्चयेपसार्थं न भवति तत्प्रतिपादनायोत्सहन्ते, प्राह्वत्वहानेः, श्रोतुस्त्वप्रधान हेयोपादेयो  
 पेशणीयेष्वर्थेषु हानोपादानोपेक्षालक्षणम् । प्रधानन्तु समारकारागृहणन्धनकारणीभूत निखिल  
 हेयार्थतत्त्वज्ञपरिज्ञया हेयत्वेन विज्ञाय तस्य त्रिकरणयोगतः प्रत्याख्यानपरिज्ञया प्रत्या  
 ख्यानेन प्रत्याख्याय च मुख्यैककारणीभूत निश्चेषोपादेयतत्त्वश्च महणबुद्धया यथार्थभावेन  
 गृहीत्वा उपेक्षणीयार्थश्च सर्वं कृतपूजनस्तुत्यादिकृतनिन्दाताडनादिजनोपरि रागद्वेषाऽकरण-  
 लक्षणमाध्यस्थबुत्त्वोपेक्ष्य च सहगृहीतमभ्यग्नानक्रियात्मकमन्मार्गस्य सम्यगाराधनां  
 कृत्वा तदुत्तरोत्तरोत्तमोत्तमभयसुदृढतदभ्यासमात्मीभावेनाविकलकारणमामयवाप्या  
 मुक्तिलक्षण बोध्यम्, उक्तञ्च—

“ सम्यग्भावपरिज्ञाना-द्विरक्ता भवतो जनाः ।

क्रियाऽऽसक्ता ह्यविघ्नेन, गच्छन्ति परमा गतिम् ” ॥ १ ॥ इति ।

तच्च सर्वेषां बुद्धिमतामविगानेनाभीष्टमनुगुणोपायश्चेति निष्प्रयोजनतरानभिमतप्रयो  
 जनत्वाशङ्के सुतरामेव व्युदस्ते । अभिधेयसम्बन्धौ तु मामर्थ्याद्भवेत्, तथाहि—

आगममलारहृदयनिष्ठमयपरमार्थविस्तरविहाटजनपर्युपामनमकर्णताप्रयोजकद्रव्यानु-  
 योगविषय एतत्प्रकरणप्रतिपाद्योऽर्थोऽभिधेय, अनेनाभिधेयशून्यतरारेका निरस्ता, अमुष्य  
 चामिधेयस्य स्वज्ञानद्वाराऽभ्युदयनिश्चयेपसोपयोगित्वादवश्य मोक्षार्थिनोपादेयतयाऽनुपादेय  
 त्वाशङ्का दूत एव निरस्ता, सम्बन्धस्त्वभिधेयेन सहास्य शास्त्रस्य वाच्यवाचकभाव  
 लक्षणोऽनुक्तोऽपि श्रूयमाणतत्त्वच्छब्दवाच्यतत्त्वदर्थविषयकशाब्दबोधान्यथानुपपत्तिबलादेव  
 गम्यते । सम्मतितर्कप्रकरणमुपायः, तदर्थज्ञानमुपायः, स च प्रयोजनाभिधानादेवाभिहित  
 इत्युपायोपेयभावमन्बन्धोऽप्यत्र ज्ञेय । एतत्प्रकरणोक्तार्थसन्दोहोऽपि न स्वकपोलकल्पना-  
 शिल्पिनिर्मितः, किन्तु चतुर्दशपूर्वनिर्गणधरधीगौतमस्यादिगुरुपरम्पराऽऽयात् इति  
 गुरुपूर्वकमसम्बन्धोऽपि, एतत्प्रकरणवाच्यार्थतद्विषयकज्ञानयोर्निर्णयविषयिभात्रसम्बन्धोऽपि  
 चात्रोक्त इति सम्बन्धरहितत्वाशङ्काऽनुत्थानोपहतैवेति । अस्याध्ययनेऽधिकारी चैतत्प्रकरणा-  
 भिहितद्रव्यानुयोगतत्त्वजिज्ञासुक्तप्रयोजनकामश्चेत्यनधिकारित्वाशङ्काऽपि दूरापास्ता, तस्मा  
 देतत्प्रकरणप्रतिपाद्यद्रव्यानुयोगतत्त्वचिचैकाम्यपुरस्मरश्रवणमनननिदिष्ट्यामनक्रमेण स्व-  
 समयपरममययथार्थोऽयथार्थविवेचने ममुद्गीप्तप्रज्ञानां तत्रार्पितयोगानां पुसां मभ्यगदर्शन शुद्ध  
 भवति, निक्षेपप्रमाणनयमसमझ्यादिप्रतिपाद्यानेकान्ततरज्ञानं च यथार्थं विशिष्टतम भवति,  
 तेन च चरणकरणयोस्मार विदित्वा चारित्रपरिणतिश्च विशुद्धा भवतीत्येव विशिष्टफलोत्पा-  
 दकसम्यग्मतिविधारयनरूपसत्कर्तृगर्भतया यथार्थोऽभिधान सम्मत्तितर्काख्य प्रकरण

मादरणीयमेव प्रेक्षावद्धिः विषयाधिकारिमम्बन्धप्रयोजनात्मकानुबन्धवत्तुष्टयशालित्वात्, यन्नैव तन्नैव, यथोन्मत्तवाक्यमिति । तत्रानुबन्धत्व नाम प्रवृत्तिजनकज्ञानजनकज्ञान विषयत्व प्रवृत्तिप्रयोजकज्ञानविषयत्व वा, उत्पन्नमनश्चैवम्-प्रवृत्तिरत्र शास्त्राध्ययन-विषयिका, तज्जनकज्ञानमिदं शास्त्राध्ययन मदिष्टमाधनमित्याकारक ज्ञान मत्कृतिमाध्य मित्याकारक ज्ञानञ्च, तच्च विशिष्टबुद्धौ विशेषणज्ञान कारणमिति नियमेन तत्र विशेषणी भूतस्य मदिष्टस्येष्टेत्यस्य च ज्ञाने सत्येव भवतीति तज्जनकज्ञानमस्य शास्त्रस्या ध्ययनेऽहमधिकारीति ज्ञानम्, एतच्छास्त्राध्ययनस्यैतच्छास्त्रान्यार्थज्ञान साक्षात् मोक्षश्च परम्परया फलमितीष्टज्ञानञ्च, तद्विषयत्वमधिकारिणि प्रयोजने च वर्तते, अस्य शास्त्रस्य द्रव्यानुयोगविषयप्रतिपादनपरत्वात्तदभिधेयस्य सामान्यतो ज्ञाने सत्येवेदं शास्त्र मत्कृतिमाध्यमिति ज्ञान भवति, तथा शास्त्रस्याभिधेयेन मह प्रतिपाद्यप्रतिपादकमाव-सम्बन्धस्य ज्ञाने मत्येवेदं शास्त्र मदिष्टमाधनमिति ज्ञान मन्मन्तीति प्रवृत्तिजनककृति साध्यत्वप्रकारकप्रकृतशास्त्रनिशेष्यकज्ञानजनकमभिधेयज्ञान प्रवृत्तिजनकप्रमाधनत्वरप्रकारक प्रकृतशास्त्रनिशेष्यकज्ञानजनकञ्च प्रतिपाद्यप्रतिपादकमावसम्बन्धज्ञानम्, एव प्रयोजनेन तत्प्रज्ञानेन सहास्य शास्त्रस्य जन्यजनकभात्रमम्बन्धज्ञानञ्च, तद्विषयत्वमभिधेये सम्बन्धे च वर्तत इति । अप्राक्षेपपरिहारौ ग्रन्थगौरवमियाऽनुक्तौ गृह्यद्वीकातोऽवसेषौ, इति द्वितीयकारिकार्थः परिपूर्णभाव नीत इति ॥ २ ॥

अथ भेदप्रभेदविशिष्टमूलभेदोपेत नयस्वरूप घृक्षमेक्षिकया यावन्भावगच्छति ताव चस्य पुनो नयविषयकममीक्षाया अभावेनाविचारितरमणीयतयाऽयुक्त युक्त युक्तमप्ययुक्त प्रतिभासेत, एवञ्चार्याना युक्तयुक्तत्वविभागोऽपि प्रमाणगोचरवारी न स्यात्, अन्यथा प्रतिपत्तेः, तदेवाह भाष्यसुषामोधिः-“ अत्य जो न सम्मिक्त्वद्, निश्चेवनयप्यमाणञो विहिणा । तस्माऽनुत्त जुत्त जुत्तमजुत्त वा पठिहाइ ॥ २२७३ ॥ ” इति । एव “ दुष्टांश्छेदतो नाही दूषयद्विषयक । ” इति न्यायात् स्याद्वाद्प्रमाणमन्नाऽपदस्थानीयजुष्वनयस्यैकान्त त्वावगादिदुष्टाश् बहुच्यवहारोच्छेदक विषयककल्पन न्यायनयेनादिष्पुःपस्याघापकेन यदि तत्तन्नयविधिज्ञो न स्यात्तदा कथ निराकुर्यात्, किञ्च जैनागमेऽपि यदज्ञानदोषादि दोषकलुषितेन केनापि जमाल्यादिनेन दोषबुद्ध्याऽनन्तांशात्तत्कस्य वस्तुन एकाद्यशमन्यथा परिगृहीत तदपि निशेषतो नयज्ञान विना नयोक्तिभिर्न्यथार्थतया कथ स्थापयेत् । एव

“ नत्थि नयेहिं विहण सुत्त, अत्थो य जिणमणं किञ्चि ।

आसज्ज उ म्पोयार नए, नयत्तिस्सारओ चूया ॥ २२७७ ॥ ”

इति भाष्योक्ते दृष्टिवादे कालिकथृते च एतत्प्रभेदतन्मयापेक्षया एतत्प्रश्नश्चैतन्मयाऽ-पेक्षया अयमर्थ एतन्मयापेक्षया अयमर्थश्चैतन्मयापेक्षयेत्यपि तत्तन्नयज्ञान विना कथ जानी-

यात् । कालिकश्रुते यद्यपि मतिमता मतिमान्द्य दृष्ट्वा पश्चात्सर्वजनपविचारनिषेधः कृतस्तथा  
प्युत्तमप्रज्ञाशालिन ऋषयश्चिन्मिच्छन्त नयमतपरिणामनाममर्थं श्रोतार पुनरामाय ममनुज्ञा  
तमाद्यनयशय शेषान् वा नयान् तत्तन्नपप्रज्ञो न स्यात्तदा कथं ब्रूयादित्येवं मर्ममूल नपज्ञा  
नमिति शिष्याणां मूलनयतद्विरूपनयव्युत्पादनार्थं परमकारुणिकस्यरिस्त्वृतीयां गाथामाह—

यद्वा अतिकुण्ठप्रसन्नस्याप्यन्तेवामिनोऽशेषश्रुततत्तन्नपसहृदितगम्भीरार्थयथार्थप्रतिपत्ति  
शालिचतुर्देशपूर्वविद्रादिव्याख्यातार्थाप्ययनयोग्यतासत्पादनार्थं प्रकरणारम्भो विहितस्वरिणा,  
तादृशी योग्यता च सामान्यविशेषाद्यात्मकार्याऽवगाहिमूलभूतद्रव्याधिकनयपर्यापार्थिक  
नयद्वयतद्विरूपरूपमद्गहाद्युत्पन्नादिनयपरिज्ञाने सत्यत्र सम्पद्यत इति तस्य विनेयस्य  
तत्कारयितुकामः हरिनिर्मां गाथामाह—

“ तित्थयरवयणसगत्-विसेसपत्थारमूलवागरणी ।

दद्वद्विओ य पञ्जव-णओ य सेसा विचप्पा सिं ॥ ३ ॥ ”

‘ तित्थयरवयणसगह—विशेषपत्थारमूलवागरणी ’ तीर्थकरवचनसहृदिविशेषप्रस्तार-  
मूलव्याकरणी—तीर्थकरस्य वचन तीर्थकरवचन तस्य सहृदिविशेषौ सामान्यविशेषौ द्रव्य  
पर्यायाख्यौ, तयोः प्रस्तार सहृदिविशेषप्रस्तारः, तस्य मूलव्याकरणी आद्यवक्ताज्ञाता वा,  
स क इत्याशङ्कायामाह—दद्वद्विओ य पञ्जवणओ य ” इति, द्रव्यास्तिकश्च पर्यवनयश्च,  
सामान्यप्रस्तारस्य सहृदादिरूपस्य मूलव्याकरणी द्रव्यास्तिकनयः, विशेषप्रस्तारस्यर्जु  
स्य्यादिरूपस्य मूलव्याकरणी पर्यायास्तिकनयः, एतद्वन्थकारमते सामान्यग्राहिणो  
नैगमस्य सहृदे विशेषग्राहिणस्तस्य व्यनहारनयेऽन्तर्मायात् महृदव्यवहाराख्यौ द्वौ भेदौ  
ऋजुस्रश्चन्दममभिरूढैवम्भूताख्याधत्तारो भेदास्तु मूलभेदयोर्द्रव्यास्तिकपर्यायास्तिकनय  
योरिति प्रतिपादनायाह—“ सेसा विचप्पा मि ” शेषा त्रिकल्पा अनयोः, द्रव्यास्तिक  
नयस्य द्वौ भेदौ पर्यायास्तिकनयस्य तु चत्तारो भेदा इति सक्षिप्तार्थः । विस्तृतार्थस्त्वेवम्-  
तीर्थते भव्यसचैर्वमोदधिरनेन अस्मात् अस्मिन्निति वा तीर्थम् द्वादशाङ्गम्, यद्वा तन्वित  
भव्याङ्गिनो येन ससारमागर तत्तीर्थम्, “ तित्थ मत ! तित्थ, तित्थयरे तित्थ !  
गोयमा ! अरिहा ताव निपमा तित्थकरे, तित्थे पुण चाडवञ्जे समणसधे पढम  
गणहर वा ” इति सिद्धान्तोक्तेर्गुणगुणिनोरभेदात् मन्म्यदर्शनज्ञानचारित्रपरिणामात्मकश्च  
तुर्विधः सद्य प्रथमगणधरो वा, तत्कुर्वन्ति तत्करणश्रीला वा तीर्थकराः । ननु प्रेषावर्ता  
प्रवृत्तिरभिमतप्रयोजनरत्तया व्याप्तेति किं प्रयोजनमुद्दिश्य त तीर्थकरणे प्रवर्तन्ते ? इति  
चेत्, न किमपि, कृतकृत्यत्वेनाऽनीहप्रवृत्तिकारित्वात्तेषाम्, सूर्यस्येव जगत्प्रकाशने, यथा  
दिनमणिस्त्वभावत एव तमिस्राव्याप्ततमोभरविनाशकं जगद्द्व्योतकरमुद्दिष्टदृष्टिजनानन्दप्रद  
प्रकाश करोति तथा ज्ञासनमणिमगवन्तोऽपि जगज्जन्तुद्वेष्याप्तमिथ्यात्वादिष्यतमाऽन्वकार-

विनाशकं विश्वविश्वमात्रोद्योतकारि विषेकादिभावचक्षुष्मदपूर्वानन्दप्रदसुपकार्योपकारानपेक्षं  
भावतीर्थं कुर्वन्ति, चिकीर्षाजन्यप्रवृत्तिं प्रत्येवामितप्रयोजनमुद्देश्यतयाऽपेक्षितम्, चिकीर्षा-  
याश्च रागरूपत्वेन वीतराममगवता तदभावेन तज्जन्यप्रवृत्त्यभावेऽपि स्वभावत एव प्रवृत्ति  
भावात् तत्र प्रयोजनमपेक्षितम्, न हि स्वभावः पर्यनुयोगार्ह इति । ननु सूर्यस्य स  
स्वभावोऽनादिसिद्ध इति तद्वत् निश्चयनयेनात्मनोऽनादिसिद्धः चेतनास्वभाव इति तद्वद्वा  
किं तीर्थप्रवर्तनस्वभावस्तथाविधः किं वा कादाचित्क इति चेत्, उच्यते, कर्मोपाधिजन्यत्वेन  
सोपाधिकत्वात्मानादिस्म, किन्त्वचिन्त्यप्रभावपुण्यप्रकृतिरूपतीर्थकरनामकर्म यदा घट्यते  
तदैव शक्तिरूपेणोत्पद्यमानत्वेन कादाचित्क इति शक्तिरूपेण विद्यमानस्म स्वभावः

“ उदए जस्स सुरासुरनरयइनिघहेहिं पुडओ लोह ।

त तित्थपर नाम, तस्स विरागो हु केवल्लिणो ॥ १ ॥ ”

इति वचनादशेषातिवर्त्मक्षयाविर्भूतकेवलज्ञानकालमात्री यस्तीर्थकरनामकर्मविपाको  
दयस्तेनैवामिष्यज्यते, अत एव तीर्थकरनामकर्मस्थित्यवधिस्थितिकस्म स्वभावः, “ त च  
कह वेइज्जइ, अगिलाए धम्मदमणाए उ ” इति वचनात् मद्धर्मदेशनया तीर्थकरनामकर्म  
विनाशे तद्विनाशमात्रादिति । एतेन

“ तस्मिन् ध्यानसमापत्ते, चिन्तारत्नवदास्थिते ।

निस्मरन्ति यथाकाम, कुट्यादिभ्योऽपि देवनाः ॥ १ ॥ ”

इत्यपि मतमपहन्ति तम्, यतो यदि भगवत्स्याद्वाट्घर्मदेशना कुट्यादिभ्यो निस्सृता  
स्यात्तर्हि आप्तोपदिष्टा न स्यात्, तथात्वे च सा विश्वमनीयाऽपि न स्यात्, स्यात्पुरुषीयदेश  
नात्, अस्ति च सा विश्वमनीया, तस्मादाप्तोपदिष्टैवेति प्रसङ्गविपर्ययाभ्यां सिद्ध्यति । उक्तञ्च

“ कुट्यादिनिस्सृताना तु, न स्यादाप्तोपदिष्टता ।

विश्वासश्च न तासु स्यात्, केनेमा कीर्तिता इति ॥ १ ॥ ” इति

न च भगवदतिशयप्रभावादव मीस्वादिनिस्सृताया भाषाया भगवन्मुखोच्चरितत्व  
मारोप्यत इति वाच्यम्, “ अन्यत्र प्रमित द्वारोप्यने ” इत्यतोऽन्यधर्मिणि भगवन्मुखोच्चरि-  
तत्वस्य प्रमित्यभावेन कुट्यादिनिस्सृतभाषाया तदारोपाऽमम्भवात्, नाद्यावधि कुट्यादि-  
निस्सृता भाषासि सिद्धेति तत्र तदारोपाऽपि कथं मिद्वस्स्यात् ? न चास्मदागमोक्तत्वात्मा  
सिद्धेति चेत्तर्हि भाष्यमणित्र भाषेतिलक्षणाऽनाक्रान्तत्वाद्भाषारूपतामेवातिक्रमेत् । किञ्च सा  
व्यक्तवर्णपदवाक्यरचनात्मकस्पष्टाश्रयाऽपि न स्यात्, ता प्रति पुरुषकर्तृकतालुकण्ठाद्यभिघात  
सयोगस्य हेतुत्वात्, अन्यथा तयो. कार्यकारणभावे तत्रैव व्यभिचारस्स्यात् । अथ कुट्यादि  
निस्सृतभाषाभिन्नतादृशभाषा प्रत्येव तात्त्रादिसयोगस्य हतुत्रमिति नोक्तदोष इति चेत्तर्हि



किमपि व्यभिचारस्थल न स्यात्, यस्मिन् यस्मिन्ननुमाने व्यभिचारो यत्र तदन्यत्वविशेषण-  
दानस्य सुलभत्वात्, तस्माद्भयसंप्रतिपन्नस्पष्टाध्वरान्यथाऽनुपपत्त्या भगवन्मुखोच्चरितैव सेत्य-  
भ्युपगन्तव्यम्, किञ्च स्याद्वादभाषायां भगवतोऽचिन्त्यपुण्यसमारतया तन्मुखोच्चरितत्वाभ्यु-  
पगमे न किमपि प्रतिबन्धकमिति तत्र कुड्यादिनिस्तुतत्तस्य तत्र च भगवदतिशयकारणकत्वस्य  
तादृशदेशनायां भगवन्मुखोच्चरितत्वोपचारस्य च कल्पनाया वीजाभावात् तथा क्लिष्टकल्पना  
युक्तिमती । किञ्च लोके दृश्यमानमेवाचिन्त्यशक्तिकमभगवदतिशयप्रभावाद्द्विशिष्टतर भवति,  
न त्वदृष्टम्, तथा च पुरुषमुखोच्चरितैव भाषा लोकेऽनेकार्थबोधिनी दृश्यत इति भगवदति-  
शयप्रभावाद् भगवन्मुखोच्चरितैव भाषाऽनन्तार्थबोधिनी भवति । सामान्यपुसां यथाक्षयोपशमं  
क्वचित्कदाचित्परिमितार्थबोधेऽपि पुरुषधौरेयपुसामपायापममाऽतिशयहेतुकज्ञानातिशयात्प्र-  
तिक्षणमपरिमितनिशेषार्थमाक्षात्कारवदिति कल्पनैव युक्तिमती, दृष्टानुसारिणी कल्पनैव प्रा-  
माणिकी न त्वदृष्टानुसारिणीति न्यायात्, अधिकमस्मत्कृततत्त्वार्थविवरणगूढार्थदीपिकाख्य  
टीकातोऽन्येयम् । एतेन केवलज्ञानानाप्तौ कृतकृत्यत्वात् किमर्थं तीर्थकरणे प्रवर्त्तन्ते तीर्थकरा  
इत्यप्याशङ्का निरस्ता, यदि ते मुक्तात्मवत्तर्था कृतकृत्यास्स्युस्तदा नैव प्रवर्त्तन्, न  
चैवम्, अद्यापि भवोपग्राहिकर्मचतुष्टयस्यावशिष्टत्वात्, तदन्तर्गतपूर्ववृत्तीयभराराधितविशति  
स्थानकृतपोषलनिकाचितयद्दतीर्थकरनामकर्मोदयादेव तीर्थकरणे प्रवर्त्तन्त इति । उक्तञ्च—

“ तीर्थप्रवर्त्तनफलं, यत्प्रोक्तं कर्म तीर्थकरनाम ।

तस्योदयात्कृताथोऽप्य—हंस्तीर्थं प्रवर्त्तयति ॥ १ ॥

तत्स्वाभाव्यादेव, प्रकाशयति भास्करो यथा लोकम् ।

तीर्थप्रवर्त्तनाय, प्रवर्त्तते तीर्थकर एवम् ॥ २ ॥ ” इति ॥

तीर्थकराणां वचनं आचाराङ्गादिद्वादशविध तीर्थकरवचनम्, न चाऽऽचाराङ्गादिवचनस्य  
गणधरभगवत्प्रणीतत्वान्नैवमिति वाच्यम्, यतः तच्छब्दतो गणधरभगवत्प्रणीतमप्यर्थतोऽ-  
र्हत्प्रसूनिर्दिष्टमेव, यदभिहित ‘अथ मामहं अरिहा, सुत गथति गणहरा निऽण’ इति, तस्य  
सङ्गहविशेषो, सम्यक् गृह्यते अनुगतबुद्ध्या ज्ञायते इति सङ्गहः पूर्वोत्तरपर्यायेष्वनुगतबुद्धि-  
जनरूपूर्ध्वतासामान्यशब्दवाच्य द्रव्यम्, न तु सदुशपरिणामलक्षणतिर्यक्सामान्यशब्द-  
वाच्यम्, तस्य व्यञ्जनपर्याय एवान्तर्भावात्, विशिष्यते व्यावृत्तबुद्ध्या ज्ञायत इति विशेषो  
व्यावृत्तबुद्धिनिषयो विशेषशब्दवाच्यसहभाविकममाविभेदमिन्नः पर्यायः, सङ्गहश्च विशेषश्च  
सङ्गहविशेषो द्रव्यपर्यायो, तयोः प्रस्तार प्रस्तीर्यते विस्तीर्यते येन नयराशिना सङ्गहादि-  
केनामौ प्रस्तारः, तस्य मूलव्याकरणी, “ मूलमाद्ये शिफार्थयो. ” इत्यमरकोशवचनान्मूल  
आद्यम्, व्याक्रियत—न्याख्यायतेऽनेनेति व्याकरण व्याख्यानम्, तद्यस्यास्तीति व्याकरणी,  
मूल चासौ व्याकरणी मूलव्याकरणी, आद्यव्याख्याता, व्याख्यानश्च न ज्ञानादत इति आद्य

ज्ञाता वा, सङ्ग्रहप्रस्तारस्य सङ्ग्रहव्यवहारनयात्मकस्य, नैगमस्य सङ्ग्रहव्यवहारानन्तर्भावे तु नैगमसङ्ग्रहव्यवहारात्मकस्य वाऽऽद्यो वक्ता ज्ञाता वा द्रव्यार्थिकनयः । विशेषप्रस्तारस्य चर्जुस्रशब्दादेराद्यो वक्ता ज्ञाता वा पर्यायार्थिकनयः, तदेवाह-दषड्विओत्ति, द्रु गताविति धातुः, ततश्च द्रवति तौस्तान् स्वपर्यायान् प्राप्नोति मुञ्चति वेति तद् द्रव्यम्, यद्वा द्रवति गच्छति तौस्तान् पर्यायानिति द्रव्यम्, कर्त्तरि यत्, पूर्वोत्तरपर्यायानुगाम्यूर्ध्वतासामान्या रूपद्रव्यमिति भावः, अस्तीति मतिर्यस्यास्ति न आस्तिको द्रव्ये आस्तिको न तु पर्याये, तन्मते परमार्थभूतपर्यायाभावादिति द्रव्यास्तिकः, द्रव्य-आस्तिकयोस्ममासः । यद्वा द्रव्य-मेवाद्यो यस्य न तु पर्यायाः स द्रव्यार्थः, द्रव्यार्थ एव द्रव्यार्थिकः । स्वार्थिकोऽत्र ठन् प्रत्ययः । अथवा द्रव्ये वस्तुतत्त्वबुद्ध्या स्थितः न तु पर्याये इति द्रव्यस्थितः । अयं हि नयो द्रव्यमेव मृदादिलक्षण निखिलस्यामकोशकुशलकपालघटाद्याकारानुयायि वस्तु सन्मन्यते, तस्यैव तदाकारानुयायिनः स्थासोऽपि मृत् कोशोऽपि मृदित्वेवमनुगतप्रतीति विषयत्वात्, स्थासकोशाद्याकाराणां तु वासनाविशेषप्रभवविकल्पसिद्धत्वेनापारमार्थिकत्वात् । तदुक्तं नयोपदेशे—

“तिर्यगूर्ध्वप्रचयिनः, पर्यायाः खलु कल्पिताः ।

मत्स्य तेष्वन्वयि द्रव्य, कुण्डलादिषु हेमवत् ॥ १ ॥” इति

इदं हि मतमशुद्धसङ्ग्रहनयमूलभूताशुद्धद्रव्यार्थिकनयस्य, शुद्धद्रव्यार्थिकनयस्तु शुद्धसङ्ग्रहनयमूलत्वेन मृद्रव्यहेमद्रव्यादिकमपि तस्य सत्सामान्यापेक्षया भेदरूपत्वेन कल्पना-शिल्पनिर्मितमेव मनुते, वस्तुतो वस्तुमेदाभावात्, किन्तु ‘सदेव सोम्येदमग्र आसीत् । एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म, नेह नानास्ति किञ्चन’ इत्यादि श्रुतिसिद्ध ब्रह्मैव सत्, स्वस्वपर्यायानुगत-हेममृद्रव्यादिष्वपि सर्वेषु सत्सदित्यनुगतप्रतीतेः, यदेवाबाधितकालत्रयाणुगतप्रत्ययगोचरी-भूत तदेव सत्, नान्यत्, अत एवैतन्मते त्रिकालाबाधितत्व पारमार्थिकसत्त्वं गीयत इति । पञ्चवणओ-इति-परि समन्तात् अवन अवः-पर्ययो विशेषः, नयन नयः, वस्त्वैकांशपरिच्छेदः, पर्यवाणा नयः पर्यवनयः, अत्र लुप्तपठ्या विषयत्वार्थकत्वेन पर्यवविषयको ज्ञानात्मको नयः पर्यवनयः, पर्यवाभ्युपगन्ता नयः पर्यवनय इति यावत्, लुप्तपठ्या वा प्रतिपादकत्वार्थकत्वेन पर्यवप्रतिपादको वाक्यात्मको नयः पर्यवनय इति । ननु गुणविषयक-स्मृतीयो गुणार्थिकनयोऽप्यत्र किमिति नोक्त इति चेत्, उच्यते, गुणस्य पर्याय एवान्तर्भूतत्वेन पर्यायार्थिक इत्यत्र पर्यायशब्दस्य पर्यायसामान्यवाचित्वात्तेन क्रममाविषयपर्यायसहमात्रिगुणोभयाभिधानात्पर्यायार्थिकनयेनैव चरितार्थत्वात् । एतेन अर्थः सामान्यविशेषात्मा अन्यथाऽनुपपद्यमानाऽवाच्यमानानुवृत्तव्यावृत्तप्रत्ययगोचरत्वात्, न चात्र हेत्वभिद्धिः, तत्तद्घटेषु घटोऽयं घटोऽयमित्यनुगतप्रत्ययस्य ताम्रो मार्तिकः सौवर्ण इति पटादिर्ना

न भवतीति च व्यापृत्तप्रत्ययस्यापाद्यमानस्य प्रतिप्राणिप्रतीतेः, तथा चैतदनुमानसिद्धौ यौ द्रव्यपर्यायव्यतिरिक्तौ सामान्यप्रियेषौ तद्प्राहिणावतिरिक्तनयौ किमिति नोक्तावित्यपि शङ्का निरस्ता, तयोर्द्रव्यपर्यायान्तर्भावात्, तथाहि—ऊर्ध्वतामामान्यतिर्यक्मामान्यमेदेन सामान्य द्विविधम्, तत्र पूर्वापरपर्यायेष्वनुगतप्रतीतिविषयीभूत त्रिकालानुयायिवस्त्वंग्र लक्षणमूर्ध्वतामामान्य द्रव्यरूपमेव, तस्यैव तद्रूपत्वात्,

“पूर्वोत्तराग्विलचिवर्त्तसमूहवर्ति, द्रव्यस्वभावमिति युक्तियलात्प्रसिद्धम् ।  
सामान्यमन्वयधियः पदमूर्ध्वताग्यम्, येन प्रमुक्तमिह किञ्चन नास्ति वस्तु ॥”

इत्युक्तेः । तिर्यक्सामान्य तु प्रतिव्यक्तिसंज्ञशपरिणामलक्षण शब्दसङ्केतोपयोगित्वेन व्यञ्जनपर्याय एवान्तर्भूतम्, “स्थूला कालान्तरस्थायिनः शब्दानां सङ्केतविषया व्यञ्जन पर्यायाः” इति प्रावचनिकप्रसिद्धेः । विशेषोऽपि पर्याय एवान्तर्भूत इति नैताभ्यामधिकनया वकाशः । एव मेदोऽपि पर्यायात्मा अभेदश्च द्रव्यात्मेति न ताभ्यामप्यतिरिक्तनयानकाश इति । अत्र छन्दोमङ्गमयात् ‘पर्यायास्तिक’ इति वक्तव्ये ‘पर्ययनयः’ इत्युक्तम्, तेन पर्याया स्तिकेत्यस्याप्ययमर्थः, पर्येत्युत्पादविनाशौ प्राप्नोतीति पर्यायः, तत्रैव ‘अस्तीति मतिरस्य स पर्यायास्तिकः, यद्वा पर्याय एतार्थ’ पर्यायार्थः, सोऽस्ति यस्यासौ पर्यायार्थिकः, यद्वा पर्याये न तु द्रव्ये स्थित इति पर्यायस्थित । तत्र पर्यायास्तिकनयमतश्चैवम् शुद्धद्रव्यार्थिक नयेन ब्रह्ममात्रस्यैव सत्त्वाऽभ्युपगमे एको बद्धः, एको मुक्तः, एकः सुखी, एको दुःखी, एको रङ्ग, एको घनाढ्य इत्यादिमेदव्यवस्थोच्छिन्ना स्यात्, सा काल्पनिकीति चेत्, तर्हि ब्रह्मैव सदित्यपि कल्पनाशिल्पनिर्मितस्वसिद्धान्तरामनाप्रमवत्त्वेन काल्पनिक किञ्च स्यात् ? । नन्वभेदप्रतीतेस्त्रिकालाबाधितत्वाच्चद्विपयीभूतोऽभेद एव युक्तो न तु भेद इति चेत्, तर्हि बन्धमोक्षव्यवस्थानुपपत्तिस्स्यात्, यत आत्मनो बद्धत्वे मोक्षस्य तद्विरुद्धधर्मत्वाच्चदनुपपत्तिः, पूर्ण बद्धः पश्चान्मुक्त इति चेत्, तर्हि विरुद्धधर्माभ्यामाङ्गदापत्तिरिति नैकस्य स्थिरस्य बन्धमोक्षाविति । कालत्रयवर्त्ति न किञ्चिदपि वस्तु सत्, क्रमयोगपद्याभ्यामर्थक्रियाकारि त्वाभावात्, किन्तु यत्सत्तत्क्षणिकमिति व्याप्तेः क्षणिकमेव सत्, अत एवैतन्मते उत्पाद- व्यययोर्धर्माकारित्वलक्षणसत्त्वनिपतत्वात् मन्ववद्भस्तुमात्र तच्छालीति गीयते, तस्मात्पर्यायार्थिकनयाऽभ्युपगतार्थबाधने द्रव्यार्थिनपयुक्तय इव द्रव्यार्थिकनयाभ्युपगतत्रिपय बाधने पर्यायार्थिकनययुक्तयोऽपि तुल्यवद्वोऽङ्गमन्त इति नैकत्र पक्षपातः कार्यः, किन्तु परस्परसापेक्षद्रव्यपर्यायोभयोपग्रह एव विधेय इति तत्रम्, अत एवान्ययोगद्वारिशिक्षाया कलिकालसर्वत्रश्रीहेमचन्द्रघरिपादैः—

“य एव दोषा किल नित्यवादे, विनाशवादेऽपि समास्त एव ।

परस्परध्वंसिषु कण्टकेषु, जयत्यधृष्य जिन ! शासनं ते ॥ २६ ॥”

इत्युक्तं सङ्गच्छते । अथ “मूलव्याकरणी” इत्यस्य द्रव्यास्तिकपर्यायनयावभिधेयाविति द्वित्वाद्दिवचनेन भाव्यमिति चेत्, सैवम्, प्रत्येक वाक्यपरिसमाप्तरेकवचनस्यैवोचितत्वात् । अत एव चकारद्वय सूत्रे निर्दिष्टम्, तथा च सिद्धमेतद् द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकौ मूलनयाविति । तदुक्तम्—

“ तदित्थं न्यायतः सिद्धौ, द्रव्यपर्यायगोचरौ ।

द्वावेव नैगमादीना, मूलभूतौ नयाविति ॥ १ ॥ ” इति ॥

एतेन नामादिचतुष्टयद्वारतो द्रव्यश्रेयादिचतुष्टयद्वारतश्च तन्मूलनयचतुष्टयप्रसञ्जनप्रत्युक्तम्, नामादीनां द्रव्यश्रेयादीनां च द्रव्यपर्याययोरेवान्तर्भाववित्ति, “सेमा विपप्यासि” शेषास्तु मद्गद्वाद्युद्धरादयो विकल्पा भेदा अनयोर्द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकयोः । ‘सि’ इति “ बहुवचनेण दुवचन ” इति प्राकृतशैल्या दिवचनस्थाने बहुवचनम् । यद्यपि परमार्थत्वात् वस्तुमात्र परस्परमापेक्षद्रव्यपर्यायोभयात्मकमेव उत्पादव्यप्यौघ्यलक्षणमत्रा न्ययानुपपत्ते, अत एव यत्प्रत्ययमनेकान्तात्मकमर्थक्रियाकारित्वात् स्वविपयाकारस्रित्तिवदित्पनुमानेनानेकान्तात्मकमेष मिद्ध तथाप्येकान्तार्थाज्जगादित्त्वेन द्रव्यार्थिककृन्तुयोर्द्रव्याविरिक्तान् पर्यायान् निरस्यैकान्तद्रव्यग्राहकः, एवमेकान्तार्थावगादित्त्वेन पर्यायार्थिककृन्तयः पर्यायव्यतिरिक्तद्रव्यनिरासेनैकान्तपर्यायग्राहक, द्रव्यार्थिकरुनयस्तु द्रव्यव्यतिरिक्तपर्यायात् निराकरोति न वा स्वीकृते, किन्तु तत्रोदासीनवृत्त्या द्रव्यग्राहकः, पर्यायार्थिकरुनयोऽपि यत्रनिमित्तकान्यायेन पर्यायव्यतिरिक्तद्रव्यौदासीनवृत्त्या पर्यायग्राहकः । तद्भेदजिज्ञासामायायास्य नैगममद्गद्द्वयवहाराख्यभेदा, तदुक्तं वादिदेवधरिपादैः प्रमाणनयतत्त्रालोकालङ्कारे—“ आद्यो नैगममद्गद्द्वयवहाराभेदात्त्रेधेति । ७ । ६ । एतत्प्रकरणकारमतमाश्रित्य भाष्ये—

“ जो सामग्रग्राही, न नैगमो सगद् गतो अहया ।

डारो व्यवहारभित्तो, जो तेण समाणनिहेमो ॥ १ ॥ ”

इत्युक्तेः मामान्यग्राहिणो नैगमस्य मद्गद्दे, विशेषग्राहिणश्च तस्य व्यवहारनयेज्जतर्मावकारणाच्चमतेन मद्गद्द्वयवहाख्यभेदा, द्वितीयस्य चोभयमतेऽपि ऋजुसुत्रशब्दसमिच्छैवम्भूताख्या विकल्प्या राच्या, यदभ्यधायि प्रमाणनयतत्त्रालोकालङ्कारे “ पर्यायार्थिकश्वतुर्धा ऋजुसुत्र शब्दः समभिरूढ एवम्भूतश्च ” ॥ ७-२७ ॥ इति । भाष्येऽप्युक्तम्—“सगद्द्वयवहारा पदमगस्य सेमा य इपरस्य ” ॥ ७५ ॥ इति, सैदान्तिकमते—“उज्जुसुत्रस्य एगो अणुवउत्तो आगमतो एग द्वावस्मय पुहुत्त नेच्छइ” इत्यनुयोगद्वारसुत्रोक्त्या ऋजुसुत्रस्य द्रव्यार्थिकप्रतिपादनात्तस्य नैगममद्गद्द्वयवहाराख्यभेदात्, पर्यायार्थिकरुनयस्य च त्रयो भेदाः शब्दममभिरूढैवम्भूताख्या इति । तार्किकानुसारिभेदोक्तवृत्ते

अनुसन्धनेन वर्त्तमानानुसन्धकपर्याये द्रव्योपचारः कियत् इत्यौपचारिकद्रव्यावश्यकाम्युप-  
 गमेऽपि न पर्यायार्थिकनयचतुर्भेदक्षतिः, तेन नयेन मुख्यद्रव्यपदार्थस्यैव प्रतिक्षेपकरणात्,  
 मुख्येनैव च विभागो युक्त इति । अत्र वैशेषिकमते भावत्वाभावत्वयोः पदार्थत्वव्याप्यत्व  
 विपक्षा कृत्वा मात्रः पद्विधः अभावश्च चतुर्विध इति विभागवद् द्रव्यार्थिकत्वपर्यायार्थिकत्व  
 योर्नयत्वव्याप्यत्वविपक्षा कृत्वैव द्रव्यार्थिकः तत्त्वस्वरिकृतविवक्षाभेदतो द्विविधस्त्रिविधश्च  
 तुर्विधो वा, पर्यायार्थिकनयश्च चतुर्विधस्त्रिविधो वा इति विभक्तविभागः कृतः । वैशेषिकमते  
 भावत्वाभावत्वयोः पदार्थत्वव्याप्यत्वेऽपि तद्विपक्षायां द्रव्यत्वगुणत्वकर्मत्वसामान्यत्ववि-  
 शेषत्वममवायत्वाभावत्वानां पदार्थत्वव्याप्यत्वे सति पदार्थत्वव्याप्याव्याप्यत्वलक्षणविभाज-  
 कत्वात्तद्रूपेण यथा पदार्थविभागोऽङ्गीक्रियते तथाऽऽर्हतमतेऽपि द्रव्यार्थिकत्वपर्यायार्थिकत्व  
 योर्नयत्वव्याप्यत्वेऽपि तद्विपक्षाया तु सद्ग्रहत्वनेगमत्वादिसप्तधर्माणा नयविभाजकत्वात्  
 द्रूपेण मूलसप्तनयविभाग एव युक्तः । उक्ताशयेनैव “से किं त नए ? सत्त मूलणया पन्नत्ता  
 त जहा-णोगमे, सगहे, ववहारे, उज्जुसुए, मदे, समभिरूढे, एवभूए, इति छत्र मङ्गच्छते, न  
 तु भावाभावाद्रव्यगुणकर्ममामान्यविशेषसमवायप्रागभावञ्चसाऽत्यन्ताभावाऽन्योन्याभावा  
 द्वादश पदार्था इतिवद् द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनैगममद्ग्रहव्यवहारज्ञानसद्ग्रहमभिरूढैवभूता  
 नय नया इति मूलनयविभागो युक्तः, किन्तु द्रव्यत्वगुणत्वादीनां सप्तधर्माणा मिथो  
 विरोधिधर्मत्ववद्भावत्वाभावत्वयोर्न द्रव्यत्वगुणत्वादिभिस्मह मिथो विरोधिधर्मत्वमिति  
 तद्घटितधर्मविभागाभावनैगमत्वसद्ग्रहत्वादिसप्तधर्माणां मिथो विरोधिधर्मत्वात्तद्रूपेण मूल  
 नयविभागसम्भवेऽपि द्रव्यार्थिकत्वपर्यायार्थिकत्वयोर्नैगमत्वमद्ग्रहत्वादिधर्मैस्मह मिथो  
 विरोधामावात्तद्घटितनयधर्मेण मूलनयविभागाभाव एव युक्तः, अत एव न्यायाचार्यश्री  
 यशोधिजयोपाध्यायैस्त्वकृततत्त्वार्थविवरणे “एतेन नवनया द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिको नैगमः  
 सद्ग्रहथेत्यादिविभागो जैनाभासस्य दिक्कपटदेशीयस्य दवसेनस्य निरस्तो द्रष्टव्यः, मेद-  
 प्रमेदानां महोक्तौ विभागवाक्यविघातात्, “न हि भवति मूर्त्तामूर्त्तपृथिव्येतेजोवाय्वाकाश  
 कालदिगात्ममनांस्येकादश द्रव्याणीति विमज्जतो वैशेषिकबालस्य चतुर्दशभूतप्रामे त्रसेतर-  
 मेदद्वय प्रक्षिप्य षोडशधा विमज्जतो वाऽऽर्हतबालस्य नोपहामः’ इत्युक्त सद्ग्रहच्छते ॥ ३ ॥

अथ “सेसा वियप्पा सि” इत्यनेनैतत्प्रकरणकारमतेन मद्ग्रहप्रस्तारमूलव्याकरणिद्रव्या-  
 र्थिकस्य मद्ग्रहव्यवहारनयारूपी द्वौ विकल्पौ ब्राह्मी, अत एवोत्तरमाथायामुक्तमेदद्वयस्यैव  
 शुद्धाशुद्धस्वभावप्रदर्शनं कृतं, तत्राद्यो मेदः शुद्धस्वभावः, द्वितीयस्त्वशुद्धस्वभाव इति प्रति-  
 पादयितुं चतुर्थी गायामाह स्मिन्—

दव्यट्टियनयपघडी सुद्धा सगहपरूवणाविसओ ।

(पडिरूवे) पडिरूव पुण वयणत्थनिच्छओ तस्स चवहारो ॥ ४ ॥

द्रव्यार्थिकनयस्य प्रकृतिः शुद्धा सद्ग्रहप्ररूपणाविषयः, मद्ग्रहस्य सद्ग्रहनयस्य प्ररूपणा-  
 अभिधायकपदसहतिः तद्विषयः, अत्र विषयेण विषयिग्रहण कर्तव्यमिति तद्वाच्यार्थविषयक  
 यज्ज्ञान तद्रूपा, अशुद्धा तामाह- 'पटिरूवे' इत्यादि । घटादिनाऽशुद्धद्रव्येण सह  
 सङ्कीर्णा या सत्ता तल्लक्षणे प्रतिरूपे वचनार्थनिश्चयो व्यवहारस्तस्य द्रव्यार्थिकनयस्य  
 पुनरिति प्रकृति स्मारयतीति अशुद्धा प्रकृतिरिति सङ्घितार्थः, निश्चुतार्थस्त्वेवम् "द्व  
 द्विनयपयडी" द्रव्यार्थिकनयप्रकृतिः प्रागुक्तार्थस्य द्रव्यास्तिकनयस्य "ससिद्धिप्रकृती  
 त्विमे स्वरूप च स्वभावश्च निर्मगंश्च" इत्यमरकोशवचनात् प्रकृतिस्वभावः 'शुद्धा'  
 शुद्धा विशेषाऽसमिध्रा विशेषाननगाहिनीति यावत् । मा कत्यत आह- 'सगहप्ररूपणा  
 विमओ' इति, सद्ग्रहप्ररूपणाविषय इति । मद्ग्रहाति सामान्यरूपतया मर्षं वस्तु क्रोडी  
 करोतीति सद्ग्रहः । यद्वा मर्षेऽपि भेदास्सामान्यरूपतया मद्ग्रहन्तेऽनेनेति मद्ग्रहः, मर्षवस्त्व  
 भेदग्राहिनय मद्ग्रहनय इति यावत्, तस्य प्ररूपणा-घटाद्यर्थो वक्त्रा प्ररूप्यते प्रतिपाद्य  
 तेऽनया सा प्ररूपणा-इति व्युत्पत्तिसिद्धाऽभिधायकपदसहतिः, तस्या विषयः प्रतिपाद्यः, अत्र  
 सद्ग्रहप्ररूपणाविषय इत्यनेनोपचारतो विषयेण विषयिणोऽभिधानात् सद्ग्रहप्ररूपणाऽभि  
 धेयार्थविषयक ज्ञान ग्राह्यम्, अन्यथा क प्रस्ताव शुद्धद्रव्यार्थिकऽभिधातु प्रकान्ते सद्ग्रह-  
 प्ररूपणाविषयाऽभिधानस्य ?, यतः शुद्धद्रव्यार्थिकनयो ज्ञानात्मक इति तत्प्रकृतिःशुद्धा  
 सद्ग्रहनयज्ञानात्मिकेत्यभिधातु युक्तम्, न तु सद्ग्रहप्ररूपणाविषय इति, ननु मद्ग्रह  
 नयाभिप्रायतस्मद्ग्रहप्ररूपणाऽभिधेयः सदात्मकमात्र एवेत्यत्र का युक्तिरिति चेत्, उच्यते,  
 यानि सुबन्तानि तिङ्बन्तानि वा पदानि वाक्यानि वा तदर्थमात्रस्य मात्रस्वरूपव्यतिरिक्तत्वे  
 शशशृङ्गकल्पत्वापत्या सुबन्तार्थस्य तिङ्बन्तार्थस्य वा न स्यादिति तयोः सन्मात्रस्वरूपमात्र  
 रूपत्वमेवेति, ननु यत्र तिङ्बन्तक्रियापद न श्रूयते तत्र का गतिरिति चेत्, उच्यते, तत्रा  
 स्तिभवतीत्यादिक्रियाऽव्याहार्या, अत एव त्रैपाकरणैः " मर्षं वाक्य क्रियया परिसमाप्यते " इति  
 इति मन्यते, उक्ताशयनैव "अस्तिर्भवन्तीपर' प्रथमपुरुषोऽप्रयुज्यमानोऽप्यस्तीति गम्यते" इति  
 पातञ्जलभाष्येऽपि (अध्याय २, पा ३, सू. १, वार्तिक ११) इत्युक्तं सद्ग्रहच्छते । शशशृङ्गादेर्ज्ञा  
 नामावाज्ज्ञानविषयस्य सद्रूपताव्याप्यमिति मद्ग्रहत्वे मत्त्वेय पदार्थानामवगतिर्भन्तिमुमर्हति,  
 नान्यथा, सद्रूपत्वपरित्यागे घटपटादिस्तुमात्र निस्स्वरूप स्यादित्यस्त्यर्थः सत्तालक्षणोऽर्थः  
 सर्वशब्दानाम्, तथा चान्तर्गतादोषविशेष मन्मात्रमेवाध्यक्षस्य शब्दस्य वा विषय इति  
 सिद्धम् । नन्वेव घटत्वेन घटोऽय पटत्वेन पटोऽयमित्याद्याकारमपि ज्ञानमनुभूयते, न च घटत्व  
 पटत्वादिक वा सत्तात्मकम्, तस्य तद्व्याप्यत्वेन विशेषरूपत्वादिति चेद्, घटत्वपटत्वादि  
 विशेषोऽपि सन्नेव अन्यथा शशशृङ्गादरिव तस्य ज्ञानविषयत्व न भवेत् अतस्मर्षविशेषात्मकः  
 सन्नेव कदाचिद् घट इति कदाचिच्च पट इत्यादिरूपेण प्रतिमामते, यथैकमेव पानकद्रव्य  
 मधुरादिरसमय मधुरादितत्तद्रसात्मना प्रतीयते तद्वत्प्रकृत्यपि । न च घटपटादेः सद्रूपव्य-

तिरिक्तस्वरूपस्याऽभावे घटः पटादिभिन्नः पटश्च घटादिभिन्नः, अयं ब्राह्मणः अयं राज्ञ्य इत्यादिभेदव्यवहार उच्छिन्नस्स्यादिति वाच्यम्, यत एस्मिन् चन्द्रमसि तिमिररोगोपप्लुत दृशां द्वित्वप्रतिभासवद् भेदप्रतिपादकस्वस्वागमजन्यवासनावासितचित्तानां भेदप्रतिभासेनाभिन्नमपि भिन्नवदामासत इति पटार्थभेदावभासो भ्रान्त एव, न तु यथार्थ इत्येव सर्वभेदापलापी सर्वे सन्मात्रतया सद्गृह्णन् सग्रह. शुद्धा द्रव्यास्तिकनयप्रकृतिरिति व्यवस्थितम् । एतेन द्रव्यार्थिकनयशुद्धप्रकृतिसद्ग्रहनयविषयप्ररूपणापरस्तच्चिदानन्दस्वरूपब्रह्मादादशुद्ध-द्रव्यार्थिकांशः, तन्मते हि ब्रह्मभिन्नस्याशेषजगतो नामरूपात्मकस्य मिथ्यात्वम्, ब्रह्मणस्त्वद्वितीयसच्चिदानन्दात्मकस्य त्रिकालाबाधितस्वरूपतया सत्यत्वम्, यतो ब्रह्मैव तेन तेन घटाद्यात्मनाऽत्रभासते, तथा च सर्पमालावस्त्रादौ सर्वत्रेदस्वरूपस्येव घटपटमठादौ सर्वत्र ब्रह्मात्मकमद्रूपस्यानुगामित्वात्तदेव परमार्थमदिति घटपटादिरूपस्य जगतः सत्ता ब्रह्मसत्त्वैव, अतो ब्रह्मरूपेण सर्वस्यैकत्वमिति सद्ग्रहनयमूलकत्वं वेदान्तदर्शनस्येति । सर्वहरिस्त्रीकृतशब्द-सन्मात्रस्वरूपब्रह्मादोऽपि शुद्धसद्ग्रहनयमूलक एव, वैयाकरणाभ्युपगतिरप्येतद्वादावलम्बिन्येव, एतन्मते शब्दब्रह्मस्वरूपेण सर्वस्यैक्यात् । उक्तञ्च वाक्यपदीये ग्रन्थे प्रथमकाण्डे “अनादिनिघन ब्रह्म, शब्दतत्र यदक्षरम् । त्रिवर्ततेऽर्थभावेन, प्रक्रिया जगतो यतः ॥ १ ॥ न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके, यः शब्दानुगमादृते । अनुविद्धमिव ज्ञान, सर्वं शब्देन भासते ॥२॥ वाग्नपता चेद् व्युत्क्रामे—दशमोघस्य शाश्वती । न प्रकाशं प्रकाशेत, मा हि प्रत्यवमर्शिनी ॥३॥” इति । अत एव नयोपदेशे “जात द्रव्यार्थिकाच्छुद्धादर्शन ब्रह्मवादिना । तत्रैके शब्दसन्मात्र चित्सन्मात्र परे जगुः ॥ ११० ॥ इत्युक्तं सङ्गच्छते । नन्वनेन द्रव्यार्थिकनयस्य ब्रह्महनय प्ररूपणात्रिषयत्रिषयकज्ञानरूपा शुद्धा प्रकृतिरुक्ता, अस्याऽशुद्धा प्रकृतिः केत्याशङ्क्यातामुपदर्शयितुमुत्तरार्द्धमाह “पडिरूवे पुण वयणत्थनिच्छओ तस्म ववहारो ” प्रतिरूपे पुनः वचनार्थनिश्चय तस्य व्यवहारः, प्रतिरूप प्रतिविम्ब घटादिनाऽशुद्धद्रव्येण सङ्कीर्णा मत्ता, स्वरूपसत्तेति यावत्, तस्मिन्प्रतिरूपे यो वचनार्थनिश्चयस्म व्यवहार -व्यवहारनय तस्य द्रव्यार्थिकस्य पुनरिति प्रकृतिं स्मारयतीति प्रकृतिः । वचनार्थनिश्चय इत्यस्यायमर्थः—उच्यत इति वचनम्, हेयोपादेयोपेक्षणीयत्रिषयनिवृत्तिप्रवृत्त्युपेक्षालक्षणव्यवहारसम्पादनार्थमुच्यमान घटोऽस्तीत्यादिवाक्यम्, तस्य घट इति विशेषस्वरूपतयाऽस्तीति सामान्यस्वरूपतयाऽमिधेयो व्यवहारक्षमो योऽर्थः तस्य निश्चयो—निश्चयन निश्चय.—निर्णयः, व्यवहरण व्यवहरतीति वा व्यवहारः, लोकप्रसिद्धव्यवहारप्रवर्तनपरो नयो व्यवहारनयः । तथा च निवृत्तिप्रवृत्त्युपेक्षालक्षणव्यवहारसम्पादकशब्दार्थनिश्चयो व्यवहारनयस्तस्य द्रव्यार्थिकनयस्याऽशुद्धा प्रकृतिरिति भावः । पडिरूप इत्येव प्रथमान्तस्त्वे तु प्रतिरूप प्रतिविम्ब विशेषण घटादिनाऽशुद्ध-द्रव्येण सङ्कीर्णा सत्तेति यावत् पुनश्शब्देन प्रकृति स्मार्यत इति सा प्रकृतिः—स्वभावः । अत्रापि त्रिषयेण त्रिषयिग्रहण कार्यमिति घटाद्यशुद्धद्रव्यसङ्कीर्णमत्ताप्राहिष्ठानात्मिका

प्रकृतिः, कस्य प्रकृतिः किं नयस्वरूपा च सा, न नयश्च किंस्वरूप इत्याशङ्कामुक्तार्थस्पष्टीकरणेन समाधत्ते-वचनार्थनिक्षेपस्तस्य व्यवहार इति, तस्यार्थः पूर्णमिति । यथाभूतवाचद्विषयाऽभ्युपगमे सति प्रवृत्तिनिवृत्त्युपेक्षालक्षणो लौकिकव्यवहारः प्रवर्तते तथाभूततावद्विषयकज्ञानमेव तथाभूतव्यवहारनिदानमभ्युपगन्तव्यम्, तत्र प्रवृत्तिलक्षणो व्यवहार उपादेयतावच्छेदकरूपेणोपादेयविषयको भवतीति तत्रोपादेयतावच्छेदकीभूतो यो धर्म इष्टमाधनतावच्छेदकधर्मपर्यवमितस्तद्रूपेणोपादेयस्येष्टसाधनस्य ज्ञान कारणम्, एव निवृत्तिलक्षणो व्यवहारो हेयतावच्छेदकधर्मेण हेयविषयको भवतीति तत्र हेयतावच्छेदकीभूतो योऽनिष्टसाधनतावच्छेदकीभूतधर्मपर्यवसित तद्रूपेण हेयस्य द्विष्टमाधनस्य ज्ञान कारणम्, एतदुपेक्षालक्षणो व्यवहार उपेक्षणीयतावच्छेदकधर्मरूपेणोपेक्षणीयविषयको भवतीति तत्रोपेक्षणीयतावच्छेदको धर्म इष्टमाधनतानिष्टमाधनतानन्यतरानवच्छेदकधर्मपर्यवमितस्तद्रूपेणोपेक्षणीयस्येष्टसाधनानिष्टमाधनानन्यतराऽनात्मकस्य ज्ञान कारणम् । एवञ्च महत्प्रवृत्तियविषयः केवलसचैव, न उस्तु, तस्या सत्त्वाया एकस्या एकरूपत्वस्यैव युक्तत्वेन हेयरूपत्वे निवृत्तिलक्षण एव व्यवहारस्स्यात्, न प्रवृत्त्यादिरूपः, एतदुपादेयरूपत्वे प्रवृत्तिलक्षण एव व्यवहारस्स्यात्, न निवृत्त्यादिलक्षण, एतदुपेक्षणीयरूपत्वेऽभ्युपेक्षालक्षण एव व्यवहारस्स्यात्, न तदन्यो व्यवहारः । उस्तुत एकोऽपि व्यवहारस्तत्र न भवेत्, तदवच्छेदकस्य कस्य चिद्धर्मस्य धर्मिभिन्नस्य द्वैतावत्तिमियाऽभ्युपगमाऽयमत्रात् इति लोकाव्यवहारमिच्छार्थपरस्परतो विभिन्नस्वभावा ह्योपादेयोपेक्षणीयस्वरूपा भावास्तत्तद्भर्त्वाच्चिन्मासन्तो व्यवहारोपयोगिशब्दप्रभवसत्त्वेन प्रतिभासन्त इत्यभ्युपगन्तव्यमिति व्यवहारनयामिप्रायः । यद्य “ मयं वाक्य क्रियया परिममाप्यते ” इति नियमः प्रागुक्त सोऽपि नाभ्युपगम्यते । न च यत्रान्यत्क्रियापद न श्रूयते तत्रापि “ अस्तिर्भवन्तीपरः प्रथमपुरुषोऽप्रयुज्यमानोऽप्यस्तीति गम्यते ” इति माष्यवार्तिकचनविरोधस्स्यादिति शङ्कनीयम्, तस्य यत्र किञ्चित्क्रियापदमध्याहृतै शक्यते तादृशस्थलविषयकत्वेनामार्गत्रिकत्वात्, यत्र तु स्थले कस्यापि क्रियापदस्य नाध्याहारस्मममति तत्र तु क्रिया त्रिनाऽपि वाक्यपरिममाप्तिर्भवत्येव, यथा ‘त्रयं काला’ इत्यादौ, अत्र सन्तीत्यध्याहार भूतमविष्यत्कालयोस्तत्रानन्ययापत्तेः, आसन् इत्यध्याहार वर्त्तमानमविष्यत्कालयोस्तत्रानन्ययापत्तेः, मविष्यन्तीत्यध्याहारे भूतवर्त्तमानकालयोरेवपस्तत्र न स्यादिति तत्र क्रियापद विनैव वाक्यपरिममाप्तिवदन्यत्रापि यत्र क्रियापद न श्रूयते तत्रापि क्रियापद विनैव परिममाप्तिः परिकल्पनीयेति ।

यद्य सङ्ग्रहनयमूलप्रकृतिरुचदान्तदर्शने घटपटमठादौ मयं नन् सन्नित्यनुगतप्रतीतिविषयत्वाद् ब्रह्मात्मकमत्तैव पारमार्थिकीत्याद्यर्थक प्रागुक्त तदप्यमङ्गतमेव, यतः प्रतीतिमात्रस्य विशेष्यीभूतधर्म्यंश प्रामाण्यमेवाऽविगानेन तत्त्वज्ञैस्मयैऽभ्युपगत, प्रकाराशे तु



प्रमात्मकप्रतीतौ प्रामाण्य तदितरत्र तदितरदिति विशेष्यविधया भाममानघटपटादयस्मन्त  
 एवाभ्युपगन्तव्याः, स्वसिद्धान्ततत्परमिध्याभिनिवेशबलात् तत्र प्रकारांशविधया भाममाना  
 ब्रह्मात्मकसत्ता त्प्रामाणिक्येय, पित्तमण्डकवसाञ्जनादिदोषबलादेव श्वेतवस्तुमात्रे प्रतीय  
 मानपीतत्ववत् । अथ श्वेतवस्तुमात्रेऽनुगतत्वेन प्रतीयमानमपि पीतत्वं बाधितम्, दो  
 निवृत्तौ धन्मया प्राक् पीतत्वेनोपलब्ध तन्न पीतमित्युत्तरकालबाधकप्रत्ययमात्रात् । ब्रह्म  
 सत्ता तु कालत्रयेऽप्यबाधिता, कदाऽपि तत्र बाधकप्रत्ययाभावादिति कालत्रयावच्छिन्नाबा  
 धितब्रह्मसत्तैव पारमार्थिकीति चेत्, तर्हि धर्म्यशे ज्ञानमात्रस्य मूर्तेरपि प्रेक्षादशैरविगानेन  
 प्रामाण्याऽभ्युपगमाद् घट' सन् पटस्मन्नित्यादिप्रतीतौ धर्मिभूतघटपटादयोऽपि पारमा  
 र्थिका अभ्युपगन्तव्याः । अथ " मदेव सोम्येदमग्र आसीत्, एरुमेवाद्वितीयं ब्रह्म, नेह  
 नानास्ति किञ्चन " इत्यादि श्रुतिश्रवणमनननिदिध्यासनप्रयुक्तसुदृढदशापन्नाभेदभावना  
 जन्यब्रह्मतत्त्वमाश्रितकारे सर्वेषां वस्तूना मिध्यारूपतयैव प्रतीयमानत्वात् ते परमार्थत  
 सत्याः, किन्तु व्यवहारत इति चेद्, मैरम्, पूर्वोत्तरपर्यायाभ्यां स्वद्रव्येण चोत्पादव्ययधौ  
 व्यानुभवादिप्रमाणेन यदेवोत्पादव्ययधौव्ययुक्त तदेव सदिति साधितत्वेन साधयिष्यमाण-  
 त्वेन चोत्पादादिधर्मत्रयाक्रान्तभावाद्यगाद्यबाधितप्रतीतिविषयत्वेन तेषामेव परमार्थतः सद्रूप  
 त्वात् । एकान्ताभिन्नैकरूपे ब्रह्मत्वथे उक्तमल्लक्षणस्याऽघटमानत्वेन तस्याऽमद्रूपत्वात् ।  
 मेरुध्वजैरकेऽपि भावाः शाश्वता, किन्तु काञ्चनकामिन्यादिसयोगरदनित्या इति ज्ञेयबुध्स्या  
 सम्यग् विज्ञाय प्रत्याख्यानप्रतिज्ञया सर्वथा तत्परित्यागकरणेनैरुत्पादिभावनाप्रशस्त  
 व्यानादिबलेन सचिदानन्दलक्षणब्रह्मस्वरूपागतावपि तस्य ज्ञेयपरिणतिभेदेन प्रतिक्षण  
 तद्विषयकज्ञानपरिणतिभेदभावादुत्पादादिसल्लक्षणयुक्तत्वादेव सत्स्वरूपत्वमभ्युपगन्तव्यम् ।  
 न च व्यवहारोऽप्याप्तपुरुषव्यवहृतोऽप्रामाणिक, अन्यथा कश्चेतयिताऽप्रामाणिकव्यवहार  
 मभिजानन् प्रवर्तेत निर्वर्तेत चेति व्यवहारस्यैव विलोपेन जगन्निरीह स्यादित्याप्तपुरुषकृत  
 व्यवहारसिद्धिमाजो विभिन्नभावा परमार्थभूता एवाभ्युपगन्तव्याः । किञ्च ब्रह्मात्मक-  
 सत्ताविप्रतिपन्नान् प्रति तत्साधकाऽनुमानमेव प्रमाणतया शरणीकर्तव्यम् । तच्च पक्षसाध्य-  
 हेत्यादिपरिस्वरपरिकरितत्वेनानेकघटितमिति तस्य प्रामाण्ये द्वैतापत्तिः । अप्रामाण्ये ब्रह्मा  
 त्मकसत्त्वाऽसिद्धिः, उक्तञ्च—

“ हेतोरद्वैतसिद्धिश्चेद्, द्वैत स्याद्वैतुसाध्ययो ।

हेतुना चेद्विना सिद्धि-द्वैतं चाहमात्रतो न किम् ? ॥१॥ ” इति एव ब्रह्माद्वैतवादे

“ कर्मद्वैत फलद्वैत, लोकद्वैत विरुद्धयते ।

विद्याऽविद्याद्वय न स्यात्, चन्धमोक्षद्वय तथा ॥१॥ ” इत्याद्यापत्तिश्च ज्ञेयेति ।

यद्वा “ प्रतिशब्दस्य वीध्यायां कर्मप्रवचनीयसज्ञाविधानसामर्थ्याद् द्वितीयार्गम

वाक्यमपि " इत्युक्तेरर्थमर्थं प्रतीतिवाक्यस्वरूपम्, प्रत्यर्थमिति च ममस्तरूपमिव, वृक्षं वृक्षं प्रति विद्योतते विद्युदित्यत्र वृक्ष वृक्ष प्रतीतिवाक्यस्वरूपम्, प्रतिवृक्षमिति च समन्तरूपमिव वा, रूप रूप प्रतीति-वाक्यस्वरूपम्, प्रतिरूपमिति तु समस्तरूपम्, तत्र प्रतिशब्दो वीष्मायाम्, रूपशब्दश्च वस्तुन्यत्र प्रवर्तते, तेनायमर्थः-रूप रूप प्रति वस्तु वस्तु प्रति यो वचनार्थनिश्चयस्य व्यवहारो व्यवहारनयः, तस्य द्रव्यार्थिकनयस्य प्रकृतिः स्वभाव इति । तस्य विवेचनमेव सम्मतितर्के कृतम्-प्रतिरूपमेव वचनार्थनिश्चयो व्यवहारे हेतुः, न पुनरस्तित्वमात्रनिश्चयः, यत्. 'अस्ति' इत्युक्तेऽपि श्रोता शङ्काशुपगच्छन् लक्ष्यते, अतः 'किमस्ति' इत्याशङ्कायां 'द्रव्यम्' इत्युच्यते, तदपि किम् ? पृथिवी, साऽपि का ? वृक्षः, सोऽपि कः ? चूतः, तत्राऽप्यर्थित्वे यावत् 'पृथिवीः' 'कलितः' इत्यादि तावन्निश्चिनोति यावद्व्यवहारमिद्विरिति । व्यवहारो हि नानारूपतया सचां व्यवस्थापयति, तथैव सव्यवहारममवात्, अतो व्यवहरतीति व्यवहार इत्यन्वयसंज्ञां विभ्रत् अशुद्धा द्रव्यार्थिक प्रकृतिर्मवतीति । अस्यायमभावः-यावता विशेषोपगमेनाच्चालगोपालमाधारणो व्यवहारसमर्थितो भवति तावाञ्च विशेषमन्तानो व्यवहारविषय इति निर्णीयते । इत्यञ्च व्यवहारयोग्यान्तमविशेषाम्युपगमरूपो व्यवहारो नैरम्भूते प्रविशति, एवमेव चास्य द्रव्यार्थिकत्वसुरक्षितं भवति, व्यवहारो हि नानारूपतया सचां व्यवस्थापयतीति वचनेन व्यवहारस्य महासामान्यरूपसत्ताम्युपगमोऽस्तीति न भ्रमितव्यम्, महामामान्यं हि सत्त्वमेकमेव, तस्य च नानारूपत्वं माधितमेव किन्त्वनेन रचनेन महासत्ता नास्त्येव, परन्तु स्वरूपमैव प्रतिव्यक्तिनियता नानेति प्रतिपाद्यते, अत एव स्यादस्त्येव घटः, स्यान्नास्त्येव घट इत्यादिमत्समस्याः सत्तारूपास्तित्प्रतिपादकस्य प्रथममङ्गस्य सङ्गदमूलकत्वं सत्ताप्रतिपक्षरूपनास्तित्वात्मकविशेषप्रतिपादकस्य द्वितीयमङ्गस्य व्यवहारमूलकत्वं "एव सत्प्रियत्वे" इत्यादिव्याख्याने प्रतिपादयिष्यमाणं सङ्गच्छत इति । अनुगतव्यवहारस्त्वतश्चाप्युपैव विबोध्यः । यद्यपि विशेषमात्राम्युपगमना व्यवहारेण किमपि सामान्यमनुगतं वस्तुभूतं नाद्वीकृतमिति यथा सर्वानुगतं महामामान्यं सत्तास्वरूपं न तदमितं तथा द्रव्यत्वाद्यन्तरसामान्यमपि परापरसामान्यस्वरूपं घटत्वाद्यपरसामान्यस्वरूपं न वस्तुभूतममितम्, तथापि लौकिकः सर्वोऽपि प्रवृत्तिनिवृत्त्यादिकलको व्यवहारस्तेनोपपादनीय इति यादृश द्रव्यत्वादि-कमनुगतप्रतीतिनियामकं तेनाश्रयणीयं तादृशं महामामान्यमपि तनाम्युपगन्तव्यम्, द्रव्यत्वादिकञ्चातद्व्यावृत्तिरूपमपोहशब्दाभिधेयं काल्पनिकं यथा तदमितं तथा महामामान्यसत्त्वमपि, अन्यथा सत्-द्रव्यं पृथिवी वृक्ष आम्न इत्यादि सामान्यविशेषाश्रयणप्रवृत्तव्यवहरणं कथं तस्य सङ्गतं स्यात् । इयांस्तु विशेषः, सङ्गहनये यन्महामामान्यं सत्त्वं तदेव वस्तु, तत्तद्रूपमेव, न तु तदाश्रय. सन्, धर्मधर्मिभावानापन्नमेव तत्, तदेव चावान्तरद्रव्यत्वादिरूपेणानुगतेन व्यक्तिसरूपैर्विशेषैश्चावभासत इत्येतावता सवात्मकं, सर्वाणि चान्यानि

तदात्मकानि, न तु वस्तुतस्तदन्यानि सन्तीति । व्यवहारनये तु यावन्तो व्यवस्थात्मका विशेषा व्यवहारपथमपगच्छन्ति ते सर्वे वस्तुभूता एव, मामान्यानि च सर्वाण्यतद्वाच्यचिरूपाणि कल्पितान्येव व्यवहारफलकानि, न तु स्वरूपतो वस्तुभूतानीति, तथा च वस्तुभूत महामामान्य परमार्थतो नाभ्युपगत सत्तालक्षणमिति तदनभ्युपगमोऽपि मङ्गल', अपोहलक्षणतदभ्युपगमेन सद्रव्यमित्यादिविभजनाऽपि साधुमङ्गता, एव परापरसामान्यादित्रिभजनमपि, तत्त्वामान्याधारभूता व्यक्तिलक्षणविशेषा वस्तुभूता इति तद्धर्मतया तान्यपि सामान्यानि वस्तुभूतानीति व्यवश्रियन्ते, ईदृशविचारममाश्रयणतोऽयान्तरसामान्याभ्युपगन्तृत्व व्यवहारस्येति भावनीयम् । अत्र सत्ताऽपेक्षया द्रव्यत्वमपरसामान्यम्, पृथिवीत्वापेक्षया परमामान्यम्, पृथिवीत्वमपि द्रव्यत्वाऽपेक्षयाऽपरसामान्य वृक्षत्वापेक्षया च परसामान्यम्, वृक्षत्वसामान्यमपि पृथिवीत्वापेक्षयाऽपरसामान्य आम्रत्वापेक्षया च परसामान्यमित्येव परापरसामान्यानि तत्तद्व्यक्तिलक्षणयावदन्त्यविशेषानपि प्रष्टव्युपगुक्तानभ्युपगच्छति व्यवहारनय इत्युक्तं भवति । यतो न हि परापरसामान्यत्रिभजनाक्रममनादृत्यान्त्यविशेषाऽभ्युपगमो व्यवहारनयस्य समस्ति, तथा मति व्यवहारस्वरूपमेवास्तौ जज्ञात्, किन्तु सर्वेषां विभक्तानां परापरसामान्यानामन्तिमविशेषरूपतैवेत्यत्रान्तिमविशेषाभ्युपगमस्य पर्यवमानमिति । ननु नैगमनयोऽपि सत्तालक्षणमहासामान्यमेक द्रव्यत्रपृथिवी-वादिक् परापरसामान्य तदाश्रयविशेषाँश्चाभ्युपगच्छति, अत एव सामान्यविशेषग्राहिणो ये शब्दार्थाध्ययमायास्तद्बुद्धिद्रव्यार्थिकत्वरव्याप्यजातिमन्त्रमिति तल्लक्षणं सिद्धान्तविदो विदन्ति, तथा च कोऽनयोर्विशेष इति चेत्, उच्यते, नैगमस्य नैकविधत्वाद् यो नैगमस्मत्तामात्र महासामान्य मनुते तस्य सद्ग्रहणयेऽन्तर्भावः, यश्च तद्व्यतिरिक्तपरापरसामान्यानि तदाश्रयव्यक्तीधोरीकरोति तस्य व्यवहारनयेऽन्तर्भावः कर्त्तव्यः । अत एवास्या गाथार्था नैगमो न पृथग् जगृहे, मद्ग्रहव्यवहारातिरिक्ततद्विषयासिद्धे' । तथा च " मन्वरजस्तमोलक्षण सामान्यमेकमचेतन द्रव्यम्, अनेक च चेतन द्रव्यमर्थोऽस्तीति द्रव्यार्थिकः, अशुद्धो व्यवहारनयाभिप्रेतार्थाभ्युपगमस्वरूपो बोद्धव्य', उच्यति चाचार्यः— 'ज कानिल दरिण एय दवड्डियस्म वत्तव ' ॥ इति बृहद्गीतोक्तैर्व्यवहारनयविषयप्ररूपणा परमाख्ययादमूलभूतो द्रव्यार्थिकनयोऽशुद्ध इति प्रतिपादितं भवति । वेदान्तप्रकृतिभूतमङ्गलनयेनैकतया विषयकृतस्यात्मनो भेदकरणेन मङ्गलविषयभेदकत्वालक्षणसमन्वयाद् व्यवहारप्रकृतिक-व माहुर्यदर्शनस्य प्रिभक्षितमिति तात्पर्यम् । अत एव "अशुद्धाद् व्यवहाराख्यात्, ततोऽभूत् माह्वधदर्शनम् । चेतनाचेतनद्रव्या-नन्तपर्यायदर्शकम् । १११ ॥ इति नयोपदेशोक्तं सङ्गच्छत । येषां च मते पृथक् नैगमनयो विद्यते तन्मते यद्यपि परसामान्यपरापरसामान्या-परापरसामान्यानि तदाश्रयविशेषाँश्चाभ्युपगच्छति नैगमो नयस्तथाऽप्यसौ मिथस्तामान्यतदाश्रयव्यक्तयोर्भेदमामनुते, यतः सत्तासामान्य द्रव्यत्वादिकं च साश्रयेभ्योऽभिन्न स्यात्तदासाश्रयवत्तस्याप्यनेकत्वानतस्साश्रयेषु यावत्स्वनुगतधर्माभावात् सत्सत् द्रव्य द्रव्यमित्या,

घनुगतप्रतीतिर्न स्यादिति मित्रेष्वभिन्नपुद्गलन्यथानुपपत्तेस्साश्रयेभ्यस्तत्ताद्रव्यत्वादिकं  
मिन्नमेव, मत्ताद्रव्यत्वादितस्साश्रयव्यक्तीनाममेद तद्रत्तासामप्येकत्वापरयेय व्यक्तिभिन्नैत-  
द्दृक्तेरियमपि मित्रेत्यादिमेदव्यवहार उच्छिन्नस्स्यादिति दृश्यमानमेदव्यवहारान्यथाऽनुप-  
पत्त्या ततस्तामामपि मेद एवेति नैगमनयाऽभिप्राय, तदुक्त विशेषावश्यकमाप्ये—

“ मदिति भणिषऽभिमन्नद दत्त्वादत्थतर ति सामन्न ।

अविसेसओ मर्हए सञ्चत्थाणुप्पविस्तीण ॥ २१९० ॥

गोत्तादओ गवाडसु निययाधाराणुवित्तिबुद्धीओ ।

परओ य निविस्तीओ सामन्नविसेसनामाणो ॥ २१९१ ॥” इति

व्यवहारनयस्त्वेव नैराभिमनुते, विशेषाणामेव वस्तुत्वेन व्यवस्थापनपरत्वात्तस्य, अत  
एव विशेषतो व्यवहियते निराक्रियते मामान्य येनेति व्यवहार इति तस्य व्युत्पत्तिस्मि  
द्धान्ते गीपते, तन्मते विशेषव्यतिरिक्त नास्ति मामान्यम्, योग्याऽनुपलब्धेः, खपुष्पवत्,  
विशेषास्तु मन्ति स्वप्रत्यक्षप्राज्ञात्तात्, घटादिवत् । किञ्च जलाहरण-म्रणपिण्डीप्रदानादिको  
लोकव्यवहारो घट-निम्बपत्रादिविशेषैरेव माक्षात् क्रियमाणो दृश्यते, न मामान्येन,  
तस्मात्तदर्थान्तरभूत मामान्य नास्त्येव, लोकव्यवहाराऽनिर्वाहकत्वात्तस्य, यदभ्यघाधि  
तत्त्वमुघार्षिमाप्यकारेण—

“ उचलभचवहाराभावाओ निविसेसभावाओ ।

त नत्थि म्वपुष्फ पिव सति विसेसा सपचत्थ ॥ २२१४ ॥

ज च विमेसेहिं चिय सवत्तारो वि कीरण सत्थ ॥

जम्हा तम्मत्त चिय फुट तदत्थंतरमभाओ ॥ २२१५ ॥” इति

इत्येव नैगमव्यवहारयोर्मेद मिद्धान्तविदा व्याख्यते इति ॥ ४ ॥

पतायत्प्रबन्धेन सामान्यप्रस्तारार्थकमद्ग्रहप्रस्तारस्य मूलव्याकरणी द्रव्यार्थिकनय,  
मद्ग्रहव्यवहारौ तद्विकल्पाविति प्रतिपाद्याधुना विशेषप्रस्तारस्य मूलव्याकरणी यः पर्याया-  
र्थिकनयस्तस्य वृक्षस्वरूपस्य मूलमृजुद्धनय. शब्दममभिरूढेवम्भूतनयान्तु तच्छाखा  
प्रशाखाप्रतिगाखारूपास्स्थूलसूक्ष्मसूक्ष्मतरमेदा इत्येतत्प्रतिपादयितुमाह—

मूलनिमेण पज्जव-णयस्स उज्जुसुअवयणविच्छेदो ।

तस्स उ सद्दाईआ, सात्पसाहा सुहुममेया ॥ ७ ॥ इति गाथाध्वजम् ।

पज्जवणयस्म पर्यायनयस्य, ‘मूलनिमेण’ आद्याधारः, म क इत्यत आह—“उज्जुसुय-  
वयणविच्छेदो” ऋजुद्धत्रयचनविच्छेदो लक्षणया विच्छिद्यमानवचनप्रतिपाद्यार्थविषयकर्तृ-

सूक्ष्मनयः, 'तस्स उ' तस्य तु—ऋजुसूक्ष्मतरस्तु 'महाईया' साहपसाहा सुहुममेया' शब्दादिकाः शाखा—प्रशाखाः सूक्ष्मभेदाः, यथा तरोऽशाखा स्थूला प्रशाखा ततस्सूक्ष्मा प्रतिशाखा ततोऽपि सूक्ष्मतरा तद्वत् शाखात्मकशब्दनय' स्थूलः, प्रशाखात्मकस्तममि रूढनयस्ततस्सूक्ष्म', प्रतिशाखात्मक एवम्भूतनयस्ततोऽपि सूक्ष्मतर इति सङ्घिसार्थः । विस्तृतार्थस्त्वेवम्—मूलनिर्माण—अत्रानेकान्तव्यवस्थाग्रन्थे 'मूलनिर्माण' इतिपाठः । मूलमेव आद्यमेव निर्माण आधारो मूलनिर्माण, मूलभूताधारः आद्याधारः पर्यायनयस्यर्जुसूत्रवचन विच्छेदः । ऋजु वर्त्तमानक्षणमात्रवर्त्तिं वस्तु तस्यैव वर्त्तमानतत्तत्क्षणस्थितिलक्षणस्वस्वरूपे व्यग्रस्थितत्वेन मद्रूपत्वात्, अतीतानागतयोस्तु विनष्टानुत्पन्नतया परस्वरूपत्वेनासद्रूपत्वात्, तदेव सूत्रपति अर्थक्रियाकारितया सत्त्वेन परिच्छिन्नन्ति निश्चिनोति, नातीत, न वाऽनागतम्, तत्र सत्त्वव्यापकस्य क्रमयोगपद्याभ्यामर्थक्रियाकारित्वस्य निवृत्त्या तद्व्याप्यस्य सत्त्वस्थाऽपि निवृत्तिरिति तयोरसत्त्वेन कुटिलत्वादित्यूजुसूत्रम्, तस्योच्यत इति वचनम् उच्यमान पद वाक्य वा तस्य विच्छेदः, अन्त सीमेति यावत् 'कृदभिहितो भावो द्रव्यवत्प्रकाशत' इतिन्यायात् कृदभिहितो भावो द्रव्यवत् कृदभिहितद्रव्यवद्भामत इत्यर्थकाद् यथा " अमृतरसप्रस्पन्द-माध्वीकभूः " इतिकुष्ठमाञ्जलीयोदयनाचार्यवचने अमृतरसेति पदस्य रस्यमानममृतमित्यर्थ, एवमेव प्रतिपाद्यतकद्वितीयपद्यस्योपज्ञवृत्तौ " नामादित्रयमेव " इत्यत्र नामादि पदस्य नामादिनिक्षेपपरत्वात् कृदभिहितन्यायाद् निक्षिप्पमाण नामादित्रयमित्यर्थ' कृतः । तद्वद्वचनविच्छेद इत्यस्यापि विच्छिद्यमान वचनमित्यर्थ' । अत्रानेनोपचाराद्विच्छिद्यमान वचनप्रतिपाद्यार्थविषयकर्तुंशत्रालयो नययोधो ग्राह्य । तस्य च स्वविषय प्रतिपाद्यतः पूर्वापरपर्यायाऽसप्तके वर्त्तमानैकपर्याय एव वचन विच्छिद्यते समाप्यते । वर्त्तमानपर्याय स्यातीतानागतात्मकपरपर्यायाऽसप्तस्पर्शित्वेन तन्मात्रस्यैव बोधजनकत्वात्, उक्तञ्च ऋजुसूत्राभिमतमर्थं प्ररूपयद्भिः—

“ पलाल न दहत्यग्नि-दह्यते न गिरिः क्वचित् ।

नाऽस्यतः प्रव्रजति, मव्यजीवो न सिद्ध्यति ॥ १ ॥” इति ।

अस्मिन्ऋजुसूत्रमते यः पलालरूपपूर्वपर्याय' सोऽग्निना न दह्यते, दहनक्रियाकाले पलालपर्यायस्य विनष्टत्वात्, यश्च भस्ममात्ररूपवर्त्तमानपर्यायोऽग्निना दह्यते स न पलाल-भावमनुभवति । अयम्भावः—क्रियाजन्यफलशालिन्येव कर्मत्व मरति, क्रियाजन्यफल शालित्वञ्च क्रियाकाले विद्यमानस्यैव, तथा चाग्निना दहनक्रियाकाले यदेव विद्यमान तस्यैव क्रियाजन्यफलशालित्वात्कर्मत्वावबोधकद्वितीयाग्निभक्तिप्रकृतिप्रतिपाद्यतम्, पला लस्य त्वग्निना दाहसमये न स्वरूपेणारस्थानमिति तत्र दहनक्रियातो भस्मीभावलक्षण विकारस्य फलरूपस्याऽभावेन तत्कर्मत्वमेव न सम्भवति, यतो यद्भस्मीमात्रमनुभवति

तद्दहनक्रियाकाले वर्धमानमेव दहनक्रियाकर्म, तच्च न पलालः, तदानीमपलालभावा  
दिति नाग्निः पलाल दहतीति सिद्ध्यति । एष गिरावपि ज्ञेयम् । यः पूर्वक्षणा  
वच्छिन्नोऽस्ययतस्त न प्रव्रजति, तदानीमस्ययतभावात्, यत्र प्रव्रजति स नास्यतः, तदानीं  
स्ययतभावात्, एष यो मन्व्यो न म सिद्धयति, मन्व्यत्पर्यायकाले सिद्धिपर्यायाऽ  
भावात्, यत्र सिद्ध्यति स न मन्व्यः, सिद्धत्वपर्यायकाले मन्व्यत्वपर्यायविनाशात्, न चैव  
तर्हि व्यवहारबाधः स्यादिति वाच्यम्, सर्वस्मिन् नय वरचिदशे तद्वाधाऽऽशयभावादिति ।  
“तस्त उ सहाईशा, साहपसाहा सुहुममेया” इति तस्य ऋतुसूत्रतरोः, तुरवधारणार्थः, तेन  
तस्यैव न द्रव्यार्थिकस्य शब्दादयो गुणिभूतार्थप्रधानीभूतशब्दद्वारा श्रोतुः प्रतीतिजनका  
अत एव शब्दनयत्वेन प्रतीताः शब्दसमभिरूढैरम्भूतारूपान्नयो नया शाखाप्रशाखा  
प्रतिशाखा इव स्थूलसूक्ष्मसूक्ष्मतरमेददर्शित्वात्सूक्ष्मो मेदो विज्ञेयो येषां ते सूक्ष्ममेदाः ।  
यथा हि तरोः स्थूलाऽशाखा, ततस्सूक्ष्मास्तत्प्रशाखा, प्रतिशाखास्तु ततोऽपि सूक्ष्मतरा,  
एवमृजुसूत्रतरोस्स्थूलसूक्ष्मसूक्ष्मतरा शाखाप्रशाखाप्रतिशाखारूपा यथाक्रममशुद्धशुद्धशुद्धतरा-  
शब्दसमभिरूढैरम्भूतारूपान्नयो नया ज्ञेयाः । तथाहि “तदस्तटीतट ‘गुरुर्गुरुवः’ एहि  
मन्थे रथेन यास्यसि, न हि यास्यसि, यातस्त पिता” रक्षमानैरुत्पणमाप्रवृत्तिमेरु. क्षणमात्र  
वर्तित्वलक्षणस्वमत्तकाले मरतीति व्यवह्रियते, न एष स्वोत्तरक्षणपेक्षया बभूवेति व्यव  
ह्रियते, स्वपूर्वसमयापेक्षया न एष भविष्यतीति व्यवह्रियत इति बभूव मरति भविष्यति  
सुमेरु. । जलाहरण करोति कुम्भः, क्रियते कुम्भश्चैत्रेण, “सतिष्ठते अत्रतिष्ठत, इत्यादौ त्रिलिङ्ग  
वृत्तिशब्दवाच्यमेकवचनान्तबहुवचनान्तशब्दवाच्यमुत्तममध्यमप्रथमपुरुषवाच्यञ्च विभिन्न  
कालबोधकशब्दवाच्यञ्च भिन्नकर्तृकर्मबोधकशब्दवाच्यञ्च विभिन्नोपमर्गबोधकशब्दवाच्यञ्चै-  
कमेव वस्तु ऋतुसूत्राम्बुपगत लिङ्गमङ्गवापुरुषकालकारकोपमर्गमेदेन भिन्न शब्दनयो  
वृक्षाच्छाखामिव सूक्ष्ममभिमन्यत । तदुक्तम्—

“ त्रिरोधिलिङ्गसङ्ख्यादि-भेदाद्भिन्नस्वभावताम् ।

तस्यैव मन्यमानोऽय, शब्द प्रत्यवतिष्ठते ॥” इति ।

शब्दनयाम्बुपगत घटकुटकुम्भादिशकपुरन्दरशचीपत्यादिपर्यायभेदऽप्यभिन्नमर्थमुक्त  
तत्तत्सज्ञाभेदैर्व्युत्पत्तिनिमित्तक्रियाभेदप्रमुक्तस्वराच्यभिन्नभिन्नार्थं शाखात प्रशाखामिव  
सूक्ष्मतर समभिरूढनयोऽध्यवस्यति तदाह—

“ पर्यायशब्दभेदेन, भिन्नार्थस्याधिरोहणात् ।

नय. समभिरूढः स्यात्, पूर्ववचास्य निश्चये ॥ १ ॥” इति..

ममभिरूढनयेन घटत इति व्युत्पत्तिनिमित्तघटनक्रियायां कुटतीति व्युत्पत्तिनिमित्तकुट  
नक्रियाया शकनोतीति व्युत्पत्तिनिमित्तशकनक्रियाया पुरन्दारयतीति व्युत्पत्तिनिमित्तपुर-

दारणक्रियायां सत्यामसत्याञ्च घटशब्दवाच्य एको घटा, कुटशब्दवाच्य एकः कुटशब्दवाच्य एकःशक्रः, पुरन्दरशब्दवाच्य एकः पुरन्दर इति यदम्बुपगत तन्नैवम्भूतनयोऽम्बुपैति, तन्मते हि स्वव्युत्पत्तिनिमित्तक्रियाऽऽविष्टत्वे सत्येव तच्चञ्चन्दवाच्य नान्यदा, यतः परमैश्वर्यानुभवनकाल एन्द्रः, अन्यदाऽनिन्द्रः, इन्द्रोपयोगः काल एवोपयोगेन्द्रः, तत्क्षणानन्तर तत्पूर्वं वाऽनिन्द्रः, पश्चात्तदुपरमात्, तत्पूर्वं तदभावात् पुरदारणकाल एव तदुपयोगकाल एव वा पुरन्दरः, अन्यदाऽपुरन्दरः, प्रतिक्षणाऽतिक्रामित्वाद् वस्तुनो बुद्धिविषयो बुद्धिस्थो वा योऽर्थः स शब्दार्थः, अप्यम्बावः—क्षणे क्षणे अन्ये एवार्थे उत्पद्योत्पद्य बुद्धिविषयो भवति बुद्धी वा तिष्ठतीति योऽर्थो यस्मिन् क्षणे बुद्धिविषयो बुद्धिस्थो वा, तस्मिन्नेव क्षणे सोऽर्थः, अन्यदाऽनर्थः, इत्येव प्रशाखातः प्रतिशाखात्मिकक्षमतममेवम्भूतनयोऽव्ययस्यति । यदुक्तम्—

“ तत्क्रियापरिणामोऽर्थस्तथैवेति विनिश्चयात् ।

एवम्भूतेन नीयेत, क्रियान्तरपराङ्मुखाः ॥ १ ॥ ” इति

तच्च विवेचयिष्यते चाग्रे । एतच्च ऋजुसूत्रपदव्युत्पत्तिनिमित्त प्रत्युत्पन्नप्राहित्व पर्यायनयत्वमात्रपर्यवसन्नमभिप्रेत्य द्रष्टव्यम् । तथा च ऋजुसूत्रपदव्युत्पत्तिनिमित्तस्य प्रत्युत्पन्नप्राहित्वस्य सरूपपर्यायनयवृत्तित्वेन पर्यायनयत्वस्वरूपत्वमेव, एवञ्च तादृशधर्माङ्गित्वस्य ऋजुसूत्रस्य शाखाप्रशाखाप्रतिशाखात्वेन त्रयाणां शब्दममभिरूढैवम्भूतनयानामुपदर्शनं पर्यायनयस्यैव शाखाप्रशाखाप्रतिशाखारूपत्वोपवर्णनं पर्यवसितम्, तथा च पर्यायार्थिकनयत्वोर्भूलस्थानीय ऋजुसूत्रनय शाखास्थानीय शब्दनय, प्रशाखास्थानीयस्वमभिरूढनय प्रतिशाखात्मक एवम्भूतनय इति तच्चतुष्टयात्मकः पर्यायार्थिकनय इति भावः । यच्च विशेषणभेदाऽप्रयुक्तं ऋजुसूत्रविषयप्रतियोगिकभेदानाधारविषयकप्रतीतिविषयकत्वम्, विशेषणभेदाप्रयुक्तो य ऋजुसूत्रनयविषयप्रत्युत्पन्नस्तुप्रतियोगिको भेदस्तदनाश्रयविषयकप्रतीतिविषयो यस्य तत्कृतमित्येव पर्यवसितार्थमिह शब्दादीनामृजुसूत्रभेदत्व परिभाष्यते, तथा च शब्दनयविषयस्य ऋजुसूत्रनयविषयाद्धेदो लिङ्गसङ्ख्यापुरुषकालकारकोपसर्गलक्षणविशेषणभेदप्रयुक्त एव । एव समभिरूढनयविषयस्यापि सङ्गालक्षणविशेषणभेदादव निरुक्तभेदः एवमेवम्भूतनयविषयस्यापि व्युत्पत्तिनिमित्तक्रियालक्षणविशेषणभेदप्रयुक्त एवोक्तभेदः, न तु स्वत इति विशेषणभेदाऽप्रयुक्तं ऋजुसूत्रविषयप्रतियोगिकभेदानाधारविषयकप्रतीतिविषयकत्वशब्दादिनयाना सिद्धमिति । न ह्येव व्यवहारस्य निरुक्तदिशा पारिभाषिक सङ्ग्रहभेदसिद्ध्यति, यतस्वरूपत एव सङ्ग्रहनयविषयात्सामान्याद् व्यवहारनयविषयस्य विशेषणभेदेन तस्य विशेषणभेदाऽप्रयुक्तत्वेन तादृशभेदाऽऽधारविषयकप्रतीतिविषयकत्वमेव व्यय

चाऽनन्तरोक्तस्य मकलपर्यायिनयभेदेषु घृत्तित्वेन नयविभाजकञ्जुसूत्रत्वधेर्माकान्तानां शब्दा-  
दिनयाना त्रयाणामृजुसूत्रनयात्मरूमूलस्य शाखाप्रशाखाप्रतिशाखात्वाभ्युपगमने तेषां नय-  
विभाजकोपाधिष्याप्यविभाजकोपाधिमत्त्वेन नयप्रभेदत्वापत्तेः "सत्त मूलणया पन्नता"  
इति सूत्रप्रतिषेधप्रसङ्ग इति चेत्, मैवम्, शब्दादिनयमिदत्त्वे सति प्रत्युत्पन्नप्राहित्वमृजुसूत्र-  
त्वमिति लक्षणलक्षितस्यैवञ्जुसूत्रत्वस्य नयविभाजकरूपमत्तयाऽभ्युपगमात्, तस्य च शब्दादि-  
नयेष्वभावेन तद्व्याप्यत्वस्य शब्दनयत्नादावभावात् शब्दनयादीनां नयप्रभेदत्वापत्त्य-  
भावात्, तथा च नोक्तसूत्रव्याघातः । पूर्वोक्तपारिभाषिकलक्षणस्यैवञ्जुसूत्रत्वस्य प्ररूपण तु  
शब्दादिनयानामृजुसूत्रशाखाप्रशाखाप्रतिशाखात्वप्रदर्शनायेति ॥ अथञ्च सर्वोऽपि ऋजुसू-  
त्रवचनविस्तारो बाह्यार्थाभ्युपगमपरो दृश्यः, म च सौत्रान्तिकाख्यतथागतमतप्रतिषेधस्य  
वैभाषिकाख्यतथागतमतविशेष्यस्य च मूलकारणम् । ननु अनयो किं वैलक्षण्यमिति चेत्,  
उच्यते, तयोः क्षणिकबाह्यार्थाभ्युपगमापेक्षया माम्यमेव, परमाद्यस्य ग्राह्यग्राहकयोर्विभि-  
न्नक्षणे निष्पत्तिः, ज्ञाननेयस्वरलक्षणयोर्विषयविषयिभावमन्वधाभावेऽपि प्रतिकर्मव्यवस्था  
'यदाकार ज्ञान तत् तज्ज्ञानकमेति व्याप्तिमहकृताद् घटपटादिज्ञान घटपटादिकर्मक प्रति-  
नियततत्तदर्थोत्पत्तिरिति वादित्यनुमानात् सिद्ध्यतीति साकारविज्ञानाद । अत एतन्मते  
"प्रत्यक्षो नहि बाह्यवस्तुविसरः सौत्रान्तिकैराश्रितः" इत्युक्तेः प्रत्यक्षतो नार्थसिद्धिः  
किन्त्वनुमानादेव, यदाकार ज्ञान तेन तस्मिन्निरिति व्याप्तेः । द्वितीयस्य तु मते "अर्थो  
ज्ञानसमन्वितो भवितुता वैभाषिकेणेष्यते" इत्युक्तेर्ज्ञानज्ञेययोरेकक्षण एवोत्पत्तिः प्रति-  
नियततत्तदर्थोत्पत्त्यादकमामग्रीप्रभयत्वादेव ज्ञानस्य प्रतिकर्मव्यवस्थिति निराकारविज्ञानादः ।  
तन्मते निर्विकल्पप्रत्यक्षादेव वाद्यार्थसिद्धिः, न तु सविकल्पप्रत्यक्षात्, तस्याऽमद्विषयक-  
त्वेनाप्रामाणिकत्वात्, नन्वेव तर्हि नीलादेः क्षणिकत्वेन दानादौ च स्वर्गप्रापणसामर्थ्य-  
भावेन नीलादिनिर्विकल्पप्रत्यक्षात्नीलादेरिव क्षणिकत्वात्तस्य दानादिनिर्विकल्पप्रत्यक्षाद्वा-  
नादेरिव स्वर्गप्रापणसामर्थ्यात्तस्यापि सिद्धिप्रसङ्ग इति चेत्, मैवम्, यत्रैव जनयेदेनां तत्रैवास्य  
प्रमाणता" इति रचनात्तदशे सविकल्पप्रत्ययानुत्पादात्तदशे प्रामाण्याभावात्तदसिद्धेः ।  
यद्वा ऋजु बाह्यार्थापेक्षया ग्राहकसन्नितिभेदविकल्पविभाग बुद्धिस्वरूपमकुटिल सूत्रयतीति  
ऋजुसूत्रं सूत्रपर्यायस्तिरुक्तनयः । अथञ्च महिर्धसस्पर्शरहितमणिक्विविज्ञप्तिमात्राभ्युपगमपर-  
योगाचाराख्यशौद्धोदनिमतविशेषप्रवर्त्तक इति । अथवा एकत्वानेकत्वमस्तधर्मकलापविकल्प-  
तया तदपि विज्ञान विचारप्रेण्या शून्यरूपमृजु सूत्रयतीति ऋजुसूत्रं, अथञ्च माध्यमिक-  
दर्शनावलम्बी सर्वभावशून्यताप्रतिपादनपरो माध्यमिकसत्त्वकरोद्धमतप्रतिषेधप्रवर्त्तको ज्ञेयः,  
"महानयमय जिणमयमणवजमच्चत" इति माध्योक्तेः अशेषांशप्रतिषेधप्राहित्वात् सर्व-  
नयात्मक भगवद्दर्शनम्, इतरांशनिरेष्यैकैकाशप्रतिपादकत्वदर्शनानि च तस्त्वैकैकाशपरि-



च्छेदलक्षणतत्तन्नयप्रभवाणीति ग्रन्थकार एवाग्रे प्रतिपादयिष्यति । तथा च तत्तद्दर्शनमूलकारणत्वात्तन्नयः प्रकृतिस्तस्मादाविर्भूतत्वात्तद्दर्शनं विवृतिरिति पूर्वोक्तव्युत्पत्तयः क्रजुसूत्रनयस्य सौत्रान्तिकवैभाषिकयोगाचारमाध्यमिकमेदमिन्नबौद्धदर्शनप्रकृतिरत्र प्रतिपाद्यं क्रजुसूत्रनयस्य पूर्वापरक्षणात्स्थितक्षणिकार्थद्वयकार्यकारणभावाभ्युपगमपरसौत्रान्तिकारूपतयागतमतविशेषप्रकृतित्वम्, शब्दनयस्य च एकक्षणरूपविषयतज्ज्ञानरूपपदार्थद्वयकार्यकारणभावाभ्युपगमपरवैभाषिकारूपतयागतमतविशेषप्रकृतित्वम्, समभिरूढनयस्य च परमार्थभूतवाद्यार्थानास्त्येव, विज्ञानमेव पूर्वपूर्ववासनावैचित्र्यात् स्वाभिन्ननीलपीताद्याकारमवमासत इति परमार्थभूतवाद्यार्थान्मावाञ्च तद्वाद्दक ज्ञानम्, अयं नील इत्यादिबहिर्दृश्यमानस्तु वासनाविपर्ययकृतो भ्रम इति बाह्यनिरपेक्षक्षणिकमाकारवादाभ्युपगन्तुयोगाचाराऽभिरूपशौद्धोदनिमतविशेषप्रकृतित्वम्, एवम्भूतनयस्य च विज्ञानमपि त्रिचार्यमाणमेकानेकरूपत्वाऽप्योगाच्छून्यतारूपमिति शून्यताभ्युपगमपरमाध्यमिकसज्ञकबौद्धमतविशेषप्रकृतित्वं सम्मति-टीकाया यथा प्रतिपादितं तथोच्यते—“अथवा सौत्रान्तिकवैभाषिकौ बाह्यार्थमाधितौ क्रजुसूत्र-शब्दौ यथाक्रमम्, वैभाषिकेण नित्याऽनित्यशब्दवाच्यस्य पुद्गलस्याभ्युपगमात्, शब्दनयेऽनुप्रवेशस्तस्य । अत्र वैभाषिकस्य शब्दनयपक्षपातित्वे ज्ञानार्थलक्षणयोग्यरूपव्यञ्जनपर्यायप्रधानत्वादिति द्वितीयोऽपि हेतुर्नयामृततरङ्गिण्यामुपाध्यायैरुक्त इति । बाह्यार्थप्रतिक्षेपेण विज्ञानमात्रं ममभिरूढो योगाचारः । एकानेकधर्मविकलतया विज्ञानमात्रस्याप्यभाव इत्येवम्भूतो व्यवस्थित एवम्भूतो माध्यमिक इति,” अत्र तार्किकमते सैद्धान्तिकमतेऽपि च पूर्वपूर्वनया बहुबहुविषयका उत्तरोत्तरनयाश्चाल्पाल्पविषयकाः, मत्तारूपेण सकलार्थविषयकात्सङ्घहाचारिकमते सत्ताव्यतिरिक्तसामान्यविशेषविषयकस्य व्यवहारस्याल्पविषयकत्वम्, तादृशव्यवहाराच्च वर्तमानक्षणमात्रस्याद्यर्थाभ्युपगमपरस्यसुसूत्रस्याल्पविषयकत्वम् । सैद्धान्तिकमते च सन्मात्रविषयकस्य सङ्घहस्य भावाभावपदार्थविषयका वैगमादल्पविषयकत्व, समस्तमत्समूहाभ्युपगमपरत्वेन बहुविषयकात् सङ्घहात् विशेषार्थमात्राभ्युपगन्तुव्यवहारस्याल्पविषयकत्वम्, कालत्रयवर्तिविशेषार्थविषयकव्यवहाराद्वर्तमानक्षणमात्रवर्च्यार्थाभ्युपगच्छत क्रजुसूत्रनयस्याल्पविषयकत्वम्, लिङ्गसख्यापुरुपादिभेदऽप्यभिन्नमर्थमप्युपगच्छत क्रजुसूत्राल्लिङ्गसख्यापुरुपादिभेदेन भिन्नमर्थमभ्युपगच्छन् शब्दनयोऽल्पविषयक, सङ्घाभेदऽप्यभिन्नमर्थमुररीकर्तृच्छब्दनयाङ्गिन्नसङ्घाप्रयुक्तार्थभेदस्वीकर्तृममभिरूढनयोऽल्पविषयकः, ततोऽपि व्युत्पत्तिनिमित्तक्रियाभेदप्रयुक्तार्थभेदावलम्ब्येवम्भूतनयोऽल्पविषयकः, यत इन्द्रादिशब्दव्युत्पत्तिनिमित्तभूतेन्दनादिक्रियाया सत्यामसत्यां चेन्द्राद्यात्मकेऽर्थे इन्द्रादिशब्दव्युत्पत्तिनिमित्तभूतेन्दनादिक्रियाया सत्यामसत्यां चेन्द्राद्यात्मकेऽर्थे इन्द्रादिशब्दव्युत्पत्तिनिमित्तभूतक्रियापरिणतिकाल एव शब्दवाच्यार्थसत्ताभ्युपगमेन तादृशक्रियापरिणत्यभावाकाले भिन्नक्रियासङ्घावेनार्थभेदसङ्घावादिति । तदुक्तं तत्त्वार्थश्लोकवार्तिके—

“ सन्मात्रविषयत्वेन, समग्रस्य न युज्यते ।  
 महाविषयता भावा-ऽभावार्थात्नैगमात्रयात् ॥ १ ॥  
 यथा हि सति सकल्प-स्तथैवासति विद्यते ।  
 तत्र प्रवर्तमानस्य, नैगमस्य महार्थता ॥ २ ॥  
 समग्रहाङ्गवहारोऽपि, सद्विशेषात्प्रयोजकः ।  
 न भूमविषयोऽशेष-सत्समूहोपदर्शिनः ॥ ३ ॥  
 नर्जुसूत्रः प्रभूतार्था, वर्तमानार्थगोचरः ।  
 कालत्रितयपृथगर्थ, -गोचराङ्गवहारतः ॥ ४ ॥  
 कालादिभेदतोऽप्यर्थ-मभिन्नमुपगच्छतः ।  
 नर्जुसूत्रान्महार्थाऽत्र, शब्दस्तद्विपरीतवान् ॥ ५ ॥  
 शब्दात्पर्यायभेदेना-ऽभिन्नमर्थमभीप्सतः ।  
 न स्यात्समभिरुद्धोऽपि, महार्थस्तद्विपर्ययः ॥ ६ ॥  
 क्रियाभेदेऽपि चाभिन्न-मर्थमभ्युपगच्छतः ।  
 नैवम्भूतः प्रभूतार्थो, नयः समभिरुद्धतः ॥ ७ ॥  
 पूर्वः पूर्व प्रभूतार्थो, नैगमादिनयेऽपि ।  
 परः परस्तु सूक्ष्मार्थ-स्तदित्यं सिद्धिमाययौ ॥ ८ ॥ ” इति ।

द्रव्यार्थिकनये सकलोपाधिरहितत्वेन शुद्धसन्मात्रस्यैव विषयीकरणात् सम्पगेकत्वेन सर्वस्य ग्रहणात् सद्ग्रह एव शुद्धः, प्रकृतगाथायां “द्रव्यार्थिकनयाऽशुद्धप्रकृतिर्नैगमनयोऽपि” इत्यनुक्तेः पूज्यश्रीमिद्वैतसैनदिकाकरमतेन सद्ग्रहव्यवहारनयाम्यां नैगमनयो न पृथग्भूत इति न चर्चाई । सामान्यविशेषविभिन्नणाद्यवहारस्तत्प्रहापेक्षयाऽशुद्धः । अत एव मम्मति टीकायां सर्वमेक सद्विशेषादिति शुद्धद्रव्यास्तिकाभिप्रायः, अशुद्धस्तु द्रव्यार्थिको व्यवहारनयमहावस्तुमयी एकान्तनित्यचेतनाचेतनस्तुद्रव्यप्रतिपादकमालुपदर्शनाश्रित इत्युक्तम्, पर्यायार्थिकनये तु यद्यथापेक्षया योऽल्पविषयको नयस्त तन्नयापेक्षया शुद्ध इत्युत्तरोत्तरनया अल्पाल्पविषयकाश्चशुद्धशुद्धतरशुद्धतमाः, पूर्वपूर्वनयास्त्वशुद्धाऽशुद्धतराऽशुद्धतमाः, बहुबहु-विषयकत्वात्, तथाहि-एतत्प्रकरणकारमते श्रुतुवृत्तनयस्य पर्यायार्थिकनयभेदत्वात् स तावदशुद्धः, कालकारकलिङ्गादिभेदेऽप्यर्थामेदाभ्युपगमपरत्वात्, शब्दनयस्तु शुद्धः, तन्मतेन कालादिभेदेन वस्तुनो मेदाभ्युपगमात् । ततोऽपि समभिरुद्धः शुद्धतरः, तन्मते पर्यायशब्देषु निरुक्तिभेदेन भिन्नस्वार्थस्याभ्युपगमादेकार्थशाचकपर्यायशब्दाभावात् पर्यायभेदेनापि भेद-

स्योरीकरणात् । ततोऽपि चैवम्भूतनयश्शुद्धतमः, अय नयश्शब्दानां स्वयुत्पत्तिनिमित्त  
भूतक्रियापरिणतमर्थं तद्विक्रियाकाल एव वाच्यत्वेनाभ्युपगच्छतीत्येतन्मते क्रियाऽनाविष्टस्या  
ऽपि वस्तुनो भेदप्रतिपत्तत्वादिति । तत्रापि श्रीसिद्धसेनदिवाकरमतेऽर्थनयास्तद्व्यवहारजु  
सूत्रारूपास्त्रयो नयाः । सैद्धान्तिकमते नैगममद्भव्यवहारजुसूत्रारूपाश्चत्वारो नयाः, उपसर्ज  
नीभूतशब्दप्रधानीभूताऽर्थाऽभ्युपगमपरत्वेन शब्दतद्धर्मभेदेनार्थभेदाऽस्वीकर्तृत्वात् । उभय-  
मतेऽपि शब्दममभिरूढैवम्भूतारूपा नयास्त्रयश्शब्दनयाः, ते हि शब्दप्रधानतया शब्दतद्धर्म  
भेदेनार्थभेद स्वीकर्तृन्तीति यथा शब्दस्तथाऽर्थ इत्यभ्युपगमपरत्वाच्छब्दमेव प्रधान  
मिच्छन्ति, अर्थं तु गौणम्, शब्दवशेनैवार्थप्रतीतेः । उक्तञ्च तत्त्वार्थश्लोकवार्तिके—

“ तत्रजुसूत्रपर्यन्ता, -श्चत्वारोऽर्थनया मताः ।

अथः शब्दनयाः शेषाः, शब्दवाच्यार्थगोचराः ॥ १ ॥ ” इति

एते च नयाः परस्परमापेक्षाशेत्तदा सुनयाः, अन्यथा तु मिथ्यानयाः, एतच्चापि  
प्रतिपादयिष्यते, तदेव व्यस्यितमेतत्, तस्य तु शब्दादयश्शाखाप्रशाखाप्रतिशाखाः सूक्ष्म-  
भेदा इति ॥ ५ ॥

अथ नयैरिव निक्षेपैरपि सूक्ष्मेक्षिकया सम्यक्समीक्षामकर्तुरिचारितरमणीपतयाऽपर-  
मार्थभूतोऽर्थः परमार्थतया परमार्थश्चापरमार्थतया प्रतिभासेतेत्यतो नयानुयोगद्वारवन्निक्षेपा  
नुयोगद्वारमपि व्याख्याङ्गम्, निक्षेपाश्च नामस्थापनाद्रव्यभावभेदेन चतुर्विधा इति, तत्रापि  
द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयौ मूलव्याकरणानाविति दर्शयन्ननयोर्व्यापकतां प्रदर्शयितुमाह—

“ नामं ठवणा दधिण-त्ति एस दव्वट्टियस्स निक्खेवो ।

भावो उ पज्जवट्टिअस्स, परूवणा एस परमत्थो ॥ ६ ॥ ”

अस्या उत्तरार्द्धं शास्त्रवार्त्ताममुच्ययादौ—“भावो उ पज्जवट्टिअ, परूवणा एस परमत्थो”  
इति दृश्यते । अथवा वस्तुनिवन्धनाध्यवसायनिमित्तव्यवहारमूलकारणतामनयोः प्रतिपाद्य  
अधुनाऽप्यारोपितानप्यारोपितनाम-स्थापना-द्रव्य-भावनिवन्धनव्यवहारनिवन्धनतामन  
योरेव प्रतिपाद्यज्ञाहाऽऽचार्यः—नाम ठवणा इत्यादि । नामस्थापनाद्रव्यैतन्निक्षेपत्रयं द्रव्या  
र्थिकनयस्य, भावस्तु पर्यायार्थिकनयस्य निक्षेपः, एष एवोभयनयप्रविभागः परमार्थ इति  
निष्कर्षः, अवयवार्थस्त्वेवम्—“ नाम ठवणा दधिण-त्ति ” नामस्थापनाद्रव्यमिति ‘ एम-  
दवट्टियस्स निक्खेवो ’ एष निक्षेपो द्रव्यार्थिकस्य द्रव्यार्थिकनयस्याभिमतः । यद्वा द्रव्या-  
र्थिकस्येत्यनन्तर मतेनेति शेषः । द्रव्यमात्रप्राहिणस्तस्य नयस्य नामस्थापनाद्रव्याणां  
कालप्रयानुगामित्वेन द्रव्यरूपतया तत्त्रितयग्राहित्वेऽपि भावस्य ध्वनमात्रवर्तित्वेन द्रव्या  
नात्मकतया तदप्राहित्वात् । अत एवाह “ भावो उ पज्जवट्टिअस्स परूवणा ” इति । भावो

भावनिक्षेपः, तु पुनः, पर्यायास्तिकस्य पर्यायास्तिकनयस्य, प्ररूपणा प्ररूपणाविषयः, प्ररूप्यते इति प्ररूपणेति व्युत्पत्तेः, तत्र कर्मणि प्रपूर्वकरूपिघातोर्धुप्रत्ययः । पर्यायमात्र-  
 ग्राहिणस्तस्य भावस्य पर्यायरूपतया तन्मात्रग्राहित्वेऽप्युक्तनिक्षेपत्रयस्य विवक्षितभावाना-  
 त्मकत्वेन तदग्राहकत्वात् । यद्वा नामस्यापनाद्रव्यमित्येष निक्षेपो " वाक्येऽवधारण ताव-  
 दनिष्ठार्थनिवृत्तये । कर्तव्यमन्यथाऽनुक्त-ममत्रात्तस्य कुत्रचित् ॥ १ ॥ " इति वचनात् सर्वे  
 वाक्य सावधारण भवतीति नियमेन द्रव्यार्थिकस्य द्रव्यार्थिकनयस्यैवाभिमतः, न पर्याया-  
 स्तिकनयस्य, नामादिनिक्षेपत्रयस्य विवक्षितभावानात्मकत्वात्, पर्यायास्तिकनयस्य तु भाव-  
 लक्षणपर्यायमात्रग्राहित्वात् । भारो भावनिक्षेपः, तु पुनः, पर्यायास्तिकस्य पर्यायास्तिकनय-  
 स्यैव, प्ररूपणा प्ररूपणाविषयः । न द्रव्यार्थिकनयस्य, तस्य द्रव्यमात्रग्राहित्वेन भावाऽनव-  
 लम्बित्वादिति । तत्र यस्य कस्यचिद्वस्तुनो व्यवहारार्थमभिधान निमित्तमव्यपेक्ष निमित्तान-  
 पेक्ष वा यत्सङ्केत्यते तन्नाम, यथा स्वर्गाधिपस्य स्वर्गाधिपत्यलक्षणैश्वर्यात्मकनिमित्तापेक्षया  
 इन्द्र इत्यभिधान अयमिन्द्र इत्येव सङ्केत्यते, अर्थात् यस्य नाम्नो व्युत्पत्तिनिमित्तविशिष्टो  
 ऽर्थो यो भवति तत्र तन्नाम यदि सङ्केत्यते तदा निमित्तमव्यपेक्ष तत्, एव सङ्केतद्वारा यन्नाम  
 वाच्यतया व्यवहर्त्तव्यो योऽर्थो व्युत्पत्तिनिमित्ताऽऽकलितो न भवति तत्र तादृशनिमित्तमन्त-  
 रेणैव तन्नाम व्यवहारार्थं सङ्केत्यते तदा निमित्तानपेक्षं तत्, यथा गोपालदारके इन्द्रशब्द-  
 पर्यायान्तरशक्यपुरन्दराद्यवाच्ये अयमिन्द्र इति सङ्केतमात्रेणारोपितमिन्द्रनाम इन्द्रनामनिक्षेपः ।  
 अत्रेदमवधेयम्-गोपालदारकस्थेन्द्रपदवाच्यत्वे तत्रेन्द्रपदवाच्यतावच्छेदकं नेन्द्रत्वं, भावे-  
 न्द्रवर्त्तिनस्तस्य गोपालदारकेऽभावात्, नापि गोपालदारकत्वं, यस्मिन्गोपालदारके इन्द्र-  
 पदवाच्यता नास्ति तत्रापि गोपालदारकत्वस्य सद्भावात्, गोपालमन्वन्वित्वदारकत्वोभय-  
 घटितमूर्त्तिकस्य तस्य मन्वण्डस्य किञ्चित्पदप्रवृत्तिनिमित्तत्वाभावात्, किन्तु यस्मिन् गोपा-  
 लदारके इन्द्रपदमङ्केतः क्रियते तद्गोपालदारके जन्मतो मरणपर्यन्तमुपचयापचयतोऽनेक-  
 शरीरभेदतस्तदनुगत मामान्यमेव चैत्रत्वादिसामान्यवत्समस्ति तदेव तत्रेन्द्रपदवाच्यताव-  
 च्छेदकं, तच्च नामेन्द्रत्वशब्देनाभिधीयत इति । सङ्केतकरणं क्वचिदभेदेन यथाऽयं घटः,  
 अत्र घट इत्यस्य घटशब्दवाच्य इत्यर्थकत्वेन तस्याभेदसम्बन्धेनेदपदार्थेऽन्वयकरणाद्  
 भेदेन सङ्केतकरणम् । क्वचिदभेदेन, यथा 'अस्य चायं शब्दो वाचक इति, अत्र वाचक-  
 शब्दस्य बोधजनकत्वप्रकारकेऽच्छाविशेषोऽर्थः तदेकदेशे बोधो पृथगर्थस्य विषयत्वस्य निरूप-  
 कत्वसम्बन्धेनान्वयः, तस्मिंश्च विषयत्वे इदप्रकृत्यर्थस्य घटत्वावच्छिन्नस्याधेयत्वसम्ब-  
 धेनान्वयः, तथा च घटत्वावच्छिन्ननिष्ठविषयतानिरूपकबोधजनकत्वप्रकारकेऽच्छाविशेषो  
 घटशब्द इति बोध इत्येव भेदेन सङ्केतकरणम्, इच्छा चात्र घटविषयकबोधजनको घटशब्दो  
 भवत्वित्याकारिका 'सैत्र च मङ्केतः' उत्करणं च तद्विषयकप्रतिपाद्यगतबोधानुकूलो व्यापारः,  
 स चायमस्य वाचक इत्याकारक आप्तोपदेशरूपः, अथवा घटशब्दवाच्यो घट इत्याकारको

घटशब्दजन्यबोधविषयत्वप्रकारकेच्छाविशेष्यो घट इत्याकारकप्रतिपाद्यगतघोघानुकूलव्यापारः सङ्केतकरणं, तत्रेच्छा घटपदाद् घटो बोद्धव्य इत्याकारिका । तत्रापि वस्तुनः कथञ्चित्तमान्य विशेषात्मकतया समानासमानाकारपरिणत्यात्मकेऽपि तस्मिन् न प्रतिव्यक्तिभिन्नत्वलक्षणाऽसमानपरिणामस्मङ्केतोपयुक्तः, तस्यानुगतत्वेन तत्सङ्केतितशब्दश्रवणे तदर्थविषयककर्म क्षयोपशमसहकृतसङ्केतज्ञानमद्भूतवाच्यवाचकभावसम्बन्धस्मरणप्रभवार्थस्मृतिद्वारा तस्मात्जातीयव्यक्त्यन्तरशब्दघोघानुपपत्तिप्रसङ्गात्, न च प्रत्येक सर्वासु व्यक्तियु सङ्केतादुक्तदिशा शब्दबोध इति वाच्यम्, व्यक्तीनामानन्त्येन तारतीषु सङ्केतकरणस्याशक्यत्वात्, किन्तु समानपरिणतिलक्षणतिर्यक्सामान्यस्यानुगतत्वेन तदात्मके तद्विशिष्टे वा सङ्केतः कर्तुं शक्य इति समानपरिणाम एव सङ्केतोपयुक्तः, परपुरुषोच्चारितशब्दश्रवणेनापि समानपरिणतिविशिष्टस्यैवार्थस्य शब्दबोधे प्रतिभासमानत्वात् स एव शब्दार्थः, यश्शब्दप्रतीतौ प्रतिभाति स एव शब्दस्यार्थ इत्यत्र प्रामाणिकानामविवादात्, न त्वसमानपरिणामोऽस्त्यन्तविलक्षणस्तस्यार्थः । ननु समानपरिणामस्यानुगतत्वेन तद्विशिष्टे वस्तुनि सङ्केतकरणसौकर्याद्भवतु तदभिधायि नाम, किन्तु तद्रूपार्थिकनयाभिमतनिक्षेपरूप कथम्, शब्दरूपस्य नाम्नः कृतकत्वेन द्रव्यधर्मस्य नित्यत्वस्य तत्रामावेन द्रव्यरूपत्वाभावेन द्रव्यार्थिकनयविषयत्वाभावादिति चेत्, उच्यते, दूरादागतोऽय शब्द इत्यादिप्रतीतिसिद्धक्रियावचनदिहेतुना शब्दस्य पौद्गलिकत्वैव सिद्धे, अत एव वायुवहनसहरणद्वाराऽनुपातशैलादिप्रतिघातादिक सङ्घटते, इदमुक्त भवति—धूमत्रहायुना नयन, धूमवद्गृहादौ पिण्डीभवन्, तोयवद् द्वारानुविधान, पर्वतनितम्बादिषु वायुवत्प्रतिघातादिकश्च शब्दस्य पौद्गलिकत्वे सत्युपपन्न भवति, गुणत्वे च तस्य वायुवहनसहरणादीनां क्रियाविशेषाधात्मकत्वेन तदनुपपत्तिस्स्यात्, गुणे क्रियानङ्गीकारात्, यदाह भगवान् भाष्यकारः—

“ ज ते पोग्गलमद्भा, सक्खिरिया वाउचहणाओ ॥ २०६ ॥

धूमोच्च सहरणाओ, दाराणुविहाणओ विसेसेण ।

तोयं व णित्थाइसु, पडिघायाओ अ वाउच्च ॥ २०७ ॥ ” इति ॥

अत एव “ बारसहिं जोयणेहिं सोय अभिणेण्हए सह ” इति पारमर्षवचस्तद्गच्छते । तथा च पुद्गलरूपतया नित्यत्वेन तत्र द्रव्यत्वमस्त्येव, शब्दस्य वा स्वस्वरूपेणापि किञ्चित्कालस्थायितया घटादेरिव द्रव्यरूपत्वमेव, पर्यायस्यैकक्षणमात्रस्यायित्यलक्षणत्वेन तद्रूपत्वमावाच । किञ्च शब्दस्य कृतकत्वेऽपि यस्मिन् यस्मिन्नर्थे सङ्केतद्वारेण शब्दो निपुज्यते तस्मिन् तन्निमित्ते प्रतिपादकत्वेन प्रवर्तत इत्यनुगतत्वेन द्रव्यमाधर्म्याद्द्रव्यार्थिकनयामिमतनिक्षेपरूप शब्दात्मक नामेति प्रतिपत्तव्यम्, किञ्च वाच्यवाचकभावसम्बन्धो नित्यः, अन्यथा वाच्यस्यावाच्यत्व वाचकस्य चावाचकत्वं कदाचित्स्यात्, न चैव तर्हि सङ्केतप्रद

विनापि तज्ज्ञानेन शब्दप्रतीतिस्स्यादिति किमन्तर्गहना तेनेति वाच्यम्, सङ्केताभि  
 व्यक्तस्यैव तस्य पदार्थस्मृतिद्वारा शब्दप्रतीतिजनकत्वात्, तथा च सम्बन्धस्य कथ  
 च्छित्तसम्बन्धिद्वयाऽभिन्नत्वेन सम्बन्धिनः शब्दस्वोक्तसम्बन्धद्वारा नित्यत्वमिति द्रव्या-  
 धिरुनयापेक्षया नामनिक्षेपशब्द इति मिदम् । ननु भवतु नामनिक्षेपमिद्विस्तथापि  
 तन्नाम वस्तुस्वरूपमेवेत्यत्र किं मानमिति चेत्, उच्यते, नाम वस्तुस्वरूपमेव तत्प्रत्यय-  
 इतत्वात्, स्वधर्मवत्, नामापत्तात्मलामाम्स्वव्यवहारा इति तद्वेतुत्वाद्येत्यनुमानमेव ।  
 “ अर्थाभिधानप्रत्ययास्तुल्यनामधेयाः ” इति वचनादेकशब्दवाच्यत्वेन नामनामवतोः  
 कथञ्चिदमेदतश्शब्दस्यार्थात्मकत्वादेव स्तुतो रागः स्तुत्यस्य, द्वेषश्च निन्दायां द्वेष्यस्येति,  
 भगवन्नामनिक्षेपस्य भगवद्रूपत्वादेव च तन्नामस्तुतिरेवेति तयाऽऽरोग्य-  
 बोधिलामयमाधिभरणादिकलोत्पादो दृश्यत इत्येतदुत्पत्तयत्वात् मर्त्यस्य नाम्नः स्ववाच्यार्थ-  
 स्वरूपत्वं ज्ञेयम् । यद्वस्तु भावभूतार्थलक्षणाऽमङ्गलितं भावपदार्थेन महामेदबुद्धिलक्षणे  
 नाम्बुकोऽपमित्यभिप्रायेण सद्भूताकारेण पुस्तचित्रकर्मादायसद्भूताकारेणाश्रादौ चैत्वरकालं  
 यावत्कथिकं वा स्थाप्यत प्रतिनिधीपते तद्वस्तु स्थापना, णिजन्तात्स्थाघातो' कर्मणि  
 पुप्रत्ययः । भावभूते सर्वस्तुनि स्वाकारमदृशाकारवत्तद्रहितत्वलक्षणमद्भावमद्भावान्यतर  
 रूपतया स्थापनायाः प्रवर्त्तमानत्वात् द्रव्यधर्ममद्भावादकत्वाध्यवसायकृतमेव तस्या द्रव्या  
 र्थत्वमिति द्रव्यार्थिकनिक्षेप स्थापना । एतन् कल्पनाशिल्पिनिमित्तत्वेन तच्चद्वस्तुस्थापना  
 तच्चद्वस्तुतो भिन्नैवति न मुख्यार्थस्वरूपेत्याशङ्काऽपि निरस्ता, यतो घटाकारोऽपि घट एव,  
 तुल्यपरिणामत्वात्, अन्यथा तत्त्वाऽयोगात्, मुख्यार्थमाश्रमात्वादेव तत्प्रतिकृतिर्योपपत्तेः,  
 अत एव जिनप्रतिमा जिनमदृशीति सिद्धान्ते गीयते, अक्षादारभिप्रायसम्बन्ध प्रतिमादौ  
 चाकारसम्बन्ध पुरस्कृत्योपास्यमाना जिनादिस्थापना एकसम्बन्धिज्ञानमपरसम्बन्धिसमा  
 रकमिति न्यायन स्थाप्यस्मृतिद्वारा स्थाप्यगतगुणप्रणिधानोद्रेकलक्षणमाश्रमिद्वेद्वेस्तजनित  
 निर्जराविशेषस्य विधायिनी, तथा च सूत्रबोधितयलवदनिष्टाननुबन्धीष्टमाधनताकतद्रतगुण-  
 स्मृतिजनकसस्कारोद्बोधोपकाभिप्रायाकारान्यतरसम्बन्धवत् तत्स्थापनात्वमिति फलित  
 भवति । ननु नामस्थापनयो' को विशेष इति चेत्, उच्यते-यथेन्द्रादिप्रतिमास्थापनायां  
 कुण्डलाङ्गदादिभूषित' मन्निहितश्चीरञ्जादिराकार उपलभ्यते, न तथा नामेन्द्रादौ, एव यथा  
 तत्स्थापनादर्शनाद् भावः समुल्लमिति, नैवमिन्द्रादिनामध्वजणमात्राद्, यथा च तत्स्थापनाया  
 लोकस्योपयाचितेच्छापूजाप्रवृत्तिममीहितलामादयो दृश्यन्ते, नैवमिन्द्रनामादावित्येधमन्य  
 दपि वाच्यमिति । “ मन्मानसन्भावे उरणा ” इत्यापेचनच्छास्त्रे सद्भावामद्भावाम्प्य  
 स्थापना द्विधा गीयत इति तल्लक्षण तदुभयलक्षणं च किमिति चेत्, उच्यते, स्थाप्यमानस्ये  
 न्द्रादेरनुरूपाद्गोपाङ्गचिह्नवाहनप्रहरणादिपरिकरो य आकारविशेषो यदर्शनात् साक्षाद्विद्यमाने-

न्द्रादिरिवेन्द्रादिरक्षयते स सद्भावस्थापना, भावेन्द्रमात्रजिनाद्याकृतिरिनिर्मुक्तो योऽश्वराट  
कादिरिन्द्रोऽयमिति जिनोऽयमितिबुद्ध्या स्थाप्यमानस्तोऽसद्भावस्थापना । उक्तञ्च—

“लेप्पगहृथी हृत्थिति एस सञ्भाविद्या भवे ठवणा ।

होइ अमञ्भावे पुण हृत्थिति निरागिई अस्सो ॥ १ ॥” इति ।

तदुभयस्थानानुगतलक्षण लूकमेवावसेयम् । द्रवति पूर्वापरपर्यायाश्रयतयाऽविच-  
लितस्वभावेन तांस्तान् पर्यायान् पूर्वापरीभूतान् गच्छतीति व्युत्पत्त्या पूर्वोत्तरपर्यायानु-  
गामितया त्रिकालानुयायि यच्चद्रव्यम् । तच्च भूतमाविपर्यायकारणत्वात् चेतनमचेतनं वा  
अनुपचरितमेव द्रव्यार्थिकनिक्षेपः । यद्वा अनुभूतपर्यायमनुभविष्यत्पर्यायश्चैकमेव द्रव्यम्,  
तेनानुभूतपर्यायशब्देन तत्कदाचिदभिधीयते, कदाचिच्चानुभविष्यत्पर्यायशब्देन, यथा  
अतीतघृतसम्बन्धो घटो ‘घृतघटः’ इत्यभिधीयते, भविष्यत्तत्सम्बन्धोऽपि तथैवाभिधान  
गोचरचारी । अयम्भावः—यद्वस्तु भूतकाले विवक्षितपर्यायरूपेण परिणत तद्वस्तु भूतपर्याय  
कारणत्वात् कारणे कार्योपचार कृत्वा वर्त्तमानकाले द्रव्यरूपमुच्यते, यथा अनुभूतदेवेन्द्र-  
त्वपर्यायो मनुष्यो द्रव्येन्द्रः, अनुभूतघृताधारत्वपर्यायोऽय घृतघटः, यच्च वस्तु भविष्यत्काले  
विवक्षितपर्यायरूपेण परिणस्यति तद्वस्तु भविष्यत्पर्यायकारणत्वाद् वर्त्तमानकाले भविष्यत्पर्या-  
यापेक्षया द्रव्यरूपमभिधीयते, यथा अनुभविष्यदेवेन्द्रत्वपर्यायाईस्ताधुःश्राद्धो वा द्रव्येन्द्रः,  
उक्तश्रीपदेशपदे—

“वेमाणिओववाउत्ति दब्बदेवो जहा साहृ” ॥ २५५ ॥ इति ॥ अन्यप्राप्त्युक्तम्—

“मिउपिंडो दब्बघडो, सुसावगो तह य दब्बसाहुत्ति ।

साहृ य दब्बदेवो, एमाह सुए जओ मणिअ ॥ १ ॥” इति ॥

अनुभविष्यद्घृताधारत्वपर्यायाहो घृतघट इति वा । शुद्धपर्यायास्तिक्रमतेन घटोपयोग  
एव मात्रघट इति वर्त्तमानकालावच्छिन्नघटोपयोगरहितमपि तत्पर्यायेणातीतेन परिणतम  
नामतेन च परिणस्यद्वा द्रव्य तच्छब्दवाच्य द्रव्यार्थिकनयमतेन व्यवस्थितम्, भूतमवि-  
ष्यद्घटोपयोगात्मकभावघटकारणत्वादिति । भवति विवक्षितवर्त्तमानमयपर्यायरूपेणो  
त्पद्यते इति भावः । अथवा भूतिर्भाव भवन वा भावो वज्रकिरीटादिधारणलक्षणवर्त्तमान-  
पर्यायेणेन्द्रादिरूपतया उस्तुनः परिणमन भावः । यदभिहितम्—

“भावो विवक्षितकियाऽनुभूतियुक्तो हि वै समाख्यातः ।

सर्वज्ञैरिन्द्रादिवदिहेन्दनादिकियाऽनुभवात् ॥ १ ॥” इति ।

यद्वा वज्रकिरीटादिधारणोपशोमितेन्द्रादिवस्तुग्रहणपयायेणे ज्ञानस्य भवनम्, अर्थात्  
वज्रकिरीटादिधारणविशिष्टेन्द्रादिवस्त्वगाहिज्ञानात्मकोपयोगो भावः, शब्दादिनयत्रयमते

भावस्योपयोगलक्षणत्वात्, उक्तलक्षणभावस्तु पर्यायार्थिकनयमतेन निक्षेपः, तस्य प्रनिक्षण-  
मन्यान्यरूपतया पर्यायार्थिकनयगोचरत्वादिति । ' एव परमत्यो ' एषः—एष एव नयनिक्षे-  
पानुयोगप्रतिपादित उभयनयप्रविभागः, परमार्थः परम हृदयभागमस्य, एतद्विषयाऽ  
व्यतिरिक्तविषयत्वात् सर्वनयवादानाम्, न हि शास्त्रपरमहृदयनयद्वयव्यतिरिक्तः कश्चिन्नयो  
विद्यते, सामान्यविशेषरूपविषयद्वयव्यतिरिक्तविषयान्तराभावात् विषयिणोऽप्यपरस्य  
नयान्तरस्याभावात् इति । अत्रेदमत्रधेयम्—द्रव्यार्थिकनयेन नामस्थापनाद्रव्यारूपशास्त्रयो  
निक्षेपा अभ्युपगताः, पर्यायार्थिकनयेन च भाव एवेति महनीयमान्यश्रीसिद्धसेनदिवाकराणां  
मतेन सङ्ग्रहव्यवहारयो पूज्यवाद्भीतिदवस्त्रीणां मतेन तु नैगमसङ्ग्रहव्यवहारणां द्रव्यार्थिक  
नयमेदत्वात्तद्वत्तरपि त एव त्रयो निक्षेपा अभ्युपगताः, ऋजुसूत्रशब्दमभिरूढैवभूतनयानां  
पर्यायार्थिकनयमेदत्वात्तद्वत्तरपि भाव एव निक्षेपोऽभ्युपगतः । अथर्जुसूत्रनयः पर्यायार्थिक  
नयस्यैव मेद इत्यभ्युपगमे " उज्जुसूत्रम एगो अणुवउत्ते एग द्वावस्मय पुहुत्त नेच्छइ " इत्यनुयोगद्वारक्षत्रविरोधस्यादिति चेत्, मैवम्, यतोऽनौ नयोऽतीत विनष्टत्वेनानागत  
श्चाऽनुत्पन्नत्वेन नाभ्युपगच्छति, किन्तु वर्त्तमानमेव चस्त्वभ्युपगच्छति, तदपि स्वकीयमेव  
मन्यते, स्वकार्यसाधकत्वात् स्वधनत्वात्, न तु परकीय, स्वकार्याऽसाधकत्वात् परधनत्वात्,  
तथा चातीतानागतमेदत्, परकीयमेदत्तत्र पृथक्त्वं नेच्छत्यसौ नय इत्यतोऽतीतानागत  
वर्त्तमानमेदमित्यस्वकीयपरकीयमेदमित्यनिलिख्यत्पनुगतमदक्षपरिणतिलक्षणतिर्यक्सामा-  
न्यस्य पूर्वापरपर्यायानुगतोर्ध्वतासामान्यस्य चानभ्युपगमाज्ञास्य नयस्य तुल्यांशुवाश-  
लक्षणद्रव्याभ्युपगमः, अत एव नास्यामद्वृष्टितभूतभाविपर्यायकारणत्वरूपद्रव्यत्वाभ्युप-  
गमोऽपि, उक्तसूत्रं तु ' अणुवओगो दव ' इति द्रव्यलक्षणमाभित्याऽनुपयोगाज्ञमादाय  
वर्त्तमानावश्यरूपपर्याये द्रव्यपदोपचारात् ममाधेयम्, पर्यायार्थिकनयेन मुख्यद्रव्यपदार्थस्यैव  
प्रतिक्षेपादिति पूज्यवाद्भीतिदवस्त्रीणां मतेनानुमारिणस्तमादधते । सैद्धान्तिकास्तु नोक्त  
समीचीन मन्यन्ते, नामादिवदनुपचरितद्रव्यनिक्षेपप्रदर्शनपरत्वाद्दुक्तसूत्रस्य, न चेदेन, तर्हि  
शब्दादिनयेष्वपि कथञ्चिदुपचारेण द्रव्यनिक्षेपप्रमङ्गात्, पृथक्त्रनिषेधेऽपृथक्त्वेन द्रव्यविधेरा-  
वश्यकत्वात्, एकविशेषनिषेधस्य तदितरविशेषनिषेधपर्यवमायित्वादिति । तथा च सैद्धान्तिक  
मतेन द्रव्यार्थिकनयस्य नामादयश्चत्वारोऽपि निक्षेपा अगमिताः, पर्यायार्थिकनयस्य भाव  
एवैको निक्षेपः, यदाह भगवान् जिनमद्भगणिक्षमाश्रमणः— " भाव चिय महणया सेसा  
इच्छन्ति सबणिकखेवे " इति । अत एव चरणगुणस्थितस्य माधो मर्त्तनयविशुद्धत्वे मर्त्तनयानां  
भावप्राहित्वं हेतुतयोद्भाषितम्, अत एव नैगम-सङ्ग्रह-व्यवहारर्जुसूत्राणां मतस्य चत्वारो  
निक्षेपाः, तेषां द्रव्यार्थिकमेदत्वात्, शब्दसमभिरूढैवभूतानां तु भावनिक्षेप एव, पर्यायार्थिक  
मेदत्वादेवाम् । स्यादेतद् द्रव्यार्थिकनयेन नामादिनिक्षेपचतुष्टयाभ्युपगमे यो द्रव्यस्यैव



न्द्रादिरिवेन्द्रादिलक्ष्यते म सद्भावस्थापना, भावेन्द्रभारजिनाद्याकृतिनिर्मुक्तो योऽथराट-  
कादिरिन्द्रोऽयमिति जिनेऽयमिति बुद्ध्या स्थाप्यमानस्मोऽमद्भावस्थापना । उक्तञ्च—

“लेप्पगहृत्थी हृत्थिति एस मन्भाविद्या भवे ठवणा ।

होइ असम्भावे पुण हृत्थिति निरागिई अरुखो ॥ १ ॥” इति ॥

तदुभयस्थापनानुगतलक्षण तूक्तमेवावसेयम् । द्रवति पूर्वापरपर्यायाश्रयतयाऽत्रि-  
लितस्वभावेन तांस्तान् पर्यायान् पूर्वापरीभूतान् गच्छतीति व्युत्पत्त्या पूर्वोत्तरपर्यायानु-  
गामितया त्रिकालानुयायि यच्चद्रव्यम् । तच्च भूतभारिपर्यायकारणत्वात् चेतनमचेतन वा  
अनुपचरितमेव द्रव्यार्थिकनिक्षेपः । यद्वा अनुभूतपर्यायमनुमन्विष्यत्पर्यायञ्चैकमेव द्रव्यम्,  
तेनानुभूतपर्यायशब्देन तत्कदाचिद्भिधीयते, कदाचिच्चानुभविष्यत्पर्यायशब्देन, यथा  
अतीतघृतमम्बन्धो घटो ‘घृतघटः’ इत्यभिधीयते, भविष्यत्तत्सम्बन्धोऽपि तयवामिघान  
गोचरचारी । अयम्भार.—यद्वस्तु भूतकाले निरक्षितपर्यायरूपेण परिणत तद्वस्तु भूतपर्याय-  
कारणत्वात् कारणे कार्योपचार कृत्वा वर्तमानकाले द्रव्यरूपमुच्यते, यथा अनुभूतदेवेन्द्र-  
त्वपर्यायो मनुष्यो द्रव्येन्द्र’, अनुभूतघृताधारत्वपर्यायोऽयं घृतघटः, यच्च वस्तु भविष्यत्काले  
विवक्षितपर्यायरूपेण परिणम्यति तद्वस्तु भविष्यत्पर्यायकारणत्वाद् वर्तमानकाले भविष्यत्पर्या-  
यापेक्षया द्रव्यरूपमभिधीयते, यथा अनुभविष्यदेवेन्द्रत्वपर्यायाहंस्साधुश्चादो वा द्रव्येन्द्रः,  
उक्तञ्चोपदेशपदे—

“धेमाणिओववाउत्ति दच्चदेवो जहा साहृ” ॥ २५५ ॥ इति ॥ अन्यप्राप्त्युक्तम्—

“मिउपिंडो दच्चघडो, सुसावगो तह य दच्चसाहुत्ति ।

साहृ य दच्चदेवो, एमाइ सुए जओ भणिअ ॥ १ ॥” इति ॥

अनुभविष्यद्घृताधारत्वपर्यायाहो घृतघट इति वा । शुद्धपर्यायास्तिकमतेन घटोपयोग  
एव भारघट इति वर्तमानकालावच्छिन्नघटोपयोगरहितमपि तत्पर्यायेणातीतेन परिणतम  
नागतेन च परिणस्पद्वा द्रव्य तच्छब्दवाच्य द्रव्यार्थिकनयमतेन व्यवस्थितम्, भूतभारि-  
ष्यद्घटोपयोगात्मकभारघटकारणत्वादिति । भवति विवक्षितवर्तमानसमयपर्यायरूपेणो  
त्पद्यते इति भावः । अथवा भूतिर्भाव भवन वा भाषो वञ्जकिरीटादिधारणलक्षणवर्तमान-  
पर्यायेणन्द्रादिरूपतया वस्तुन. परिणमन भावः । यदभिहितम्—

“भावो विवक्षितक्रियाऽनुभूतियुक्तो हि वै समाख्यातः ।

मर्चजैरिन्द्रादिवदिहेन्दनादिक्रियाऽनुभवात् ॥ १ ॥” इति ।

यद्वा वञ्जकिरीटादिधारणोपशोमितेन्द्रादिवस्तुग्रहणपर्यायेण ज्ञानस्य भवनम्, अर्थात्  
वञ्जकिरीटादिधारणविशिष्टेन्द्रादिवस्त्वगादिज्ञानात्मकोपयोगो भावः, शब्दादिनयत्रयमते

भावस्योपयोगलक्षणत्वात्, उक्तलक्षणभावस्तु पर्यायार्थिकनयमतेन निक्षेपः, तस्य प्रतिक्षण-  
मन्यान्यरूपतया पर्यायार्थिकनयगोचरत्वादिति । 'एव परमत्यो' एष-एष एव नयनिक्षे-  
पानुयोगप्रतिपादित उभयनयप्रविभागाः, परमार्थः परम हृदयमागमस्य, एतद्विषयाऽ-  
व्यतिरिक्तविषयत्वात् सर्वनयनादानाम्, न हि शास्त्रपरमहृदयनयद्वयव्यतिरिक्तः कश्चिन्नयो  
विद्यते, सामान्यनिक्षेपरूपविषयद्वयव्यतिरिक्तविषयान्तरामावात् विषयिणोऽप्यपरस्य  
नयान्तरस्याभाव इति । अत्रेदमवधेयम्—द्रव्यार्थिकनयेन नामस्यापनाद्रव्याख्यास्त्रयो  
निक्षेपा अभ्युपगताः, पर्यायार्थिकनयेन च भाव एवेति महनीयमान्यथ्रीसिद्धसेनदिवाकराणां  
मतेन सङ्घट्टव्यवहाराण्योः पूज्यपादधीदवसूरीणां मतेन तु नैगमसङ्घट्टव्यवहाराणां द्रव्यार्थिक-  
नयभेदत्राचद्वत्तरपि तु एव त्रयो निक्षेपा अभ्युपगता, ऋजुसूत्रशब्दममिरूढैरभूतनयानां  
पर्यायार्थिकनयभेदत्वाचद्वत्तरपि भाव एव निक्षेपोऽभ्युपगताः । अथर्जुसूत्रनयः पर्यायार्थिक  
नयस्यैव भेद इत्यभ्युपगमे "उज्जुसूत्रम एगे अणुवउते एग दवावस्मय पुहुत् नेच्छइ"  
इत्यनुयोगद्वारद्वयविरोधस्स्यादिति चेत्, मैवम्, यतोऽमौ नयोऽतीत विनष्टत्वेनानागत  
श्चाऽनुत्पन्नत्वेन नाभ्युपगच्छति, किन्तु वर्त्तमानमेव वस्त्वभ्युपगच्छति, तदपि स्वकीयमेव  
मन्यते, स्वकार्यसाधकत्वात् स्वधनवत्, न तु परकीय, स्वकार्याऽसाधकत्वात् परधनवत्,  
तथा चातीतानागतभेदतः परकीयभेदतश्च पृथक्त्व नेच्छत्यसौ नय इत्यतोऽतीतानागत  
वर्त्तमानभेदमिन्नस्वकीयपरकीयभेदमिन्ननिखिलव्यक्त्यनुगतमदृशपरिणतिलक्षणतिर्यक्सामा-  
न्यस्य पूर्वापरपर्यायानुगतोर्ध्वतामामान्यस्य चानभ्युपगमाच्चास्य नयस्य तुल्यंशुशुवांश-  
लक्षणद्रव्याभ्युपगमः, अत एव नास्यामदृशटितभूतमाविषयार्थिककारणत्वरूपद्रव्यत्वाभ्युप-  
गमोऽपि, उक्तसूत्रं तु 'अणुवओगो दव' इति द्रव्यलक्षणमाभित्याऽनुपयोगांशमादाय  
वर्त्तमानावश्यकपर्याये द्रव्यपदोपचारात् समाधेयम्, पर्यायार्थिकनयेन मुख्यद्रव्यपदार्थस्यैव  
प्रतिक्षेपादिति पूज्यपादथ्रीसिद्धसेनदिवाकरमताद्यनुमारिणस्ममादधते । सैद्धान्तिकास्तु नोक्त  
समीचीन मन्यन्ते, नामादिवदनुपचरितद्रव्यनिक्षेपप्रदर्शनपरत्वादुक्तसूत्रस्य, न चेदेव, तर्हि  
शब्दादिनयेष्वपि कथञ्चिदुपचरण द्रव्यनिक्षेपप्रमद्वात्, पृथक्त्वनिषेधेऽपृथक्त्वेन द्रव्यविधेरा  
वश्यकत्वात्, एकविशेषनिषेधस्य तदितरविशेषविधिवर्षवमायित्वादिति । तथा च सैद्धान्तिक  
मतेन द्रव्यार्थिकनयस्य नामादयश्चत्वारोऽपि निक्षेपा अभिमता, पर्यायार्थिकनयस्य भाव  
एवैको निक्षेपः, यदाह मगवान् जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणः— " भाव चिय सङ्गपा सेमा  
इच्छन्ति सबणिकखेव" इति । अत एव चरणगुणस्थितस्य माघो. मर्जनयनिशुद्धत्वे सर्वनयानां  
भावग्राहित्व हेतुतयोद्भावितम्, अत एव नैगम-सङ्घट्ट-व्यवहारर्जुसूत्राणां मतेऽपि चत्वारो  
निक्षेपा, तेषां द्रव्यार्थिकभेदत्वात्, शब्दसमभिरूढैरभूतानां तु भावनिक्षेप एव, पर्यायार्थिक  
भेदत्वादेयम् । स्यादेतच्च द्रव्यार्थिकनयन नामादिनिक्षेपचतुष्टयाभ्युपगमे यो द्रव्यस्यैव

न्द्रादिरिवेन्द्रादिरक्ष्यते स सद्भावस्थापना, भावेन्द्रभाजिनाद्याकृतिविनिर्मुक्तो योऽध्वराट-  
कादिरिन्द्रोऽयमिति जिनोऽयमितिबुद्ध्या स्थाप्यमानस्तोऽमद्भावस्थापना । उक्तञ्च—

“लेप्पगहृथी हृत्थिति एस सम्भाविया भवे ठवणा ।

होइ अमम्भावे पुण हृत्थिति निरागिई अक्खो ॥ १ ॥” इति ॥

तदुभयस्थापनानुगतलक्षण तूकमेवावसेयम् । द्रवति पूर्वापरपर्यायाश्रयतयाऽविच-  
लितस्वभावेन तांस्तान् पर्यायान् पूर्वापरीभूतान् गच्छतीति व्युत्पत्त्या पूर्वोत्तरपर्यायानु-  
गामितया त्रिकालानुयायि यत्तद्द्रव्यम् । तच्च भूतभाविपर्यायकारणत्वात् चेतनमचेतन वा  
अनुपचरितमेव द्रव्यार्थिकनिक्षेपः । यद्वा अनुभूतपर्यायमनुमत्रिस्पत्पर्यायश्चैकमेव द्रव्यम्,  
तेनानुभूतपर्यायशब्देन तत्कदाचिदभिधीयते, कदाचिच्चानुमविस्पत्पर्यायशब्देन, यथा  
अतीतघृतसम्बन्धो घटो ‘घृतघटः’ इत्यभिधीयते, भविष्यत्तत्सम्बन्धोऽपि तथैवाभिधान  
गोचरचारी । अयम्भाज-यद्दस्तु भूतकाले त्रिपक्षितपर्यायरूपेण परिणत तद्दस्तु भूतपर्याय-  
कारणत्वात् कारणे कार्योपचार कृत्वा वर्तमानकाले द्रव्यरूपमुच्यते, यथा अनुभूतदेवेन्द्र-  
त्वपर्यायो मनुष्यो द्रव्येन्द्र, अनुभूतघृताधारत्वपर्यायोऽय घृतघटः, यच्च वस्तु भविष्यत्काले  
विवक्षितपर्यायरूपेण परिणस्यति तद्दस्तु भविष्यत्पर्यायकारणत्वाद्द्वर्तमानकाले भविष्यत्पर्या-  
यापेक्षया द्रव्यरूपमभिधीयते, यथा अनुमविष्यदेवेन्द्रत्वपर्यायार्हस्ताघुश्चाद्दो वा द्रव्येन्द्र,  
उक्तञ्चोपदेशपदे—

“वेमाणिओवचाउत्ति दव्वदेवो जहा साहृ” ॥ २५५ ॥ इति ॥ अन्यत्राप्युक्तम्—

“मिउपिंडो दव्वघडो, सुसावगो तह य दव्वसाहुत्ति ।

साहृ य दव्वदेवो, एमाह सुए जओ भणिअ ॥ १ ॥” इति ॥

अनुमत्रिष्यद्घृताधारत्वपर्यायार्हो घृतघट इति वा । शुद्धपर्यायास्तिरुमतेन घटोपयोग  
एव भाजघट इति वर्तमानकालावच्छिन्नघटोपयोगरहितमपि तत्पर्यायेणातीतेन परिणतम-  
नापतेन च परिणस्पद्वा द्रव्य तच्छब्दवाच्य द्रव्यार्थिकनपमतेन व्यवस्थितम्, भूतभवि-  
ष्यद्घटोपयोगात्मकभावघटकारणत्वादिति । भवति विवक्षितवर्तमानसमयपर्यायरूपेणो-  
त्पद्यते इति भावः । अथवा भूतिभावः भवन वा भावो वज्रकिरीटादिधारणलक्षणवर्तमान  
पर्यायेणेन्द्रादिरूपतया वस्तुनः परिणमन भावः । यद्भिहितम्—

“भावो विवक्षितक्रियाऽनुभूतियुक्तो हि वै समाख्यातः ।

सर्वज्ञैरिन्द्रादिवदिहेन्दनादिक्रियाऽनुभवात् ॥ १ ॥” इति ।

यद्वा वज्रकिरीटादिधारणोपशोमितेन्द्रादिवस्तुग्रहणपर्यायेण ज्ञानस्य भवनम्, अर्थात्  
वज्रकिरीटादिधारणविशिष्टेन्द्रादिवस्त्वगादिज्ञानात्मकोपयोगो भावः, शब्दादिनयत्रयमते

भावस्योपयोगलक्षणत्वात्, उक्तलक्षणभावस्तु पर्यायार्थिकनयमतेन निक्षेप, तस्य प्रतिक्षण-  
मन्यान्यरूपतया पर्यायार्थिकनयमगोचरत्वादिति । 'एष परमत्यो' एषः—एष एव नयनिक्षे-  
पानुयोगप्रतिपादित उभयनयप्रविभागः, परमार्थः परम हृदयमागमस्य, एतद्विपयाऽ-  
व्यतिरिक्तविषयत्वात् सर्वनयनादानाम्, न हि शास्त्रपरमहृदयनयद्वयव्यतिरिक्तः कश्चिन्नयो  
विद्यते, सामान्यविशेषस्वरूपविषयद्वयव्यतिरिक्तविषयान्तराभावात् विषयिणोऽप्यपरस्य  
नयान्तरस्याभाव इति । अत्रेदमवधेयम्—द्रव्यार्थिकनयेन नामस्थापनाद्रव्याख्यास्यो  
निक्षेपा अभ्युपगताः, पर्यायार्थिकनयेन च मात्र एवेति महनीयमान्यश्रीसिद्धसेनदिवाकराणां  
मतेन सङ्ग्रहव्यवहारयोः पूज्यपादश्रीदेवसूरीणां मतेन तु नैगममङ्ग्रहव्यवहाराणां द्रव्यार्थिक  
नयमेदत्वात्तद्वच्चैरपि त एव त्रयो निक्षेपा अभ्युपगता, ऋजुध्वजशब्दममभिरूढैवम्भूतनयाना  
पर्यायार्थिकनयमेदत्वात्तद्वच्चैरपि भाव एव निक्षेपोऽभ्युपगतः । अथर्जुसूत्रनयः पर्यायार्थिक  
नयस्यैव मेद इत्यभ्युपगमे " उज्जुसूत्रम एगे अणुवउते एग दवावस्मय पुहुत्त नेच्छइ "   
इत्यनुयोगद्वारप्रविरोधस्स्यादिति चेत्, मैत्रम्, यतोऽसौ नयोऽतीत विनष्टत्वेनानागत  
श्चाऽनुत्पन्नत्वेन नाभ्युपगच्छति. किन्तु वर्त्तमानमेव वस्त्वभ्युपगच्छति, तदपि स्वकीयमेव  
मन्यते, स्वकार्यसाधकत्वात् स्वधनवत्, न तु परकीय, स्वकार्याऽसाधकत्वात् परधनवत्,  
तथा चातीतानागतमेदत्वं परकीयमेदत्तश्च पृथक्त्वं नेच्छत्यसौ नय इत्यतोऽतीतानागत  
वर्त्तमानमेदमिन्नस्वकीयपरकीयमेदमिन्ननिखिलव्यक्त्यनुगतमदृशपरिणतिलक्षणतिर्यक्सामा-  
न्यस्य पूर्वापरपर्यायानुगतोर्ध्वतासामान्यस्य चानभ्युपगमन्नास्य नयस्य तुल्यांशुत्राश-  
लक्षणद्रव्याभ्युपगमः, अत एव नास्यामदृष्टितभूतमात्रिपर्यायकारणत्वरूपद्रव्यत्वाभ्युप-  
गमोऽपि, उक्तसूत्रं तु 'अणुवओगो दव ' इति द्रव्यलक्षणमाभित्याऽनुपयोगांशमादाय  
वर्त्तमानावश्यकपर्याये द्रव्यपदोपचारात् ममाधेयम्, पर्यायार्थिकनयेन द्रव्यद्रव्यपदार्थस्यैव  
प्रतिक्षेपादिति पूज्यपादश्रीसिद्धसेनदिवाकरमताद्यनुमारिणस्तमादधते । सैद्धान्तिकास्तु नोक्त  
समीचीन मन्यन्ते, नामादिवदनुपचरितद्रव्यनिक्षेपप्रदर्शनपरत्वाद्दुक्तसूत्रस्य, न चेदेव, तर्हि  
शब्दादिनयेष्वपि कथञ्चिद्रूपचारेण द्रव्यनिक्षेपप्रमद्वात्, पृथक्त्वनिषेधेऽपृथक्त्वेन द्रव्यविधेरा  
वश्यकत्वात्, एकविशेषनिषेधस्य तदितरविशेषविधिवर्षवसायित्वादिति । तथा च सैद्धान्तिक  
मतेन द्रव्यार्थिकनयस्य नामादयश्चत्वारोऽपि निक्षेपा अभिमताः, पर्यायार्थिकनयस्य भाव  
एवैको निक्षेपः, यदाह भगवान् जिनभद्रगणिकक्षमाश्रमणः— " भाव चिय सद्गणया सेमा  
इच्छन्ति सव्वणिकखेवे " इति । अत एव चरणगुणस्थितस्य साधो. सर्वनयविशुद्धत्वे सर्वनयानां  
भावग्राहित्वं हतुतपोद्भावितम्, अत एव नैगम-मङ्ग्रह-व्यवहारर्जुसूत्राणां मतेऽपि चत्वारो  
निक्षेपाः, तेषां द्रव्यार्थिकमेदत्वात्, शब्दसमभिरूढैवम्भूतानां तु भावनिक्षेप एव, पर्यायार्थिक  
मेदत्वादेयाम् । स्यादतद् द्रव्यार्थिकनयन नामादिनिक्षेपचतुष्टयाभ्युपगमे यो द्रव्यस्यैवा

भ्युपगन्ता स द्रव्यार्थिक इत्यस्यामाधारणस्वरूपस्य हानिस्स्यात्, भावस्य पर्यायरूपस्य तेन स्वीकारेण तत्प्रतिषेपाऽकरणात्। अथ लोके यस्य प्राधान्यं तेनैव व्यवहारः, यथा राजाऽऽगत इति सामन्तादयोऽप्यागताः, एवञ्च सति द्रव्यार्थिकनयो द्रव्य प्रधानतयैवाभ्युपगच्छतीति तत्र न द्रव्यार्थिकत्वहानिरिति तेनैव स व्यवहर्त्तव्यः स्यादेव, भावन्तु गौणतयाऽभ्युपगच्छतीत्येतावता स भावनिषेपाभ्युपगन्तेति चेत्, हन्त तर्हि शब्दादित्रिनयाः पर्याय प्रधानतया भ्युपगच्छन्तीति पर्यायार्थिकनयस्यैव भेदरूपा इति तत्स्वरूपेणैव व्यवहर्त्तव्याः, द्रव्य गौणतयोररीकुर्वन्तीति त्वदुक्तरीत्या द्रव्यनिषेपाभ्युपगन्तारथ स्युः। एवञ्च सति “ भाव चिय सहणया ’ इत्यादिप्रागुक्तभाव्यवचनमम्नादव्याघातः। अथ यद्यपि द्रव्यार्थिक नयपर्यायार्थिकनययोर्थयाक्रम गौणतया पर्यायद्रव्याभ्युपगमः, तथापि तत्र द्रव्यार्थिको द्रव्यपर्यायो मिथोऽभिन्नौ एकत्वमापन्नाविच्छतीति द्रव्यादव्यतिरिक्त पर्यायमभ्युपगच्छन् स पर्यायार्थिकाद्भिन्नः परिकलितः। पर्यायार्थिकस्तु द्रव्यपर्यायो परस्पर भिन्नावेवेच्छतीति द्रव्याद्भिन्न पर्याय मनुते, अतोऽसौ द्रव्यार्थिकाद्भिन्न इष्यते, तथा चानयोर्मिन्नतैव न पुनरेकतेति, अत्रानुमानञ्चैवम्-द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकाद्भिन्नः द्रव्यपर्यायोरत्यन्तमभेदाभ्युपगन्तृत्वात्, पर्यायार्थिकनयश्च द्रव्यार्थिकनयाद्भिन्नः तयोरत्यन्त भेदाऽभ्युपगन्तृत्वात्, अत एव मिथ्यादृष्टी च प्रत्येकमेतौ, द्रव्यार्थिकन द्रव्यपर्याययोरेकान्तेनैकत्व प्रहणात्, पर्यायार्थिकनयेन तु तयोरेकान्तेनान्यत्वप्रहणात्, तथा च द्रव्यार्थिकनयस्यापि पर्यायाभ्युपगन्तृत्वमिति चेत्, मैवम्, एव सति पर्यायार्थिकस्य शब्दादिनयस्यापि द्रव्याभ्युपगन्तृत्वापत्तेः। अत्यन्तभेदाभेदाग्राहिणोर्द्वयोस्समुद्रितयोरपि मिथ्यादृष्टित्वप्रमह्नाच्च। किञ्च द्रव्यार्थिकनयेन द्रव्यपर्याययोरेकत्वमभ्युपगम्यत इति त्वया इष्यमाणे द्रव्यस्यैव तदभिन्नगुणस्यापि द्रव्यत्वप्रमत्तया ‘द्रव्यं’ ‘गुण’ इति शब्दद्वयमेकार्थवाचकत्वादिन्द्र-पुरन्दरादिशब्दवत् पर्यायरूप स्यात्, एवञ्च सहोक्तिर्न स्यात्, अर्थात् द्रव्यगुणशब्दयोरभेदसम्बन्धेनेतरपदार्थान्नितरार्थबोधकत्वलक्षणमामानाधिकरण्य स्तप्रयोज्याभेदमन्वन्धावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितप्रियेयताप्रयोजकत्वस्वप्रयोज्यप्रियेयतानिरूपिताभेदसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारताप्रयोजकत्वान्यतरवस्वप्रयोज्यसाधि न स्यादिति गुणो द्रव्यमिति द्रव्यार्थिक नयामिलापानुपपत्तिस्स्यात्, यतो न हि कोऽपि प्रेक्षावान् पुमान् घटो नील इतिवद् घटः कलश इति वक्ति, प्रवृत्तिनिमित्तभेदनैवाभेदव्यवहारमद्भावेन प्रकृते पर्यायशब्दप्रवृत्तिनिमित्तभेदाभावात्। तथा च द्रव्यगुणपदान्यतरस्यैव प्रयोगस्स्यात्। एव यदि परस्परमत्यन्तभिन्नस्य द्रव्यपर्यायोभयस्य ग्राहक पर्यायनय इति त्रयेष्यमाणे पर्यायार्थिकनापि द्रव्य प्रहे द्रव्यार्थिकनयस्यान्तर्गृह्यत्वप्रसक्तिस्स्यात्, द्रव्यपर्यायोभयान्तर्गतद्रव्यपक्षे पर्यायनय मतऽपि द्रव्य सामायिकमित्यस्याविरोधप्रसङ्गश्च स्यादिति चेत्, अत्र शास्त्रवार्तासमुच्चये पयोपाषाणैः पर्यालोचितं तथोच्यते, अत्रिशुद्धानां नैगमादिभेदानां नामाद्यभ्युपगमप्रवण-

त्वेऽपि विशुद्धनैगममेदस्य द्रव्यविशेषणतया पर्यायाम्पुपगमाद् न तत्र मात्रनिक्षेपानुप-  
पत्तिः, अत एव विशेष्यावश्यकर्तृकत्वमुक्तम्, “ जीरो गुणपङ्क्तिवञ्चो णयस्म द्रव्यद्विपस्म  
सामाह्वयः ” इति । अत्र हि समतापरिणामविशिष्टे जीवे सामायिकत्व विधीयत इति ।  
न चैवमस्य पर्यायार्थिकत्वापत्तिः, इतरानि विशेषणस्वरूपप्राधान्येन पर्यायानाम्पुपगमात्,  
शब्दादीनां पर्यायार्थनयानां तु नैगमवदविशुद्ध्यभावाद् न नामाद्यम्पुपगमन्तृत्वम् । वास्तव  
तद्विषयत्व तु नोक्तविभागव्याघाताय, स्वातन्त्र्येण पर्यायनिषेधत्व त्वव्याहतमिति । ननु  
तथापि “ नामादिति द्रव्यद्विपस्म भावो अ पञ्चवणयस्म ” इति मङ्गलाधिकारेऽभिधाय  
“ मात्र चिय सङ्गया सेसा इच्छति मवणिकस्त्रेवे ” इत्यग्रे वदतां भाष्यकर्ता कोऽमिप्रायः ?  
इति चेत्, अयमभिप्रायः—पूर्वं शुद्धचरणोपयोगरूपमात्रमङ्गलाधिकारमन्वन्धाद् नैगमादिना  
जलाहरणादिरूपमात्रघटात्पुपगमेऽपि घटोपयोगरूपमात्रघटानाम्पुपगमात् तयोक्तिः, अग्रे  
तु व्यवस्थाधिकाराद् विशेषोक्तिरिति स्वातन्त्र्येण नामादित्रयविषयत्वमेव द्रव्यार्थिकस्येत्य  
भिप्रेत्य नयान्तरेण वा पूर्वं तयोक्तिः । अत एवोक्त तत्त्वार्थवृत्तौ—अत्र चाऽऽद्या नामा-  
द्यस्त्रयो विकल्पे द्रव्यार्थिकस्य तथा तथा मवार्थत्वात् पाश्चात्यः पर्यायनयस्य तथा-  
परिणतिविज्ञानाम्भ्यामिति । नचोपदेशेऽप्युक्तम्—

“ इष्टः शब्दनयैर्भावो, निक्षेपा निखिलाः परैः ।

मत मङ्गलवादेऽन्य-द्विदा द्रव्यार्थिके अये ॥ ८३ ॥

द्रव्यार्थं गुणवान् जीवः, पर्यायार्थं च तद्गुणः ।

सामायिकमिति प्रोक्त, यद्दिशाऽऽवश्यकादिषु ॥ ८४ ॥

घटोपयोगरूपो वा, भावो द्रव्यार्थिकेऽमतः ।

तेन तत्र अयं प्रोक्त-मिति जानीमहे वयम् ॥ ८५ ॥ ” इति ।

तदर्थस्तु विस्तरार्थमिस्तद्धीकात् पञ्चावसेयः । ग्रन्थगौरवमीत्येह न प्रतन्यते । ननु  
द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकयोर्मिथो विवादे सति मे मनः सन्देहदोलामधिरोऽहिति, किमत्र तत्त्व-  
मिति चेत्?—उच्यते, पृथग्भूयोस्तयोर्मिथ्यादृष्टित्वं मद्भूदितयोद्य तयोस्मभ्यगृष्टित्वमिति  
परस्परमापेक्षतदुभयनयापेक्षया नामादिचतुष्टयात्मकमेव वस्तु तत्त्वमिति निश्चिनु, नामादि-  
निक्षेपचतुष्टयात्मकतयैव वस्तुमात्रस्यानुभवात्, अनुभवाधीना हि वस्तुव्यवस्थिति-  
तदुक्तम्—

“ संविक्षिष्टैव सर्वाऽपि, विषयाणां व्यवस्थितिः ।

सम्बेदन च नामादि, विकलानुभूयते ॥ १ ॥

घटोऽयमिति नामैतत्, पृथुवृध्नादिनाऽऽकृतिः ।

अवयवं भावो, घटे इष्ट चतुष्टयम् ॥ २ ॥

भ्युपगन्ता स द्रव्यार्थिक इत्यस्यासाधारणस्वरूपस्य हानिस्स्यात्, भावस्य पर्यायरूपस्य तेन स्वीकारेण तत्प्रतिषेधाऽऽकरणात् । अथ लोके यस्य प्राधान्यं तेनैव व्यवहारः, यथा राज्ञाऽऽगत इति सामन्तादयोऽप्यागताः, एवञ्च सति द्रव्यार्थिकनयो द्रव्य प्रधानतयैवाभ्युपगच्छतीति तत्र न द्रव्यार्थिकत्वहानिरिति तेनैव स व्यवहर्त्तव्यः स्यादेव, भावन्तु गौणतयाऽभ्युपगच्छतीत्येतावता स भावनिषेधाभ्युपगन्तेति चेत्, हन्त तर्हि शब्दादित्रिनयाः पर्याय प्रधानतयाभ्युपगच्छन्तीति पर्यायार्थिकनयस्यैव भेदरूपा इति तत्स्वरूपेणैव व्यवहर्त्तव्याः, द्रव्य गौणतयोररीकूर्त्तन्तीति तदुक्तरीत्या द्रव्यनिषेधाभ्युपगन्तारथ स्युः । एवञ्च सति “ भाव चिय सहणया ’ इत्यादिप्रागुक्तमाष्यत्रचनमम्पादव्याघातः । अथ यद्यपि द्रव्यार्थिक नयपर्यायार्थिकनययोर्यथाक्रम गौणतया पर्यायद्रव्याभ्युपगमः, तथापि तत्र द्रव्यार्थिको द्रव्यपर्यायो मिथोऽभिन्नौ एकत्रमापन्नाविच्छतीति द्रव्यादव्यतिरिक्त पर्यायमभ्युपगच्छन् स पर्यायार्थिकाद्भिन्नः परिकल्पितः । पर्यायार्थिकस्तु द्रव्यपर्यायो परस्पर भिन्नावेवेच्छतीति द्रव्याद्भिन्न पर्याय मनुते, अतोऽमौ द्रव्यार्थिकाद्भिन्न इष्यते, तथा चानयोर्मिन्नतै न पुनरेकतेति, अत्रानुमानञ्चैवम्-द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकाद्भिन्न’ द्रव्यपर्यायोरत्यन्तम भेदाभ्युपगन्तृत्वात्, पर्यायार्थिकनयश्च द्रव्यार्थिकनयाद्भिन्न तयोरत्यन्त भेदाऽभ्युपगन्तृत्वात्, अत एव मिथ्यादृष्टी च प्रत्येकमेतौ, द्रव्यार्थिकन द्रव्यपर्याययोरेकान्तेनैकत्व ग्रहणात्, पर्यायार्थिकनयेन तु तयोरेकान्तेनान्यत्वग्रहणात्, तथा च द्रव्यार्थिकनयस्यापि पर्यायाभ्युपगन्तृत्वमिति चेत्, मैवम्, एवं सति पर्यायार्थिकस्य शब्दादिनयस्यापि द्रव्याभ्युपगन्तृत्वापत्तेः । अत्यन्तभेदाभेदग्राहिणोर्द्वयोस्तद्भूतयोरपि मिथ्यादृष्टित्प्रमङ्गाच्च । किञ्च द्रव्यार्थिकनयेन द्रव्यपर्याययोरेकत्वमभ्युपगम्यत इति त्रया इष्यमाणे द्रव्यस्यैव तदभिन्नगुणस्यापि द्रव्यत्वप्रमत्तया ‘द्रव्यं’ ‘गुण’ इति शब्दद्वयमेकार्थत्वाकत्वादिन्द्र-पुरन्दरादिशब्दवत् पर्यायरूप स्यात्, एवञ्च सहोक्तिर्न स्यात्, अर्थात् द्रव्यगुणशब्दयोर भेदसम्बन्धेनेतरपदार्थान्वितस्वार्थबोधकत्वलक्षणमामानाधिकरण्य स्प्रयोज्याभेदसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितविशेष्यताप्रयोजकत्वस्वप्रयोज्यविशेष्यतानिरूपिताभेदसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारताप्रयोजकत्वान्यतरस्वपर्यवसायि न स्यादिति गुणो द्रव्यमिति द्रव्यार्थिकनयामिलापानुपपत्तिस्स्यात्, यतो न हि कोऽपि प्रेक्षावान् पुमान् घटो नील इति तद् घटः कलश इति वक्ति, प्रवृत्तिनिमित्तभेदेनैत्राभेदव्यवहारमद्भावेन प्रकृते पर्यायशब्दप्रवृत्तिनिमित्त भेदाभावात् । तथा च द्रव्यगुणपदान्यतरस्यैव प्रयोगस्स्यात् । एव यदि परस्परमत्यन्त-भिन्नस्य द्रव्यपर्यायोभयस्य ग्राहकः पर्यायनय इति त्वयेष्यमाणे पर्यायार्थिकेनापि द्रव्य ग्रहे द्रव्यार्थिकनयस्यान्तर्गद्भूतप्रसक्तिस्स्यात्, द्रव्यपर्यायोभयान्तर्गतद्रव्यपक्षे पर्यायनय मतेऽपि द्रव्य सामायिकमित्यस्याविरोधप्रसङ्गश्च स्यादिति चेत्, अत्र शास्त्रवार्तासमुच्चये यथोपाध्यायैः पर्यालोचित तथोच्यते, अविशुद्धानां नैगमादिभेदानां नामाद्यभ्युपगमप्रवण-

त्वेऽपि विशुद्धनैगममेदस्य द्रव्यविशेषणतया पर्यायाम्युपगमाद् न तत्र भावनिक्षेपानुप-  
पत्तिः, अत एव विशेष्यावश्यकनिर्युक्तावुक्तम्, “ जीवो गुणपडिवन्नो णयस्स दव्वट्टिपस्म  
सामाहञ्ज ” इति । अत्र हि समतापरिणामनिश्चिते जीवे सामायिकत्व विधीयत इति ।  
न चैतस्य पर्यायार्थिकत्वापत्तिः, इतराविशेषणस्वरूपप्राधान्येन पर्यायान्म्युपगमात्,  
शब्दादीनां पर्यायार्थनयानां तु नैगमवदविशुद्ध्यभावाद् न नामाद्यम्युपगन्तृत्वम् । वास्तव  
तद्विषयत्व तु नोक्तविभागव्याघाताय, स्वातन्त्र्येण पर्यायविषयत्व त्वव्याहृतमिति । ननु  
तथापि “ नामाहितिप दव्वट्टिपस्म भावो अ पज्जवणपस्म ” इति मङ्गलाधिकारेऽभिधाय  
“ भाव चिय महणया सेसा इच्छति सव्वणिकखेवे ” इत्यग्रे उदात्तां भाष्यकृतां कौऽभिप्रायः ?  
इति चेत्, अयमभिप्रायः—पूर्वं शुद्धचरणोपयोगरूपभावमङ्गलाधिकारमन्वन्धाद् नैगमादिना  
जलाहरणादिरूपभावघटाभ्युपगमेऽपि घटोपयोगरूपभावघटान्म्युपगमात् तयोक्तिः, अग्रे  
तु व्यवस्थाधिकाराद् विशेषोक्तिरिति स्वातन्त्र्येण नामादिश्रवणविषयत्वमेव द्रव्यार्थिकस्येत्य  
भिप्रेत्य नयान्तरेण वा पूर्वं तयोक्तिः । अत एवोक्त तत्त्वार्थतृती—अत्र चाऽऽद्या नामा-  
द्यस्यो निकल्पा द्रव्यार्थिकस्य तथा तथा सर्वार्थत्वात् पाश्चात्यः पर्यायनयस्य तथा-  
परिणतिविज्ञानाम्यामिति । नयोपदेशेऽप्युक्तम्—

“ इष्टः शब्दनयैर्भावो, निक्षेपा निखिलाः परैः ।

मत मङ्गलवादेऽन्य-द्विदा द्रव्यार्थिके त्रये ॥ ८३ ॥

द्रव्यार्थे गुणवान् जीवः, पर्यायार्थे च तद्गुणः ।

सामायिकमिति प्रोक्त, यद्दिशाऽऽवश्यकादिषु ॥ ८४ ॥

घटोपयोगरूपो वा, भावो द्रव्यार्थिकेऽमत ।

तेन तत्र त्रय प्रोक्त-मिति जानीमहे वयम् ॥ ८५ ॥ ” इति ।

तदर्थस्तु विस्तरार्थिभिस्तद्वीकात एवावसेयः । ग्रन्थगौरवमीत्येह न प्रतन्यते । ननु  
द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकयोर्मिथो विवादे सति मे मनः मन्देहदोलामधिरोहति, किमत्र तत्र-  
मिति चेत्? उच्यते, पृथग्रूपयोस्तयोर्मिध्यादृष्टित्वात् समुदितयोश्च तयोस्सम्पगदृष्टित्वमिति  
परस्परमापेक्षतदुभयनयापेक्षया नामादिचतुष्टयात्मकमेव वस्तु तत्रमिति निश्चिनु, नामादि-  
निक्षेपचतुष्टयात्मकतयैव वस्तुमात्रस्यानुभवात्, अनुभवाधीना हि वस्तुव्यवस्थितिः ।  
तदुक्तम्—

“ सचिञ्चितैव सर्वाऽपि, विषयाणा व्यवस्थितिः ।

सम्वेदन च नामादि, विकल नानुभूयते ॥ १ ॥ तथाहि-

घटोऽयमिति नामैतत्, पृथुबुध्नादिनाऽऽकृतिः ।

मृद्द्रव्य भवन भावो, घटे दृष्ट चतुष्टयम् ॥ २ ॥



तत्रापि नाम नाकार-माकारो नाम नो विना ।  
तौ विना नापि चान्योन्य-मुत्तरावपि सस्थितौ ॥ ३ ॥

मयूराण्डरसे यद्व-द्वर्णा नीलादयः स्थिताः ।  
सर्वेऽप्यन्योन्यमुन्मिशा, स्तद्वज्रामादयो घटे ॥ ४ ॥” इति ।

अनुयोगद्वारसूत्रेऽप्युक्तम्—

“जत्थ य ज जाणिज्जा, णिक्खेव णिक्खिवे निरवसेस ।  
जत्थ वि न जाणिज्जा, चउक्खय णिक्खेवे तत्थत्ति ॥ १ ॥”

अत्र यत्र निक्षेपान्तर न जानीयात्तत्र चतुष्टय निक्षेपेदित्यनेन चतुष्टयस्य व्यापिता स्फुटीकृता, यत्तपदाभ्यां निर्देशे यो धूमवान् स बह्निमानित्यत्रेव व्याप्तेर्लामावश्यकत्वादिति । तथा च यद्यद्वस्तु तत्तन्नामादिनिक्षेपचतुष्टयात्मकमिति पर्यवसायिनी सा व्याप्तिरिति तज्ज्ञानजन्याया अन्यथानुपघमानवस्तुत्वहेतुकायाः “वस्तुत्त्वं नामादिनिक्षेपचतुष्टयात्मकम्” इत्यनुमितैर्वस्तुमात्र नामादिनिक्षेपचतुष्टयात्मकमेवेति सिद्धम् । तथा हि-एकस्मिन्नपि शुचीपत्यादौ ‘इ-द्र’ इति ताम, तदाकारस्तु स्थापना, उत्तरावस्थाकारणत्वं तु द्रव्यत्वम्, दिव्यरूप-सप्त-कुलिशधारण-परमैश्वर्यादिसपन्नत्व तु भाव इति चतुष्टयमपि प्रतीयते, तद्वदन्यवस्तुन्यपि ज्ञेयम्, उक्तञ्च-“ज वत्थुमत्थि लोए चउपज्जाय तय सर्वं” इति ॥ अत्रान्यशङ्का तत्समाधान निक्षेपसामान्यलक्षणञ्च नामादिप्रत्येकनिक्षेपानुगतलक्षणादिक च यद्वन्धगौरवभीत्या न विवेचित तत्सर्वमस्मत्कृततत्त्वार्थप्रथमाध्यायविवरणगूढार्थदीपिकारयटीकातो विस्तारार्थिनाऽवसेयमिति ॥ ६ ॥

एतदपि नयद्वय शास्त्रस्य परमहृदय तदैव यदैकानेकत्वेनानुभूयमाने वस्तुनि यदशापेक्षयैकत्वं स एवाशो द्रव्य यदशापेक्षयाऽनेकत्वं स एवांशः पर्याय’, अत एव तत्तदपेक्षा गर्भतत्तदनेरुपर्यायकरम्बितत्वाद् वस्तुनस्तथा तथा प्रयोगे तत्तदपेक्षालाभार्थं स्यात्कारमेव प्रयुज्यते सर्वत्र प्रामाणिका, अन्यथा निराकाङ्क्षमेव सर्वं वाक्य प्रसज्येत, तथा चाऽन्योऽन्यानुस्यूतद्रव्यपर्यायोमयात्मकमेव वस्तु परमार्थदृष्ट्या सत्, न त्वेकान्तद्रव्यार्थिकनयाभ्युपगत कल्पितपूर्वापरपर्यायान्वयिद्रव्यात्मकमेव वस्तु सत्, न वैकान्तपर्यायार्थिकनयोरसीकृतप्रतिक्षेपान्यान्यपर्यायात्मकमेव वस्तु सत्, अन्योन्याननुस्यूतद्रव्यपर्यायाऽनुपलम्भात् । यदुक्तम्—

द्रव्य पर्यायवियुत, पर्याया द्रव्यवर्जिताः ।

ए कदा केन किंरूपाः, दृष्टा मानेन केन वा ? ॥ १ ॥

तथा च वस्तुमात्रस्य द्रव्यार्थिकनयापेक्षया गुणीभूतपर्यायप्रधानीभूतद्रव्योपेतत्वेनेऽपर्यायार्थिकनयापेक्षया गुणीभूतद्रव्यप्रधानीभूतपर्यायोपेतत्वेनाभ्युपलम्भात् समुदितद्रव्या

र्थिकपर्यायार्थिकनयार्पणाया प्रमाणार्पणापर्यवमाधित्वेन तथा प्राधान्येन द्रव्यपर्यायोमयोपेत  
त्वेनोपलम्भाच्चानेकान्तात्मकमेव वस्तु सदित्येनम्भूतार्थप्रतिपादनपरत्वेन परस्परसापेक्षम्,  
न तु विशेषाननुपक्तमामान्यमात्रावभासक मामान्याननुपक्तपर्यायमात्रावभासकमित्येव  
पृथगेकैकांशप्रतिपादनपर परस्परनिरपेक्ष नयद्वयम्, तस्य मिथ्यारूपत्वेन तद्विषयस्याप्यन  
द्रूपत्वादित्येतस्यार्थस्य प्रदर्शनार्थमाह—

“ पञ्चवनिस्सामण्ण, वयण दब्बट्टियस्स अत्थित्ति ।

अवसेसो वयणविही, पञ्चवभयणा सपड्डिवत्तो ॥ ७ ॥ ” इति

‘पञ्चवनिस्सामण्ण वयण’ पर्यायनयेन निस्सामान्यमसाधारण वचन, तत्कस्य  
कीदृशमित्यत आह—“ दब्बट्टियस्स अत्थित्ति ” द्रव्यार्थिकस्य—द्रव्यार्थिकनयस्य अस्तीत्या  
कारक पर्यायनयाम्बुपगतविशेषस्य सत्ताऽनुप्रवेशात् विशेषाननुपक्तमामान्यमात्रप्रतिपाद  
कम्, यथा चैतद्वचनमेकान्तात्मक मिथ्या, अमदर्शप्रतिपादकत्वात्, तथा पर्यायनय-  
वचनमपि सामान्याननुपक्तविशेषमात्रप्रतिपादक मिथ्यैव तत्प्रतिपाद्यस्यार्थस्यामद्रूपत्वा  
दिति प्रतिपादयितुमाह—‘ अवसेसो वयणविही ’ अवशेषो वचनविधिर्वचनप्रकारः ‘ पञ्च-  
वभयणा ’ पर्यायमजनात् पर्यायेषु मत्ताया आरोपणात् अनुप्रवेशात् ‘ सपड्डिवत्तो ’ सत्प्र-  
तिपक्ष इति भाषासङ्घिप्तार्थः । विस्तृतार्थस्त्वेवम्—‘ पञ्चवनिस्सामण्ण वयण ’ निर्गत  
मामान्य साधारणस्वरूप यस्मात्तन्निःसामान्यम्, असाधारणम्, पर्यायनयेन सह निस्सा-  
मान्य पर्यायनिस्सामान्यम्, एवमिदं वचनम्, पर्यायनयेन वस्तुप्रतिपत्तयं यादृश वचन  
घटपटादिमेदप्रतिपादक प्रतिक्षणमन्यान्यस्वरूपप्रतिपादकञ्चाभ्युपगतं तादृशवचनसमान  
यन्न भवति एवम्भूत सत्तामात्रप्रतिपादक वचनमिति यावत्, तत्कस्येत्यत आह—‘ दब्ब  
ट्टियस्स ’ द्रव्यार्थिकनयस्य, किं स्वरूपं तदित्यत आह—‘ अत्थित्ति ’ अस्तीत्याकारक सत्ता  
सामान्यरूपाऽभिन्नार्थप्रतिपादकम् । ननु मेदवाद्यभ्युपगतविशेषपदार्थोऽप्यस्तीति तत्प्रति  
पादकमपि कथं न ‘ अस्ति ’ इत्याशयक वचनमिति चेत्, भैवम्, तस्य सत्तास्वरूपप्रवेशे  
नैव मद्रूपत्वात्, न हि तद्व्यतिरिक्तो विशेषो नाम पदार्थं रुध्दिदनुभूयते, सदित्युक्ते वस्तु-  
मात्रस्यैव बुद्धौ प्रतिभामनात्, सर्वं सत्तामात्रमेव, न तदर्थान्तरं वस्तु किमप्यस्तीति न  
तत्प्रतिपादकमस्तीति वचनम् । एतद्वचनमपि मिथ्या, विशेषविनिर्मुक्तमत्ता व्यवहाराऽनु-  
पयुक्तत्वेनाऽमद्रूपत्वमदर्शप्रतिपादकत्वात्, वियत्कुसुमवचनवत् । व्यवहारानुपयुक्तत्वञ्च  
वहनदोहनानयनादिविशेषक्रियाव्यतिरिक्तमामान्यक्रियायास्सत्सामान्यमाध्याया अव्यव-  
हियमाणत्वेन व्यवहियमाणायाश्च वहनदोहनादिविशेषक्रियाया अश्वगवादिविशेषमाध्या-  
तपैवानुभूयमानत्वेन सामान्यमात्रविषयकव्यवहारस्य कस्यचिददर्शनेन सिद्धमेव । एतेन  
यदुच्यते मङ्गहवादिना—

तत्रापि नाम नाकार-माकारो नाम नो विना ।  
तौ विना नापि चान्योन्य-मुत्तराद्यपि सस्थितौ ॥ ३ ॥

मयूराण्डरसे यद्व द्वर्णा नीलादयः स्थिताः ।  
सर्वेऽप्यन्योन्यमुन्मिथ्रा, स्तद्वज्जामादयो घटे ॥ ४ ॥" इति ।

अनुयोगद्वारसूत्रेऽप्युक्तम्—

" जत्थ थ ज जाणिज्जा, णिक्खेव णिक्खिक्खे निरवसेस ।  
जत्थ वि न जाणिज्जा, चउक्कयं णिक्खेवे तत्थत्ति ॥ १ ॥ "

अत्र यत्र निक्षेपान्तर न जानीयात्तत्र चतुष्टय निक्षेपेदित्यनेन चतुष्टयस्य व्यापिता स्फुटीकृता, यत्तत्पदाभ्या निर्देशे यो धूमवान् स वह्निमानित्यत्रैव व्याप्तेर्लामावश्यकत्वा दिति । तथा च यद्यद्वस्तु तत्तन्नामादिनिक्षेपचतुष्टयात्मकमिति पर्यवसायिनी सा व्याप्तिरिति तज्ज्ञानजन्याया अन्यथानुपपद्यमानवस्तुत्वहेतुकायाः " वस्तुतस्व नामादिनिक्षेपचतुष्टयात्म कम् " इत्यनुमितेर्वस्तुमात्र नामादिनिक्षेपचतुष्टयात्मकमेवेति सिद्धम् । तथा हि-एकस्मिन्नपि शचीपत्यादौ 'इन्द्र' इति ताम, तदाकारस्तु स्थापना, उत्तरावस्थाकारणत्व तु द्रव्यत्वम्, दिव्यरूप-सपत्ति-कुलिशधारण-परमैश्वर्यादिसपन्नत्व तु भाव इति चतुष्टयमपि प्रतीयते, तद्वदन्यवस्तुन्यपि ज्ञेयम्, उक्तञ्च-" ज वत्थुमत्थि लोए चउपजाय तय मव्व " इति ॥ अत्रान्यशुद्धा तत्समाधान निक्षेपसामान्यलक्षणञ्च नामादिप्रत्येकनिक्षेपानुगतलक्षणादिक च यद्वन्यशौरवभीत्या न विवेचित तत्सर्वमस्मत्कृततत्त्वार्थप्रथमाध्यायविवरणगृहार्थदीपि काव्यटीकातो विस्तारार्थिनाऽवसेयमिति ॥ ६ ॥

एतदपि नयद्वय शास्त्रस्य परमहृदय तदैव यदैकानेकत्वेनानुभूयमाने वस्तुनि यदशापे धपेकत्व स एवाशो द्रव्य यदशापेक्षयाऽनेकत्व स एवांशः पर्यायः, अत एव तत्तदपेक्षा गर्भतत्तदनैकपर्यायकरम्भितत्वाद् वस्तुनस्तथा तथा प्रयोगे तत्तदपेक्षालाभार्थं स्यात्कारमव प्रयुज्यते सर्वत्र प्रामाणिकाः, अन्यथा निराकाङ्क्षमेव सर्वं वाक्य प्रसज्येत, तथा चाऽन्योऽन्यानु स्पृतद्रव्यपर्यायोमयात्मकमेव वस्तु परमार्थदृष्ट्या सत्, न त्वेकान्तद्रव्यार्थिकनयाम्बुपगत कल्पितपूर्वापरपर्यायान्वयिद्रव्यात्मकमेव वस्तु सत्, न वैकान्तपर्यायार्थिकनयोररीकृतप्रतिक्ष णान्यान्यपर्यायात्मकमेव वस्तु सत्, अन्योन्याननुस्पृतद्रव्यपर्यायाऽनुपलम्भात् । यदुक्तम्—

द्रव्य पर्यायवियुत, पर्याया द्रव्यवर्जिताः ।  
कः कदा केन किरूपा, दृष्टा मानेन केन वा ? ॥ १ ॥

तथा च वस्तुमात्रस्य द्रव्यार्थिनयपेक्षया गुणीभूतपर्यायप्रधानीभूतद्रव्योपेतत्वेनेव पर्यायार्थिकनयपेक्षया गुणीभूतद्रव्यप्रधानीभूतपर्यायोपेतत्वेनाप्युपलम्भात् समुदितद्रव्या

र्थिकपर्यायार्थिकनयार्पणाया प्रमाणार्पणापर्यवमायित्वेन तथा प्राधान्येन द्रव्यपर्यायोभयोपेतत्वेनोपलम्भाच्चानेकान्तात्मकमेव वस्तु मदित्येवम्भूतार्थप्रतिपादनपरत्वेन परस्परसापेक्षम्, न तु विशेषाननुपक्तसामान्यमात्रमासक मामान्याननुपक्तपर्यायमात्रमासकमित्येव पृथगेकैर्कांशप्रतिपादनपर परस्परनिरपेक्ष नपद्रव्यम्, तस्य मिथ्यारूपत्वेन तद्विषयस्याप्यमद्रूपत्वादित्येतस्यार्थस्य प्रदर्शनार्थमाह—

“ पञ्चवनिस्सामण, वयण दब्बट्टियस्स अत्थिप्पि ।

अवसेसो वयणचिही, पञ्चवभयणा सपड्डिवक्खो ॥ ७ ॥ ” इति

‘पञ्चवनिस्सामण वयण’ पर्यायनयेन निस्सामान्यमसाधारण वचन, तत्कस्य कीदृशमित्यत आह—“ दब्बट्टियस्म अत्थिप्पि ” द्रव्यार्थिकस्य—द्रव्यार्थिकनयस्य अस्तीत्याकारक पर्यायनपाभ्युपगतविशेषस्य मत्ताऽनुप्रवेशात् विशेषाननुपक्तसामान्यमात्रप्रतिपादकम्, यथा चैतद्वचनमेकान्तात्मक मिथ्या, अमदर्थप्रतिपादकत्वात्, तथा पर्यायनय वचनमपि सामान्याननुपक्तविशेषमात्रप्रतिपादक मिथ्यैव तत्प्रतिपाद्यस्यार्थस्यामद्रूपत्वादिति प्रतिपादयितुमाह—‘अवसेसो वयणचिही’ अवशेषो वचनविधिर्वचनप्रकारः ‘पञ्चवभयणा’ पर्यायभजनात् पर्यायेषु मत्ताया आरोपणात् अनुप्रवेशात् ‘सपड्डिवक्खो’ सत्प्रतिपक्ष इति शाखासङ्घितार्थः । विस्तृतार्थस्त्वेवम्—‘पञ्चवनिस्सामण वयण’ निर्गतसामान्य साधारणस्वरूप यस्मात्तन्निःसामान्यम्, असाधारणम्, पर्यायनयेन सह निस्सामान्य पर्यायनिस्सामान्यम्, एवविध वचनम्, पर्यायनयेन वस्तुप्रतिपत्तय यादृश वचन घटपटादिभेदप्रतिपादक प्रतिक्षणमन्यान्यस्वरूपप्रतिपादकश्चाभ्युपगत तादृशवचनसमान यन्न भवति एवम्भूत मत्तामात्रप्रतिपादक वचनमिति यावत्, तत्कस्येत्यत आह—‘दब्बट्टियस्म’ द्रव्यार्थिकनयस्य, किं स्वरूप तदित्यत आह—‘अत्थिप्पि’ अस्तीत्याकारक मत्ता सामान्यरूपाऽमिन्नार्थप्रतिपादकम् । ननु भेदवाद्यभ्युपगतविशेषपदार्थोऽप्यस्तीति तत्प्रतिपादकमपि कथं न ‘अस्ति’ इत्याकारक वचनमिति चेत्, मैवम्, तस्य मत्तास्वरूपप्रवेशे नैव सद्रूपत्वात्, न हि तद्व्यतिरिक्तो विशेषो नाम पदार्थः कश्चिदनुभूयते, सदित्युक्ते वस्तुमात्रस्यैव युद्धौ प्रतिभामनात्, सर्वं मत्तामात्रमेव, न तदर्थांतर वस्तु किमप्यस्तीति न तत्प्रतिपादकमस्तीति वचनम् । एतद्वचनमपि मिथ्या, विशेषविनिर्मुक्तमत्ता व्यवहाराऽनुपयुक्तत्वेनाऽप्यद्रूपत्वसदर्थप्रतिपादकत्वात्, विषयसुभवचनम् । व्यवहारानुपयुक्तत्वञ्च वहनदोहनानयनादिविशेषक्रियाव्यतिरिक्तसामान्यक्रियायाऽसत्सामान्यमाध्याया अव्यवहित्यमाणत्वेन व्यवहित्यमाणायाश्च वहनदोहनादिविशेषक्रियाया अश्वगवादिविशेषमाध्यायतयैवानुभूयमानत्वेन सामान्यमात्रविषयकव्यवहारस्य कस्यचिददर्शनेन सिद्धमेव । एतेन यदुच्यते सङ्गहवादिना—

“ यथा कटकशब्दार्थः, पृथक्त्वाहो न काञ्चनात् ।  
न हेम कटकात्तद्व-जगच्छब्दार्थताऽचरे ॥ १ ॥ ”

इति तदपास्तम् । अस्यायमर्थः—

काञ्चनात्कटकशब्दार्थः पृथक्त्वाहो न, अर्थात् काञ्चनमेव कटकशब्दार्थः, कटक-  
शब्दार्थस्य विशेषस्याऽतिरिक्तस्याभावेन काञ्चनमेव कटरुशब्देनोच्यते इत्यर्थः, तद्वत्  
कटकशब्दार्थस्य काञ्चनात् पृथक्त्वाहोत्त्वाभाववद् हम्नः कटकशब्दार्थात् पृथक्त्वाहोत्त्वा  
भावो न, अर्थात् हेमनस्सामान्यस्य सद्भूतत्वेन कटकशब्दार्थात् कटकात्काल्पनिकात्पृथक्त्व  
मेव, अपृथक्त्वे विशेषस्याऽमत्त्वेन तद्रूपस्य सामान्यस्याप्यमत्त्वं स्यात्, न च सामान्य  
ममत्, ततो न तस्य विशेषरूपता, विशेषस्य तु सामान्यादपृथक्त्वे सामान्यात्मना सत्त्वमा  
पद्येत, तच्चेष्टमेव, सर्वेषां विशेषाणां सामान्यात्मना सत्त्वस्थेष्टत्वात् । अचरे न वर श्रेष्ठ  
यस्मात्तदवर सत्त्वाख्यमहासामान्य, तस्मिन्, जगच्छब्दार्थता-घटपटाद्यशेषशब्दार्थता,  
सर्वेऽपि घटपटादिशब्दा महामामान्यमेव तत्तद्रूपेण भ्रुवते इति तदपामने को हेतुरिति चेत्,  
उच्यते, हेमसामान्यस्य यावत्कटकाङ्गदादिविशेषपार्थक्याऽसिद्धिः, शाखादियावदवयव  
भिन्नस्य वृक्षादेरिव यावद्विशेषभिन्नस्य मत्ताख्यमहामामान्यस्याप्यनुपलब्धिश्चेति जानीहि,  
यथा च घटशरावोदञ्चनाद्यभिन्नमेव मृद्भव्य, तथा कटरुकैयूराद्यभिन्नमेव सुवर्णद्रव्यम्, ऊर्ध्व  
तामामान्यवचिर्धर्मासामान्यमपि व्यक्तिव्यतिरिक्तं नानुभूयत एव, मत्ताऽव्यतिरिक्ततयैव सर्व  
घटपटादिकमवभामत इति महामत्तामामान्यमेव घटपटादिकमिति तदाभ्युपगन्तुं शक्येत,  
यदि प्रतीतौ मन्मात्रमुल्लिख्येत, न त्वेवम्, घटः सन्न पटः सन्नित्येव घटपटादीनामप्युल्लेखा  
दित्युल्लिख्यमानमेदान्यथानुपपत्त्या घटपटादयोऽप्यभ्युपगन्तव्याः, न च घटपटादिकमनु  
ल्लिख्य सन्मात्रोल्लेखशालिनी प्रतीतिः काचिदन्तीति । न च द्रव्योपयोगप्रमत्तानुगतप्रतीति  
लक्षणसामान्योपलम्भस्य सद्भावत्तासामान्यानुपलब्धेरित्यस्यैवाऽमिद्विरिति वाच्यम्, जला  
हरणग्रणपिण्डीप्रदानादिव्यवहारस्य घटनिम्नपत्रादिविशेषैरेव क्रियमाणस्य दर्शनेन सामा  
न्यस्य व्यवहाराऽनिर्वाहकत्वेन द्रव्योपयोगेन तद्गद्देऽपि तस्य दोषजन्यज्ञानतया भ्रमत्त्वेन  
ततो वस्त्वसिद्धेरिति । तत्र सदवास्तीत्येकान्तभावनाप्रवृत्तस्य द्रव्यार्थिकनयस्य परमार्थता ।  
पयायास्तिकनयस्याप्येव प्रवृत्तस्य न सेति पञ्चाङ्गेन प्रतिपादयति—‘ अवसेसो ’ इत्यादिना ।  
तत्रावशेष-अवशिष्ट उपशुक्तादन्य इति यावत्, स क इत्यत आह—‘ वयणविही ’ सत्ता  
विनिर्मुक्तविशेषप्रतिपादकवचनप्रकार इत्यर्थः । स च कीदृश इत्यत आह—‘ पञ्जवमयणा  
सपडिवक्त्रो ’ । पयायपु सत्ताव्यतिरिक्तेष्वसत्सु मजनात् सत्ताया आरोपणात् सत्प्रतिपक्ष  
इति-सत्. प्रतिपक्षः विरोधी, असदर्थप्रतिपादकत्वेन मिथ्येत्यर्थः । तथा च विशेष एवास्तीति  
वचनविधि. मिथ्या, सामान्यविनिर्मुक्तविशेषस्यामतः प्रतिपादकत्वात् खपुष्पवचनवदिति

पर्यवसितोऽर्थः । असत्त्वं च तस्य सतो मेदाभेदाभ्यां विकल्पाऽसहत्वात्, तथाहि-विशेषः सतो मित्रोऽमित्रो वा, आद्ये सतो भिन्नत्वेन शशशृङ्गवदमत्त्वमेव स्यात्, द्वितीये सतो ऽभिन्नत्वेन मत्ताकुक्षिप्रविष्टतया मन्मात्रमेव स्यात्, सत्तास्वरूपवत् । तत्र विशेष एवास्तीत्यकान्तभावनाप्रवृत्तस्य पर्यायास्तिकनयस्य पारमार्थिकरूपम्, तदवगुक्तैकान्तनयद्वयस्य मिथो विरोधयुक्त्याऽप्रामाणिकत्वे मिद्वे तद्विषयीभूत नैकान्तमामान्यात्मक न वैकान्तविशेषात्मक वस्तु सत्, किन्तु परस्परानुस्यूतोभयात्मकमेव, यत एकस्मिन्नेव वस्तुनि सामान्य विशेषानुस्यूततपैवानुभूयेते, अत एव सामान्यविशेषोभयात्मकस्य वस्तुनः सामान्याख्य द्रव्यस्यैकत्वेन तदपक्षयैकत्वम्, विशेषाख्यपर्यायाणां नानात्वेन तदपेक्षयानेकत्वमिति गौणप्रधानभावनैकानेकात्मकतया वस्तुप्रतिपादक परस्परसापेक्षद्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयद्वय प्रधानभावेनैकानेकात्मकतया वस्तुप्रतिपादक प्रमाणञ्च शास्त्रस्य परमरहस्यमिति सिद्धम् । अत एवैकस्मिन्नेव नरक परस्परसापेक्षद्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयद्वयापेक्षकशाश्वतत्वाशाश्वतत्वधर्मद्वयप्रतिपादकम्, इमा ण भत ! रणप्यभा पुढयी किं सामता अमामता ? गोयमा ! मिय सामता सिय अमासता । से वणट्टेण भते ! एव बुच्चइ सिय सासता मिय असासता ? गोयमा ! दव्वट्टयाए सापता, वणपज्जवेहिं गधपज्जवेहिं रमपज्जवेहिं फासपज्जवेहिं अमामता, से एणट्टेण गोयमा ! एन बुच्चति त चेव जात्र मिय असासता, एव जाव अहे सत्तमा, इति सूत्रमपि मङ्गलउत्त इति । अथवा अर्थाभिधानप्रत्ययास्तुल्यनामधेया इति न्यायघटकीभूतयोरर्थप्रत्यययोस्स्वरूप पूर्वमभिधायानुना तद्घटकीभूतस्यावशिष्टस्याभिधानस्य नयस्य वाक्यस्वरूपत्वे द्रव्यास्तिरूपपर्यायास्तिकनयस्वरूपस्य, नयस्य वाक्यास्वरूपत्वे तदभिधायकस्य वा प्रतिपादनार्थमाह-‘पञ्चवणिस्सामण्ण’ इत्यादि । ‘पञ्चवणिस्सामण्ण वयण’ पर्यायान्निर्गत तदननुपक्त तदविमिश्रमिति यावत्, सामान्यसङ्ग्रहस्वरूप यस्मिन् वचने तत् पर्यायनिस्सामान्य वचनम्, पर्यायविनिर्मुक्तसामान्यप्रतिपादकवचनमिति यावत्, किंस्वरूप तदित्याशङ्कायामाह-‘अत्थित्ति’ अस्तीत्याकारक महासत्ता सामान्याभिधायीति यावत् । तच्च कस्य स्वरूप प्रतिपादक वेत्यत आह-‘दव्वट्टियस्स’ नयस्य वाक्यस्वरूपत्वपक्षे वाक्यात्मकद्रव्यार्थिकनयस्य स्वरूपम्, वाक्यास्वरूपत्वपक्षे द्रव्यार्थिकनयस्य प्रतिपादक वा, यद्वा “पञ्चवणिस्सामण्ण वयण” इति, पर्याय ऋजुसूत्रनयविषयादन्यो द्रव्यत्वादिविशेषः, स एव च निश्चित सामान्य यस्मिस्तत् पर्यायनिस्सामान्य वचनम्, द्रव्यत्वादिसामान्यविशेषाऽभिधायीति यावत् । तच्च वचन ‘दव्वट्टियस्स अत्थि’ द्रव्यार्थिकस्यास्ति-अशुद्धद्रव्यार्थिकनयस्य वाक्यास्वरूपत्व तत्प्रतिपादकत्वेन, वाक्यस्वरूपत्वे तु तत्स्वरूपत्वेन सम्बन्धि मरतीत्यर्थः, इतिशब्दोऽशुद्धद्रव्यार्थिकनयवचनपरिपूर्त्वा, अर्थात् एतावन्मात्रमशुद्धद्रव्यार्थिकनयवचनमित्वावेदित भवति । अथवेत्यादि पूर्वार्द्धव्याख्यानेन सत्ताख्यमहासामान्याभिधायि वचन शुद्धद्रव्यार्थिकस्येति प्रतिपाद्य

यद्देत्यादिना पूर्वार्द्धस्यैव व्याख्यानान्तरेण प्रतिपाद्य च अवसेधो  
 धिकनयविषयामिधायिवचनमशुद्धद्रव्याधिकस्येति पञ्जवमयणा " पर्यायभजनत्  
 पर्यायार्थिकनयस्य वचनस्वरूपमाह-अवशेष-अवशिष्टः ७६  
 धिकवचनार्था मिश्रा वचनविधिः पर्यायार्थिकनयस्वरूपः ७७  
 पञ्ज-शुद्धाशुद्धद्रव्याधिकवचनयोर्विरोधी, तत्र हेतु " पञ्जवमयणा " पर्यायभजनत्  
 प्रतिपादकत्वादिपर्यायः । पर्यायप्रतिपादकत्वामावे  
 पर्यायनयवचनस्य न व्यादिति तद्व्यथानुपपत्त्या पर्यायप्रतिपादकत्व तस्य  
 समन्वयानुपपत्त्यापर्यायार्थिकनयवचनस्वरूपं प्रतिपादित मवति, शुद्धाशुद्धद्रव्याधिकनयस्य  
 पर्यायार्थिकनयवचनधारिविरोधस्त परस्परमापेक्षयोर्नपद्वयविषययोगोप्रधानमात्रेण  
 पर्यायार्थिकनयवचनधारिविरोधस्त परस्परमापेक्षयोर्नपद्वयविषययोगोप्रधानमात्रेण  
 पर्यायार्थिकनयवचनधारिविरोधस्त परस्परमापेक्षयोर्नपद्वयविषययोगोप्रधानमात्रेण  
 पर्यायार्थिकनयवचनधारिविरोधस्त परस्परमापेक्षयोर्नपद्वयविषययोगोप्रधानमात्रेण

७६ मातृशुद्धद्रव्याधिकपर्यायार्थिकभेदेन भेदमनुभवतां नयानां स्वरूपं प्रतिपाद्य प्र  
 ७७ मातृशुद्धद्रव्याधिकपर्यायार्थिकभेदेन भेदमनुभवतां नयानां स्वरूपं प्रतिपाद्य प्र  
 ७८ मातृशुद्धद्रव्याधिकपर्यायार्थिकभेदेन भेदमनुभवतां नयानां स्वरूपं प्रतिपाद्य प्र  
 ७९ मातृशुद्धद्रव्याधिकपर्यायार्थिकभेदेन भेदमनुभवतां नयानां स्वरूपं प्रतिपाद्य प्र  
 ८० मातृशुद्धद्रव्याधिकपर्यायार्थिकभेदेन भेदमनुभवतां नयानां स्वरूपं प्रतिपाद्य प्र  
 ८१ मातृशुद्धद्रव्याधिकपर्यायार्थिकभेदेन भेदमनुभवतां नयानां स्वरूपं प्रतिपाद्य प्र  
 ८२ मातृशुद्धद्रव्याधिकपर्यायार्थिकभेदेन भेदमनुभवतां नयानां स्वरूपं प्रतिपाद्य प्र  
 ८३ मातृशुद्धद्रव्याधिकपर्यायार्थिकभेदेन भेदमनुभवतां नयानां स्वरूपं प्रतिपाद्य प्र  
 ८४ मातृशुद्धद्रव्याधिकपर्यायार्थिकभेदेन भेदमनुभवतां नयानां स्वरूपं प्रतिपाद्य प्र  
 ८५ मातृशुद्धद्रव्याधिकपर्यायार्थिकभेदेन भेदमनुभवतां नयानां स्वरूपं प्रतिपाद्य प्र  
 ८६ मातृशुद्धद्रव्याधिकपर्यायार्थिकभेदेन भेदमनुभवतां नयानां स्वरूपं प्रतिपाद्य प्र  
 ८७ मातृशुद्धद्रव्याधिकपर्यायार्थिकभेदेन भेदमनुभवतां नयानां स्वरूपं प्रतिपाद्य प्र  
 ८८ मातृशुद्धद्रव्याधिकपर्यायार्थिकभेदेन भेदमनुभवतां नयानां स्वरूपं प्रतिपाद्य प्र  
 ८९ मातृशुद्धद्रव्याधिकपर्यायार्थिकभेदेन भेदमनुभवतां नयानां स्वरूपं प्रतिपाद्य प्र  
 ९० मातृशुद्धद्रव्याधिकपर्यायार्थिकभेदेन भेदमनुभवतां नयानां स्वरूपं प्रतिपाद्य प्र

" पञ्जवमयणमुपात्त यत्सुं, दृक्वद्विषयस्स वषणिज्ज ।  
 जाय दयिओवओगो, अपच्छिमवियप्पनिव्वयणो ॥ ८ ॥ "

अपश्चिमविकल्पनिर्वचनः सद्यहावमानो यावद्द्रव्योपयोग प्रवर्तते तावद्द्रव्याधिकपर्याय  
 वचनीय द्रव्याधिकनयस्य विषयीभूत वस्तु, तद्य पर्यायनयव्युत्क्रान्त पर्यायनयविषयी-  
 कृतमप्येति तात्पर्यार्थः । अवयवार्थस्त्वेवम्- ' अपच्छिमवियप्पनिव्वयणो ' निश्चयकर्तृवत्  
 निर्वचनम् विकल्पव्यवहारलक्षणे अनयोस्तमाहारो विकल्पनिर्वचनम्, न विद्यते पश्चिम  
 विकल्पनिर्वचन यस्मिन् तद्यथा-तथाविधं तस्य द्रव्योपयोगस्यासौ अपश्चिमविकल्प  
 निर्वचनः । यदा अपश्चिमविकल्पनिर्वचनः--न विद्येते पश्चिमे उत्तरे विकल्पनिर्वचन  
 सविकल्पधीव्यवहारलक्षणे यत्र स तथा, शुद्धसद्यहावसान इति यावत्, ततः पर  
 विकल्पवचनस्य प्रसङ्गः, " जाय दयिओवओगो " इदंशो यावद्द्रव्योपयोगः प्रवर्तते  
 तावत्किमित्यत आह-' परसुं दृक्वद्विषयस्य वषणिज्ज ' इतितावद्द्रव्याधिकनयस्य वचनीय  
 वस्तु, द्रव्याधिकनयस्य विषयीभूतम्, तद्य किंस्वरूपमित्यत आह-' पञ्जवमयणमुपात्त  
 पर्यायनयव्युत्क्रान्तम्-पर्यायनयन वि-विशेषेण उत ऊर्ध्वं क्रान्त विषयीकृतमेव, पर्याया  
 नाक्रान्तसत्तामात्रसत्त्वावसाहकस्य प्रत्यक्षस्यानुमानस्य वा प्रमाणस्याभावात्, षटपटादि

पर्यायाक्रान्तस्यैव मर्वदा सत्त्वरूपस्य ताभ्यामवगतेः । घट. मेन् पट' सन् मठस्तद्वित्पादि-  
 प्रत्यक्षप्रतीतिभ्यो विशेषविधया घटपटादीनां पर्यायाणामपि मिद्वेः, तेषां काल्पनिकत्वे  
 प्रकाराभूताया ब्रह्मात्मकमत्ताया अपि तथात्वापत्तेः, ध्यातिज्ञानपरामर्शयोः पक्षमाश्रय  
 हेतुविषययो प्रामाण्ये सत्येव तज्जन्यब्रह्मात्मकमत्तासाध्यकानुमितेः प्रामाण्यमिति भेद-  
 सिद्ध्यापत्तिः, तयोरप्रामाण्ये च तज्जन्यानुमितेरप्यप्रामाण्यपत्त्या ब्रह्मात्मकमत्ताया अप्य  
 सिद्ध्यापत्तिरस्यात्, मदेव सोम्येदमप्र आसीत्, " एकमेवाद्वितीय ब्रह्म " " नेह नानास्ति  
 किञ्चन " इत्यादिवेदवाक्यस्य प्रामाण्यन्तु विवादापन्नमेवेत्येकोऽर्थः । यद्वा यद्वस्तु सूक्ष्म  
 सूक्ष्मतरसूक्ष्मतरमादित्युद्धिना पर्यायनयेन स्थूलरूप त्यजतोत्तरोत्तरतत्तत्सूक्ष्मरूपाश्रयणात्  
 व्युत्क्रान्त गृहीत्वा विचारेण मुक्त किमिद मृत्सामान्यम्, यद् घटादिविशेषानुपरक्तधीविषयी  
 भवेत् ? । घटादिविशेषैर्विना प्रतिपत्तिविषयस्स्यात्, एव यावत्सूक्ष्मतरमस्वरूपोऽन्त्यो  
 विशेषस्तावत्सर्वं वस्तु द्रव्यार्थिकनयस्य वक्तव्यम्, पूर्वपूर्वस्योत्तरोत्तरापेक्षयाऽनुगतत्वरूपा-  
 दवोत्तरोत्तरनयेन सूक्ष्मसूक्ष्मतरतच्च विशेषग्राहिणा परित्याग इति तस्य पूर्वपूर्वरूपस्य सामा-  
 न्यात्मकस्य द्रव्यत्वरमायातमेवेति तद्विषयकस्य नयस्य द्रव्यार्थिकत्वम्, तद्वाद्यस्य पूर्वपूर्व  
 रूपस्योत्तरोत्तरसूक्ष्मसूक्ष्मतरपर्यायनयत्यक्तस्यार्थस्य द्रव्यरूपत्वम्, उत्तरोत्तरस्य च पूर्वपूर्व  
 रूपापेक्षया विशेषरूपत्वेन पर्यायरूपतया तद्ग्राहिणो नयस्य पर्यायार्थिकत्वम्, तद्वाद्यस्य  
 चोत्तरोत्तरपर्यायरूपत्वम्, यद्वा धोत्तरापेक्षया पूर्वपूर्वरूपत्वात्सामान्यरूप, तदेव च स्वपूर्वा-  
 पेक्षया विशेषरूपमित्येकस्यापि वस्तुन' सामान्यविशेषोभयरूपत्वेन द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिक  
 नयविषयत्वम्, यतो यावदपश्चिमविकल्पनिर्घनोऽन्त्यो विशेषस्तावद्द्रव्योपयोगो द्रव्यज्ञान  
 प्रवर्तते, न हि द्रव्यादयो विशेषान्ता' सदादिप्रत्ययाऽविशिष्टैकान्तव्यावृत्तबुद्धिग्राह्यतया  
 प्रतीयन्ते, न च तथाऽप्रतीयमानास्तथाऽभ्युपगमार्हा, अनिप्रसङ्गात्, तदेव न सत्ता  
 विशेषविरहिणी, नापि विशेषात्मत्वात्किंला इति सिद्धम् । ननु महासामान्यस्य तत्पूर्व  
 सामान्याभावाच्छुद्धसङ्ग्रहतरनयविषयत्वाभावेन विशेषरूपत्वात्सामान्यरूपत्वमेव  
 स्यात्, एवमन्त्यविशेषस्यापि तद्दुत्तरविशेषाऽमात्रात्तद्ग्राहकेण कनापि पर्यायनयेन ग्राह्यत्वा  
 भावात्सामान्यरूपत्वाभावेन विशेषरूपत्वमेव स्यादिति चेत्, मयत् तथा, का नाम क्षतिः,  
 अपसिद्धान्तरप्रसङ्ग इति चेत्, मैवम् ।

" अय द्रव्योपयोगः स्यात्, विकल्पेऽन्त्ये व्यवस्थितः ।

अन्तरा द्रव्यपर्याय-धीः सामान्यविशेषत् ॥ १५ ॥ " इति

नयोपदश्लोकव्याख्याया " अय द्रव्योपयोगः द्रव्यार्थिकनयजन्यो बोधः अन्त्ये  
 विकल्पे शुद्धसङ्ग्रहाख्ये व्यवस्थितः, पर्याययुद्ध्याऽत्रिचलितः स्यात् " इत्युत्था शुद्धसङ्ग्रह-  
 विषय महासामान्ये पर्यायार्थिकनयो न प्रवर्तते इति तत्सामान्यरूपमेव, न पर्यायरूप



मित्युक्तम्भवति । अन्त्यविशेषत्रिरूपे च शुद्धसुत्रलक्षणो कारणाभावादेव द्रव्योपयोगो व्यवस्थितस्स्यात्-व्युपरतस्स्यादित्युक्त्या शुद्धसुत्रलक्षणस्य शुद्धपर्यायावगाहिनयस्य विषयेऽन्त्यविशेषे द्रव्योपयोगो द्रव्यार्थिकनयजन्यबोधो न प्रवर्त्तत इति स विशेष एव, न सामान्यमित्युक्तम्भवतीति नापसिद्धान्तत्वप्रसङ्ग इति । विशेषार्थिना नयोपदशङ्कित्तिर्नाम्ना नयामृततरङ्गिणी विलोकनीया । न च महासामान्यस्य सामान्यैकान्तरूपत्वेऽन्त्यविशेषस्य च विशेषैकान्तरूपत्वेऽनेकान्तत्वविरोधस्स्यादित्यपि वाच्यम्, महासामान्यस्यापि तदुत्तर विशेषापेक्षयैवान्त्यविशेषस्यापि च तत्पूर्वसामान्यापेक्षयैव सद्रूपत्वेन विषयतासम्बन्धेन परस्परमापेक्षोभयविषयताकबोध प्रति तादात्म्यसम्बन्धेनोभयात्मकविषयस्य कारणतया प्रत्येकस्याप्युभयरूपत्वेनानेकान्तत्वविरोधाभावादिति द्वितीयोऽर्थ इति ॥ ८ ॥

अथ द्रव्यार्थिको महामामान्यात्मकद्रव्यमात्रविषयताकत्वेन पर्यायार्थिकश्च विशेषात्मकपर्यायमात्रविषयताकत्वेन शुद्धजातीय इत्येव न शुद्धजातीयद्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकभाव व्यवस्था, किन्तु पूर्वोक्तयुक्त्याऽऽद्यमहासामान्यस्याप्यापेक्षिकविशेषरूपतयाऽन्त्यविशेषस्यापि चापक्षिकसामान्यरूपतया सामान्य न विशेषविकल नापि विशेषा' सामान्यरहिता इति द्रव्यार्थिकस्य पर्यायार्थिकस्य वा प्रत्येकनयस्याप्युपसर्जनी कृतस्वान्यविषयप्रधानीकृतस्य विषयतया प्रधानगौणभावेन सामान्यविशेषाख्यद्रव्यपर्यायोभयविषयताकत्वेनानेकान्तानु प्रवेशादेव द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकभावव्यपस्येत्येतस्यार्थस्य प्रदर्शनार्थमाह—

“ दच्चट्टिओत्ति तम्हा, नत्थि णओ णिघमसुद्धजाईओ ।

ण य पज्जवट्टिओ णाम, कोह भयणाह उ विसेसो ॥ ९ ॥” इति

तस्माद्द्रव्यार्थिक इति नयो नियमेन शुद्धजातीयः क्वलद्रव्यविषयताको नास्ति, न च पर्यायार्थिकोऽपि कश्चिन्नयः शुद्धजातीयः क्वलपर्यायविषयताकोऽस्ति, द्रव्यपर्याययोर्मिथस्मापेक्षतयैवानुभूयमानत्वेनान्यनिरपेक्षद्रव्यपर्यायविषयताभावेन विषयिणोऽप्यभावात्, भजनया त्पनयोर्नययोर्विशेष, पर्यायोपसर्जनेन प्रधानतया द्रव्यग्राहित्वे द्रव्यार्थिकनयः, द्रव्योपसर्जनेन प्रधानतया पर्यायग्राहित्वे पर्यायार्थिकनय इत्येधमनयोर्भेद इति तात्पर्यार्थः ।

अवयवार्थस्त्वेवम्—‘ तम्हा दच्चट्टिओत्ति णओ सुद्धजाईओ नत्थि ’ तस्मात् परस्परानात्मकद्रव्यपर्याययोरप्रतिमाममानत्वाद् द्रव्यार्थिक इति नयः शुद्धजातीयो विशेषविषयकत्वाभावे सति सामान्यविषयताको नास्त्येव, नियमेनेत्यस्याप्रधारणार्थत्वात्, द्रव्यपर्याययोर्मिथो नान्तरीयकत्वाद् विशेषविनिर्मुक्तोऽर्थात्सामान्यात्मकविषयताभावेन सामान्येतराविषयताकत्वे सति सामान्यविषयताकद्रव्यार्थिकनयात्मकविषयिणोऽप्यभावात् । “ ण य पज्जवट्टिओ णाम कोह ” नाम इति प्रसिद्धार्थ, न च “ दच्चट्टिओत्ति णओ विसेसो ” इति कश्चिन्नयो नियमेन शुद्धस्वरूप' सामान्यानवभासित्वे सति विशेषावभावात् सामान्यविकलात्यन्तव्या-

वृत्तविशेषविषयमाभावेन विशेषेतराविषयताकृत्वे मति विशेषविषयतारूपवर्गावार्थिकनपारमक-  
विषयिणोऽप्यभावात्, द्रव्यमात्रग्राहकद्रव्यार्थिकनपस्य पर्वापरमात्रग्राहकपर्वावार्थिकनपस्य  
च भावे वा मिथ्यात्वमेव, अन्यथाविषयग्राहित्वात्, यद् यत्र यद्विषयताऽस्ति तस्य तत्र  
तद्विषयता ग्राहकत्वेनैव नयप्रामाण्यत् । नन्वेवमेकान्तस्याभेदस्य भेदस्य चामावेन तद्रूप  
विषयमात्राद् द्रव्यार्थिकरूपवर्गावार्थिकनयो न स्तस्त्रिंशद् “ तित्त्वपरपणसगर-विशेषपरपार-  
मूलवागरी ” इत्यादिवृत्तीयगाथोक्तौ नयस्य द्रव्यार्थिकरूपवर्गावार्थिकौ मूलभेदौ विरुध्यन्ते  
इत्यत आह-‘ भणयाद् उ विसेमो ’ इति भजना-उपमर्जनप्रधानमात्रावगाहना, द्रव्या-  
र्थिकनयेन पर्वापरस्योपमर्जनभावेन द्रव्यस्य च प्रधानभावेनावगाहना, एवं पर्वावार्थिकनयेन  
द्रव्यस्योपमर्जनभावेन पर्वापरस्य च प्रधानभावेनावगाहना तथा, तुः अत्रचारणे तयैवानयो  
र्नययोर्विशेषो भेदः, स्वैतरनपरिषयमव्यपेगन्तयैव स्वस्वविषयग्राहिणौ द्रव्यार्थिकरूपवर्गावार्थिक  
नयो प्रमात्मकाविति स्वविषयैतद्विषयस्योपमर्जनीकृत्य स्वविषयश्च प्रधानीकृत्य स्वस्व  
विषयावगाहितयैव तयोर्भेद इति भावः । यद्वा भजनापास्तु विवक्षाया एव विशेषः ‘ इद  
द्रव्यम्, अथ पर्वापर ’ इत्ययं भेदः, तथा तद्भेदाद् विषयिणोऽपि तयैव भेदः, विवक्षामेद  
कृतविषयभेदपरोज्यप्रतिभामभेदेनानयोर्नययोर्भेद इति यावत् । अयमभिप्राय-मामान्य  
विशेषात्मके वस्तुतये उपमर्जनीकृतविशेषे यदन्वयिरूप गद्रूपमिति विवक्षयते यदा तदा  
द्रव्यार्थिकनपरिषयः, यदा तूपमर्जनीकृतान्वयिरूप तस्यैव वस्तुनो यदसाधारण विशेषरूप  
तद्विवक्षयते तदा पर्वावार्थिकनपरिषयभूत तद्भवतीत्येवं विवक्षाया भेदे तत्कृतविषयभेदेन  
तद्विषयकविषयिणोऽपि भेद एव ॥ ९ ॥ एयरूपभजनाकृतमेव भेद दर्शयितुमाह—

“ द्रव्यद्विअयत्तव्य, अवत्यु णियमेण पञ्चयणयस्त ।  
तद् पञ्चययत्यु अय-त्युमेय द्रव्यद्विनयस्त ॥ १० ॥ ”

द्रव्यार्थिकवक्तव्य द्रव्यार्थिकनवाऽभिधेय द्रव्यमवस्तु नियमेन निधयेन पर्वापरनयस्य  
मते, एवमेव पर्वापरवस्तु पर्वापरनयाम्युपमर्जनं पर्वापरवस्तु अवस्त्वेव द्रव्यार्थिकनयस्य मते ।  
तथा च पर्वावार्थिकनय उत्पाद-व्यपप्रतिभासे प्रामाण्य निबिन्दोति, अत एव तद्विषया-  
पुत्पादव्यपौ सत्तौ, ध्रौव्यप्रतिभासे स्वप्रामाण्य, ध्रौव्यभाववति ध्रौव्यप्रकारकत्वा  
वस्य, तत्राऽप्रामाण्ये च तद्विषयस्यापि ध्रौव्यस्याऽमत्यतरमेव, न तु तत्प्रतिभाममेव  
प्रतिधिपति, न स्वतु वाचकमहसेणापीद रजतमिति ज्ञान नाभूदित्येव प्रतिधिप्यते कैश्चिदपि  
निष्पत्तेः, किन्तु रजतरामापरति रजतत्वप्रकारकत्वेनाप्रामाण्यमेव निधीयते, तद्वत्प्रक-  
तेऽपि, एव द्रव्यास्तिकोऽपि ध्रौव्यप्रतिभासे प्रामाण्य निष्टप्यति, अत एव तद्विषयीभूत  
ध्रौव्यमेव सत्यम्, उत्पादव्यपप्रतिभासे त्वप्रामाण्यमिति तद्विषयी तौ न मत्पावित्यय स्वस्व  
विषयवक्षयातोऽयुक्ता, ध्रौव्यनिरपेक्षोत्पादव्यपयोऽरुत्पादव्यपनिरपेक्षध्रौव्यस्य च पूर्वमेव

प्रतिक्षिप्तत्वेन तदवगाहिप्रतिभामस्य मिथ्यारूपत्वात् । उत्पाद्व्यपयोर्ग्रीव्यस्य च परस्परसापेक्षतया गौणप्रधानभावेनोत्पादादिधर्मत्रयाजगाहित्वे सत्येव प्रामाण्यस्य च भावादुत्पादादित्रयात्मकमेव वस्त्वभ्युपगन्तव्यमिति तात्पर्यार्थः । अवयवार्थस्त्वेवम्—  
 'द्वद्विषयवत्त्वं' द्रव्यार्थिकवक्तव्य द्रव्यार्थिकनयप्ररूपणाविषयोऽभेदः 'अवत्थु' अवस्तु पर्यायनयप्रधान्योपस्थितिजनितद्रव्यार्थिकनयाप्रामाण्यनिश्चयप्रयुक्तावस्तुत्वनिश्चयविषयः, तत्र किं सन्देह इत्यत आह—“णियमेण” इति, निश्चयेनेत्यर्थः, कस्य मते इत्यत आह—  
 'पञ्जवणयस्त' पर्यायार्थिकनयस्य, एतदनन्तर मते इति शेषः, तन्मते वस्तुमात्रस्य प्रतिक्षण भिन्नभिन्नार्थक्रियाकारित्वेनैव सद्रूपतया नियमेन भिन्नभिन्नस्वरूपत्वात् । ननु यथा द्रव्यार्थिकनयाम्बुपगतोऽभेदः पर्यायार्थिकनयेनामन्त्रभ्युपगतस्तथा पर्यायार्थिकनयाम्बुपगतो भेदो द्रव्यार्थिकनयेनासन्नेवाम्बुपगतः किं वाऽन्यथेत्याशङ्क्यामाह—तद् इत्यादि ।  
 'तथा' तद्वत् 'पञ्जवत्थु' पर्यायनयाम्बुपगतभेदाख्य वस्तु 'अवत्थुमेव' अवस्त्वेव द्रव्यार्थिकनयप्रधान्योपस्थितिजनितपर्यायार्थिकनयाऽप्रामाण्यनिश्चयप्रयुक्ताऽवस्तुत्वनिश्चयविषय एव, 'द्वद्विषयणयस्त' द्रव्यार्थिकनयस्य, एतदनन्तरमपि मत इति पूरणीयम्, तन्मते भेदरूपाणां घटपटादिविकाराणामलीकत्वेन घटः मन् पटः सन्नित्याद्यनुमतप्रतीतिविषयस्याऽखण्डसत्त्वस्यैव वस्तुत्वादिति । अतो भजनामन्तरेण पर्यायार्थिकनयेऽभेदस्य द्रव्यार्थिकनये च भेदस्पासद्रूपत्वात् 'इदं द्रव्यमेते च पर्यायाः' इति नास्ति विभाग इति भजनयैः स कर्त्तव्यः, द्रव्यपर्याययोः प्रधानोपसर्जनभावापेक्षया समस्तवस्तुव्यवहारप्रवृत्तेः, तथाहि—स्याद्वादिना योऽर्थो येन द्रव्यात्मना पर्यायात्मना वा जिज्ञासितो भवति तस्यार्थस्य तेन रूपेण ज्ञान भवति, यश्चार्थो येन द्रव्यात्मना पर्यायात्मना वा वक्तुमिष्टो भवति तस्यार्थस्य तद्रूपमुपादायाऽभिधान भवति, एतस्माज्जिज्ञामाविश्यात्तस्याद्वादे द्रव्यपर्याययोरेकत्र वस्तुनि समप्रधानभावेऽपि प्रधानोपसर्जनभावावलम्बनेन समस्तवस्तुव्यवहार प्रवर्त्तते, नैतानता वस्तु द्रव्यमात्रात्मक पर्यायमात्रात्मक वा किन्तु द्रव्यपर्यायो मयात्मकमेव, यदाह—

“सर्वमात्रासमूहस्य, विश्वस्यानेकधर्मणः ।

सर्वथा सर्वदा भावात्, कचिर्त्तिकचिद्विवक्ष्यते ॥ १ ॥” इति ।

अत्र मात्रापद द्रव्यपर्यायाशपरम्, सर्वथा सर्वप्रकारेण द्रव्यपर्यायादिस्वभावेन । एव सति कुतो न द्रव्यपर्यायोमयरूपेण सर्वस्य व्यवहार इत्यत आह—कचिदिति, यदा यस्य वस्तुनो येन रूपेण विवक्षा तदा तेन रूपेण तस्य व्यवहार इत्यर्थः । ननु द्रव्यप्रतिभासोऽपि द्रव्यार्थिकनयेन पर्यायप्रतिभामोऽपि च पर्यायार्थिकनयेनानुभूयत एवेत्यनुभूयमानस्याऽभेदस्य भेदस्य च पर्यायार्थिकनयेन द्रव्यार्थिकनयेन च प्रतिक्षेपः कथं क्रियते इति चेत्,

मैवम्, न हि कामलकादिदोषप्रभवः शुद्धेऽपि पीतत्वप्रतिभाम् केनापि विदुषा प्रतिक्षिप्यते, किन्तु तत्प्रतिभासेऽप्रामाण्य निश्चीयते बाध्यमानविषयकत्वादिति, तेन भ्रान्तज्ञानेन शुद्धे पीतत्व न मिच्छति तद्वत् मिथ्यात्वादिदोषबलाद्भिन्नेऽपि जायमानोऽभेदप्रतिभामः पर्यायार्थिकनयेनाऽभिन्नेऽपि जायमानो भेदप्रतिभासो द्रव्यार्थिकनयेनानुभूयमानत्वेन सद्रूपत्वान्न प्रतिक्षिप्यते, न प्रतिभामो नैव जात इति न ख्याप्यते, सतो निषेधाऽयोगात्, किन्तु क्षणिके वस्तुन्यर्थक्रियाकारित्व घटते, न स्थिरे, तस्य महकार्यमवधानदशायामर्थक्रियाकारित्वा भावः तत्प्रमवधानदशयाश्चार्थक्रियाकारित्वमित्येव विरुद्धघर्माध्यामात्प्रतिक्षण भिन्नभिन्न रूपत्वेनैव सिद्धेरिति भिन्ने वस्तुन्यभेदाध्ययमायितयाऽप्रामाण्य निश्चीयते, तथा च बाध्यमान विषयकत्वान्न न स्वविषयव्यवस्थापनमर्थो भवति, भेदप्रतिभासस्तु बाधकामावाद्यर्थ एवेति पर्यायार्थिकनयो विवेचयति, द्रव्यार्थिकनयोऽप्येवमाह—भेदप्रतिभासोऽपि मया न प्रतिक्षिप्यते, किन्तु घटपटादिविकाराणाममद्रूपत्वाद्भेदोऽसनेव, अभेदस्तु त्रिकालाऽबाध्यमानानुगतप्रतीतिविषयत्वात्सद्रूप एवेत्यभिन्ने वस्तुनि भेदाध्ययमायितया तत्रप्रामाण्य निश्चीयत इति बाध्यमानविषयकत्वादप्रमात्मकस्म न स्वविषयसिद्धौ प्रभविष्णु, घटः सन् पट' सन्नित्याद्यभेदप्रतिभामस्तु बाधकामावाद्यर्थ एव, एवमन्योऽन्यपक्षाम्यामन्योऽन्यनयाप्रामाण्ये सति तद्विषययोरपि द्रव्यपर्याययोरमत्रापत्रया तद्व्यतिरिक्तस्य विषयस्याभावेन जगतः शून्यत्वैवापद्येतेत्यतो द्रव्यार्थिकनयप्रदर्शितयुक्तया पर्यायस्यैकान्तत्वमेव बाध्यते, न तु स्वरूपतोऽपि पर्याय, एव पर्यायार्थिकनययुक्तया द्रव्यस्यैकान्तत्व बाध्यते, न तु स्वरूपतोऽपि द्रव्यमिति परस्परसव्यपेक्षद्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनययुक्तिभिः परस्परसव्यपेक्षद्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनययोर्बाधाऽभावेन तद्विषययोरपि परस्परमाकाङ्क्षद्रव्यपर्याययोरनेकान्तात्मनोरबाधितत्वात्मत्यत्वमिति तदुभयात्मनो वस्तुनः समुदितोत्पादव्ययधौव्यलक्षणमस्वरूपत्वादभ्युपगमः प्रमाणाहः । अत एवैकान्तद्रव्यार्थिकनयाम्बुपगतो धौव्यलक्षणद्रव्यांश्च, एकान्तपर्यायार्थिकनयाऽभ्युपगत उत्पादव्ययलक्षणपर्यायांशो वा परमार्थतो न च कश्चिदस्ति, परस्परनिरपेक्षैकनयकल्पितत्वात् । यदुक्तम्—

“ नान्वयो भेदरूपत्वा,—न्न भेदोऽन्वयरूपतः ।

सृष्टेद्वयससर्ग—वृत्तिर्जात्यन्तर घटः ॥ १ ॥ ” इति

तथा च पूर्वापरपर्यायानुगतोर्ध्वतामामान्यस्यापि द्रव्यारूपस्य पूर्वोत्तरकालीनभिन्न भिन्नव्यक्तिलक्षणविशेषान्निवृत्तत्वेन विशेषस्यापि च सामान्यसङ्घटितत्वेन उभुनस्वामान्य विशेषोमयात्मकत्वात् परस्परमापेक्षभेदाभेदात्मके जात्यन्तरे वस्तुनि व्यवस्थिते तत्र द्रव्यार्थिकेन पर्यायस्याऽस्तुत्वाच्चन पर्यायार्थिकेन द्रव्यस्यावस्तुत्ववचनमेकान्तस्वविषय पक्षपातविजृम्भितमेवेति सिद्धमिति भावः ॥ १० ॥

पूर्वोक्तयुक्त्या कथञ्चिद् भेदाभेदात्मके वस्तुनि मिद्रे तत्र भेदलक्षणपर्यायाश्रयणेन पर्यायार्थिकनय उत्पादव्ययान्भ्युपगच्छति, अभेदलक्षणद्रव्याश्रयणेन द्रव्यार्थिकनयो ध्रौव्यमुररीकरोति तदपि नैकान्तरूप युक्तम्, किन्तु परस्परविषयस्वरूपाऽपरित्यागलक्षण मजनयैव प्रमाणकोटिमाटीकृत इत्याशयेनाह—

“उत्पज्जन्ति त्रियन्ति ( वयति ) अ, भावो नियमेण पञ्चवणयस्स ।  
दव्वद्वियस्स सव्व, सया अणुप्पणमविणट्ठ ॥ ११ ॥”

पर्यायनयस्य मते उत्पादव्ययधर्मद्वयान्वितास्मर्ये भावाः, स्थिरे वस्तुनि क्रमयोगपया-  
भ्यामर्थाक्रियाकारित्वस्वभावेन तल्लक्षणमभ्यनिवृत्त्या वस्तुत्वमेव हीयेतेति तन्मते कस्मि-  
श्चिदपि वस्तुनि ध्रौव्याऽभावात् । द्रव्यार्थिकनयस्य च मत उत्पादव्यययोः काल्पनिकत्वेन  
कस्मिश्चिदपि वस्तुनि परमार्थभूतोत्पादव्ययधर्माभ्यात् सदा ध्रौव्यैकस्वभाव सर्वे वस्तिवति  
तात्पर्यार्थः । अवयवार्थस्त्वेवम्—‘उत्पज्जति’ उत्पद्यन्ते प्रागभूत्वा भवन्ति, आद्यक्षणेन  
सह सम्बन्धन्ते, ‘त्रियति अ’ त्रि-विशेषेण निरन्तररूपतया यान्ति च, गच्छन्ति प्राप्नु-  
वन्ति नाशम् । यद्वा ‘वयति’-प्रजन्ति, नाशमिति शेषः । एवम्भूताः क इत्यत आह—  
‘भावा’ इति भावाः पदार्थाः, ‘नियमेण’ नियमेनेत्यवधारणे, प्रतिक्षणमुत्पादविनाशशालि-  
त्वेन क्षणिका एव सर्वे भावाः, पतादृशोऽभ्युपगमः कस्येत्यत आह—‘पञ्चवणयस्म’  
पर्यायनयस्य, वस्तुमात्र परमार्थभूतोत्पादविनाशरहितत्वेन स्थिरैकस्वभावमिति द्रव्या-  
र्थिकनयान्भ्युपगममुपदर्शयितुमुत्तरार्द्धमाह—‘दव्वद्वियस्म’ द्रव्यार्थिकस्य ‘मव्वे’ सर्वे  
वस्तु ‘सया’ सदा ‘अणुप्पणमविणट्ठ’ अनुत्पन्न मद्रिणट्ठ, शब्दद्रौव्यैकस्वभावमि-  
त्यभ्युपगमः । उक्तैकान्तप्ररूपणाऽपि स्वस्वसिद्धान्तपक्षद्वानुबद्धकदाग्रहवासनाप्रयुक्तत्वेन  
मिथ्यैव, पूर्वापरपर्यायानुस्यूतमानान्पाकारव्यतिरेकेणोत्पादव्यययोः ताभ्यां विना  
ध्रौव्यस्य चाऽप्रतीतेः तत्रितयस्य च मिथोऽविनाभूततयैव प्रतीतेः । अत एव—

‘अनाद्यनिधने द्रव्ये, स्वपर्याया. प्रतिक्षणम् ।

उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति, जलरून्लोलयज्जले ॥ १ ॥’

इत्युक्तं सङ्गच्छते, न चात्र जलकल्लोला अप्यपरमार्थभूता एवेति न तदुद्धान्तेन परमार्थ-  
भूतोत्पादव्ययधर्मसिद्धिरिति वाच्यम्, मरिचिगानेन तेषामनुभूयमानत्वात्, न च तदनु-  
भवोऽप्यर्थाः, तेषां प्रतिक्षणं मिश्रमिश्रस्वरूपत्वे बाधकाभावात्, विहारारम्भकत्वात्तेषाम  
सत्त्वेन तत्प्रतीतेरप्रामाणिकत्वे प्रकृत्यात्मकविकारिप्रतीतेरप्यप्रामाणिकत्वं वदतो नैव वक्त्र-  
वक्त्रीमवेत्, तथा चोत्पादव्ययध्रौव्याणि ममुदितान्येव सल्लक्षणम्, न तु प्रत्येकम्, एकैक-  
विनिर्माणेन वस्त्वप्रतीतेरित्येव प्ररूपणा मत्या, अत एव “उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं मत्”  
५-२९ इति तत्रार्थस्य सङ्गच्छते । अप्रोत्पादश्च व्ययश्चोत्पादव्ययौ पर्यायरूपत्वेनैकत्वावली

तौ च धौव्यञ्चोत्पादव्ययधौव्याणि, तेषुक्तम्, अत्र युक्तमित्यस्य योगाभयो नार्थः, तथा सति षट्युक्तस्य भूतलस्य षटमिन्नत्वानुत्पादव्ययधौव्ययुक्तस्यापि वस्तुन उत्पादव्यय धौव्यमिन्नत्वप्राप्ती तत्रितयात्मकत्वमिदं व्याहृत्य, किन्तु युक्त योगः मसुदायः, एतदुक्तं भवति-उत्पादानयो नैककाः मत्, किन्तु परस्परापेक्षमसुदाय एवोत्पादादीनां सदित्यस्य प्रत्ययस्य ध्वनेर्वा विषयत्वेन मत् । तथा चैकान्तधौव्यलक्षणद्रव्यैकान्तोत्पादव्ययलक्षण पर्यायप्राहिणौ द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकमूलनयो मिथ्यानयो, परमार्थद्वया वस्तुन उत्पाद व्ययधौव्ययुक्ततया द्रव्यपर्यायोभयात्मकत्वनानकान्तान्मकरूपैकान्तस्वरूपतयाऽवगाहित्वेन भ्रान्तप्रत्ययरूपत्वान् । वस्तुन्युत्पादव्ययमापेक्षधौव्यस्य द्रव्यापक्षया धौव्यमापेक्षोत्पाद- व्यययोश्च पर्यायापेक्षया मद्भावेन तद्प्राहिणौ नयो मध्यग्नयो, यद्यत्र यदपेक्षयाऽस्ति तस्य तत्र तदपेक्षया ग्राहकत्वेनैव नयप्रामाण्यपरिच्छेदादिति भावनीयम् ॥ ११ ॥

अथ द्रव्यपर्यायो नैकान्तमिच्छौ, तथा मति नैकस्य वस्तुन उभयरूपता स्यात् तयो मेदाऽमिधानादिति य एव देवदत्तो षालत्वन दृष्टस्म एव गुरत्वेन वृद्धत्वेन वा दृश्यते इत्येकरूपैव देवदत्तस्य द्रव्यपर्यायरूपेण मेदाभेदानगाहिन्या' प्रत्यभिज्ञाया अपलापस्स्यात्, नाप्येकान्तामिच्छौ, यन्निवृत्तौ यस्य न निवृत्तिस्तत्ततो मिन्न, यथा निवर्त्तमानाद् षटादनिव र्तमान' षटो मिन्नो दृष्टः, पर्यायनिवृत्तावपि द्रव्यस्य न निवृत्तिरिति तद्द्रव्य पर्यायतो मिन्नम्, यतो द्रव्यपर्याययोरभेदे द्रव्यस्वरूपरत्पर्यायस्याप्यनिवृत्तिस्स्यात्, यद्वा द्रव्यस्यापि निवृ त्तिस्स्यात् पर्यायस्वरूपवत्, तथा च नैकान्तपरस्परनिरपेक्षमेदाभेदशालिनौ द्रव्यपर्यायो, तथा सति मेदाभेदयोः सुन्दोपसुन्दन्यायेन परस्परविरोधिनोरकतरस्यैकान्तैरुनयापेक्षया भ्रमात्मकज्ञानविषयत्वादसत्त्वे तदपरस्यापि तद्विरोधपरैकान्तनयापेक्षया चाऽप्यर्थज्ञान गोचरत्वादसत्त्वं स्यादिति तयोरन्योन्यानुस्यूततयैराम्पुगन्तव्यत्वेन द्रव्यार्थिकसुनया- पेक्षया गुणीभूतमेदप्रधानीभूताभेदात्मकमपि पर्यायार्थिकसुनयापेक्षया गुणीभूताभेदप्रधानी भूतमेदत्रिष्टिमपि वस्तु प्रमाणापेक्षया च प्राधान्येन कथञ्चिद्देदाभेदोभयस्वरूपमेवाऽम्पुग गन्तव्यम्, अत एव द्रव्यार्थिकनयापेक्षयोत्पादव्ययमापेक्षयुत पर्यायार्थिकनयापेक्षया धौव्यसापेक्षोत्पादविनाशशालि उस्तवपि उभयनयापेक्षया प्राधान्येन परस्परानुविद्धोत्पादा- दित्रयात्मकमेव, अधिकृतान्यतमामावे तदितराभावनियमादिति प्रतिपादयितुमाह सूरि-—

“ दन्व पञ्चवचिउय दन्वचिउत्ता य पञ्चवा णत्थि ।  
उत्पाय-द्विद-भगा इदि दनियलक्करण एय ॥ १२ ॥ ”

द्रव्य पर्यायविशुक्त नास्ति, द्रव्यविशुक्ताश्च पर्याया न मन्ति, किन्तु द्रव्य पर्याय- समृक्तमेव, पूर्वोत्तरतत्पर्यायानुगततयैव तत्प्रतीत', पर्याया अपि द्रव्यसम्बद्धा एव, अनु गतद्रव्यानुविद्धतयैव तेषां प्रतिपत्तेः, अतो द्रव्यपर्यायो मिथस्तम्बद्भावेन, परस्परविक्रयो-

स्तपो\* कदाचिदप्यप्रतिमामनादिति द्रव्यपर्याययोर्मध्ये एकतरस्याभावे तदितरस्याप्यभावं  
एवेति तयोर्नियमेन ममव्याप्यत्वमेव, अत एव द्रव्यापेक्षया यद्वधौव्य पर्यायापेक्षया यच्चो-  
त्पादव्ययात्मकत्वं तयोरपि तथात्वमेवेति मग्नदितोत्पादव्ययधौव्ययुक्तत्वमेव द्रव्यलक्षण  
मुच्यत इति तात्पर्यार्थः । अत्रयथार्थस्त्वत्रम्—“ द्रव्य ” द्रव्य पूर्वोत्तरपर्यायानुगाम्युर्ध्वता  
मामान्यलक्षणम् ‘पञ्चविउत्ता’ पर्यायवियुत पूर्वोत्तरकालीनभिन्नभिन्नव्यक्तिलक्षणपर्याय-  
विनिर्मुक्तम्, अस्य ‘नत्थि’ इत्यनेनान्यथास्ति, नहि पर्यायनिरपेक्ष द्रव्य विद्यते, यद्गृह्येत  
केवल, किन्तु पर्यायसहितमेव तत्, मृत्पिण्डे म्यासे कोशे कुशलादौ मृद्रव्य मृद्रव्यमित्येव  
कुण्डलाकारे ऊर्ध्वाकारे रज्जाकारादौ च सर्पे सर्पोऽय सर्पोऽयमित्येव पर्यायसि दधि  
घृतादौ गोरसोऽय गोरसोऽयमित्यवञ्चानुगतप्रतीतिः “ दधविउत्ता य पञ्जरा ” द्रव्यवियुक्ता  
द्रव्याननुविद्धाः पर्यायाश्चापि, चकारस्याप्यर्थकत्वात्, ‘नत्थि’ अत्र उचनविपरिणा-  
मेन न सन्ति, यद्वा ‘नत्थि’ इत्युभयपदस्य निपातरूपत्वान्नास्ति न सन्तीत्युभयार्थकत्वे  
नैकउचनान्तेनेव बहुवचनान्तनाप्यन्वयान्न सन्ति, न विद्यन्ते, ये मृष्टेरन् केवला”, किन्तु  
द्रव्यमापेक्षा एव पर्यायाः, यैव मृत् पिण्डात्मिका सैव स्थामस्वरूपा सैव कोशस्वरूपा सैव  
कुशलादिस्वरूपा सैव घटरूपा सैव कपालशर्करादिस्वरूपा, य एव सर्पे कुण्डलाकारस्म  
एवोर्ध्वाकारो रज्जाकारो वा, य एव गोरसो दुग्धरूपः स एव दधिघृतादिरूप इत्याद्या-  
काराया अनुगतैकमामान्यानुविद्धरिशेषावगाहिन्याः प्रतिपत्तेः, मृद्रव्यस्यैव मृत्पिण्डरूपेण  
स्थासरूपेण कोशरूपेण कुशलादिरूपेण, सर्पस्यैव कुण्डलाकाररूपेणोर्ध्वाकाररूपेण रज्जाघा-  
काररूपेण, गोरमस्यैव पयोदधिघृतादिरूपेण परिणमनाद् मृद्रव्यस्यैव मृत्पिण्डादयः सर्पस्यैव  
कुण्डलादयः गोरसस्यैव दुग्धादयः पर्यायाः, परिणामिपरिणामयोर्द्रव्यपर्याययो परिणाम  
परिणामिभावेन सम्बन्धेन कथञ्चिदभेदः, परिणामिद्रव्यत्वेन परिणामभूतपर्यायत्वेन च कथ  
ञ्चिद्भेद इति कथञ्चिद्भिन्नाभिन्नद्रव्यपर्यायोमयात्मकत्वात्पूर्वापरपर्यायानुभूतद्रव्यरूपेण यदेव  
ध्रुव तदेव पूर्वपर्यायेण विनष्ट सदुत्तरपर्यायेणोत्पन्नमित्युत्पादव्ययधौव्याविनाभूत वस्त्विति  
प्रदर्शनार्थमुत्तरार्द्धमाह—“ उप्पाय-द्विह-मगा ह्दि दधियलक्षण एय ” इति उत्पादस्थिति  
मङ्गास्तमुदिता द्रव्यस्य लक्षण, लक्ष्यतेऽनुमीयते इतरव्यावृत्ततया लक्ष्यत्वेनाभिमत वस्तु येन,  
लक्ष्यते स्वस्वाऽमाधारणधर्मपुरस्कारेण स्वस्ववाचकपदवाच्यतया व्यवह्रियते लक्ष्य येन वा  
तलक्षण, यद्यस्य लक्षण तत्तस्येतरभेदज्ञापक नियतव्यवहारसाधकञ्च, यथा पृथिव्या गन्धध्वज  
लक्षण पृथिव्या इतरव्यावृत्ततया ज्ञापकम्, तथात्पादस्थितिमङ्गान्मकलक्षणमपि खण्डखाद्ये  
उपाध्यायैः परिगृहीतस्य “ सद् द्रव्यलक्षणम् ” ॥ १ ॥ “ उत्पादव्ययधौव्ययुक्त सत् ”  
॥ २ ॥ इति छत्रद्वयस्य पर्यालोचनया सच्छब्दाभिधेयस्य द्रव्यस्येतरव्यावृत्ततयाऽनु  
मितिजनकम्, एव यथा पृथिव्या गन्धध्वज लक्षण पृथ्वी पृथ्वीत्वेन पृथिवीपदवाच्यतया  
व्यवहर्त्तव्ये-येव निपातव्यवहारसाधक, तथात्पादस्थितिमङ्गलक्षणमप्यात्मादिद्रव्य द्रव्यत्वेन

द्रव्यपदवाच्यतया व्यवहर्त्तव्यमित्येव नियतव्यवहारमाधकम्, “ हृदि ” इत्युपदर्शने ‘ एय ’ एतदृश्यताम् । लक्षणराक्यस्येतरभेदज्ञापनरूपप्रयोजनपक्षे द्रव्यत्वावच्छिन्नपक्षके तरभेदानुमितस्तु स्वममये येन रूपेण पर्याये तदितरत्वस्य येन रूपेण हेतौ तदितरत्वव्यापकाऽभावरप्रतियोगित्वस्य च सिद्धिस्तद्रूपावच्छिन्नात्तद्रूपावच्छिन्नेतरभेदाभिप्रायेण बोध्या, तथा च द्रव्यत्वावच्छिन्नमात्मादिवस्तुमात्र पर्यायत्वावच्छिन्नद्रव्येतरनिष्ठप्रतियोगितानिरूपरुभेदवदुत्पादस्थितिमङ्गममाहारत्वावच्छिन्नात्, यन्नैव तन्नैव यथा विषत्कुमुममिति निष्कर्षः । अत एव हेतौ बाधाऽमिद्विदोषी नेति । लक्षणराक्यस्य नियतव्यवहाररूपप्रयोजनपक्षे यौद्धृष्ट्या मन्तन्यमानक्षणिकज्ञानस्वरूपे आत्मनि व्यवहारनयेन द्रव्यत्व व्यवस्थाप्योत्पादस्थितिमङ्गपुक्तत्वेन द्रव्यपदव्यवहारविषयत्वं, नैयायिकदृष्ट्या ज्ञानाश्रये स्थिरे चात्मनि ऋजुवृत्तनयेन पर्यायरूपत्वं व्यवस्थाप्योक्तलक्षणसम्पत्त्या द्रव्यपदव्यवहारविषयत्वं नियम्यते, तथा चात्मादिवस्तुमात्र द्रव्यपदवाच्यतया व्यवहर्त्तव्य उत्पादस्थितिमङ्गममाहारवचनात्, यन्नैव तन्नैव यथा वन्ध्यासुत इत्यनुमान पर्यवस्यति ।

ननु मृत्पिण्डस्थामादीना दुग्धद्वयादीनाञ्चैकान्त्वेन भेद एवेति तेषामुत्पादव्ययी युक्तौ, ध्रौव्यन्तु मृत्त्वगोरमत्प्रमामान्यस्यैव, न तु मृदो गोरमस्य च, एवमात्मशरीरस्यैव बालयुवाद्यवस्थाभेदेनोत्पादव्ययी, ध्रौव्यत्वात्तन्म एपेत्युक्तहेतोस्वरूपाऽसिद्धिरिति चेत्, मैवम्, इयमेव मृत् पूर्वकालावच्छिन्नपिण्डभावेन नष्टा उत्तरकालावच्छिन्नस्थामभावेन चोत्पन्नेति, अपमेव गोरसो पूर्वकालावच्छिन्नदुग्धभावेन नष्ट उत्तरकालावच्छिन्नदधिभावेन चोत्पन्न इति, य एव द्रवत्वात्मा बालत्वेन दृष्टम् एव पुत्रत्वेन वृद्धत्वेन वा दृश्यत इति चानुभवसिद्धत्वाद्दुत्पादस्थितिमङ्गममाहारहेतोः । अत एव लौकिकबोधोऽपि त्रैलक्षण्यागमादित्वाद् वस्तुतः स्याद्वादापेक्ष एवेत्युपदर्शनार्थ—

“ तद्वेम कुण्डलनया विगत यदुच्चै,—रूपन्नमङ्गदतयाऽचलित स्वभावात् ।  
लोका अपीदमनुभूतिपद स्पृशन्तो, न त्वा अयन्ति यदि तत्तदभाग्य-  
मुग्रम् ॥ २८ ॥ ” इति महाशरीरस्तोत्रे मङ्गच्छने ।

नन्वपि त्रिलक्षण वस्तु तदा स्यात् यदि तत्तदस्थानुस्यूत अत एव पूर्वोत्तराखिल विवर्त्तनं द्रव्यं स्यात्, तदेव तु नास्ति, यदपि च कुण्डलाद्वादादौ हेम हेमत्यनुगतप्रतीतिनियामकं तदपि हेमत्वजात्याख्यमेवेति चेत्, मैवम्, हेमत्वमस्ति हेमाद्भेद न कुण्डलत्वम्, तदस्ति रजतकुण्डले न च तत्र हेमत्प्रम्, उभयञ्च हेमकुण्डल इति कुण्डलत्वादिना हेमत्वस्य साङ्कर्यात्तस्य जातिरूपत्वाऽसिद्धेः । अथ हेमत्वव्याप्य कुण्डलत्वं भिन्नमेव रजतत्वव्याप्य कुण्डलत्वञ्च भिन्नमेवति तत्सौ र्णकुण्डल रजतकुण्डल च नैकम्, एवमङ्गदत्तादिकमपि द्वेषम् । एव



मृत्त्वव्याप्यघटत्वसुवर्णत्वव्याप्यघटत्वरजतत्वव्याप्यघटत्वादीनां भेदाद्व्याप्यदिपदवद् घटपद-  
मपि नानार्थकमेव । तथा च परस्परामावसमानाधिकरणयोर्हेमत्वरजतकुण्डलत्वयोर्न सामाना-  
धिकरण्यम्, हेमत्सौवर्णकुण्डलत्वयोश्च सौवर्णकुण्डले सामानाधिकरण्येऽपि न परस्परामा-  
सामानाधिकरण्यमिति न साङ्कर्यमिति । यद्वा कुण्डलत्वसंस्थानगतजातिरूपमेवेति यौक्तिको  
यदि द्रव्यात्तदापि यत्र हेमिन् व्यक्तौ कुण्डलदशायामद्भेदप्रदोऽद्भेददशयां च कुण्डलभेद-  
प्रहस्तत्र तदेव हेमाद्भेद तदेव कुण्डलश्चेत्यभेदप्रदो व्यक्तयभेद विना न कथमप्युपपादयितु-  
शक्य इति । एतेन तच्चदवस्थानामेवोत्पादविनाशौ न त्ववस्थातुरित्यप्यारेका निरस्ता,  
अस्त्यातद्धतोः कथञ्चिद्भेदात्, तथा च यदेव वस्तु पूर्वाम्प्यारूपेण विनष्ट तदेवोत्तरावस्था  
रूपेणोत्पद्यत इत्यनुभवान्यथानुपपत्त्या पूर्वपर्यायरूपेण विनाश उत्तरपर्यायरूपेण चोत्पादः  
पूर्वोत्तरपर्यायानुगाम्यूर्ध्वतामामान्यारूपद्रव्यरूपेण ध्रौव्यमित्येतरममुद्रितोत्पादव्यवधौव्य  
लक्षण द्रव्यस्याभ्युपगन्तव्यम् । ननु ममवायमम्बन्धेन द्रव्यत्वजातिमत्त्वात् पृथिव्यादि द्रव्य  
मेव न तु पर्यायरूपमपि, येन द्रव्यपर्यायापेक्षयोक्तलक्षणसिद्धिस्तस्यादिति चेत्, मैवम्, द्रव्य  
त्वजातौ प्रमाणामावात्, न हि तत्रानुगतप्रतीति प्रमाणम्, अतीन्द्रियस्थले तद्विद्वेः, नाप्य  
नुगतव्यवहार प्रमाणम्, लौकिकानां वादिनाञ्चानुगतद्रव्यव्यवहारामावात्, न च नीलादौ  
नीलाद्युत्पत्तिवारणाय समवायमम्बन्धेन जन्यमत्त्वावच्छिन्न प्रति तादात्म्यमम्बन्धेन द्रव्यत्वेन  
द्रव्यस्य हेतुत्व कल्पनीयमिति जन्यसजनकतावच्छेदकतया तत्सिद्धिरिति वाच्यम्, उक्तकार्य-  
कारणभावे सति कारणतावच्छेदकतया यथा द्रव्यत्वजातिसिद्धिस्तथा कार्यतावच्छेदकतया  
जन्यमत्त्वजातिरपि सिद्धेत्, एव प्रतियोगितामम्बन्धेन नाश प्रति तादात्म्यमम्बन्धेन जन्य  
सत्त्वेन कारणत्वस्य ध्वंसस्य ध्वमापत्तिवारणाय स्वीकरणीयतया तदवच्छेदकतयाऽपि जन्य  
सत्त्वजातिः सिद्धेत्, तथा च तथा सह साङ्कर्यान् द्रव्यत्व जातिरिति । ननु जन्यसत्त्वावच्छि-  
न्नप्रति तादात्म्यसम्बन्धेन न द्रव्यत्वेन द्रव्यस्य कारणत्वम्, किन्तु समवायकालिकोभयम-  
म्बन्धेन सत्त्वावच्छिन्न यत् समवायेन तत्प्रत्येव तादात्म्येन द्रव्यस्य द्रव्यत्वेन कारणत्वम्, एव  
प्रतियोगितामम्बन्धेन नाशत्वावच्छिन्नप्रत्यपि समवायकालिकोभयसम्बन्धेन सत्त्वविशिष्ट  
यत्तादात्म्यसम्बन्धेन कारणम्, उक्तोभयमम्बन्धेन सत्त्व कार्यमात्रवृत्त्येवेति कार्याकार्य  
वृत्तेर्न कार्यतावच्छेदकत्वमित्यस्यापि नावकाशः, तथा च नोक्तकार्यतावच्छेदकतया कारणता  
वच्छेदकतया च जन्यमत्त्वजातिसिद्धिः, यथा साङ्कर्यं स्यादिति चेत्, तर्हि तद्वद्वोक्तोभय  
सम्बन्धेन सत्त्वावच्छिन्ननिष्ठममवायसम्बन्धावच्छिन्नकार्यतानिरूपित स्नाश्रयगुणकर्मान्यत्व  
समवायोभयसम्बन्धेन सत्त्वावत् तादात्म्यसम्बन्धेन कारणत्वमित्यभ्युपगमेन सामञ्जस्ये  
द्रव्यत्वजातेरप्यसिद्ध्यापत्तेः । किञ्च समवायसम्बन्धेन जन्यसत्त्वावच्छिन्न प्रत्युपादानत्वात्  
विषयतामम्बन्धेनेश्वरीयबुद्धिचिकीर्षाप्रपत्नानां नीलादावभावादेव  
नीलाद्युत्पत्तिवारण कारणत्वात्

वच्छेदकविषया द्रव्यत्वरस्य जातित्वमिद्विः । तथा च मिद्वमेतन्न द्रव्यत्वरजातिमत्त्वाद्द्रव्य-  
मिति, न वा समवायिकारणत्वाद् द्रव्यमित्यपि युक्तम् । किन्तु

“ व्यक्ताव्यक्तात्मरूप यत्, पौर्वापर्येण वर्तते ।

कालत्रयेऽपि तद् द्रव्य-मुपादानमिति स्मृतम् ॥ १ ॥ ”

इति श्लोकोक्तलक्षणोपादानापरमङ्गरूपपरिणामिकारणत्वाद्द्रव्यम्, एवञ्च पृथिव्यादि  
यत्पौद्गलिकमात्मादि च यदपौद्गलिकं तत्तन्मर्षं परिणामिकारणतया यथा द्रव्यं तथा परिणाम  
रूपतत्तत्कार्यापन्नतया पर्यायात्मरूपमपि, परिणामिलक्षणेनैवोभयकोटीकरणान्, द्रव्यपर्यायो  
भयरूपत्वादेव पूर्वापरपर्यायानुस्यूतद्रव्यरूपेण यदेव ध्रुव तदेव पूर्वपर्यायेण व्येति उत्तरपर्यायेण  
चोत्पद्यत इत्युत्पादव्ययध्रौव्यानुगतमेव द्रव्यं वदन्ति समपरिदः । उक्तञ्च खण्डखाद्ये—

“ न द्रव्यमेव तदसौ समवायिभावात्,

पर्यायताऽपि किञ्च नात्मनि कार्यभावात् ।

उत्पत्तिनाशानियतस्थिरतानुवर्त्ति,

द्रव्यं वदन्ति भववृत्तिविदो न जात्या । ६३ ॥ ” इति ।

तथाऽनभ्युपगमे तु तथाविधत्रिशिष्टसामग्रीमभवधाने तिस्रमातः पृथिव्यादि स्वस्व  
रूपतया विनश्य जलादिरूपेण नैव परिणतिं प्राप्नुयात् । ननु जन्यपृथिवीत्यावच्छिन्न-  
कार्यतानिरूपिता पृथिवीत्यावच्छिन्नैव कारणता, जन्यजलत्यावच्छिन्नकार्यतानिरूपिता  
जलत्यावच्छिन्नैव कारणतेत्येव जन्यपृथिवीत्वेन पृथिवीत्वेन जन्यजलत्वेन जलत्वेन च  
नियतकार्यकारणमात्रतः परिणामादामात्रात् पृथिव्यादि जलादिरूपेण नैव परिणतिभेदीति  
चेत्, न, यतो नैव पार्थिवपरमाणवो भिन्नजातीयाः, भिन्नजातीयाश्च जलादिपरमाणव इति  
न्यायप्रक्रिया युक्ता, सर्वेषां परमाणूनां पुद्गलत्वेन सजातीयत्वात्, अत एव सर्वेषां परमाणू-  
नामेकजातीयत्वेन सर्वरूपेण परिणमन सम्भवति । यद्वा पृथिव्यप्तेजोवायव पुद्गलद्रव्य  
पर्यायाः स्पर्शादिमत्त्वात् । ये तु न तत्पर्याया न ते स्पर्शादिमन्तः, यथाऽऽकाशादयः,  
स्पर्शादिमन्तश्च पृथिव्यादयस्तस्मात्पुद्गलद्रव्यपर्याया इत्युक्तानुमानेन पृथिव्यादीनां पुद्गल  
द्रव्यपर्यायत्वे मिद्वे तिस्रमादितत्त्वसामग्रीसङ्गाव पृथिव्यादीनां जलादिरूपेण परिणमन नाम  
मपि । न चोक्तानुमाने पयसि गन्धस्य तेजसि गन्धरमयोर्वापौ गन्धरमरूपाणामभावेन  
पथं कदेशाऽसिद्धिरिति वाच्यम्, पयो गन्धवत् तेजो गन्धरमवत् वायुर्गन्धरमरूपवान् स्पर्श  
त्वात् पृथिवीरदित्यनुमानतस्तत्र तत्तत्स्वमिद्वेः, नन्वेव तर्हि जलादौ गन्धादिकं प्रत्यक्षगोचर  
कथं न भवतीति चेत्, उच्यते—शातकुम्भे उष्णस्पर्शस्येव चक्षुषि रूपस्पर्शपोरिव वा पयसि  
गन्धस्य तेजसि गन्धरमयोः समीर गन्धरसरूपाणामनुभूतत्वेन घ्राणरमनाचक्षुषिन्द्रिय  
प्राक्षपरिणत्यमात्रात् । अत एव पयो गन्धवदित्याद्यनुमाने न प्रत्यक्षबाधः, अनुद्भूतस्वभावे

सूक्ष्मपरिणामे च वस्तुनि विधिप्रतिषेधयोः प्रत्यक्षस्य मूकत्वात्तेन पशुवाधाऽनुपपत्तेः, अन्यथा शातकुम्भीयोष्णस्पर्शमाधनेऽपि कथं न तत्प्रसङ्गः, नाप्यत्रागमवाधः, “स्पर्शरम गन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः” । ५-२३ । इति तत्सस्वमाधरुस्यागमस्य मद्धावात् । न च सर्वज्ञप्रणीतस्यास्यागमस्याऽप्रामाण्यम्, गौतमीयाद्यागमस्यापि तथात्प्रसङ्गात्, विनिगमकामावात्, अत एव पृथिव्या गन्धश्च जलस्य ग्रीतस्पर्शश्च तेजस्य उष्णस्पर्शश्च वायोर्विजातीयानुष्णाशीतस्पर्शश्च लक्षणमिति पृथिव्याद्विचतुर्णां विभिन्नलक्षणानि निरस्तान्यवसेयानि, क्षित्यादि चतुर्णामपि पुद्गलद्रव्यपरिणामात्मनैक्येन तत्र रूपादि चतुष्टयमद्भावेनातिव्याप्तिदोषदुष्टयतोक्तविविक्तलक्षणाऽसङ्गतेः, उक्तञ्च स्याद्वादरन्नाकरे “एकान्तेन विधिकं यत्, क्षित्यादेर्नास्ति लक्षणम् ॥”

“क्षित्यादीनि हि सर्वाणि, द्रव्याणि द्रव्यतात्मना ।

एकेन परिणामेन, तादात्म्येनावतस्थिरे ॥ १ ॥

तथाभूतान्यपीमानि, समस्तान्यपि सर्वथा ।

व्यावृत्तलक्षणानीति, को द्रव्याद्भवतः परः ? ॥ २ ॥

“पृथिवीपथः पावकमारुतानां, द्रव्यप्रचन्दे पुरतश्चतुर्णाम् ।

आविभ्रतां पौद्गलिकत्वमेकं, कामं पृथग्लक्षणता कथं स्यात् ? ॥३॥” इति ।

अथ पृथिव्यादीनां चतुर्णामपि पुद्गलपर्यायत्वेनाऽभिन्नलक्षणत्वे पृथिव्यामिदं जलादिव्यपि गन्धादीनामुद्भूतैव भवेत्, अन्यथा तु सर्वथा भिन्नलक्षणतैवैयामिति चेत्, न, नायनेन तेजसा व्यभिचारात्, न ह्यनभिव्यक्तभास्वरूपोष्णस्पर्शं नायनं तेजोऽभिव्यक्तभासुरूपोष्णस्पर्शात् पात्रकाङ्क्षिन्नलक्षणं भवतां प्रसिद्धम्, द्रव्यमङ्गुलाद्यावातप्रमद्धात् । एव पृथिव्यादेरप्यभिव्यक्तानभिव्यक्तगन्धादियोगेऽपि नान्योऽन्यमत्यन्तभिन्नलक्षणत्वम् । अथात्यन्तभिन्नलक्षणामावे पृथिवीत्यादिप्रतिनियतजातिमम्बन्धस्तेषां कुतस्त्य, एकान्तेन भिन्नलक्षणत्वाभावे हि यथा पृथिव्या पृथिवीत्वजातिमश्च तथाऽप्येजोवायुष्वप्येव स्यादिति चेत्, तदप्यमङ्गतमेव, अत्रान्तरजातियोगस्य सर्वथा लक्षणभेदाऽप्रमाधरुत्वात्, व्यक्तिभेदेमेव ह्यसौ प्रमाधयति । अन्यथा क्षत्रियत्याद्यन्तरजातियोगादात्मनामप्येकान्तिकं न स्यादकलक्षणत्वमिति । तदेव पृथिवीजलादीनां पुद्गलद्रव्यत्वेन रूपेणैकजातीयत्वे सिद्धे परमाणवोऽप्येकजातीया एवेति सिद्धम् । एते घटादिपरमाणव पाथिवपरमाणव इति प्रयोगस्तु परमाणूनां तदानीं पार्थिवकार्यरूपेण परिणमनादेव, न तु पृथिवीत्वजातियोगात्, अत एव तेषामेव जलकार्यतया परिणतिकाले जलपरमाणव एत इति तत्रविद्विर्च्यवद्विषयते, तेन “आदीपमाच्योममस्वमावम्” इत्यादिश्लोकव्याख्याया स्याद्वादमक्षरीत्याख्याया “प्रदीपपर्यायापेक्षास्तैजसाः परमाणवस्वरसतस्तैलक्षयाद्वाताभिघाताद्वा ज्योतिःपर्याय

परित्यज्य तमोरूप पर्यायान्तरमामादयन्ते " इत्याद्युक्त मङ्गच्छते । जलादिपरमाणोरपि शक्तिविशेषेण पार्थिवारम्भस्य बहुलमूपलम्भादित्यष्टमइत्याद्युक्तेर्जन्यपृथिवीत्वाद्यवच्छिन्नम्प्रति पृथिवीत्वादिना हेतुत्वमपि न युक्तम्, किन्तु तादात्म्यसम्बन्धेन पृथिवीत्वावच्छिन्नम्प्रति स्वधर्मत्वसम्बन्धेन पृथिवीत्वजलत्वादिना हेतुत्व राच्यम् ।

“ भेदे हि द्व्यणुकादीना जायन्ते परमाणव ।

अणूना सहस्रतौ यद्वज्जायन्ते द्व्यणुकादयः ॥ १ ॥ ”

इति स्याद्वाद्दरत्नाकरपञ्चमपरिच्छेदाष्टमसूत्रवृत्तिवचनात् सयोगजातोत्पत्तिस्थल इव विभागजातोत्पत्तिस्थलेऽपि द्व्यणुकादिध्वमरूपाया एव परमाणूत्पत्तेः स्त्रीकारादित्यन्यसामग्रीमङ्गावे तिस्रमातोऽन्यरूपेणोत्पत्तिमम्भजात्, एतेन पृथिवीत्वस्य परमाणौ मत्त्व, न च तत्र कार्यतति कार्यतातिप्रमक्तत्वेन तस्य न कार्यतावच्छेदकत्वम्, किन्तु जन्यपृथिवीत्वस्यैवेति न तादात्म्यसम्बन्धेन पृथिवीत्वेन कार्यत्व युक्तम्, किन्तु ममवायमम्बन्धेन जन्यपृथिवीत्वेनैवेत्यारेकाऽपि निरस्ता यदि कारण कार्यं तत को दोषः, इदमप्ये हि कारणमपि कार्यमपि, यथा परमाणुः कारण द्व्यणुकादे, मृत्पिण्डशिवहादेः कार्यमपि, तद्भेदजत्वादिति द्वादशारनयचक्रे प्रथमविषयरे प्रोक्तत्वात्, मृत्पिण्डशिवकादिलक्षणस्कन्धात् द्व्यणुकादिमहावयविवर्ष्यन्तस्सन्धाद्वा पृथग्भावे मति परमाणोस्तद्भेदजत्वाच्च कार्यत्वस्याप्यभ्युपगमेन पृथिवीत्वस्य कार्यत्वाऽन्यूनानतिप्रमक्तत्वेन तद्रूपेण कार्यत्वस्यैव प्रामाणिकत्वात्, इदमस्माद्भि मक्ततयोत्पन्नमिति प्रतीतेर्विभागजातोत्पादस्याप्यनुभवसिद्धत्वात्, अतएवसयोगपूर्विकैव कार्यद्रव्योत्पत्तिरिति नैयायिकादिप्रवादस्य निर्घुक्तिरुक्त्वात्, कुम्भादौ स्कन्धभेद कपालकलापादिमग्नस्यानुभवसिद्धत्वात् । न हि तत्रावयवक्रियादिस्वरूपा प्रक्रिया सूक्ष्ममक्षूण मीक्षमाणेनापि मांमचक्षुषा लक्ष्यते, वेगनन्मुद्रपरमम्पर्कमनन्तर कपालमालाया एव विलोकनात् । तदनुमारण च परमाणुऽपि स्क्रन्धभेद एव कारणमकथि । व्यवहारनयार्पणेन च स्क्रन्धभेद' कारणमभाणि निश्चयनयार्पणेन तु य एव स्कन्धविभागः न एव परमाणव' । अथ यद्यणवो जायन्त तदा यत्कार्यद्रव्य तत्परिमाणान्द्वयपरिमाणैः कारणैरारब्ध घटवदिति व्याप्तिमिद्वैर्विनादास्पदीभूतपरमाणूनामस्यपरिमाणैः कारणैर्भवितव्यम्, तेषामप्यपरैस्ते स्तिनवस्थानात्परमाणूनामभा एव भवेदिति चेत्, नैतद्वाच्यम्, व्याप्तेरमिद्वैः । श्रुत्वावयवकर्षामपिण्डानां मथात्ताद् धनाययपिण्डेन सूक्ष्मेण सजायमानेन व्यभिचारात् । न चैव तर्हि परमाणोर्नित्यत्ववृत्तिस्स्यादिति राच्यम्, विभक्तानस्थारूपेणोत्पन्नेऽपि तस्मिन् परमाणुभावेन नित्यत्वस्याप्यऽश्रुतेः । तद्भास्यस्य कदाप्यऽपरित्यागात् । अथ भवतु पृथिवीत्वस्य पूर्वोक्त नीत्या कार्यतावच्छेदकत्व, न च तथापि पृथिवीत्वस्य जलत्वादथ कारणतावच्छेदकत्व सम्प्रति, पृथिवीत्वस्य जलत्वादेश्च कारणताऽनतिप्रमक्तत्वेऽपि कारणताममानाधिकरण

भेदप्रतियोगितावच्छेदकधर्मप्रलक्षणकारणत्वन्मूढवृत्तित्पस्य तत्र सत्त्वात्, कारणताधिकरणे जले वृत्तिर्यः पृथिवीत्ववान्नेत्याकारको भेदः पृथिव्याश्च वृत्तिर्यो जलत्ववान्नेत्याकारको भेदः स्वतःप्रतियोगितावच्छेदकत्वात्पृथिवीत्वस्य जलत्वस्य चेति चेद्, सैवम्, पृथिवीजलादीनां शक्तिमत्त्वेनैव शक्तिलक्षणकारणत्वस्य तदभिव्यञ्जकविधया पृथिवीत्वे जलत्वाद्वा चावच्छेदकत्वस्य स्वीकारे उक्तदोषाभावात्, अखण्डशक्तिलक्षणकारणत्वापेक्षया पृथिवीत्वस्य जलत्वादेश्च न्यूनवृत्तित्वेऽपि न क्षतिः, खण्डकारणताया अवच्छेदकस्यैवाऽन्यूनानतिरिक्तवृत्तित्वमिति नियमादित्युक्तं प्रागेव, "उरलाहसत्तणेण, एगजिओ मुयइ फुसिय मवअणू । जत्तिय कालि स धूलो, दव्वे सुहुमो मगन्नयरा ॥ १ ॥" इति पारमर्षवचनात् "एव स्यात्सर्वगतः स्यादऽसर्वगतो घटादिरित्यादिकाऽपि मत्तमद्गी वक्तव्या, यतो य एव पार्थिवाः परमाणवो घटस्त एव विस्त्रसादिपरिणतिवशाज्जलानिलानलावन्त्यादिरूपतामात्मसात्कुर्वाणा स्यात्सर्वगतो घट इत्यादिमत्तमद्गविवपयतां यथोक्तन्यायात् कथं नासादयन्ति" इत्येव "मद्मिच्छादसणममूहमइयस्म" इत्यादिगाथावृहद्गीकावचनात् "वातयोनिक्त्वाद्दकायस्य यत्र यत्रासौ तथाविधपरिणामपरिणतो भवति तत्र तत्र तत्कार्यभूतं जलमपि समूर्च्छते" इत्यादिष्वत्रकृताद्द्वितीयश्रुतस्फुटतृतीयाप्ययनसूत्रटीकावचनाच्च पुद्गलानामेकजातीयत्वे सिद्धे तेषां पृथिव्युद्गज्ज्वलनपवनवनस्पत्यादित्वेन विपरिवर्तमानपरिणतिस्वभावतया जन्यद्रव्यमात्रस्यैकजातीयपुद्गलकार्यत्वेन जन्यद्रव्यत्वावच्छिन्नं प्रति तदनुकूलशक्तिमत्त्वेन परिणामिपुद्गलद्रव्यस्य कारणत्वं, यद्वा पुद्गलपर्याप्तत्वावच्छिन्नं प्रति तदनुकूलशक्तिमत्त्वेन पुद्गलद्रव्यस्य कारणत्वमित्येव सामान्यकार्यकारणभावो ज्ञेयः, सखण्डकारणत्वस्यैवाग्रहक्षेत्रदापुद्गलपर्याप्तत्वावच्छिन्नं प्रति पुद्गलत्वेनैव कारणत्वमभ्युपगमनीयमिति न कोऽपि दोषः । एतस्मात्प्रो विवेचयिष्यते, तथा च वस्तुमात्रस्य परिणामपरिणामिभावाद्द्रव्यपर्यायोभयरूपत्वेन तदपेक्षयोत्पादव्ययध्रौव्ययुक्ततया द्रव्यमित्यभ्युपगन्तव्यम् । अत एव तत्र द्रव्यत्वबुद्धिरपि परकल्पितेनैकान्तभिन्नद्रव्यत्वं ज्ञातिद्रव्येतरव्यावृत्त्यादिना न, किन्तुत्पादव्ययध्रौव्यैस्ममुदितैरेव, उक्तञ्च श्रीमहोपाध्यायैश्श्रीयशोविजयैर्महावीरस्नवप्रकरणे "नाशोद्भवस्थितिभिरेव समाहृताभिर्द्रव्यत्वबुद्धिरिति सम्पगदीदृशस्त्वम् ।" इति । द्रव्यत्वविषयकप्रत्यक्षबुद्धिः कारणत्वमपि नोत्पादत्वेन व्ययत्वेन ध्रौव्यत्वेन प्रत्येकरूपेण प्रत्येकपर्याप्तम्, किन्तु समुदायत्वेन रूपेण तत्रितयपर्याप्तमेव, अत एव द्रव्यपदजन्यशब्दबोधं प्रत्यक्षुत्पादवति द्रव्यपदशक्तत्वं, नाशवति द्रव्यपदशक्तत्वं ध्रौव्यवति द्रव्यपदशक्तमित्येव प्रत्येकधर्मावच्छिन्ने शक्तिग्रहस्य हरिपदजन्य विष्णुबोधम्प्रति विष्णुत्वावच्छिन्ने शक्तिग्रहस्य सिंहबोधम्प्रति सिंहत्वावच्छिन्ने शक्तिग्रहस्य कन्यादिबोधम्प्रति कपित्वाद्यवच्छिन्ने शक्तिग्रहस्येव पृथक्कारणत्वं न, येन द्रव्यपदस्य हर्यादिपदवच्छक्तिग्रहमेदास्नानार्थकत्वं स्यात्, किन्तु समुदायत्वेन रूपेणैकीकृतोत्पादव्ययध्रौव्यरूपसमुदितत्रितयधर्मावच्छिन्ने द्रव्यपदशक्तमित्येवमेकस्यैव शक्तिग्रहस्य

कारणत्वमिति शक्यतावच्छेदकतावच्छेदकस्यैकयाद्रूपपदमेतार्थकमेव, यथा पशुपदस्य लोमवच्छाद्गूलवति शक्तस्य लोमवच्छाद्गूलस्य शक्यतावच्छेदकस्य नानात्वेऽपि माक्षाच्छक्यतावच्छेदकतावच्छेदकस्य लाद्गूलस्य परस्परया शक्यतावच्छेदकतावच्छेदकस्य च लोमस्यैकयान्न नानार्थकत्वं तथा प्रकृत्येऽपीति, नन्वेव तर्हि “पुष्पदन्तौ पुष्पदन्तावच्छेदकौ शशिमास्कौ” इति कोशस्वरमात् पुष्पदन्तपद चन्द्रत्वावच्छिन्न सूर्यत्वावच्छिन्न च घोषपत्वित्याकारिकाया एकस्या एव चन्द्रस्य सूर्यत्वधर्मद्वयान्च्छिन्ने शक्यतेऽस्मद्भावेन नित्यं द्विवचनान्तं तद्वद् द्रव्यपदमप्युत्पादव्ययधौव्यात्मकत्रितयधर्मान्च्छिन्नं घोषयत्वित्याकारिकाया स्समुदितोत्पादादित्रितयधर्मावच्छिन्ने एकशक्तेस्मद्भावेन नित्यं बहुवचनान्तमेव स्यादिति चेत्, न, ‘आपः स्त्री भूमि’ ‘पु भूमि दारा.’ इत्याद्यनुशासनमिद्वयद्वयवचनान्त-आपो-दारा इत्यादिवद् द्रव्यपदस्य नियतबहुवचनताया अननुशासनात् । यस्य यस्य शब्दस्य यो यस्त्वभावस्म म न कदापि तत् स्वभाव परिजहातीति व्याप्तेर्व्याजान्दारादिशब्दस्य बहुवचना न्तत्वस्वभावस्तथा प्रकृतस्य द्रव्यपदस्यैकवचनान्तत्वस्वभाव, स्वस्वभावातिक्रमणे तु निस्स्वभावापत्त्या वस्तुत्तरमेव परित्यक्तं स्यादिति भावः । अथ शब्दस्यामाव्याद्रूपपदोत्तर बहुवचन मास्तु, अर्थस्वभावाव्याप्तौ तत्स्यादव्ययपि न च युक्तम्, यतो बहुवचनेन स्वप्रकृत्यर्थतावच्छेदकव्याप्यमेव धर्मिगत बहुत्र घोष्यते, अन्यथैकस्मिन्नपि घटे घटपटकटाहगत बहुत्रमादाय घटा इति प्रयोगापत्तेः, न चात्रैकस्मिन् द्रव्ये उत्पादव्ययधौव्यव्याप्यं बहुत्र मस्तीति न द्रव्यपदस्य बहुवचनान्ततेति । अथ स्यादिप्रत्ययप्रकृतिपदवाच्यतावच्छेदकव्याप्यं धर्मिगतं बहुत्र यत्र तत्रैव बहुवचनमित्यभ्युपगमे घटपटकटाहगत बहुत्वमादाय घटपटकटाहा इति प्रयोगोऽपि न स्यात्, यतोऽत्र घटत्वपटत्वकटाहत्वप्रतिप्रतयधर्मावच्छिन्नमुद्दिश्यैव बहुत्वं विधीयत इति तस्य बहुत्वस्योद्देश्यतावच्छेदकस्य घटत्वस्याभाववति पटे कटाहे च पटत्वस्याभाववति घटे कटाहे च कटाहत्वस्याभाववति घटे पटे च सत्त्वेन तद्व्याप्यत्वाभावात्, एवमाकाशघटानिति प्रयोगोऽपि न स्यात्, आकाशत्वपटत्वव्याप्या काशघटगतद्वित्रामात्रादित्युक्तदोषनिवृत्तये यत्रैकधर्मस्योद्देश्यतावच्छेदकत्वं तत्रैकोद्देश्यतावच्छेदकव्याप्यं बहुत्र बहुवचनेन घोष्यते, द्विवचनेन चोद्देश्यतावच्छेदकव्याप्यं द्वित्रं घोष्यते, अत एवाकाशा आकाशाविति न प्रयोगी, आकाशत्वव्याप्यस्य बहुत्वस्य द्वित्वस्य चामारात्, आकाशे एकत्वस्यैव सत्त्वात्, यत्र च नानाधर्मस्योद्देश्यतावच्छेदकत्वं तत्र केवलमेव बहुत्र बहुवचनेन द्वित्वश्च द्विवचनेन घोष्यत इत्यभ्युपगन्तव्यम्, अत एव घटपटाकाशा घटाकाशानिति प्रयोगयोरपि प्रामाण्यमवधारते । तथा च द्रव्यपदस्थले उत्पादव्ययधौव्याणामुद्देश्यतावच्छेदकत्वेनाऽभ्युपगतानां नानाधर्मत्वेन केवलस्य बहुत्रस्यैव मानं स्यादिति पूर्वोक्तं न युक्तमिति चेत्, नैवम्, मननियतनानाधर्मस्योद्देश्यतावच्छेदकत्वस्थलेऽप्युद्देश्यतावच्छेदकव्याप्यबहुत्वस्यापि बहुवचनेन मानाभ्युपगमात्, तथा चोत्पादादित्रयाणां

ममनियतनानाधर्मत्वेन तद्व्याप्यबहुत्वस्य धर्मिगनस्यात्रामावाञ्च बहुवचनापत्तिः, यद्वोदेश्यतावच्छेदकीभूतोत्पादादित्रयाणामपि समुदायत्वेन रूपेणैकतः प्रियक्षणादत्राप्येकधर्मस्यैवोद्देश्यतावच्छेदकत्वमिति तद्व्याप्यधर्मिगतबहुत्वस्यामावाञ्च द्रव्यपदोत्तरबहुवचनापत्तिः । एव पुष्पदन्तपदप्रवृत्तिनिमित्तस्य चन्द्रत्वस्य सूर्यत्वस्य न चन्द्रत्वत्वेन सूर्यत्वत्वेन च रूपेण द्वित्वोद्देश्यतावच्छेदकत्वम्, किन्तु पुष्पदन्तपदप्रवृत्तिनिमित्तत्वरूपसामान्यधर्मेणेति तद्रूपेण चन्द्रत्वसूर्यत्वयोरस्तीकृतत्वेनैकधर्मस्योद्देश्यतावच्छेदकत्वाद्द्वैतव्यतावच्छेदकव्याप्यद्वित्वमानमुपपद्यत एव, पुष्पदन्तपदप्रवृत्तिनिमित्तत्वेन रूपेणोद्देश्यतावच्छेदकीभूतस्य चन्द्रत्वस्यामावाञ्च सूर्य, सूर्यत्वस्यामावाञ्च न चन्द्र, किन्तुन्य एव, तद्वृत्तित्वेन द्वित्वस्य चन्द्रत्वसूर्यत्वव्याप्यत्वसद्भावादिति । एतदाशयेनैवाव्याप्यैरप्युक्त न्यायस्वण्डत्वाद्ये—

“नाशोद्भवस्थितिभति कामशो न शक्तो, द्रव्यध्वनिस्तद्विह नो पृथगर्थताभृत् ।  
शब्दस्वभावनिघमाद्बचनेन भेदः, स्वव्याप्यधर्मिगबहुत्वनिराहृतेश्च ॥६५॥” इति

निशेषार्थिनाऽस्मत्कृतश्रीमहावीरस्तवकल्पलविकाटीकाऽवलोकनीयेति । तदेव द्रव्याधिकनयाभिमत द्रव्य पर्यायाक्रान्तमेव, न तु तद्विकल्पम्, पर्यायार्थिकनयाभिमता. पर्याया अपि द्रव्यमनुगता एव न तद्वियुक्ताः, परस्परनिरपक्षयोस्तयोः कदाचिदप्यप्रतिमानादिति सिद्धम् ॥ १२ ॥

एत उत्पादस्थितिभङ्गा परस्परनिरपेक्षाः, यद्वोत्पादव्ययापिति ध्रौव्यमिति च न द्रव्यलक्षण किन्तु ममदितोत्पादस्थितिभङ्गा परस्परानुस्यूता एव द्रव्यलक्षणम्, एकैकनि निर्मोक्षण द्रव्याऽप्रतीतरिति प्रत्येकलक्षणग्राहिणौ द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकमूलनयो मिथ्यादृष्टी, इत्येतत्प्रदर्शनायाह—

“एष पुण मगहओ पाडिक्कमलक्खण दुवेण्हपि ।

तम्हा मिच्छहिट्ठी पत्तेय दो वि मूलणया ॥ १३ ॥”

‘एष’ एत उत्पादस्थितिभङ्गा, ‘मगहओ’ सग्रहत’ शिबिकोद्वाहियुरुपा इव परस्परवापेक्षभावतः परस्परस्वरूपोपादानेनैव मतो लक्षणम् । ‘पाडिक’ प्रत्येक मिथोऽपेक्षारहितत्वेन एकत्र उत्पादादयो ‘दुवेण्हपि’ द्वयोरपि द्रव्यान्तिकरूपर्यायास्तिकनययोरेतदनन्तरमभिमत इति शेषः ‘अलक्खणम्’ अलक्षणम्, एकान्तद्रव्यास्तिकनयाम्युपगतमेकान्तध्रौव्यमिति एका न्तपर्यायास्तिकनयास्तिकनयाम्युपगतायेकान्तोत्पादव्ययौ च मूलव्यापिधेयस्य द्रव्यस्य न लक्षणम्, उत्पादव्ययव्यतिरेकण ध्रौव्यस्य ध्रौव्यव्यतिरेकेणोत्पादव्यययोरप्रतीते, उत्पादव्यययानिभूततया ध्रौव्यस्य ध्रौव्याविनाभूततयैव चोत्पादव्यययो प्रतीते, ‘तम्हा’ तस्मात्, ‘पत्तेय दो वि मूलणया मिच्छहिट्ठी’ प्रत्येक द्वावपि मिथोऽनपेक्षी प्रत्येकलक्षणग्राहिणौ द्रव्याभिरुपर्यायार्थिकौ मूलनयो ममस्तनयराशिकारणभूतौ मिथ्यादृष्टी इति भाव ॥ १३ ॥

स्यादेतत् भवत्येकान्तपर्यायार्थिकनयप्रदर्शितपुक्तिभिर्द्रव्यस्याव्यवस्थितेर्घ्राह्याभाव-  
वति ध्रौव्यग्राहित्वेनैकान्तद्रव्यार्थिकनयस्य एकान्तद्रव्यार्थिकनयप्रदर्शितपुक्तिभिरुत्पाद-  
व्यययोमिद्वैस्तद्भाववति तद्ग्राहित्वेनैकान्तपर्यायार्थिकनयस्य च मिथ्यात्वम्, तयोस्तुन्दो  
पसुन्दन्यायेनेतरैरत्रिपयप्रतिश्लेषकत्वेन स्वत्रिपयाऽमत्यत्रात् समुदितोत्पादव्ययध्रौव्यात्म-  
कद्रव्यलक्षणाग्राहकत्वाच्च, द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयद्वयारब्धत्वेन तद्विषयत्रिपयकस्त्वेको  
नय उभयवादात्मकसम्बन्धदृष्टिर्भविष्यतीत्याशङ्कयामाह—

ण य तद्गो अत्थि णओ, ण य सम्मत्त ण तेसु पडिपुण्ण ।  
जेण दुवे एगता, विभज्जमाणा अणेगतो ॥ १४ ॥

'ण य तद्गो अत्थि णओ' न चोभयवादात्मकस्तृतीयोऽस्ति नयः कश्चिद्, यत  
स्तस्य द्रव्यपर्याययोर्द्रव्यपर्यायान्यतरैरूपरूपतया ग्राहित्वे एकान्तद्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनया  
न्यतररूपत्व स्यात्, प्रधानीभूतपरस्परमापेक्षोभयरूपतया ग्राहित्वे च नयात्मकरूपानुपपत्तेः  
प्रमाणात्मकत्व स्यात्, प्राधान्येन द्रव्यपर्यायोभयाग्राहिज्ञानस्य प्रमाणरूपत्वात् । उक्तञ्च  
स्याद्वादरत्नाकरे—“प्राधान्येन द्रव्यपर्यायद्वयात्मक चार्थमनुमद्विज्ञान प्रमाण प्रति  
पत्तव्यमिति” तत्त्वार्थश्लोकावर्तिकेऽप्युक्तम्—प्राधान्येनोभयात्मानमर्थं गृह्यद्वि वेदनम् ।  
प्रमाण नान्यदित्यतत्प्रपञ्चेन निवेदितम् ॥ १ ॥ इति । एतदेवाह—“ण य सम्मत्त ण  
तेसु पडिपुण्ण” द्वो नओ प्रकृतार्थं गमयत इति न्यायात् प्रतिषेधद्वयेन प्रकृतार्थावगतेरपरि-  
त्यक्तेतररूपाध्ययमायलक्षणाभ्योऽप्यनिवृत्तत्वेन तयोर्द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनययोः प्रति  
पूर्णं सम्बन्धत्वं न चास्तीति न, किन्तुस्त्येव, अनेकान्तात्मनोर्द्रव्यपर्याययोः परस्परमापेक्ष  
भावेन ग्राहितया यथाऽवस्थितप्रत्ययरूपत्वात्तयो, तथा च तादृशी तौ नयो मय्यकप्रत्यय  
रूपावेवेति भावः । मिदो निरपेक्षभावेन द्रव्यपर्यायग्राहिणोस्तु तयोर्न च मय्यकप्रत्ययरूप र-  
मित्यत्र हतुमाह—‘जेण दुवे एगता’ येन द्वात्रपि नयो परस्परनिरपेक्षद्रव्यपर्यायग्राहिणौ  
एकान्तौ एकान्तनयरूपौ मिथ्यारूपाविति यावत् ‘विभज्जमाणा अणेगतो’ वि-विशेषेण पर-  
स्परान्त्यागरूपेण भज्यमानौ द्रव्यपर्यायानग्राहिनावनेकान्त’, अर्थात् प्रमाणसञ्ज्ञा दघाते,  
नयस्येतरांशौदासीन्येनानन्ताशात्मकवस्त्वेकाशपरिच्छेदरूपत्वेन प्राधान्येन द्रव्यपर्यायोभया-  
वगाहिज्ञानस्य प्रमाणगुञ्जवाच्यत्वात्, यद्वाऽश्लेष हि प्रामाण्य मापेक्ष गृह्यमाणयोरनयोरेव  
विषययोर्व्यवस्थितम् । “जेण दुवे एगता” येन द्वात्रपि द्रव्यपर्यायौ परस्परनिरपेक्षतयैकान्तौ  
एकान्तरूपतया व्यवस्थितौ मिथ्यात्वनिवन्धनम्, भ्रान्तबुद्धिकारणमिति यावत्, ‘विभज्ज-  
माणा’ विभज्यमानौ वि-विशेषेण परस्परान्त्यागरूपेण भज्यमानौ गृह्यमाणा तौ ‘अणेगतो’  
अनेकान्त’, परस्परान्तद्रव्या द्रव्यपर्यायोभयात्मकस्य वस्तुनोऽनेकान्तात्मकरूपादित्येतयो



स्वस्म्यवत्त्वहेतुत्वम्, तयोर्विषयविधया प्रमाणकारणत्वात्तदुभयावगाहद्विज्ञान प्रमाण भवतीति भावः। तथा च यो नयोपयोगस्वार्थे इतरनयार्थसयोजनाया व्यापिपत्तिं तस्य तावत्यास्पेक्षया सम्पगृह्यत्वस्य केवलस्वार्थमात्रावगाहनप्रवृत्तस्य नयस्य स्वेतरनयत्रिषयसयोजनाव्यापारवै कल्पेन मिथ्यादृष्टित्वस्य च सम्प्रदायसिद्धत्वात्, तस्मादितरनयविषयसयोजनाव्यापारेण मुख्यगौणतया स्वपरार्थग्राहिणामवान्तरनयभेदाना मभ्यगृह्यत्व युज्यते, न तु स्वतन्त्र कल्पितोभयविषयग्राहिणां नैगमभेदानामिति प्रतिपत्तव्यम् ॥ १४ ॥

येतरनयविषयनिरपेक्षस्वविषयग्राहिणोर्मूलभूतद्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनययोर्मिथ्यात्वं तथा स्वान्यनयत्रिषयनिरपेक्षविषयग्राहिणा मूलनयार्थप्रज्ञापनामात्रव्यापृतानां तत्तद्विशिष्टां शाधिगममात्रेण भेदमाजामुत्तरनयानामपि मिथ्यात्वंमेवेत्युपदर्शयितुमाह—

“जह एए तह अण्णे, पत्तेय द्दुण्णया णया सव्वे ।

हदि ह मूलणघाण, पण्णवणे चावडा ते वि ॥ १५ ॥”

‘जह एए’ यथैतौ मूलभूतौ पर्यायनिरपेक्षद्रव्यग्राहिद्रव्यार्थिकनयद्रव्यनिरपेक्षपर्याय ग्राहिषयायार्थिकनयौ मिथ्यादृष्टौ ‘तह’ तथा ‘पत्तेय’ प्रत्येकम्—इतरानपेक्षलक्षणप्रातिस्विक-रूपा ‘अण्णे सव्वे णया द्दुण्णया’ अन्येऽपि सर्वे नया दुर्नयाः, परस्परनिरपेक्षत्रिषयग्राहि त्वस्य मिथ्यात्वंनिबन्धनस्य सर्वत्र तुल्यत्वात् । नन्वेव मूलभूतौ द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकावित रैतरत्रिषयप्रतिषेधकत्वेन गौणप्रधानभावेन समुदितद्रव्यलक्षणाऽग्राहितया भवता मिथ्या दृष्टौ, अवान्तरतद्भेदरूपनयास्तु तद्वैपरीत्येन मूलभूतनयद्वयगतमिथ्यात्वघमांशोपाऽत्रिषय त्वात्सम्पगृह्यो भवेत्पुरित्याशङ्काया तन्निषेधे हेतुप्रदर्शनार्थमुत्तरार्द्धमाह—इदीत्यादि । “हदि” इत्येव गृह्यताम्, ‘ह’ हुशब्दः हतौ ‘मूलणयाण’ मूलनययोः मूलनयत्रिषय योरेव तत्तदधिगताश्रयिण्ययोः ‘पण्णवणे’ प्रज्ञापने प्ररूपणे ‘चावडा ते वि’ व्यापृतास्तेऽपि, यद्विषयकौ मूलनयौ मिथ्यादृष्टौ तद्विषयप्रज्ञापनामात्रव्यापृतास्तत्तद्विशिष्टांशाधिगममात्रेण भेदमाजोऽवान्तरनया अपि मिथ्यादृष्टय एव । तथा च मूलनयद्वयविषयव्यतिरिक्तत्रिषया न्तराऽप्राजात् सर्वनयवादाना मूलनयद्वयविषययोः सामान्यत्रिषेधयोरन्यतरस्यैव किञ्चित्प्र कारविशिष्टतया प्ररूपकत्वात् तद्व्यतिरिक्तनयान्तरसद्भावं इति ॥ १५ ॥

ननु सङ्गहादिनयसद्भावात्कथं तद्व्यतिरिक्तनयान्तरसद्भावो नेति वचनशोभत इति चेत्, सत्यम्, सन्ति सङ्गहादयः, किन्तु नैगमनयवादस्य स्वतन्त्ररूपत्वतमामान्यत्रिषेधोभय विषयकत्वेन शुद्धमङ्गहनपवादस्य च सत्त्वरूपपरमामान्यविषयकत्वेनाशुद्धसङ्गहनपवादस्य च परापरसामान्यमात्रत्रिषयकत्वेन व्यवहारनयवादस्य च व्यवहारोपयुक्ततत्त्वव्यक्तयात्मक विशेषमात्रत्रिषयकत्वेन ऋजुस्रशब्दसमभिरुद्धैरम्भूतनयवादानां वर्तमानक्षणवर्त्थकालादि-भेदमिन्नार्थमङ्गहादमिन्नार्थव्युत्पत्तिनिमित्तक्रियासत्ताकालावच्छिन्नार्थमात्रग्राहित्वेन च

मूलनयद्वयविषयव्यतिरिक्तविषयान्तरामावतो मूलनयद्वयविषयकास्तेऽपि तद्दूषणेनैव दूषिताः, यतो न मूलच्छेदे तच्छाखास्तदस्थानस्थान्तीत्याशयेनाह—

सन्वणयसमूहम्मि वि नत्थि, णओ उभयवापपणवओ ।

मूलणयाण उ आणं, पत्तेय विसेसिय चिन्ति ॥ १६ ॥

‘सन्वणयसमूहम्मि वि’ सद्गहादिमर्वनयसमूहेऽपि ‘नत्थि णओ’ नास्ति कश्चिन्नया, ‘उभयवापपणवओ’ उभयवादप्रज्ञापको द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकाभ्यामत्यन्तपृथग्भूताभ्यामात्त्वस्य भिन्नस्याहुलिद्वयारम्भतत्सयोगरदुमयवादस्य प्ररूपकः, तत्र हेतुप्रदर्शयितुमुत्तरार्द्धमाह—‘मूलणयाण उ आणं’ मूलनयान्ताभ्यामेव यत्प्रति तात वस्तु तदेतन्नास्ति ‘पत्तेय विसेसिय चिन्ति’ प्रत्येकमेकैकाः सद्गहादयो विशेषिनं भवन्ति, नयाना चानरूपत्वपक्षे पूर्वपूर्वनयाधिगताशविशिष्टमशान्तरमुत्तरोचरनया अधिगच्छन्ति, पूर्वपूर्वनयाधिगतांश गौणतयांशान्तरश्च प्रधानतया विषयीकृवन्तीति यावत्, नयाना तदारूपत्वपक्षे च पूर्वपूर्वनयबोधिताशविशिष्टांशान्तरविषयकाधिगममुत्पादयन्ति, तादृशाऽधिगमाऽलुकूलव्यापारवन्त इति न विषयान्तरगोचरास्तेऽपि, अतो व्यवस्थित परस्पराल्यागप्रवृत्तमामान्यविशेषविषयक्रमद्वयाद्यात्मरुनयद्वयगोचरसामान्यविशेषोभयात्मकत्वाद्दस्त्वभुमयात्मकमिति ॥ १६ ॥

अथ क्षीरमेव भोक्तव्यमित्येव पयोव्रतो दधि नास्ति, दध्नेव भोक्तव्यमिति दधिव्रतश्च दुग्ध नास्ति, गोरसो नाम्यवहर्त्तव्य इत्येवमगोरसव्रतो दुग्धदधिनी उमे अपि नाम्यपरहरतीति तद्दृष्टान्तेन वस्तुमात्र कथञ्चिद्धेदामेदात्मकत्वेनोत्पादादिश्रयात्मकम् । तदुक्तम्—

“पयोव्रतो न दध्यत्ति, न पयोऽत्ति दधिव्रतः ।

अगोरसव्रतो नोभे, तस्मात्तत्त्व श्रयात्मकम् ॥ १ ॥” इति ॥

यतो दध्नः पयस्य एकान्ताऽमेदो यदि स्यात्तदा पयोव्रतस्य दधि संज्ञानस्याऽपि न व्रतमङ्गस्स्यात्, तथा पयसो यदि दध्न एकान्तामेदस्स्यात्तदा तद्भुञ्जतोऽपि दधिगोचरव्रतमङ्गो न स्यात्, ततो दधिपयसोर्दधिचेन पयस्त्वेन च कथञ्चिद्धेद । तथैव तयोगो रमत्वेन कथञ्चिद्धेदमेद, अन्यथाऽगोरसव्रतस्य दुग्धाद्येकैकमोजनेऽपि न व्रतमङ्गस्स्यादिति दुग्धदधिपर्यायापन्नगोरसवत् पूर्वापरपर्यायापन्नद्रव्यात्मकपटपटादिवाद्य वस्तुमात्रयथा कथञ्चिद्धेदामेदोभयात्मकम्, तथाविधप्रमाणप्राप्तत्वात्, तथाऽऽत्माद्यान्तरमपि वस्तुमात्र कथञ्चिद्धेदामेदात्मकमभ्युपगन्तव्यम्, हर्ष-शोक-मय-रुरुणौदासीन्याद्यनेकाकारविवर्त्तात्मकैकचेतनास्वरूपतया कथञ्चिद्धेदामेदविषयकस्वसवेदनाध्यक्षप्रमाणप्राप्तत्वात्, तस्य मेदाभेदात्कान्तरूपताऽभ्युपगमे तु स्रक्चन्दननितादिदृश्यमाननिमित्तकसुखादृश्यमाननिमित्तकान्तरादिमुत्पन्नानुपादानानुल्लप्रवृत्तिरूपस्वाहिकण्टकादिदृश्यमाननिमित्तक-

रसम्यक्त्वहेतुत्वम्, तयोर्निपयविधया प्रमाणकारणत्वात्तदुभयावगाहिज्ञान प्रमाण भवतीति मानः। तथा च यो नयोपयोगस्सार्थे इतरनयार्थसयोजनाया व्यापिपत्तिं तस्य तात्पत्याऽपेक्षया सम्यग्दृष्टित्वस्य केवलस्यार्थमात्रावगाहनप्रवृत्तस्य नयस्य स्वेतरनयत्रिपयसयोजनाव्यापारेण कल्पेन मिथ्यादृष्टित्वस्य च सम्प्रदायसिद्धत्वात्, तस्मादितरनयत्रिपयसयोजनाव्यापारेण मुख्यगौणतया स्वपरार्थग्राहिणामवान्तरनयभेदानां सम्यग्दृष्टित्वं युज्यते, न तु स्वतन्त्र कल्पितोभयविपयग्राहिणां नैगमभेदानामिति प्रतिपत्तव्यम् ॥ १४ ॥

यथेतरनयविपयनिरपेक्षस्वविपयग्राहिणोर्मूलभूतद्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनययोर्मिथ्यात्व तथा स्वान्यनयविपयनिरपेक्षविपयग्राहिणा मूलनयार्थप्रज्ञापनामाश्रव्यापृतानां तत्तद्विशिष्टां शाधिगममात्रेण भेदमाजामुत्तरनयानामपि मिथ्यात्वंभेदेत्युपदर्शयितुमाह—

“जह एण तह अण्णे, पत्तेय दुण्णया णया सव्वे ।

हदि ह मूलणयाण, पण्णवणे चावडा ते वि ॥ १५ ॥”

‘जह एण’ यथैतौ मूलभूतौ पर्यायनिरपेक्षद्रव्यग्राहिव्यार्थिकनयद्रव्यनिरपेक्षपर्याय ग्राहिपर्यायार्थिकनयौ मिथ्यादृष्टौ ‘तह’ तथा ‘पत्तेय’ प्रत्येकम्—इतरानपेक्षलक्षणाप्रतिस्त्रिक-रूपाः ‘अण्णे सव्वे णया दुण्णया’ अन्येऽपि सर्वे नया दुर्नया, परस्परनिरपेक्षविपयग्राहि त्वस्य मिथ्यात्वनियन्धनस्य सर्वत्र तुल्यत्वात्। नन्वेव मूलभूतौ द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकावित रैतरविपयप्रतिषेपकत्वेन गौणप्रधानभावेन समुदितद्रव्यलक्षणाऽग्राहितया भयता मिथ्या दृष्टी, अवान्तरतद्भेदरूपनयास्तु तद्वैपरीत्येन मूलभूतनयद्वयगतमिथ्यात्वघमारोपाऽविपय त्वात्सम्पग्दृष्टयो भवेधुरित्याशङ्कायां तन्निषेधे हतुप्रदर्शनार्थमुत्तरार्द्धमाह—हदीत्यादि । “हदि” इत्येव गृह्यताम्, ‘ह’ हुशब्द- हेतौ ‘मूलणयाण’ मूलनययोः मूलनयत्रिपय योरेव तत्तदधिगताशविशिष्टयोः ‘पत्तण्णे’ प्रज्ञापने प्ररूपणे ‘चावडा त वि’ व्यापृतास्तेऽपि, यद्विपयकौ मूलनयो मिथ्यादृष्टौ तद्विपयप्रज्ञापनामाश्रव्यापृतास्तत्तद्विशिष्टांशाधिगममात्रेण भेदमाजोऽवान्तरनया अपि मिथ्यादृष्टय एव । तथा च मूलनयद्वयविपयव्यतिरिक्तविपया न्तराऽभावात् सर्वनयभादानां मूलनयद्वयविपययोः मामान्यनिशेषोऽन्यतरस्यैव किञ्चित्प्र कारविशिष्टतया प्ररूपकत्वात् तद्व्यतिरिक्तनयान्तरसद्भावा इति ॥ १५ ॥

ननु सद्भावादिनयसद्भावात्कथं तद्व्यतिरिक्तनयान्तरसद्भावो नेति वचशोभत इति चेत्, मत्तयम्, सन्ति मद्भावादय, किन्तु नैगमनयवादस्य स्वतन्त्रकल्पितसामान्यनिशेषोभय विपयकत्वेन शुद्धसद्भावनयवादस्य च सत्त्वरूपपरसामान्यविपयकत्वेनाशुद्धसद्भावनयवादस्य च परापरसामान्यमाश्रयविपयकत्वेन व्यवहारनयवादस्य च व्यवहारोपयुक्ततत्तद्व्यक्तयात्मरू-पिशेषमाश्रयविपयकत्वेन ऋजुसूत्रशब्दसमभिरूढैवम्भूतनयवादानां वर्त्तमानलक्षणवस्यर्थकालादि-भेदमिन्नार्थवद्भावाभेदमिन्नार्थव्युत्पत्तिनिमित्तक्रियासत्ताकालानच्छिन्नार्थमात्रग्राहित्वेन च

यद्यपि विषयव्यतिरिक्तविषयान्तराभावतो मूलनपदयविषयज्ञास्तेऽपि तद्व्युत्पत्तेर्नैव  
भा', यतो न मूलच्छेदे तच्छाखास्तद्वस्थाभ्यन्तवन्तीत्याशयेनाह—

सव्वणयसमूहस्मि वि नत्थि, णओ उभयवायपण्णवओ ।

मूलणयाण उ आण, पत्तेय विसेसिय विंति ॥ १६ ॥

'सव्वणयसमूहस्मि वि' मद्दहादिसर्वनयसमूहऽपि 'नत्थि णओ' नाम्नि कश्चि-  
, 'उभयवायपण्णवओ' उभयवाद्प्रज्ञापको द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकाम्यामन्यन्तपृथ-  
गाम्यामारब्धस्य मिश्रम्याहुलिद्वयारब्धतन्मयोगवदुमयवाग्य प्रस्पष्टः, तत्र हेतु  
प्रतिपत्तिसुचाराद्देमाह— 'मूलणयाण उ आण' मूलनयाम्यामेव यत्प्रतिज्ञात उस्तु तदेवा-  
य 'पत्तेय विसेसिय विंति' प्रत्येकमेकैका' मद्दहादयो विशेषित भुवन्ति, नयानां ज्ञान  
त्वपक्षे पूर्वपूर्वनयाविगताश्रयिप्रिष्टमश्रान्तरमूनगोचरनया श्रवणच्छन्ति, पूर्वपूर्वनया-  
तांश गौणतयाश्रान्तरश्च प्रधानतया विषयीकृत्स्नीति यावद्, नयानां वादम्यन्त्र  
च पूर्वपूर्वनयबोधिताश्रयिप्रिष्टाश्रान्तरविषयकापिगमस्यन्तपन्ति, तादशाऽपिगमा-  
दल्ल्यापारवन्त इति न विषयान्तरगोचरगन्तेऽपि, अतो व्यवहित वाग्यसत्यागप्रवृत्त-  
तापविशेषविषयकप्रसङ्गहाद्यान्मकनयद्वयगोचरप्रामाण्यविशेषोपपन्नक्यादम्वव्युत्पन्नम-  
मति ॥ १६ ॥

अथ धीरमेव भोक्तव्यमित्येव पयोव्रतो ऽपि नानि, त्वेव भोक्तव्यमिति ऽपि व्रतत्रय  
नानि, गौरमो नाम्यवहर्न्य इत्यवमगोऽप्यव्रतो इत्यवमो इमे अपि नाम्यवहर्नीति  
दृष्टान्तेन वस्तुमात्र कथञ्चिद्वेदाभेदा न कन्वेनोन्मादात्प्रिक नह्य । तदुक्तम्—

"पयोव्रतो न क्यत्ति, न पयोऽत्ति दीऽत्त ।

अगोरसव्रतो नोमे, तन्मात्तन्वं अयात्तत्त ॥ ११ ॥" इति ॥

यतो दत्तः पयसः पकान्ताऽमेने नदि म्यात्तः पयसः इवे सुप्रान्प्यानी व  
महम्म्यात्, तथा पयसो ऽदि दत्तः पकान्ताऽमेने पयसः इवे सुप्रान्प्यानी व  
पयो न म्यात्, ततो ऽविनपयोऽवित्वेन पयसत्वेन व इत्येव । तदेव  
त्वेन कथञ्चिदभेदः, अन्यथाऽपि सुप्रान्प्यानी इत्येव इत्येव । तदेव  
वे इत्येव इत्येव इत्येव इत्येव इत्येव इत्येव इत्येव इत्येव इत्येव इत्येव  
कथञ्चिद्वेदाभेदाभेदा नह्य, तदविवेकान्तरमप्युक्तम् । तदेव  
कथञ्चिद्वेदाभेदा नह्य, तदविवेकान्तरमप्युक्तम् । तदेव  
पयोऽत्ति दीऽत्त । अगोरसव्रतो नोमे, तन्मात्तन्वं अयात्तत्त ॥ ११ ॥  
मेदाभेदेऽपि कान्ताऽप्युत्पत्तेर्नैव भा', यतो न मूलच्छेदे तच्छाखास्तद्वस्थाभ्यन्तवन्तीत्याशयेनाह—  
सव्वणयसमूहस्मि वि नत्थि, णओ उभयवायपण्णवओ ।  
मूलणयाण उ आण, पत्तेय विसेसिय विंति ॥ १६ ॥  
'सव्वणयसमूहस्मि वि' मद्दहादिसर्वनयसमूहऽपि 'नत्थि णओ' नाम्नि कश्चि-  
, 'उभयवायपण्णवओ' उभयवाद्प्रज्ञापको द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकाम्यामन्यन्तपृथ-  
गाम्यामारब्धस्य मिश्रम्याहुलिद्वयारब्धतन्मयोगवदुमयवाग्य प्रस्पष्टः, तत्र हेतु  
प्रतिपत्तिसुचाराद्देमाह— 'मूलणयाण उ आण' मूलनयाम्यामेव यत्प्रतिज्ञात उस्तु तदेवा-  
य 'पत्तेय विसेसिय विंति' प्रत्येकमेकैका' मद्दहादयो विशेषित भुवन्ति, नयानां ज्ञान  
त्वपक्षे पूर्वपूर्वनयाविगताश्रयिप्रिष्टमश्रान्तरमूनगोचरनया श्रवणच्छन्ति, पूर्वपूर्वनया-  
तांश गौणतयाश्रान्तरश्च प्रधानतया विषयीकृत्स्नीति यावद्, नयानां वादम्यन्त्र  
च पूर्वपूर्वनयबोधिताश्रयिप्रिष्टाश्रान्तरविषयकापिगमस्यन्तपन्ति, तादशाऽपिगमा-  
दल्ल्यापारवन्त इति न विषयान्तरगोचरगन्तेऽपि, अतो व्यवहित वाग्यसत्यागप्रवृत्त-  
तापविशेषविषयकप्रसङ्गहाद्यान्मकनयद्वयगोचरप्रामाण्यविशेषोपपन्नक्यादम्वव्युत्पन्नम-  
मति ॥ १६ ॥

र  
प  
व  
रण

दुःखादृश्यमाननिमित्तकनरकादिदुःखमाधनपरिहारानुसूलनिवृत्तिरूपस्य सकलव्यवहारस्यो  
च्छेदप्रमक्तिस्म्यादिति प्रतिपादयितुमाह—

ण य द्रव्यद्विषयपञ्चवे, ससारो णेव पञ्चवणयस्स ।  
सासय-वियत्तिवाइ, जम्हा उच्छेअवाइ अ ॥ १७ ॥

‘ण य द्रव्यद्विषयपञ्चवे समारो’ न च द्रव्यार्थिकपक्षे द्रव्यार्थिकनयाम्बुपगते वस्तुनि  
ससारः सम्भवति, ‘णेव पञ्चवणयस्स’ एतदनन्तर ‘पञ्चवे समारो’ इत्यनुकर्षणीयम् ।  
नैवेत्यत्रैवकारोऽप्यर्थकः, स च भिन्नक्रमः, तथा च पर्यायनयस्य पक्षेऽपि पर्यायार्थिकनया  
भिन्नते वस्तुन्यपि न ससारः सम्भवति । तत्र हेतु प्रदर्शयितुमुत्तरार्द्धमाह—‘सासय-वियत्ति  
वाइ जम्हा’ यस्मात् शाश्वतीं शश्वद्भवन्तीमेकान्ताऽविनश्वरीमात्मप्रभृतिव्यक्तिं वदितुं शील  
यस्य स शाश्वतव्यक्तिवादी द्रव्यार्थिकनयः । ‘उच्छेअवाइ अ’ घण्टालोलकन्यायेन जम्हा  
इत्यस्यात्राप्यन्य, चः समुच्चये, उच्छेदम्, अत्र उत्पूर्वकात् छिद्धातोर्भावे घञ्प्रत्ययः—  
उत्प्राचल्येन छेदमुच्छेदम्, यत् सत्तत्त्वणिकमिति व्याप्तेः प्रतिक्षण प्रतिव्यक्ति निरन्त्यविनाश  
वदितुं शील यस्य स उच्छेदवादी पर्यायार्थिकनयः । ननु द्रव्यार्थिकनयो भवत्वेकान्त  
शाश्वतव्यक्तिवादी, एतावता कथं ससारानुपपत्तिरिति चेत्, उच्यते, समरणम् इत्येतत्त्व  
परिभ्रमण मनुष्यादिपर्यायान्तरकादिपर्यायगमनं ससारः, स च चतुरूपाः, गतिचतुष्क-  
भेदात्, तदुक्तम् स्थानाङ्गे—“चउविहे समारे पण्णत्ते, त जहा-नेरइअससारे जाण देवससारे ।  
यद्वा औदयिकादीनां भागानां ससरणपरिणामः एकस्माद्भागाद्भागात्तरपरिणामः ससारः,  
स चात्मनो द्रव्यपर्यायोभयरूपत्वैकानेकरूपत्वे सत्येव सङ्घटते, सर्वथा नित्यैकरूपत्वे तु  
मनुष्याद्यवस्थालक्षणोत्तरपर्यायावाप्तिर्न स्यात्, एवमौदयिकादीनां भागानां मध्ये विवक्षि-  
तैकभावाद् भागान्तरापत्तिलक्षणपरिणामोऽपि च न स्यात्, पूर्वावस्थात्यागे सत्येवोत्तरा-  
वस्थोत्पत्तेस्मम्भावात्, न च तत्तदवस्थानामेव भेदो न स्ववस्थातुरिति वाच्यम्, अत्रस्था-  
तद्वतो’ कथञ्चिच्छेदाभेदवादाभ्युपगम एतन्नस्थाऽनस्थात्मानसङ्घटनात्, अन्यथा मनुष्या-  
दितत्तदवस्थाभेदेऽप्यात्मनोऽनिकारिणो जन्ममरणादिव्यपदेश एव न स्यात्, न च यथा  
स्थिरे स्थाणान्न्यस्य कस्यचित्सयोगानुकूलक्रियया सयोगसङ्गावेऽपि विभागात्कूलक्रियया  
विभागमङ्गावेऽपि च न तत्र स्थानौ विकारः, येन भेदोऽपि स्यात्, तद्वन्नित्यैकारत्मन्यपि  
आद्यप्राणसयोगो जन्म अन्तिमप्राणत्रियोगो मरणञ्च भविष्यतीति नित्यपक्षेऽपि तद्व्यपदेशो  
न दुषट इति वाच्यम्, दुग्धस्य तत्रेण सह सयोगे दुग्धभावपरिणतिविनाशे सत्येव  
दधिभावेन परिणतेर्भावात्, तदभावे च तदभाव इतिवत् स्थानोरपि केनचित् वस्तुना सयोगे  
वस्य पूर्वकालीनाऽस्युक्तावस्थापरित्यागे मत्येव उत्तरस्युक्तावस्थाया उपपत्तिः, तदभावे  
च तदनुत्पत्तिरित्यन्यव्यतिरिक्तकलादत्रापि पूर्वोत्तरावस्थाभेदेन कथञ्चित्तदभिन्नतद्वतोऽपि

मेदः स्वस्वरूपेण चामेद इत्येव रूपञ्चिद्भेदाभेदोभयस्यैव निद्वेः, न चास्यानेन संशय  
 इति प्रत्यक्षबलादेवातिरिक्तसंयोगसिद्धेर्नाक्त युक्तमिति चान्यम्, वस्तुनां देशाऽप्यवधान-  
 स्यैः सयोगरूपत्वाद्, प्राञ्चालीनसान्तरत्वस्वरूपपरिणामपरित्यागेन निरन्तररूपतया यः  
 कथञ्चिच्चादात्स्यपरिणामः स संयोग इति तल्लक्षणम् । यतो नैरन्तर्येण परिणतानि वस्तूनि  
 सयुक्तव्यवहारगोचरता प्रतिपद्यन्ते, उक्तप्रत्यक्षस्यापि संयोगत्वेन रूपेण तद्विषयकत्वात्,  
 धर्मिकल्पनातो धर्मकल्पना श्रेयसीति न्यायादतिरिक्तसंयोग स्वीकृत्य तत्र संयोगत्वधर्म  
 कल्पनापेक्षया निद्वे नैरन्तर्यलक्षणासयोगे संयोगत्वधर्मकल्पनाया लाघवतर्केण युक्तत्वात्,  
 तदतिरिक्ते तत्र प्रमाणाऽभावाद्, संयोगस्य सर्वथाऽतिरिक्तत्वेऽत्यन्तभिन्नयोर्हिमविन्ध्या  
 चलयोस्संयोगस्योक्तप्रतीतिमिद्वय्याऽनुयोगिप्रतियोगिनोरनुयोगिप्रतियोगिभावसम्बन्धस्य  
 अनेनाय सयुक्त इति प्रतीतिसिद्धाश्रयाश्रयिभावसम्बन्धस्य चाघटमानत्वाच्च । किञ्चाऽऽत्मनो  
 नित्यैकान्तररूपत्वे तस्य छेदभेदकन्देदाद्यमात्राद्विमादेरभावः, तदभावाच्चाहिसादेरप्यभावः,  
 तदभावात् पुण्यपापयोस्तदभावाद् बन्धमोक्षयोर्लोकद्वयस्यापि चाभाव इति बद्धमूली  
 नास्तिक्यवहस्यत्वात्, न च मनःसंयोगविशेषसो हिमा, वायुसंयोगविशेषव्यवहस्यत्वात्  
 हिंसकपुरुषीषेच्छाया अविषयत्वात्, किञ्च मनःसंयोगविशेषव्यवहस्यत्वात् हिंसात्वाभ्युपगमे  
 कायध्वमस्य हिंसारूपत्वाभावेनैव पुरुष मारयामीतीच्छाया अस्य पुरुषस्य काय ध्वसयामी-  
 त्यर्थकत्वेन तदिच्छाजन्यप्रवृत्तिकारिणोऽहिंसकत्व स्यात् ।

अथ मरणोद्देश्यक्रमरणानुकूलव्यापारस्य हिंसात्वेनैतत्पुरुषमरणमुद्दिश्यैः प्रवर्तमानस्य  
 पुरुषस्य हिंसकत्वं स्यादवेति चेत्, मैत्रम्, यतो मरणोद्देश्यक्रमरणानुकूलमाहाद्यव्यापारस्य  
 हिंसात्वे यत्र खल्लामिघातेन साक्षान्मरणं न जातं किन्तु परम्परया तत्राव्याप्तिस्स्यात्,  
 साक्षात्परम्परयाधारणतादृशव्यापारस्य हिंसात्प्रविश्यायां विवक्षितपुरुषमरणमुद्दिश्यैः  
 तत्पुरुषीयमरणानुकूलखल्लामिघातादिव्यापारे कृतेऽपि नेन व्यापारेण साक्षात्परम्परया चा  
 विवक्षितपुरुषमरणं नैव जातं तत्राव्याप्तिस्स्यात्, अथ तत्र मरणाभावेऽपि हिंसालक्षणस्य  
 मरणोद्देश्यक्रमरणानुकूलव्यापारस्य सत्त्वात् मङ्गलपलक्षणहिंसामङ्गावाच्च हिंसैवेति चेत्,  
 तर्हि तादृशव्यापारवत् तादृशमङ्गलपलक्षणं पुरुषस्य मरणाभावेऽपि मरणजन्य यत्पाप  
 तदापत्तिस्स्यात्, न च तदपीष्टमेवेति उक्तं अक्षयम्, यत्र मरणतदनुकूलव्यापारयोरुभयो  
 स्मत्तत्र, यत्र केवलस्य मरणानुकूलव्यापारस्य सत्त्वं तत्र च फलत्रैपम्यस्यावश्यमभ्यु-  
 पेयत्वात् कारणविशेषस्य कार्यविशेषप्रयोजकत्वात् । एव मरणोद्देश्यक्रमरणानुकूलव्यापार  
 भावस्य हिंसापदार्थत्वे यत्र चैत्रीयमरणमुद्दिश्य कृते व्यापारं चैत्रीय मरणं जातं तत्र  
 तादृशव्यापारवत् । मैत्रीयहिंसावत्त्वापत्तिस्स्यात्, मरणोद्देश्यक्रमरणानुकूलव्यापारस्य  
 सत्त्वात्, अतो यदि तत्पुरुषीयमरणोद्देश्यक्रमरणानुकूलव्यापारस्य न पुरुषीयहिंसात्वं त्रि-  
 क्षयते तदा गुणवधाय यदा पारधिना मृगयथाय मुक्तेन गुणेण लक्ष्यव्युत्पानाऽप्यस्यैव मरणं

जात तत्र तदपेक्षया हिमरुत्व न स्यात् अन्यसत्त्वमरणोद्देश्यकष्यापाराभावात् अन्यप्राणिने  
मारयाभीति सङ्कल्पामावाच । तस्मात्प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपण हिंसेत्येव लक्षण युक्तमित्या  
त्मनो नित्यत्वेन विनाशाऽयोगेऽपि मनुष्यत्वप्राणसयोगादितत्पर्यायस्यानित्यत्वेन तद्व्य  
सानुकूलप्रमादयोगतत्प्रतिक्रान्ताऽप्रमादयोगाम्यामेव हिंसाऽहिंसे तन्न्यपापपुण्ये तत्सम्बन्ध  
निखिलतद्वियोगलक्षणबन्धमोक्षौ च य एवाह पूर्वं यद्वस्म एवाहमिदानीं मुक्त इति प्रत्यभि  
ज्ञानादिप्रमाणसिद्धे कथञ्चिद्विभ्रामिन्न आत्मनि मम्मवत इति स्याद्वादपक्ष एव बद्धमूल  
आस्तिक्यतरुर्भवतीति हिंसाऽहिंसादिरूपविरुद्धपर्यायामादकस्याप्यात्मनः कथञ्चिदनेक  
रूपतया मनुष्यादिपर्यायविनाशेन देवादिपर्यायमावगमनात्स्याद्वादपक्ष एव समारम्भमवति,  
न तु शाश्वतव्यक्त्यादिपक्ष इति सिद्धम् । ननु शाश्वतव्यक्त्यादिपक्षे समारो न सम्भवती  
त्युक्तपुक्तेयुक्तम्, एतान्तोच्छेदपक्षे तु तत्कथमिति चेत्, मा त्वरस्व, सावधानीभूय तदप्या  
कर्णय, सर्वेषां वस्तूनामुत्पत्त्यनन्तरनिरन्त्यध्वमलक्षणैकान्तोच्छेदे सत्सारो न मम्मवति, एक  
गतेर्गत्यन्तरगमनस्यैकमात्राद् मानन्तरावाप्तेर्वा पूर्वापरतत्तद्गतिषु पूर्वापरतत्तद्भावेषु चाऽनु  
यायिषमिणमन्तरेणायोगात् । न च मभागविमभागप्रवृत्तिविज्ञानसन्तानोपादानालपविज्ञान  
सन्तानलक्षणस्यात्मनः स स्यादेवेति वाच्यम्, तस्यापि काल्यनिक्रान्तात्, पारमार्थिकत्वे वा  
नामान्तरेणाऽऽस्मैवाभ्युपगतस्यादित्येकान्तोच्छेदवादाभाव एव स्यात् । यद्वैकान्तोच्छेदपक्षे  
हिंस्यहिंसकमात्रस्याहिंसाहिंसकभावस्य चाऽभावेन पुण्यपापयोत्पत्त्यमावात्तत्प्रयुक्तजन्मा  
भावेन समारो न सम्भवति, तथाहि—हिंस्यहिंसकयोस्स्यैव एवास्याय हिंस्य, अस्य चाय हिंसक  
इति स्यात्, स्वरसत एव निरन्त्यध्वसिन्वे च कस्य केन हिंसा कृता स्यात्, कस्यो  
परि केन दया च कृता स्यात्, न च तिसभागक्षणोत्पत्तिरेव हिंसत्यपि वाच्यम्, मुगतस्या-  
विच्छिन्नाऽङ्किष्टज्ञानमन्तानलक्षणरूपत्वेन सन्तन्यमानतज्ज्ञानलक्षणस्याप्यव्यवहितपूर्ववर्तित्वेन  
प्राक्तनव्याघक्षण इव तस्मिन्नपि मृगीयविसभागक्षणोत्पत्तिनिमित्तत्वस्याविशेषतस्तत्सध्वेन  
व्याघवद्बुद्धस्यापि मृगघातकत्वापत्तेः, न च तिसभागक्षणजननानुकूलाध्ययसायवचमेव  
हिंसेति बुद्धस्य तादृशाध्यवसायभावेन नोक्तातिप्रमङ्ग इति वाच्यम्, यो नरो मृत्वा नर  
एव भविता तद्विंसायामव्याप्तेः, पूर्वापरनरक्षणस्य नरत्वेन सौमादृश्यात्, विसभागक्षणोत्प  
त्तेरेव तत्राभावेन तदनुकूलाध्ययमायाऽभावात् तत्पुत्पघातकस्याघातकत्व स्यात् । न च  
विमभागक्षणजननत्वावच्छिन्नविषयताकाध्ययसायवच सा, यः प्रेत्य नर एव भविता तद्धा  
तकपुरुषस्याऽय नरो त्रियतामितीच्छाया विमभागक्षणजननत्वावच्छिन्नविषयताकृत्वेन  
तादृशेच्छालक्षणाध्यवसायत्त्वमस्तीति नोक्ताव्याप्तिरिति वाच्यम्, रूपपरावृत्तिर्भवतिरत्या  
कारधरूपपरावर्तनादिक्रियाऽध्यवसायेऽतिव्याप्तेः, न च तत्सन्तानत्वावच्छिन्नप्रतिघोषिता  
कविसभागक्षालिसन्तानान्त'पातिक्षणजननत्वावच्छिन्नविषयताशाल्यध्यवसायत्त्व सा,  
तथा च रूपपरावृत्तिर्भवतिरतीच्छायार्थं रूपान्तरोत्पत्त्या पूर्वमन्तानव्यक्तेरुत्तरसन्तानव्यक्ते

भेदेऽपि तदुभयव्यक्तौ तत्सन्तानत्वमनुगतमेवेति तत्र न तत्सन्तानत्वात्तच्छिन्नप्रतियोगिताक  
 भद्वत्सन्तानान्तःपातिव्यक्तिरूपत्वमिति विजातीयक्षणोत्पत्तिविषयताकाध्यवसायाभावात्त्रा  
 तिव्याप्तिरित्यपि वाच्यम्, इतो नरत्न विहाय देवो भूयासमित्याद्याकारे दानदयाद्यध्यव  
 सायेऽतिप्रमङ्गात्, न च क्लिष्टाध्यवसाय एव क्लिष्टकर्मक्षणहेतुत्वाद्विज्ञा, अत एव मृगमव्या  
 पादयन्नपि मृग हन्मीति सक्लेन्नपरिणतः पापेन बध्यत इत्युक्तलक्षणघटकाध्यवसाये क्लिष्ट-  
 त्वविशेषणाभोक्तातिव्याप्तिरिति वाच्यम्, हिंसानिपयत्वातिरिक्तस्य क्लिष्टत्वस्य दुर्बलत्वे  
 नात्माश्रयात्, मन्तानादेः सांभुत्त्वेन पारमार्थिकस्याध्यवसायस्यैव चासिद्धेः, आहार्यस्य  
 च हिंसाहिंसाध्यवसायस्य व्यवहारनिमित्तत्वेन कल्पितस्य सर्वलोकविगर्हितत्वेनोपहा  
 सपात्रतायाः पारमर्षे विस्तरेण प्रतिपादितत्वात्, यत्राह न हन्मीत्यध्यवसायवतः पुंसो  
 विवेकिनोऽनुपयोगप्रशङ्का या हिंसा सञ्जाता तत्र तत्पुरुषस्य क्लिष्टाध्यवसायो नेति प्रमाद  
 शीलतत्कृतहिंसायामव्याप्तेश्च न किञ्चिदेतदिति दिक् ॥ १७ ॥

एकान्तनित्यपक्षे एकान्ताऽनित्यपक्षे चान्यदूपणानि प्रतिपादयितुमाह—

सुह-दुःखसम्पओगो, ण जुञ्जए णिच्चयायपम्भम्मि ।

एगतुच्छेयम्मि य, सुह-दुःखवियप्पणमज्जुत्त ॥ १८ ॥

‘ णिच्चयायपम्भम्मि ’ नित्यवादपक्षे द्रव्यास्तिकनयाम्पुपगतं ‘ सुह-दुःखसम्पओगो  
 ण जुञ्जए ’ सुखम्-अनुकूलवेदनीयम्, अनुग्रहलक्षण वा-अनुग्रहतेऽनेनेत्यनुग्रह, तल्लक्षण  
 तत्त्वभावमित्यर्थः । सुखं ह्यनुकूलस्वभावरतया स्वविषयानुभवं कुर्वत्पुरुषमनुग्रहति ।  
 दुःखम्-उपपातलक्षणम्, उपहन्यतेऽनेनेत्युपपातस्तल्लक्षण तत्त्वभावमित्यर्थः, दुःखमपज्जात  
 प्रतिकूलस्वभावरतया स्वात्मविषयमनुभवं कुर्वदात्मानमुपहन्ति, ताभ्यां सहात्मनः सम्प्रयोग  
 सम्बन्धो न युज्यते, न युक्ति महत्, यद्वा सम्प्रयोगः मम्-मम्पक् सगतो वा प्र-प्रकृष्ट-  
 योगः सम्बन्धः परमार्थभूतसम्बन्ध इति यावत्, न युज्यते न घटते, तथाहि—द्रव्यार्थि-  
 कनयाम्पुपगतं आत्मनो नित्यत्ववादपक्षे स्वाभिन्नगुणविशिष्टरमेवाऽऽत्मन, न त्वात्मा  
 धिता आत्मद्रव्यभिन्ना गुणा परमार्थभूताः, तन्मते गुणगुणिभावामावात्, द्रव्यव्यति-  
 रकेण तेषामनुपलम्भात्, भिन्ना गुणा स्वस्वौपचारिकत्वेनासन्त एव, अत एवास्य मतं चित्रे  
 निम्नोन्नतप्रतीतिरत् द्रव्ये गुणप्रतीतिभ्रान्तैवाम्पुपगता, अत एव सामायिकमाश्रित्य—

“ इच्छह ज दव्वनओ, दव्व तच्चसुवयारओ य गुणे ।

सामहअगुणविसिद्धो, तो जीवो तस्स सामाहय ॥ २६४४ ॥ ”

इति भाष्योक्तसङ्गच्छते, एतद्रव्यार्थिकनयमतमपि न युक्तम्, यतस्तत्र यथा सामायिक-  
 परिणामस्वभावानन्यत्वाज्जीव एव सामायिकमित्युक्तम्, तथैवात्मनस्सुखस्वभावत्वे तस्याऽ  
 विचलितरूपत्वात् मदा सुखरूपतैवेति तस्य न द्वैतसम्प्रयोगः, कदापि ५



जात तत्र तदपेक्षया हिंमकृत्य न स्यात् अन्यसुखमरणोद्देश्यकस्यापारामावात् अन्यप्राणिनें  
 मारयामीति सङ्कल्पामायाश्च । तस्मात्प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसेत्येव लक्षणं युक्तमित्या-  
 त्मनो नित्यत्वेन विनाशाऽयोगेऽपि मनुष्यत्वप्राणसमोपादितत्पर्यायस्यानित्यत्वेन तद्वत्  
 सानुकूलप्रमादयोगतत्प्रतिरूपाऽप्रमादयोगाम्भाभेव हिंसाऽर्हिंसे तज्जन्यपापपुण्ये तत्सम्बन्ध-  
 निखिलतद्विपयोगलक्षणबन्धमोक्षौ च य एवाह पूर्वं यद्वस्य एवाहमिदानीं मुक्त इति प्रत्यभि-  
 ज्ञानादिप्रमाणसिद्धे कथञ्चिद्भिन्नाभिन्न आत्मनि सम्भवत इति स्याद्वादपक्ष एव बद्धमूल-  
 आस्तिक्यतर्कमवतीति हिंसाऽर्हिंसादिरूपविकृद्बधर्माद्यामादकस्याप्यात्मनः कथञ्चिदनेक-  
 रूपतया मनुष्यादिपर्यायविनाशेन देवादिपर्यायमायगमनात्स्याद्वादपक्ष एव समारम्भमवति,  
 न तु शाश्वतव्यक्तिवादिपक्ष इति सिद्धम् । ननु शाश्वतव्यक्तिवादिपक्षे समारो न सम्भवती-  
 त्युक्तयुक्तैर्युक्तम्, एकान्तोच्छेदपक्षे तु तत्कथमिति चेत्, मा त्वरस्व, सायधानीभूय तदप्या-  
 कर्णय, सर्वेषां वस्तुनामृतपर्यनन्तरनिरन्त्यघ्नसलक्षणैकान्तोच्छेदे समारो न सम्भवति, एव-  
 गतेर्गत्यन्तरगमनस्यैकमायाद् भावान्तरावाप्तेर्वा पूर्वापरतत्तद्भवेत् पूर्वोपरतत्तद्भवेत् वाऽनु-  
 यायिष्यमिजमन्तरेणायोगात् । न च समागविमभागप्रवृत्तिविज्ञानसन्तानोपादानालयविज्ञान-  
 सन्तानलक्षणस्यात्मनः स स्यादेवेति वाच्यम्, तस्यापि काल्पनिकत्वात्, पारमार्थिकत्वे वा  
 नामान्तरेणाऽऽत्मेवाभ्युपगतस्स्यादित्येकान्तोच्छेदवादाभाव एव स्यात् । यद्वैकान्तोच्छेदपक्षे  
 हिंस्यहिंसकभावस्याहिंसाहिंसकभावस्य चाऽभावेन पुण्यपापयोरप्यभावात्तत्प्रयुक्तजन्मा-  
 भावेन समारो न सम्भवति, तथाहि—हिंस्यहिंसकयोस्त्वेर्य एवाभ्याय हिंस्यः अस्य चाय हिंसक-  
 इति स्यात्, स्वरसत एव निरन्त्यघ्नसत्त्वे च कस्य कन हिंसा कृता स्यात्, कस्यो-  
 परि केन दया च कृता स्यात्, न च त्रिसभागक्षणीत्पत्तिरेव हिंसेत्यपि वाच्यम्, सुगतस्या-  
 विच्छिन्नाऽऽकृष्टज्ञानमन्तानक्षणरूपत्वेन सन्तन्यमानतज्ज्ञानक्षणस्याप्यव्यवहितपूर्ववर्तित्वेन  
 प्राक्तनव्याधक्षण इव तस्मिन्नपि भृगीयविसभागक्षणीत्पत्तिनिमित्तत्वस्याविशेषतस्त्वेन  
 व्याधवद्बुद्धस्यापि सुगघातकत्वापत्तेः, न च त्रिसभागक्षणजननानुहूलाध्यवसायवचमेव  
 हिंसेति बुद्धस्य तादृशाध्यवसायाभावेन नोक्तातिप्रमद् इति वाच्यम्, यो नरो मृत्वा नर-  
 एव भविता तद्विंसायामव्याप्ते, पूर्वापरनरक्षणस्य नस्त्वेन सौमादृश्यात्, त्रिसभागक्षणीत्प-  
 त्तेरेव तत्राभावेन तदनुकूलाध्यवसायाऽभावात् तदपुरुषघातकस्याघातकत्वं स्यात् । न च  
 विमभागक्षणजननत्वावच्छिन्नविषयताकाध्यवसायत्वं सा, यं प्रेत्य नर एव भविता तद्वा-  
 तकपुरुषस्याऽयं नरो त्रियतामितीच्छाया त्रिसभागक्षणजननत्वावच्छिन्नविषयताकृत्येन  
 तादृशेच्छालक्षणकाध्यवसायवचनमस्तीति नोक्ताव्याप्तिरिति वाच्यम्, रूपपरावृत्तिर्भवतिवत्या-  
 पारकरूपपरावृत्तनादिक्रियाऽव्यवसायेऽतिव्याप्ते, न च तत्सन्तानत्वावच्छिन्नप्रतियोगिता-  
 कविसभागताशालिसन्तानान्तःपात्तिक्षणजननत्वावच्छिन्नविषयताशाल्यव्यवसायत्वं सा,  
 तथा च रूपपरावृत्तिर्भवतितीच्छार्था रूपान्तरोत्पत्त्या पूर्वमन्तानव्यक्तेकृत्तरसन्तानव्यक्ते

भेदोऽपि तदुभयव्यवृत्तौ तत्सन्तानत्वमनुगतमेवेति तत्र न तत्सन्तानत्वावच्छिन्नप्रतिषेधिकात्  
 मदवत्सन्तानात् तत्प्रातिषेधिकरूपत्वमिति विजातापक्षणोत्पत्तिविषयताकाष्यवसायाभावात्  
 तिव्याप्तिरित्यपि वाच्यम्, इतो नरत्वं विहाय देवो भूयामित्याद्याकारे शानदवाच्यव्यव  
 सायेऽतिप्रसङ्गात्, न च हिष्टाध्यवसाय एव हिष्टकर्मक्षणहेतुत्वादिसा, अत एव मृगयन्ना  
 पादयन्नपि मृग हन्मीति संकेशपरिणतः पापेन वप्यत इत्युक्तलक्षणवदकाष्यवसाय हिष्ट  
 त्वविशेषणाचोक्तातिव्याप्तिरिति वाच्यम्, हिंसाविषयतातिरिक्तस्य हिष्टकर्मस्य पूर्वपक्षे-  
 नात्माश्रयार्थे, सन्तानाद् सावृत्तत्वेन पारमार्थिकस्याध्यवसायस्यैव चाभिद्वेः, आहार्यस्य  
 च हिंसाहिंसाद्यवसायस्य व्यवहारनिमित्तत्वेन कर्त्तरतस्य सर्वतोऽविमर्शित्वेनोपहा-  
 सपात्रतायाः पारमर्षे विस्तरेण प्रतिपादितत्वात्, यत्राह न हन्मीत्यध्यवसायवतः पुनो  
 विवकिनोऽनुपयोगवशाद् या हिंसा सञ्जाता तत्र तत्पुरुषस्य हिष्टाध्यवसायो निति प्रपाद  
 शीलतत्कृतहिंसायामव्याप्तेश्च न किञ्चिदतिरिति दिक् ॥ १७ ॥

एकान्तनित्यपक्षे एकान्ताऽनित्यपक्षे चान्यदूषणानि प्रतिपादयितुमाह—

सुह-दुःखसम्प्रयोगो, ण जुञ्जए णिचवापपक्खम्मि ।  
 एगतुच्छेयम्मि य, सुह-दुःखत्रियप्पणमज्जुत्तं ॥ १८ ॥

‘ णिचवापपक्खम्मि ’ नित्यवादपक्षे द्रव्यान्तिकनयाम्युपगतं ‘ सुह-दुःखसम्प्रयोगो  
 ण जुञ्जए ’ सुखम्-अनुसूलवदनीयम्, अनुग्रहलक्षण वा-अनुसृष्टत्वेऽनेनन्यनुसृष्ट, तत्त्वप्रवृ  
 ततस्वभावमित्यर्थः । सुह अनुसूलस्वभावतया स्वविषयानुभव कुर्वत्पुरुषमनुसृष्टानि ।  
 दुःखम्-उपधातलक्षणम्, उपहन्यतेऽनेनेत्युपधातस्तल्लक्षणं तत्स्वभावमित्यर्थः, दुःखसुखत्रय  
 प्रतिकूलस्वभावतया स्वात्मविषयमनुभव कुर्वदात्मानमुपइन्ति, ताम्यां सहात्मनः सुप्रयोग  
 सम्बन्धो न युज्यते, न पुंक्तिं महते, यद्वा सम्प्रयोगाः मम्-सम्प्रकृ संगतो वा प्र-प्रकृष्टः  
 योग सम्बन्ध परमार्थभूतसम्बन्ध इति यावत्, न पुज्यन् न घटते, तथाहि—द्रव्यार्थि  
 कनयाम्युपगत आत्मनो नित्यत्ववादपक्षे स्वामिन्नगुणविशिष्टत्वमवाऽऽत्मनः, न त्वात्मा  
 धिता आत्मद्रव्यमिच्छा गुणाः परमार्थभूताः, तन्मत्र गुणगुणिभावाभावात्, द्रव्यव्यति  
 रक्षण तपामनुपलम्भात्, मिच्छा गुणा स्वस्वौपचारिकत्वेनासन्त एव, अत एवास्य मत्र चित्रे  
 निम्नोक्तप्रतीतिवत् द्रव्ये गुणप्रतीतिर्भ्रान्तिवाम्युपगता, अत एव सामापिकमाश्रित्य—

“ इच्छइ ज द वनओ, द व त्तच्चसुवयारओ य गुणे ।  
 सामइअगुणविसिट्ठो, तो जीवो तस्स सामाहय ॥ २६४४ ॥ ”

इति भाष्योक्तसङ्गच्छत, एतद्रव्यार्थिकनयमतमपि न युक्तम्, यतस्तत्र यथा सामापिक  
 परिणामस्वभावान-यत्वाजीव एव सामापिकमित्युक्तम्, तथैवा-मनस्सुखस्वभावतत् तस्याऽ  
 निचलितरूपत्वात् सदा सुखरूपतैवेति तस्य न दुःखसम्प्रयोगः, कदापि दुःखस्यानुभवः ।

दुःखस्वभावत्वे तद्रूपतैव स्यात् नित्यतत्स्वभावात्त्वादेवेति न सुखमम्प्रयोगः, कस्मिंश्चिदपि काले सुखस्यानुत्पत्तेः । कदाचित्सुखस्वभावः कदाचिच्च दुःखस्वभाव इत्यभ्युपगमे तु यद्वा स्थूलैककालाच्छन्नसुखदुःखोपपत्तयाम् आत्मेत्यभ्युपगमे तु तस्याऽनित्यत्वं स्यात्, विरुद्धस्वभावशालित्वेन भेदादिति । ननु द्रव्यार्थिकनवान्तरमेदरूपनैवमनपे गुणगुणि नोभेदमभ्युपगन्तरि द्रव्यस्य गुणादिममत्रायिकारणत्वात् सुखस्यानुकूलवेदनीयत्वेन स्रक्चन्दनप्रतिपाद्यनुकूलविषयजन्यसुखकाले आत्मनस्तुखमम्प्रयोगा, दुःखस्य च प्रतिकूल-वेदनीयत्वेनाहिकण्टकादिप्रतिकूलविषयजन्यदुःखकाले तस्य दुःखमम्प्रयोगश्च युज्यत ष्वेति चेत्, भैवम्, न हि पूर्वं निर्गुण द्रव्यमुत्पद्यते पश्चात्तेन तत्र गुणोत्पत्तिरित्यनुभूयते, येनोक्त-लक्षणसिद्धिस्स्यात्, ममवायमम्बन्धस्यासिद्धेश्च न समवायमम्बन्धाच्छिन्नकार्यतानिरूपित तादात्म्यमम्बन्धाच्छिन्नकारणत्वलक्षण ममत्रायिकारणत्वं सम्भवति, समवायासिद्धिश्च तत्साधकप्रमाणाभावात्, न च प्रत्यक्ष समवायमाधकम्, सम्बन्धप्रत्यक्षे यावत्सम्बन्धि प्रत्यक्षस्य कारणत्वेन परमाण्वादीनामतीन्द्रियाणामपि यावत्सम्बन्धव्यन्तर्गतत्वेन तत्प्रत्यक्षा भावात् ममवायस्यापि प्रत्यक्षाऽसम्भवात्, अत एव ममवायो न प्रत्यक्ष इति वेशेपिकस्याप्यभ्युपगमः । नाप्यनुमान समवायमाधकम्, ममत्रायस्याऽप्रत्यक्षे तेन मह कस्यचिद्धेतो-वर्षाग्निग्रहणाऽसम्भवेन तत्प्रभवानुमानाऽसम्भवात् । न च सामान्यतो दृष्टानुमान तत्साधकम्, तथाहि—गुणक्रियादिप्रतिष्ठबुद्धिः विशेषणविशेष्यमम्बन्धविषया प्रतिष्ठबुद्धित्वात् दण्डी पुरुष इति विशिष्टबुद्धिवत्, अनेन सयोगादिवाधात्समवायसिद्धिरिति वाच्यम्, अतिरिक्तसमवायकल्पनापेक्षया क्लृप्तस्यैव प्रतियोग्यनुयोगिसरूपस्य सम्बन्धतया कल्पनाया लाघवाच्च निरुक्तविशिष्टबुद्धिप्रियत्वकल्पनौचित्यात्, धर्मिकल्पनातो धर्मकल्पनाया लघीयस्तात् । न चानेकेषु सरूपेषु सम्बन्धत्वकल्पनापेक्षयाऽतिरिक्तसमवायमम्बन्धकल्पने लाघवमिति वाच्यम्, अतिरिक्तसमवाये ममवायत्वं क्लृप्तपदार्थमेदं, तद्धेदश्च क्लृप्तपदार्थेषु नित्यत्वादिधर्मसम्बन्धश्च तस्य कल्पनीय इत्यत्र पर्यालोचनया तत्रैव गौरवस्य स्पष्टत्वात् । एव जातेरेकस्या व्यक्तिषु विशिष्टबुद्धौ जातिस्वरूपस्यैकस्यैव सम्बन्धत्वेन भानकल्पने लाघवमिति न जातेर्व्यक्तिषु भनद्युक्त्याऽपि समवायसिद्धिः । तथा च समवायाऽभावेन तद्व्यपितसुखदुःखसमवायिकागणत्वस्याऽप्यात्मनोऽभावाच्चोक्त युक्तमिति ।

एतेन—“प्रकृत्युपधानतः पुरुषस्य सुखदुःखे स्तः ।

स्फटिके रक्तत्वादिवद् बुद्धिप्रतिषिद्धाद्वाऽन्ये ॥१॥” इति ॥

साध्यमतमपि निरस्तम्, उपधानसन्निधानप्यन्धोपले रक्तादि यथा न भवति तथाऽऽत्मनः परमार्थवृत्त्या सुखदुःखपरिणतिमन्तरेणोपधानमन्निघात्रपि सुखदुःखरूपता न स्यात्, तदभ्युपगमे चाऽनित्यसुखदुःखाऽभिन्नतयाऽऽत्मनोऽप्यनित्यत्वापत्त्या आत्मैकान्त

नित्यवस्य स्वाभ्युपगतस्य क्षतिः, ननु श्वेताच्छस्त्रकृत्स्नताया अभावेऽपि जपाकृत्सुमो-  
पाधिपन्निधानेन रक्ततावदान्मनि सुखदुःखरूपताया अभावेऽपि प्रकृत्युपाधिपश्चात् मा  
स्यादवति चेत्, तर्हि तद्वत्या काल्पनिकी स्यात्, न तु तच्चभूतति । युद्धिप्रतिषिध्य  
पक्षेऽप्यविचलितस्यात्मन मदेवैकरूपमात्रात् मदेवैकरूपप्रतिषिध्यापत्तेः, स्वभावमेदा-  
भ्युपगम चानि पत्रप्रसङ्ग इति । तथा च सुखदुःखमप्रयोग यान्त्रिकमिच्छना सुखरूपेण  
परिणामे यति परिणामपरिणामिनोः कथञ्चिदभेदात्कथञ्चि सुखात्मक एवात्मेत्यभ्युपगन्त  
व्यम्, एव दुःखपरिणामेऽपीति परिणामभेदेन तद्विशिष्टस्यापि भेदेन स्वरूपतोऽभिन्नस्या  
स्यामनो भेद इति कथञ्चिदभेदाभेदवाद एव प्रमाणमात्र भजत इति । तथा 'एगन्तुच्छेय  
मि य' एकान्तन-मर्यादा 'उत्'-प्रावच्येन छेद विनाशे, निम्नवपनाशपक्षे इति यावत्,  
चकारात् " सुदुदुसपओगो न जुञ्जइ " इत्यननास्य मन्धन्धः । एकान्तो छेदवाद  
पर्यापार्थिकनयनाभ्युपगतः, तथाहि-तन्मते पर्याय एवार्थः परमार्थभूत, न तु पर्यायेभ्यो  
व्यतिरिक्त द्रव्यम्, तस्य पूर्वापरपर्यायेषूपपाराद्व्यवहृियमाणत्वात्, यस्माद् जीवस्य गुण  
स्वभेदाधिक्यपृथित्युरुपममास मोऽभिमनुन, म चोत्तरपदार्थप्रधानः, यथा तैलस्य धारा  
तैलधारा राहोश्शिरः राहुगिरः, न चात्र धारातिरिक्त क्रिमपि तैलमस्ति, न च शिरोऽति-  
रिक्तो राहुश्चास्ति, एव ज्ञानसुखादिगुणातिरिक्त जीवद्रव्यमपि नास्ति । तदुक्त भाष्ये  
सामायिकगुणमाश्रित्य —

“ पञ्जाओ चिश्च यत्तु, नच दव्य च तलुचयाराओ ।

पञ्जणयस्स जम्हा, सामहअ तेण पञ्जाओ ॥ २६४५ ॥ ” इति ।

तथा च यथा मर्मप्रमाणैर्ग्रहणाभावात् रूपरसगन्धस्पर्शेभ्यो भिन्नो घटो नास्ति  
तथैकान्तोच्छेदपक्षे उरसादव्यपशालित्वेन प्रतिपणभिन्नेभ्यो ज्ञानसुखदुःखादिभ्यो भिन्न  
स्थिर आत्मैव नास्तीति कस्य सुखदुःखमप्रयोग । न ह्यविद्यमाने गगनारविन्दे  
घटमन्धन्धस्वप्नमवतीति । तथा पञ्चद्वयेऽपि 'सुह-दुःखखवियपणमजुत्' सुखदुःख  
विकल्पनम्, सुखञ्च दुःखञ्च सुखदुःखे तयोर्विकल्पनम् विशिष्ट कल्पनम् यतनम्, 'कल्प  
सामर्थ्ये' इति वचनात् सामर्थ्यार्थकस्याऽपि कल्पघातोत्तर यतनार्थकत्वात् घात्  
नामनेकार्थत्वात्, सुखदुःखविषयक विशिष्ट यतनमिति ममस्तार्थ, तत्र यतन सुखे तदु  
पादानाय, दुःखे तु तत्परिहाराय बोध्यम्, सुखोपादानदुःखपरित्यागरूपनिमित्तमन्तरेण  
सुखदुःखविषयकयतनस्य कस्यापि मदेतमोऽभावात् सुखदुःखविकल्पनम् अपुक्तम् अघट  
मानकम् । यतो नित्यवादपक्षे आत्मा सुखस्वभावो यदि तदा तस्वभावस्य कदाचित्स्व  
रन्नाचिन्नाऽमन्वमित्यभ्युपगमेऽनित्यत्वप्रमक्त्या नित्यपक्ष परित्यक्तस्यादिति मर्षदा

तस्त्वभावस्य सद्भावात् सुखमुद्दिश्य तत्साधनोपादानानुकूलप्रवृत्तिरयुक्ता, को हि सुधीर्विद्यमानमेव पदार्थं विज्ञाय तत्साधनोपादानार्थं प्रयत्नत ? दुःखस्वभावो यदि तदा तस्त्वभावस्य पूर्ववच्छब्दभावाद् दुःखत्रियोगार्थं दुःखमाधनपरिहारानुकूलप्रवृत्तिरयुक्ता, को हि सुधीर्दुःखशब्दात् विज्ञाता दुःखत्रियोगार्थं तत्साधनपरिहारार्थं प्रयत्नत ? । एकान्तोच्छेदपक्षेऽपि सुखस्योत्पादन्यशालित्वेन प्रतिक्षणभिन्नतया क' धणिकसुखार्थं तत्साधनमुपाददीत, किञ्च यस्सुखमाधनोपादाता सोऽप्य एव, सुखमोक्ता चान्य एवेति जानन् कस्सुखमाधनार्थं प्रयत्नत, अथ तत्सन्तानैक्यमिति चेत्, तदपि न युक्तम्, एकान्तोच्छेदपक्षे सन्तानस्यापि काल्पनिकत्वात् । दुःखमपि धणिकत्वेन स्वरमत एव विनाशशीलमिति जानन् तद्वियोगार्थं तत्साधनपरित्यागोद्यम क' कुर्यादिति ॥ १८ ॥

अथ दुःखरूपे दुःखकाले दुःखानुबन्धिनि विदम्बनारूपे दीर्घाप्तेऽनवदग्ने नरकादिगतिविभागेन चतुर्विभागे समारचके अरहद्दृषटीयन्त्रन्यायेन महाशैल्योपमकर्मवशेनैव पर्याटत् पर्यटति पर्यटिष्यति चात्मा, नानाविधगतिपर्यटनकारणीभूतनानाविधकर्म च योगादितत्तन्निमित्तमालम्ब्यैव तत्परिणतिशीलात्मनैव बध्यते, कर्मणा च कर्मणकाययोगाद्याहृतौदारिकादिपृष्ठलैश्शरीर निर्वर्त्यते, तद्वारा च शताऽशतावेदनीयकर्मोद्यवशजन्यात्मा सुखदुःखज्ञानुभवतीत्यात्मसुखदुःखोपमोगसाधनशरीरेण महात्मनो दुःखपानीयमम्बन्धत् तत्सायोगोलकाप्रिमम्बन्धरदा योऽन्योन्यानुगमात्मकस्मम्बन्धस्त्वद्वेतुभूतकर्मनिमित्तयोगरूपायाद्यमम्बन्धमकान्ताविकायात्मपक्षे एकान्तोच्छिन्नात्मपक्षे च प्रदर्शयितुमाह—

कम्म जोगनिमित्तं, यज्झइ यध-ट्टिई कसायवसा ।

अपरिणउच्छिण्णस्सु य, यधट्टिइकारण नत्थि ॥ १९ ॥

प्रवृत्तिबन्धप्रदेशबन्धोमपात्मक कर्म मनोयोगरचोयोगकाययोगरूपनिमित्तमासाद्य बध्यत, रसपन्धस्थितिबन्धोमय च कपायवशाद्भवति, न चैतद्रुमयमेकान्तापरिणतवादे द्रव्याधिकनयाम्पुपगते एकान्तोच्छिन्नवादे च पर्यायार्थिकनयाम्पुपगते सङ्गच्छते, कर्मबन्धवत्स्थितिकारणामावादिति सखिप्तार्थं । अत्रयवार्थस्त्वेव—“कम्म जोगनिमित्तं यज्झइ” कर्म योगनिमित्तं बध्यते, नन्वनन योगस्य कर्मबन्ध प्रति निमित्तत्वमुक्तं भवति, तद्य न सद्गतम्, मिध्यादर्शना-विरति-प्रमाद-कपाय-योगा बन्धहेतवः ८-१ । इति तत्रार्थग्रहेण मिध्यात्वारि-पादीनामपि कर्मबन्धहेतुत्वाऽभिधानादिति चेत्, मत्स्यम्, न य युक्तम्, भावाभाऽनवबोध्यात्, तथाहि—“एवां मिध्यादर्शनादीनां बन्धहेतूनां पूर्वमिन् पूर्वमिन् सति नियतमुचरपा भावः । उत्तरोत्तरमात्रे तु पूर्वैषामनियम” इत्युक्तत्वात् एव प्रोक्तम्, तथा च यस्य येन महान्त्रयत्पतिरेकौ भवतस्तत्तस्य कारणमिति कारणप्ररोऽत्रयत्पतिरेकप्रहतो भवतीति मिध्यादर्शनस्याविरतेषु प्रमा-

दम्य च कषायस्य च तत्तद्गुणस्थानकेषु सन्धे कर्मबन्धसत्त्वमित्यन्वयमद्भावेऽपि  
मिथ्यादर्शनाभावेऽपि द्वितीयादिपञ्चमगुणस्थानक यावदविरत्यादिभिः, अविरत्य  
भावेऽपि च षष्ठगुणस्थानके प्रमादादिभिः, प्रमादाभावेऽपि च सप्तमादिगुणस्थानकेषु  
कषाययोगाभ्यां, कषायाभावेऽपि चैकादशादित्रयोदशान्तगुणस्थानकेषु योगमात्रतः कर्म-  
बन्धस्य मद्भावेन व्यतिरेकस्याभावादेव तद्गृह्याभावेन मिथ्यादर्शनादीनां कर्मबन्धनियत-  
कारणत्वग्रहो न भवति, योगस्य मद्भावे कर्मबन्धस्यत्रयोदशगुणस्थानकान्त यावदवश्यमात्री,  
योगाऽभावे चाऽयोगिगुणस्थानके कर्मबन्धाभाव इत्येवमन्वयव्यतिरेकप्रहाद् योगस्य च कर्म  
बन्धनियतकारणत्वग्रहो भवतीति नियमेन योग एव सर्वत्र कर्मबन्धकारणम् । अत एव—

“ कम्म जोगनिमित्त, सुभोऽसुभो वा स एगसमयम्मि ।  
होच्च न उ उभयरूवो, कम्मपि तज्जो तयणुरूव ॥ १९३५ ॥ ”

इति विशेषावश्यकमाष्यगाथाटीकाया “ मिथ्यात्मा-विरति-प्रमाद-कषाय-योगा बन्ध-  
हेतवः ” इति पर्यन्ते योगामिधानात्सर्वत्र कर्मबन्धहेतुत्वस्य योगाऽविनामात्राद् योगानामव  
बन्धहेतुत्वमिति “ कर्म योगनिमित्तमुच्यते ” इत्युक्त मद्गच्छते । तथा च सिद्धमेतद् योग,  
कर्मबन्धकारणमिति । क्रियते विधीयते अञ्जनचूर्णपूर्णसमुद्भक्तगन्धिरन्तरपुद्गलनिचिते लोके  
क्षीरनीरन्यायेन तप्तवह्नयःपिण्डवद्वा यत्कर्मवर्गणाद्रव्य स्वात्मसम्बद्ध जीवेन तत्कर्म,  
कर्मपदमत्र प्रकृतिबन्धप्रदेशबन्धपरम्, “ जोगा पयडिणएस ” इति वचनात्, तदात्मक  
तद् योगनिमित्तम्—

“ जोगो विरियं धामो, उच्छाह परक्कमो तथा चिद्धा ।  
सत्ती सामत्थ धिय, जोगस्स ह्यति पज्जाया ॥ १ ॥ ”

इति वचनाद्वीर्याद्यपरपर्यायो योगो मनोयोगो वाग्योगः काययोग इति भेदेन त्रिविधः,  
म निमित्त हेतुर्यस्य तद्योगनिमित्त वक्ष्यते आदीयते । अयमभावः—

“ एगपएसोगाह, सन्धपएसेहिं कम्मणो जोगग ।  
बधह जहुत्तरेउ, साहयमणाइय वा वि ॥ १ ॥ ”

इत्युक्तेः आत्मा येष्वाकाशप्रदेशेष्ववगाढस्तदवगाढैकममयबन्धनीयानन्तपुद्गलभ्रुकन्धा  
त्मककर्म योगनिमित्तेन स्वीयसर्वप्रदेशैः, न तु कतिपयप्रदेशैर्बध्नाति । यदाह—

“ कृत्स्नैर्देशैः स्वकदे-शस्थं रागादिपरिणतो योग्यम् ।  
बध्नाति योगहेतोः, कर्म स्नेहाक्त हव च मलम् ॥ १ ॥ ” इति ।

तथाहि—हस्तादिप्रत्येकावयवावच्छेदेनात्मना शुभाशुभक्रियाकरणेऽपि न तद्द्वारा

हस्ताद्यबन्धिष्ठान्नात्मप्रदेशैरेवात्मा कर्मयोग्यपुद्गलान् कर्मयर्गणागतानवगृह्णाति, किन्तु स्त्रीषु सर्वप्रदेशैरेव, बृहत्लाबद्धन्यायेन पक्षनालतन्तुवद्धा सर्वात्मप्रदशानां मिथश्चम्बन्धमद्भागात्, हस्ताद्यबन्धिष्ठान्नात्मप्रदेशानां प्राधान्येन व्यापारेऽपि तदित्प्रदशानामपि गौणशून्या व्यापारभावात्, अत एवात्मैव श्वकृतकर्मणा समरति मुच्यते च। एतेन “ तस्माद्-न बध्यते ना-पि मुच्यते नाऽपि समरति रुधित्। समरति बध्यते मु-च्यते च नानाश्रया प्रकृतिः ॥ १ ॥ ” इति साङ्ख्यमतमपि निरस्तम्। “ बधद्विद् ई रुमायमा ” बन्धस्थितिः कषायवशात्, बध्यत इति बन्धः, कर्मैव, तस्य स्थितिः कालान्तरफलदातृत्वेनात्मन्यप्रस्थितिः, स्थितिपदेनाश्रयसंबन्धाधिनाभावित्त्वेन स्थितिवन्धस्य रमबन्धस्थितिरन्धौ ग्राहौ, तथा च तदुभय कषायवशात् कषायाः क्रोधमानमायालोभाख्यास्तदुदयजनितो पीडस्याध्ययसायविशेषः कषायशब्दनहीच्यते, तद्वशात् तत्सामर्थ्यात् भवतीति शेषः, यदुक्तम्—‘ ष्टिऽअणुभाग कषायाजोतिः’। अत एवान्यत्रापि “ मिथ्यात्वाविरतिकारणद्वयाऽभावेऽपि कषायमद्भावात् प्रमत्तादिषु स्थित्यनुभागबन्धौ भरतः, कषायाभावे तूपशान्तमोहादिषु न भवत इतीहाप्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां ज्ञायते कषाया एव स्थित्यनुभागबन्धयोः प्रधान कारणम् ” इत्युक्तं सङ्गच्छते। ननु कर्म सिद्ध स्यात्तदैरेतदुपपन्न स्यात्, न चाद्यापि तत्सिद्धम्, यतस्तस्यातीन्द्रियत्वान्न तत्साधक प्रत्यक्षप्रमाण विद्यते, नाप्यनुमान तत्साधकम्, तस्य प्रत्यक्षागोचरत्वात्तेन सह कस्यचिद्वैतोऽन्यासिप्रहणामम्भवेन तत्प्रभगानुमानामम्भनादिति चेत्, मैत्रम्, कर्मणि सुखदुःखहेतौ परस्याप्यधिप्रतिपत्ते, तथाहि-पौराणिका अपि कर्मसिद्धिप्रतिपद्यन्ते। तथा च ते प्राहुः—

“ यथा यथा पूर्वं कृतस्य कर्मणाः, फल निधानस्थमिवावतिष्ठते।  
तथा तथा तत्प्रतिपादनोद्यता, प्रदीपहस्तेव मतिः प्रवर्त्तते ॥ १ ॥

यद्य पुरा कृत कर्म, न स्मरन्तीह मानवाः।  
तदिदं पाण्डयज्येष्ठ ! दैवमित्यभिधीयते ॥ २ ॥

सुदितान्यपि मित्राणि, सुकुन्दाश्चैव शत्रवः।  
न ह्रीमे तत्करिष्यन्ति, यन्न पूर्वं कृत त्वया ॥ ३ ॥ ”

वीढा अप्याहुः—

“ इत एकमवते कल्पे, शक्यता मे पुरुषो हतः।  
तेन कर्मनिपाकेन, पादे विद्धोऽस्मि भिक्षवः ॥ ४ ॥ ” इति

तथापि चेत् कोऽपि परो विप्रतिपद्येत तदा तत्साधकरुमनुमानप्रमाणं प्रदर्शयते, तथाहि-स्वपरायमासिद्धानैकस्वभावस्यात्मनो हीनगर्भस्थानशरीरविषयेषु विशिष्टाभिरिति, आत्म

शरीरोभयव्यतिरिक्तकाणपूर्विका विशिष्टाभिरतिस्वात् कुत्तितपरपुरुषे कमनीयकुलकामिन्या  
 स्तन्त्रौषधमन्त्राद्युपयोगजनितविशिष्टाभिरतिस्वात्, तथा भयभृता मोहोदयः शरीरादिव्यति  
 रिक्तसम्बन्धन्तर्पूर्वको मोहोदयत्वात्, मदिराद्युपयोगमत्तस्पात्मगृहादौ मोहोदयवत्,  
 यच्च तद्रव्यव्यतिरिक्त तत्र कर्मैति मिद्ध्यति परिशेषानुमानेन, परिशेषानुमानञ्चात्र स्वपराव  
 मासिजानैकस्वभावस्यात्मनो हीनगर्मस्थानशरीरविषयेषु विशिष्टाभिरनेरमाधारणकारण  
 मष्ट कर्मैव भवति आत्मशरीरादिष्टामाधारणकारणाजन्यविशिष्टाभिरतिकारणत्वात्,  
 यन्नैव तन्नैव यथाऽऽत्मादि, तथा भयभृता मोहोदयस्यामाधारणकारणमष्ट कर्मैव भवति  
 शरीरादिष्टसम्बन्ध्यात्मकामाधारणकारणाजन्यमोहोदयकारणत्वात्, यन्नैव तन्नैवं यथा  
 शरीरादीति, ननु भवत्तदनन मामान्यत आत्ममन्निधनं कर्मणस्मिद्धिः, तस्य पौद्गलिक  
 त्वमाधने किं मानमिति चेत्, उच्यते, तत्माधक मामान्यतो दृष्टानुमानमवेति, तथाहि—  
 स्वपरञ्चस्वभावस्यात्मनो हीनमातृगर्मस्थानप्रवेशः स्यातिरिक्तद्रव्यसम्बन्धपूर्वकः पुरुषा  
 न्तराऽप्रयोज्यत्वे सति हीनस्थानप्रवेशत्वात्, मदिरान्मादोन्मत्तपुरुषस्याशुचिस्थानप्रवेश  
 वदित्यनुमानेन तथा जगदन्तर्गतताशेषपर्यायविशिष्टाऽपरिशेषद्रव्यग्रहणक्षमज्ञाननिष्ठस्वविषया  
 प्रादकत्वं विशिष्टद्रव्यसम्बन्धपूर्वकं तद्व्यतिरेकेणानुपपद्यमानस्वविषयाप्रादकत्वत्वात् तद्  
 भावप्रयुक्ताभावप्रतियोगित्वाच्च, पीतमद्यादिपुरुषज्ञाननिष्ठस्वविषयाऽप्रादकत्ववदित्यनुमानेन  
 विशिष्टद्रव्यसम्बन्धपूर्वकत्वसिद्धौ धूमहेतोः पर्वते वह्नित्वेन वह्निसिद्धौ महानसीपादिवह्नि  
 बाधात्पक्षधर्मताबलाद्वा पर्वतीयवह्निमिद्धिवत्प्रकृतेऽन्यद्रव्यस्य बाधात्पक्षधर्मताबलाद्वा द्रव्य  
 विशेषस्यैव सिद्धिः, स एव च कर्ममञ्जा भजते इति ।

ननु कर्मणो द्रव्यविशेषरूपत्वमाधनं न युक्तम्, तस्यादृष्टापरमञ्जकस्यात्मगुणत्वादिति  
 चेत्, मैवम्, तथा मति कर्मण आत्मपारतन्त्र्यनिमित्तत्वं न स्यात्, यो हि यस्य गुणः स न  
 तस्य पारतन्त्र्यहेतुः, यथा रूपादिः पृथिव्याद्, आत्मगुणश्च धर्माधर्मसञ्ज्ञकं कर्माभ्युपगम्यते  
 परैरिति न तदात्मनः पारतन्त्र्यनिमित्तं स्यादिति प्रमद्, आत्मनः पारतन्त्र्यनिमित्तञ्च कर्म,  
 तस्मान्न तद्गुण इति त्रिपर्ययः । नन्वात्मनः पारतन्त्र्ये किं मानमिति चेत्, उच्यते, पर  
 तन्त्रोऽपी हीनस्थानपरिग्रहत्वात्, यथा पीतमदिरान्मत्तपुरुषोऽशुचिस्थानपरिग्रहत्वानिति  
 परतन्त्रस्तथाऽयमात्माऽपीत्यनुमानमेव मानम् । शरीरस्य हीनस्थानत्वं तु कारागारव  
 दात्मनो दुःखहेतुत्वाद् ज्ञेयम्, समार्यात्मनश्च तत्परिग्रहत्वं तु प्रतीतमेवति नामिदो हतः,  
 कर्मणः पारतन्त्र्यनिमित्तत्वे सिद्धे कर्म पौद्गलिकम्, आत्मनः पारतन्त्र्यनिमित्तत्वात्, निगडा-  
 दिवदित्यनुमानं प्रभवति पौद्गलिकत्वमाधनाय, कर्मणोऽधृत्त्वं हि कर्मणः मकाशादान्मना-  
 मनुग्रहोपघातो न स्याताम्, आकाशवत्, उक्तयुक्त्या सिद्धं च पौद्गलिकत्वं कर्म द्रव्यात्मरूपेण  
 न स्यात्पीयादृष्टगुणाख्यमिति सिद्धम् । नित्यत्वेनैकान्ताविकार्यात्मपक्षे



प्रतिक्षणविनश्वरात्मपक्षे च योगनिमित्तककर्मबन्ध' रूपायहेतुकबन्धस्थितिरित्युभयासम्भवे  
हतमुपदर्शयित्तुमुत्तर्गद्माह- 'अपरिणतच्छिञ्जणेषु य वधद्विहकारण नत्थि' अपरिणतोच्छिञ्जणोश्च  
बन्धस्थितिकारण नास्ति, अपरिणते क्वचित् परिणामेनापरिणामिनि कश्चित्परिणाममप्राप्तवति  
द्रव्यार्थिकनयेन नित्यत्वेनाभ्युपगमे आत्मनि, उच्छिञ्जे विनष्टमत्ताक निरन्तरप्रतिक्षणविना  
शित्वेन क्षणिके पर्यायार्थिकनयेनानित्यतयाऽभ्युपगमे आत्मनि, बन्धस्थितिकारण नास्ति,  
अपरिणामिनि अत्यन्ताऽनायेयातिशये नित्यात्मनि प्रकृतियन्धपदेशबन्धकारणानां योगानां  
सम्भवो नास्त्येव, सम्भव वा योगानां सर्वात्मप्रदशपरिस्पन्दरूपत्वेन तत्त्वयोगपरिणामेनात्म  
नस्सक्रियत्वापत्त्या कथञ्चिदनित्यत्व म्यात्, एकान्तोच्छिञ्जात्मपक्षेऽपि येनात्मना यत्कर्म  
निमित्त योग' कृतस्तेनात्मना तत्कर्म न वक्ष्यते, किन्तन्त्येन, कर्मबन्धकालेऽन्यत्वात्, तथा च  
यो हिमादिकरणार्थं काययोगात् प्रयुङ्क्ते स एव कर्मकर्त्तृत्वे व्यवहारोच्छेदस्स्यात्, न च स  
व्यवहारो भ्रान्त एवेति वाच्यम्, सर्वैरविगानेन प्रत्यभिज्ञायमानत्वात् । न च सन्तत्यैव  
निर्वाहस्त इति वाच्यम्, सन्ततेस्तन्मते काल्पनिकत्वेन यथार्थव्यवहाराऽनिर्वाहकत्वात् ।  
एवमविकार्ये नित्यात्मनि स्थितियन्धानुभागबन्धकारणरूपायोदयजन्यरागद्वेषाद्यध्वजमाया  
अपि न सम्भवन्ति, तेषां सम्भवे नाऽध्यवसायस्थानानाममहत्त्वयत्वेन तद्रूपेण परिणत  
स्यात्मनः परिणामपरिणामिनो' कथञ्चिदभेदेनानेरुत्तर स्यात्, नाप्येकान्तानित्यात्मनि  
अनुसन्धानविकले अहमनेन सन्तुष्ट' अहमनेनाऽऽकृष्ट इति रागद्वेषाध्यवसायसम्भवः, तथा  
च 'अन्यो जुष्टः, अन्य सन्तुष्टः, अन्य आकृष्टः, अन्यो रुष्टः, अन्यो व्यापृतः, अपरो  
वद्धः, अपरश्च युक्त इति कुशलाकुशलकर्मगोचरप्रवृत्त्याधारसम्भवेकलयप्रसङ्गः, न चैकमन्तति  
निमित्तोऽय व्यवहार', क्षणिकैकान्तपक्षे सन्ततिकल्पनाधीजभूतोपादानोपादेयभावस्यैवाऽ  
घटमानत्वात् । न चेपमनुसन्धानप्रतिपत्तिर्मिथ्या, द्वेष-गर्व-शाठ्याऽपन्तोपादीनामन्योन्य  
विरुद्धस्वभावानां क्रमिकचिद्विवर्चानां स्वसपेदनाध्यक्षसिद्धानां तत्तद्रूपेणाऽनुभवितुः सशय-  
विपर्यायमाधकज्ञानाऽगोचरीकृतस्यैकस्य चेतनस्यानुभवात् । न च बाधारहितानुभवविषय  
स्यापह्नवः, सुखादेरप्यनुभवविषयस्यापहुतिप्रमङ्गात्, तथा च प्रमाणप्रमेयादिव्यवहारोच्छेद-  
प्रमक्तिः । यदपि " मिथ्याऽध्यासोपहानार्थं यत्नोऽमत्यपि मौक्तरी " इत्युक्तम्, तदप्यने  
नैव प्रतिविहितम्, यथोक्तप्रतिपत्तेर्मिथ्यात्वासिद्धेः । न चानुमाननिश्चितेऽर्थे आरोपबुद्धे  
रूपचित्', धूमनिश्चयावगतधूमवज इव, न च मिथ्याज्ञानस्य महजत्वाद् विपरीतार्थोप-  
स्थापकानुमानप्रवृत्तावपि न निवृत्तिः, तथाऽभ्युपगमे बुद्धानुपप्लवचित्तमन्तवित्तस्य सर्व  
दाऽनिवृत्तित्यमुक्तिप्रमक्तिः, अमहज तु तत्त्वज्ञानप्रादुर्भावेऽवश्य निरर्त्तते, श्रुक्तिकाऽवगमे  
रजतभ्रम इव, अनिवृत्तौ वा न प्रमाणप्रमाणबाधक स्यात् । न च क्षणक्षयनिश्चये 'स  
एवाहम्' इति प्रत्ययो युक्तः, अपि तु 'स इव' इति स्यात्, नहि गन्पनिश्चये 'गौरेव'  
इति प्रत्ययो दृष्टः, अपि तु 'गौरिव' इति । न च क्रमवर्त्तिष्वभिष्वङ्गद्वेषादिपर्यायेषु चैत

न्यानुस्यूतिप्रत्ययस्य मानमत्रिकल्पत्वाभ्यानुगतवस्तुमाधकत्वमिति राच्यम्, आत्मनि क्षण-  
क्षयमनुमानाद् निश्चिन्वतोऽपि तदैव तस्य स्पष्टमनुभूयमानत्वात्, विकल्पद्वयस्य युगपद्  
त्पत्तिः परैरेतेति विकल्परूपत्वे एकत्वप्रत्ययस्य क्षणिकत्वनिश्चयममये सद्भावो न भवेत्,  
भवति च प्रमवर्तिष्वभिप्यङ्ग-द्वेषादिपर्यायिषु चैतन्यानुस्यूतिप्रत्यय इति तस्य विकल्प  
कालीनोत्पत्तिमत्त्वेनाश्वत्रिकल्पकाले गोदर्शनवत् परामिप्रायण निर्विकल्पप्रत्यक्षरूपतया तत्र  
क्रमवर्तिपर्यायव्यनुगतद्रव्यस्य मिद्धि, अस्मन्मतं तु यथार्थमानमविकल्पस्यानुगतवस्तु  
साधकत्वमस्त्यत्र । तदेवमेकान्तनित्यानित्यव्युदासनोभयपक्ष एव बन्धस्थितिकारण युक्ति  
सङ्गतमिति मिद्धम् ॥ १९ ॥

किञ्च एकान्तवादिनां समारनिवृत्त्यर्थं प्रवृत्तिमोक्षसुखप्रार्थना मोक्षश्चेत्येतरस्य नोपपद्यत  
इत्युपदर्शयितुमाह—

बन्धस्मि अपूरन्ते, ससारभयोघदमण मोहु ।

बन्ध च विणा मोक्ष्य-सुहृत्पत्थणा नत्थि मोक्ष्यो य ॥ २० ॥

अपरिणामवादात्मक एकान्तवाद कारणीभूतमिध्यात्वादिपरिणत्यमावात्तत्कार्यस्य  
बन्धस्याभावे ससारमयप्राचुर्यपर्यालोचन मिथ्याज्ञानम् अनुपपद्यमानसमारदुःखमयौघविषय  
कत्वाद्, तथा यः पूर्णं बद्धस्व एव पथान्मुच्यते नागद्व इति बन्ध विना तन्मुक्त्यमावान्मोक्ष  
सुख मे भवत्विति प्रार्थनान घटते, अत एव मोक्षश्चानुपपन्न इति सङ्गितार्थः । विस्तरार्थस्त्वे-  
वम्—'बन्धस्मि अपूरन्ते' एकान्तवादे आत्मनो मिथ्यात्वाविरतिक्रपाययोगरूपनानाविध  
परिणतिस्वीकारेणैकान्तवाददादर्थपक्षेस्त्वपक्षक्षतिरिति तत्र मिथ्यात्वादिकारणानुपपत्त्या  
बन्धे कर्मबन्धे अपूर्यमाणे अपूर्णमात्र गते लक्षणयाऽमतीति यावत् "समारभयोघदमण मोहु"  
समारमयौघदर्शनं मौढ्यम्-समारं अरहद्दृष्टीयन्त्रन्यायेन चतुर्गतिषु जन्ममृत्युमावेन पुनः  
पुनस्तस्युतिलक्षणे समारे, यद्वा कारणे कार्योपचारवृत्त्या समारशब्दबोधे तत्कारणे मिथ्या  
त्वाविरतिक्रपाययोगात्मके वा भयोघो मीतिप्राचुर्यं तस्य दर्शनम् चतुर्गत्यात्मक समारं वर्षं  
दनमनन्तदुःखव्याप्तमेव, न तत्र किमपि परमार्थवृत्त्या सुखम्, मधुलितसखलेद्देनवत् वाह  
वृत्त्या यत्किमपि सुखं दृश्यते तस्याप्यायत्यामनन्तदुःखप्रदत्वेन दुःखरूपत्वादिति पर्यालोचन  
लक्षणया समारशब्दबोध्यमिध्यात्वादिकमनन्तदुःखस्वनिसमारकारणानिवाप्युत्पन्नता  
सर्वमहाऽनर्थकारणमिति पर्यालोचनं च मौढ्यं मूढता मिथ्याज्ञानमिति यावत्, अनुप  
पद्यमानससारदुःखौघविषयकत्वात्, बन्ध्यास्तुतजनितवाधागोचरमीतिविषयपर्यालोचनवत् ।  
अयम्वारः-बन्ध्यास्तुतोऽमञ्जिति तेन दुःखौघमय नोत्पद्यत इति तद्विषयकपर्यालोचनं बन्ध्या-  
स्तुतोत्पद्यदुःखौघाद् विभेमीत्याकारक मिथ्याज्ञानं यथा तथैकान्तव्यपदेशपरिणामवादात्मकऽप्यु  
क्तनीत्या कर्मबन्धाऽसिद्धेस्तज्जन्यसमारस्यापि तत्कारणमिथ्यात्वादव्यामिद्धिरेवेति

दुःखौघभय नोत्पद्यत एवेति तत्पर्यालोचनमनुपपद्यमानार्थविषयकृतान्मिध्याज्ञानमिति तत्पूर्विका प्रवृत्तिर्विसर्वादिन्येव । दूषणान्तर प्रदर्शयितुमुत्तरार्द्धमाह—“ बन्ध च विना मोक्षस्तुह्यपत्थणा नत्थि मोक्षो य ” चः दूषणान्तरममुच्ये, बन्ध विना मोक्षः—समार-निवृत्ति—स्तत्प्रभव यदनन्तमुख तत्प्रार्थना नास्ति, न भवत्येव, एकान्तवादे कर्मबन्धाभावान समाराऽनुपपत्तौ तन्निवृत्तिलक्षणमोक्षस्याप्यनुपपत्तेस्तत्सुखप्रार्थना नोपपद्यत, तथा मोक्षश्च अस्य नास्तीत्यनेनान्यथात्नास्ति, अनुपपन्न, च ममुच्ये, यथा निरपराधपुरुषस्य नैव बन्धनमिति न तन्मोक्ष, मुचेर्बन्धनविश्लेषार्थकत्वेन मोक्षस्य बन्धपूर्वकत्वात्, तादऽभावे तदऽभावात् तद्वदकान्तवाद आत्मनः कर्मबन्धाभावेन न तस्य तन्निवृत्तिलक्षणो मोक्षः, अबद्धस्य मोक्षाऽसम्भवात्, बन्धाभावश्च योगकपाययो प्रकृति-प्रदेश-स्थित्यनुभागात्मक बन्धहत्वोरेकान्तपथे विरुद्धत्वेनैकत्रात्मन्यसम्भवात्, सम्भवे वा विरुद्धपरिणतिस्वभावभेद नैकस्याप्यात्मनो भेदस्स्यात्, ननु मायाया अज्ञानपदवाच्याया विकाररूपस्य चेतनाचेत नात्मकजगतो ब्रह्मविरर्चरूपत्वेन तन्मूलभूत ब्रह्मेण ताविरु, सर्वत्रानुगतरूपत्वात् स्थाम कोशाद्यनुगतमुद्बन्धयत्, मुद्बन्धस्य विकाररूप मृत्पिण्डादियरु-स्थाम-कोशक-कुशूल-घट कपाल-शकलादिकमिव मायाया विकाररूप ब्रह्मणश्च विवर्त्तरूपं जगच्चाऽताविरुम्, तथा च ब्रह्मण एकरूपत्वाद् बन्धाद्यभावप्रेरणा न दोषायति चेत्, मैत्रम्, चेतनभेदाचेतनभेदरूपतया जगतः प्रतिपत्ते, एक सुखी एको दुःखी एको रङ्ग एको घनाढ्य इत्याद्यात्मभेदप्रतिपत्ते र्वाद्यघटपटादिभदप्रतिपत्तेश्च सर्वाणुभयसिद्धाया मिध्यात्वे एकमेव ब्रह्मेति प्रतीतेरपि मिध्यात्व वदतां नैव वक्त्र वक्त्री भवेत्, एतच्च प्रागेऽपि मपिस्तर निरस्तमित्यधिक नोच्यते ॥ २० ॥

अथ “ जाव ण एम जीवे मया समिअ एयह वेपह चलह फदह घट्टह खुब्भइ उदीरइ त त भाव परिणमइ तार ण तस्म जीउसस अन्ते अन्तकिरिया न भवति ” इति सिद्धान्तो फतेर्वातरागोऽपि यावच्चक्षुःपक्ष्मोन्मीलननिमीलनक्रियामात्रमपि करोति तात्रदस्य प्रतिक्षण योगनिमित्त कर्मबन्धो भवति, तर्ह्येया ममारम्भादिप्रवृत्ताना मिध्यादृष्टीनां मिध्यात्वा विरतिकपाययोगहेतुकोऽविरतानामविरतिकपाययोगहेतुकः सर्वविरतानामपि सकपायाणां कपाययोगहेतुकश्च कर्मबन्धो भवतीति तु कैमुतिकून्यायप्राप्तमेव, सर्वथैव योगक्रियाऽभावे च नव्यकर्मबन्धाभावेन पूर्वनिखिलकर्मणश्च शुक्लघ्यानादिना क्षयेण मुक्तिरित्येतत्सर्वे स्याद्वादपक्ष एव घटते, नैकान्तपक्षे, एकान्तनित्यस्यात्मनो विचित्रप्रकारकर्मबन्धहेतुमिध्यात्वाविरतिकपाययोगविधिपरिणतिस्वभावात्तज्जन्यविचित्रकर्मबन्धनरराभावभेदेरत्यन्तकर्मविश्लेषक्रियाकरणतद्वेतुयोगनिरोधादिक्रियाकरणस्वभावभेदेरानित्यत्प्रमङ्गात् । एकान्ताऽनित्यस्य च्छात्मन प्रतिक्षण भिन्नस्वरूपत्वेन तत्त-कर्महेतुतत्तत्क्रियाकरणस्वभावतत्तत्कर्मकरणस्वभावात्कर्तृरकस्याभावन य कर्महेतुकर्ता स न कर्मकर्ता, यश्च कर्मकर्ता स न तत्फल भोक्ता, यश्च कर्मणा बद्धस्म एव न तन्मुक्त इत्यव्यवस्थितिप्रमङ्गात् । तदेवमकान्ताभ्युपगमे

कर्मवन्तद्वेत्तावनुपपत्तैरिहिकाऽऽमुष्मिकृतान्त्रिकसर्वव्यवहारस्यानुभूयमानस्य विलोपकारि  
त्वेनेकान्तसङ्घटितमूर्त्तयस्सर्वेऽपि नया मिथ्यानयाः, त एव भजनासङ्घटितस्वरूपा अत्र  
स्वेतरनयविषयीकृतरूपाव्यवच्छेदकास्मभ्यक्त्वरूपा भवन्तीत्युपसहरन्नाह—

तद्ग्रा सव्वे वि णया, मिच्छादिद्वी सपक्खपडिबद्धा (सपक्खपडिबद्धा) ।

अण्णोण्णणिसिस्सया उण, हवन्ति सम्मत्तसम्भावा ॥ २१ ॥

“तद्ग्रा” इत्यत्र ‘एव’ इत्यपि ‘मिच्छादिद्वी’ इत्यत्र ‘मिच्छादिद्वी’ इत्यपि पडिबद्धा इत्यत्र  
पडिबद्धा इत्यपि च पाठान्तरम् । ‘तद्ग्रा सव्वे वि णया मिच्छादिद्वी’ तस्मात् उक्तहेतो  
स्सर्वेऽपि नया मिथ्यादृष्टयः, तत्र हेतुगर्भविशेषणमाह—‘सपक्खपडिबद्धा’ स्व आत्मीय,  
पक्षोऽभ्युपगमः, स्वपक्षः, तेन प्रतिबद्धाः प्रतिहता यतस्तत इति । पाठान्तरे उक्तार्थे  
स्वपक्ष प्रतिपन्ना अभ्युपगन्तारो नान्य पक्ष यतस्ततः, स्वपक्षमिन्नपक्षविषयव्यवच्छेदनपरत्वा-  
दित्यर्थः । अनुमानमुद्रा चैवम्—मर्जनययादा मिथ्यादृष्टय सपक्षेणैव प्रतिहत्वत्वात्, चौर-  
वाक्यवदिति, तथा च सुन्दोपसुन्दन्यायेन परपक्षत्रिषोन्मूलकृतया तेषामनन्तघर्मात्मकस्य  
वस्तुन्योन्यतमेकान्तैकधर्माऽवधारणलक्षणनयानां मिथ्यात्वे च तत्तन्नयविषयस्याऽपत्यत्व  
पदमिधानस्य च मिथ्यात्वमेव, ज्ञानप्रामाण्याधीनत्वाद्विषयसत्यत्वस्य, वाक्यपरघनां प्रति  
वाक्यार्थज्ञानस्य कारणत्वेन तत्प्रामाण्याधीनत्वाच्च तत्तन्नयविषयामिधानात्मकवाक्यप्रामा-  
ण्यस्य, त एव नयाः स्वेतरनयविषयीकृतधर्माऽव्यवच्छेदकास्तदा सम्पक्त्वरूपा भवन्ती  
त्युपदर्शयितुमुत्तरार्द्धमाह—“अण्णोण्णणिसिस्सया उण हवन्ति सम्मत्तसम्भावा ” अन्योन्य  
निष्ठिता अन्योन्यनिस्तृता या अन्योन्यनयविषयापरित्यागेन व्यवस्थिता, स्वेतरनयविषयी  
कृतार्थानपलापिनो नयाः पुनर्भवन्ति सम्पक्त्वस्य यथावस्थितप्रत्ययस्य वाक्यात्मकनयपक्षे  
भावयन्तीति भावाः, मन्तो भावा सद्भावा अयन्व्यकारणानीत्यर्थ । ज्ञानात्मकनयपक्षे  
सम्पक्त्वमद्भावाः सम्पक्त्वस्वभावा इत्यर्थः । अयम्भावः—वाक्यरूपा एकान्ततन्त्रा-  
गाहिनयाम्भवे परस्परनिरपेक्षतया स्याद्वादैकवाक्यताऽनापन्नास्तावधारणा स्वपक्षहत-या-  
न्मिथ्यारूपास्स्वविषयस्यामत्यत्वप्ररूपका स्वविषयामिधानस्य च मिथ्यात्वख्यापकाः ।  
“स्याद्वादनिरपेक्षैश्च तैस्तावन्त परममया ” इति नयोपदशोक्तेर्यावन्तो नययादास्तावन्तः  
परसमया, त एव नययादा विरुद्धयोस्मन्त्रासन्वन्तित्यत्वानित्यत्वयोरोविरोधभावनियामक  
सापेक्षमात्र गता अत एव निरवधारणास्स्याच्छब्दलाञ्छितास्मद्भितास्मन्तोऽन्योन्यनय-  
विषयापरित्यागवृत्तय इतरनयविषयमापेक्षस्वविषयसत्यत्वनिश्चायकाश्चेत्तदा स्वसमयरूपा इति  
ते प्रमाणभावलक्षणसम्पक्त्व प्रतिपद्यन्ते, प्रामाण्यस्य यावन्नयविषयताव्यापकविषयताक-  
निश्चयत्वरूपत्वेन तादृशनिश्चयोत्पादकत्वात्तेषाम्, उक्तञ्च विशेषावश्यकमाप्ये—“जावन्तो

व्ययणपहा तावतो वा नया विसदाओ । ते चैव य परसमया सम्मत्त समुदिया सवे ॥” २२६५ ।  
 इति । ज्ञानात्मका अपि नयास्सर्त्रे एकान्ततत्त्वावगाहिपराभिप्रायरूपाः स्वविषयेतरविषयोन्मूल-  
 नतत्परा विपरीतप्रत्ययरूपा मिथ्यात्मकाः, त एवेतरांशसापक्षस्वविषयप्राहका यथावस्थित-  
 वस्तुप्रत्ययरूपाः समुदिताः प्रमाणभाव मजन्ते, एतेन प्रत्येक मिथ्यावधारणाना तेषां नया  
 नामन्यनिश्चितसमुदायेऽपि कथ सम्यक्त्वम्, तत्तत्स्वगोचराऽपरित्यागेन तत्रापि तेषां विषया  
 न्तराऽप्रवृत्तेरित्यप्यारेका निरस्ता, यत एकैका अप्यपेक्षितेतरांशस्वविषयप्राहकत्वैव सन्तो  
 नया”, तद्व्यतिरिक्तस्वरूपतया त्वसन्तस्त इति सर्तां तेषां समुदाये सम्यक्त्वे न कश्चिदोपः । ननु  
 तत्कालविद्यमानानामेव रत्नानामेकतन्तुक्रमानुस्यूतानां समुदायो रत्नावलीति व्यपदिश्यते  
 परीक्षकैः, न चैतरेतरविषयापरित्यागवृत्तीनां ज्ञानात्मकनयानामेकदोषत्विसम्भारः, “ जुगव  
 दो नत्थि उवओगा ” इति वचनात्, तथा च तत्कालाविद्यमानाना तेषां समुदाये सम्यक्त्व-  
 व्यपदेश कथ शोभावहस्यादिति चेत्, अनुक्तोपालम्भ एव, न हेरुदाऽनेकज्ञानोत्पादतस्तेषां  
 समुदायो विवक्षित, अपि त्वपरित्यक्तेतरधर्मविषयाध्यवसाय एव समुदायः, अन्योन्यनिश्चिता  
 इत्यनेनाप्ययमेवार्थः प्रतिपादितः, न हि द्रव्याधिकपर्यायाधिक्यनयाम्यामत्यन्तपृथग्भूताभ्या-  
 मद्गुलिद्वयसयोगवदुभययोऽपरं प्रारब्धः, इत्येव सम्प्रतिवृत्तावप्युक्तमिति । तादृशाध्यव-  
 सायश्च मिथ्यात्वाऽऽलिङ्गितानामेकान्तक्षणिकत्वाक्षणिकत्वभिन्नत्वाभिन्नत्वादिनादिमौगता  
 क्षपादादिनिखिलमताना यस्समुदायस्स चेदस्यात्पदलाञ्छितस्स्यात्तदैव स्यात्, नान्यथा,  
 परसिद्धान्तोक्तैकान्तवस्तुतत्त्वज्ञानेषु स्याद्वादतत्त्वनिर्णायकयुक्तिभिरेकान्ततत्त्वसाधकयुक्तीना  
 निरासेन एकान्तेन तत्तत्त्वसाधकहेतूना स्याद्वादसाधकप्रतिहेतुभिर्बाधितत्वप्रदर्शनेन चाऽ  
 प्रामाण्यनिश्चयात्तद्विषयाभावनिश्चये स्याद्वादसिद्धान्तसिद्धेः, अत एव सम्प्रगृहिता स्याद्वाद  
 मर्यादया विषयविभागेन व्यनस्यापितस्मर्त्तोऽपि परसिद्धान्तस्त्वसिद्धान्त एवेति गीयते ।  
 ननु नयाना प्रत्येकाऽस्थाया मिथ्यादृष्टित्वात्तत्समुदायेऽपि महामिथ्यादृष्टित्वप्रमत्त्या न  
 ते समुदिता अपि सम्पक्त्वं प्रतिपद्यन्ते, प्रचुरविपलयसमुदाये विपप्राचुर्यैवत्, नापि परस्पर  
 विपदमाना समुदिता वस्तुगमका भवन्ति, प्रत्येकाऽस्थाया तदऽगमकत्वात्, प्रत्युत मिथो  
 विरोधित्वाद्दस्तुविघातायैव भवन्ति, वैरिसमूहवदिति चेत्, मैत्रम्, वस्तुतत्त्वाननयोधात्, यतः  
 प्रचुरविपलया अपि प्रौढमन्त्रवादिनाऽतिप्राज्ञकुशलक्रियपीयूषपाणिमहावैद्येन वा निर्विपी  
 कृत्य कुष्ठादिरोगिप्रुम्भ्यो दत्ता अमृतरूपता प्रतिपद्यन्ते, तद्वत् विपलवोपमा. प्रत्येकनया अपि  
 आत्मप्रदेशाम्यन्तरे मिथ्यात्वविषयव्याप्त्याऽऽज्ञानसमूर्च्छाकारिणोऽपि समुदितास्ते महामन्त्र-  
 वादिसमेन महावैद्यसमेन वा स्याद्वादतत्त्वज्ञानानुपकृतोपकारयुक्त्वा निष्पक्षपातहितका  
 ङ्गिणा सम्यग्ज्ञानिना सम्पग् विनिधोजिता विरोधभावरूप विप दूरीकृत्यामृतोपमाऽविरोध  
 भाव गमिता मिथ्यात्वरोगव्याप्तस्वान्तानामप्युपयुक्ता मिथ्यात्वरोग हत्वा महाकर्मवैरि-  
 यलजैत्सम्यग्ज्ञानसध्रीचीनमम्यग्दर्शनभावलक्षणारोग्यभाव प्रापयन्ति, अत एव ते नपवादाः

परस्परविरदमाननानाभिप्रायमृत्यानां सम्यगुपायतो नयहेनाज्ञामारेण राज्ञा, भूम्यादिना केनापि कारणेन मिथो विवदमानानां व्यवहारिणां न्यायदर्शिना समवृत्तिनां केनापि पुमां वा युक्तिभिर्विरोधमात्रमञ्जनवन्नि-स्कार्यवृत्तिना जिनागमोक्तयथार्थनयतत्त्वविदुषा महर्षिणा तेषां नयनादानां विरोधभावमञ्जनात् सम्यग्भावं मज्जन्ते । उक्तञ्च विशेषावश्यकभाष्ये—

“ न समेन्ति नयसमेया, सम्मत्त नेव वत्थुणो गमगा ।  
वत्थुविधायाय नया, विरोहओ वेरिणो चेष ॥ २२६६ ॥ ”

एतदाशङ्क्य तदुत्तरमाह भाष्यकारः—

“ सन्वे समयन्ति सम्मं, वेगवमाओ नया विरुद्धा वि ।  
मिच-ववहारिणो इव, राओदासीणवसवत्ती ॥ २२६७ ॥ ” इति ॥ २१ ॥

ननु नयसमुदाये न सम्यक्त्र सम्भवति प्रत्येकनयेषु सम्यक्त्वाभावात्, यद् यदेकैकेषु वस्तुष्वसत् तद् तत्समुदायेऽपि न सम्भवति, यथा सिकतासु तैलमिति चेत्, मैवम्, रत्नावल्यादावनैकान्तिकत्वादुक्तहेतोरित्येतत्प्रतिपादनार्थमाह—

जह्णो गलत्पणगुणा, वेरुलियाई मणी विसजुत्ता ।  
रयणावलिचवएस, न लहति महग्घमुल्लावि ॥ २२ ॥

‘ जह्णो गलत्पणगुणा ’ यथेति दृष्टान्तोपदर्शने, अनेकानि अनेकप्रकाराणि विष-विधातहेतुत्वादीनि लक्षणानि तथाप्रकारा नीलत्वादयश्च गुणा येषां ते अनेकलक्षणगुणा., के ते इत्याशङ्कायां विशेष्यीभूतकर्तृपदमाह—‘ वेरुलियाई मणी ’ वैदूर्यादयो मणयः, किं विशिष्टास्त इत्यत आह—‘ विसजुत्ता महग्घमुल्ला वि ’ विसयुक्ताः विशकलिता महार्थमूल्या बहुमूल्या अपि, कर्तृपद क्रियापदमाकाङ्क्षमिति तत्पूर्त्तये निषेधसबलित क्रियापदमाह—‘ न लहति ’ न लभन्ते, न प्राप्नुवन्ति, सकर्मकक्रिया च कर्मविषेति तत् क्रिमित्यत आह—‘ रयणावलिचवएस ’ इय रत्नावलीत्येव व्यपदेश व्यवहारमित्यर्थः ॥ २२ ॥

पूर्वोक्तलक्षणगुणा वैदूर्यादिमणयो महामूल्या अपि पृथग्भूततया मिथः सापेक्षभाव मनापन्ना रत्नावलीति व्यपदेश न लभन्त इति दृष्टान्तमुपदर्श्य दार्ष्टान्तिकमुपदर्शयितुमाह—

तह गिययवायसुविणि-च्छिद्या वि अण्णोपणपक्खनिरवेक्खा ।  
सम्मइसणसह, सन्वे रि णया ण पावेत्ति ॥ २३ ॥

तह गिययेत्यादि—तथेति दार्ष्टान्तिकोपदर्शने ‘ न पावति ’ न प्राप्नुवन्ति, किन्न प्राप्नुवन्तीत्यत आह—‘ सम्मइसणसह ’ सम्यग्दर्शनशब्द ‘ सुनयाः ’ इत्येव व्यपदेशम्, एवम्भूतां के इत्याशङ्काया कर्तृपदमाह—‘ सन्वे वि णया ’ सप्तहादयस्तर्वेऽपि प्रत्येक

नयाः, किं विशिष्टास्त इत्यत आह—‘णिययवायसुविणिच्छिया वि’ निज एव निजक-  
स्तस्मिन् निजके वादे इतरनिरपेक्षसामान्यादिप्रतिपादकस्वभाववादे सुविनिधिता हेतुप्रदर्शन-  
कुशला अपि, तत्र हेतुगर्भविशेषणमाह—‘अण्णोणपक्खनिरस्वेक्खा’ अन्योन्यपक्षनिर-  
पेक्षाः, अस्य हेतुरूपतया अन्योन्यपक्षनिरपेक्षत्वादित्यर्थः ॥ पृथक्स्थितमणयः परस्पर-  
निरपेक्षत्वात् रत्नावलीति व्यपदेश न लभन्ते तद्वदित्यर्थः ॥ दीर्घज्ञोपयोगरूपप्रमाण  
चैतन्यस्य साकाङ्क्षसकलनयवाक्यजनितान्नेकनयज्ञानात्मकतयाऽनेकात्मकस्य प्रमाणात्मक  
तथैकात्मकस्य शुद्धनयशब्दवाच्यत्वेन परस्परनिरपेक्षसद्गहादीनामेकैकनयानामन्योन्य  
विषयपरित्यागघृष्टीनां तादृशचैतन्यस्वरूपत्वामावेन न ते ‘सुनया’ इति व्यपदेशमामा  
दयन्तीति भावः ॥ २३ ॥

जह पुण ते चेव मणी, जहा गुणविसेसभागपडिबद्धा ।

‘रयणावलि’त्ति भण्णह, जहति पाडिककसण्णाओ ॥ २४ ॥

‘जह पुण ते चेव मणी’ यथेति दृष्टान्तोपप्रदर्शने, यथा पुनस्ते चैव त एव च  
मणयः ‘जहा गुणविसेसभागपडिबद्धा’ गुणविशेषः सत्रविशेषस्तस्य भाग एकदेशस्त  
मनतिक्रम्य प्रतिबद्धाः सम्बद्धास्ते यथा गुणविशेषभागप्रतिबद्धाः, एकसूत्रक्रमप्रोक्ताः, अत  
एव सम्बद्धाः, ‘रयणावलिचि भण्णह’ रत्नावलीति भण्यन्ते, ते मणयोऽस्युक्तावस्थां परि-  
त्यज्यैकसूत्रानुस्यूतास्सयुक्तावस्थारूपेण परिणामिन इय रत्नावलीति व्यपदिश्यन्ते, रत्नानु  
विद्वतया रत्नावल्यास्तदनुविद्वतया च रत्नानां प्रतीतेः, रत्नीयसन्निवेशविशेषस्य तद्वि-  
शिष्टरत्नानां वा रत्नावलीशब्दवाच्यत्वात्, “जहति पाडिकसण्णाओ” जहति प्रत्येक  
सङ्घाः, पते मणय इति पूर्वकालीनामिधानानि परित्यजन्ति, रत्नीयसन्निवेशविशेषस्य  
तद्विशिष्टरत्नानां वा रत्नावलीशब्दवाच्यत्वमित्यतस्तस्य तेषां वा रत्नीयसन्निवेशविशेषतद्वि-  
शिष्टरत्नावाचकैकत्रलरत्नवाचकशब्दाऽवाच्यत्वात्, विशिष्टाविशिष्टयोः कथञ्चिद्भेदस्यानुभव-  
प्रतीतिसिद्धत्वात् ॥ २४ ॥

तह सव्वे णयवाया, जहाणुरूवविणिउत्तवत्तव्वा ।

सम्महसणसह, लहति ण विसेससण्णाओ ॥ २५ ॥

‘तह सव्वे णयवाया’ तथेति दाष्टान्तिकोपदर्शने, तथा सर्वे नयवादाः ‘जहाणुरूव-  
विणिउत्तवत्तवा’ यथाशब्दो धीप्माथे, अनुशब्दः सादृश्यार्थे, रूपशब्दश्च स्वभावाऽर्थेऽत्र  
वर्षते । तथा च रूपस्य स्वभावस्य सदृशमनुरूपमित्यव्ययीभावसमामः, ततोऽनुरूप-  
मनुरूपं प्रतीति यथानुरूपमिति यथाशब्देन सहानुरूपस्याव्ययीभावसमामः, ततो  
यथानुरूपे विनिष्कृत यथानुरूपविनिष्कृतम्, यथाऽनुरूपविनिष्कृत वक्तव्य येषां ते  
यथानुरूपविनिष्कृतवक्तव्याः, वक्तव्यशब्दो यद्यप्यर्थवाचकस्तथाप्यनोपचारात्तद्वा

चक्रशब्दपरः । तथा च यद्युदनु रूपं तत्र तत्र विनिश्चयतः प्रयुक्तस्तद्वाचकशब्दो येषां ते तथा, अन्योन्यविषयाऽपरित्यागवृत्तय इति यावत्, एवम्भूतास्मर्वे नथाः " सम्मदसण-सद् लहति " सम्पददर्शनशब्द प्रमाणमित्याख्यां लभन्ते ' ण विसेमसण्णाजो ' न विशेषसञ्ज्ञाः, सद्वादिप्रत्येकतन्मयसञ्ज्ञा न प्राप्नुवन्ति । अजहद्वृत्तैर्कोपयोगत्वविशिष्टसाकाङ्क्षमकलनयवाक्यजनितनयज्ञानानां तादृशनयज्ञानीयाजहद्वृत्तैर्कोपयोगस्य वा प्रमाणशब्दवाच्यत्वात्, विशिष्टनयात्मरूपापि प्रमाणचैतन्यस्य शुद्धनयवान्पत्त्यात् । साकाङ्क्षमकलनयवाक्यजनितनयप्रमाणात्मकैकचैतन्यप्रतीतेः, अन्यथा चाऽप्रतीतेरिति । अयन्मावः—यथा स्वान्पनिरपेक्षप्रत्येकवैदूर्पादिरत्नेषु न रत्नावलीति व्यपदेशः, किन्तु स्वस्वस्थानविनियोगलक्षणविशेषेण मिधस्मापेक्षेषु समुदितेष्वेव तेषु तथा प्रत्येकनिरपेक्षेषु नयेषु न सम्पददर्शनव्यवहारः, किन्तु स्वस्वस्थानविनियोगलक्षणविशेषेण मिधस्मापेक्षेषु समुदितेष्वेव तेष्विति । ननु तत्र कथं विशिष्टैकाव्यवसायलक्षणममुदायार्थत्वोपपत्तिरिति चेत्, उच्यते, अपरित्यक्तेतररूपविषयाव्यवसाय एव ममुदाय इत्यत्रैकत्वस्याऽविरक्षितत्वात् परित्यक्तेतररूपविषयत्वस्यैव ममुदायाऽर्थस्य नयप्रमाणसाधारणस्याऽभिप्रेतत्वादिति । " नन्ववग्रहादिचतुष्टयात्मकमतिज्ञानोपयोगत्वं साकाङ्क्षमकलनयवाक्यजनितनयप्रमाणात्मकदीर्घोपयोगरूपैकचैतन्यस्याव्यवसायसिद्धत्वाच्च रत्नावलीदृष्टान्तोपादानं व्यर्थम्, अमिद्धमिद्धये वादिप्रतिवादिसिद्धदृष्टान्तोपन्यासस्य साकल्यात्, अत्र च तदमात्रादिति चेत्, न, उक्तस्वरूपैकानेकात्मकोपयोगे स्वसवेदनमिद्वेऽपि वादिविप्रतिपत्तिजन्यसशयनिरासेन निश्चयदार्ढ्यार्थं तदुपादानादिति ॥ २५ ॥

दृष्टान्तगुणप्रतिपादनेन तदेवाह—

लोह्यपरिच्छयसुहो, निच्छयवषणपडिवत्तिमग्गो य ।

अह पण्णणाविसड त्ति, तेण चीसत्थमुवणीओ ॥ २६ ॥

' लोह्यपरिच्छयसुहो ' लौकिकाश्च परीक्षकाश्च लौकिरूपरीक्षका, तेषां व्युत्पत्तिविकल्प तद्युक्तप्राणिनां सुखः, सुखपदमत्र स्वघटितं यत् सुखप्रतिपन्नुपाय इत्येतद्वाक्यं तत्परम्, तेन लक्षितलक्षणया सुखेनानायासेन प्रतिपन्नुपायो व्याप्तिग्रहोपाय इति तदर्थः, अर्थात्सुखपदं सुखप्रतिपन्नुपाय इति वाक्यं लक्षयति, तच्च लक्षणयाऽनायासेन व्याप्तिग्रहोपायरूपमर्थं बोधयति, वाक्यलक्षणामावे तु सुखपदमेव लक्षणयोक्तमर्थं बोधयति, ' निच्छयवषणपडिवत्तिमग्गो य ' निश्चयवचनप्रतिपत्तिमार्गीय, निश्चयवचनस्य नैश्चयिकवचनस्य एकानेकात्मकदीर्घोपयोगरूपचैतन्यस्वरूपप्रतिपादकराक्यस्य यत्प्रामाण्यं तस्य प्रमाणमित्येव या प्रतिपत्तिस्तज्जनकरलक्षणप्रामाण्यप्रदर्शकश्च । अथेत्यवधारणे, ' पण्णणाविसडत्ति ' प्रमापनाविषय इति, दृष्टान्तो ज्ञातव्यस्यात्तदेव दार्ष्टान्तिकसिद्धये समर्थस्यात् स स्वरूपज्ञानार्थं प्ररूपणाविषयः प्रकृतनिर्दर्शनविषयो रत्नावलीदृष्टान्त इति ।



अयम्भावः—माकाङ्क्षमकलनयवाक्यजनितनयप्रमाणात्मरूचैतन्य सुनयपदवाच्य प्रमाणपद-  
वाच्य वेत्येवप्रकारकशक्तिज्ञानविकलानां लौकिकानां तत्समन्वितानां परीक्षकाणां च चैतन्य-  
मेकानेकात्मक, तथा प्रतीयमानत्वात्, यदेकानेकात्मकतया प्रतीयते तदेकानेकात्मकम्,  
यथा क्रमेणैकतन्त्रनुस्यूतरत्नप्रतिवेशनिष्पन्नरत्नावली, अत्र य' खलु क्रमिकतन्त्रनुस्यूत  
रत्नममूहः म ममूहममूहिनां कथञ्चिद्भेदादेदात्मकत्वात् एकानेकात्मकः, तत्र रत्ना  
वलीत्वेनैकत्व प्रत्येकानुस्यूतानेकमप्यात्मकत्वेनानेकत्व मरैरप्यविवादास्पदतया स्वीकृत  
मिति तद्दृष्टान्तबलेन दीर्घोपयोगरूपचैतन्यस्यापि प्रमाणस्वरूपतयैकत्व नयस्वरूपतया  
चानेकत्वमित्येवमुक्तचैतन्ये एकानेकात्मकत्वस्य सुखेनानायासेन भवति प्रतिपत्तिरिति  
रत्नावलीदृष्टान्तः सुखप्रतिपत्त्युपाय इति दृष्टान्तस्यैको गुणः । द्वितीयश्च यथा क्रमिकमन्नि  
वेशनिशिष्टरत्नसमूहस्य कथञ्चित् समूहिस्वरूपतयाऽनेकस्यापि रत्नावलीयमित्येकव्यपदेश  
जन्य रत्नावलीस्वरूपममूहापेक्षयैकत्वेन ज्ञान प्रमाणम्, तज्जनकत्वात्तद्वाक्यमपि प्रमाणम्,  
तथा साकाङ्क्षमकलनयवाक्यजनितनयज्ञानानामपि दीर्घोपयोगरूपताश्रयणेनैकत्वमाश्रित्य  
प्रमाणमित्याख्याजनित ज्ञान प्रमाणविषयक प्रमात्मकम्, तज्जनकत्वात्प्रमाणनयापेक्षयैका-  
नेकात्मकचैतन्यस्वरूपप्रतिपादकवाक्य नैश्रयिकरचन प्रमाणमित्येव या तद्गतप्रामाण्यप्रति  
पत्तिस्तज्जनकत्वलक्षणप्रामाण्यप्रदर्शकत्वात्मको गुणः । एतदुभयमपि दृष्टान्ताऽप्रदर्शने सति  
न सम्भवति, न हि स्वरूपसन्नेन दृष्टान्तो दार्ष्टान्तिक द्रव्यितुं समर्थः, अतस्म स्वरूप  
प्रतिपत्तये प्रज्ञापनाविषयः परूपणाविषयो भवति, ततश्च तथाज्ञातस्त स्वमदश्च दार्ष्टान्तिक  
माघयितुं प्रगल्भ इति प्रज्ञापनाविषयत्व तस्य तृतीयो गुणः ।

'तेण वीसत्थमुपणीओ' तेन कारणेन विश्वस्त निश्शक यथा ज्ञायते तथा, ज्ञापयितु-  
मिति शेष' । उपनीत उपदर्शितो दृष्टान्त' । न चावल्यवस्थात् प्रागुत्तरकाले च रत्नाना  
नियतोपलम्भात् प्रमाणावस्थायाश्च प्रागुत्तरकाल नयानां तदभावाद्दुदाहरणवैषम्यमिति  
वाच्यम्, प्रमाणस्यैकानेकात्मकत्वोपपत्तिमात्रार्थमात्रव्यवस्थात्मकोदाहरणोपादानात्, सर्वथा  
साम्ये दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभावानुपपत्तेरिति । एतेन रत्नावलीदृष्टान्तेन समुदिता नयास्तस्यैकत्व  
व्यपदेश लभन्ते, अर्थात् प्रमाणमित्याख्यामवाप्नुवन्तीत्युक्त भवति, तच्च युक्तियुक्तम्,  
यतो रत्नावल्या दलप्रचयलक्षणसमष्ट्यायस्तम्भवति, न च नयानां स युक्त', तेषां ज्ञान  
रूपत्वेनैकदा रत्नानामिव तदम्भवामावात्, एककालावच्छेदनैकस्यैव ज्ञानस्योपगमा  
दित्यपि निरस्तम्, न ह्यत्र दलप्रचयलक्षणसमष्ट्याय उच्यते, किन्त्वितरनयनिपचीकृतरूपा-  
व्यवच्छेदकत्वलक्षण', उक्ताव्यवच्छेदकत्वमेव चान्योन्यनिधित्व गीयते, तच्च प्रागेवोक्तम्,  
इदमेव च प्रवृत्तिनिमित्तीकृत्य तत्र मस्यैकत्वपद प्रनर्तते, रत्नावलीदृष्टान्तोऽपि निमित्त  
भेदेन व्यपदेशमेदज्ञापनार्थमेव प्रोक्त, न त्वेकैकव्यक्तिप्रचयलक्षणसमष्ट्यायस्वरूपज्ञापनार्थ-  
मित्युक्तदोषामावात् ॥ २६ ॥

अथ—“असदकरणादुपादान, -ग्रहणात्सर्वसम्भवाभावात् ।

शक्तस्य शक्यकरणात्, कारणभावाच्च सत्कार्यम् ॥ १ ॥”

माद्द्रव्यतत्त्वकौमुद्यामित्युक्ते कारणेषु शक्तिरूपेण सदेव कार्यमभिव्यक्तस्वरूपतयो त्यद्यत, दुग्धे दधिपत् तिलेषु तैलवदिति रत्नादिकारणेष्व्वावल्यादिकार्यं मदवेति माद्द्रव्यः । दुग्धादेरेव दध्यादिरूपेणेव कारणानामेव कार्यरूपेणाव्यक्तस्वरूपतया व्यवस्थितत्वात् तदव्यतिरिक्त विकारमात्रं कार्यं परिणमत एव, अर्थात् कारणमेव स्वामिन्नकार्यरूपतया परिणमत इति माद्द्रव्यविशेषः, अभूत्वा भवन प्रागसत्तः सत्तामग्रन्धो वोत्पत्तिरित्युत्पत्ति पूर्वकालावच्छेदेन कारणे नैव कार्यं विद्यते, न या कारणमेव कार्यरूपेण परिणमते, किन्तु समयाविकारणात् पृथग्भूत तत्र चासत् मामग्रीत ममवेत कार्यमुत्पद्यते, तच्च न स्वतो विनश्यति किन्तु विनाशमामध्येति यावच्चदमात्रस्तात्रच विनश्यतीति स्थिरभूतमिति नैयायिकवैशेषिकादयः, बौद्धा अपि तत्तत्कार्यानुकूलकुर्वद्द्रवात्मकतन्निमित्तकारणप्रहकृतोपादानकारणेन तत्रासत्कार्यं क्षणिकमुत्पद्यते, स्वोत्पत्त्युत्तरकालमाविभावानपेक्षणेन स्वोत्पत्त्यव्यवहितोत्तरक्षणे निर्हेतुकस्यैव तद्विनाशस्य भावादित्यमत्कार्यमाह प्रतिपद्यन्ते । न कार्यं कारण वाऽस्ति, द्रव्यमात्रमेव तन्ममित्यपरे, तत्रैव सत्, जगत्तु तद्विवर्त्तरूपम्, मायायाश्चाऽज्ञानपदवाच्याया विकाररूपम्, तथा च ब्रह्मणो विवर्त्तोऽज्ञानविकारश्च जगदिति वेदान्तिनो वदन्ति । तथा चोक्तम्—

“सतत्त्वतोऽन्यथाप्रथा, विकार इत्युदीरित ।

अतत्त्वतोऽन्यथाप्रथा, विवर्त्त इत्युदीरित ॥”

सतत्त्वतः तत्त्वविशिष्टस्य अन्यथाप्रथाऽन्यथामावो विकार इति प्रोच्यते, यथा मृद-स्तत्त्व मृद्व् तद्विशिष्टाया मृदं घटमात्र-—घटाकारपरिणामो मृद्विकार इत्युच्यते, यथा चाऽज्ञानस्य मायाया जगदाकारण परिणामोऽज्ञानविकार इत्युच्यते । अतत्त्वतस्तत्त्वरहितस्यान्यथाप्रथाऽन्यथामावो विवर्त्त इत्युच्यते, यथा लूताशरीरात्रिच्छन्नचेतनस्य तन्त्वाकारपरिणामो न भवति किन्तु लूताशरीरस्य तथाभावः, अतो लूतापदवाच्यचैतन्यस्य तन्त्राकारो विवर्त्त इत्युच्यते, लूताशरीरस्य तु विकार इत्येवोच्यते, एवमज्ञानोपाधिविशिष्टस्य ब्रह्मणो जगदाकारेण परिणामाऽभावेऽपि जगदाकारेण माममानत्वात् जगत् ब्रह्मणो विवर्त्त इत्येवोच्यते, अज्ञानस्य तु साक्षादेव जगदाकारण परिणममानत्वाद्ज्ञानविकारो जगदित्युच्यते । इत्येव नानाभिप्रायवन्त एकान्तवादिनो रत्नावलीदृष्टान्तस्यापि पूर्वोपदर्शितैकानेकात्मकत्व नैव मन्यन्ते इति तद्रूपतया स्वयमेवासिद्धस्त परस्परमाकाङ्क्षमकलनयजनित नयप्रमणात्मकदीर्घोपयोगरूपैकचैतन्यात्मकदार्ष्टान्तिकमिद्वये न प्रमपिण्डुः, तस्य साध्यसमत्वादित्येवमेकान्ततत्त्वदादिमतप्रदर्शनपूर्वकं तन्मतनिरासायाह—

इहारा समूहसिद्धो, परिणामकओञ्च जो जहिं अत्थो ।  
ते त च ण तं त च-वत्ति णियमेण मिच्छत्त ॥ २७ ॥

‘इहारा’ इतरथा उक्तप्रकाराऽनभ्युपगमे, ‘समूहसिद्धो’ रत्नानां समूहे सति सिद्धः निष्पन्नः समूहसिद्धः, स क इति चेद्, रत्नादिष्वानुत्पत्त्यादिः, तत्र तस्य सद्भावात्, रत्न-मालादिरूपेण रत्नादीनामाविर्भावात्, ‘परिणामकओञ्च’ परिणामकृतो वा, यथा क्षीरादिषु दध्यादिः, तस्य तत्परिणामरूपत्वात्, क्षीरादीनामेव दध्यादिरूपेण परिणमनादिति । वस्तु गत्या सर्वस्यैव परमाणुसमूहपरिणामोभयकृतत्वेऽपि ‘समूहसिद्धः’ ‘परिणामकृतो वा’ इति निरूपणमिधानं किञ्चित्कार्यं समूहकृतं किञ्चित् परिणामकृतमिति लौकिकव्यवहारा-पेक्षया, “जो जहिं अत्थो” यो यत्रार्थः, य आध्यादिर्दध्यादिर्वा यत्र रत्नादिषु क्षीरादिषु वा, ‘ते त च’ ते रत्नादयस्तदेतानुत्पत्त्यादिक, समूहसमूहिनोरमेदात्, क्षीरादिक वा तदध्यादिकमेव, तस्य तत्परिणामरूपत्वात्, परिणामपरिणामिनोश्चाऽभेदादिति सत्कार्यवादः । ‘ण त’ न कारणमेव कार्यम्, किन्तु तद्विघ्नमसदेवोत्पद्यते तदित्यमत्कार्यवादः, ‘त चेवत्ति’ तदन च, न कार्यं न वा कारणम्, किन्तु द्रव्यमात्र तत्त्वमिति तदेवेत्यपरे, तत्रमात्र वा तत्रमित्यद्वैतवादः । “इति णियमेण मिच्छत्त” ‘इति’ एव नियमेनैकान्ताभ्युपगमे सति मिथ्यात्वम्, सर्व एव एते मिथ्यावादाः, नियमेनेत्युक्त्या कथञ्चिदभ्युपगमे अर्थात्कारण कथञ्चित्कार्यात्मकम्, परिणामः कथञ्चित्परिणाम्यात्मकः, कार्यं कथञ्चित् कारणतात्मकं, कारणं वा कथञ्चित् कार्यात्मकम्, एव परिणामोऽपि कथञ्चित् परिणाम्यात्मकः, एव द्रव्यतत्त्व-मपि कथञ्चित् कार्यं न वा कारणमित्येवमभ्युपगमे सर्वे चेते सम्यग्वादा एवेत्युक्तं भवति ।

“यदुत्पादव्ययधौच्य-योगिता न विभक्तिं चै ।

तादृश शशशृङ्गादि-रूपमेव परं यदि ॥ १ ॥”

इत्युत्पादादिसिद्धिग्रन्थवचनाद् न किमपि वस्तु तथानिध यन्न व्येति नोत्पद्यते न ध्रुवति, देवमाधेन विनश्य मनुष्यभावेनोत्पन्नोऽहम्, कुण्डलमाधेन विनश्याद्गमाधेन हेमोत्पन्नमित्याद्यनुमानाद्दस्तुमात्रस्योत्पादव्ययधौच्यात्मकरितयधर्मवत्त्वैव सिद्धेस्त्वत्तद्दस्तु तत्तदपेक्षया कार्यमकार्यञ्च, कारणमकारणञ्च, कारणे कार्ये सचासच्च, कारणे कार्यकाले विनाश-वत् अविनाशश्च, तथैव प्रतीतरन्यथा चाप्रतीतेः । तद्व तच्चदस्तुनोऽनुगतव्यावृत्तस्वरूप-तथैकानेकार्थकत्वान्मण्यनुस्यूतरत्नावलीष्टान्तस्याप्येकानेकार्थकत्वतथैव सिद्धेर्न साध्यसम-त्वमिति तद्वदष्टान्तबलादाऽऽ मानुस्यूतनयप्रमाणात्मकदीर्घोपयोगरूपचैतन्यस्याप्यापेक्षि-कंज्ञानेकार्थकत्वतथैव सिद्धिरप्यप्रत्यूहेति मिदम् । ननु पूर्वोक्ततत्त्वमतेषु नियमेन मिथ्या-त्वे किं बीजमिति चेत्, तदप्याकर्णय सारधानीभूय, तथाहि—दुग्धादौ कारणेः दध्यादिकं कार्यं सदेव’ इति साङ्ख्यमत, तन्मते हि सर्वे एव भावास्त्वत्स्मन्त एव कारकैः क्रियन्ते,

नासन्तः, न हि स्वतोऽविद्यमाना दृशविषाणादयः कचिदपि शक्यन्ते कर्तुम्, सिक्तासु वा तैलम्, अमदुत्पत्तौ तु सर्वत्राऽमत्राऽविशेषान्निषमाभावात्सर्वमात्सर्वकार्योत्पत्तिस्स्यादिति, तन्न युक्तियुक्तम्, यथा पूर्वं मद्न कार्यं चेत्, तदा कारणव्यापारेण नैव किमपि कर्त्तव्यमिति तद्वैफल्यमेव, किञ्च मद्दर्शविषये कारकव्यापार इष्यमाणे कारकव्यापारानुपरमप्रसङ्ग, किं हि तदोपलक्ष्य कारकाणि निर्वर्तेरन् ? कार्यसत्तामिति चेत्, न, तन्मते तस्या प्रागपि भावात्, अथ पूर्वं शक्तिरूपण कार्यं मत् नामिष्यत्तयापीत्यनभिष्यक्त तत्तेनाभिष्यक्तीक्रियत इति तस्मात्फल्यमेवेति चेत्, मैरम्, यतस्माऽभिष्यक्ति' सती चेत्, तदा तत्करणायोगात् कारणव्यापारैकफल्यमेव, अमती चेत्, तदा पूर्वममत्यास्तस्यास्तेन मद्दुपत्वकरणेन अमदकरणादित्यादिमाह्वयोक्तमिद्वान्तमङ्गप्रमङ्ग', अथ कारणव्यापारेणावरणविनाश' क्रियत इति तस्मात्फल्यमित्यपि पक्षो न युक्तः, यतोऽन्धकारपिहितघटानुपलम्भे आगारकीभूताऽन्धकारोपलम्भवत् रुस्यचित्कार्यावारकस्योपलम्भस्स्यात् न च तदुपलम्भ, येन तद्विनाशकरणेन कारणव्यापारमाफन्य स्यात्, न च कारणमेव कार्यावारकमित्यपि वक्तुं शक्यम्, तस्य तदुपकाररुत्वेन प्रसिद्धे । ननु यद् यदर्शनप्रतिबन्धक तत्तदावारक, यथा घटदर्शनप्रतिबन्धकरुमन्धकार घटावारक, कार्यदर्शनप्रतिबन्धकञ्च कारणमिति तत्तदावारकमिति चेत्, तर्हि चक्षुषा घटाऽदर्शनेऽपि तत्स्पर्शानप्रत्यक्षमनुष्या कार्यादर्शनेऽपि तत्स्पर्शानप्रत्यक्षप्रसङ्गस्स्यात्, अथ कार्यदर्शनप्रतिबन्धकत्वेन कारण कार्यावारक न, किन्तु पटादिभ्यो व्यवधायकरुत्वेनेति चेत्, तदपि न युक्तम्, व्यवधायकस्य पटस्य मिस्यादेवां ध्रसे घटादेरुपलम्भवद् व्यवधायकस्य कारणीभूतमृत्पिण्डस्य ध्रसेऽपि घटकार्योपलब्धिप्रमङ्गः, धीरनीरादिवदात्यन्तिकसंश्लेषेण तदावारकत्वे च तत्पृथग्भावा विना तदनुपलब्धिप्रमङ्गः, निराकरिष्यते चाग्रे मत्कार्यवाद इति न किञ्चिदित् । एतेन कारणमेव स्वाऽभिन्नकार्यतया परिणमत इत्येव लक्षणानर्थान्तरपरिणामवादोऽपि प्रतिक्षिप्तोऽवसेपः, अमेदे विशेषण विशेष्यभावस्यैव परिणामपरिणामिभावस्याप्यऽयोगात् । यदपि कारणेऽपदेव कार्यं सामग्रीत उत्पद्यत इत्यमत्कार्यवादात्मक नैयायिकवैशेषिकमत तदपि " अमत सत्ताममवाय उत्पत्तिरित्युत्पत्तिलक्षणस्य समवायपटितत्वेन ममवायस्यैकान्तभिन्नावयविनश्च पूर्वं निरामकरणाक्षिरस्तमवसेपम् । कारणे सर्वथाऽमदेव धुणिक कार्यं कुर्यात्पातमकपूर्वकारणादुपजायत इत्यमत्कार्यवादात्मक बौद्धमतमपि न मङ्गलम्, एकान्तक्षणिकवाद्स्यैवाऽसिद्धेः । अथ यस्मत्क्षणिकमिति व्याप्तेस्मत्प्रहती क्षणिकत्वमिद्धि, एव कृतकत्वहतोरप्यनित्यत्वमिच्छ्या क्षणिकत्वसिद्धिरिति चेत्, मैरम्, माध्यमाघनमावो मेदनिबन्धन एव, अन्यथा स्वात्मना स्वसिद्धिस्स्यादिति यस्मत्क्षणिकमित्यत्र यत्कृतक तदनित्यमित्यत्र च संबन्धते पक्षमाध्यहृतानां वस्तुगत्या स्वलक्षणरूपत्वेनामेदात् माध्यसाघनधर्ममेदाऽसिद्धौ

सच्चहेतोः क्षणिकत्वस्य कृतकत्वहेतोश्चानित्यत्वस्यासिद्धेः । अथ सचक्षुणिकृत्वयोः कृत-  
 कत्वाऽनित्यत्वयोश्चाऽतद्व्यावृत्तिलक्षणतत्तद्व्यावृत्तिरूपतया तद्भेदेन भेदस्वीकाराच्चैप दोष इति  
 चेत्, तदप्यसत्, यतस्तत्तद्व्यावृत्तिभेदो न स्वतः, तामां तुच्छरूपत्वेनाभ्युपगमात्स्वतो  
 भेदस्याऽयोगात्, योगे वा भेदस्य तद्व्यावृत्तिभेदकत्वाद्दस्तुत्व स्यात्, अन्यथा भेदस्य तच्च  
 व्यावृत्तिभेदकत्वमेव न स्यात्, अत्रद्रूपत्वात्, तथा च वस्तुत्वस्यानेकान्तात्मकत्वव्याप्यत्वेन  
 व्याप्यस्य तस्य सत्त्वे व्यापकस्यानेकान्तात्मकत्वस्यापि मन्त्रात्तद्विद्वेस्तिष्ठ नस्समीहितम्,  
 किञ्च तत्तद्व्यावृत्तीनामिव घटपटादिरस्तूनामेव स्वतो भेदोऽस्तु किमन्तर्गद्भुतत्तद्व्यावृत्तिभेद  
 कल्पनया । नन्वेवं तर्ह्यनुगतप्रतीतिः कथं स्यादिति चेत्, उच्यते—रस्तुनस्मान्यान्यविशेषोम-  
 यात्मकतयाऽनेकान्तात्मकत्वात्सामान्याश्रमादायानुगतप्रतीत्युपपत्तिस्स्यादेवेति । अयं व्य-  
 वच्छेद्यभेदात्तत्तद्व्यावृत्तिभेद इत्यपि न युक्तम्, भवन्मते क्षणिकेतरव्यावृत्तेस्सदितरव्यावृत्तेश्च  
 एवमनित्येतरव्यावृत्ते कृतकेतरव्यावृत्तेश्च व्यवच्छेद्यस्य परमार्थभूतस्य कस्यचिद्भावा  
 चामां भेदाभासप्रसक्तेः, अथ व्यवच्छेद्यस्य पारमार्थिकस्य कस्यचिद्भावेऽपि तस्य कल्पनया  
 सत्त्वमस्त्येवेति कल्पनिकव्यवच्छेद्यभेदाद्भेदोऽस्तिरिति चेत्, तदपि न सङ्गतम्, व्यवच्छे-  
 दस्य नित्यस्य कल्पना नित्येतरव्यावृत्त्या, अन्यथा नित्यानिन्ययोरेकत्वापत्तिस्स्यात्, तथा  
 च नित्येतरव्यावृत्त्यनित्येतरव्यावृत्त्योरन्योन्यव्यवच्छेद्यभेदेन भेदव्यवस्थितौ कथं नान्यो-  
 न्याश्रयः, तथाहि—कल्पितनित्यस्य नित्येतरभिन्नतया सिद्धौ तद्व्यवच्छेदेनानित्यत्वमिद्विद्विः,  
 अनित्येतरभिन्नतया अनित्यत्वस्य सिद्धौ च तद्व्यवच्छेदेन नित्यत्वमिद्विद्विरित्यन्योन्यापेक्ष-  
 तादन्योन्याश्रयदोषापत्तितो नान्यतरस्यापि सिद्धिः, व्यावृत्त्योर्भिन्नतया चाऽसिद्धौ न  
 साध्यमाधनमात्र इत्यतो न क्षणिकत्वसिद्धिः । अथ तत्तद्व्यावृत्तीनां व्यवच्छेद्यभेदाद्भेदो  
 मास्तु, बुद्धिप्रतिभासभेदात्तु स स्यादत्र तेन च साध्यहेत्वोर्भेद इति भेदनिबन्धनमाप्य  
 साधनभावात्सचचेतुना क्षणिकत्वसिद्धिरिति चेत्, तर्हि, शब्द इति बुद्धिप्रतिभामाच्छब्दत्व  
 बुद्धिप्रतिभासस्य भेदेन शब्दाच्छब्दत्वस्य भेदात्तस्य साधनभावस्स्यात्, तथा च शब्दोऽ-  
 नित्यः शब्दत्वादित्याद्यनुमानस्यापि प्रामाणिकत्वात्पत्त्या न शब्दत्वहेतुः प्रतिज्ञार्थक  
 दशाऽसिद्धो हेतुस्स्यात्, अप्यन्तः—प्रकृते पक्षेण शब्देन सम शब्दत्वहेतोरैक्यमा-  
 श्रित्य पक्षहेतोरैक्यात्प्रतिज्ञार्थकदेशत्वं शब्दत्वहेतोर्यदिष्टं तन्न स्यात्, पूर्वोक्तनीत्या शब्द  
 शब्दत्वयोर्भेदाभ्युपगमात् । न च शब्द इति बुद्धिप्रतिभामाच्छब्दत्वमिति प्रतिभामस्य  
 भेदो नेति वाच्यम्, आकारभेदस्य ज्ञानभेदप्रयोजकस्याऽप्रापि सद्भावात्, अन्यथैकमेव  
 ज्ञान स्यात्, आकारभेदोऽपि बुद्धिप्रतिभासभेदानभ्युपगमे विषयभेदासिद्ध्या शब्दशब्दत्व  
 योर्धर्मधर्मिभाव एव न स्यात् । अथ प्रतिभासभेदोऽपि व्यवच्छेद्यभेदाभावाच्च शब्दशब्द-  
 त्वयोर्भेद इति शब्दत्वंहेतोः प्रतिज्ञार्थकदेशत्वं, नन्वेव तर्हि भावाभिधायी शब्दत्व  
 शब्दो द्रव्याभिधायी शब्दशब्द इति तयोः पर्यायत्व स्यात्, धर्मभूतशब्दत्वाभिधायि



त्पादिका, काचिच्च नेत्यनश्चरात्मान सा जनयेत्, यथा विलक्षणात्पशुविशेषशृङ्गादेव श्रो  
मवति, न सर्वस्मादित्यायात क्षणिकक्षणिकस्वरूपत्व वस्तुन इति । अधान्ते विनाशित्वेनोप  
लब्धाना प्रतिक्षण ध्वसो यदि न स्यात्तर्हन्तेऽपि क्षणे घमप्रतीतिर्नोपपद्येत, द्वितीयक्षणेऽपि  
भावस्य स्थितिस्वीकारे सर्वदा स्थितिप्रमङ्गात्, तथाहि—किं भावस्य स्वरूपम्, द्विक्षणस्था  
यित्वमिति चेत्, तर्हि द्वितीयेऽपि क्षणे द्विक्षणस्थायिन्वस्वभावात्प्रत्ययानतिक्रम एव, अतिक्रमे  
वा प्रथमक्षणे द्विक्षणस्थायित्वस्वभावस्य द्वितीयक्षणे एकक्षणस्थास्तुस्वभावस्य च भेदेन  
धर्मभेदाद्धर्मिणोरपि भिन्नत्व स्यात्, तथा चायात क्षणिकत्वमित्यतो द्वितीयेऽपि क्षणे तत्स्व  
भावस्वीकारणीय एव, स च स्वभावो न तृतीयक्षणवृत्तित्त्वमन्तरेण, एव तृतीयचतुर्थाद्युत्तरो  
त्तरक्षणेऽपि तत्स्वभावानपगम एव, अपगमे वा क्षणिकत्वप्रमङ्गः पूर्वोक्तरीत्या तदवस्थ इत्या  
ससार भावस्य स्थितेरविनाशाद्दिनाशप्रतीतिर्दुर्लभा स्यात्, न चैवम्, अतस्तत्प्रतीत्यन्यथाऽ  
नुपपत्त्या प्रतिक्षण विनाशस्मिद्धति । किञ्चाद्ये क्षणे योऽभूत्वा भयनलक्षणस्वभावस्य एव  
चेत् द्वितीयेऽपि क्षणे तदा तदाऽभ्युत्पत्तिरेव, न स्थितिरित्यायात क्षणिकत्वम्, द्वितीयेऽपि  
क्षणे स्थितेरभावात् । अथ प्रथमक्षणे जन्मैव, न स्थितिः, द्वितीयेऽपि क्षणे स्थास्तुस्वभावात्  
एव नोत्पदिष्युस्वभाव इति विरुद्धधर्माध्यासाभावेन न क्षणिकत्वमिति चेत्, तर्हिकस्मिन्  
विरुद्धधर्माध्यासप्रसङ्गेन धर्मद्वयाऽयोगेन तद्धर्मिणोर्भिन्नत्व वाच्यम्, एतच्च यस्य जन्म न  
तस्य स्थितिर्यस्य स्थितिर्न तस्यैव जन्म क्रिन्त्वन्यस्यैव, तथा च जन्मक्षणवृत्तित्वतदन्य-  
क्षणवृत्तित्वप्रयुक्तस्थितेरभावादायात क्षणिकत्वम् । किञ्च परस्परभिन्नयोः पूर्वकालसम्बन्धि-  
त्वापरिष्कालसम्बन्धित्वयोर्विरुद्धस्वभावत्वेन तद्विभेदाद्धर्मिणोरपि भिन्नत्वमिति स्वभावभेदेन  
क्षणिकत्वस्यैव सिद्धेस्मिद्धा विनाश प्रत्यनपेक्षा भावस्येति चेत्, भवम्, स्वहतोरेव भूत  
भविष्यद्दूर्त्तमानस्वभावत्वेन त्रिकालस्थायितया प्रथमक्षण एवोत्पन्नो भावः, तथाहि—भूत  
क्षणेऽपि भवतिष्ठन् वर्त्तमानक्षणे भविष्यत्क्षणे स्थास्यन् स्वभाव इति त्रिसंभारतया समुप  
जातो भावः, न च परापरकालसम्बन्धित्वस्य विरुद्धधर्मत्वम्, तत्स्वभावतयैवोत्पन्नत्वात्,  
अथ भविष्यत्क्षणे स्थास्यन् इत्यस्य भविष्यत्कालीनस्थितिमान् घट इत्यर्थः, स च न  
पुत्रयुपपन्नः, पतस्मानकालीनयोरेव विशेषणविशेष्यभावः, न तु भिन्नकालीनयोरपि, तयो  
सम्बन्धायोगात्, तथा च भविष्यत्कालावच्छिन्नस्थितेर्वर्त्तमानकालेऽभावेन न तद्विशेष्यत्व  
मिदानीन्तनघटस्य, अमदेतत्, तथाप्रतीत्यनुरोधेन तत्स्वीकारात्, तथा चानागतकालस्ये-  
दानीमभावेन तदवच्छिन्नस्थित्यभावेऽपि तद्विशेष्यत्व वर्त्तमानघटादिभावस्याविरुद्धमेव,  
अन्यथा सव्येतरभोविषाणवत् समानकालीनयोरपि सम्बन्धायोगसममान एवेति विशेषण  
विशेष्यमात्राऽभाव एव, तथाहि—किं समानकालीनयोः कार्यकारणभावात्तादात्म्य वा  
सम्पत्, नाद्यः, पूर्वापरवर्तिनोरेव तत्स्वीकारेण मिद्धान्तव्याकोपप्रसङ्गात्, नापि द्वितीयः,  
सर्वधाऽभेद तदयोगात्, अन्यथा घटस्यापि घटतादात्म्यसम्बन्धात् घटविशेष्यत्वात्पत्त्या

घटो घट इति प्रतीत्यापत्तिस्स्यात् । तस्माद्भयात्मकस्तुन्येव तत्त्वम्, तथा च वर्तमान भविष्यत्कालावच्छिन्नघटादिव्यक्तैरक्येऽपि पूर्वापरकालात्मकविशेषणमेदेन कथञ्चिद्भेदस्वीकारेण विशेषणविशेष्यमात्रोपपत्तेः स्थास्यन् वर्तमानो घट इति प्रतीत्युपपत्तिस्स्यादेवेति, न चैकस्मिन् स्थिरे पदार्थे पूर्वापरकालमन्वन्धित्ययोर्निरोधदोषाघ्रातत्वाच्चोपपत्तिरिति वाच्यम् एव सत्येकस्य परमाणोः परमाणुपट्टकेन युगपत् सयोगमन्वन्धवलात्परमाणोरपि पट्टत्वं स्यात्, तदुक्तम्—“पट्टकेन युगपद्योगात् परमाणो षडशता” इति । तस्मादेकस्य परमाणोः तद्विगवच्छेदेन तत्परमाणुना तदन्यद्विगवच्छेदेन तदन्यपरमाणुना मह युगपत्सयोग सम्बन्धवत्स्तिरस्यापि पदार्थस्य पूर्वोत्तरकालावच्छेदेन पूर्वापरकालमन्वन्धोपपत्तेर्नपरापरकालसम्बन्धप्रयोज्याऽपरापरस्वभावमेदो विरुद्धः, येन विरुद्धधर्माध्यासेन मेदापत्त्या क्षणिकत्व सिद्धं स्यात् । एतेनैकस्य परमाणोः किं सर्वात्मनाऽपरपरमाणुभिरभिसम्बन्धः, किं वैकदेशेन, आद्ये सम्बन्धिद्वययोरेकपरमाणुरूपत्वापत्त्या परमाणुमात्रं पिण्डस्स्यात् । द्वितीयविकल्पेऽपि त एकदेशा देशिभूतपरमाणुस्वरूपाः किं वा तद्भिन्नस्वरूपाः, आद्ये भिन्नैकदेशानामेतामात्रान्नैकदेशेनाभिसम्बन्धः, द्वितीये च ते एकदेशा परमाणुभिसम्बद्धा अमम्बद्धा वा, यद्यऽसम्बद्धास्तदा स्वमतक्षतिः, सम्बद्धाश्चेत्तदा सर्वात्मना, एकदेशेन वा, सर्वात्मनाऽभिसम्बन्धपक्षे एकदेशैरुदेशिनोरभेदादेकदेशाऽमात्रान्नैकदेशेनाभिसम्बन्धः परमाणूनाम् । एकदेशेनैकदेशानामेकदेशिनाऽभिसम्बन्धपक्षेऽपि चैकदेशाना ततो मेदामेदकल्पनाया तदवस्थः पर्यनुयोगोऽनपत्त्या च, न च प्रकारान्तर इष्टम्, येन परमाणूनामभिसम्बन्धस्स्यादित्यतोऽनुपलभ्यमानमन्वन्धकल्पनायां प्रमाणाऽभावेन पट्टकेन युगपत्सम्बन्धात् परमाणोः षडशता स्यादित्युक्तमापादनमपि न युक्तियुक्तमिति कुचोद्यावकाशोऽपि निरस्तः, परमाणूनां द्रव्यनयेन निरक्षतयैवाभ्युपगमेन क्वात्स्न्येनैकदेशेन वैकपरमाणोः परमाण्वन्तरेणामिसम्बन्धाऽभावेऽपि इमौ सयुक्ताविति प्रतीत्यन्यथानुपपत्त्या प्रकारान्तरेणैषा सम्बन्ध इति कल्पनाया एव प्रमाणभूतत्वात् अन्यथा परमाणूनामसम्बद्धानां जलधारणाद्यर्थक्रियाकारित्वमेवानुपपन्नं स्यात् । उशादीना चैकदेशाकर्षणे तदपरदेशाकर्षणमुपलभ्यमानं न स्यात् । अथामावप्रयुक्तव्यवधानस्य योऽभावस्तल्लक्षणनैरन्तर्याम्यादेर सयुक्तप्रतीत्याद्युपपत्तेः किमर्थान्तरसयोगकल्पनयेति चेत्, मैत्रम्, तद्भावमुखेन प्रतीयते न त्वभावमुखेनेति तस्य भावरूपत्वे नामान्तर एव त्रिवादात्, तथा च भावमुखेन प्रतीयमानस्य नैरन्तर्यात्मकस्यापि सयोगस्यानभ्युपगमे कार्योत्पत्तिरहेतुका स्यादिति सोऽभ्युपगन्तव्य एव, तस्मात्पूर्वापरकालसम्बन्धयोगेऽपि स्वभावमेदान्नैकान्ततः क्षणिकत्वम्, किन्तु नीलपीताद्याकारसमूहालम्बनज्ञाने यथा स्वरूपत एकत्वेऽपि नीलाकारत्वपीताद्याकारत्वरूपविभिन्नस्वभावत्वेनानेकत्वमविरुद्धं भवताऽभ्युपगतं तथैकस्मिन्नप्यक्षणीकरस्तुनि तत्तत्कालमन्वन्धप्रयुक्ता परापरस्वभावमेदेन कथञ्चिदनेकत्वमविरुद्धमित्येकानेकरूपतया प्रतीयमाने पदार्थे एकान्त



मेदानुषणस्या स्वप्रतियोग्युत्तरमाविभाजानपेक्षत्वेहेतोरसिद्धेः विनाशे स्वप्रतियोग्युत्पत्तिक्षणा  
व्यवहितोत्तरक्षणमावित्वसिद्धिर्नेति सिद्धम् । एनेन विनाशो निर्हेतुकः स्वप्रतियोग्युत्तरमावि  
हेत्वनपेक्षत्वादित्यनुमानेन निर्हेतुकत्वे सिद्धे विनाशः' स्वप्रतियोग्युत्पन्नन्तरमेव भवति  
निर्हेतुकत्वादित्यनुमानेन क्षणिकरूपसिद्धिरित्यपि निरस्तम्, मुद्गरादिना घटो च्वस्त इति  
प्रतीतेर्विनाशस्य निर्हेतुकत्वस्यैवाऽसिद्धेः । किञ्चान्वयव्यतिरेकप्रहाधीन एव कार्यकारणभाव-  
ग्रह इतीतरमकलकारणमद्भावे मति मुद्गरादिसत्त्वे घटध्वम, तदभावे तदभावा इत्यन्वय  
व्यतिरेकाभ्यां मुद्गरादहेतुत्वे सिद्धे विनाशस्य निर्हेतुकत्वं निर्णुक्तिक्रमेवेति पूर्वोक्तानुमानेन न  
क्षणिकत्वमिद्धिरिति । एतेन यो यन्मात्रहेतुको यो यदधीनत्वेन ध्रुवमावी वा स तदुत्पत्त्युत्तर-  
क्षणोऽवश्यमभ्युपगन्तव्य इति सामान्यव्याप्तिमूलक विनाशः स्वप्रतियोग्युत्पत्त्युत्तरक्षणोऽवश्य  
मभ्युपगन्तव्यः स्वप्रतियोगिमात्रहेतुकत्वात् स्वप्रतियोग्यधीनत्वेन ध्रुवभावित्वाद्देत्पनुमान  
मपि निरस्तम्, ध्रुववतिस्थितिरपि स्वाश्रयोत्तरक्षणेऽवश्यमभ्युपगन्तव्या स्वाश्रयमात्रहेतुक  
त्वात् स्वाश्रयाधीनत्वेन ध्रुवभावित्वाद्देत्यापत्तिप्रमङ्गात् । अन्ततो यदेव हेमद्रव्य कुण्डलरूपे  
णोत्पद्यते तदेवाङ्गदादिरूपेण विनश्यतीत्यादिप्रत्ययानुरोधेनोत्पादध्रुवयोरेकाधिकरणवृत्ति-  
त्वापापि द्रव्यरूपस्थित्यन्यस्याभ्युपगन्तव्यत्वापत्तेश्चेति । अथाऽक्षणिके क्रमेण तत्तत्कार्य  
कारित्वस्वभावत्वे तत्तत्कार्यभेदेन तत्तत्कार्यतानिरूपितकारणत्वस्वभावानां भिन्नत्वात्स्वभाव  
तद्द्वयोरभेदाद् यावन्तस्वभावास्तावन्छेदप्रमङ्गैर्नैकत्वमेव तस्य व्याहृत स्यात्, युगपदेव कार्य  
कारित्वस्वभावत्वे चानागतकार्याणामभ्युत्पत्तिप्रमङ्गः, अविकलकारणत्वात्, तथा चैकक्षण  
एव मकलकार्योत्पत्तिर्द्वितीयक्षणेऽकिञ्चित्करत्वेन गगनारविन्दतुस्योऽक्षणिकमात्रस्स्यात् । न  
चैको मात्रः सकलकालकलाभाविनीर्युगपत्सर्वाः क्रियाः करोतीति प्रातीतिकमपि । किञ्च  
क्रमेणार्थक्रियां माधयन् स्थितो भावो विवक्षिततत्तत्क्षणावच्छिन्नकार्यं प्रतीव तत्तदुत्तरक्षणा  
वच्छिन्नकार्यं प्रति समर्थस्वभाव किञ्चाऽममर्थस्वभावः, तत्र नाद्यपक्षो युक्तः, ममर्थस्व-  
भावस्य क्षेपाऽयोग इति विलम्बेन कार्यकरणे हेत्वभावेन कालान्तरभाविनीः क्रियाः प्रथम-  
क्रियाकाल एव प्रमङ्ग कृयात्, ममर्थस्य कालक्षेपाऽयोगात्, कालक्षेपाभ्युपगमे वाऽमामर्थ्य  
प्राप्ते, नापि द्वितीयपक्षमङ्गतः, अममर्थस्वभावात्तदुत्तरकालावच्छिन्नत्वेन कार्यं नोत्पद्येत  
ततोऽर्थक्रियाकारित्वाभावात्तदानीममद्रूप स्यात् । अथोत्तरकालावच्छिन्नकार्यं प्रति पूर्वका  
लावच्छेदनैवाऽममर्थं न तूत्तरकालावच्छेदेनापीति चेत्तर्हि उत्तरपूर्वकालावच्छिन्नमामर्थ्या  
सामर्थ्यलक्षणविरुद्धधर्माध्यस्तत्वेनैकस्या अपि व्यक्तेर्भेदप्रसक्त्या स्थैर्यं न स्यात् । ममर्थ  
स्यापि महकार्यपेक्षया त्रिलम्ब इति चेत्, तर्हि तस्य मामर्थ्यम्परमहकारिसापेक्षवृत्तिक  
सञ्जातमिति भावस्त्वतोऽममर्थस्वभावात्स्स्यात्, "सापेक्षममर्थम्" (पात० महा० ३. १-८)  
इति वचनात्, तस्य स्वतस्त्वामर्थ्यं वा महकारिद्वारोपजायमानानि कार्याणि स नैतोपेक्षेत,  
अपि तु सति त्वेव तानि घटयेत्, अन्यथा तत्त्वामर्थ्यस्वीकारोऽजागलस्तनवन्निःकलकस्स्यात् ।

किञ्च ते सहकारिणः किञ्चित्करा अकिञ्चित्करा वेति विकल्पद्वयम्, अकिञ्चित्करत्वे सहकार्यं  
 पेशानुपपत्तेः, किञ्चित्करत्वादेव तदपेक्षेति चेत् तत्र पृच्छामः किं कारणस्य स्वरूपलाभार्थं  
 महकार्यपेशा, उतोपकारार्थम्, किं वा कार्यार्थमिति, न प्रथम, स्वरूपस्य कारणाधीनस्य  
 नित्यस्य वा पूर्वसिद्धत्वात्, न द्वितीय, स्य समर्थेऽसमर्थे बोधकारस्यानर्थक्यत्वात् । नापि  
 तृतीयः, कारणस्य कार्यानुकूल्यमाध्वे सहकारिणमन्तरणापि तत एव कार्योत्पत्तेः, कार्यं  
 नुकुलाऽसमाध्वे च सहकारिणस्तत्त्वेऽप्युक्तस्वभावस्य तदस्यत्वादेव कार्योत्पत्तेस्तद-  
 कारिणोऽकिञ्चित्करत्वेन नापेक्ष्यत्व मन्भवतीति कार्यार्थमपि तदपेक्षाऽयोगादिति, अनेका  
 धीनस्वभावतया कार्योपपत्तेरिति चेत्, न, कार्यस्य पूर्वमभिद्वत्त्वेनान्यस्याऽपेक्षाऽयोगात् ।  
 स्वतन्त्रकारणानुविधायित्वे च कार्यस्य स्वतन्त्रकारणतदवान्यापक्षत्वाऽयोगात्, अथवा केय-  
 मपेक्षा नाम, किं तैस्सह करोतीत्यन्वयपर्यवसितः स्वभावभेदः, उत तैर्विना न करोतीति  
 व्यतिरेकपर्यवसायिस्वरूपविशेषः, आहोस्वित्तरूपकृत, करोती-पुष्पकारभेदः, आद्यपक्षे तैः सह  
 करोतीत्यत्र सहकारिमाहित्यार्थकं तैस्महेत्यन्तमुपलक्षणम्, किं वा विशेषणमिति विकल्पद्वयम्,  
 यद्युपलक्षण, तर्हि तस्य विशिष्टशरीराप्रविष्टत्वात्करोतीत्येतावन्मात्रस्य स्वभावत्वप्रसक्त्या  
 सहकार्येऽसमवधानकालेऽप्युक्तस्वभावस्य मद्भावनं कार्योत्पत्तिप्रसङ्गस्यात् । यदि विशेषण,  
 तर्हि कर्तृत्वम् सहकारिसाहित्यस्यापि स्वभावात्तुप्रविष्टत्वात् सहकारिणो न कदापि जह्यात्,  
 प्रत्युत पलायमानानपि तान् गले पाशेनाकृष्यान्वेत्, अन्यथा स्वभावहानिप्रसङ्गान्, अत  
 एव न द्वितीयोऽपि पक्षो युक्तः, पूर्ववत्सर्वदाऽकर्तृत्वप्रसङ्गान् । महकारिविरहादेनाऽकर्तृत्व-  
 स्वभावश्चेत् तर्हि कालान्तरेऽपि स्वहेतुप्रशादुपपत्तौऽपि महकारिणं पराणुच न कुर्यादव,  
 तद्विरहप्रयुक्ताऽकर्तृत्वस्वभावत्वात् । अयम्भावः—तैर्विनेत्यस्य विशेषणत्वात्तस्योक्तस्वभाव-  
 प्रविष्टत्वेन कदापि तत्परित्यागाऽभावेन सहकारिकालेऽप्युक्तस्वभावस्य मत्त्वेन तदानीमपि  
 कार्यं न कुर्यादिति । अथ सहकारिणु मत्सु कर्तृत्वमात्र, तद्विरहेऽकर्तृत्वमात्र इति स्वभावद्वय  
 भेदेति चेत्, तर्हि विरुद्धधर्माध्यासेनैकस्या अपि व्यक्तेर्नास्तत्प्रसङ्गेन स्थिरत्वहाने क्षणि  
 क्त्वात्सिद्ध्याऽस्माकमेव सिद्धिस्स्यात्, न चोक्तस्वभावद्वयस्य पूर्वोत्तरकालावच्छेदेनाभ्युप-  
 गमाच्च विरुद्धधर्माध्याम इति प्राप्यम् स्वभावात्तद्वतोरभेदात्स्वभावयोर्भेदं तदभिन्नधर्मिणोरपि  
 भेदस्यापश्यम्भावात्, एकस्य धर्मिणस्त्वाभिन्नस्वभावद्वयायोगात्, योगे वा तद्वद् धर्मिणो  
 ऽपि द्वैतप्रसङ्गस्यात्, धर्मिण इव स्वभावद्वयस्यापि वैक्यप्रसङ्गस्यात् तदभिन्नाभिन्नस्य  
 तदभिन्नत्वनियमादिति । स्वभावतद्वतोर्भेदं हिमाद्रिनिष्वाचलयोरिव मन्मन्वाऽयोगेन  
 स्वभावधोर्धर्मिणि मन्वाऽयोगेन निस्स्वभावत्वनामतो धर्मिणं किञ्चित्कार्यकारित्वं न  
 स्यादिति । तृतीयपक्षस्तु बहुमुखानुसंधादुरस्य, तथाहि-मर्बदोपकारप्रसङ्गपरिहाय सहकारी  
 कारणे उपकार सहकार्यन्तरमपेक्ष्यैव करोतीत्यभ्युपगन्तव्यम् । सहकार्यन्तरमपि महकारि-  
 ण्युपकार कर्तृत्वं सहकार्यन्तरमपेक्ष्यैव त करोति, तदपि महकार्यन्तर सहकार्यन्तरे महकार्य-

न्तरमपेक्षैव त विधत्ते, एवमग्रेऽपीत्यननस्थाऽऽद्या । महकारिकृतोपकारेण समर्थेन मर्दा  
 कार्योत्पादप्रसङ्गमीत्योपकारान्तरमपेक्षणीय स्यात्, तेनाप्यन्योपकारोऽपेक्षणीयस्स्यात्, तेना  
 प्यन्य इत्येव द्वितीयाऽननस्था । तथा महकारिणा कर्त्तव्यस्योपकारस्य धर्म्यभेदे महकारिणा  
 धर्म्येऽन्तरोत्पादितस्स्यात्, न चेद् युक्तम्, कारणीभूतस्य धर्मिणस्त्वनामग्रीत एतोत्पन्नत्वात्,  
 धर्मिभेदे तु तस्य क्रिमायातम्, भेदे सम्बन्धाऽयोगेन धर्मिणोऽनुपकृतत्वेन तदव्यवत्वात् ।  
 अथ भिन्नेनाप्युपकारेण धर्मिणि किञ्चिदुपकारान्तरमाधेयम्, तर्हि तेनापि तत्रान्यदाधेय  
 स्यादिति तृतीयाऽननस्थाऽऽज्ञातलाजलम्बिनी स्यादिति तदेवमक्षणिक क्रमयोगपद्याभ्या  
 मर्थक्रियाविरोधात्ततः क्रमाक्रमार्थ्या व्याप्ताऽर्थक्रिया व्यापकानुलब्धिबलाद् व्यापकनिवृत्तौ  
 निवर्त्तमाना व्याप्यमर्थक्रियाकारित्य निवर्त्तयति, तदप्यर्थक्रियाकारित्व व्यापक निवर्त्तमान  
 स्वव्याप्य सत्त्वं निवर्त्तयतीत्यक्षणिकस्यामत्र सिद्धे प्रकारान्तराभावात् क्षणिक एव मत्र  
 विश्राम्यतीति सत्त्वक्षणिकत्वयोर्व्याप्तिसिद्ध्या क्षणिकत्व सेत्स्यतीति चेत्, उच्यते, ममाधिः  
 क्षणिकेऽपि क्रमयोगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधस्याक्षणिकत्वादिनापि उक्तं शक्यत एव,  
 तथाहि-न हि कारणभेदमन्तरण कार्येष्व भेद उपलभ्यते, अन्यथैकस्मादेव कारणादनेक  
 कार्योत्पत्तिर्भवतीति भिन्नकार्योत्पत्त्यर्थं भिन्नकारणोपादानार्था प्रवृत्तिर्निष्फला स्यात्,  
 तथा चैकस्मादेव प्रदीपाद् युगपदेव स्वोपादेय-स्वविषयबुद्धान-घटादिविषयबुद्धान-तमोऽभि  
 मय-वर्त्तनिकारादयो भवन्ति, तत एकक्षणेऽप्येकस्य प्रदीपस्य कार्यभेदप्रयोज्यस्वभावभेदेन  
 मन्मतेऽनेकत्व स्यात्, एव पूर्वरूपस्योपादानभावेनोत्तररूप प्रति, महकारिभावेन चोत्तर  
 रसादिक प्रति कारणत्वादेकस्यापि पूर्वरूपस्यानन्तर स्यात्, स्वभावभेदमन्तरेण कार्यभेदाऽ  
 योगात्, एकस्वभावजन्यत्वे च तेषा कार्याणामेकत्वापत्तेः, स्वभावभेदे चैकत्वस्य व्याहते  
 नैकस्य युगपदनरुकार्यकारित्वमभीष्ट सिद्ध स्यादिति । अथ स्वभावभेदादेव कार्यभेदो  
 नेप्यते किन्तुपादानभेदादेवेति चेद्, भवत्वेव, तथापि स्वभावभेदोऽभ्युपगत एव, उपादान  
 भावेन सहकारिभावेन चैकस्य प्रदीपादे रूपादिक्षणस्य वा युगपदनकार्योत्पाद्युपयोगा  
 भ्युपगमात् । उपादानसहकारिस्वभावयोश्च परस्पर भेदात्, तथा च स्वभावभेदादेकस्या  
 अपि प्रदीपादिव्यक्तेर्नानात्वप्रसङ्गः स्यादिति । अथैकस्मिन् कार्ये य एवोपादानभावस्म एव  
 कार्यान्तरोत्पत्तौ महकारिभाव इति तयोरभेदान्न स्वभावभेद इत्यत इति चेत्, तर्हि किं मह  
 कारिरूप कारणमभ्युपगम्यते किं वोपादानरूपम्, न तावदाद्यप्युक्तं, उत्पादानम्यैवाभावात्  
 कुतस्तद्वेदात्कार्यभेदः । न द्वितीयोऽपि पक्षः ममीचीनः, यतः प्रदीपः स्वोपादेयकार्यं प्रति  
 यथोपादानकारण तथैव सहकार्यकार्यमात्र प्रत्यपि, यथा पूर्वरूपवृत्तरूप प्रत्युपादानकारण  
 तथैव समादिक प्रत्यपीत्युपादानभूतस्यैकत्वेनोपादानभेदात्कार्यभेद इति पक्षक्षतेर्भिन्नानि  
 कार्याणि न स्युः । एवमपि यदि क्षणिककारणस्यैक कार्यं प्रत्युपादानभाव एवान्यकार्यं  
 प्रति सहकारिभाव इति न शक्तिक्षणस्वभावभेदः, तर्ह्यक्षणिकस्यापि कारणस्य पूर्वकाला

वच्छिन्नकार्यकारित्वमेवोत्तरकालावच्छिन्नकार्यकारित्वम्, न त्वन्वदिति क्रमेणैककार्यकारि  
 णोऽपि न स्याच्छिन्नलक्षणस्यभावमेदं सार्यमाहूर्ध्वम् । न च पूर्वव्यावच्छिन्नकार्यकारि-  
 सामर्थ्यमेव यद्युत्तरक्षणानवच्छिन्नकार्यानुकूलमामर्थ्यं तर्हि तयोरेकदात्वं चानच्छेदेनैवोत्तर-  
 कार्यानुकूलमामर्थ्यसद्भावात् पूर्वव्यण एवोत्तरकार्योत्पत्तिप्रमङ्गस्वादिति बलव्यम्, अपि के-  
 ऽप्यस्य समानत्वात्, तथाहि—कारणस्य प्रथमक्षणानवच्छिन्नमत्तात्तन्ने द्वितीयवृत्तौपादि-  
 क्षणावच्छिन्नकार्यानुकूलसामर्थ्यस्याभावे उत्तरकालेऽपि तत्तत्कार्याणि न भुविगिति प्रथमवृत्ते-  
 ऽपि तादृशमामर्थ्यसद्भावेन युगपदेव तत्तत्कार्योत्पत्तिप्रमङ्गस्वात्, समर्थस्य क्षेत्रापोमाप्तिरिति  
 कार्यकारणयोरेककालीनत्वप्रमङ्गत्या कार्यकारणभाव एव विनश्येत् । नन्वाद्यवदे नर-  
 कारिरिहाश्रोत्तरक्षणावच्छिन्नकार्योत्पत्तिप्रमङ्ग इति चेत्, तर्हि जगिद्व्येवैपि दृश्यन्ते ।  
 अथोक्तमामर्थ्यस्योत्तरक्षणघटितत्वेन तन्नालिना कारणेन पूर्ववर्तिनोत्तरक्षणानवच्छेदेनैव  
 तत्तत्कार्योत्पत्ति, न तु प्रथमक्षणानवच्छेदेनेति यदि ब्रूयाच्चदाऽप्यधिक्यवादेऽपि मन्त्र-  
 वत् । तन्न क्षणिकपक्षे युगपत्सार्यकारित्वं युज्यते, नापि क्रमिककार्यकारित्वं श्रद्धिद्वयमिति  
 प्रमाणपद्धतिमवलम्बते, सर्वकालमभिन्नस्वरूप एव वस्तुनि तस्य घटमन्वात्, देहद्वय-  
 कालकृतस्य च क्रमस्य तत्र सम्भवात् । प्रतिक्षणविनाशिनो च भाव नानादेशकाल-  
 लक्षणस्य देशक्रमस्य नानाकालव्याप्तिलक्षणस्य कालक्रमस्य चाप्यन्वत् । यथा —

“ यो यत्रैव स तत्रैव, यो यदैव तदैव सः ।  
 न देशकालयोर्व्योति, - भवानामिह विद्यते ॥ १ ॥ ” इति ।

अन्यथा तत्पूर्वापरक्षणोत्पद्यमानघटपटमठादीनामपि क्रमव्यवस्थानुसारेण क्रमिक-  
 कारित्वेन क्रमिककार्यकारित्वप्रमङ्गरूपातिप्रमङ्गस्वात्, अथ यद्यपि अत्र प्रतिक्षणात्तर-  
 मान क्षणिकपदार्थो भिन्नभिन्न एव तथापि पूर्वापरक्षणवर्तिनां तेषां सौम्यात्तत्कार्यकार्यव-  
 मायात्कालनिकैकत्वेन क्रमकारित्वम्, क्रमोत्पद्यमानघटपटादीनां तु तदभावात् तदा-  
 मित्यपि न च उक्तव्यम्, सर्वतो व्यावृत्तस्तुवादिना भिन्नेषुमेवैवगारिभ्रान्तिनिमित्तस्य  
 वस्तुभूतसाधर्म्यस्याभावात्, न चैकपरामर्शप्रत्ययद्वयत्वेन भावस्यैवमन्वयगत्यस्य, चतु-  
 रूपालोकमनस्कारेष्वपि तस्य प्रमङ्गते, कालनिक्रमादृश्यस्य तावन्नान्निमित्तस्यैव च  
 कल्पनाया निरहृदयत्वेन सर्वत्र तन्प्रसङ्गात् । वास्तविकमादृश्यस्य चाभ्युपगम इत्य यदि  
 क्षणिकप्रसङ्गरीकरोपि न तर्हि क्षणेभ्यः कश्चिद्विशेषः । अथाश्रद्धिद्वयमिति चेत्, तर्हि  
 पर्यवसित क्षणिकवादेन, अक्षणिकस्य मादृश्यस्य सद्भावात्, अभिहितं न्यायमज्ञयां—

“ अथापि नित्यं परमार्थसन्त, सन्ताननामानमुपैपि भावम् ।  
 उत्तिष्ठ भिक्षो फलितास्तवाशा, मोऽयं समाप्त. क्षणमङ्गवाद ॥ १ ॥ ” इति

तदेव क्षणिके क्रमयोगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधात्ततोऽर्थक्रियानिवृत्तौ तद्व्याप्य सत्त्वं व्यापकानुलब्धिबलेनैव निवर्त्तमान गत्यन्तराऽभावादक्षणिक एवावकाश लभत इति साध्यविपर्ययसाधनात्सन्नहेतुर्विरुद्ध इति न तेन क्षणिकत्व सिध्यति । यच्च समर्थस्वभावस्य शेषाऽयोग इति विलम्बेन कार्यकरणे हेत्वभावेन कालान्तरभाविनीः क्रियाः प्रथमक्रियाकाल एव प्रसह्य कुर्यादिति पूर्वोक्त, तत्र सहकारिसान्निध्ये सति शेषाऽयोग इति वदामः, तथा च सहकार्यसन्निधेर्विलम्बो युक्त एव, तथाहि— सहकारिषु सत्सु करोति तैर्विना न करोतीत्ययमस्य स्वभावो दर्शनबलादेवावगम्यते, एवविधस्वभावस्य विरोधाभावादुभययादिसिद्धत्वाच्च, यतः क्षणिकोऽपि हि कुर्वद्रूपो मानः सहकारिभिः सहैव करोतीति स्वभावो भवद्विरभ्युपगन्तव्य एव । इतरथा सहकारिणामसहकारित्वप्रमङ्गस्स्यात् । ननु नैते सहकारिणः, किन्तु सहितकारिण इति चेत्, तद्धैकैकस्य सामर्थ्ये पृथगेव कार्यजननापत्तिः, अमामर्थ्ये सहितकारित्वमपि न भवेत्, न हि पण्ड इतरसहकृतोऽपि पुनोत्पादको दृष्ट इति । अतस्सहकारिभिस्सहैव करोतीति नियमे सति तैर्विना न करोतीति विपर्ययनियमोऽप्यागत एव, अतः सहकार्यसन्निधेर्विलम्बो युक्त एव । कारणस्य स्वरूपलामार्थं सहकार्यपेक्षा उतोपकारार्थं किं वा कार्यार्थमिति विकल्प्य यदुक्तं, तदप्यसङ्गतमेव, यतः कारणस्य फलोपधानात्मरूपाकारणताशालिरूपमेव सह कार्यपेक्षम्, सहकार्यपेक्षमेव च स्वरूप सामर्थ्यशब्देनाप्युच्यते, तथा च सहकारिसत्तापीन सत्ताकतया सामर्थ्यं सहकार्यपेक्षयैव स्वस्वरूपता विमर्त्तति तदपेक्षाऽऽन्यकीति सहकारिसहितस्यैव समर्थत्वान्न पूर्वोक्तदोष इति । यच्च तैस्सह करोतीत्यत्र सहकारिसाहित्यार्थकस्य तैस्सहेत्यस्य विशेषणत्वे कर्तृत्वन्तसहकारिसाहित्यस्यापि स्वभावानुप्रविष्टत्वात् सहकारिणो न कदापि जहादित्युक्तम्, तदपि तथाऽपि समानमेव, सहकार्येऽसाहित्ये सति न करोतीति नियमे सहकारिणः स्वकारणादागच्छतोऽपि निवार्य न कुर्यात्, तैर्विना हि न करोतीत्ययमस्य स्वभाव इति । तस्माद् यद्युपनिबन्धेन यदि सहकारिणस्स्वकारणादागच्छे- युस्तदा कुर्यात्, यदि नागच्छेद्युस्तदा न कुर्यादित्येवविधे स्वभावे न कश्चिदोप इति । स्यादतत्—तैस्सह करोति तैर्विना न करोतीति योऽस्य स्वभावः न पश्चादस्ति न वा, अस्तीति पक्षे कारणोत्पत्तिकाल इव कार्योत्पत्तिकालेऽपि व्यतिरेकस्वभावस्य विद्यमानत्वेन सहकारि साहित्ये सत्यपि कारण कार्यं न कुर्यात्, अन्यथोक्तव्यतिरेकस्वभावहानिप्रसङ्ग इति । नास्तीति पक्षे सुतरां तद्वतोऽप्यभावः, न हि स्वभावमन्तरेण स्वभाविनस्सत्त्वं युक्तमित्य- स्मन्मताभ्युपगमः कृतस्यादिति चेत्, तदपि तथापि मते समानमेव, तैस्सह कुर्वतो योऽस्य तैर्विना न करोतीति स्वभावः स यद्यस्ति, तदा न कुर्यादेव, तथा च क्षणिक बाधवादोऽप्युच्छिद्येत, क्षणिकभावस्य द्वितीयक्षणावच्छेदेनाप्यर्थक्रियाकारित्वाभावेना- लीकरूपत्वादिति । यदि स नास्ति, तदा व्यतिरेकव्यावृत्तावन्यव्यावृत्तिरिति स्वरूप

हानिप्रसङ्गः । तथा च बाह्यवादोच्छित्तिरेव, अन्वयव्यतिरेकस्वभावद्वयमूर्त्तिकत्वात्क्षणिक-  
भावस्य, स्वभावद्वयस्य च मिथोऽनुस्यूतत्वादेकस्याभावे तन्निवृत्तद्वितीयस्याप्यभावेन  
निस्स्वभावत्व स्यादिति भावः । निर्विशेषणत्वेन शुद्धस्वरूपवर्ष्यस्त्येव, सहकारिभिर्विना न  
करोतीति व्यतिरेकस्वभावमात्र तु तत्र नास्तीति चेत्, ममापि कार्याकरणकाले सहकारि-  
साहित्यस्य विशेषणस्याभावात्तद्विशिष्टान्वयस्वभावस्याभावेऽपि निर्विशेषणत्वेन शुद्धस्वरूप  
वर्ष्यस्त्येवेति ममः समाधिः, अन्यत्सर्वमनभ्युपगतोपालम्भमात्रमित्युपेक्षणीयमेवेति ।  
तदेव सुन्दोपसुन्दन्यायेनैकान्तक्षणिकाऽक्षणिकपक्षयोर्मिथः प्रतिहन्तृत्वात्त्रैकोऽप्येकान्तपक्षो  
युक्तः, किन्तु मिथस्मापेक्षभावेन स्याद्वादपक्ष एव युक्तः, गुडनागरसयोगजन्यद्रव्यान्त-  
रस्य विलक्षणतया कफपिचोमपनाशकत्ववत् कथञ्चित्क्षणिकाक्षणिकोभयरूपत्वेनानैकान्ता  
त्मकवस्तुनो जात्यन्तररूपतया तत्र प्रत्येकपक्षमाविदोपविनाशकत्वेन निराबाधस्वरूपतयो  
मयपक्षमाविदोपशङ्काकलङ्काऽकान्दिशीकत्वात् । एतच्च मविस्तरमस्मत्कृतस्याद्वादविन्दुतो  
ऽनस्येयम् । अभिहितञ्च कलिकालमर्बुञ्जश्रीहेमचन्द्राचार्येणान्ययोगव्यवच्छेदिकायामपि—

“ य एव दोषा. किल नित्यवादे, विनाशवादेऽपि समास्त एव ।

परम्परध्वंसिषु कण्ठकेषु, जयत्यघृष्य जिन ! शासन ते ॥ २६ ॥ ” इति

ननु स्याद्वादपक्ष एव युक्त इत्यत्र को हेतुरिति चेत्, उच्यते, एकस्मिन्नेव देवदत्त  
आपेक्षिकप्रुपवितुनप्टुमागिनेपादिनानाव्यवहारस्यापेक्षिकलघुत्वमहत्त्वादिव्यवहारस्य चान्य-  
थाऽनुपपत्त्या यस्तुमात्रे धर्मिन्यस्वभावेनैकत्वस्येव परमार्थभूतेनौपाधिकस्वभावभेदेनाने  
कत्वस्यापि वस्तुभूतस्यानुभूयमानत्वादित्येव जानीहि । अत एव कार्यतात्मकनिरूपक  
भेदेन कारणतास्वभावभेदस्तावदन्यैरप्येकत्रावश्य स्वीकर्तव्य एव, अन्यथा विविक्तव्यव  
हारोच्छेदस्स्यात्, न च स्वभावभेदः काल्पनिक इति विविक्तव्यवहारोऽपि कल्पनाशिल्पि-  
निर्मित एवेति वाच्यम् । तथा सति—

“ सर्वं वै खरिचद ब्रह्म, नेह नानास्ति किञ्चन ।

आराम तस्य पश्यन्ति, न तत्पश्यति कश्चन ॥ १ ॥ ”

इत्याद्युक्त्या ब्रह्मपरिचयं जगदिति द्रुवाणस्याभेदवादिवेदान्तिन एव विजयस्स्यात्,  
वैर्जगज्ज्ञानात्वस्य कल्पनामूलत्वेनाभ्युपगमात् । तस्मात्स्वभावभेदस्याऽपि परमार्थभूतत्वेन  
तत्प्रयोज्यानेकत्वस्यापि वास्तविकतयैकानेकस्वभावस्य वस्तुनः कथञ्चिन्नित्यानित्यतयैवार्थ  
क्रियाश्रमत्वमवसेयमित्यल पल्लवितेन, गौरवमीत्या नाधिक प्रतन्यते । एतेनैकान्तद्रव्यमात्र  
वादोऽपि निरस्तः, कार्यकारणभावाभावे प्रवृत्तिनिवृत्त्युपेक्षाव्यवहाराऽभावेन निरीह जग  
त्स्यात्, न च कार्यकारणमात्र. पारमार्थिको नास्ति, काल्पनिकस्त्वस्त्येवेति नोक्तदोष इति  
वाच्यम्, तस्यानेकप्रमाणसिद्धत्वेन सर्वलोकैरविगानेनाभ्युपगतत्वेन पारमार्थिकत्वात्, काल्प

निकृत्वे च प्रमाणाऽभावादिति । यद्यपि ब्रह्मैकान्तवादस्तु पूर्वमेव निरस्तस्तथापि किञ्चिन्निर-  
स्यते, यद्य ब्रह्मैकान्तवादिना ' ब्रह्मैव सत् ' इत्याद्युक्तं तन्न समीचीनम्, सन् घटा सन् पट  
इत्यादिप्रत्यक्षात्मकप्रतीतौ चक्षुरिन्द्रियजन्यायां नीरूपस्य ब्रह्मणः सद्रूपस्य भानामम्भ-  
वेनोत्पादव्ययध्रौव्यात्मकत्वलक्षणसत्त्वस्यैव कथञ्चिद् घटाघातमकस्य चक्षुरादीन्द्रिययोग्य-  
स्योक्तप्रतीतौ भाममानत्वेन सद्रूपस्य ब्रह्मणोऽभिद्वेः, उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकत्वस्य कथ-  
ञ्चिदनुगतत्वेन सदशे उक्तप्रतीतेरनुगतावगाहित्वात्स्याद्युपपत्तेः, अतिरिक्तमत्तात्वादिनैपा-  
यिकादिमते तादृशसत्तासम्बन्धस्य भेदाभेदादिविकल्पदूषितत्वेन भानापाकरणेऽपि जैनाभ्यु-  
पगतोत्पादव्ययध्रौव्यात्मकत्वस्य घटादिभिस्सम कथञ्चिद्भिन्नाभिन्नस्य विकल्पतो निरसितु-  
मशक्यत्वात्, प्रपञ्चो मिथ्या दृश्यत्वादित्याद्यनुमानानां प्रपञ्चमिथ्यात्वसाधकानामपि  
मिथ्यात्वेन स्वयमेव वेदान्तिनाऽभ्युपगततया तैमिथ्यात्वसिद्धेरसम्भवाच्च सद्रूपस्य जगतो  
ब्रह्मविवर्त्तत्वमिति ' जगत्तद्विवर्त्तरूपम् ' इत्यभिधानमप्यमङ्गताभिधानमेव, जीवकोटिव्य-  
तिरिक्त ईश्वरो यथा न युक्त्या मिद्ध्यति तथा ब्रह्मापि, इति ब्रह्मप्रतिपादक आगमोऽष्टविध  
कर्मविनिर्मुक्त जीवात्मानमेव प्रतिपादयतीति न तेन जीवकोटिर्नहिर्भूतस्य ब्रह्मणः सिद्धिः,  
यदा च ब्रह्मविवर्त्तरूपं न जगत्, किन्तु प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धस्वस्वकारणप्रभवघटादिसत्य-  
स्वरूपमेव, तदा ब्रह्मणि जगदारोपफलकतया दोषविधयाऽविद्याऽज्ञानादिपदवाच्याया  
परिणामिकारणात्मिकाया मायायाः कल्पनाऽपि युक्तिशून्यैवेति ' मायायाश्च अज्ञानपदवा-  
च्याया विकाररूपं जगत् ' इति कथनमपि युक्तिरिक्तमेव, एवञ्च, ' तथा च ब्रह्मणो विवर्त्तः  
अज्ञानविकारश्च जगत् ' इति निगमन दूरापेतम्, यदा न मायैव नास्ति तदा—

“ अयं जीवो न कूटस्थः, विविनक्ति कदाचन ।

अनादिरविवेकोऽयं, मूलाविद्येति गम्यताम् ॥ २५ ॥

विक्षेपावृत्तिरूपाभ्या, च । व्यवस्थिता ।

न भाति नास्ति कूटस्थः ॥ २६ ॥

अविद्यावृत्तकूटस्थः,

शुक्तः

इत्यादिपञ्चदश

परीक्षकैः, तथा चैते

कार्यं किन्तु तद्विन्नमे

वा तत्त्वमिति नियमेनै

तदेव

तत्, किन्तु

तदभावरूपाऽभ्रजादिधर्मस्याऽप्येकस्मिन् वस्तुन्यनुभूयमानत्वेन तदात्मकत्वेनानेकान्तात्मकमेव, न च सत्तदभावरयोर्निरोधानैकप्र सत्त्वम्, येन तदुभयात्मकत्वेनानेकान्तात्मकं वस्तु प्रमाणकोटिप्रविष्टं स्यादिति वाच्यम्, प्राचीननैयायिकमते शाखायां वृक्षः कपिसयोगी न मूले इत्यबाधितानुभवलात् शाखामूलादिविमिक्त्वावच्छेदेनैकस्मिन्नेव वृक्षे कपिसयोगतदभावरयो-  
रिव नव्यनैयायिकमते शाखामूलान्च्छेदेन कपिसयोगितद्वेदयोरिव बौद्धमते चित्रज्ञाने नीला कारत्वपीताकारत्वयोरिव स्वद्रव्यादिपरद्रव्यादितत्त्वमित्तापेक्षया तयोरप्यनिरुद्धत्वात्, अत एवाविरोधघोतकरपात्पदघटितमेव वाक्यं प्रयुञ्जते स्याद्वादतत्त्वज्ञा। ।

“अप्रयुक्तेऽपि सर्वत्र, स्यात्कारोऽर्थात्प्रतीयते ।

विधौ निषेधेऽन्यत्राऽपि, कुशलश्चेत्प्रयोजकः ॥ १ ॥”

इत्युक्तेर्यत्रापि स्यात्पदाऽप्रयोगस्तत्रापि सर्वत्रार्थात् प्रतिपत्ति एकान्तव्यवच्छेदाय, शृङ्खः पाण्डुरः पार्थो धनुर्धरः, नील सरोज मवतीत्यत्रायोगस्यान्ययोगस्यात्यन्ताऽयोगस्य व्य-  
वच्छेदायाप्रयुक्तमप्येतरं प्ररुणमामर्ष्यात्तद्विदोऽवगच्छन्ति, तद्वदिति । निरुद्धधर्मद्वयस्य तत्त्वमित्तापेक्षयाऽनिरोधानभ्युपगमे नैयायिकवैशेषिकमते भ्रान्तज्ञाने धर्म्यपेक्षया प्रामाण्य-  
प्रकारापेक्षया चाऽप्रामाण्यमित्येव प्रामाण्याप्रामाण्ये न स्याताम् । गार्ह्यमतेऽपि एकस्या एव प्रकृतेस्त्रिगुणात्मकत्वं न स्यात्, बौद्धमतेऽपि चैकस्मिन्नेव चित्रज्ञाने नीलाकारत्वपीताकार-  
त्वादिकं न स्यात्, उत्तररूपं प्रति पूर्वरूपस्योपादानकारणत्वम् उत्तररूपप्रति निमित्तकार-  
णत्वमित्यपि न स्यात्, स्वीकृतशोक्तवादिभिः प्रामाण्याप्रामाण्यायुक्तधर्माऽनिरोधो भ्रान्त-  
ज्ञानायुक्तस्यैविति तत्र स्याद्वादमवलम्बमानास्ते वादिनो यदि मलज्जास्तदा भगवस्तत्र मत-  
नैव निन्दन्ति, तन्निदायाः स्वपदकुठारप्रहारतुल्यत्वात् । यदुक्तं खण्डखाद्ये श्रीमहा-  
वीरस्तवापरनामके—

“साङ्ख्य प्रधानमुपयस्त्रिगुण विचित्रां, बौद्धा धिय विशदयन्नथ गौतमीयः ।

वैशेषिकश्च सुवि चित्रमनेकमेकं, वाञ्छन् मतं न तत्र निन्दति चेत् सलज्जः ॥

४४ ॥” इति ।

कलिकालमर्षजश्रीहेमचन्द्रसूरिभिर्नीतरागस्तोत्रेऽप्युक्तम्—

“चित्रमेकमनेकं च, रूपं प्रामाणिकं वदन् ।

यौगो वैशेषिको चाऽपि, नानेकान्तं प्रतिक्षिपेत् ॥ १ ॥” इति

तथा चोक्तनीत्याऽनेकान्तात्मकतया वस्तुनि सिद्धे सर्वेऽपि सद्ब्रह्मादयो नयाः परमय-  
धिपयाणामपि कथञ्चित्सद्रूपतया तदमत्यज्ञापनाऽनमर्षतयात्र गजनिमीलिकान्पायेनौदा-  
सीन्यद्वयया वस्त्वेकदेशरूपस्वरूपपरिच्छेदरूपत्वात्तद्वति तत्प्रकारकत्वेन मध्यज्ञानरूपा



तद्विषयकस्य पर्यायार्थिकनयस्य प्रवृत्तिरेव न स्यात्, प्रवृत्तौ वा द्रव्यार्थिकनयनिरपेक्षैव  
 तत्प्रवृत्तिर्भवेत्, यदा तु द्रव्यार्थिकनयस्य भेदरूपो विशेषरूपो यो व्यवहारस्त द्रव्यपृथि  
 व्यादिरूपेण विशेषस्वरूपमपि स्वीकरोति तदा तद्विशेषावान्तरविशेषपरम्परापर्यालोचनया  
 पर्यायार्थिकनयत्रिपयः क्षणिकादिविशेषोऽपि भेदरूपो विचारमार्गमवतरत्येवेति सूत्रा पर्या  
 यार्थिकनयप्रवृत्तिस्तद्विषयेति, तदुभयनयापेक्षया कथञ्चिद्भेदसम्पृक्तताऽभेदात्मरूपेव वस्तु  
 म्युपगन्तव्यमिति भावः ॥ २९ ॥

एव कथञ्चिद्भेदाभेदरूप वस्तुपदस्य भेदस्य पर्यायार्थिकनयविषयस्य द्वैविध्यमाह—

सो उण समासओ धिय, वजणणियओ य अत्थणियओ य ।

अत्थगओ य अभिन्नो, भइअब्बो वजणणियप्पो ॥ ३० ॥

पर्यायार्थिकनयविषयविशेषात्मरूपभेदोऽपि शब्दनयनियन्धनोऽर्थनयनियन्धनश्चेति द्वि  
 भेदः, तत्र द्वितीयभेदरूपोऽर्थनयविषयोऽर्थपर्याय एकविध एव, अर्थनयेन सङ्ग्रहव्यवहारजुद्धत्र  
 लक्षणानामिन्नार्थपर्यायाभ्युपगमात्, शब्दनयत्रियव्यञ्जनपर्याय आद्यभेदलक्षणस्तु भिन्नोऽभि  
 न्नश्चेति भेदद्वयात्मक, तत्र साम्प्रताख्यशब्दनय एकस्यार्थस्यानेकरूपपर्यायशब्दो वाचक इत्यतो  
 भिन्नः, समभिरूढनये एवम्भूतनये चैकस्यार्थस्यैक एव शब्दो वाचक इत्यतोऽभिन्न इति  
 सङ्घितार्थः । विस्तृतार्थस्त्वेवम्—'सो उण समासओ धिय' स इति तच्छब्दरूपम्, तच्छब्दश्च  
 पूर्वोपदेशितपरामर्शक इति स पर्यायनयत्रिपयः पूर्वप्रदर्शितो विभाग पुनस्तमासतः सङ्घेपतो  
 द्विविध एव, द्विविधत्वमेवाह—'वजणणियओ य अत्थणियओ य' व्यञ्जननियतश्च—व्यञ्जयते प्रकृ  
 टीक्रियत चोप्यतेऽर्थोऽनेनेति व्यञ्जन शब्दः, लक्षणया व्यञ्जनपदेन शब्दप्रधानतत्त्वाच्छब्दनयो  
 ग्राह्यः, तन्नियतः तन्नियन्धनः । अर्थनियतश्च—अर्थनये—परिच्छिद्यते इत्यर्थः, प्रकृतेऽर्थपदेनार्थ-  
 प्रधानत्वादर्थनयो ग्राह्यः, तन्नियतः—तत्प्रयुक्तः, चस्तमुच्ये । तत्र प्रथम द्वितीयभेदस्यैक  
 विधत्वमुपदर्शयितुमाह—'अत्थगओ य अभिण्णो' अर्थगतश्च अभिन्नः, चशब्दस्तुशब्दार्थे,  
 अर्थगतस्तु विभागोऽभिन्नः "अत्यप्पर सहोवमज्जण वत्थुमुज्जुसुत्ता" इति भाष्यरचना  
 त्तद्ग्रहव्यवहारजुद्धप्रान्ता अर्थनयाः, शब्दोपसर्जनतयाऽर्थप्राधान्येनैव उक्तः प्रत्ययोत्पत्तेः,  
 ते चार्थप्रधानतत्त्वाच्छब्दत्वद्वर्ध्मभेदार्थभेद नाभ्युपगच्छन्तीति तद्विषयोऽर्थपर्यायोऽभिन्नः  
 एकप्रकारः, सङ्ग्रहोऽसङ्ग्रहवच्छेदेनाभिन्नमद्रूपार्थपर्याय व्यवहारोऽद्रव्यव्यवच्छेदेनाभिन्नद्र-  
 व्यात्मकार्थपर्यायश्च श्रजुसुओऽतीतानागतव्यवच्छेदेनाभिन्नरत्तमानाऽर्थपर्यायश्च मनुत इति  
 सङ्ग्रहाद्यर्थनयविषयस्य क्रमशोऽमदद्रव्यातीतानागतव्यवच्छिन्नाभिन्नार्थपर्यायरूपत्वात्,  
 तद्विषयकार्थनयत्रिपयः 'अर्थगतो विभागोऽभिन्नः' इत्युच्यते, अर्थनयत्रियोऽर्थपर्याय एकविध  
 इति भावः ।

पूर्वोक्ताद्यभेदस्य द्विविधत्व

'वजणणियप्पो' भूक्तव्यो

व्यञ्जनविकल्पः, “सद्व्यपहाणमत्थोऽगज्जण सेमया चिंति” इति भाष्यवचनादर्थोपसर्जनतया शब्दप्राधान्येन श्रोतु. प्रत्ययोत्पत्तेः शब्दमभिहृद्वैरभूताख्यशब्दनयत्रयत्रियव्यञ्जनपर्यायो माज्यो विकल्पनीयः, शब्दनये स्वस्वराचर्यात्तच्छब्दाख्य एकोऽर्थः, ममभिरूढादिमये शब्द- तद्धर्ममेदेनार्थमेदाभ्युपगमादेकार्थवाचकपर्यायशब्दाभावात् पर्यायत्वेन शब्दनयाऽभ्युपगत शब्दमेदेन भिन्नोऽर्थः, तथा चैकस्यार्थस्यानेकशब्दो वाचक इत्यतो भिन्नो व्यञ्जनपर्यायः, एक- स्यार्थस्यैक एव शब्दो वाचक इत्यतोऽभिन्नो व्यञ्जनपर्याय इत्येव न भिन्नोऽभिन्नश्चेत्यर्थः । अयम्भावः—शब्दनयस्तावत्समानलिङ्गानां समानरचनानां शब्दानां मेदेऽपि तद्वाच्याऽर्थमेद नाभ्युपैति घटकृत्कुम्भरुलशादिपर्यायशब्दमेदेऽपि तद्वाच्यस्यार्थस्य भावघटात्मकस्यैक्यात्, तथा च तन्मते समानलिङ्गसमानरचनान्तपर्यायशब्दमेदेऽप्यर्थैक्याभ्युपगमेनानेकाभिधानो भिन्नो व्यञ्जनविरूपः, अत्रार्थस्याऽमेदेऽपि प्रधानीभूतवाचकशब्दमेदाद्भिन्नो व्यञ्जनपर्याय इति मायः । ममभिरूढनयस्तु नैवमह्नीकरोति, शब्दनयेन भिन्नालिङ्गभिन्नरचनानां स्त्री द्वारा आपो जलमित्यादिशब्दानामभ्युपगतस्याऽर्थमेदस्येव ममभिरूढनयेन समानलिङ्गसदृख्या- वचनानामपीन्द्रशक्रपुरन्दरादिशब्दानां घटरुलशकुम्भनिपादिशब्दानाञ्च स्वस्वराचर्या- मेदस्याभ्युपगमात्, घातुप्रत्ययनिष्पन्नतत्तच्छब्दभिन्नमिन्नव्युत्पत्तिप्रतिपाद्यभिन्नमिन्नक्रिया निमित्तकानां तेषां भिन्नार्थत्वात्, निमित्तमेदाचार्यभेदो दृष्टः, लत्रिदण्ड्यादिवत् । तथा चेन्द्रपुरन्दरादिशब्दा न पर्यायात्मका भिन्नव्युत्पत्तिनिमित्तात्मकप्रवृत्तिनिमित्तत्वादित्य तस्तन्मते एकार्थ एवशब्दः, एकस्यार्थस्यैक एव शब्दो वाचक इत्यभिन्नो व्यञ्जनविरूपः । एवमभूतनयस्तु व्युत्पत्तिनिमित्तक्रिया यदैव य करोति तदैव तच्छब्दवाच्यस्मोऽर्थ इत्य भ्युपैति, नान्यदेति चेष्टासमप एव घटो घटशब्दवाच्यः, अन्यथाऽतिप्रसङ्गादिति तत्तत्क्रिया- विशिष्टस्यार्थस्य तत्तत्क्रियाव्युत्पत्तिनिमित्तक एव एव शब्दो वाचक इति तन्मतेऽप्यभिन्नो व्यञ्जनविरूप इति । ननु व्यञ्जनविकल्पशब्दात्मा, स च वस्त्वन्तरत्वान्न पुरुषादेर्द्रव्यस्य धर्मः, येनासौ तस्य व्यञ्जनपर्यायो भवेदिति, चेत्, मैरम्, नामनामवतोरभेदाश्रयणेन पुरुष इति वाचकशब्दोऽपि पुरुषरूपार्थस्य व्यञ्जनपर्याय इत्यभ्युपगमादिति ॥ ३० ॥

अथ यद्वस्तु सङ्गहविषयेण मद्रूपेणैक व्यग्रहारविषयेण च द्रव्यत्वादिरूपेणैक ऋजुसूत्रा- दिपर्यायार्थिकरुनयविषयेण पूर्वोक्ततत्तद्विशेषरूपेणानेकमित्येवमेकानेकरूपरूप प्रदर्श्य तदेव वस्तु त्रैकालिकानन्तार्थपर्यायव्यञ्जनपर्यायात्मकत्वादनन्तप्रमाणमित्युपदर्शयितुमाह—

एगदवियम्मि जे अत्थपज्जया वयणपज्जया वावि ।

तीयाणागयभूया, तावहय त हवइ दच्च ॥ ३१ ॥

चतुर्थचरणोक्त ‘त’ इति यत्पद तेन सह यच्छब्दस्य सम्बन्धाद् ‘एगदवियम्मि’

यस्मिन्नेकद्रव्ये जीवादौ 'जे' ये 'अत्थपज्जया' अर्थपर्यायाः-अर्थग्राहकाः सहग्रह-व्यवहार-  
 क्रतुसूत्राख्याः, तद्वाह्या वा तत्तदर्था, 'वयणपज्जया वावि' वा-अथवा, वचनपर्याया अपि,  
 शब्द-समभिरूढ-एवम्भूताख्याः शब्दनया अपि ग्राह्यपदार्थस्यानन्तप्रमाणत्वे तत्तदर्थाह-  
 कतया परिणतानां नयानामप्यनन्तप्रमाणत्वमिति सूचनपराः, तद्विषयीभूता वस्त्वशा वाऽपि,  
 यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात्ते 'तीयाणामयभूया' अनीतानामतभूता अतीतानामतवर्चमानकाला-  
 वच्छिन्नविषुत्तविवर्त्तित्वमाणाप्रित्तमानानन्तपरिणामाः 'चतुर्थचरणोक्तस्य 'ताइय' इत्यस्य  
 यावच्छब्देन सह नित्यसाकाङ्क्षत्वाद् यान्तः " तावहयं त हइ दव " तावत्प्रमाण तद्रव्य  
 भवति, पर्यायाणामानन्त्यात्कथञ्चित्तदभिन्नप्रमाख्यद्रव्यमपि तावत्प्रमाण भवति, पुद्गलप-  
 र्यायत्वावच्छिन्नम्प्रति पुद्गलद्रव्यत्वेन पुद्गलद्रव्यस्योपादानभावः, न तु जन्यपृथिवीत्वानच्छि-  
 न्मप्रति पृथिवीत्वेन जन्यजलत्वानच्छिन्न प्रति जलत्वेनेत्यादिरूपेण स, उपादानकारणतश्च  
 शक्तिविशेषरूपम्, न तु तदतिरिक्त सखण्डरूपम्, तत्राभिव्यञ्जकविषया पुद्गलत्वमवच्छेदक  
 मित्यतो मयूराण्डकरसे शिरोग्रीवाचञ्चुनेत्रपिण्डोदरचरणादितत्तदनेकावयवतद्गततत्तद्रूप-  
 रसाद्यनुकूलानन्तशक्तिवदुपादानाभूतपुद्गलपरमाणुव्यतीतानामतवर्चमानानन्ततत्तत्पुद्गल  
 पर्यायपरिणामनशक्तिसद्भावादनन्तकालेन विज्ञप्ताप्रयोगादितत्तत्तामग्रीसमवधाने सति  
 सर्वेषु वस्तुना सर्वोवस्थानां परस्परानुगमेनादादितत्त्वादवस्थानुत्थावस्थानां कथञ्चिदनन्य  
 त्वाद् घटादयस्सर्वे पदार्थाः पटपुरुषादिमूर्त्स्वरूपेणापि कथञ्चिद्विषुत्ता विवर्त्तन्ते विवर्त्ति-  
 प्यन्त इति सर्वं सर्वात्मक कथञ्चिदिति स्थितम्, दृश्यते चैक पुद्गलद्रव्यमतीतानामत  
 वर्चमानद्रव्य-गुण-रुर्भ-साभान्य-विशेष-परिणामात्मक युगपत्कमेणापि तत्तथाभूतमेव,  
 एकान्ताऽमत उत्पादायोगात्, सतश्च निरन्वयत्रिनाशामम्भरादिति । अत एव द्वादशार-  
 नयकक्राद्यश्लोकरूपद्रव्यापिपदव्याख्याया " एक परमाणुर्भागन्धरमस्पर्शपरिणामै-  
 सप्रभेदैः स्वाभाविकैः पुरस्कृतैः पश्चात्कृतैश्च ह्यणुकादिभिस्मायोगिकैर्महास्करुन्धपर्यन्तैर्वै-  
 ससिकैः प्रायोगिकैश्च कार्मणशरीरादिभिरभिमम्बद्ध्यते " इत्युक्तं सङ्गच्छते ।

सवदति चात्र-" एएसि ण भते ! परमाणुपोग्गलाण साहणणाभेदाणुवाएण अणताणता  
 पोग्गलपरियट्ठा समणुगतत्वा भवतीति मक्खाया ? हता गोयमा ! एएसि ण परमाणु-  
 पोग्गलाण साहणणा जान मक्खाया ॥ कइविहे ण भते ! पोग्गलपरियट्ठे पण्णत्ते ? गोयमा !  
 सत्तविहा पो० परि० पण्णत्ता, त जहा-ओरालियपोग्गलपरियट्ठे वेउद्वियपो० तेयापो०  
 कम्मापो० मणपो०परियट्ठे वइपोग्गलपरियट्ठे आणापाणुपोग्गलपरियट्ठे " इति व्याख्या  
 प्रश्नसिद्धादशतकचतुर्थोद्देशमदितमगवद्वचनमपीति ॥ एएसि ण मित्यादि, एतेषां अनन्तरो-  
 क्तस्वरूपाणां परमाणुपुद्गलानां परमाणूनामित्यर्थः, साहणणामेयाणुवाएणति-साहणणाति  
 प्राकृतत्वात् सहनन-सह्यतो, मेदश्च त्रियोजन, तयोस्तुपातो-योगः सहननमेदानुपातस्तेन,  
 सर्वपुद्गलद्रव्यैः सह परमाणूनां सयोगेन वियोगेन वेत्यर्थः । अणताणतत्ति अनन्तेन गुणिता

अनन्ता अनन्ताऽनन्ताः, एको हि परमाणुद्वयशुकादिभिरनन्ताणुकान्तैर्द्रव्यैस्सह सपुज्य-  
मानोऽनन्तान् परिवर्तान् लभते, प्रतिद्रव्यं परिवर्तभावात्, अनन्तत्वाच्च परमाणूना, प्रतिपरमाणु  
चानन्तत्वात्परिवर्तानां परमाणुपुद्गलपरिवर्तानामनन्तानन्तत्व दृष्टव्यमिति । 'पुगलपरि-  
यद्दृ'त्ति-पुद्गलै' पुद्गलद्रव्यैः सह परिवर्त्ता-परमाणूना मीलनानि पुद्गलपरिवर्त्ता,  
'समनुगन्तव्या', अनुगन्तव्या भवन्तीति हेतोः 'आख्याता' प्ररूपिता भगवद्विरिति  
गम्यते, मकारश्च प्राकृतशैलीप्रभवः ॥ अथ पुद्गलपरावर्त्तस्यैव मेदाभिधानायाह 'कविविहेण'-  
मित्यादि, औरालिययोग्गलपरियद्देत्ति-औदारिकशरीरे र्त्तमानेन जीवेन यदौदारिकशरीर  
प्रायोग्यद्रव्याणामौदारिकशरीरतया सामस्त्येन ग्रहणमसाजौदारिकपुद्गलपरिवर्त्तः, एवमन्ये-  
ऽपीति ॥ 'तावद्दय त हवद्द दव' इति जात्येकचनप्रयोगादेकैक द्रव्य सर्वं सर्वद्रव्यार्थतया  
सर्वपर्यायार्थतया च प्राक् त्रिपरिवर्त्ति पश्चाद् विपरिवर्त्तिष्यते चेति तच्चदेकैक द्रव्यमपि सर्वा-  
त्मकमन्योद्भव्य भवति, तस्यातीतानागतवर्त्तमानसर्वद्रव्यपर्यायार्थतया परिणमनस्वभाव-  
त्वात् । एकराक्यतया सप्रदति चात्र—

“ जे एग जाणइ से सब्ब जाणइ ।

जे सब्ब जाणइ से एग जाणइ ॥ सू० १२२ ॥ ”

इत्यस्याऽऽचाराङ्गद्वोक्तस्य व्याख्यायां यः कश्चिद्विशेषितः 'एक' परमाण्वादिद्रव्य  
पश्चात्पुरस्कृतपर्याय स्वपरपर्याय वा 'जानाति' परिनिष्ठनत्ति स सर्वं स्वपरपर्याय  
जानाति, अतीतानागतपर्यायिद्रव्यपरिज्ञानस्य समस्तस्तुपरिच्छेदानिनामावित्त्वात्, इद-  
मेव हेतुहेतुमद्भावेन लगयितुमाह—'जे सब' इत्यादि, यः सर्वं समारोदरविवरवर्त्ति वस्तु  
जानाति स एक घटादिवस्तु जानाति, तस्यैवातीतानागतपर्यायमेदैस्तत्त्वस्वभावापत्त्याऽना-  
द्यनन्तकालतया समस्तस्तुम्बभावगमनादिति । तदुक्तम्—

“ एगदवियस्म जे अत्थपञ्जवा, वयणपञ्जवा वायि ।

तीयाणागयभूया, तावद्दय त हवद्द दव्व ॥ १ ॥ ”

इत्युक्तमिति, एतच्चाग्रे विवेचयिष्यते ॥ ३१ ॥

एकैकद्रव्यमर्थपर्यायव्यञ्जनपर्यायैस्त्रैकालिकानन्तपरिणामात्मकत्वेनानेकान्तात्मकमिति  
प्रतिपाद्याधुना पुरुषतदीयबालाद्यनस्थादृष्टान्ताभ्या क्रमेण व्यञ्जनपर्यायस्य त्रिकालानु  
यायित्वेन जन्मादिमरणान्धिस्थूलकालस्यायितयाऽनुगताभेदप्रत्ययहेतुत्वम्, अर्थपर्यायाणाश्च  
सूक्ष्मरत्तमानकालमात्रवर्त्तित्वेन प्रतिक्षणसूक्ष्मपरिणामरूपतया तत्त्वक्षणपेक्षभिन्नभिन्नस्वरूप  
त्वेन भेदप्रत्ययहेतुत्वमिति पुरुषद्रव्यस्य व्यञ्जनपर्यायेणाभेदः, अर्थपर्यायैश्च भेद इत्येकाने-  
कत्वेनानेकान्तात्मकत्वस्युपदर्शयितुमाह—

युगताऽभिन्नैरुत्तररूपतया पुरुषः पुरुष इत्येवमुच्यमान नित्यमत्रिकल्प भेद न प्रतिपद्यते इति भावः । नन्वेतावता पुरुषद्रूपस्यैकान्तेनात्रिकल्परूपत्वमेव प्राप्तं, तच्च स्याद्वादविरुद्धमित्यवस्तस्य सविकल्परूपत्वप्रतिपादनेन कथञ्चिद्भेदात्तमेदात्मकस्याद्वादरूपताप्रतिपादनाद्योत्तरार्द्धमाह—“ बालाहवियप्प ” इत्यादि । ‘से’ तस्य पुरुषद्रूपस्य ‘अथ पञ्जाओ’ अर्थपर्याय अर्थपर्यायप्राहिंश्रजुसूत्रादिनयः, उपचारेण त्रिपयेण त्रिपयिणो ग्रहणात्, ‘पुण’ पुनः ‘बालाहवियप्प’ बालादिविकल्प बालकुमारादिभेदं ‘पासइ’ पश्यति, व्यञ्जनपर्यायमतेनाभिन्नमपि पुरुषद्रूपमर्थपर्यायप्राहिंश्रजुसूत्रादिनयत्रिपयबालादिपर्यायस्वरूपतया भेदमप्यनुत् इति भावः ॥ ३४ ॥

एतावत्प्रत्ययेन निर्विकल्प-सविकल्पोभयस्वरूपतया प्रतिपादिते पुरुषादिवस्तुनि सति एकान्तेन सविकल्पमेव निर्विकल्पमेव वा तद्वस्तु प्रतिपादयन् स्वीयवस्तुत्तरानभिन्नतामेव विदुषां चेतसि प्रत्यापयतीत्युपदर्शयन्नाह—

सवियप्प-णिच्चियप्प, इय पुरिसं जो भणेज्ज अचियप्प ।

सवियप्पमेव वा णिच्चएण, ण स निच्चिओ समए ॥ ३५ ॥

‘सत्रियप्प-णिच्चियप्प’ सविकल्पनिर्विकल्प, सत्रिकल्पश्च निर्विकल्पश्चेति अनयोस्त-माहारः सविकल्पनिर्विकल्प तत्तदपेक्षोपस्थापकस्यात्पदयोल्यानेकान्तात्मकतदुभयघर्मापत् स्यात्सविकल्प स्यान्निर्विकल्प ‘पुरिस’ पुरुष तदुभयपदघटितमस्यभङ्गयात्मकमहावाक्य-जयोधविषय पुरुषद्रूप ‘जो’ यः प्रतिपादकोऽविदितयथार्थतत्रः “अचियप्प सवियप्प-मेव वा इय” एवेत्यस्योभयत्रान्वयात्, अविकल्पमेव सविकल्पमेव चेति “णिच्च एण” निश्चयेन एकान्तेन ‘भणेज्ज’ भणेत् ब्रूयात् ‘ण स णिच्चिओ समए’ स एकान्त तत्रप्रतिपादकः, समये मभ्यगू ईयते परिच्छिद्यते इति समयः, यथावस्थितोऽर्थः, तस्मिन्, निश्चितं निश्चयः तदस्यास्तीति निश्चितः, अर्थ आदितादृचप्रत्ययः, सम्यगर्थ इत्यर्थकं समय इत्यत्र सप्तम्या त्रिपयत्वार्थकत्वेन यथाऽस्थितार्थविषयकनिश्चयवान्न न इत्यर्थः, दुर्नयाभि-निवेशान्नयाज्ञत्वाद्वा सम्पूर्णानेकान्तवस्तुस्वरूपाऽपरिच्छेदाद्वा न यथार्थतत्रज्ञ इति भावः । नन्वेव तर्हि सम्पूर्णानेकान्तात्मकवस्तुस्वरूपविषयक निराकाङ्क्षपरिपूर्णबोधमाधातु प्रति-पादकः प्रतिपाद्यस्य कथं प्रभवतीति चेत्, उच्यते, यदा कथञ्चिद्भेदात्तमेदात्मके वस्तुनि व्यञ्जनपर्यायापेक्षया स्यादभिन्न एव पुरुषः, बालाद्यर्थपर्यायापेक्षया स्याद् भिन्न एव पुरुषः, युगपत्तदुभयार्पणया स्यादरक्तव्य एव, क्रमिकोभयार्पणया स्यादभिन्न एव स्यादभिन्न एव च, व्यञ्जनपर्यायविवक्षया युगपत्तदुभयार्पणया च स्यादभिन्नः स्यादरक्तव्य एव, बालाद्यर्थ पर्यायविवक्षया युगपत्तदुभयविवक्षया च स्यादभिन्नः स्यादरक्तव्य एव, क्रमिकतदुभयार्पणया युगपत्तदुभयार्पणया च स्यादभिन्नः स्यादभिन्नः स्यादरक्तव्य एव, एव स्वरूपक्षेत्रकालः

भागापेक्षया स्यादस्त्येव घटः, परद्रव्यक्षेत्रकालभागापेक्षया स्यान्नास्त्येव घट इत्यादिपरस्पर-  
साकाङ्क्षावाक्यसप्तसप्तमाहारस्वरूपसप्तसप्तङ्गीभावभाषण महावाक्यमेव प्रयुङ्क्ते तदैव, तथैव  
प्रतिपादयतश्च निष्पुणत्व भवति, वस्तुनो यथास्वरूप तथैव प्रतिपादनात्, स्यात्पदाऽन्ता  
ञ्छितैकवाक्यमात्रप्रतिपादने तु तस्याऽनैष्पुण्यमेव स्यात्, यतः प्रतिपाद्यस्यानानसशयविप-  
र्ययनिरासार्थमेव वाक्यं प्रयुज्यते, नान्यथा, तत्र घटगतास्तित्वस्वरूपेऽनभिज्ञ सशयित  
भ्रान्त वा प्रत्यङ्गानादिनिरासार्थं यदि स्यात्पदाऽन्ताञ्छित घटोऽस्तीत्येतावन्मात्र प्रयुज्यते  
तदास्तित्वधर्मसमभिव्याहृतस्यात्पदघोत्यस्त्रद्रव्यक्षेत्रकालभावरूपापेक्षोक्तेरभावात्ततः सर्व-  
प्रकारेणास्तित्वमेव घटस्य निश्चिनुयात्प्रतिपाद्यः, न च सर्वथाऽस्तित्व घटे वर्तते, तथा सति  
घटत्वात्मकस्वरूपेणैव पटत्वमठत्वादिपररूपेणापि घटस्यास्तित्वे प्राप्ते घटस्य सर्वात्मकत्व-  
प्रसङ्गः, न हि पटादीना पटादिस्वरूपता पटत्वादिनाऽस्तित्वमन्तरेणान्या, आपादनञ्चात्र घटो  
यदि पटत्वकटत्वमठत्वादिनाऽस्तित्ववान् स्यात् तदा पटकटमठाद्यत्मकस्स्यात्, पटकटा-  
दित्, यद्वा स्वद्रव्यरूपेणैव परद्रव्यरूपेणापि सत्त्वे स्वाश्रयद्रव्यप्रतिनियमो न स्यात्। अथ  
सयोगनिर्माणादेरनेकद्रव्याश्रयत्वेऽपि तद्द्रव्यप्रतिनियमो न विरुध्यत एव तद्वत्प्रकृतेऽपीति  
चेत्, न, तस्यानेकद्रव्यगुणत्वेनानेकद्रव्यस्यैव स्वद्रव्यत्वात्, स्वानाश्रयद्रव्यान्तरस्य परद्रव्य  
त्वात्, ततोऽपि सत्त्वे स्वाश्रयद्रव्यप्रतिनियमव्याघातस्य तदवस्थत्वात्, परद्रव्यरूपेणैव  
स्वद्रव्यरूपेणापि कस्यचित्सत्त्वे सकलद्रव्यानाश्रयत्वप्रसङ्गादिदृष्टद्रव्याश्रयत्व न स्यात्, तथा  
स्वाधारक्षेत्ररूपेणैव पराधारक्षेत्ररूपेणापि सत्त्वे कस्यचित्प्रतिनियतक्षेत्रवृत्तित्वव्यवस्थितिर्न  
स्यात्, परक्षेत्ररूपेणैव स्वक्षेत्ररूपेणापि चाऽसत्त्वे नि क्षेत्रतापचिस्स्यात्, तथा स्वकाला-  
पेक्षयेव परकालापेक्षयाऽपि सत्त्वे प्रतिनियतकालवृत्तित्वव्यवस्थितिर्न स्यात्, परकालापेक्षयेव  
स्वकालापेक्षयाप्यसत्त्वे सकलकालावृत्तित्व स्यात्, स्वभावरूपेणैव परभावरूपेणापि सत्त्वे  
प्रतिनियतभावात्मकत्व न स्यात्, परभावरूपेणैव स्वभावरूपेणाप्यसत्त्वे विरक्षितभावाशालि  
त्वमपि न स्यात्, न च घटोऽस्तीत्यत्र घटपदमभिव्याहारादस्तित्व घटत्वेनाऽस्तित्व,  
घोषयतीति न सर्वप्रकारेणास्तित्वप्रमक्तिः स्यात्पदाऽप्रयोगेऽपीति वाच्यम्, एव सति घटे  
सव्यभावावप्रतिपादनेच्छयोचरिने घटो नास्तीति वाक्येऽपि घटपदसमभिव्याहारेण नास्ती-  
त्यस्य घटत्वेन नास्तित्वप्रतिपादकत्वमेव स्यात्, न चैवमभ्युपगन्तुं युक्तम्, एकस्यैवैके-  
नैव रूपेणास्तित्वनास्तित्वयोर्विरोधात्। न च घटोऽस्तीत्यनेन घटत्वपटत्वादिना केनापि  
प्रकारेणास्तित्व न प्रतिपाद्यते, किन्तु मामान्यत एवास्तित्व घटस्य, तच्चायाधितमेवेति  
वाच्यम्, यतो घटोऽस्तीत्यनेन घटे सामान्यतोऽस्तित्वस्य ज्ञाने तस्य कथञ्चिदस्तित्व  
सर्वथाऽस्तित्वयोः साधारणतया साधारणधर्मज्ञानस्य च सशयकारणत्वेन घटः कथञ्चिदस्तित्व-  
न वेति सशयस्स्यात्, सशयस्य च जिज्ञासाभ्रति कारणत्वेन सशये सति घटे कथञ्चिद-  
स्तित्वज्ञान मे जायतामित्याकारा जिज्ञासाऽपि न निरोद्धुं शक्या, न च तादृशा स्वीय

जिज्ञासा तदमिलापकप्रश्नवाक्यं किं घटः स्यादस्ति न चेत्याकारमन्तरेण प्रतिपाद्यः पुमान् प्रतिपादक पुमासमवगमयितु प्रभविष्णुरिति प्रतिपाद्येनोक्तस्वरूपे प्रश्नवाक्ये उच्चारिते सति तथानिधेन तेन तस्य जिज्ञासाविशेषमवगम्य प्रतिपादकः प्रतिपाद्यपुरुषीयजिज्ञासाकारण सशयनिवृत्तिर्यादृशवाक्यात्स्यात्तादृशमेवोत्तरवाक्य प्रयुञ्जीत, तत्र घटः स्यादस्त्येवेत्याकार प्रथममङ्गलरूपमेव, तत्रास्तित्वधर्मसमभिव्याहृतस्यात्पद स्वद्रव्यक्षेत्रकालमानापेक्षास्फोरक मिति निमित्तभेदेनाविरोधघोतनेन द्रव्याद्यपेक्षप्रतिनियतस्वरूपप्रतिपत्तये स्यात्पद प्रयोक्तव्यम्, यतस्तत्तदपेक्षागर्भतत्तदनेकपर्यायकरम्भितत्वाद् वस्तुनस्तथा तथा प्रयोगे तत्तदपेक्षा-  
लामार्थे स्यात्कारमेव प्रयुञ्जते सर्वत्र प्रामाणिकाः, अन्यथा निराकाङ्क्षमेव सर्वे वाक्य प्रसज्येत, एव येन रूपेणास्तित्व तेनैव रूपेण नास्तित्वरूपानिष्टार्थनिवृत्तयेऽन्वधारणार्थकमेवकारपदमपि प्रयोक्तव्यमेव । उक्तञ्च खण्डखाद्येऽष्टमश्लोकटीकायाम्—“ निमित्तभेदेनाविरोधघोतनार्थं स्यात्पदस्य अवधारणार्थ एवकारस्य प्रतिभङ्ग प्रयोग इति ” । अयम्भावः—एवकारप्रयोगे घटो नील एवेत्यत्र सर्वावयवावच्छिन्ननीलत्वं मध्येन घट इत्यतस्त्वंद्रव्यक्षेत्रादिपरद्रव्यक्षेत्रा दिसर्वावच्छिन्नसत्त्वप्रतीतौ तदपवादाय स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावात्मकनियतावच्छेदकस्फोरणार्थं स्यात्पदध्रौच्ये येन रूपेणास्तित्व तेनैव रूपेण नास्तित्वरूपाऽनिष्टार्थनिवृत्त्यर्थं सावधारणः प्रयोगो युक्त एव, तथा च स्वद्रव्यक्षेत्रकालभाररूपेण प्रधानतया घटेऽस्तित्वविवक्षयाऽसत्त्वोपसर्जनसत्त्वप्रतिपादनपरः प्रथममङ्गलः, वक्त्रा स्यादस्त्येवेत्याद्यमङ्गलमिहिते श्रोत्रा तेन कथञ्चिदस्तित्वे ज्ञाते तस्य प्रथममङ्गलप्रतिपद्यस्यात्पदमहिम्ना किं घटे नास्तित्वघर्मोऽस्ति न वेति सशयस्समुद्भवति, तेन च मे घटे नास्तित्वधर्मज्ञान जायतामिति जिज्ञासोद्भवति, तथा च किं घटेऽस्तित्वमिदं नास्तित्वमप्यस्ति ? येन स्यात्कार उपादीयत इति प्रश्ने क्रियमाणे परद्रव्यादिना कथञ्चिन्नास्तित्वधर्मोपदर्शनार्थं स्यान्नास्त्येवेति द्वितीयमङ्गलः प्रयुङ्क्ते वक्त्रा, तत्र सर्वं हि वाक्य सावधारणमिति न्यायमनुसृत्य क्रियमाणैवकारप्रयोगेण नास्तित्वस्यावधारणादसम्भवाद्वाङ्मन्यच्छेदेऽप्येकान्तनास्तित्वधर्मप्रमत्तया तत्कथं कथञ्चिदस्तित्वविरुद्धं तत्र सङ्गतमित्याशङ्कोत्तिष्ठते, तद्वचनच्छेदार्थं स्यात्पदप्रयोगः, तेन परद्रव्यादिना कथञ्चिन्नास्तित्वप्रतीत्या सोपशाम्यतीति स सार्थक एव, एकान्तवचन मिथ्या वचनमिति जिनप्रवचनतत्त्ववेदिनो मिथ्यायादित्यपरिजिहीर्षया सर्वमपि वाक्य स्यात्कार पुरस्सरमेव भाषन्ते, न तु जात्रापि स्यात्कारनिरहितम्, तद्विरहितवाक्यस्यैकान्तावधारणवाक्यरूपत्वेन “ ओहारणीं भासां नेव भासेत ” “ अवधारणीं भासां नैव भापेत ” इत्यनेन तन्निषेधात्, यद्यपि च लोकव्यवहारपथमवतीर्णा न सर्वत्र सर्वदा साक्षात् स्यात्पद प्रयुञ्जते, तथापि तत्राऽप्रयुक्तोऽपि सामर्थ्यात् स्याच्छब्दो दृष्टव्यः, प्रयोजकस्य कुशलत्वात् ।

उक्तञ्च—“ अप्रयुक्तोऽपि सर्वत्र, स्यात्कारोऽर्थात्प्रतीयते ।

चिद्यो निषेधेऽन्यत्रापि, कुशलश्चेत्प्रयोजकः ॥ १ ॥ ” इति ।

आद्येन द्वितीयेन च भङ्गेन क्रमार्पिते स्वरव्यक्षेत्राद्यवच्छेदेन कथञ्चिदस्तित्वे परद्रव्य-  
क्षेत्राद्यवच्छेदेन कथञ्चिन्नास्तित्वे च ह्यते सति सहापितास्तित्वनास्तित्वोभयस्योपस्थिति-  
सम्भवेन प्राधान्येन युगपत् स्वरव्यादिपरद्रव्याद्यवच्छेदकमेदेन तदुभयमस्ति न वेति सशये  
सति तन्मूलकतद्गर्भजिज्ञासाप्रभवतद्गर्भप्रशस्तमुद्भवे युगपत्प्राधान्येनास्तित्वनास्तित्वोभयधर्म-  
सद्भावेऽपि तथा तत्प्रतिपादकस्य कस्यचिदेकपदस्य समासविग्रहान्यतरात्मकराक्यस्य वाऽ-  
भावात्स्यादवक्तव्य एव घट इत्याकारकस्य तृतीयमङ्गस्यावतारसम्भवत्येव, न च “पुष्प-  
दन्तावेकोक्त्या शशिमास्करौ” इति कोशस्वरसादेकोक्त्या प्राधान्येन चन्द्रत्वसूर्यत्वोभय  
रूपेण चन्द्रसूर्योभयप्रतिपादकपुष्पदन्तशब्दवत् “तौ सत्” ३।२।१२७। इति पाणि  
नीयसूत्रेण प्राधान्येन ‘शृत्वानच्’ इत्युभयसङ्केतितसच्छब्दवच्च प्राधान्येन सत्त्वाऽसत्त्वोभय-  
धर्मसङ्केतितयत्किञ्चिदेकशब्देन युगपत् प्राधान्येन सत्त्वासत्त्वोभयधर्मस्य प्रतिपादनसम्भवा  
त्तद्वेषेण वक्तव्य एव घट इति नोभयधर्मयुगपत्प्राधान्यविवक्षायामपि स्यादवक्तव्य एव घट  
इति तृतीयमङ्गावतारसम्भवतीति वाच्यम्, पुष्पदन्तपदेन चन्द्रत्वेन चन्द्रस्य सूर्यत्वेन  
सूर्यस्य युगप्रतीतावपि चन्द्रत्वसूर्यत्वयोरेकेनोभयत्वेनाऽनुगमनात्तथानोधस्य समूहालम्बन-  
बोधात् साक्षात्परम्परया निरूप्यनिरूपकमावाऽनापन्नमिन्नप्रकारतानिरूपितमिन्नविशेष्यता  
निरूपकाच्चन्द्रनिष्ठविशेष्यतानिरूपितचन्द्रत्वनिष्ठप्रकारतानिरूपितोभयत्वनिष्ठान्च्छेदकतानि  
रूपितसूर्यत्वनिष्ठप्रकारतानिरूपितसूर्यनिष्ठविशेष्यतानिरूपकत्वेन साक्षात्परम्परया परस्पर-  
निरूप्यनिरूपकमात्रापन्नपिपयताकस्य वैलक्षण्येऽपि नैकधर्मिणि चन्द्रत्वसूर्यत्वोभयधर्मस्य  
बोधनम्। यद्वा पुष्पदन्तपद चन्द्रे सूर्ये च शक्तमित्याकारकशक्तिग्रहमहकृतादेकोच्चारणा-  
न्तर्भावेन चन्द्रत्वसूर्यत्वविशिष्टशक्तात्पुष्पदन्तपदाच्चन्द्रत्वप्रकारकत्वे सति सूर्यत्वप्रकारको  
बोधः, तत्र चन्द्रत्वसूर्यत्वयोर्द्वयोरपि पुष्पदन्तपदप्रवृत्तिनिमित्तत्वेन रूपेणैकीकृतयोरपि नैक  
धर्मिणि बोधनम्, प्रकृते तु सत्त्वासत्त्वोभयस्य सत्त्वत्वेनाऽसत्त्वत्वेन युगपदेवैकत्र धर्मिणि  
बोधनममीप्सितमिति न पुष्पदन्तपद तथा बोधने ममर्थमिति न तद्दृष्टान्तबलात्तथाबोधन  
समर्थमेकपद कल्पयितुं शक्यम्, सत्पदमपि सत्त्वेनैकधर्मेणैव शृत्वानचोर्बोधनसमर्थमिति न  
तद्दृष्टान्तस्याप्यकाश, न च सत्त्वासत्त्वोभयसङ्केतितमप्युभयपद प्राधान्येन सत्त्वत्वेनासत्त्व-  
त्वेन च तदुभयप्रतिपादक, किन्तुभयत्वेनैवेति व्यासज्यवृत्तिधर्मणोभयत्वेन रूपेणास्तित्वना  
स्तित्वधर्मद्वयावच्छिन्नबोधस्योभयपदात्मसम्भवेऽपि तादृशबोधाकार ‘उभयम्’ इत्येव स्या-  
दिति नोभयपदादपि सत्त्वत्वेनाऽसत्त्वत्वेन युगपत्प्राधान्येन सत्त्वासत्त्वयोः प्राधान्येनास्तित्व-  
त्वनास्तित्वोभयाकारो बोधस्तम्भवतीति नोभयपदेनापि तथा वक्तव्यो घट इति सत्त्व  
त्वेनासत्त्वत्वेन युगपत्प्राधान्येन सत्त्वासत्त्वोभयप्रतिपादकवचनाभावात् स्यादवक्तव्य एव  
घट इति तृतीयमङ्गसम्भवत्येवेति। न चावक्तव्यत्वधर्मो विधिनिषेधात्मा नैति न



तृतीयमङ्गप्रतिपाद्यतामेतीति वाच्यम्, धर्मधर्मिणोः कथञ्चिदभेदाभ्रयणेनावक्तव्यत्वाऽऽश्रययोरस्तित्वनास्तित्वयोर्विधिनिषेधरूपत्वे तदाभितावक्तव्यत्वास्यापि तथात्वात्, तृतीयमङ्गविषयत्व तु तस्यास्तित्वनास्तित्वाभ्यां कथञ्चिद्वेदविषयैवोपपादनीयम्, अत्रक्तव्यत्वस्य धर्मिणि सत्त्वमस्तित्वनास्तित्वावच्छेदकोमयाऽऽच्छेद्यमिति भावनीयम् ॥ चतुर्थमङ्गप्रतिपाद्यस्य क्रमापितकथञ्चिदस्तित्वनास्तित्वोभयस्याद्यद्वितीयमङ्गप्रतिपाद्याभ्यां कथञ्चिदस्तित्वनास्तित्वाभ्यां कथञ्चिद्व्यतिरिक्तत्वेन तत्तदभावप्रकारकसंशयो नाद्यमङ्गजन्यकथञ्चिदस्तित्वनिश्चयस्य द्वितीयमङ्गजन्यकथञ्चिन्नास्तित्वनिश्चयस्य च प्रतिबन्ध इति न स्यादेवेति तज्जन्यजिज्ञासादिक्रमेण चतुर्थमङ्गस्तुघट एवेति । स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येव घट इति वाक्यात् क्रमापितस्यादस्तित्वनास्तित्वोभयधर्मन्तमगु घट जानामीत्यनुभवाद्य त मङ्गोऽतिरिक्त एव, तत्र स्यात्कारेण सत्त्वमस्याऽऽच्छेदकधर्मयोरेव परामर्शाज्ञात्यन्तरत्वस्यार्थसिद्धत्वादिति । अत्रेदमवधेयम्—न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके, यः शब्दानुगमादृते । अनुविद्धमिव ज्ञान, सर्वं शब्देन भासते ॥ १ ॥ इति वाक्यपदीयोक्तेदशब्दचिशिष्टस्यैवार्थस्य ज्ञाने भानमिति भर्तृहरिमत्प्रवर्त्तकनयेन शब्दगतस्य क्रमस्यार्थेऽप्यारोपणाद्यतुर्थमङ्गेऽर्थगततया क्रमभान भावनीयम्, अथवा शब्दगतोऽर्थगतो वा क्रमो नावमानत एव, किन्तु 'एकत्र द्वयम्' इतिरीत्या तत्र ज्ञानमष्टपजायते, तदाकारविशेषोपलक्षकमेव 'क्रमात्' इत्यभिधानम्, अत एव विधिनिषेधयोः क्रमापितत्व शब्दे न भासते । एव पञ्चमादिमङ्गीत्यापक्राः सशयास्त्वपपादा इति तन्निर्चयाना पञ्चमादिमङ्गानां समुद्भवो ज्ञातव्यः, तृतीयादिमङ्गाना प्रथममङ्गद्वयमूलकत्वात् तस्मिद्धौ तन्नान्तरीयकतदुत्तरमङ्गानां सुतरां सिद्धिभावात्, न चैवमभ्युपगमे सप्तमङ्गाना प्रतिमङ्ग सशयजिज्ञासादिना व्यवधाने सति एरुधर्मिशेष्यकथ्यस्तसमस्तविधिनिषेधात्मकमसप्तधर्मप्रकारकसमुच्चयबोधजनकत्व न स्यादिति प्राश्निकप्रश्नज्ञानप्रयोज्यत्वे सति एकवस्तुविशेष्यकाविरुद्धविधिप्रतिषेधात्मकसप्तधर्मप्रकारकबोधजनकसप्तमङ्गवाक्यपर्याप्तममुदायत्वरूपसप्तमङ्गीलक्षणव्यतिस्स्यादिति वाच्यम्, यतः पुनरव्यवधानेनोपस्थितिकल्पनया सप्तमङ्गीभावमापन्नानां मङ्गानां तादृशसमुच्चयात्मकबोधजनकत्व स्यादेव । उक्तसप्तमङ्गीलक्षणतात्पर्यमप्येव ज्ञेयम्—एकवस्तुविशेष्यकमन्वा-सत्त्वादिसप्तधर्मप्रकारकशब्दबोधजनकतापर्याप्त्यधिकरण वाक्य सप्तमङ्गीति, विशेषस्फूर्त्तौ वाक्यस्याधोघरुत्वेनैवाविरुद्धेत्यस्य गतार्थत्वात्, प्रश्नस्य च क्वाचित्कत्वाच्छिष्यजिज्ञासयेव क्वचिद्गुरोर्जिज्ञासपियैव सप्तमङ्गीप्रयोगसङ्गतेः प्राश्निकेत्यादिविशेषणस्यापि लक्षणोऽप्रवेशात्, नानावस्तुषु सत्त्वासत्त्वादिबोधकवाक्येऽतिप्रसङ्गारणायैकवस्तुविशेष्यकेति, एकत्र रूपरमादि-सप्तधर्मबोधकेऽतिप्रसङ्गवारणाय सत्त्वासत्त्वादीति, खण्डवाक्ये तद्वारणाय पर्याप्तिनिवेशः, प्रमाणसप्तमङ्गीवन्नसप्तमङ्गया अपि लक्ष्यत्वात् तत्रातिव्याप्तिः, प्रमाणनयमसप्तमङ्गयोः पृथक्

पृथक् लक्ष्यत्वे त्वाद्यायां वाक्ये सकलादेशत्व द्वितीयायाञ्च विकलादेशत्व विशेषण देयम्, एव मेदाभेदानित्यत्नानित्यत्वादिनिरुद्धधर्मपिधानाभेदप्रयोज्याविरोधद्योतकस्यात्पदलाञ्छितसप्तम लक्ष्यन्तररचना ज्ञातव्या, वस्तुनोऽनन्तधर्मात्मकत्वेन प्रतिधर्मं सप्तमङ्गीप्रवृत्तेः । तदुक्तम्—

“ धर्मे धर्मेऽन्य एवाधो, धर्मिणोऽनन्तधर्मणः ।

अङ्गित्वेऽन्यतमान्तस्य, शेषान्तानां तदङ्गता ॥ १ ॥ ”

तत्र धर्मे धर्मे प्रतिधर्ममित्यर्थः । अर्थ इति प्रयोजनादिरित्यर्थः । अनन्तधर्मतो धर्मिणः प्रतिधर्मं सप्तमङ्गीकथन प्रधानीभूतैकैकधर्ममुद्दिश्यैकधर्मिविशेष्यक्रमसप्तविधधर्मप्रकारकबोधात् द्विपयकसश्याज्ञानभ्रान्तज्ञाननिवृत्तिकफलकमिति भावः । अन्यतमान्तस्येति—सप्तविधधर्मान्यतमधर्मस्येत्यर्थः, अङ्गित्वे—प्रधानत्वे, शेषान्तानाम्—तद्भङ्गप्रविष्टस्याच्छन्दस्यचिततदितरधर्माणाम् । तदङ्गता तद्गुणभावः । प्रधानगुणमात्रं वस्तुविबन्धाधीन एव । एतेन ननु यदि विरक्षितेनैकेन केनचिद्भङ्गेन विरक्षितधर्मस्येव तदितरधर्माणामपि प्रतिपादने तेनैव शेषमङ्गजन्यतदितरधर्मप्रतिपत्तिकलमिद्वेशेषमङ्गनिरूपण व्यर्थमेवेत्यारेकाऽपि निरस्ता, विरक्षितमङ्गेन प्रधानतया तदितरधर्मप्रतिपत्त्यनुत्पादनादिति । ननु नयास्तत्तद्वादीययावद्वचनप्रकारास्तावन्त एवेति केन नयेनेय सप्तमङ्गी प्रवृत्ता केन चैयमिति कथं निश्चेतव्यमिति चेत्, उच्यते, आद्यमङ्गस्य प्रतिपाद्यो यो धर्मः प्रधानभूतः स यन्नयत्रिचाराऽऽधीनसिद्धिकस्तद्धर्मप्रतिपादकाद्यमङ्गघटितसप्तमङ्गी तन्नयप्रयुक्ताऽभ्युपगन्तव्या, तदुक्तं खण्डखाद्ये—“ यत्र मूलमङ्गार्थो यन्नयत्रिचाराधीनसिद्धिकस्तत्सप्तमङ्गयां तदीयत्प्रव्यवहारात् ” इति । अत एव—धीग्राह्ययोर्न हि भिदाऽस्ति सहोपलम्भात्, प्रातिस्त्रिकेन परिणामगुणेन भेदः । इत्थं तथागतमतेऽपि हि सप्तमङ्गी, सङ्गीयते यदि तदा न भवेद्विरोधः ॥३८॥

इत्युक्तं सङ्गच्छते, ग्राह्यग्राहकयोस्स्यादभेद एव, स्यादभेद एव, स्यादभेदस्यादभेदोभयमेव, स्यादवक्तव्य एवेत्यादिसप्तमङ्गयां स्यादभेद एवेत्याद्यमङ्गस्य प्रतिपाद्योऽभेदरूपो यः प्रधानार्थस्म तथागतदृष्टैव सिद्ध इत्यत उक्तमप्तमङ्गया तदीयत्वव्यवहारात्तथागतमतेऽपि सप्तमङ्गीप्रकथने न भगवत्सिद्धान्तविरोधः, सर्वमतव्यापकत्वाद् भगवद्दर्शनस्येति भावः ॥३५॥

तदेवमेकैकवस्तु प्रतिधर्मं सप्तमङ्गीप्रतिपाद्यसप्तधर्मोपेतमिति वचनेन तथैव प्रतिपाद्यन्वक्ता यथार्थवक्ता भवति, नान्यथेति गाथासमूहैस्तत्तदविकल्पोत्थाननिमित्तमुपदर्शयन् प्रथममाद्यमङ्गत्रयोत्थाननिमित्तमाह—

अत्थतरभूएहि य णियएहि य दोहि समयमाईहि ।

वयणविसेसाईय, दव्वमवत्तव्वयं पडह ॥ ३६ ॥

“अत्थतरभूएहि य,” अर्थान्तरभूतैश्च परपर्यायैः ‘णियएहि य’ निजकैश्च स्वपर्यायैः, अर्थान्तरभूरः पटत्वादिः, निजो घटत्वादिः, ताभ्या निजार्थान्तरभूताभ्या क्रमेण घटत्स्या—

तृतीयमङ्गप्रतिपाद्यतामेतीति वाच्यम्, धर्मधर्मिणोः कथञ्चिदभेदाश्रयणेनावक्तव्यत्वाऽऽश्रययोरस्तित्वनास्तित्वयोर्विधिनिषेधरूपत्वे तदाभितावक्तव्यत्वस्यापि तथात्वात्, तृतीयमङ्गप्रतिपाद्यत्व तु तस्यास्तित्वनास्तित्वाभ्यां कथञ्चिद्वेदविवक्षयैरोपपादनीयम्, अवक्तव्यत्वस्य धर्मिणि मन्त्रमस्तित्वनास्तित्वावच्छेदकोभयाऽवच्छेद्यमिति भावनीयम् ॥ चतुर्थमङ्गप्रतिपाद्यस्य क्रमापितकथञ्चिदस्तित्वनास्तित्वोभयस्याद्यद्वितीयमङ्गप्रतिपाद्याभ्यां कथञ्चिदस्तित्वनास्तित्वाभ्यां कथञ्चिद्व्यतिरिक्तत्वेन तत्तदभावप्रकारकसशयो नाद्यमङ्गजन्यकथञ्चिदस्तित्वनिश्चयस्य द्वितीयमङ्गजन्यकथञ्चिन्नास्तित्वनिश्चयस्य च प्रतिवक्ष्य इति स स्यादेवेति तज्जन्यजिज्ञासादिक्रमेण चतुर्थमङ्गस्तुषट एवेति । स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येव घट इति वाक्यात् क्रमापितस्यादस्तित्वनास्तित्वोभयधर्मवन्तमगु घट जानामीत्यनुभवाच्च स भङ्गोऽतिरिक्त एव, तत्र स्यात्कारेण सन्नामन्नावच्छेदकधर्मयोरेव परामर्शाज्जात्यन्तरत्वस्यार्थसिद्धत्वादिति । अत्रेदमवधेयम्—न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके, यः शब्दानुगमादृते । अनुविद्धमिव ज्ञान, सर्वं शब्देन भासते ॥ १ ॥ इति वाक्यपदीयोक्तेः शब्दविशिष्टस्यैवार्थस्य ज्ञाने मानमिति भर्तृहरिमतप्रवर्त्तकनयेन शब्दगतस्य क्रमस्यार्थेऽध्यारोपणाच्चतुर्थमङ्गेऽर्थगततया क्रममान भावनीयम्, अथवा शब्दगतोऽर्थगतो वा क्रमो नावभासत एव, किन्तु 'एकत्र द्वयम्' इतिरीत्या तत्र ज्ञानमुपजायते, तदाकारनिशेषोपलक्षकमेव 'क्रमात्' इत्यभिधानम्, अत एव विधिनिषेधयोः क्रमापित्व शब्दे न भासते । एव पञ्चमादिभङ्गीत्यापकाः सशयास्त्वपपादा इति तन्निवर्त्तकानां पञ्चमादिमङ्गानां समुद्भवो ज्ञातव्यः, तृतीयादिमङ्गानां प्रथममङ्गद्वयमूलकत्वात् तस्मिन् तद्विषयान्तरीयकतदुत्तरमङ्गानां सुतरां सिद्धिभावात्, न चैवमभ्युपगमे सप्तमङ्गानां प्रतिमङ्गसशयजिज्ञासादिना व्यवधाने सति एकधर्मिनिशेषकव्यस्तसमस्तविधिनिषेधात्मकमसमधर्मप्रकारकसमुच्चयबोधजनकत्वं न स्यादिति प्राश्निकप्रश्नज्ञानप्रयोज्यत्वे सति एतद्वस्तुविशेष्यकारिवृद्धविधिप्रतिषेधात्मकमसमधर्मप्रकारकबोधजनकमसवाक्यपर्याप्तममुदायत्वरूपमसमङ्गीलक्षणव्यतिस्स्यादिति वाच्यम्, यतः पुनरव्यवधानेनोपस्थितिकल्पनया सप्तमङ्गीभावमापन्नानां मङ्गानां तादृशसमुच्चयात्मकबोधजनकत्वं स्यादेव । उक्तसप्तमङ्गीलक्षणतात्पर्यमप्येव ज्ञेयम्—एकरस्तुविशेष्यरुसत्त्वासत्त्वादिसप्तधर्मप्रकारकशब्दबोधजनकतापर्याप्त्यधिकरण वाक्य सप्तमङ्गीति, निरोधस्फूर्त्तौ वाक्यस्यापोधकत्वेनैवाविरुद्धेत्यस्य गतार्थत्वात्, प्रश्नस्य च क्वाचित्कत्वाच्छिष्यजिज्ञासयेव क्वचिद्गुरोर्जिज्ञापयिष्यैव सप्तमङ्गीप्रयोगसङ्गतेः प्राश्निकेत्यादिनिशेषणस्यापि लक्षणेऽप्रवेशात्, नानावस्तुषु सन्नासन्नादिवोधकवाक्येऽतिप्रसङ्गवारणायैकवस्तुविशेष्यकेति, एकत्र रूपरसादिसप्तधर्मबोधकेऽतिप्रसङ्गवारणाय सत्त्वासत्त्वादीति, खण्डवाक्ये तद्वारणाय पर्याप्तिनिवेशः, प्रमाणसप्तमङ्गीवन्नयसप्तमङ्गघा अपि लक्ष्यत्वाच्च तत्रातिव्याप्तिः, प्रमाणनयसप्तमङ्गयोः पृथक्

पृथक् लक्ष्यत्वे त्वाद्यायां वाक्ये सकलादेशत्व द्वितीयायाश्च विकलादेशत्व विशेषण देयम्, एव मेदामेदनित्यत्रानित्यत्वादिरुद्धमपिक्षामेदप्रयोज्याविरोधद्योतकस्यात्पदलाञ्छितसप्तमङ्गयन्तररचना ज्ञातव्या, वस्तुनोऽनन्तधर्मात्मकत्वेन प्रतिघर्मं सप्तमङ्गीप्रवृत्तेः । तदुक्तम्—

“ धर्मं धर्मंऽन्य एवार्थो, धर्मिणोऽनन्तधर्मणः ।

अङ्गित्वेऽन्यतमान्तस्थ, शेषान्ताना तदङ्गता ॥ १ ॥ ”

तत्र धर्मं धर्मं प्रतिघर्ममित्यर्थः । अर्थ इति प्रयोजनादिरित्यर्थः । अनन्तधर्मप्रतो धर्मिणः प्रतिघर्मं सप्तमङ्गीकयन प्रधानीभूतैकैकधर्मसृष्टिद्वयैकधर्मविशेष्यकमसविधधर्मप्रकारकयोवात् द्विपयकसप्तपाज्ञानभ्रान्तज्ञाननिवृत्तिफलरूपमिति भावः । अन्यतमान्तस्थेति—सप्तविधधर्मान्यतमधर्मस्येत्यर्थः, अङ्गित्वे—प्रधानत्वे, शेषान्तानाम्—तद्भङ्गप्रविष्टस्याच्छब्दसूचिततदितरधर्माणाम् । तदङ्गता तद्गुणभावः । प्रधानगुणभावश्च वस्तुनिर्वक्षाधीन एव । एतेन ननु यदि विवक्षितेनैकेन केनचिद्भङ्गेन विवक्षितधर्मस्येव तदितरधर्माणामपि प्रतिपादने तेनैव शेषमङ्गजन्यतदितरधर्मप्रतिपत्तिफलमिद्वेशेषमङ्गनिरूपण व्यर्थमेवेत्यारेकाऽपि निरस्ता, विवक्षितमङ्गेन प्रधानतया तदितरधर्मप्रतिपत्त्यनुत्पादनादिति । ननु नयास्तत्तद्वादीययावद्वचनप्रकारास्तावन्त एवेति केन नयेनेय सप्तमङ्गी प्रवृत्ता केन च्येयमिति कथं निश्चेतव्यमिति चेत्, उच्यते, आद्यमङ्गस्य प्रतिपाद्यो यो धर्मः प्रधानभूतः स यन्नयविचाराऽऽधीनसिद्धिकस्तद्धर्मप्रतिपादकाद्यमङ्गघटितसप्तमङ्गी तन्नयप्रयुक्ताऽभ्युपगन्तव्या, तदुक्त खण्डखाद्ये—“ यत्र मूलमङ्गार्थो यन्नयविचाराधीनसिद्धिकस्तत्त्वमङ्गार्था तदीयत्वव्यवहारात् ” इति । अत एव—

धीप्राप्तयोर्न हि भिदाऽस्ति सहोपलम्भात्, प्रातिस्त्रिकेन परिणामगुणेन मेदः । इत्थं तथागतमतेऽपि हि सप्तमङ्गी, सङ्गीयते यदि तदा न भवेद्विरोधः ॥३८॥

इत्युक्तं सङ्गच्छते, ग्राह्यग्राहकयोस्स्यादमेद एव, स्याद्वेद एव, स्यादमेदस्याद्वेदोमयमेव, स्यादवक्तव्य एवेत्यादिमसप्तमङ्गार्था स्यादमेद एवेत्याद्यमङ्गस्य प्रतिपाद्योऽमेदरूपो या प्रधानार्थस्तथागतदृष्ट्यैव सिद्ध इत्यत उक्तमप्तमङ्गया तदीयत्वव्यवहारात्तथागतमतेऽपि सप्तमङ्गीप्रकथने न भगवत्सिद्धान्तविरोधः, सर्वमतव्यापकरत्वाद् भगवद्दर्शनस्येति भावः ॥३५॥

तदेवमेकैकवस्तु प्रतिघर्मं सप्तमङ्गीप्रतिपाद्यसप्तधर्मोपेतमिति वचनेन तथैव प्रतिपादयन् वक्ता यथार्थवक्ता भवति, नान्यथेति गाथासमूहैस्तत्त्वविकल्पोत्थाननिमित्तमपददर्शयन् प्रथममाद्यमङ्गयतोत्थाननिमित्तमाह—

अत्यन्तरभूएहि य णियएहि य दोहि समयमाईहिं ।

वयणविसेसाईय, दव्वमवत्तव्वय पडह ॥ ३६ ॥

“अत्यन्तरभूएहि य,” अर्थान्तरभूतैश्च परपर्यायैः ‘णियएहि य’ निजकैश्च स्वपर्यायै, अर्थान्तरभूरः पदत्वादिः, निजो घटत्वादिः, ताभ्यां निजार्थान्तरभूताभ्यां क्रमेण घटस्त्वा—

त्सन्नेत्र स्यादसन्नेत्रेति द्वौ मङ्गौ भवतः । 'दोहि ममयमाईहिं' द्वाभ्यामादिभ्यां प्रागुक्ताभ्यां प्रकाराभ्यां समक युगपद्विधक्षितमिति शेषः 'द्व' द्रव्यं 'व्यणविसेमाईय' वचनविशेषातीत सत्तथाविधवचनवाच्यताऽज्ञापन्न सद् 'अवचञ्च पडइ' अवक्तव्यक पतति । तृतीयमङ्गविषयतामास्कन्दतीति भाषार्थः । अष्टमहर्ष्यां त्वेवमर्थः कृतः—अर्थान्तरभूतः पटादिः निजो घटादिः, ताभ्यां द्वाभ्यां सदसत्त घटवस्तुनः प्रथमद्वितीयमङ्गनिमित्तं प्रधानगुणभावेन भवतीति सोपस्कार व्याख्येयम् । 'समयमाईहिं' इत्यनन्तर तुर्गम्याः, द्वाभ्यामिति चानुवर्तते, ममकृमादिरादान ययोस्ताभ्यां सहापिताभ्यां तु द्वाभ्यामित्यर्थः । वचनविशेषातीतवचनस्य विशेषः शक्तिः, तमतीतमनाक्रान्त सत्तथाविधवाचकापिपयीभूतमिति यावत्, द्रव्यघटादि अवक्तव्यम्, पतति अशक्तिभाराद्द्रव्यताशिश्वरे स्थातु न शक्नोति, अवक्तव्यता वा पततीति । अयम्भावः—अनुयोग्युपस्थापक्रममानविभक्तिकप्रतिपोग्युपस्थापकपदसममिष्याहृतनजो मेदप्रत्यायकत्वेन शास्त्रायां वृक्षः कपिसयोगी न मूले इत्यबाधितानुमनवलाद्यथा शाखावच्छेदेन य एव वृक्षः कपिसयोगी स एव मूलावच्छेदेन कपिसयोगिमेदयानिति नच्यनैयायिकैरभ्युपगत, यद्वोक्तप्रतीत्या कपिसयोगतदत्यन्ताभावयोरव्याप्यवृत्तितयैकस्मिन्नेत्र वृक्षे आत्मानमूलावच्छेदेन कपिसयोगतदत्यन्ताभावमत्र प्राचीननैयायिकैरभ्युपगत, तथैव स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावापेक्षया घटस्सन् परद्रव्यक्षेत्रकालभावापेक्षया चासन्नित्यबाधितानुभवबलात् स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावावच्छेदेन य एव घटस्सन् कथञ्चित्तादात्म्यसम्बन्धेन सदाश्रयः सत्त्वान् वा, स एव घटः परद्रव्यक्षेत्रकालभावावच्छेदेनासन्नकथञ्चित्तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकसद्भेदेवानिति यद्वा सत्त्वात्यन्ताभावानिति सत्तद्भेदयोस्सत्त्वतदत्यन्ताभावयोर्वा सामानाधिकरण्यामभ्युपगन्तव्यम्, कपिसयोगितद्भेदयोरिव सत्तद्भेदयोः कपिसयोगतदभावयोरिव सत्त्वतदत्यन्ताभावयोर्वाऽव्याप्यवृत्तित्वाऽभ्युपगमे बाधकामात्रान्, तथा च सत्त्व स्त्राभावसमानाधिकरण स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगिभूतधर्मत्वात् कपिसयोगवदित्यनुमानेन सत्त्वेऽव्याप्यवृत्तित्वसिद्धौ तदन्यथाऽनुपपत्त्याऽभ्युपगम्यमानस्यावच्छेदकत्वविशेषस्य स्वद्रव्यादौ स्वीकारः, तथा च स्वद्रव्यक्षेत्रादाववच्छेदकता सत्त्वादिधर्मस्याव्याप्यवृत्तित्वोपोद्बलिका, तामुपादायैव स्यात्पदप्रवृत्तिरुपेत इति । ननु प्रतियोग्यनवच्छेदकस्याभावावच्छेदकत्वे तत्त्वस्य सर्वत्राविशेषान् परद्रव्यक्षेत्रादेरिव प्रमेयत्वादेरपि सत्त्वाभावावच्छेदकत्व स्यादिति तदपेक्षयाऽपि घटे सत्त्वाभावस्यात्, स चानुभवबाधितः, न हि कोऽपि सत्त्वज्ञः प्रमेयत्वेन घटोऽसन्निति वक्तीति चेत्, मैवम्, उक्तातिप्रसङ्गस्यानुभवविनिगमनेनैव निवारणात्, अनुभवश्चात्र घटो मृद्रव्यस्य पाटलिपुरक्षेत्रस्येदानीतनकालस्य च घटत्वात्मकभावस्य रक्तन्यात्रकभारस्य वाऽपेक्षया सन् तन्तो राजगृहस्यातीतानागतकालस्य पटत्वस्य नीलत्वस्य वाऽपेक्षयाऽसन्नित्याकारकः । न तु प्रमेयत्वापेक्षयाऽसन्नित्याकारक इति,

प्रतियोग्यनवच्छेदकत्वस्य सर्वत्राविशेषेऽप्युक्तविनिगमकादेव प्रतियोग्यनवच्छेदकमपि किञ्चि-  
 देव कस्यचिदभासस्य वृत्तावच्छेदक न तु सर्वस्येति प्रमेयत्वेन घटस्य सत्त्वे प्रमेयत्ववत्तः  
 पटादेर्घटात्मकत्व स्यादिति सर्वस्य सर्वात्मकत्वापत्तितो यदि घटत्वेन घटस्सन् न प्रमेयत्वे  
 नेत्यनुभवस्तदा स्वभावत्व परभावत्वञ्च विवक्षाधीनमिति प्रमेयत्वस्यापि परभावत्वेन विवक्षि-  
 तत्वात् तस्याप्यभावावच्छेदकत्वमिष्टमेवेत्युक्तातिप्रमङ्गस्याभासरूपत्वमेवेत्याद्यपक्षः । अथवा  
 परद्रव्याद्यपेक्षयेत्यस्य प्रतियोग्यनवच्छेदकावच्छेदेनेत्यर्थः । एवञ्च प्रमेयत्व न सत्त्वात्मकप्रति-  
 योग्यवच्छेदकमिति प्रमेयत्वावच्छेदेन घटो न सन् इति द्वितीयमङ्गार्थो युक्त एवेत्यर्थ इति  
 द्वितीयपक्षः । परद्रव्यादेर्यथाश्रुतार्थपरतायामपि प्रमेयत्वस्य परभावरूपत्वात्तयाऽभावावच्छेदक-  
 त्वमिष्टमित्याशयेन प्रमेयत्वस्य परभावत्व विवक्षया पूर्वमुक्तम्, इदानीं तु तस्य परभावत्व  
 भवतु मा वा, प्रतियोग्यनवच्छेदकत्वादेव प्रतियोग्यनवच्छेदकपदेन तस्यापि ग्रहणसम्भवात्  
 प्रतियोग्यनवच्छेदकावच्छेदेनेत्यनेन प्रमेयत्वावच्छेदेनेत्यपि लभ्यते इति भावः, यदि चाऽस्ति  
 त्वनास्तित्वयोर्विहृद्वयोरैकत्रापेक्षामेदेन सत्त्वोपपत्तये स्वद्रव्यादीनां प्रतियोगिभूतस्य सत्त्व-  
 स्यावच्छेदकत्वं परद्रव्यादीनां सत्त्वाभावस्यावच्छेदकत्वमित्येव कल्पना नाद्रियते, किन्तु  
 सत्त्वासत्त्वयोः प्रकृते विशिष्टस्वरूपयोरेव प्रथमद्वितीयमङ्गविषयत्वम्, तथा च स्वद्रव्याद्य-  
 वच्छिन्न यत्सत्त्वं प्रथममङ्गविषयः परद्रव्याद्यवच्छिन्नमत्त्वनिष्ठप्रतियोगिताकाभावरूप यद-  
 सत्त्वं द्वितीयमङ्गविषयस्तयोः परस्पराभावरूपत्वामात्रादेव न विरोध इत्येताददेव प्रथम-  
 द्वितीयमङ्गयोरनिरुद्धाव्यक्तत्वोपपत्तिरिति द्वितीयमङ्गो व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताका  
 मात्रपर एव, व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावश्चाऽभ्युपगम्यते एव “ यदि च  
 घटत्वेन पटो नास्तीति प्रत्ययः स्वरमवाही लोकानां तदा व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रति-  
 योगिताकाभाववारण भीर्वाणगुरोरप्यशशयम् ” इति वदता शिरोमणिनापि । अत एव—

“अव्याप्यवृत्तिगुणिभेदमुदीर्य नव्याऽभाव प्रकल्प्य च कथं न शिरोमणे त्वम् ।  
 स्याद्वादमाश्रयसि सर्वविरोधिजैत्र, द्रूमः पसार्य निजपाणिमिति त्वदीयाः ॥४५॥”

इति शिरोमणिं प्रति शिक्षावचनमपि सङ्गच्छते । ननु व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रति-  
 योगिताकाभावस्य केवलान्वयित्वेन प्रकृतधर्मिमात्राऽसाधारणधर्मत्वाभावादव्यावर्तकत्वेन  
 तत्प्रतिपादकमङ्गस्य वैयर्थ्यमिति चेत्, मैत्रम्, नास्त्येव घट इत्येतावन्मात्रोक्तावेवकारप्रति-  
 पाद्यमवर्था नास्तित्वस्य प्रमत्तौ तद्वारणार्थं स्यात्कारप्रयोगः, यथा चित्रे घटे नील एवेति  
 प्रयुक्ते सर्वथा नीलत्वप्रमत्तौ तद्वारणार्थं स्यात्कारप्रयोग इति स्यात्कारलाञ्छितद्वितीय  
 मङ्गस्य व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावबोधकस्यापि मार्थक्यादिति तृतीयपक्षः ।  
 एव घटत्वेन पटो नास्तीति प्रतीत्या घटत्वावच्छिन्नपटनिष्ठप्रतियोगिताकाभावनियधिक्या  
 मिद्वस्य व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभासस्येन शशशुद्धे गोवृत्तित्व नास्तीत्यादि-

प्रतीत्या शशीयत्वावच्छिन्नगृहनिष्ठाधिकरणतानिरूपरुगोवृत्तित्वाभावपर्यवसानको यशशी-  
यत्वेन गृहे गोवृत्तित्वाभावस्तद्विषयिकया सिद्धस्य व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नानुयोगितानिरू-  
पकाभावस्याप्यवबोधको द्वितीयमङ्गस्समर्थनीय इति चतुर्थपक्षः । तथा चाद्यपक्षे स्वद्रव्या-  
द्यवच्छेदेन घटस्मन्नेवेत्याद्यमङ्गजन्यस्य घटे स्वद्रव्याद्यवच्छेदेन सत्प्रकारकनिश्चयस्य  
सत्त्वेऽपि घटासत्प्रस्य स्वममानाधिकरणाभावप्रतियोगित्वलक्षणाऽव्याप्यवृत्तितया तज्ज्ञाना  
रुन्दिदपरद्रव्याद्यवच्छिन्नघटासत्प्रनिश्चयः परद्रव्याद्यवच्छेदेन घटोऽमन्नेवेति द्वितीयमङ्ग  
जन्यस्यादेव, तद्वत्तानिश्चयस्य सश्रयनिश्चयमाधारणाऽव्याप्यवृत्तित्वज्ञानानास्करुन्दिदतद  
भावप्रकारकबुद्धित्वावच्छिन्न प्रत्येव प्रतिबन्धकत्वात्, प्रकृते तदभावप्रकारकबुद्धिश्च मङ्ग  
घटकैवकारव्यवच्छेद्यस्य येन रूपेण यत्सत्त्वं तद्रूपेण तदसत्त्वस्य ज्ञानात्मिकैव, न तु पर-  
द्रव्याद्यवच्छिन्नतदसत्त्वनिश्चयात्मिकेति तत्सत्त्वे बाधकाऽभाव एव, एव सर्वत्र ज्ञेयम् ।  
द्वितीयपक्षे परद्रव्यादेः प्रमेयत्वस्य च प्रतियोग्यनच्छेदकत्वात्तदवच्छेदेन घटासत्त्वनिश्चयः  
घटसत्त्वनिश्चयकालेऽपि पूर्वनीत्या स्यादेव । तृतीयपक्षे चाद्यमङ्गजन्यस्वद्रव्याद्यवच्छिन्नघट-  
सत्त्वनिश्चयकालेऽपि द्वितीयमङ्गेन परद्रव्यादेर्घटगतसत्त्वनिष्ठप्रतियोगिताया व्यधिकरणत्वा  
त्तद्धर्मावच्छिन्नसत्त्वनिष्ठप्रतियोगिताकामावविषयकनिश्चयः पटत्वेन पटोऽस्तीति वाक्यजन्य-  
निश्चयकाले घटत्वेन पटो नास्तीति वाक्यजन्यघटत्वरूपव्यधिकरणधर्मावच्छिन्नपटनिष्ठप्रति  
योगिताकामावनिश्चयबन्धन्यते, तयोः प्रतिपक्षप्रतिबन्धकभावाभावात् । चतुर्थपक्षे तु शश  
गृहे गोवृत्तित्व नास्तीत्यादिप्रतीत्या शशीयत्वेन गृहे गोवृत्तित्वाभावविषयिकया सिद्धस्य  
व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नानुयोगितानिरूपकाभावस्याप्यवबोधकेन द्वितीयमङ्गेन परद्रव्याद्यव-  
च्छिन्नघटनिष्ठविशेष्यतानिरूपितसत्त्वनिष्ठप्रतियोगितानिरूपकाभावनिष्ठप्रकारतानिरूपकनिश्च  
योऽप्युरीकर्तव्य इति । न चास्य द्वितीयमङ्गस्यानेकप्रकारेणोपपादनेऽपिसिद्धान्तत्वप्रसङ्ग  
इति वाच्यम्, भगवत्प्रचनस्य नानाप्रतिपक्षप्रकारबहुलत्वादिति । अत्राधिक खण्डखाद्ये  
पञ्चत्वारिंशच्छ्लोकटीकातोऽरसेयम् । स्वद्रव्याद्यपेक्षया सत्प्रस्य परद्रव्याद्यपेक्षयाऽसत्त्वं  
स्येत्वेन युगपत्सत्त्वासत्त्वोभयस्य प्राधान्यविवक्षायां तत्प्रतिपादने समर्थमेक पद नास्तीति  
पूर्वमेव विवृतम्, समासवाक्य विग्रहवाक्यमपि च किञ्चिन्न विद्यते, तथाहि-समासविधावपि न  
तावद्गुह्यीदिरत्र ममर्थः, तस्यान्यपदार्थप्रधानत्वेन चित्रगुरिन्यादौ विशेष्यविशेषणमावा  
पन्नयोरेव समासघटकपदार्थयोः समामाऽघटकाऽन्धपदार्थे विशेषणत्वस्य दृष्टत्वेन प्रकृतेऽ-  
न्यपदार्थप्राधान्याभावेन तदसम्भवात्, नाप्यव्ययीभावः, तस्य पूर्वपदार्थस्यैव प्रधानतया  
बोधकताया उपगहमित्यादौ गङ्गामामीष्यादिरूपार्थावबोधाद् वैपाकरणसम्भतत्वेन पूर्व-  
पदार्थमात्रप्रधानरुबोधस्य प्रकृतेऽनिष्टत्वेन तस्याऽप्यऽप्रवृत्तेः, नापि इन्द्रः, तस्य तद्धर्मनिष्ठ  
प्रकारवानिरूपितनिरवच्छिन्नतद्धर्मिनिष्ठविशेष्यत्वाऽभिन्नतद्धर्मिनिष्ठावच्छेदकतानिरूपिततद्धर्मि-  
निष्ठविशेष्यत्वाकत्वे सति धर्मान्तरनिष्ठप्रकारतानिरूपितनिरवच्छिन्नधर्मन्तरनिष्ठविशेष्यत्वा-

भिन्नधर्मान्तरनिष्ठाप्रच्छेदकृतानिरूपितधर्मन्तरनिष्ठविशेष्यतानिरूपितद्वित्वनिष्ठप्रकारतानिरूप-  
 षुबोधजनकत्वस्यैव धवसदिरान्तिपादौ दृष्टत्वेन तृतीयमङ्गे तादृशबोधजनकत्वामावेन  
 तस्याप्यप्रवृत्तेः, तृतीयमङ्गेनाऽस्तित्वत्वेन नास्तित्वत्वेन रूपेण प्रधानतया सहापिंतास्तित्व-  
 नास्तित्वोभयविधसासद्भावेनेतरेतरात्मकेन द्वन्द्वेन च दर्शितरीत्या तादृशोभयबोधजनकत्वा-  
 सम्भवेन प्रकृते तस्यानुपयोग एव । नापि समाहाररूपोऽपि सः, यतस्तेन वाकत्वच छत्रो  
 पानहमित्पादौ समासघटकपदार्थममाहारविशेष्यरुबोधस्यैतोत्पादः, न च प्रकृते तथाबोध इष्ट  
 इति तस्याप्यत्राप्रवृत्ते, नापि तत्पुरुषः, तस्योत्तरपदार्थप्रधानत्वेन रात्रपुरुष इत्यादायुत्तर  
 पदार्थविशेष्यकबोधजनकत्वात्, अत्र च तदभावात्, अत एव तत्पुरुषविशेष्यरूपस्य कर्मधार-  
 यस्याप्यत्र न सम्भवाः, तदुघटकपदार्थानां विशेषणविशेष्यभावस्य नियमेन भावात्, कृष्णसर्प  
 इत्यादौ पूर्वपदार्थप्रकारकोत्तरपदार्थविशेष्यरुबोधजनकत्वात्, अत्र च तथाऽनभ्युपगमात्,  
 अत एव तद्विशेषो द्विगुरपि न सम्भवति, तस्य मङ्ग्यायाचिपूर्वपदकत्वनियमात्, अत्र च  
 सङ्ख्यावाचिपूर्वपदस्यैवामावात्, न च समामान्तरमङ्गलवोऽस्ति, येन तद्वान्यताऽपि शक्य-  
 सम्भावनया स्यात्, न चैकशेषवृत्त्या तथाबोधसम्भवी, रामश्च रामश्च रामौ रामश्च रामश्च  
 रामश्च रामा इत्यादौ सरूपाणामेकशेषस्य विधानात्, प्रकृते तु सरूपस्याभावेनैकशेषविधान  
 स्याशक्यत्वात्, निरूपाणामपि ममानार्थानामेकैकशेषस्य दृष्टत्वात्, प्रकृते तु ममानार्थकत्वा  
 भावात्, अन्यस्य चैकशेषविधायकविशेष्यत्वच्छब्दविषयकत्वेन तस्याप्यत्रासम्भवितात् ।  
 न च विग्रहवाक्येनापि तथाबोधप्रत्याशा कर्तव्या, विग्रहवाक्यस्य वृत्तिममानार्थकत्वनिय-  
 मात्, वृत्तेश्च तादृशार्थाऽबोधकत्वे निहिते विग्रहवाक्यस्य तादृशार्थबोधकत्वस्थ सुतराम  
 सम्भवात् । तथा बोधतरीत्याऽस्तित्वनास्तित्वोभयात्मके वस्तुनि युगपदस्तित्वनास्तित्वो  
 भयप्रतिपादकवचनाभावाद् युगपदस्तित्वनास्तित्वोभयात्मना घटेऽवक्तव्यत्व सिद्धमिति  
 तद्विषयकतृतीयमङ्गप्रवृत्तिस्तद्गच्छत एवेति, तृतीयमङ्गघटकस्यात्पद तु सहापिंतास्तित्व-  
 नास्तित्वोभयात्मकोऽर्थो न सर्वथा वचनागोचरः, तथा सत्यवक्तव्यशब्दप्रतिपाद्योऽपि स न  
 स्यात्, किन्तु कथञ्चिदवक्तव्य एवेति वचवितुमिति । अत्रधारणार्थत्रैकारपदमिति ।  
 न चावक्तव्यत्वस्यास्तित्वनास्तित्वोभयात्मकत्वे आद्येन मङ्गेनास्तित्वस्य द्वितीयेन च  
 नास्तित्वस्य ज्ञाने तदुभयज्ञान सञ्जातमेवेत्यय तृतीयमङ्गो निष्कलत्वेनोपादेयो नेति  
 वाच्यम्, सहापिंतास्तित्वनास्तित्वात्मकाऽवक्तव्यत्वज्ञानस्याद्याभ्यां मङ्गाम्भ्यामनुत्पाद्य-  
 स्योत्पादकतया साफल्येनोपादेयत्वात्, यतो न हि सहापिंतयोस्मस्यासत्त्वयोस्त्पाद-  
 वक्तव्य एवेति मङ्गेनाभिधानम्, किं तर्हि ? तथापिंतयोस्तयोस्सर्वथा वक्तुमशक्तेरवक्त-  
 व्यत्वस्य धर्मान्तरस्य तेन मङ्गेन प्रतिपादनमिष्यते । अत एव तत्संशय प्रत्याद्यमङ्गजन्य-  
 स्वद्रव्याद्यवच्छिन्नसत्त्वनिश्चयस्य द्वितीयमङ्गजन्यपरद्रव्याद्यवच्छिन्ननास्तित्वनिश्चयस्य च  
 कथमपि प्रतिबन्धकत्वाऽसम्भवेन तद्व्यभिचारिकत्वात् तद्व्यभिचारिकत्वात् तद्व्यभिचारिकत्वात् तद्व्यभिचारिकत्वात् एव ।



एवं चतुर्थादिभङ्गोत्थापकास्तंशयास्त्रपपादा इत्युक्त प्रागेव । ननु स्वद्रव्यादीनां सत्त्वस्य परद्रव्यादीनां चामत्रस्यावच्छेदकत्वगुररीकृत्य प्रथमद्वितीयतृतीयमङ्गा उपपादिताः, परस्वद्रव्यादीनां स्वाधिकरणत्वमेव परद्रव्यादीनाञ्च स्वामावाधिकरणत्वमेव प्रतीतिपथमवतरति, न त्ववच्छेदकत्व, भावस्यावच्छेदकत्व तु स्वरूपसम्बन्धरूप किञ्चिदधिकरणवृत्तित्वरूप सत्र यद्युपेतं तदाऽऽधेयत्वस्य सखण्डधर्मत्वात् सखण्डधर्माणाञ्च सावच्छिन्नत्वनियमाद् युज्येतापि, यदि तु घटत्वादिवत्सत्रमपि अखण्डधर्मविशेष एव तदा घटत्वादीनां यथा न सावच्छिन्नत्व तथा सत्रादिलक्षणास्तित्वादेरपि न सावच्छिन्नत्वमिति न तदवच्छेदकत्व स्वभावभूतस्यापि घटत्वादेरिति स्वद्रव्याद्यवच्छेदेन घटादेस्तत्रस्यैवाभावात्, एव परद्रव्याद्यवच्छेदेन घटादेस्तत्रस्याभावात्तदुभयाभावे तन्निगन्धनाऽनक्तव्यत्वस्याप्यभावाच्चोक्तमङ्गत्रयसम्भवः, तदभावे च प्रथमद्वितीयसयोगजस्य चतुर्थस्य, प्रथमतृतीयसयोगजस्य पञ्चमस्य, द्वितीयतृतीयसयोगजस्य षष्ठस्य, प्रथमद्वितीयतृतीयसयोगजस्य सप्तमस्य चाभावात्सप्तमङ्गसमाहाररूपा सप्तमङ्गी न सिद्धिपथमवतरतीति चेत्, उच्यते, अवच्छेदकत्वकल्पना हि प्रतीत्यनुसारेण भवति, तत्र धर्ममात्र सखण्डमखण्डवाऽव्याप्यवृत्तितयैव प्रतीयत इति सावच्छिन्नत्वे धर्मत्वमेव प्रयोजक, न तु सखण्डधर्मत्वं, घटत्वादेरपि च किञ्चिदपेक्षया घटादौ प्रतीत्युपपत्तये सावच्छिन्नत्व स्वीक्रियत एव, घटस्य द्रव्यपर्यायोमयात्मनः घटत्व न मृद्व्यापेक्षया, किन्तु पृथुयुष्नीदराद्याकारलक्षणपर्यायापेक्षयैव, इत्थञ्च यद् यदपेक्षया प्रतीयते तस्य तदवच्छिन्नत्व प्रतीतिशरणैरभ्युपेयम्, प्रतीयते च घटादेरस्तित्व स्वद्रव्याद्यपेक्षया, नास्तित्वञ्च परद्रव्याद्यपेक्षयेति स्वद्रव्यादीनां सखण्डस्याखण्डस्य वा सत्रस्यावच्छेदकत्वम्, एव परद्रव्यादीनामत्रस्य तथाभूतस्यावच्छेदकत्वम्, यदा च प्रतीत्यनुरोधेनैवावच्छेदकव्यवस्थाऽऽस्थीयते, तदा सङ्कोचविकाशशालिदेशे सति सङ्कचितदेशापेक्षया सत्रप्रतीतौ तद्देशवच्छिन्नदेशस्यावच्छेदकत्वम्, देशदेशस्य वाऽवच्छेदकत्वम्, विकाशदेशापेक्षया सत्रप्रतीतौ च तद्देशस्य तद्व्यापकदेशस्य वाऽवच्छेदकत्व स्यादेव, एव कालादेरपि सूक्ष्मस्थूलरूपतयाऽपेक्षाश्रयणेन सत्रप्रतीतौ तथाऽवच्छेदकत्वमत्रसेयम्, एवञ्चावच्छेदकसङ्कोचविकासाद्यपेक्षया सत्रासत्रोभयधर्मव्यवस्थितौ तत्रप्रतिपत्त्यर्थं तद्विवक्षातस्स्यादस्त्येव घट इति प्रथममङ्गस्य स्यान्नास्त्येव घट इति द्वितीयमङ्गस्य च सिद्धौ सत्या स्तस्वनिमित्तमेदापेक्षया युगपदेकत्र वर्त्तमानस्य सत्रासत्रोभयस्य युगपदेव प्राधान्यविवक्षया प्रतिपत्त्यर्थं वक्ता समुत्सुकोऽपि तथा प्रतिपादकवचनमप्रेक्षमाणस्यादवक्तव्य एव घट इत्येव तृतीयमङ्ग प्रयोक्तुमर्हति, तथाहि युगपत्प्राधान्येन तदुभयप्रतिपादक समामवचन तावन्न सम्भवति, प्रकृते बुधोद्ययिपितस्य प्राधान्येन युगपद्गमयस्य प्रतिपादनेऽन्यपदार्थप्रधानस्य बहुमीहेरसामर्थ्यात्, अव्ययीभावस्य चात्रानधिकारात्, उभयपदार्थप्रधानस्यापि द्वन्द्वस्य द्रव्यवृत्तेः प्रकृतार्थाप्रतिपादकत्वात् 'युग

शूचेरपि तस्य गुणानां द्रव्यद्वारेणैव तिष्ठत्यादिक्रियाधारत्वेन द्रव्याश्रितगुणप्रतिपादकत्वतः प्राधान्येन गुणद्वयप्रतिपादकत्वाभावात्, उच्यते प्रथमप्रधानस्य तत्पुरुषस्याप्यश्रुतेः, सङ्ख्यावाचिपूर्वपदस्य द्विगोरपि प्रकृते प्रवृत्त्यभावात्, गुणाधारद्रव्यनिपयत्वात्, कर्मधारयोऽपि सत्त्वासत्त्वोभय युगपत्प्राधान्येन प्रतिपादयितु सामर्थ्यं नालम्बते, समासान्तरञ्च नास्त्येवेति न समामवचन युगपत्प्राधान्येन विवक्षितसत्त्वामत्रोभयप्रतिपादक समस्तीति सिद्धम्, शून्यसम्भिन्नार्थत्वाद् व्यासनाक्यमपि तथाभूतगुणद्वयप्रतिपादक नास्त्येव, श्रुतज्ञानयोस्तस्यैतितसच्छब्दवत्किमपि वचन तथाभूतगुणद्वयसङ्केतित यदि भवेत्तदा विकल्पप्रभवशब्दवाच्यत्व स्याद्, विकल्पानां च युगपदप्रवृत्तेर्नैकदा तयोस्तद्वाच्यतामम्भवः, समूहालम्बनात्मकविकल्पो यद्यपि युगपदुभयग्रहणपदुस्तथापि तत्प्रभवपदाना बुद्धिविशेषविषयताञ्छेदकत्वोपलक्षितनानाशक्यताञ्छेदकत्वेन परमार्थतो नानार्थस्थानीयत्वेन तेभ्यः प्रकरणादिनियन्त्रितप्रतिनियतैकार्थबोधस्यैवैकदा सम्भवात्, सदसदुभयसङ्केतितपदस्य पुष्पदन्तादिवद्वित्वेनैवोभयप्रतिपादकत्वेन द्वित्वावच्छिन्नस्य तस्यैकत्वावच्छिन्ने निराकाङ्क्षत्वाद्भवो न सम्भवतीत्यतो द्वित्वेन सत्त्वासत्त्वोभयस्य प्राधान्य, न तु सत्त्वस्य अमत्त्वस्य च स्वस्वासाधारणधर्मरूपेण प्राधान्य युगपद्विवक्षित तत्प्रतिपत्तु शक्यमिति तथाञ्चाच्यत्वस्यैव सिद्धेः, अत एव वस्त्वादिपद सदसदुभये न सङ्केत्यते, द्वित्वावच्छिन्नस्य तस्यैकत्वावच्छिन्नान्वयाऽयोग्यत्वेन तथा प्रतिपादनासम्भवात्, किन्तु सदसदुभयात्मकैकजात्यन्तरे सङ्केत्यते जैनेः, घटस्य घटत्वमघटव्यावृत्तौ सत्यामेव सम्भवतीति घटे घटशब्दप्रवृत्तिनिमित्ते घटत्वेऽभ्युपगम्यमाने पटाद्यर्थप्रतिषेधस्तत्राभ्युपगत एव भवतीति न घटे पटाद्यर्थप्रतिषेधस्यासम्बद्धता, स्वद्रव्याद्यपेक्षसत्त्व-परद्रव्याद्यपेक्षयाऽमत्त्वयोः समानसवित्तसेधता मानसबोध एव, न शाब्दबोधे, 'शान्दी क्षाकाङ्क्षा शब्देनैव प्रपूर्यते' इति न्यायात्, तथा च स्वद्रव्यादिना सत्त्वप्रतिपादकप्रथमभङ्गवत्परद्रव्यादिनाऽसत्त्वप्रतिपादकद्वितीयमद्भोऽप्यावश्यक इति न प्रथमभङ्गेन द्वितीयमद्भस्य गतार्थता, एवमुक्तदिशाऽशक्तव्यत्वप्रतिपादकतृतीयमद्भोऽप्यावश्यकः, अथवा सर्वं सर्वात्मकमिति साङ्ख्यमतव्यवच्छेदाय द्वितीयमद्भ उपादीयते, प्रथममद्भेन घटस्य घटत्वप्रतिपत्तावपि घटत्वादिव्यवच्छेदप्रतीत्यभावात् न साङ्ख्यमतव्यवच्छेदो भवेत्, द्वितीयमद्भेन पटत्वादिनाऽसत्त्वप्रतिपत्तौ तद्व्यवच्छेदस्याऽवश्यम्भावात् १, घटस्य नामस्थापनाद्द्रव्यभावात् भेदेन चातुर्विधे सति तत्रैकविधस्य विधित्मितत्वमन्यविधस्य चाविधित्सितत्वमिति यद्विधित्सित रूप तद्रूपेणास्तित्वमिति तत्प्रतिपादकः प्रथममद्भः, यद्विधित्सित रूप तद्रूपेण नास्तित्वमिति तत्प्रतिपादको द्वितीयो मद्भः, विधित्सिताविधित्सितप्रकाराभ्या युगपद्वक्तु न शक्यते इति युगपदवाच्यत्वप्रतिपादकः तृतीयो मद्भः, कथं न वक्तुं शक्यते इत्यत्र

तथाऽभिधेयपरिणामरहितत्वात्तस्येत्वेवोत्तरम्, एवमग्रेऽपि, यथा विधित्सितरूपेण घटस्तथा  
 ऽत्रिधित्सितरूपेणापि यदि घटः स्यात् तर्हि प्रतिनियतनामादिव्यवहारोच्छेद एव भवेत्,  
 एवञ्च व्यवहाराभावो व्यग्रहर्च्यभावादेवेति विधित्सितरूपस्याप्यभावे सर्वाभाव एव भवेत्,  
 तथा यथाऽविधित्सितप्रकारेण घटोऽघटस्तथा विधित्सितप्रकारेणाऽप्यघटः स्यात्तदा घटस्य  
 सर्वप्रकारेणाभावे घटसत्त्वनियन्धनव्यवहार एव मिलीयेत, इति विधित्सितरूपेण घटत्वम  
 विधित्सितरूपेणाऽघटत्वमिति तत्प्रतिपादकौ प्रथमद्वितीयमङ्गौ, विधित्सितरूपमविधित्सित-  
 रूपव्यवच्छेदमन्तरा न सम्भवति, अविधित्सितरूपव्यवच्छेदो विधित्सितरूपमन्तरा न  
 सम्भवतीति त्रिधित्सिता विधित्सितनिधेययोरेकस्यैवैकान्तस्याभ्युपगमे तदितराभावे तस्या  
 प्यभाव इत्यभिधेयाभावादभिधानस्याप्यभावा इत्यनाच्य इति तृतीयमङ्गः, नन्वनेकगुणरति  
 वस्तुनि एकगुणरूपेण विधित्सा प्रयोजनानुरोधिनी भवतु नाम नेय रूपान्तरावच्छिन्नसर्वा  
 विरुणाद्वि, रूपवत्त्वेन घटस्य विधित्सायामपि रसवत्त्वेन तत्सत्ताया अनपायादिति चेत्, न,  
 गुणात्मरसत्ताया गुणरूपत्वेऽपि व्यावहारिक्यास्तस्यास्तदभिधेयपरिणामपर्यसितवत्त्वेन  
 विधित्सानुसारित्वात्, एवञ्च नामरूपेण त्रिधित्सितस्य घटस्य नामरूपाभिधेयपरिणाम  
 वत्त्वमेव नाविधित्सितरूपाभिधेयपरिणामवत्त्वमर्थात्तद्रूपेणाभिधेयो न भवतीत्यतोऽविधित्सि  
 तरूपेण घटोऽघट एवेति एवमग्रेऽप्याक्षेपपरिहारौ वाच्यौ ॥ २ ॥

नामादिचतुष्टयप्रकारेषु प्रतिनियतस्थापनासंस्थानविशेषरूप एव घटो यदाऽभिम  
 तस्तदा प्रतिनियतस्थापनासंस्थानरूपेण घटः, इतरेण चाघट इति प्रथमद्वितीयौ, ताभ्यां  
 युगपत्प्रधानतया विवक्षिताभ्यामभिघातुमशक्यत्वाद्वाच्य एव घट इति तृतीयो मङ्गः, यथा  
 विवक्षितस्वासाधारणसंस्थानरूपेण घटो घटस्तथाऽन्यघटगतसंस्थानरूपेणापि यदि घट  
 स्तदैकस्य सर्वघटात्मकत्वमासज्यते। अथ यथेतरसंस्थानादिरूपेणाघटस्तथा विवक्षितसंस्थान  
 स्वरूपेणाप्यघटस्तदा घटार्थिनः पटादाविव तत्राप्यप्रवृत्तिः स्यात्, उक्तदिशा घटत्वाघटत्व  
 योरुभयोरप्येकत्रभावे तन्मध्यादेकान्तेनैकस्याभ्युपगमे तथाभूतस्य प्रमाणाविषयत्वाद्-  
 सत्त्वादवाच्यो घटः ॥ ३ ॥

संस्थानविशेषस्वरूपेण स्त्रीकृतेऽपि घटे यन्मध्यावस्थाया पृथुबुध्नोदरादिलक्षण  
 संस्थान तद्घटस्य निज रूप तद्रूपेण घटो घटः, पूर्वोत्तरावस्थे कुशूलकपालादिलक्षणे संस्थाने  
 अर्थांतररूप तद्रूपेण घटोऽघट इत्येव प्रथमद्वितीयमङ्गौ, युगपत्प्रधानतया विवक्षिता  
 भ्यां ताभ्यां वस्तुमसामर्थ्याद्वाच्य एव घट इति तृतीयो मङ्गः, यथा पृथुबुध्नोदराद्याकाग-  
 लक्षणमध्यावस्थास्वरूपेण घटस्तथा यदि कुशूलकपालादिलक्षणपूर्वोत्तरावस्थास्वरूपेणापि  
 घटः स्यात्तदा तस्य त्रिकालानुसंधानोऽनाद्यनन्तत्व प्रसज्येत, यदि यथा पूर्वोत्तरावस्था-  
 स्वरूपेणाघटस्तथा मध्यावस्थास्वरूपेणाप्यघटस्तदा कचिदपि कालेऽवर्त्तमानस्य तस्य शशशृङ्गादे-

रिव सर्वदाऽसत्त्वमेवानुपज्यत इति कदाचिदपि घटार्थिनस्तत्र प्रवृत्तिर्न स्यात्, निरुक्तोभ  
यरूपमध्यादेकान्तत एकरूपस्याभ्युपगमे तु तदेकान्तरूप नास्त्येव वस्तिरिति सर्वदाऽभार  
एवेत्यसत्त्वादेसावाच्य' ॥ ४ ॥

तस्मिन्नपि मध्यावस्थारूपे घटे वर्त्तमानक्षणरूप निज, तेन रूपेण सत्त्वात्प्रथममङ्गः,  
अवर्त्तमानक्षणस्वरूपमर्थान्तररूप तेन रूपेणासत्त्वाद् द्वितीयो मङ्गः, ताभ्यां युगपदभिघातुम  
शक्यत्वाद्वाच्यलक्षणस्तृतीयमङ्गः, अत्रेय मीमांसा-यदि वर्त्तमानक्षणस्वरूपो घटो वर्त्त  
मानक्षणवत्पूर्वोत्तरक्षणयोरपि भवेत्तदा पूर्वोत्तरक्षणयोरवर्त्तमानत्वमनङ्गमायतेत्, विभिन्नका  
लीनयोराधाराधेयभावाभावाद्द्वर्त्तमानक्षणस्वरूपस्य वर्त्तमानक्षणेनैव सम्बन्धादित्यतीतानागत-  
कालाभावप्रसक्त्या तदभावे तदपेक्षस्य वर्त्तमानक्षणमाश्रयात्प्रमायः प्रमज्येत, यथा यद्य  
तीतानागतक्षणरूपतया घटोऽघटस्तथा वर्त्तमानक्षणरूपतयाऽप्यघटस्तर्हि सर्वदा घटाभार-  
प्रसक्त्या घटार्थिनस्तत्र प्रवृत्तिर्न स्यात्, तयोरेकान्तैकरूपाभ्युपगमेऽप्येकान्तस्याभावा  
देवावाच्य. ॥ ५ ॥

एव क्षणपरिणतिरूपस्य घटस्य चक्षुरिन्द्रियजन्यप्रतिपत्तिविषयत्व निवक्षितत्वानि न रूप  
तेन सत्त्वादायो मङ्गः, अयेन्द्रियजन्यप्रतिपत्तिविषयत्वमनिवक्षितत्वादर्थान्तर, तेनामत्त्वाद्  
द्वितीयो मङ्गः, ताभ्यां युगपदादिष्टो वक्तुमशक्यत्वाच्चृतीयो मङ्गः, तथाहि यथा लोचन-  
जन्यप्रतिपत्तिविषयत्वेन घटो घटस्तथा यदीन्द्रियान्तरजन्यप्रतिपत्तिविषयत्वेनापि घटः तदा  
लोचनजन्यप्रतिपत्तिविषयभावपरिणतिस्वरूपे इन्द्रियान्तरजन्यप्रतिपत्तिविषयभावपरिणतिप्र-  
वेश आवश्यक इति चक्षुरिन्द्रियजन्यप्रतिपत्तिविषयत्वत एवेन्द्रियान्तरजन्यप्रतिपत्तिविषय-  
त्वमितीन्द्रियान्तरकल्पनावैयर्थ्यप्रसङ्गः, चक्षुरिन्द्रियस्वरूपमपि यदीन्द्रियान्तरस्वरूप भवेत्  
तदैव चक्षुरिन्द्रियजन्यप्रतिपत्तिविषयत्वपरिणतिरिन्द्रियान्तरजन्यप्रतिपत्तिविषयत्वपरिणति-  
रितीन्द्रियसङ्घर्षप्रसङ्गश्च, यथा यदीन्द्रियान्तरजन्यप्रतिपत्तिविषयत्वेन घटो न घटस्तथा  
चक्षुरिन्द्रियजन्यप्रतिपत्तिविषयत्वेनापि न घटस्तदा तस्याऽरूपत्व प्रसज्येत, उक्तरूपद्वयम-  
ध्यादेकान्तेनैकरूपाभ्युपगमे इतरापेक्षस्य तस्येतराऽभावेऽभावादवाच्य एव ॥ ६ ॥

लोचनजन्यप्रतिपत्तिविषये तस्मिन्नेव घटे घटशब्दवान्यता निज रूप तद्रूपेण सत्त्वात्प्रथमो  
मङ्गः, कुटादिशब्दान्यत्वमर्थान्तरम्, तद्रूपेणासत्त्वाद् द्वितीयो मङ्गो, युगपत्ताभ्यामिष्ट  
स्तथाऽभिधेयपरिणामाभावादत्रान्य इति तृतीयो मङ्गः, यथा घटशब्दवाच्यत्वेन घटस्तथा  
यदि कुटशब्दवाच्यत्वेनापि घटस्तदाऽन्यशब्दवाच्यस्याप्येकशब्दवाच्यत्वस्य स्वइति-  
तत्वाद्-यथा घटशब्दादन्य, कुटशब्दः तथा पटमठादिशब्दा अपि घटशब्दादन्य एवेति  
कुटशब्दवाच्यस्य यथा घटशब्दवाच्यत्व तथा पटमठादिशब्दाव्यानामपि घटशब्दवाच्यत्व-  
मित्येव सर्वस्यैकशब्दवाच्यत्वप्रसङ्गेन त्रिजगत एकशब्दवाच्यत्वप्रसक्तिः, एकशब्दवाच्यस्य

वाऽनेकशब्दवाच्यत्वस्याङ्गीकृतत्वाद् घटस्य कुटादिशब्दवाच्यत्ववत्पटादिशब्दवाच्यत्वस्यापि प्रसक्तिरिति घटे घटशब्दवाच्यत्वप्रतिपत्तौ तत्स्वरूपसन्निविष्टाशेषशब्दवाच्यत्वप्रतिपत्ति-  
प्रसङ्गे सति घटशब्दप्रतिपत्तिवत्तदुवाचकसमस्तशब्दप्रतिपत्तिप्रसङ्गः, अर्थे वाच्यतायाः शब्दे  
वाचकतायाश्च समानसवित्सवेद्यत्वादेकप्रतिपत्तावन्यप्रतिपत्तेरवश्यम्भावात्, एव कुटादि-  
शब्देनावाच्यो घटो यदि घटशब्देनाप्यवाच्यस्यात्तदा स्ववाच्यप्रतिपत्त्यर्थं शब्द उच्चार्यते  
नान्यथेति घटशब्दाऽनाच्यस्य घटस्य घटशब्दोच्चारणेऽपि न प्रतीतिरिति घटशब्दोच्चारण  
वैयर्थ्यं स्यात्, तयोरेकान्ताभ्युपगमे त्वेकान्तैकरूपस्य घटस्यासत्त्वादेव सङ्केतद्वारेणापि न  
तद्वाचकः कश्चिच्छब्दः इत्यनाच्य एव ॥ ७ ॥

अथवा घटशब्दाभिधेयस्य तस्यैव घटस्योपादेयान्तरङ्गोपयोगरूप निज रूप तेन सत्त्वा-  
त्प्रथमभङ्गः, हेयबहिरङ्गाऽनुपयोगरूपमर्थान्तर तेनासत्त्वाद्धितीयो भङ्गः, ताभ्यां युगपदा-  
दिष्टो घटस्तथाऽभिधेयपरिणामाभावाद्वाचकस्य कस्यचिद्भावादवाच्य इति तृतीयो भङ्गः,  
यथाऽर्थक्रियाक्षमादिरूपेण घटस्तथा यदि हेयबहिरङ्गानर्थक्रियाकार्यऽसन्निहितरूपेणापि घट-  
स्यात्तर्हि पटादीनामपि घटत्व स्यात्, यथा हेयबहिरङ्गानर्थक्रियाकार्यऽसन्निहितरूपेणाघट-  
स्तथा यदि उपादेयादिरूपेणाप्यघटः स्यात्तदाऽन्तरङ्गस्य वक्तृश्रोतृगतहेतुफलभूतघटाकाराव  
बोधकविकल्पोपयोगस्याप्यभावे घटस्याप्यभावप्रसङ्ग इत्यनाच्यः, एकान्ताभ्युपगमेऽप्ये-  
कान्तस्याभावादेव वक्तृश्रोतृगतहेतुफलभूतघटाकारावबोधकविकल्पोपयोगस्याभावे घटस्या-  
भावप्रसङ्ग इत्यवाच्यः ॥ ८ ॥

अथवा तस्मिन्नेवोपयोगस्वरूपे घटेऽभिमतार्थावबोधकत्व निज रूप तेन सत्त्वात्प्रथम  
भङ्गः, अनभिमतार्थानवबोधकत्वमर्थान्तररूप तस्य स्वगतत्वेऽप्यर्थान्तरत्वेन विवक्षणात्, तेन  
रूपेणासत्त्वाद्धितीयो भङ्गः, ताभ्यां युगपदादिष्टतथाभिधेयपरिणत्यभावात्तथावाचकस्याप्य  
भावादवाच्य इति तृतीयो भङ्गः, यथाऽभिमतार्थप्रतिपादकत्वेनोपयोगलक्षणो घटो घटस्तथा-  
ऽनभिमतार्थानवबोधकत्वरूपेणापि यदि घटः स्यात्तदा प्रतिनियतोपयोगाभावः प्रसज्यते  
अभिमतार्थप्रतिपादकत्वानभिमतार्थानवबोधकत्वयोर्नैलक्षण्येन तदुभयाध्यासितस्य प्रतिनियत  
त्वाभावात्, उपयोगस्य प्रतिनियतत्वाभावे च विविक्तरूपोपयोगप्रतिपत्तिर्न स्यात्,  
यथाऽनभिमतार्थानवबोधकत्वेनाघटस्तथा यद्यभिमतार्थावबोधकत्वलक्षणविवक्षितोपयोगस्व-  
रूपेणाप्यघटः स्यात् तर्ह्युक्तदिशा पटादिरप्यपटादिरिति सर्वाभावः, यथा घटस्याघटत्व  
तथा पटादेरप्यघटत्वमिति पटादितो घटस्याविशेषप्रसङ्गश्च, पटाद्यविशिष्टत्वेन घटस्या  
प्रतीत्या तथाऽऽपादनस्येष्टापादनत्वासम्भवात्, तयोरेकस्यैकान्ततयाऽभ्युपगमे त्वेकान्त-  
स्याप्रतीत्यैवासत्त्वेन सर्वाभावाविशेषप्रसङ्गतादवस्थादवाच्यः ॥ ९ ॥

अथवा घटस्य घटत्व निज रूपमसाधारणत्वात्, तेन रूपेण सत्त्वात्प्रथमो भङ्गः, सत्त्वम-

सत्त्व चार्थान्तररूप साधारणत्वादिति तद्रूपेणासत्त्वाद्धितीयो भङ्गः, अमेदेन ताभ्यां निर्दिष्टौ घटोऽवक्तव्य इति तृतीयो भङ्गः, तथाहि—यस्मिन् स घट इत्येव सत्त्वमनूद्य घटत्व यदि विधीयते तदा घटत्वस्य सत्त्वव्यापकत्वात्सर्वेषां मता घटरूपत्वप्रमत्त्या घटस्य सर्वगतत्व प्रसङ्गः, न चाय प्रसङ्ग इष्टापत्तिरूपत्वेन परिहर्तुं शक्यः, विभिन्नप्रतिभासबोधप्रतिनियत व्यवहारविलोपापत्तेस्तथाऽभ्युपगमेऽनिष्टत्वात्, तथा योऽस्मिन् स घट इत्येवमसत्त्वमनूद्य यदि घटत्व विधीयते, तदा विधिस्तन् निषेधोऽस्मिन्निति निषेधरूपस्य प्रागभावादिचतुष्कस्य घटत्वेन व्याप्तेर्घटत्वप्रसङ्गः, अत्र यः कश्चिद्विधिर्भाव, स सन् भवतीत्युपदर्शनमात्रमेतत्, तेन भावमात्रस्य विधित्वेऽपि प्रकृते विधीयमानस्य घटत्वस्य भावरूपत्वेन विधित्व बोध्यम् । अथ घटत्वमनूद्य सदमत्त्वे विधीयेते तदा घटत्व यत्तदेव सदसत्त्वे इति घटमात्र ते प्रसज्ये यातां, तथा च पटादीनां प्रागभावादीनां चाभावप्रमत्तिरिति प्राक्तनन्यायेन विशेषण-विशेष्यलोपात् सन् घट इत्येवमप्यवक्तव्योऽस्मिन् घट इत्येवमप्यवक्तव्यस्स्यात्, यतः सन् घट इति, अस्मिन् घट इति, घट' मन्निति, घटोऽसन्नित्येव केनापि प्रकारेण घटो वाच्यो न भवति, तस्माद्वाच्य । अनेकान्तपक्षे तु कश्चिद्विधाच्यो, न तु सर्वथा, अमेदवाद-कृततद्दोषस्य मेदवादेन परिहारादिति न कश्चिदोषः। न च मेदैकान्तेऽपि घटत्वमनूद्य सत्त्वासत्त्वयोः समवायविशेषणताभ्यां विधानान्नाय दोष इति वाच्यम्, अतिरिक्तमवाय विशेषणतयोर्मानाभावेन मेदैकान्तस्यैवात्राच्यत्वादिति ॥ १० ॥

घटस्य प्रतिक्षणमन्यान्यपरिणतिरर्थपर्यायोऽनन्यगामित्वान्निज रूप, तद्रूपेण सत्त्वा-स्प्रथमभङ्गः, व्यञ्जनपर्यायस्तु घटशब्दप्रवृत्तिनिमित्त घटत्व सकलघटसाधारणत्वाद्यन्तरं तद्रूपेणासत्त्वाद् द्वितीयो भङ्गः, अमेदेन ताभ्यां निर्देशेऽव्यक्तव्यत्वात्तृतीयो भङ्गः, अत्र यो व्यञ्जनपर्यायस्म घटार्थपर्याय इत्येव व्यञ्जनपर्यायमनूद्य यदि घटार्थपर्यायविधिः तदा व्यञ्जनपर्यायोऽर्थपर्याय एवेत्यर्थपर्यायाणां भिन्नत्वात्तदात्मको व्यञ्जनपर्यायो नैक इत्येकान्तु गतव्यञ्जनपर्यायनिबन्धनानुगतव्यवहारविलोपः । अथ योऽर्थपर्यायस्म व्यञ्जनपर्याय इत्येव मर्थपर्यायमनूद्य व्यञ्जनपर्यायविधिस्तदाऽर्थपर्यायो व्यञ्जनपर्याय एवेति व्यञ्जनपर्यायस्य नित्यत्वात्तदात्मकार्यपर्यायस्य नित्यत्वात्तत्कार्यत्व स्यात्, घटस्य तु कार्यतयैवानुभवो नाऽकार्यतयैति तथाभूतस्य तस्यामानाद्वाच्यः, अनेकान्तपक्षे त्वर्थव्यञ्जनपर्यायाभ्यां सत्त्वासत्त्वयोर्युगपत्प्रधानतया विभक्तियोरभिधातुमशक्यत्वात्कश्चिद्विधाच्यः ॥ ११ ॥

यद्वा सत्त्वमर्थान्तरभूतम्, तस्य विशेषवदेकत्वेनानन्वयिरूपत्वाच्च शब्दवाच्यत्वमिति तद्रूपेणावाच्यो घटः, अत्र सत्त्वस्यार्थान्तरत्वविशेषा पर्यायनयमूलकप्रथमभङ्गाश्रयणकृता, अनन्वयित्वञ्च तस्यैकमेकत्रैव निरशमवस्थातुमर्हतीति समाश्रयणेन, अनुगतस्यैव प्रवृत्ति निमित्तत्वाच्छब्दवाच्यत्वमित्यनुगतत्वान्न शब्दवाच्यत्वमिति बोध्यम् । अनन्यविशेषो निज

रूप, तस्याप्यनन्वयित्वादावाच्यत्वमिति तद्रूपेणाप्यवाच्यो घटः, प्रत्येकावक्तव्याभ्यां ताभ्यां युगपदादिष्टोऽपि घटोऽवक्तव्यः, अनेकान्तपक्षे तु कथञ्चिदवक्तव्यः ॥ १२ ॥

अथवा साङ्ख्यमते प्रतिनियतार्थक्रियाकारितावच्छेदकैर्मयपरिणतिलक्षणसन्दुतरूपानां पक्षाः सत्त्वरजस्तमोऽभिधाना गुणा अर्थान्तरम्, प्रतिनियतार्थक्रियाकारितावच्छेदकैर्मय परिणतिलक्षण सन्दुतरूप घटस्य निजम्, ताभ्यामादिष्टो घटोऽवक्तव्यः, यतः निरुक्तैर्मय परिणतिलक्षणस्य सन्दुतरूपस्य सत्त्वरजस्तमस्तु भावे सत्त्वरजस्तमसामभावप्रसक्तिः, तेषां परस्परवैलक्षण्येनैव सत्त्वादिरूपत्वात्, सन्दुतरूपत्वे च वैलक्षण्यभावादभाव इति सन्दुत रूपाः सत्त्वादयः घट इत्यत्र सन्दुतरूपा इति विशेषण सत्त्वादय इति विशेष्य, तत्र विशेष्यी- भूतानां सत्त्वादीनामभावात् सन्दुतरूपास्तत्त्वादय इति वक्तुं न शक्यत इत्यवाच्यः, सत्त्वरज- स्तमस्तु सन्दुतरूपस्याऽभावे तु असत्सन्दुतरूपस्योत्पादादसत्कार्योत्पादप्रसङ्गः, न च सत्कार्य- वादिभिस्साङ्ख्यैरसत्कार्योत्पादोऽभ्युपगम्यते, यदि च तद्राद्धान्तोच्छेदभीतिमगणयित्वैव तथोपेयते तदा सत्त्वादिषु सन्दुतरूपत्व विशेषणान्नास्तीति विशेषणभावात्सन्दुतरूपास्तत्त्वा- दय इति वक्तुं न शक्यत इत्यवाच्यः, यद्वैर्मयपरिणतिस्तेषां भवति तदानीं सन्दुतरूपस्य सद्भावात् विशेषणभाव इति चेत्, न, कालभेदेन सन्दुतरूपासन्दुतरूपयोरेकत्र समावेशा- भ्युपगमेऽनेकान्तप्रवेशात्, प्राक् शक्तिरूपेण सन्दुतरूप तेषु समास्ति, न च शक्तिरूपेण सन्दुतरूपमत्र सत्त्वादिवैलक्षण्यव्याहन्तु, व्यक्त्या तु घटमामग्रीत एव सन्दुतरूप स्यादिति चेत्, व्यक्तेरप्याग्निर्भावलक्षणायाः प्राक् सन्दुतरूपस्य तेषु सत्त्वे तेषामभावप्रसक्तिः, असत्त्वे असत्कार्यवादप्रसङ्ग इत्येव सदसद्विकल्पग्रामात् । अथ नैयायिकादीनां यथा भूतले घटसत्त्वदशायां सतोऽपि घटाभावस्य न सम्बन्धः, किन्तु तदपसारणदशायामेव तदपसारण- कालावच्छिन्नस्वरूपात्मा सम्बन्धः, तथा ममापि सन्दुतरूपस्य प्राक्सत्त्वेऽपि प्राकाला- वच्छिन्नस्वरूपात्मा न सम्बन्धो, घटमामग्रीसम्पत्तौ च सम्बन्धलाभाद्भवहारसिद्धिरिति चेत्, न, उभयोरपि चादिनोर्यथोक्तसम्बन्धस्याऽनेकान्त विनाऽवाच्यत्वादिति दिक् ॥ १३ ॥

अथवा असहृतरूपा रूपादयो ह्यर्थान्तरभूताः, सहृतरूपत्व सामूहिकप्रत्ययग्राह्य निजम् ; ताभ्यामादिष्टो घटोऽवक्तव्यः यथा ह्यरूपादिष्व्यावृत्तरूपा रूपादयः तर्हि रूपादीनां घटताऽ- वाच्यता, अरूपादित्वाद् घटस्य, न हि परस्परविलक्षणयुद्धिग्राह्या रूपादय एकानेकात्मक प्रत्ययग्राह्याऽरूपादिरूपघटता प्रतिपद्यन्त इति रूपादीनामेकानेकप्रत्ययग्राह्यत्वलक्षणसहृ- त्त्वतायामरूपादित्वप्रसङ्गतो रूपादित्वैव नास्तीति सहृतरूपा रूपादयो घट इत्यत्र सहृ- त्त्वत्व विशेषण रूपादयश्च विशेष्या इति विशेष्यीभूतानां रूपादीनां विलोपात्सहृ- त्त्वा रूपादयो घट इत्येव वक्तुं न शक्यते इत्यवाच्यः, यदि चारूपव्यावृत्तत्वेन रूपा- दीनां नोपगमः किन्त्वस्वरूपत्वेनैव, एवमपि रूपादय एव न भवन्तीति तेषामभावे के

सहृतरूपतया विशेष्याः ? येन सहृतरूपा रूपादयो घटो भवेदित्येवमप्यवाच्यः, अनेकान्त-  
वादे च कथञ्चिदवाच्यः ॥ १४ ॥

अथवा घटो रूपादिमानिति यदुच्यते तत्र रूपादयोऽर्थान्तरभूता, मतुवर्थो निजः,  
ताभ्यामादिष्टो घटोऽवक्तव्यः, रूपाघातमकैकाकारान्मासप्रत्ययविषयव्यतिरेकेणापररूपसम्ब-  
न्धस्यानवगते. रूपादिमानित्यत्र विशेष्यस्य सम्बन्धस्याभावाद्रूपादिमान् घट इति वक्तु न  
शक्यत इत्यवाच्यः, घटात्मकैकाकारप्रतिभामग्राह्यघटस्वरूपव्यतिरेकेण नापरस्य रूपादेः  
प्रतिभास इति रूपादिमानित्यत्र मतुवर्थविशेषणस्य रूपादेरभावादपि रूपादिमान् घट इति  
वक्तु न शक्यत इत्यवाच्यः, अनेकान्ते तु कथञ्चिदवाच्यः ॥ १५ ॥

अथवा बाह्योऽर्थान्तरभूतः, उपयोगस्तु निजः, ताभ्यामादिष्टोऽवक्तव्यः, तथाहि य  
उपयोगः स घट इत्येवमुपयोगन्वमनूय घटत्र यदि विधीयते तर्ह्युपयोगमात्र घट इति सर्वोप-  
योगस्य घटत्वप्रमत्तया निमित्तोपयोगनिबन्धनविभिन्नस्वरूपलक्षणप्रतिनियतरूपामावात्तथा  
वक्तु न शक्यत इत्यवाच्यः\* अथ यो घटस्म उपयोग इत्येव घटत्रमनूयोपयोगत्व विधीयते  
तदाऽर्थात्मक उपयोग इत्युपयोगस्यार्थ-उपसक्त्याऽर्थातिरिक्तस्य तद्व्यवस्थापकस्योपयोगस्या-  
भावाद् घटाद्यर्थस्याभावात्कथं नात्राच्यो घटः ॥ १६ ॥

इत्येवमुपदिष्टा. षोडशावक्तव्यविकल्पाः, त्रैकादशसु विकल्पेषु प्रथमद्वितीयमङ्गान  
न्तरमवक्तव्यमङ्गप्रवृत्तिः, द्वादशादिषु पञ्चसु प्रथमत एवावक्तव्यमङ्गप्रवृत्तिः, तत्रोपाध्याय-  
भगवन्त इत्यमनेकान्तव्यवस्थाया स्वविचारभावेदयन्ति—“अत्र च निजार्थान्तरपर्यायैर-  
नेकान्तोपजीविनेगमव्यवहारविशुद्धितारतम्योपदर्शकमतिदृष्टान्तनीत्या यथाक्रमसङ्घ-  
क्रमेण युगपद्यादिष्टैरुपदर्शितेषु षोडशस्ववक्तव्यविकल्पेषु मध्ये एकादशसु त्रयोऽपि भङ्गाः  
सम्भवन्ति, द्वादशादिषु च पञ्चसु च स्वतन्त्रैरान्ते नयार्थितैस्तैः प्रत्येक समुदाये च सर्वथा  
वक्तव्यतरमङ्ग एवोचिष्ठे-म च बाधितः सञ्च कथञ्चिदवक्तव्यत्वे पर्यवस्यति, तस्य कथ-  
ञ्चिच्च च भङ्गद्वयाधीनम्, इत्य च त्रयाणा भङ्गानां क्रमाभिधानमेव सम्प्रदायसिद्धमिति ।  
व्युत्पत्तिमहिम्ना ततोऽपि स्याद्वादविद्रुयो भङ्गत्रयमम्भव इति विवेकः, इत्य च घटपशुपाले-  
नोक्तम्—“सर्वप्रानेकान्ताभ्युपगमे 'सर्वमस्ति स्वरूपेण पररूपेण नास्ति च' इति वचन  
मेवानुपपन्नम्, स्वपररूपयोरप्यनिर्धारणादिति” तदपास्त दृष्टव्यम्, पूर्वं नयविशेषेण  
स्वपररूपयोः सङ्कोचनिकासावुपनीव्य तदनुमारेणैव सप्तमङ्गीप्रवृत्तेः, अवच्छिन्नमप्रतिपक्ष-  
धर्मद्वयाभिधानस्थले एकान्ततोऽवच्छेदकनिर्णयस्य तथाप्यमात्राद्, इदानीं गोष्ठे गौर्न तु  
वाजिशालायामित्यादौ शुद्धगोष्ठादस्त्वच्छेदकत्वस्य निर्णेतुमशक्यत्वाद्, इह कोणे गोष्ठे  
गौर्नपरस्तेणे इति प्रतिसन्धाने एतत्कोणावच्छिन्नगोष्ठस्यैतत्कोणस्य वा तथात्वसम्भ-  
वाद्, अवच्छेदकान्तेदकस्यावच्छेदकसङ्कोचस्य वाऽपरिस्पृष्टौ शुद्धावच्छेदकपुरस्कारेण



तत्परिस्फूर्त्तौ तु सावच्छिन्नप्रकृतावच्छेदकपुरस्कारेणैव प्रतिनियतदेशदेशावच्छेदेन वा  
निर्णयस्त्वावयोः समानः, देशदेशस्य नावच्छेदकत्वमिति तु नीलपीतकपालिकास्यक  
पालसमवेतघटनीलप्रत्यक्षान्यथानुपपत्त्या परेण यद्यतुमद्यवयम्, तत्र नीलकपालिका-  
वच्छिन्नचक्षुस्सयुक्तसमवायसम्बन्धावच्छिन्नाधारतयैव घटे नीलप्रत्यक्षोपपादनात्, इयांस्तु  
विशेषः-यत्परेषां देशदेशस्यावच्छेदकत्व स्नाभात्रिकसम्बन्धविशेषेण, अस्माकं तु वैद्या  
निकसम्बन्धविशेषेण, तत्र परेषां परम्परासम्बन्धेन गोष्ठकोणस्य साक्षात्सम्बन्धेन कोणा-  
वच्छिन्नगोष्ठस्य गवावच्छेदकत्वमिति कोणे गौर्न तु गोष्ठे इति द्रुमेक्षिकानुपपत्तिः,  
अस्माकं तु मध्यमनैगमभेदकतवैज्ञानिकसम्बन्धेन गोष्ठकोण एव तथात्व न तु गोष्ठ इति  
तदुपपत्तिः, न च कोणे गौर्न तु गोष्ठे इति द्रुमेक्षिका न भवत्येव, किन्तु न तु सम्पूर्ण  
गोष्ठ इत्येव, सा च यावत्कोणेषु गवावच्छेदकतावच्छेदकत्वपर्याप्त्यभावमवगाह्य इति  
परेषामपि नानुपपत्तिरिति वाच्यम्, एव सति सम्पूर्णकोणेषुपि तद्भावात्कोणे गोष्ठे  
गौरित्यस्याप्यनुपपत्तेर्नयविशेषकृतसम्बन्ध विना न विचित्रप्रतीत्युपपत्तिरित्यधिक नय  
रहस्यादौ" इति । ननु सङ्ग्रहनयविषय महासामान्यस्वरूप सत्प्रमखण्डमेकं निरवच्छिन्नं  
प्रतिपादयन् प्रथमभङ्गः प्रवर्त्तत इति कथमस्य स्वद्रव्याद्यपेक्षया सन् घट इत्येवरूपता, निर-  
वच्छिन्नस्वरूपे निरुक्तसत्त्वे स्वद्रव्याद्यपेक्षत्वस्य स्वद्रव्याद्यवच्छिन्नत्वलक्षणस्याऽसम्भवात्,  
तथापि तथाप्रतिपादने तत्प्रतिपादकस्य प्रथमभङ्गस्य बाधितार्थकत्वापत्तिः, एव निरुक्तसत्त्व-  
प्रतिपक्षभूताऽसत्ताऽपि तद्भावरूपैका निरवच्छिन्नेति न तस्या अपि परद्रव्याद्यवच्छिन्नत्व-  
लक्षण परद्रव्याद्यपेक्षत्वमिति व्यग्रहारनयविषयनिरुक्तासत्त्वप्रतिपादनप्रवणो द्वितीयभङ्गोऽपि  
परद्रव्याद्यपेक्षयाऽसन् घट इत्येव रूपो न सम्भवति, निरवच्छिन्नस्यापि निरुक्तासत्त्वस्य  
सावच्छिन्नतया प्रतिपादने वा तथातत्प्रतिपादकस्य तस्यासम्भितार्थप्रतिपादकत्वेन बाधि-  
तार्थकत्वापत्तिः, एव भङ्गद्वयस्य बाधितार्थकत्वे तत्सापेक्षाणां तदनन्तरप्रवृत्तिकानां तृतीया  
दिभङ्गानामपि बाधितार्थकत्वं स्यात्, तथा च निरुक्तसत्प्रमखण्डस्यैव सत्प्रमखण्डयपि  
बाधितार्थविषयाऽप्रमाणतामास्कन्दतीति सत्प्रमखण्डवाक्य प्रमाणवाक्यमिति राद्धान्तो जैनानां न  
सद्गतिमश्नुतीति चेत्, न, धर्मत्वेन हेतुना धर्ममात्रस्याव्याप्यवृत्तित्व साधयतां स्याद्वादिनां  
भते निरवच्छिन्नत्वाखण्डत्वैकत्वादीनां महासामान्यमस्वगतानामव्याप्यवृत्तित्वेन महा-  
सत्ताया अखण्डत्वादिवत्सखण्डत्वादेरप्युपगमात्, सत्तायां सखण्डत्वाद्यमद्भावे अखण्ड-  
त्वादेस्तत्राव्याप्यवृत्तित्वस्यैव प्रमाणसिद्धस्यापलापतो महासामान्यस्य सत्प्रमखण्डत्वा-  
द्येकान्ताकलितस्य दुर्नयात्मकमद्वयविषयत्वेऽपि सुनयात्मकसङ्ग्रहाविषयत्वात्, सत्प्रमखण्डे च  
सुनयाधिता सुनयविषयप्रतिपादनप्रवणभङ्गसत्प्रमखण्डत्वैवेति तस्या अबाधितार्थकत्वात्प्रामाण्य-  
मेव, द्वितीयभङ्गोऽप्युक्तदिशा नाखण्डत्वाद्येकान्ताकलितसत्त्वामावलक्षणाऽमस्वप्रतिपादन-  
प्रवणः, किन्त्वनेकान्ताखण्डत्वाद्यास्पदासत्त्वप्ररूपणकुशल एव, किञ्च महासामान्यस्या

स्रग्धस्वरूपत्वेऽपि तन्मन्त्रिणिए नावच्छेदकं स्रग्ध्यादिसम्, येन स्रग्धृतस्वरूपं वादम्भ्रं  
 स्वरूपत्व तस्य व्याहृत स्यात्, किन्तु स्रग्ध्यादिना स्रग्ध्याद्य-छेदेन स्रग्ध्याद्यपेक्षया  
 वा घटादेः सत्त्वमित्यादिप्रतीतिमिदं मन्त्रध्वरूपामन्त्रिणिएम्यापि स्रग्ध्यादेरुच्छेदकत्व  
 सत्त्वनिर्णयित स्वीकरणीयमेव, एव निरुक्तमन्त्राभावलभुणास्रग्ध्यामन्त्रिणिएम्यपि तत्र  
 मपि परद्रव्यादिना परद्रव्याद्य-छेदेन परद्रव्याद्यपेक्षया वा घटादेरमन्त्रमित्यादिप्रतीतिमि  
 द्ममन्त्रस्वरूपामन्त्रिणिएस्यापि परद्रव्याद् स्वीकरणीयमेव, एकस्यैव महामामान्यलक्षणस्य  
 सत्त्वस्य सद्ग्रहनयविषयत्वे स्रग्ध्यादिना नास्त्वैव, निरुक्तमन्त्रनिर्णयितमवच्छेदकत्वादिकमपि  
 नास्तीति कथं तन्मयाभित्तमद् स्रग्ध्याद्यपेक्षया सत्त्व प्रतिपाद्येदिति तु नागृहीयम्,  
 तथा मन्त्रि तत्र प्रतिपाद्यपुरुषोऽपि नास्ति, प्रतिपाद्यक प्रमाताऽपि नास्ति, किञ्चिद्वचनमपि  
 नास्तीति सद्ग्रहं केवलं महासामान्यमेकमवच्छेद स्वीरगोनीत्वस्यापि वचनस्य महामचा  
 घनात्मकस्याभावाच्चद्वक्तुमप्यप्यमेवेति व्यवहारमात्रोच्छेद एव स्यात्, तन्मादेरान्तमद्ग्रह-  
 नयामिनिवेशपरित्यागेनैव वचनान्प्रवृत्तिरिति प्रमाणविषयीकृतं मन्त्राभ्यासघनेकान्तात्मके  
 वस्तुनि घटादौ मन्त्र सद्ग्रहनयविषयो यथेकान्तेन स्यात्तदा तत्प्रतिपक्षीभूतमन्त्र व्यवहार  
 नपरिपयस्तत्र न स्याद्विरोधादिति तद्विरोधमङ्गनाय स्याद्वादी स्यात्पदन निमित्तमेदं तपोरुप  
 दर्श्य विरोधस्युपहृत्यपि, निमित्तमेदेन तत्र मन्त्र विषयीकृतः मद्ग्रहस्यासत्त्व विषयीकृतत्वो  
 व्यवहारस्य युनयत्प्रसुपदौ स्यतीति सुनयाभिता मन्त्रमङ्गी प्रमातामाविद्यतीति, पटे स्रग्ध्या-  
 द्यपेक्षया मन्त्र, महासामान्यमपि घटस्यैव स्रग्ध्यादिस्वरूपनियत मद्ग्रहितस्वरूप भवति, एव-  
 मन्त्रादिकमपीति बोध्यम्। ननु सर्वस्य यस्तुन सद्ग्रहात्मकत्वे मन्त्रा यथा सर्वगतैका तथाऽ  
 सत्त्वाऽपि सर्वगतैका, एवञ्च मन्त्रैव अमन्त्रा तु विशेषणभेदाद्विद्यते इति प्राचीनोक्तिः कथं  
 सद्ग्रहितमश्नतीति चेत्, उच्यते, मन्त्रा मद्ग्रहनयविषयः, सद्ग्रहनयधैरुमनेवानुगत सामान्य  
 मन्त्रुपैतीत्यतः सा भवत्येवैव, यद्यपि तस्या अपि घटमन्त्रा पटमन्त्रा मठमन्त्रेत्येव घटवृत्तिन्व-  
 पटवृत्तिन्व-मठवृत्ति-आदिविशेषणभेदाद्भेदो भवितुमर्हति तथापि विशेषणभेदाद्भेद औपचा-  
 रिक एव, उपचारश्च मद्ग्रहनयेन नेप्यत इत्यतो न तत्रयेन विशेषणभेदाद्भेद, किन्तु विशिष्ट-  
 शुद्धयोगैक्यमेवेति, असत्त्वा तु मन्त्राप्रतिपक्षभूता तदभावस्था मन्त्रवत्येका, किन्तु व्यवहार-  
 नयविषयतयाऽभ्युपगता सा, व्यवहारनयश्च विशेषणभेदाद्भेदो न किञ्चित्सर्वानुगतमेक  
 मन्त्रुपैतीत्यतो न भेदा, उपचारबहुलश्च व्यवहारः, पन्था गच्छति कुण्डिका धरति गिरि  
 र्दहतीत्याद्युपचारस्य तेनाभ्युपगमात्, तथा च विशेषणभेदाद्भेद मन्त्रेयाननुगता सा व्य-  
 हारनयविषय इति युक्तमुक्तमन्त्रा तु विशेषणभेदाद्विद्यते इति, यदेव स्वरूपमन्त्र विभिन्न  
 घटपटादीनां व्यवहारनयविषयस्तत्रैव परद्रव्याद्यपेक्षयाऽमन्त्रमित्युच्यते, तत्र विशेषणभेदात्त्वा  
 देवानुगतसामान्यरूपमन्त्रायाः प्रतिपक्षभूतमपि भवतीति बोध्यम्, घटादः स्वरूपसत्त्वस्य

महासामान्यस्वरूपसत्त्वस्य वा प्रतिपत्तये सन् घटोऽस्ति घट इत्याद्येन प्रयुज्यते, अतोऽस्ति शब्दप्रतिपाद्य सत्त्वमेव, न तु घृत्तित्वम्, अन्यत्र नित्यद्रव्येभ्य आश्रितत्वंमिहोच्यते इत्यादि-  
वचनतो नित्यद्रव्यभिन्नस्यैव घृत्तित्वमप्यलक्षणमाश्रितत्वंसुररीकुर्वती नैयायिकादेरपि गगन-  
मस्ति आत्माऽस्ति ईश्वरोऽस्तीत्यादानस्तीत्यस्य घृत्तित्वार्थकृत्वासम्भवात् सत्त्वमेवाऽर्थोऽभ्यु-  
पगतधीमवतरति, अस्तिस्व सत्त्वलक्षण विधिस्वरूप यथा वस्तुधर्मस्तथा नास्तिस्त्वमपि  
तत्प्रतिपक्षभूत विधिनिषेधात्मनो वस्तुनो धर्म एव, अस्तिस्त्ववत्तस्याप्यखण्डत्वमेवेति घटो  
नास्तीत्यस्याप्यखण्डस्वरूपाऽसत्त्वान् घट इत्येवार्थः, न तु अभावप्रतियोगित्ववान् घट  
इति, अभावस्य निषेधरूपत्वेऽपि प्रतिपोगित्वस्य विधिरूपत्वेन तद्योगाश्रित्येधात्मकत्वाव्यव-  
स्थानात्, भूतले घटोऽस्तीत्यादावपि सत्त्वम्या आधारत्वमर्थ इति प्राचीनमते तत्र प्रकृत्यर्थ-  
स्याधेयत्वसम्बन्धेनान्वय, तस्य च घटे निरूपकत्वसम्बन्धेनान्वय इति, सत्त्वम्या आधेयत्वमर्थ  
इति नव्यमते तत्र प्रकृत्यर्थस्य निरूपितत्वसम्बन्धेनान्वय, तस्य च स्वरूपसम्बन्धेन घटेऽन्य  
इति भूतले घट इत्येतावन्मात्रतो भूतलनिष्ठाधारतानिरूपको घट इति भूतलनिरूपिताधेयता-  
वान् घट इति वा बोधः सम्भवत्येवेति अस्तीत्यधिक पद स्वरूपसत्त्व महासामान्यलक्षणसत्त्व  
वा प्रतिपादयदेव साफल्यमश्नति, एतच्च भूतलनिष्ठाधारतानिरूपको घटः सत्त्ववानिति  
भूतलनिरूपिताधेयत्ववान् घटः सत्त्ववानिति वा बोधो भूतले घटोऽस्तीति वाक्यप्रभवः,  
तत्र उद्देश्यतावच्छेदकावच्छेदेन निषेधान्वय इति नियमाद्भूतलनिष्ठाधारतानिरूपकत्वस्य  
भूतलनिरूपिताधेयत्वस्य वा सत्त्वान्च्छेदकत्वमायात्येवेति, धर्मिणाचकपदोत्तरमसमीविम-  
क्तिसमभिव्याहारे नवाऽत्यन्ताभावः प्रतीयते इति नियमाद्भूतले घटो नास्तीत्यतो भूतल-  
विशेष्यकघटाभावप्रकाररूपबोधस्य सम्भवेऽपि तत्र भूतलनिरूपितघृत्तित्वाभावाप्रकारकघटविशे-  
ष्यकबोधोऽप्यनुभूयते, नवऽसमभिव्याहारस्थले यद्धर्मप्रकाररूपद्विशेष्यकबोधो भवति नञ्  
समभिव्याहारे तद्धर्माभावप्रकारकद्विशेष्यकबोध उपजायत इति नियमात् । नवः समाना  
नार्थक एव नास्तीति न तत्रास्तीत्यधिकमिति घटविशेष्यकभूतलनिरूपितघृत्तित्वाभावाप्रकार  
कस्यैव बोधस्योक्तत्वात् सम्भवेऽपि भूतले घटानधिकरणत्वस्याप्यर्थतः प्रतीतिसम्भवेन  
भूतलावच्छेदेन घटे नास्तिस्त्वस्यापि सत्त्वभावलक्षणासत्त्वस्वरूपस्याप्यवगमः सम्भवत्येव,  
अथवा भूतलनिष्ठाधारतानिरूपकत्व भूतलनिरूपिताधेयत्व वा घटस्य स्वरूपसत्त्वमेव, भूत-  
लस्युक्ततपोत्पन्नस्यैव घटस्य तद्रूपेण प्रतीतेः, कार्यसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रयोगितान-  
वच्छेदकधर्मवत्त्वस्य कारणत्वरूपत्वे दण्डत्वमेव कारणत्वं तदवच्छेदक च, तथैव भूतल-  
निष्ठाधारतानिरूपकत्वादिकमेव स्वरूपसत्त्व तदवच्छेदकश्चेति, एव भूतलनिष्ठाधारतानिरूप-  
कत्वाभावो भूतलनिरूपितघृत्तित्वाभावो वाऽसत्त्व तदवच्छेदकश्चेति । यत्र वाधिकरणवाचक-  
पदसमवधानं नास्ति तत्रास्तिपदात्सत्त्वमेव प्रतीयते न तु घृत्तित्वम्, अनिरूपकस्य तस्य  
निरूपकवन्तरेण प्रतीत्यसम्भवादिति दिक् ॥ ३६ ॥

अथ विधिमुख्यविषयताऋषीधजनक आद्यभङ्गः, निषेधमुख्यविषयताऋषीधजनको द्वितीयभङ्गः, युगपद्विधिनिषेधात्मनाऽवक्तव्यत्वमुख्यविषयतारुस्तृतीयभङ्ग इत्येव प्राधान्येनैकैरुधर्मप्रतिपादक भङ्गत्रय निरवयववाक्यरूप प्रतिपाद्याधुना क्रमात्सत्त्वामत्तौभयमुख्यविषयताऋषीधजनक स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येवेति क्रमतो विधिनिषेधकल्पनया चतुर्थभङ्ग सावयववाक्यरूप प्रतिपादयितुमाह—यद्वाऽऽद्येन मङ्गेन प्राधान्येन सत्त्वे द्वितीयेन च प्राधान्येनामरवे तृतीयेन च प्राधान्येनाऽवक्तव्यत्वे प्रतिपादिते सति घटादिसंघस्तु प्राधान्येनैकैरुधर्मक्रान्तमिदं तद् स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येवेत्येव क्रमार्पितोभयधर्मा क्रान्तमस्ति न चेति सशये सति तत्प्रमवया क्रमेण स्यादस्त्वित्यस्यान्नास्त्वित्त्वोभयधर्मविषयमज्ञान मे जायतामिति जिज्ञासया तादृशोभयधर्मविषयकप्रश्नवाक्य घटादिक क्रमेण स्यादस्ति स्यान्नास्ति न चेत्याकाररूपप्रचारयतः श्रोतु तदीयजिज्ञासाविशेष तथाविधेन प्रश्नेनागम्य वक्ता जिज्ञासाकारणसशयनिवृत्तिर्यादृशनाक्यात्स्यात् तादृशमेरोचरनाक्यरूप घटादिक क्रमेण स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येवेत्याकारक चतुर्थभङ्ग प्रतिपादयन्नाह—यद्वा विप्रधाकृतप्रधानभाजमदाये ऋधर्मात्मकस्यापेक्षितापराऽश्लेषधर्मक्रीडीकृतस्य वाक्यार्थस्य स्यात्कारपदलाञ्छितनाक्यात्प्रतीतेः स्यादस्त्येव घटः । १ । स्यान्नास्त्येव घटः । २ । स्यादवक्तव्य एव घटः । ३ । इत्येतद्भङ्गत्रय प्रतिपाद्य विप्रधारिचितद्वित्रिधर्मानुरक्तस्य स्यात्कारपदसंघचितमूलधर्मस्वभावस्य धर्मिणो वाक्यार्थरूपस्य स्यात्पदाङ्कितचतुर्थ्यादिभङ्गवाक्यात् प्रतिपत्तेस्स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येव घटः । १ । स्यादस्त्येव स्यादवक्तव्य एव घटः । २ । स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्य एव घटः । ३ । स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्य एव घटः । ४ ॥ इत्येतद्भङ्गस्यमाणभङ्गचतुष्टय द्वित्रिसंयोगात्मक प्रतिपादयिषुस्तत्राद्यभङ्ग मूलाद्यभङ्गापेक्षया चतुर्थभङ्ग प्रतिपादयितुमाह—

अहं देसो सन्भावे, देसोऽसन्भावपञ्चवे णियओ ।

तं दधिचमत्थि नत्थि य, आएसविसेसिय जम्हा ॥ ३७ ॥

‘अहं’—यदा, देसो—देशो वस्तुनः एरुदेशः अयमः ‘सन्भावे’ सद्भावे अस्तित्वे णियओ—नियतः—सन्नेवेत्येव निश्चितः ‘देसो’ अपरश्च देशः ‘असन्भावपञ्चवे’ अमद्भावपर्याये नास्तित्वाख्ये, णियओ—इत्यस्यान्नाप्यनुकर्षणाद् नियतः—असन्नेवेत्येन नियमेनावगतः, ननु वस्त्वेकरुदेशरूपस्य वस्तुनवयवस्य नियत क्रमार्पित स्यात्मत्तत्र स्यादसत्त्वेत्येव पूर्वादिन वक्त्रा प्रतिपादितम्, श्रोत्रा जिज्ञासया पृष्टञ्च घटादिवस्तु किं क्रमार्पित सत्त्वासत्त्वोभयधर्मान्वितमस्ति न चेति, तथा चार्थान्तरदोषस्स्यादिति चेत्, सत्यम्, तथाऽप्यन्नाऽवयवयोऽवयविनः कथञ्चिदमेदो विवक्षित इति अक्षिगतकाणत्वयोगात्पादगतस्वञ्जत्वयोगाच्च काणाः स्वञ्जश्च देवदत्त इत्यत्रेवानयमधर्माणामवयविनि व्यपदेशाच्चतुर्थभङ्ग-

प्रवृत्तेनोक्तदोष इति अवयवगतसत्त्वासत्त्वधर्माभ्यामवयवव्यपि तथाधर्माक्रान्ती वाच्य इत्याह—  
 'त द्वयियमत्थि णत्थि य' तद्रव्यमस्ति च नास्ति चेति भवति, तत्र हेतुमाह—“आप्त  
 विसेसिय जम्हा” यस्मात्तद्रव्यमादेशविशेषितम्, आदेशेनोभयप्रधानावयवभागेन विशेषितम्,  
 सत्त्वासत्त्वोभयप्रधानकावयवद्वयाभेदेनार्पितं तद् द्रव्यं यस्मादिति यावत्, तथाहि—  
 एकोऽन्ययोऽस्तित्वविशिष्टोऽपरश्च नास्तित्वविशिष्ट इत्यस्तित्वनास्तित्वधर्माश्रयावयवभ्यां  
 सह यद्रव्यमभिन्नतया विनश्यते तद्रव्यमस्ति नास्ति चेति व्यवह्रियते, तथा स्वद्रव्यक्षेत्र  
 कालमावैर्विभक्तो घटः स्वद्रव्यादिरूपेणास्ति, परद्रव्यादिरूपेण च स एव नास्ति, अवय  
 वेन विशिष्टधर्मेण विभज्यैकमादिश्यमानं सुप्रसिद्धमेव, यैरु एव पुरुषो विवक्षितपर्यायेण  
 बालादिना परिणतः, कुमारदिना चापरिणत इति । अत्र यस्मात्तद्रव्यमादेशविशेषित  
 मित्यस्योभयप्रधानावयवभागेनाऽर्पितं स्वाश्रयसमवायित्वरूपपरम्परासम्बन्धावच्छिन्नधर्म  
 द्वयप्रकारतानिरूपितैकविशेष्यताकौपादानिकबोधेच्छाविषयीकृतमिति यावत्, इत्यष्टसह-  
 रूपायमर्थः कृत इति । अत्र यथा श्रुते घटपदस्य देशपरस्यावृत्त्या प्रकारताद्वयनिरूपितविशे-  
 ष्यताद्वयशालिन एव बोधस्य जननादौपादानिकबोधपर्यन्तानुधावनम्, एवमग्रेऽपि बोध्यम् ।  
 नन्वाद्यभेदेनाऽपि स्वद्रव्यादिना घटस्तन्निति द्वितीयभङ्गेनापि च परद्रव्यादिना घटोऽ  
 स्तन्निति निगम्यत एव घट इत्याद्याभ्यां भङ्गाभ्यां कोऽस्य भङ्गस्य विशेष इति चेत्, उच्यते,  
 तत्रास्तित्वनास्तिवावच्छेदकद्वारा निभागेऽप्यवयवद्वारा विभागभावः, अत्र तु तद्वारा  
 विभाग इत्यस्य विशेषो द्वेय इति । नन्वत्रानयवावयविनोः कथञ्चिदभेदादवयवद्वारा 'कुण्ठी  
 देवदत्तः' इत्यग्रेव तद्रूपीणामवयविनि व्यपदेशः कृतः, न तु साक्षादित्यनयवद्वारा  
 विभागकरण एव किं वीजमिति चेत् ? सावयवनिरवयवात्मकप्रस्तुतस्तथाप्रतिपत्तिजनक-  
 सावयवनिरवयवत्वशरलैक्यरूपवाक्यत्वेन तादृशवाक्यस्य प्रामाण्यरक्षार्थम्, अर्थात् एक-  
 स्यापि वस्तुनस्सावयवनिरवयवस्वरूपतया द्विविधत्वे तत्रप्रतिपादकवाक्यस्यापि सावयव  
 निरवयवतया द्विविधत्वे सत्येव याथावर्थेन तत्रप्रतिपादकत्वं सम्भवति, तत एव च तत्रार्थे  
 तस्य प्रामाण्यमपि निर्वहतीति सूचितं भवति ॥ ३७ ॥

एकस्य देशस्य सत्त्वेन प्राधान्यविवक्षणेनापरस्य च युगपत्सत्त्वासत्त्वोभयरूपेण प्राधा  
 न्यविवक्षणेन द्वितीयभङ्गं मूलाद्यभङ्गापेक्षया पञ्चमभङ्गं प्रतिपादयितुमाह—

सम्भावे आइट्टो, देसो देमो य उभयहा जस्स ।

त अत्थि अयत्तव्व, च होह दधिअं वियप्पवसा ॥ ३८ ॥

'जस्स' यस्य घटादेर्धर्मिणः, 'देसो' एको देशोऽवयवः, 'सम्भावे' सद्भावेऽस्ति  
 त्वेऽव्यक्तव्यत्त्वानुविद्धस्वभावे 'आइट्टो' आदिष्टो विवक्षितः, अन्यथा तदसत्प्रसङ्गात्, न ह्यप-  
 रधर्माप्रतिभक्ततामन्तरेण विवक्षितधर्मास्तित्वमस्य सम्भवति, खरविषाणादेरिव, 'देमो य' ।

तस्यैव धर्मिणोऽपरी देशश्च 'उभयहा' उभयथा, अस्तित्वनास्तित्त्वोभयप्रकारेण युगपदेव 'आहृष्टो' इत्यस्यात्राप्यनुरूपणात् आदिष्टः अस्तित्वानुविद्ध एवाप्रकृत्यत्वस्वभावे विप्रक्षितः, अन्यथा तदमत्त्वप्रसक्तेः, न ह्यस्तित्वाभावे उभयाप्रतिभक्तता शश्वद्गृह्णादेरिव तस्य मम्मविनी । उक्तप्रकारादेशेन द्रव्य किं स्वरूप प्रतिपादकेन प्रतिपादित भवतीत्यत आह—'त अत्यि अवत्तय च होइ दविय' तद्द्रव्यमस्त्यप्रकृत्यश्च भवति, ननु घटाद्यवयविद्रव्यस्यैवैको देशोऽव्यक्तव्यत्वानुविद्धस्वभावेऽस्तित्वेऽपरश्चास्तित्त्वोपरक्तावक्तव्यत्वस्वभावे पूर्वाद्धेन विप्रक्षित इति द्रव्य रुथ तथाविध प्रतिपादकेन व्यपदिष्ट मतीत्याहृष्टानिश्चर्यमाह—“वियप्पवसा” इति, निकल्पप्रशादुक्तोभयधर्माक्रान्तदेशद्वारेण धर्मिणो विवक्ष्यवशात् । अयम्भार—तद्धर्मविकल्पप्रशाद्धर्मयोस्तथापरिणतयोस्तथाव्यपदेशे धर्म्यनि तदुद्वारेण तथैव हि व्यपदिश्यते । ननु प्रथमतृतीयमह्नाभ्यामेवैतद्भङ्गकार्यसिद्धे' किमनेन महेनेति चेत्, उच्यते, आद्येन महेन सशयजिज्ञासाप्रश्नद्वारा द्रव्येऽस्तित्वमात्र, तृतीयमह्नेन चावक्तव्यत्वमात्रमेव प्रतिपाद्येनाधिगन्तुमिष्ट, प्रतिपादकेनापि देशाविशेषिणुद्रव्य एव केवलधर्मविवक्षया तथैवाऽऽद्यतृतीयमह्नाभ्या प्रतिपादितम्, अनेन महेन तु प्रतिपाद्येन सशयजिज्ञासामूलके किं द्रव्यमस्ति चाऽव्यक्तव्यत्वास्ति न चेति दुःखः प्रश्ने कृते प्रतिपादकेन प्रतिपाद्यप्रश्नानुसोधेनानन्तधर्मात्मकस्य धर्मिण उक्तोभयवन्तक्रान्तदेशद्वारीभयधर्माक्रान्तत्वेन प्रतिपादयितुमिष्टत्वादस्य ताभ्या मद्नाभ्या मुच्यते च भेद इति । अत्रेदमवधेयम्—तद्द्रव्यमस्त्यवक्तव्यश्च भवतीत्यत्र चकारवलाद् 'एच्च द्रव्य' इति न्यायेन विदेशे दण्डी कुण्डली चेत्यत्र विभिन्नदेशान्छेदेन चैत्रे दष्टदृष्टत्वेन प्रकृते घटे विभिन्नदेशान्छेदेनाऽस्तित्वाऽप्रकृत्यत्वयोः परस्परान्विशेषणीभूतत्वेन प्रकृत्यत्वानुपपत्त्या लक्षणा स्वीकार्या, तयोश्च तादात्म्येन वैशिष्ट्यव्यवस्थेः अयमेव परस्परानुवेधाऽर्थोऽपि दृष्टव्य इति । चतुर्थमह्नेऽप्युभयप्रवानानुपपत्त्येऽपि पदेशादत्राग्रेऽपि च तस्यैव विशेषस्याऽभिशिष्टत्वादिति दिष्ट ॥ ३८ ॥

देशेऽस्तित्वस्य देशे च युगपत्सत्त्वास्तत्वोभयोरित्यवधिनेन तृतीयमह्नेन पद्यमह्ना प्रतिपादयितुमाह—

आहृष्टोऽस्तवभावे, देसो देसो य उभयहा जम्स ।  
त णत्थि अवत्तव्व, च होइ दविय वियप्पवसा ॥ ३९ ॥

'जस्म' यस्य घटादिवस्तुनः 'देसो' देश एतोऽवयव, 'अवत्तव्वे' अवत्तव्वे 'आहृष्टो' आदिष्टः, असत्त्वेनापमित्यवक्तव्यत्वानुविद्धेऽस्तित्वे किं ननु, 'देसो च' अपरश्च देशोऽमत्त्वानुविद्धे 'उभयहा' युगपत् सत्त्वामत्त्वोभयप्रकारेण युगपदेव

‘आइहो’ इत्यस्यात्राप्यनुकर्षणात् आदिष्टः निश्चितः ‘त नत्थि अवत्तव्यं च होइ दविय वियप्पवसा’ तद् द्रव्य नास्ति चावत्तव्यं च भवति निरूपवशात्, अयम्भावः—यद्यप्यनेन मद्देन तत्तदपरावयवावेगोक्तधर्माक्रान्ताविति प्रतिपादितं तथाप्ययमिति तद्व्यपदेश्यावयवाऽमेदोपचारादवयविरूपद्रव्यमपि तद्व्यपदेशमामादयति । देशानुपरक्तद्वितीयतृतीयमङ्गव्युदासेनायं पणो मङ्गः प्रवर्तते ॥ ३९ ॥

देशेऽस्तित्वस्य देशे नास्तित्वस्य देशे च युगपदस्तित्वनास्तित्वोभयोर्विधक्षायां चतुर्थं मङ्गं मूलाद्यमङ्गापेक्षया सप्तममङ्गं प्रतिपादयितुमाह—

सम्भावासम्भावे, देसो देसो य उभयहा जस्स ।

त अत्थि नत्थि अवत्त-व्वयं च दविय वियप्पवसा ॥ ४० ॥

‘जस्म’ यस्य देशिनो ‘देसो’ देश एकः । ‘सम्भावासम्भावे’ सद्भावे सत्त्वे निश्चितः, ‘देसो य’ देशश्च द्वितीयः असद्भावे असत्त्वे, तृतीयस्तु ‘उभयहा’ सत्त्वासत्त्वीमयप्रकारेण युगपदादिष्ट इत्येव मद्रूपासद्रूपावत्कव्यरूपव्यपदेश्यदेशाऽमेदोपचाराद्व्यपमप्यस्ति च नास्ति चावत्तव्यञ्च भवतीत्याह—‘त अत्थि नत्थि अवत्तव्यं च दविय विअप्पवसा’ इति । अनया विशिष्टविवक्षयाऽऽद्यमङ्गन्यव्युदासः, एते च परस्परसाक्षात्स्वभावेन सप्तममङ्गात्मात्मकाः प्रत्येकं स्वार्थं प्रतिपादयन्ति, नान्यथेति प्रत्येकं तत्समुदायो वा सप्तममङ्गात्मकः प्रतिपाद्यमपि तथाभूतं दर्शयतीति सम्प्रदायविदो वदन्ति । तत्र प्रतिपर्यायं जिज्ञासित-सप्तधर्मप्रकारकैकधर्मिविशेष्यकशाब्दबोधजनकत्वपर्याप्त्यधिकरणमहावाक्यत्वरूपसप्तमङ्गीत्वसमुदाय एव, निरुक्तजनकत्वाधिकरणवाक्यत्वरूपं च तत्प्रत्येकमपीति शिवेकः, अत एव स्यात्पदार्थलाञ्छितनिवृत्तधर्मावधारकत्वेन स्वार्थमात्रप्रतिपादनप्रवृत्तत्वेन च द्विधा सुनयन्त्यमुदाहरन्ति, आद्यं सप्तममङ्गात्मकमहावाक्यैकवाक्यतापञ्चवाक्ये, अन्त्यञ्चोदासीने धर्मान्तरोपादानप्रतिषेधाऽकारिणि, इत्यञ्च स्यादस्तीत्यादि प्रमाणम्, तेनास्तित्वत्वेन रूपेणास्तित्वस्य तदभिन्नस्वेतरसकलधर्माणाञ्च प्रतिपादनात् । अयम्भावः—अस्तित्वेन स्यात्पदलाञ्छितेन स्वेतरानन्तधर्माभिन्नास्तित्वत्वेन रूपेणास्तित्वं धर्मिणि प्रतिपाद्यते, तदानीं प्रकारतया मासमानेऽस्तित्वेऽमेदसम्बन्धेन तद्विशेषणतया धर्मान्तराणामपि प्रथममङ्गजन्यबोधे मानमिति तद्विशिष्टस्य माने तस्यापि मानमिति न्यायेन धर्मान्तराणामपि धर्मिणि मानमिति प्रकारमुद्रया सर्वधर्माजगति’ प्रथममङ्गात् । अथवाऽस्तित्वधर्मस्य स्यात्पदमहिम्ना स्वस्वेतरानन्तधर्मात्मकत्वसम्बन्धेन धर्मिणि प्रकारतया मानम्, तथा चाऽस्तित्वेतराऽपानन्तधर्मात्मकत्वस्य ससर्गविधया धर्मिणि भानम् । तथा च स्वाभिन्नानन्तधर्मात्मकत्वसमर्गणं स्वाध्यायविशेष्यकैरुधर्मप्रकाररूढोद्य’, एतञ्च धर्मान्तराणां पदान्तरादनुपपन्नत्वेऽपि ससर्गविधया शाब्दबोधे भानस्योपपत्तिः, अनुपस्थितस्वार्थस्य प्रकारविधया

मानानुपगमेऽपि ससर्गविधया भानाम्बुपगमे न काऽपि क्षतिः । एव द्वितीयादिमङ्गजन्य-  
 बोधेऽपि प्रकृतधर्मात्मकत्ववत् तदितराशेषानन्तधर्मात्मकत्वस्यापि प्रकारविधया ससर्गविधया  
 बोधेऽपि मानमालोचनीयमिति । अत्राष्टमहस्तीविपरणे इत्थ विवेचितम्—प्रमाणवाक्याना  
 सर्वं, पदैर्मिलित्वा प्राधान्येनानन्तधर्मात्मकस्तुतोघन एव तात्पर्यम्, चेदान्तवाक्यानामि-  
 वाखण्डब्रह्मबोधने, तथा च स्यादस्त्येन द्रव्यमित्यतः स्वेतरसकलधर्मात्मकत्वमन्वन्धेनास्ति  
 त्ववदेव द्रव्यमिति प्राथमिकतोघनान्तर तस्मादनन्तधर्मात्मकमेव सर्वं वस्त्वित्यौपादा-  
 निकबोधः सकलादेशजन्यस्त्रीक्रियते, स च द्रव्यार्थिकार्पणयाऽनुपचरितैकविशेष्यताक-  
 पर्यायार्पणया चोपचरितैकविशेष्यताक इति तात्पर्यार्थमादाय तत्र न प्रधानकार्यत्वव्याघातः,  
 सकलादेशान्यार्थ एव गुणप्रधानभावेन बोधकत्वनिघमस्य चरितार्थत्वादित्यादि ।  
 स्यात्पदाऽलाञ्छितोऽनघारणैकस्वभाव अस्त्येनेत्यादिदुर्नयः, एवकारेणेतर्धर्मतिरस्कारेणै  
 कान्तास्तित्वस्य तत्प्रतिपाद्यतयाऽभिमतस्य शशशुद्धकल्पतयाऽमस्माद् यथार्थतद्विषयकबोध  
 स्यात्सम्भवेन तज्जनकत्वाऽसम्भवात् । अस्तीत्यादिक सुनय , न तु स स्यात्कारणकारविनि-  
 र्मुक्तत्वेन धर्मान्तरोपादानप्रतिषेधाऽकरणत्वात् स्वार्थमात्रप्रतिपादनप्रवणोऽपि व्यवहाराद्गम्,  
 स्यादस्त्येवेत्यादिकस्तु सुनय एव व्यनहारकारणम्, स्वपरानुवृत्तव्यावृत्तस्तुविषयकप्रवर्त्त-  
 कवाक्यस्य व्यवहारकारणत्वात् । स्यादस्त्येवेत्यत्रास्तिस्वरूप यत्प्रामाण्य तदेवानुगतत्वरूप  
 तदात्मकतया कथञ्चिदस्तिस्वरूप विपरीत सर्वथाऽस्तिस्वरूप कथञ्चिदस्तिस्वात्मकस्वावच्छेद-  
 कावच्छेद्यनास्तिस्वरूपश्च तदेव तत्रानर्चमानत्वाद्बन्धकारणवच्छेद्य, तद्व्यावृत्ततया च वस्तुनो  
 भासमानत्वाद्बुक्तवाक्यजन्यबोधस्य तथाविधार्थप्रवृत्तिजनकत्वेन तज्जनकोक्तवाक्यस्य स्व  
 परानुवृत्तव्यावृत्तस्तुविषयकप्रवृत्तिजनकत्वजनकत्वेन व्यवहारकारणत्वमुपपद्यत एवेति । एव  
 स्यादस्त्येन स्यान्नास्त्येवेत्यादिमसमङ्गीतु वस्तु स्यान्नित्यमेव । १। स्यादन्तित्यमेव । २। स्याद्  
 वक्तव्यमेव । ३। क्रमतः स्यान्नित्यमेव स्यादन्तित्यमेव । ४। इत्यादिसप्तमङ्गयपि नेया, यथायोग  
 मेतत्सप्तमङ्गीव्यवस्थापनप्रक्रिया नयप्रमाणापेक्षया योचनीया, अत्र च नित्यत्वानित्यत्वादि  
 व्यवहारे आकाशघटादौ द्रव्यार्थस्वरूपार्थत्वयोस्तुल्यपदाकाशतन्घटत्वादीनां च स्यात्पद-  
 द्योतनमयार्थया प्रतिस्व ग्रहान्नातिप्रसङ्गः, नयवाक्येऽपि यद्दर्शनविशिष्टविशेष्यवाचकपदममि-  
 व्याहारेण नित्यत्वादिविशिष्टवाचक पद प्रयुज्यते तद्वर्मावच्छेदनतत्र नित्यत्वादिबोधन एव  
 तत्साकाङ्क्षमित्याकाशमन्तित्य घटो नित्य इत्यादेर्नयवाक्यस्य न प्रयोग इति बोध्यम् । नन्व  
 नन्तधर्मात्मके वस्तुनि प्रतिपर्याय सप्तैव भङ्गा इत्यत्र किं नीजमिति चेत्, उच्यते, सशयजिज्ञा  
 ज्ञाप्रतिपाद्यपर्यन्तुयोगानां कार्यकारणभावापन्नानां सप्तविधत्वात् तत्प्रयुक्तमङ्गा अपि सप्तविधा  
 एव, सशयादीनां सप्तविधत्वमपि स्वगोचरास्तित्वादिधर्माणां सप्तविधत्वस्यैवोपपत्तेः, तथा  
 च नाधिकमङ्गावकाश । तथाहि—प्रथमद्वितीयमङ्गप्रतिपाद्यसत्त्वासत्त्वयो क्रमेण विवक्षणे  
 चतुर्थमङ्गप्रवृत्तिः, युगपद्विवक्षणे तृतीयमङ्गप्रवृत्तिः प्रथमतृतीयमङ्गसयोगे पञ्चममङ्ग



स्यात्, द्वितीयतृतीयमङ्गसंयोगे षष्ठमङ्गानकाशस्स्यात्, प्रथमद्वितीयतृतीयसयोगे सप्तम-  
 मङ्गो लब्धस्स्यात्, प्रथमचतुर्थादिमङ्गकल्पनाया पौनरुक्त्यदोषापत्तिस्स्यादिति । किञ्च  
 प्रथमचतुर्थसयोगे न भङ्गान्तरप्रवृत्तिः प्रथममङ्गप्रतिपाद्यचतुर्थमङ्गप्रतिपाद्ययोर्धर्मान्तरत्वे-  
 नाप्रतीतेः सत्त्वद्वयस्याऽसम्भवात्, त्रिवक्षितस्वरूपादिना सत्त्वस्यैक्यात्, तदन्यस्वरूपादिना  
 द्वितीयस्य मत्त्वस्य सम्भवेऽपि विशेषादेशात्तत्प्रतिपक्षभूताऽमत्त्वस्यापि परस्य भावादपरधर्म-  
 सप्तकसिद्धेः सप्तमङ्गघन्तरसिद्धिस्स्यात् । एव द्वितीयचतुर्थमङ्गसयोगेनापि न भङ्गान्तर-  
 प्रवृत्तिः, पूर्ववन्नास्तित्त्वाऽभावात्, न चात्र युगपदस्तित्त्वनास्तित्त्वोभयापेक्षया स्यादवक्त-  
 व्य एव घट इति तृतीयमङ्गप्रवृत्तिवदस्तित्त्वादिप्रत्येकनिमित्तापेक्षया वक्तव्यत्वमप्यस्तीति  
 तत्प्रतिपादकस्याद्वक्तव्य एव घट इत्यष्टममङ्गोऽपि किञ्च स्यादित्याशङ्कनीयम्, यतो न हि  
 स्याद्वादिनामयमभ्युपगमो यावन्तो धर्मा घटे सम्भवन्ति तावद्धर्मप्रतिपादका भङ्गा एकस्यां  
 सप्तमङ्ग्यां निवेशनीया इति, तथा सत्यनन्तमङ्गयेव स्यात्, न तु सप्तमङ्गी, किन्तु सप्तविध-  
 सशयजिज्ञासापर्यनुयोगशब्दादस्तित्त्वादिप्रत्येकधर्माणामविरोधेन विधिनिषेधकल्पनया सप्त-  
 धर्मप्रतिपादिका सप्तमङ्गीत्येवाभ्युपगमः, तथा चात्रापि वक्तव्यत्वधर्मं प्रधानीकृत्य तद्विधि-  
 निषेधकल्पनया सप्तधर्मप्रतिपादिका स्याद्वक्तव्यत्वधर्मप्रतिपादकप्रथममङ्गोऽप्यापिताकाङ्क्षाक-  
 मेण जायमानाऽन्यैव सप्तमङ्गीत्यभ्युपगन्तव्यम् । अनन्तधर्मात्मके वस्तुनि प्रतिधर्मं सप्तमङ्ग्या  
 नियतत्वादिति । ननु सप्तमङ्गीजन्याखण्डशब्दबोध इव किमन्यज्ञानेऽपि सप्तधर्मावभासो  
 भवति न वेति चेत्, तत्प्रतिभासे स्याद्वादव्युत्पत्तेरपि प्रयोजकतया स्याद्वादाऽव्युत्पन्नस्य  
 प्रत्यक्षादिज्ञाने तदप्रतिभासेऽपि तद्व्युत्पन्नस्य ज्ञाने तत्प्रतिभासो भवत्येव, अत एव न्याया-  
 चार्यैश्चर्यामद्भिर्न्यशोविजयोपाध्यायैर्महावीरस्तवे प्रत्यभिज्ञाविचारे—

“पर्याप्तो युगपदव्युत्पलब्धभेद, किं न क्रमेऽपि हि तथेति विचारशाली ।

स्याद्वादमेव भवतः श्रयते स भेदा-भेदक्रमेण किमु न स्फुटयुक्तियुक्तम् ॥२७॥”

इति पद्येन शब्दबोधातिरिक्तस्यापि भेदाभेदोभयात्मकस्यादर्थत्रिपयकस्य प्रत्यभि-  
 ज्ञानस्यापि स्यादभिन्न एव स्याद्विन्न एवेत्यादिसप्तमङ्गीसमभिरूढसप्तधर्मत्रिपयकत्वमावे-  
 दितम्, व्युत्पादितश्रैतदेव तद्गीकार्या न्यायखण्डखाद्याभिधाया तैरेव—“ एवञ्च स्यात्स एव  
 स्यादऽस एवेत्यादिसप्तमङ्गक्रमानुरोधी प्रत्यभिज्ञानबोधी वक्तव्य इत्यर्थः । एव सति तदि-  
 दन्तास्पदाभेदविषयक्रमेव प्रत्यभिज्ञानमिति प्रवादस्य कथम्युपपत्तिरिति चेत्, स्याद्वादव्यु-  
 त्पन्नापेक्षेति प्रतीहि । स्याद्वादव्युत्पत्तेः कैहोपयोगः शब्दबोध एव तदुपयोगादिति  
 चेत्, न, स्वप्रभवसंस्कारोत्पन्नमतिज्ञानद्वारा तत्र तदुपयोगात्, अत एव कारणसाम्राज्य-  
 मपि दर्शितम्, तथाऽनुभवस्मरणयोः स्वप्रयोज्यधयोपशमद्वारकयोस्तथाप्रत्यभिज्ञानकार-  
 णयोः सत्त्वात्, उदेदपनिषेधभावविपर्ययस्याप्यैच्छिकत्वात् । वस्तुतः कररेखाविशेषवात्

शतवर्षजीवीत्युपदेशश्रवणानन्तरमय कररेखाविशेषमिति ज्ञाने सति यथास्य शतवर्ष-  
जीवीति सङ्कलनात्मक प्रत्यभिज्ञानम्, तादृशविषये मानान्तरानवकाशात्, तथा सर्वं वस्तु  
सप्तमह्नीसमभिरुद्धमार्मात्मरुमित्युपदेश श्रुतवत् इदं वस्त्विति ज्ञानानन्तरमेवेदं सप्तमह्नीम  
मभिरुद्धतत्ताश्रयाऽभिज्ञमिति प्रत्यभिज्ञान व्युत्पन्नाना न दुर्घटमिति दिक् " इति ग्रन्थेन ।  
एतेन वाक्यरचनां प्रति वाक्यार्थज्ञानस्य कारणत्वेनैकैकमङ्गस्य सप्तमङ्गयाथ प्रयोक्तुं ज्ञाने  
प्रत्यक्षायात्मके तत्तद्भङ्गप्रतिपाद्यतत्तद्धर्मस्य सप्तमह्नीप्रतिपाद्यमस्यमार्गाश्च प्रतिमानं  
स्यादित्यारेकापीदत्वेन निराकृतेति । यतो यदा परोक्षज्ञानात्मक प्रत्यभिज्ञाने क्षयोपशम  
विशेषात्स्याद्वाद्ब्युत्पत्तिमहकृतात्सप्तमह्नीमभिरुद्धमस्यधर्ममानं युक्तितो निवृत्तं तदा प्रत्य  
क्षेऽपि तथैव मामग्रीमस्य तथामानस्य को वारयितेति विदाकुर्वन्तु सुधिय । ननु किं  
वाक्य पूर्णोत्तरं किञ्चाशौचरमिति जिज्ञामापुरस्परं प्रश्नोद्भवं किमुत्तरमिति चेत्, उच्यते,  
स्वेतराशौदासीन्येन स्वविषयस्त्वशमात्रप्रतिपादनपरं प्रतिभङ्गरूप वाक्यमशौचरम्, तस्य  
खण्डवाक्यरूपतया देशजिज्ञामानिर्वर्तकत्वात्, अनन्तधर्मात्मक वस्तुन्येकैकरूपमाधित्य  
क्रमेण युगपद्वा विधिनिषेधप्रधानमावेनोत्पद्यमानस्यात्कारलाञ्छितमस्यविधधर्मप्रकारकमस्य  
विधसशयमूलकमस्यविधजिज्ञासाऽऽधीनसप्तविधप्रश्रवत्प्रियविषयकज्ञानहनुकप्रतिपिपादयिपा-  
पूर्वकाऽविरुद्धमस्यविधधर्मप्रकारकैकधर्मिविशेष्यरुशान्दबोधजनकतापर्याप्तित्साक्षात्परम्पराय  
दिततदुत्थापिताऽऽकाङ्क्षानिर्वर्तकत्वतश्चिर्वर्तनीयाकाङ्क्षापरकत्वान्यतरयत्सप्तमह्नात्मरुमहा -  
वाक्यमेव च पूर्णोत्तरम्, प्रतिपर्याय विधिनिषेधप्रकारापेक्षया मस्यमिरेव धर्मजिज्ञामितस्य  
वस्तुनस्तावद्विरव धर्मरभिधानेन श्रोतुरभिलषितरोधोपपत्तेर्नितामान्तरानुदयादुक्तवाक्यस्य  
ज्ञान्ताकाङ्क्षात्वात् । ननु यद्यपि महावाक्यार्थबोधे तत्तत्खण्डवाक्यार्थबोधस्य कारणत्वेन  
भवतु पूर्वं तत्तत्खण्डवाक्यार्थबोधः, पश्चान्महावाक्यार्थबोधः, तथापि स्वद्रव्यक्षेत्रादिरूपेण  
घटस्स्यादस्त्येवेति प्रथममङ्गरूपखण्डवाक्यत स्त्रव्यक्षेत्राद्यवच्छिन्नप्रधानीभूतकथञ्चिद्  
स्वित्त्वप्रकारकघटविशेष्यकबोधः प्रथम, पश्चान्परद्रव्याद्विरूपेण घटस्स्यान्नास्त्येवेति द्वितीय  
मङ्गजन्यः परद्रव्याद्यवच्छिन्नप्रधानीभूतकथञ्चिन्नास्वित्त्वप्रकारकघटविशेष्यकबोधः तदपश्चा  
चृतीयादिमङ्गजन्यबोध इत्येव सप्तविधबोधक्रमे को हेतुरिति चेत्, तत्र वाक्यक्रम  
गर्भतात्पर्यज्ञानमेव हेतुः, यद्वा पूर्वपूर्वमङ्गजन्यशाब्दबोधानाद्युत्तरोत्तरमङ्गजन्यशाब्दबोध  
कारणत्वेन कारणक्रमात्कार्यक्रम इति सामान्यनियमावष्टम्भेन तादृशकारणक्रम एव हेतुः ।  
तदुक्तं खण्डखाद्ये न्यायाचार्यस्तातपादश्रीपशोविनयोपाध्यायः—“ औदासीन्येन स्वार्था  
वधारणमात्रपरत्वेऽप्यशौचरम् । मप्रतिपक्षधर्मद्वयस्थले मन्तधर्मजिज्ञामया सप्तभिः प्रश्नैर्मिय.  
साकाङ्क्षसप्तमह्नात्मरुमहावाक्यस्यैव पूर्णोत्तरत्वात्, सबल हि वस्तु यान्द्वर्मेजिज्ञासित  
तावद्दर्माभिधान एव वाक्य निराकाङ्क्ष भवति, मह्नार्थबोधक्रमो वाक्यक्रमगर्भतात्पर्य-

ज्ञानात्, आद्यमङ्गादिजन्यप्रोद्यम्य द्वितीयादिमङ्गजन्यशाब्दयोधे हेतुत्वाच्चेति ।” अत्र केचिदाचार्यास्तृतीयचतुर्थमङ्गयोर्ष्येत्याममिच्छन्ति । अत एव पूज्यश्रीमद्वादिदेवस्वरिभिः ‘स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येवेति कमतो विधिनिषेधकल्पनया । तृतीयः ४-१७ । स्याद्वक्तव्यमेवेति युगपद्विधिनिषेधकल्पनया चतुर्थः । ४-१८ । इति सूत्रद्वय तृतीयचतुर्थमङ्गप्रदर्शकं प्रणीतम्, न्यायाचार्यश्रीयशोविनयोपाध्यायैरपि पूर्णोत्तरात्मक महावाक्ये स्वरूपतस्तथैव प्रदर्शितम् । तथाहि—बीज स्यादङ्कुराऽश्लेषकार्येव । १ । स्यादङ्कुरश्लेषकार्येव । २ । स्यादङ्कुरश्लेषकार्येव । ३ । स्याद्वक्तव्यमेव । ४ । स्यादङ्कुराऽश्लेषकार्येव स्याद्वक्तव्यमेव । ५ । स्यादङ्कुरश्लेषकार्येव स्याद्वक्तव्यमेव । ६ । स्यादङ्कुराऽश्लेषकार्येव स्यादङ्कुरश्लेषकार्येव स्याद्वक्तव्यमेव च । ७ । इति प्रमाणीतर युक्तमिति । अस्तित्वादिधर्मः स्वामात्रसमानाधिकरणः स्वममानाधिकरणात्यन्ताभात्रप्रतियोगिभूतधर्मत्वात्, धर्मत्वाद्वा कपिसयोगतदित्यनुमानेनास्तित्वादात्रव्याप्यवृत्तित्वसिद्धौ तदन्यथाऽनुपपत्त्याभ्युपगम्यमानशाखाभूलात्मकभिन्नभिन्नावच्छेदकावच्छेदेनैकस्मिन् धृक्षे कपिसयोगतदभावयोरितर घटाद्येकैकस्तुपु तत्तद्व्यपार्षणया भिन्नभिन्ननिमित्तरूपावच्छेदकावच्छेदेन मन्वतदभावभेदाभेदनित्यत्यानित्यत्वादिमर्षधर्माणासत्त्वेन निमित्तभेदापेक्षया तत्तदभावप्रतिपादनरूपकथञ्चिद्विध्यात्मा यस्याद्वादस्मोऽपि सप्तमङ्गपक्षे एव, नैकमङ्गापेक्षः, तेनैकस्यैव प्रकारस्य प्रतिपादनेन सप्तविधजिज्ञानाऽपूच्छान्ताकाङ्क्षात्वाभावात् । ननु “इय सप्तमङ्गी प्रतिमङ्ग सकलादेशस्त्रभावा विरूलादेशस्त्रमारा च” ॥ ४३ ॥ इति प्रमाणनयत्प्यालोकालङ्कारग्रन्थरचनादेकस्यापि मङ्गस्य विकलादेशस्त्रवत् सकलादेशत्वात्—

“कालात्मरूपसम्बन्धाः, ससर्गोपक्रिये तथा ।

गुणिदेशार्थशब्दाश्चे, —त्यष्टौ कालादयस्स्मृताः ॥ १ ॥”

इति पद्योक्तकालादिमिरष्टाभिर्द्वारै पर्यायार्थिकनयमापेक्षद्रव्यार्थिकनयेनाऽभेदप्राधान्याद् द्रव्यार्थिकनयसापेक्षपर्यायार्थिकनयेनाभेदोपचाराद्वा यौगपद्येन प्रमाणप्रतिपन्नानन्तधर्मात्मकस्य वस्तुन एकधर्मगुणेन तदन्येषां मर्षेषां धर्माणा प्रतिपत्तिजनकत्वेनास्तित्वाद्येकैकधर्मज्ञानेऽपि तद्धर्मद्वारा तदभिन्ननिमित्तधर्माग्रपोष इति तद्घटकृतया सप्तधर्मप्रतिपत्तिरूप्येकेनापि मङ्गेन सजातैवेति सप्तमङ्गकल्पनया क्रिम्, तथापि तथाकल्पने आद्येन मङ्गेन यदेव प्रमाणप्रतिपन्नानन्तधर्मात्मक वस्तु प्रतिपादनीय तदेव द्वितीयादिनेत्यर्थक्यात् पौनरुच्यस्यादिति चेत्, सत्यम्, तथापि भावार्थाऽनयशोधान युक्तम्, आद्यादिमङ्गेन स्वद्रव्यक्षेत्रादिनिमित्तापेक्षकास्तित्वादिगुणेन तदभिन्ननास्तित्वाद्यनन्तधर्मात्मकस्य वस्तुनः प्रतिपादनेऽपि परद्रव्यक्षेत्रादिनिमित्तापेक्षरूपास्तित्वादिगुणेन तेनाऽप्रतिपादितस्यानन्तधर्मात्मकवस्तुनो द्वितीयादिमङ्गेन प्रतिपादनेन पौनरुच्याऽभावात्, तस्मादेकस्यापि मङ्गस्य वस्तुनि त प्रतिपादैकधर्मद्वारा तदभिन्नतदितराश्लेषधर्मप्रतिपादकत्वेऽपि तत्रैतन्निमित्तापेक्षयाऽय धर्म

एतदपेक्षया चाप धर्म इति पृथगिवेचन नैकमङ्गेनोपपादयितु शक्यम्, किन्तु सप्तमङ्गयैव  
तदुक्त खण्डखाद्ये—' सकलादशमहिम्नैकग्रहेऽपि मर्गग्रहात्, निमित्तमेदप्रिवेचनस्य च सप्त  
मङ्गयैवोपपत्तेरिति । ' अस्तित्वनास्तित्वादिघटकारणत्वतदभावयोरप्यव्याप्यवृत्तित्त्वेन  
कस्या अपि कारणताया' केनापि रूपेण स्याद्वाद विना नियन्तुमशक्यत्वात्, स्याद्वादस्यै  
काधिकरणवृत्तितत्त्वप्रयोज्यमिन्नमिन्नतत्त्वदग्च्छेदकारच्छिन्नतत्त्वदभावस्वीकारात्तत्रैव,  
चात्र विरोध, अपेक्षामेदेन तत्त्वदभावाभ्युपगमात्, तथापि तत्रैव एकस्मिन्नेव पक्षे शास्त्र  
मूलावच्छिन्नकपिसयोगतदभावाभ्युपगमस्येदमेतदपेक्षया ह्रस्वमेतदपेक्षया च महदिति  
प्रतीतिसिद्धैकाधिकरणवृत्तिमिन्नापेक्षकह्रस्वत्वदीर्घत्वाभ्युपगमस्य च विरोधदोषदुष्टत्वं स्यात्  
किञ्च विरोधस्य किं लक्षणमिति वाच्यम्, तादृकेकाधिकरणाऽवृत्तित्वं तद्, एकमभ्यन्वये  
प्रतियोगिमत्यपि सम्बन्धान्तरावच्छिन्नप्रतियोगिताकृतदभावस्य परैरपि स्वीकारेण तत्त्व  
भावयोर्विरुद्धयोरप्यविरोधस्म्यात् । नापि येन मभ्यन्वयेन यस्य यदधिकरण तस्मिन्नधिकरणे  
तत्सम्बन्धावच्छिन्नतन्निष्ठप्रतियोगिताकामावस्यावृत्तित्वं तत्, एकरूपेण तद्वत्यपि रूपान्तरे  
तदभावस्य भावात् । नापि रूपविशेषस्योक्तविरोधलक्षणकोटी निवेशेऽपि निस्तारः, ते  
रूपेण तेन सम्बन्धेन तद्वत्यपि कालान्तरे तेनैव रूपेण तेनैव मभ्यन्वयेन तदभावस्य भावात्  
नापि कालविशेषस्य तत्र प्रवेशेऽपि निराहः, वर्त्तमानकालावच्छेदेन प्रतियोगिमत्यपि  
वर्त्तमानकालावच्छेदेनैव तदभावस्य दशमेदेन स्वीकारात्, तस्माद् यद्रूपेण यत्सम्बन्धे  
परकालावच्छेदेन यद्देशावच्छेदेन यस्य यदधिकरणं तद्रूपावच्छिन्नतत्त्वसम्बन्धावच्छिन्न  
तन्निष्ठप्रतियोगिताकामावस्य तत्कालावच्छेदेन तद्देशावच्छेदेन तस्मिन्नधिकरणेऽवृत्तित्वं  
मित्येव तस्य लक्षणं वाच्यम्, तादृशलक्षणविरोधस्य भिन्नभिन्ननिमित्तरूपावच्छेदकार  
च्छेदेनास्तित्वनास्तित्वमेदाऽमेदादीनामेकत्र स्वीकृतौ न भवति मद्भावकाश' । अ  
एव स्यादस्ति स्यान्नास्तीत्यादौ सर्वत्राविरोधघोतनाय स्यात्पद प्रयुज्यते स्याद्वादतत्त्वज्ञै  
तथा च कस्या अपि कारणतायास्स्याद्वादनियन्त्रितत्वे च सिद्धे मापि सप्तमङ्गीशुपादायै  
सम्भवति, अत एव " सप्तमङ्गीविधिममारूढत्वेनार्थक्रियाकारित्त्वं " इति प्राचीनोक्तिरिति  
सङ्गच्छते । ननु कार्यकारणभावग्रहोऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां जायते, तौ च बीजत्वेन बीज  
सत्त्वेऽङ्कुरत्वेनाऽङ्कुरमन्व तदभावे तदभाव इत्येवभावावेव, न च तौ कथञ्चिद्घटितारिणि  
कथं कारणतात्वव्यापकत्वं स्याद्वादस्येति चेत्, मैवम्, यतो नैवमन्योऽभ्युपगमाह  
तथा सति कुशलप्यदशापामपि बीजमङ्कुरोत्पादकं स्यात्, स्याच्च क्षेत्रस्थतादशाया यावद्  
ङ्कुरोत्पादकं बीजम्, किन्तु स्वैतरसकलकारणसमवहितस्य बीजस्य कस्यचिद् बीजत्वेन  
सत्त्वे कस्यचिद्वाङ्कुरस्याङ्कुरत्वेनोत्पादकं बीजमित्येव स्वरूपं, व्यतिरेकोऽपि तदुच्यते  
तदभावयोरैवेति कथं न कथञ्चिद् घटितत्वं तयो', उक्तप्रियेणस्यैव कथञ्चिद्रूपत्वात्  
उक्तान्वयव्यतिरेकगृहीतस्य यावत् किञ्चिद्बीजं तावत्कथञ्चिद् यावद्ङ्कुरजनकम्, यावान्

कथिदङ्कुरस्तावान् कथञ्चिद् यावद्धीजजन्य इत्याद्याकारस्यैव कार्यकारणमात्रप्रदस्य स्याद्वाद-  
 सस्कृतात् ऊहप्रमाणात् सिद्धेः कारणतात्पठ्यापकत्वं स्याद्वादस्य सिद्ध्यत्येव । ननु कारण  
 स्यात्कार्यकारणमित्येकेनैव भङ्गेन कारणत्वे कथञ्चिच्चसिद्धौ किं तत्र सप्तमङ्गीकल्पनयेति  
 चेत्, भैवम्, प्रथममङ्गीकौ किं कारण स्यात्कार्याकारण न वेत्यादि सशयोत्पत्तेस्तज्जिज्ञासा  
 तत्रश्रद्धारा भङ्गान्तरप्रवृत्तेरावश्यकत्वेन नैवैरुमङ्गमात्रेण निराकाङ्क्षप्रतिपत्तिर्जायते, किन्तु  
 सप्तमङ्गयैव, तस्या एव पूर्णोत्तरत्वात्, यादृशेन बोधेन प्राश्रिकस्याकाङ्क्षोपशाम्यति तादृशबोध  
 स्यैव परिपूर्णबोधत्वेन त प्रति जनकत्वात्, तदुक्त खण्डखाद्ये—“ यावति विचारे किञ्चि-  
 चिद्विधिः पूर्यते तावत् एव प्रमाणत्वादिति । एतेन सप्तमङ्गीजन्यबोधस्य तत्तदभावप्रकार  
 कत्वात्सशयात्मकत्व स्यादित्यारेकाऽपि निरस्ता, एकत्र धर्मिणि विरुद्धनानाधर्मप्रकारक  
 ज्ञान सशय इति लक्षणे एरुस्मिन्नेत्र वृक्षे विभिन्नावच्छेदेन कपिसयोगतदभावप्रकारक-  
 ज्ञानस्य प्रमात्मकस्य सशयत्वं मा प्रसाङ्गीदित्येतदर्थं विरुद्धेति नानाधर्मविशेषण परेणापि  
 स्वीक्रियत इति धर्मविशेषणतया समर्गतया वा विरोधमान सशये नियतमेव, विरोधमाने  
 चाव्याप्यबुचित्वज्ञानं प्रतिबन्धकमिति तदभाव कार्यमहभावेन प्रतिबन्धकामात्रविषया  
 कारणम्, सप्तमङ्गीघटकस्यात्पटेन चानेकान्तार्थस्य द्योतकेन वाचकेन वाऽव्याप्यबुचित्वमेव  
 धर्मोऽवभासत इति कार्यसहभावेन कारणीभूतस्याव्याप्यबुचित्वज्ञानामात्रस्य प्रतिबन्धकामात्र  
 स्यामावादेय सप्तमङ्गीजन्यज्ञाने विरोधमानस्याभावे तन्नियतस्य सशयत्वस्याप्यनवकाशात् ।  
 अत एव शिरोमणिस्तु निपुणमन्यः प्राह—स्यादिति तिङन्तप्रतिरूपको निपातोऽनेकान्तवाची,  
 दिग्मन्त्रा वस्तुना सत्त्वामन्त्रानिर्गन्तनीयत्वानि अनिर्धारितानि प्रतिजानते, तथाहि—सप्तमङ्गी  
 नामकं नयमाचक्षते, स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादवक्तव्यं, स्यादस्ति नास्ति च, स्याद  
 स्ति चावक्तव्यश्च, स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च, स्यादस्तिनास्ति चावक्तव्यश्चेति, वस्तु सत्त्वाश्रय  
 इत्यनिर्धारितम्, तथाऽसत्त्वाश्रय इति, अनिर्गन्तनीयत्वाश्रय इति, सत्त्वामन्त्राश्रय इति,  
 सत्त्वाऽनिर्वक्तव्यत्वाश्रय इति, अमन्त्राऽनिर्वक्तव्यत्वाश्रय इति, सत्त्वासत्त्वाऽनिर्वक्तव्यत्वाश्रय  
 इति । एव सप्तधाऽप्यनिर्धारितमित्यर्थ । तथा च स्यात्पदस्यानिर्धारणार्थत्वाद्दिरोऽप्युभय  
 गोचरज्ञानस्य सशयत्वेनाप्रमाणत्वाच्च सप्तमङ्गीनयो न प्रमाणमिति । इत्थं वदतश्शिरोमणे  
 स्याद्वादस्वरूपाऽनभिज्ञता प्रकटीकृता महोपाध्यायेन न्यायखण्डखाद्ये—“ न ह्येकत्र नाना-  
 विरुद्धधर्मप्रतिपादकस्याद्वादः, किन्त्वपेक्षामेदेन तद्विरोधद्योतकस्यात्पदमभिव्याहृत-  
 चाक्यविशेष स इति, द्योतिते च तद्विरोधे सशयावकाशस्यैवाऽमावात् कथं स्वहृदयगत  
 मनवधारणमस्मात्सारोप्यते शिरोमणिना ” इत्याद्युच्चरन्त्येन ॥ अयमन्त्राः—यद्यपीत्य-  
 मेवेति निधयस्तद्विरोधिघर्मान्तररूपत्वाभावात् एव भवतीति नाईन्मते तथानिश्चयस्सम्भवति,  
 विरोधिघर्मान्तराभ्युपगमात् । तथा च मन्त्रमेवेति वा असन्त्रमेवेति वा अनिर्वचनीयमेवेति  
 वा सदस्यदुभयरूपमेव वेत्यादि नाईता निधिन्वन्तीत्यनिर्धारितत्वं सत्त्वादीनामित्येव नाई

नतम्, स्वद्रव्याद्यपेक्षया वस्तुनि सत्त्वमेव, नामस्वम्, परद्रव्याद्यपेक्षया चासत्त्वमेव, न सत्त्वम्, एककालावच्छिन्नस्वद्रव्यादिपरद्रव्याद्युभयनिमित्तापेक्षयाऽनिर्वाचनीयमेव, न त्वैकैकरूपमित्येवमुत्तरमङ्गोऽपि तत्तन्निमित्तापेक्षया तत्तद्रूपमेव वाच्यमिति यन्निमित्तापेक्षया सत्त्वादि तन्निमित्तापेक्षया तद्विरोध्यसत्त्वादिरूपाऽभावेन तत्तन्निमित्तापेक्षयेदमित्यमेवेति निश्चयसद्भावेन सत्त्वादीनां निर्धारितरूपत्वमेवैवाभ्युपगमात्, तथापि तत् अर्हन्मततयाऽभ्युपगम्य शिरोमणिना सत्त्वादीनामनिर्धारितत्वं प्ररूपितमिति तस्य सुस्पष्ट ध्यान्यमेवेति । एतेन सप्तमङ्ग्यादिरण्डनपर " नैकस्मिन्नसम्मवात् ॥ २ । २ । ३३ ॥ इति शारीरकमीमांसा सूत्रमपि निरस्तम्, तदुक्तिप्रत्युक्तीनां पूर्वोक्तसाम्यात्, यथैकस्मिन् वस्तुन्यस्तित्वधर्मविषयरूपर्यनुयोगवशादविरोधेन व्यस्तममस्तविधिनिषेधकल्पनया स्यात्पदलाञ्छितमस्यधर्मप्रकारवाक्यप्रयोगलक्षणसप्तमङ्गी प्रदर्शिता तथैव तन्न्यमेदनित्यत्वाद्येकैकधमपिपेक्षयाऽपि सप्तमङ्गी ज्ञेया, एवञ्च वस्तुनोऽनन्तधर्मात्मकत्वेन तदपेक्षया सप्तमङ्गीनामानन्त्यं यदायात तदप्यऽभीष्टमेवार्हति । एतेनैकस्मिन् वस्तुनि विधीयमाननिषिध्यमानानन्तधर्मात्मकत्वेन तदपेक्षयाऽनन्तमङ्गप्रसक्त्या सप्तमङ्गीति वचो न युक्तमित्यारेकाऽपि निरस्ता, यत एकैकपर्यायमाश्रित्य वस्तुनि विधिनिषेधकल्पनाभ्यां व्यस्तममस्ताभ्यां मसैव मङ्गास्मम्भवन्ति, एवविधासप्तमङ्गाश्च अनन्ताः प्रतिपर्याय सप्तमङ्गीभावात् पर्यायाणाञ्चैकवस्तुन्यनन्तत्वादिति, यदुक्तं तातपादवादिदेवसुरिभिः— " एकत्र वस्तुनि विधीयमाननिषिध्यमानानन्तधर्माभ्युपगमेनानन्तमङ्गीप्रसङ्गादसङ्गतैव सप्तमङ्गीति न चेतसि निषेधम् ॥ ४ । ३७ ॥ विधिनिषेधप्रकारापेक्षया प्रतिपर्याय, वस्तुन्यनन्तानामपि सप्तमङ्गीनामेव मम्भवात् ॥ ४ । ३८ ॥ इति । एतेन स्यात्पदमेकान्तवाचकमिति स्यात्तन् घटः स्यादसन् घट इत्यादिमप्तमङ्गीवचनमनर्थकम्, स्यात्तन् घट इत्येकमङ्ग उक्तेऽपि तद्व्युत्पत्कस्यात्पदादेव सत्त्वासत्त्वादिधर्मसप्तमङ्गबलत्वस्यापि स्याच्छब्दार्थद्विप्रविष्टत्वात्तद्बोधोपपत्तेरित्यप्यारेका निरस्ता, सामान्यतोऽनेकान्तस्य प्रतिपत्तापि विशेषार्थिना विशेषस्यानुप्रयोगात्, वृक्षो न्यग्रोध इति वचनवत् । अयम्भाव स्यात्पदादनेकान्तपदाद्वा एकान्तबुद्धिविलक्षणबुद्धिविशेषविषयता वच्छेदकत्वेनैवानन्तधर्मान्तर्गतमस्यधर्मबोधेऽपि प्रातिस्निकरूपेण तद्बोधनार्थं विशेषप्रयोगोऽवश्यमाश्रयणीयः । यथा वृक्ष इत्युक्ते वृक्षत्वेन न्यग्रोधबोधेऽपि न्यग्रोधत्वेन तद्बोधार्थं विशेषप्रयोग आश्रीयते तथा प्रकृतेऽपि । स्यात्पदस्यानेकान्तत्वद्योतकत्वपक्षे तु न्यायशास्त्रसदसदादिवचनम्, मदमदादिशब्दोक्तस्य स्वरूपपररूपचतुष्टयादिना सत्त्वामत्त्वादिविशिष्टवस्तुनस्स्याच्छब्देन द्योतनादिति ग्रन्थगौरवमीत्या नाधिकं चितन्यते ॥ ४० ॥

अथोक्तसप्तमङ्ग्या केन नयनं को मङ्ग इति जिज्ञामया शिष्येण यस्य यस्य मङ्गस्य मूलभूतो यो तस्य सूरिराह—



एव सत्तवियप्पो, वयणपहो होइ अत्थपज्जाए ।

वजणपज्जाए पुण, सवियप्पो णिव्वियप्पो य (उ) ॥ ४१ ॥

‘एव’ उक्तप्रकारेण, ‘सत्तवियप्पो’ सप्तविकल्पः मत्तमेदः, ‘वयणपहो’ वचनपथो वचनमार्गः, ‘होइ अत्थपज्जाए’ भवत्यर्थपर्याये विषयस्य विषयिणि लक्षणया तद्वाहिण्यस्ये नये सद्ब्रह्मव्यवहारर्जुसूत्रलक्षणे । सत्ताप्यनन्तरोक्ता मद्वा अर्थनये मनन्तीति भावः । तत्र प्रथमो मद्गः सद्ब्रह्मे सामान्यग्राहिणि, द्वितीयो मद्गो व्यवहारे विशेषग्राहिणि, तृतीयमद्गस्तु ऋजुसूत्रे सूक्ष्मवर्तमानक्षणग्राहिणि, एकदोमयार्पणाया वर्तमानक्षणनियतत्वात्, चतुर्थः सद्ब्रह्मव्यवहारयोः, पञ्चमः सद्ब्रह्मर्जुसूत्रयोः, षष्ठो व्यवहारर्जुसूत्रयोः, सप्तमः सद्ब्रह्मव्यवहारर्जुसूत्रेषु । वस्त्वेकांशग्राही नय इत्येकैरुधर्मविषयकेनैकैकनयेनैकैरुधर्मप्रतिपादकाद्यमद्गत्रय प्रवृत्तिः । धर्मद्वयस्य नयद्वयविषयत्वात्तद्विषयकेण नयद्वयेन मद्गद्वयसंयोगोत्था धर्मद्वय-प्रतिपादकाश्चतुर्थपञ्चमषष्ठमद्गाः प्रवृत्ताः, सप्तममद्गस्तथाद्यमद्गत्रयसंयोगोत्थो धर्मत्रय प्रतिपादक इति धर्मत्रयस्य नयत्रयविषयत्वात्तद्विषयकेण नयत्रयेण स प्रवृत्तः, तथाहि— अर्थनयानाभित्य विचारे कर्त्तव्ये अस्तित्वस्य सामान्यस्य सद्ब्रह्मविषयत्वेन तत्प्रतिपादको मद्गः सद्ब्रह्मनयात्प्रवर्त्तते, सामान्यरूपस्यास्तित्वस्य विशेषग्राहिव्यवहारनयाऽविषयत्वेन तत्प्रतिपक्षभूत नास्तित्त्वं व्यवहारनयविषय इत्यतो नास्तित्वप्रतिपादको द्वितीयमद्गस्तस्मात्प्रवर्त्तते, अवक्तव्यत्वात्प्रतिपादकस्तु तृतीयो मद्गः ऋजुसूत्रनयात्प्रवर्त्तते, यतस्सद्ब्रह्मव्यवहारो न युगपदस्तित्वनास्तित्वे आदिशतः, अस्तित्वस्य सद्ब्रह्मविषयत्वेऽपि नास्तित्वस्य तद-विषयत्वेन तस्य स्थानभिमत्स्यादेशे एव नास्तित्वस्य व्यवहारविषयत्वेऽप्यस्तित्वस्य तद्विषयत्वेन तस्य स्थानभिमत्स्यादेशेऽनिष्टमाधनत्वात्प्रतिसन्धानात्, ऋजुसूत्रस्तु युगपदस्तित्वनास्तित्वे आदिषुमर्हति । यद्यपि परमार्थतोऽस्तित्वनास्तित्वे परमार्थतो वर्त्तमानक्षणमात्रवर्च्यार्थानगाहिन ऋजुसूत्रस्य न विषयो तथापि तन्मते सावृत्तत्वेन रूपेण ते तद्विषयतां गच्छत एव, कल्पितेनापि रूपेण युगपदादिद्योस्तयोरवक्तव्यत्वप्रतिपादको मद्गः पारमार्थिक एव, विषयस्याबाधितत्वात्, यथा धूमत्वेनारोपिताद् धूलिपटलाच्छिद्वाद् पारमार्थिकादपि वस्तुगत्या बद्धिमति देशे बह्वन्युमितिरबाधितविषयकत्वात्पारमार्थिकी । क्रमार्पितास्तित्वनास्तित्वप्रतिपादकश्च चतुर्थमद्गः सद्ब्रह्मविषयस्यास्तित्वस्य व्यवहारनय विषयस्य नास्तित्वस्य च प्रतिपादकत्वात्ताभ्यांप्रवर्त्तते । एव सद्ब्रह्मविषयस्यास्तित्वस्यर्जुसूत्र विषयस्य चावक्तव्यत्वस्य प्रतिपादकत्वात्ताभ्यां पञ्चममद्गः प्रवर्त्तते । तथैव व्यवहारनय-विषयस्य नास्तित्वस्यर्जुसूत्रविषयस्य चावक्तव्यत्वस्याभिधायित्वात्ताभ्यां षष्ठमद्गः उत्तिष्ठते, सप्तममद्गश्च सद्ब्रह्मविषयस्यास्तित्वस्य व्यवहारविषयस्य नास्तित्वस्यर्जुसूत्रविषयस्य चाऽवक्तव्यत्वस्य प्रतिपादकत्वात्तैरुद्भवतीति । अत्र यद्दुधर्मप्रकारकमद्गहाण्यद्योषः प्रथम मद्गफलत्वेनाभिमत्तद्वर्त्तमानप्रकारको व्यवहाराख्यो षोडश एव द्वितीयमद्गफलत्वेनैष्टव्यः,

अत एव स्याद् घट इति प्रथममङ्गफलत्वेन घटत्वप्रकारकमङ्गहाख्यो घोघोऽभिमत इति घटत्वाभावप्रकारको व्यवहाराख्यो घोष स्याद्ऽघट इति द्वितीयमङ्गफलतया ज्ञातव्यः, तेन घटत्वलक्षणसामान्यविषयकमङ्गहनीलघटत्वलक्षणविशेषविषयकव्यवहाराभ्या 'स्याद् घट स्यात्कीलः' इत्याकारकौ यौ प्रथमद्वितीयमङ्गौ तद्घटितमप्यङ्गीप्रवृत्तिर्न सम्भवति, न चा सामान्यमेकमाश्रित्यैव चनमिति तद्विषयकमङ्गह, अनेकान् विशेषान् समाश्रित्य बहुवचन मिति तद्विषयको व्यवहार इति ताभ्यां 'स्याद्घटः स्याद्घटा.' इत्येव रीत्याऽपि मङ्गा न्तरवृद्ध्याऽऽप्तमङ्ग्यादिप्रवृत्तिरपि सम्भवतीत्यवधेयम् । शब्दनयानाश्रित्य विचारोपदर्शनार्थं मुच्यते—'वज्रणपञ्जाए पुण' व्यञ्जनपर्याय पुनः, विषयस्य विषयिणि लक्षणया शब्दनये पुनः 'मरियप्पो' सविकल्पः, साम्प्रतारुपाद्यमेदात्मकशब्दनये पर्यायशब्दवाच्यता विकल्पमङ्गावेऽप्यर्थस्यैकत्वात् । अयम्भात्र —घटकुटनिषु मङ्गलशादिपर्यायशब्दमेदेऽपि घटरूपस्यार्थस्य न मेद इति सञ्ज्ञामेदऽप्यथाऽमेदाभ्युपगन्तरि तस्मिन्नये सविकल्पः, तत्रने घटवाचक्यावत्पर्यायशब्दवाच्यत्वावच्छिन्न एको घटोऽस्त्येवेति प्रथममङ्गस्यास्तिन्व सामान्याभिधायकस्य प्रवृत्तिमात्रात्, पर्यायशब्दवाच्यताविकल्पमङ्गावाच्च । ममभिहृष्टेऽम्भू ताख्यद्वितीयतृतीयमेदात्मकशब्दनये 'णिविषयो य' निर्विकल्पक, द्रव्यार्थात्सामान्य- लक्षणाभिर्गतस्य पर्यायरूपस्य विकल्पस्याभिधायकत्वाद्भुक्तद्वितीयमेदयो, तथाहि ममभि रुदस्य मते घटशब्दस्य योऽर्थः स न कुम्भकलशादिशब्दानां, किन्तु व्युत्पत्तिनिमित्तमेदेन मित्त्वभिन्न एवार्थः, मञ्ज्ञामेदनियतार्थमेदाभ्युपगन्तृत्व समभिहृष्टत्वमिति लक्षणस्य सैद्धान्ति वैकृतत्वात्तेन नयेन सञ्ज्ञामेदेनार्थमेदस्याभ्युपगमेन यत्र मञ्ज्ञामेदस्त्व व्युत्पत्तिनिमित्त क्रियामेदप्रयोज्यार्थमेदस्यावश्यम्भान् । अत्रेदमवधेयम्—शब्दविषये शास्त्रे व्युत्पत्तिपक्षोऽ व्युत्पत्तिपक्षश्चेति पक्षद्वयमुररीकृतम्, अव्युत्पत्तिपक्षे सर्वे शब्दा मिद्धा एव, नैषा व्युत्पादनाय शब्दशास्त्ररूपप्रयास आश्रयणीयो मवति । व्युत्पत्तिपक्षे तु सर्वे शब्दा घातुना व्युत्पादनीयाः, अतस्सङ्क्षेपेण तेषां व्युत्पत्तिसाधनाय व्याकरणनिरुक्तादिकं प्रवृत्तम् । अत एवाह—नाम च घातुजमाह निरुक्ते, व्याकरणे शक्यस्य च तोकम् । यत्र विशेषपदार्थमस्युत्पत्त्य, प्रत्ययतः प्रकृतेश्च तद्दह्यम् ॥१॥ इति । अस्यायमर्थः—निरुक्तनामके ग्रन्थे तद्रचयिता तथा स्वरचिते व्याकरणे शाकटायन सवाणि नामानि प्रातिपदिकानि घातुनानि तच्चत्वात्तुभिः प्रकृतिभूतैः तान् तान् प्रत्ययागमानुबन्धादीन् कल्पयित्वा व्युत्पादितानि भवन्तीत्याह । एतश्च येषा नाम्ना निरुक्ते व्याकरणे च व्युत्पादन नास्ति तेषामपि नाम्नां व्युत्पादनमूहनीयमित्या शयेनाह—यत्रेत्यादि । यन्नाम निरुक्ते व्याकरणे च विशेषपदार्थेन प्रकृतिप्रत्ययविशेषेण समुत्पत्त्य व्युत्पादित नास्ति तत् प्रत्ययतः प्रत्ययविशेषरूपनया प्रकृतेः प्रकृतिविशेषरूपनया अनुबन्धादिकल्पनया चोक्त व्युत्पाद्यम्, अत एव " उणादयो बहुल " इति सूत्र प्राणायि पाणिनिना । सवदति चात्र ।



“सञ्ज्ञासु धातुरूपाणि, प्रत्ययाश्च ततः परे ।

कार्याद् विद्यादनुबन्ध-मेतच्छास्त्रमुणादिषु ॥ १ ॥” इति ।

व्युत्पत्तिपक्षश्च समभिरूढनयाद्विनिर्गत इति तत्प्रकृतिभूतस्त नयो व्युत्पत्तिपक्षावलम्बी सर्वे शब्दाः क्रियानिमित्ताः, धातुजत्वात्, अत एव भिन्नार्थाः, निमित्तभेदाच्चार्यभेदो दृष्टः, छत्रिदण्ड्यादिवदित्यभ्युपगच्छति, एवञ्च तन्मते नैमित्तिक्येव सञ्ज्ञाऽभ्युपगता । हन्तैव पारिभाषिकशब्दस्यानर्थकत्वमापन्नमिति चेदापन्नमेव, किं हन्तेति पूरकारेण । तदुक्त तत्कार्ये “पारिभाषिकी नार्थतत्र ब्रवीति, यदच्छामात्रप्रवृत्तत्वात्” इति । तथा च येषां नाम्नां व्युत्पत्तिः शास्त्रे विशेषरूपेण न प्रदर्शिता तेषामपि अर्थानुसारेण प्रकृतिभूतान् धातून् प्रत्ययाश्च तत्र कार्यानुसारेण अनुबन्धादींश्च कल्पयित्वा साधन कर्त्तव्यम् । तदेव पर्यायशब्दानामपि व्युत्पत्तिनिमित्तक्रियामेदादवश्यमर्थभेद इत्यतो वर्त्तमाननामिन्न लिङ्गादिनाप्येकेनैव ध्वनिनाऽभिधीयमानोऽर्थस्य समभिरूढनये सम्यगुक्तो भवति, नान्यथेति । एवम्भूतनयमतेऽपि यद्यपि तत्तत्क्रियालक्षणव्युत्पत्तिनिमित्तभेदान्नैमित्तिकेनाप्यर्थेन भिन्नेन भाष्यमिति घटकुटकुम्भादिशब्दा भिन्नार्था एव, घटनकुटनकुम्भनादिक्रियालक्षणव्युत्पत्ति निमित्तभेदात्, तथापि यदा कदा घटनक्रियायामपि घट एव, यदा कदा कुटनक्रियाया-मपि कुट एवेति विवक्षितक्रियाभ्युपलक्षणीकृत्य तस्या सत्त्वाममत्यां वोपलक्षणप्रियया तद्वि शिष्ट विवक्षितशब्दार्थमभ्युपगच्छति समभिरूढनयः, एवम्भूतनयस्तु ततोऽपि सूक्ष्मेक्षिका पर्यालोचनतत्पर इति नैवमभ्युपगच्छति, किन्तु व्युत्पत्तिनिमित्तीभूततत्तत्क्रिया विशेषणी कृत्यैव तत्समकाल एव तद्विशिष्टमर्थं विवक्षितशब्दाभिधेय मनुते, न त्वन्यदेति विवक्षित शब्दव्युत्पत्तिनिमित्तक्रियापरिणतिकाल एव तद्वस्तु, न प्राक् पश्चाद्वा, तथाहि परमैश्वर्यानु-भवनकाल एवेन्द्रः, अन्यदाऽनिन्द्रः, इन्द्रोपयोगकाल एव वोपयोगेन्द्रः, तत्क्षणानन्तर तत्पूर्वं वाऽनिन्द्रः, पश्चात्तदुपरमात् पूर्वं तदभावात्, पूर्दारणकाले तदुपयोगे वा पुरन्दरः, अन्यदा पुरन्दरो न, प्रतिक्षणातिक्रामित्वाद्दस्तुनः, यस्मिन् क्षणे योऽर्थोऽनाकारविज्ञानवादे ज्ञानार्थं योर्निपपविपयिभावसम्बन्धस्वीकाराद् बुद्धिनिपयः साकारविज्ञानवादे निपयविपयिभावः सम्बन्धो न, किन्त्वाकाराकारिभावसम्बन्धोऽभ्युपगम इति तेन सम्बन्धेन विज्ञानगतत्व मर्थस्येति बुद्धिस्थो वा तस्मिन्नेव क्षणे स शब्दार्थ इति तेन नयेन शब्दव्युत्पत्तिप्रतिपाद्य क्रियाकाल एव शब्दवाच्योऽर्थोऽभ्युपगमः । न तु सर्वदा, अत एव पदवाच्यप्रवृत्तिनिमि-त्ताऽभिन्नव्युत्पत्तिनिमित्तक्रियाकालव्यापकरूपदार्थमचाऽभ्युपगमपर एवम्भूतनय इति मनी षिणस्त्वन्निर्कर्षमाहुः, तथा च घटो नाम घटवाचकयात्रपर्यायशब्दवाच्यः शब्दनये एकोऽ त्स्येव, ममभिरूढेनम्भूतयोर्नास्त्वेवेति द्वौ भद्रौ लभ्येते, लिङ्गसङ्ख्याकालकारकपुरुषादिभेदेन शब्दनयो भिन्नभिन्नक्रियाप्रवृत्तिनिमित्तसञ्ज्ञामेदेन समभिरूढश्च पूर्वोक्तप्रकारेण भिन्नकाला-वच्छिन्नक्रियाभेदेनैवम्भूतश्च भिन्नमर्थमभ्युपगच्छतीत्युक्तप्रकारेण भिन्नस्यार्थस्यैकशब्दवाच्य-

त्वात्तेषु त्रिषु नयेषु स्यादवक्तव्य इति तृतीयं भद्रम् । प्रथमद्वितीयभद्रसंयोगे चतुर्थः, प्रथम-  
द्वितीयचतुर्थेषु भद्रेष्वेव चानभिधेयसंयोगे पञ्चमपष्ठमसप्तमा वचनमार्गा भवन्ति, अपवा प्रदर्शित  
स्वरूपा सप्तमद्वी मद्दह-व्यवहार-ऋजुश्लेष्वेवार्धनयेषु भवतीत्याह—“एष सत्त्रिपण्यो’  
इत्यादि । ‘एष सत्त्रिपण्यो’ पूर्वनीत्या सप्तत्रिकल्पः सप्तमेदं “वयणपटो होइ अत्यपञ्जाए”  
वचनपथः वचनमार्गो भवति अर्थपर्याये, त्रिपण्यस्य त्रिपण्यिणि लक्षणया अर्थनये ‘वज्रण  
पञ्जाए उण” व्यञ्जनपर्यायेऽत्रापि त्रिपण्यस्य त्रिपण्यिणि लक्षणया शब्दनये साम्प्रतममभि-  
रूढैरभूताख्यनयत्रयात्मके पुनः “सत्रिपण्यो णित्त्रिपण्यो य” सविकल्पो निर्विकल्पश्च,  
आद्यद्वितीयायेव भद्रौ भवत इति । एतच्चात्पर्यायेष्वेवम्—अर्थनय एव मत्तमद्गाः, शब्दादि-  
त्रिनयेषु त्वाद्यौ द्वावेव भद्रौ, यो क्षार्थमाहित्य उक्तस्य सद्दह-व्यवहार ऋजुश्लेष्वारूप्यो मति  
छानात्मकः प्रत्ययः प्रादुर्भवति सोऽर्थनय, अर्थवशेन तदुत्पत्तेः, अर्थप्ररूपणायां प्रतीणत्वे  
नार्थं प्रधानतयाऽसौ व्यवस्थापयति, शब्दं तु स्वप्रमत्तपसर्जनतया व्यवस्थापयति, तत्र  
योगस्य परार्थत्वात् । यस्तु श्रोतरी शब्दश्रवणादुद्भूत इति शब्द-ममभिरूढ-एवम्भूताख्य-  
प्रत्ययश्च्युतछानात्मकः शब्दश्चाख्यार्थगोचर, तस्य शब्दः प्रधानम्, तद्देशेन तदुत्पत्तेः, अर्थ  
स्तूपसर्जनम्, तदुत्पत्तावनिमित्तत्वात् स शब्दनय उच्यते, तत्र च वचनमार्गः सविकल्प-  
निर्विकल्पतया द्वित्रिषु, सत्रिकल्प सामान्यम्, निर्विकल्पः पर्यायः, तदभिधानाद्भवन्मपि  
तथा व्यपदिश्यते । तत्र शब्दस्मश्रुताभेदेऽप्यभिन्नमर्थमद्वीकरोति, ममभिरूढश्च तदानीं पूर्ण  
पश्चाद्वा व्युत्पत्तिनिमित्तक्रियापरिणतिमायेन त्रिपण्यितार्थो त्रिपण्यितशब्दाय एवेति शब्द  
प्रतिपाद्यक्रियायां सत्याममन्यामप्यभिन्नमर्थं प्रतिपादयतीति शब्दममभिरूढाभिप्रायेण  
सविकल्पो वचनमार्गः प्रथमभद्ररूपः, मद्गाक्रियामेदेनाभिनिर्णयप्रतिपादकत्वेऽपि मेद-  
जिज्ञासारूपविकल्पसाहित्यात्, एवम्भूतस्तु कालभेदेन क्रियामेदात् भिन्नमेवार्थं विवक्षित-  
शब्दस्य प्रतिपादयति, यतो यदा घटते तदैवासी घट, न पुनरपठत घटिष्यते वा तदा  
घट इति व्यपदेश्चु ऽक्षयः, सर्वरस्तुनां घटताप्रमत्तात्, तत्र घटनममयात्प्राक् पश्चाद्वा घट  
स्रक्षयपदेशमामादायतीत्येतन्नयापक्षया निर्विकल्पो द्वितीयभद्ररूपो वचनमार्गः । तदुत्तर  
भेदत्रिज्ञासारूपविकल्पविरहादिति भद्रद्वयमेवार्थतिष्ठते, अवक्तव्यभद्ररस्तु वनञ्जननये न  
सम्भरत्येव, यतः शब्दश्रवणोद्भूतश्रोत्रमिप्रायो व्यञ्जननयः, स च शब्दश्रवणादर्थं प्रतिपद्यते,  
न शब्दाऽश्रवणात्, अवक्तव्य त्वेकशब्देनोभयघर्षोपरक्तवस्तुत्रिपण्यथायामेकेन केनापि शब्दे  
नैकदा न वाच्यमिति शब्दाप्रतिपाद्यत्वान्नाऽवक्तव्यमद्रको व्यञ्जनपर्याये सम्भरतीत्यभि  
प्रायस्ता व्यञ्जनपर्याये तु सत्रिकल्पनिर्विकल्पो प्रथमद्वितीयावेव भद्रावभिहितवाचाचार्येण ।  
'च' शब्दस्य गायायामेवकारार्थत्वादिति ।

धर्मं धर्ममपेक्ष्य वाक्यरचनाऽर्थेऽनन्तधर्मात्मके,  
या प्रश्नैर्विधिपर्युदासभिदया सा सप्तधा नाष्टधा ।  
यद्धर्माः किल सप्त नाष्ट पुनरुक्तत्वात्पदोपोद्भवात्,  
सन्देहा अपि सप्त तद्विषयका नैयत्यतस्तद्भवाः ॥ १ ॥

जिज्ञासा अपि सप्त तत्र तदनु प्रश्नाश्च सप्त प्रति  
पाद्यानां प्रतिपादरूपप्रतिवचास्यत्रापि सप्तैव वै ।  
इत्थ सागमयुक्तितो मितिनयापेक्षा प्रमात्व गता,  
तद्गर्भा प्रभुभारती विजयतां या श्रोतृवाक्शुद्धिदा ॥ २ ॥ युग्मम् ॥

अथ गजनिमीलिकान्यायेनेतरांशौदासीन्येनैकांशावगाहिसङ्गहाद्येकैकद्वित्रिनयाधीनप्रष्ट-  
त्तिकमप्तमङ्गीस्वरूप प्रतिपाद्य सप्तमङ्गीप्रवर्तकसङ्गहादिनयमूलभूतद्रव्यार्थिकपर्यायार्थिक  
योर्मध्ये एकान्तपर्यायार्थिकनयवाद प्रदर्श्य तत्राप्रामाण्य प्रदर्शयितुमाह—

जह दवियमप्पिय त, तहेव अत्थित्ति पज्जवणयस्स ।

ण य स समयपण्णवणा, पज्जवणयमेत्तपड्डिपुण्णा ॥ ४२ ॥

यदर्थक्रियाकारि तदेव सत्, अर्थक्रियाकारि च वर्त्तमानक्षणवर्त्येव वस्तिवति तदेव सत्,  
सद्विषयिकैव प्रतीतिः प्रमात्मिकेति तथा कारणभूतया 'जह दवियमप्पिय' यथा वर्त्तमान-  
क्षणसम्बन्धित्वप्रकारेण, अग्रे तच्छब्दोपादानाद् यत्तदोर्नित्यसम्बन्धाद् यदित्यध्याहृत्य  
यद्रव्यमर्पित प्रतिपादयितुममीष्ट 'त तहेव अत्थित्ति' तत्तद्यैवास्ति तद्रव्य वर्त्तमानक्षण-  
सम्बन्धित्वप्रकारेणैवास्ति, सत्स्वरूपतां विमर्त्ति, नातीतानागतकालसम्बन्धित्वप्रकारेण,  
अतीतानागतकालसम्बन्धिनोर्विनष्टानुत्पन्नत्वेनासद्रूपत्वादिति 'पज्जवणयस्स' पर्याया-  
र्थिकनयस्य पर्यायार्थिकनयवादस्य एतदनन्तर "अभिप्रायः" इति शेषः, एतदेकान्त  
पर्यायार्थिकनयवादमन्तव्य श्रोतृगतयथार्थप्रतीत्यऽजनकत्वाच्चैव प्रमाणमिति द्वापनापानेका  
न्तवादी उत्तरार्द्धमाह— 'ण य स समयपण्णवणा पज्जवणयमेत्तपड्डिपुण्णा' न च स समय-  
प्रज्ञापना पर्यायनयमात्रप्रतिपूर्णा, न इति प्रतिषेधे, तच्छब्दस्य पूर्वपरामर्शकत्वात् स इत्यनेन  
पूर्वव्यावर्णितस्वरूपैकान्तपर्यायार्थिकनयवाद. परामृश्यते, समयः सम्पद्य ईयते परिच्छिद्यते  
इति समयः, अर्थः, तस्य प्रज्ञापना प्रकर्षेण असदिग्धाऽविपर्यस्तस्वरूपत्वेन ज्ञाप्यन्ते बोध्यन्ते  
श्रोतृबुद्धावर्था विषयीक्रियन्तेऽनया सा प्रज्ञापना, श्रोतृगतप्रमात्मकाऽर्थबोधजनिका प्ररू-  
पणेति यावत्, एवम्भूता सा 'पज्जवणयमेत्तपड्डिपुण्णा' पर्यायनयमात्रप्रतिपूर्णा, अत्र  
मात्रपदस्येतरवारकत्वाद्भव्यनयनिरपेक्षे केवले पर्यायनये प्रतिपूर्णा पुष्कला, "सर्वं वाक्य  
क्रियया परिसमाप्यते" इति वचनादध्याहृतार्या 'सम्पद्यते' इति क्रियाया पूर्वोक्तनञोऽ-  
न्वयात् सम्पद्यते, न स पूर्वोक्तनादः श्रोतृगतसम्यगर्थप्रत्यय कर्तुं शक्नोतीति न स यथा-

स्थितवस्तुस्वरूपप्ररूपणात्मक इति यावत् । एकान्तपर्यायनयप्रतिपाद्यैकान्तक्षणिकतत्त्वस्य यत्र मे हर्षं प्राग्भूतत्रैव विपादो द्वेषो भयादिर्वा वर्तते, अहमेव पूर्वं हर्षवानासम्, सप्रति विपादादिमान् वर्त्ते नान्य इत्येव हर्षविषादादिविचित्रप्रतिपत्त्या हर्षविषादादिपर्यायपूर्वो चरोक्ततत्त्वपर्यायानुगततात्मद्रव्याभ्यां भेदसगलिताभेदविषयिकया बाधितत्वादिति । यद्वा 'स' इति एकान्तपर्यायार्थिकनयवादः परामृश्यते, तस्याऽप्रमाणत्वे हेतुमाह—“ण य समयपण्वण्णा पञ्चवण्यमेत्तपडिपुण्णा” यतः समयप्रज्ञापना पर्यायनयमात्रप्रतिपूर्णा न च सम्पद्यते, सर्वं वाक्य क्रियया परिसमाप्यत इति न्यायादध्याहृतायां सम्पद्यत इति क्रियाया पूर्वोक्तनजोऽभिसम्बन्धादित्यन्वयः, समयप्रज्ञापनेति—समयः सम्यग् ईयते परिच्छिद्यत इति समयः—अर्थः, प्रज्ञापना—प्रक्षेपणासदिग्धाविपर्यस्तस्वरूपेण ज्ञापना प्रज्ञापना यथार्थ-प्रत्यापनेतियावत्, समयस्य प्रज्ञापना समयप्रज्ञापना, पर्यायनयमात्रप्रतिपूर्णेति—अत्र मात्र पदस्येतरवारकत्वाद्द्रव्यार्थिकनयनिरपेक्षे केरले पर्यायार्थिकनये प्रतिपूर्णा सम्पूर्णैत्यर्थः । तथा चैकान्तपर्यायार्थिकनयवादो न प्रमाणात्मक प्रतिपूर्णमयप्रज्ञापनाऽनात्मप्ररूपत्वात् एकान्तद्रव्यार्थिकनयवादवदित्यनुमानेन तत्राप्रामाण्य सिद्ध्यति । न चात्र हेतोरसिद्ध्या न तस्मिद्धिरिति वाच्यम्, एकान्तपर्यायार्थिकनयवादः सम्यगर्थप्रत्ययजनकयथार्थप्ररूपणात्मको न, अष्यक्षबाधितैकान्ततत्त्वप्रतिपादकत्वात्, एकान्तद्रव्यार्थिकनयवादवदित्यनुमानेन तादृश प्ररूपणात्मकत्वाभावसिद्ध्या पूर्वोक्तहेतुसिद्धितः प्रामाण्याभावसिद्धेरिति भावः ॥ ४२ ॥

अथैकान्तपर्यायार्थिकनयवाद इतैकान्तद्रव्यार्थिकनयवादोऽपि सम्पगर्थानुभवज्ञानाजन-कत्वसाम्याच्च प्रमाणार्ह इत्युपदर्शयितुं प्राक्तदभिप्रायमाह—

पडिपुण्णजोव्वणगुणो, जह लज्जइ बालभावचरिण्ण ।

कुणह य गुणपणिहाण, अणागयसुहोवहाणत्थ ॥ ४३ ॥

'पडिपुण्णजोव्वणगुणो' यौवनमेव गुणो यौवनगुणः प्रतिपूर्णाः सम्पूर्णतां गतो यौवनगुणो यस्य स एवमिधः पुरुषः सद्गुरूपान्ते सद्गर्मशरणे जागृतविवेकः 'लज्जइ' लज्जते प्रपते, केनेति करणाकाङ्क्षायामाह 'बालभावचरिण्ण' बालभावचरितेन बालभावे बाल्या वस्थायां चरितेन, चौर्यपरदारगमनादिकमतिनिन्द्य कृत्यमशुभरुर्मश्रीभूतोऽह दुर्जन-सङ्गत्या कृतवानिति स्मृतिविषयतां गतेन । अतो य एव बाल आसीत् स एव युवा, 'अहमेव पूर्वं चौर्याद्यनुष्ठितवान्' इति लज्जानिबन्धनाभेदप्रत्यभिमानाद् बालयूनोरभेद सिद्धेः, 'जहा' यथा इत्युदाहरणार्थो गाथायामुपन्यस्तः, ततो यथाऽतीतवर्त्तमानयोरेकत्व साधित, तथाऽनागतवर्त्तमानयोरेकत्व साधयितुमुत्तरार्द्धमाह—'इणइ य गुणपणिहाण' चः पुनरर्थः, करोति गुणेषु धर्मविषयोत्साहवैराग्यादिषु प्रणिधान मनोवाक्यैकाग्र्यम्, तत्कि-मर्थमित्यत आह—'अणागयसुहोवहाणत्थ' अनागतं भावि यत्सुख तस्योपधानार्थं प्राप्त्

र्थम्, प्रणिधान हि भाविसुखैककारण कृतिसाध्यश्चेतीदसाधनत्वज्ञानात्कृतिमाध्यत्प्रज्ञानाच्च भाविसुखप्राप्त्यर्थं प्रणिधानानुक्कलकृतिमान् भवति, तथा च य एव प्रणिधानरुर्त्ता स एव भाविसुखप्राप्तमानित्यभेदप्रतिसन्धानाद्दर्शमानानागतयोरैक्य सिद्धमिति ॥ ४३ ॥

कालप्रयावच्छिन्नाभिन्नवस्तुप्रतिपादिकामे कान्तद्रव्यार्थिकनयमतप्ररूपणां प्रदर्श्य साऽपि न यथावस्थितार्थानुभवज्ञानजनिकेति न परिपूर्णैति प्रतिपादयितुमाह—

ण य होह जोञ्चणत्थो, बालो अन्नो वि लज्जह ण तेण ।

ण वि य अणागयवयगुण-पसाहण जुज्जह वि भत्ते ॥ ४४ ॥

‘ण य होह जोञ्चणत्थो बालो’ न च भवति यौवनस्यो बालः, बाल एव यूनो मावो यौवन तस्मिन् तिष्ठतीति यौवनस्यो न च भवति, किन्तु कथञ्चित्ततो भिन्न एव स भवति, अन्यथा “अयमिदानीं युवा, न बालः” इति भेदप्रतिभासोऽप्रामाणिकस्यात्, न च बालस्वभावाऽपरित्यागे युवस्वभावपरिग्रहोऽपि सम्भवति, उत्तरस्वभावे पूर्वस्वभावपरित्यागस्य हेतुत्वात्, एतेन प्राप्तयौवनगुणः पुरुषो बालभावसष्टृचात्मीयानुष्ठानस्मरणा छजत इत्यतो बाल एव युवा, न तु ततो भिन्नस्म इति बालयूनोः पूर्वोक्तैकान्ताऽभेदो निरस्तः, नन्वेव तर्हि युवत्वकाले युनि बालत्वावच्छिन्नप्रतियोगिकभेद एवैकान्तोऽस्तु ‘इदानीं युवा न बाल इति प्रतीतेः’ इत्याशङ्क्यायामाह—“अन्नो वि लज्जह ण तेण” अन्योऽपि लज्जते न तेन बालचरितेन, पुरुषान्तरवत्, अयम्भावः—बालयूनोरेकान्तभेदश्चेत्तर्हि बालावस्थायामनुष्ठितदुराचरणः पुमान् पूर्वमहमस्पृश्यगोचरसस्पर्शादिव्यवहार कृतवानिति स्मरणतः तरुणावस्थायां लज्जां न प्राप्नुयात्, पुरुषान्तरवत्, लज्जा च प्राप्नोति, तस्माद्यौवनस्यः पुरुषः कथञ्चिद्बालादनन्योऽपीत्यभ्युपगन्तव्यम्, ननु केन रूपेण बालयूनोः स्यादभेदस्यादभेदश्चेति चेत्, उच्यते, बालत्वेन युवत्वेन भेदः, इदानीं युवाऽह न बाल इति तत्तदवस्थाभेदप्रतीतेः, य एवाह बालोऽभव स एवाह साम्प्रत युवाऽस्मि’ इति तत्तदवस्था नुगतात्माऽभेदप्रत्यभिज्ञानादात्मत्वेन रूपेण चामेद इति जानीहि, बालयुवाद्यवस्थाऽनुगतधर्म्यनभ्युपगमे तु बालयुवाद्यवस्थाया अप्यभावप्रसङ्गस्यात्, धर्म्यभावे तद्धर्माणा मप्यसस्यात्, न हि सर्वाद्यभावे कुण्डलाद्यवस्थायास्तम्भवोऽस्तीति । यत्तु आत्मा बालाद्यवस्थामेदान्न निवर्त्तते, मिद्यते वा, नित्यैकरूपत्वात्तस्य, अपि तु बालाद्याः शरीरस्यैव नानाविधावस्था इति शरीरमेव तत्तदवस्थामेदेन निवर्त्तते मिद्यते वा, परिमाणभेदेन तद्भ्रूरीरभेदादिति नैयायिकादीना मतम्, तदप्यसत्, ‘अह बालः अह युवा’ इत्यादि प्रतीत्या बालत्वाद्यवस्थानामहन्त्वसामानाधिकरण्यस्य सिद्धयोऽऽत्मन एव बालत्वाद्यवस्थाः, न तु शरीरस्य, प्राग् ‘बालोऽहमामम्, इदानीं युवाऽस्मि’ इत्याद्यनुभवादहवात्पदस्यात्मनोऽनुगतात्मत्वस्वरूपेणाभिन्नस्यापि तदीयबाल्ययौवनाद्यनुगतावस्थाभेदेन भिन्नत्वात्, अत

एव पूर्वावस्थारूपेण विनाशेनोत्तरावस्थारूपेणोत्पादेनात्मत्वेन रूपेण ध्रौव्येण च विनाशो-  
त्पादध्रौव्यात्मकस्य तस्य सिद्धिः । न च गौरोऽहमित्यादिप्रतीतौ गौरत्वांशे भ्रान्तत्वमिव  
बालोऽहमित्यादिप्रतीतौ बालत्वांशे भ्रान्तत्वमेवेति वाच्यम्, तत्र भ्रान्तत्वरूपत्वनाया वीजा  
मावात् । आत्मन्येव बाल्यादितत्तदवस्थानामबाधितानुभवसिद्धत्वात्, यत् आत्मनश्शरीर-  
परिमाणनियतपरिमाणप्रचया पूर्वं व्ययस्थापितत्वेनाहारादिपुद्गलोपचयापचयप्रयोज्यशरीर-  
परिमाणभेदे शरीरसमुक्तात्मपरिमाणभेदोऽप्यवश्यमासी, परिमाणभेदे च तद्वतोऽपि कथ-  
ञ्चिद्भेदः, स एव च बाल्याद्यवस्थात्मक, तत्त्वपरिमाणवच्छिन्नात्मन एव बाल्ययुवत्वा-  
द्यवस्थारूपत्वात्, गौरोऽहमिति प्रतीतिरपि दृष्टान्तीकृता न गौरत्वांशे भ्रान्ता, आमवक्ष्य  
कथञ्चिन्मिथः प्रदेशानुप्रविष्टशरीरात्मनोः कथञ्चिदभेदेन तदाश्रितरूपादिज्ञानादीनाम-  
न्योन्यानुप्रवेशेनात्मन्यपि कथञ्चिद् गौरत्वस्य सस्यात् । ननु स्वस्वमात्रतो नीरूपे आत्मनि  
गौरत्वस्य शरीरसम्बन्धोपाधिप्रयुक्तत्वाच्चदशे सा प्रतीतिः काल्पनिक्येवेति चेत्, तर्हि  
कुण्डलित्वस्य कुण्डलमग्नन्धोपाधिप्रयुक्तत्वात् कुण्डली चैत्र इति प्रतीतिरपि तदशे प्रामा-  
णिकी न स्यात् । वस्तुवस्तु आत्मा नैकान्तमित्यः, पूर्वं तत्पक्षस्य निरस्तत्वात्, किन्तु  
कथञ्चिदेव, अत एवात्मनोऽसख्येयप्रदेशमयत्वेन तत्प्रदेशमङ्गीचनिकाशाभ्यां शरीरपरिमाण  
वृद्धिहानिवच्छरीरसमुक्तात्मपरिमाणस्यापि वृद्धिहानी इति तन्नाशयोगोलेक परस्परप्रदेशानु-  
प्रविष्टवह्वयपमोरिव मिथः प्रदेशानुपक्तशरीरात्मनोरप्येकलोलीमान इति तद्रूपेण तन्वमिन्न  
स्याऽऽत्मनोऽपि बालाद्यवस्था अभ्युपगन्तव्या एव । एवञ्चातीतवर्त्तमानयोः कथञ्चिद्भेदा-  
भेदसिद्धौ तद्वद्बर्त्तमानानागतयोरपि कथञ्चिद्भेदाभेदावेनाभ्युपगन्तव्यापिति साध्यमित्युक्त  
रार्द्धमाह ' ण प्रि य अणागयवयगुणपमाहण जुञ्जइ विमत्ते ' नाऽपि च अनागतवयोगुण-  
प्रसाधन युज्यते अविमत्ते । अनागत वय. अनागतवय. तस्मिन्, मात्रिवृद्धानवस्थाया  
मित्यर्थः, गुणः सुखात्मकोऽनागतवयोगुणः, तस्य प्रमाधन कारणे कार्योंपचारात् प्रसाध-  
नार्थमृत्साहः, तथा च नापि चानागतवृद्धानवस्थाया सुखप्रमाधनार्थमृत्साहो यौवनस्यस्य  
युज्यते, कस्मिन् सति इत्यत आह—' विमत्ते ' अत्राकारप्रक्षेपादविमत्ते वर्त्तमानाना-  
गतयोरभेदे सति, अमेदपक्षे क्षानागतवृद्धत्वावस्थाया अपि वर्त्तमानयुवत्वावस्थारूपत्वेन  
प्राप्तव्यसुखादेर्युवत्वावस्थायामेव प्राप्तत्वादिति । तस्मान्नाभेदैकरूप वस्तु, इदानीमय युवा न  
वृद्ध इत्याकारकभेदव्यवहृतिप्रतिमासबाधितत्वात् । नन्वेवन्तर्ह्येकान्तभेद एवास्त्वित्यारे-  
कानिरासार्थं ' विमत्ते ' इत्यस्य विमत्ते एकान्तभेदे इत्यप्यर्थोऽत्र कर्त्तव्यः, तथा च युनि  
वृद्धस्यैकान्तभेदे प्राप्तव्यसुखार्थमृत्साहो न युज्येत, यद्बद्धचीयानागतसुखप्रसाधनार्थं देवदत्ते  
उत्साहादर्शनात्, एवञ्चातीतवर्त्तमानयोरिव वर्त्तमानानागतयोरप्यनुगतात्मत्वस्वरूपेणामेदः,  
तत्तदवस्थाभेदेन च भेदोऽनुगतव्यावृत्तप्रतीतितस्मिद् इति कथञ्चिद्भेदाभेदात्मकमेव  
तत्त्वमभ्युपगन्तव्यम्, अन्यथा सकलव्यवहारोच्छेदप्रसक्तिस्स्यादिति ॥ ४४ ॥

एव कथञ्चिद्भेदाभेदात्मकस्य पुरुषतत्त्वस्य यथा बालादिकालरूपातीतकालावच्छिन्नकृत  
चौपांस्पृश्यस्पर्शक्रीडादिदोषनिन्दाऽनागतवृद्धावस्थाकालीनसुखप्रसाधनानुकूलोत्साहाम्भ्यां -  
सम्बन्धस्तथैव कथञ्चिद्भेदाभेदात्मकस्य तस्य जात्यादिभिर्नालादिभावैश्च सम्बन्ध इति  
दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकोपसहारार्थमाह—

जाह-कुल-रूप-लक्षण,-सण्णा-सम्बन्धो अहिगयस्स ।

बालाहभावदिट्ठ,-विगयस्स जह तस्स सबंधो ॥ ४५ ॥

जाति-कुल-रूप-लक्षण-सञ्ज्ञा-सम्बन्धतोऽधिगतस्य, तत्र जातिः पुरुषत्वादिका, कुल  
प्रतिनियतपुरुषजन्यत्वम्, रूप चक्षुर्ग्राह्यत्वलक्षणम्, लक्षण तिलकरेखादि सुखदुःखादि-  
स्रचरुम्, सञ्ज्ञा प्रतिनियतशब्दाभिधेयत्वम्, एभिर्यः सम्बन्धस्तदात्मपरिणामः, 'सबन्धो'  
इत्यत्र सम्बन्धपदोत्तर वृत्तीयार्थे तमिल्, तथा च जन्मत आरभ्य मरणपर्यन्ताऽवस्थायि  
मिर्जात्यादिभिर्यस्सम्बन्धः तेन, चक्षुषाऽधिगतो घट इत्यत्र यथा चक्षुराश्रित्य ज्ञातो घट  
इत्यर्थस्तथाऽप्रापि सम्बन्धमाश्रित्येत्यर्थः, 'अहिगयस्स' अधिगतस्य ज्ञातस्य, जात्यादिभि-  
स्सर्वदा पुरुषस्य सम्बन्धभावात्तदात्मकत्वेनाऽभिन्नावभासविषयस्य, यद्वा 'सबन्धो'  
अत्र वृत्तीयार्थे बहुत्ववाचकस्तमिल् प्रत्ययः, सम्बन्धश्चात्र जन्यजनकभासः, तथा च जाति  
कुलरूपलक्षणमञ्ज्ञासम्बन्धैः 'अहिगयस्स' अमेदप्रत्यभिज्ञानविषयस्य, जन्मादिमरणपर्यन्त  
न कदापि जात्यादिस्वभावान् पुरुषः परिजहातीति तद्रूपैरभिन्नस्वभावस्येति यावत् । एतेना-  
मेद प्रतिपाद्य मेदप्रतिपादनायोत्तरार्द्धमाह—' बालाहभावदिट्ठविगयस्स ' इत्यादि, बालादि  
भावदृष्टविगतस्य, बालादिभावैर्दृष्टै प्रत्यक्षमोचरैर्विगतस्य ध्वस्तस्य पूर्वबालादिपर्यायेण ध्वसे  
सति तस्यार्थान्तरभावगमनलक्षणतयाऽवश्यमुत्तरपुत्रादिपर्यायेणोत्पाद इति बालपुत्रादिभावै-  
र्विनाशोत्पादात्मकस्य, पूर्वोक्तजात्यादिभिरभिन्नस्यापि बालपुत्रादितत्पर्यायरूपेण पुरुषस्य  
मेदप्रतीतिर्भिन्नस्वभासस्य 'जहा तस्स सबन्धो' यथा तस्य पुरुषस्य सम्बन्ध उक्तप्रकारेण  
मेदाभेदपरिणतिरूप', चाक्षुषाद्यध्यक्षतोऽनुगतव्यावृत्तस्वरूपतया मेदाभेदात्मकत्वप्रती-  
तेरिति ॥ ४५ ॥

आध्यात्मिकाध्यक्षतोऽपि तथाप्रतीतेस्तथाभूतमैव तद्वस्त्विति दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकोप-  
सहारद्वारेण प्रतिपादयन्नाह—

तेहिं अतीताणाय,-दोसगुणदुगंच्छणऽम्भुवगमेहिं ।

तह बध-मोक्ख-सुह-दुक्खवपत्थणा होइ जीवस्स ॥ ४६ ॥

'तेहिं' वाम्याम्, 'अतीताणायदोसगुणदुगंच्छणऽम्भुवगमेहिं' अतीताना  
गतदोषगुणजुगुप्साऽम्भुपगमाभ्यां यथाऽतीतदोषजुगुप्साऽनागतगुणाम्भुपगमाभ्यां कथञ्चि  
द्भेदाभेदात्मकस्य पुत्रपद्रव्यस्य सिद्धिः, तथा दार्ष्टान्तिकेऽपि " तह बध-मोक्ख-सुह-

दुःखपत्त्यणा होइ जीवस्स " बन्धमोक्षसुखदुःखप्रार्थना तत्साधनोपादानपरित्यागद्वारेण  
 बालयुवाद्यात्मरूपरुपद्रव्यदृष्टान्तसिद्धरूपश्रिद्धेदामेदात्मरूपस्यैव जीवद्रव्यस्य भवति, तथाहि-  
 य एवाह पूर्वं बद्धस्स एवाह सारप्रथं मुक्त इत्यबाधितबन्धमोक्षसामानाधिकरण्यानुभवाद्  
 य एवात्मा बद्धस्स एवात्मा मुच्यते इत्येकस्यैवात्मनो पूर्वोत्तरकालावच्छेदेन बन्धमोक्षौ  
 भवत इति बद्धावस्थामुक्तावस्थानुगतस्वरूपेण तस्याऽभेदः, इदानीं समारकारागारे  
 मापावशज्जालीषद्वोऽहं न ततो मुक्तः, यद्वा इदानीं मुक्तोऽहं न रागद्वेषपरिणतिरञ्जुषद्  
 इत्यबाधितप्रतीतिर्बद्धत्वेन मुक्तत्वेन च तस्य भेदः, एव य एवाह पूर्वं दुःखं भूय म  
 एवाहमिदानीं सुखी सञ्जात इत्यबाधितसुखदुःखसामानाधिकरण्यप्रतीतिबलादहम्पद  
 धाच्यस्यात्मनो सुखदुःखावस्थानुगतस्यात्मत्वस्वरूपेणामेदः, इदानीमहं दुःखी न तु  
 सुखी, यद्वाऽधुना सुख्यहं न तु दुःखीत्यबाधितप्रत्ययात्, यद्वा ससारसुखमपि  
 मणुलिप्तसङ्गधाराऽऽस्वादनजन्यसुखमिवापत्त्यां दुःखजनकत्वाद् दुःखमेवेति ससारे दुःख्ये  
 वाहं न तु सुखीत्यबाधितप्रत्ययात्, तस्य सुखित्वेन दुःखित्वेन च भेद इत्येव कथ-  
 श्रिद्धमेदामेदात्मकस्य जीवद्रव्यस्य ससारकाराणां सामकमावबन्धो हेयः, अनल्पदुःख  
 हेतुत्वाद्, द्रव्यकारावावबन्धवदित्यनुमानसिद्धहेयमावस्य बन्धस्य तत्साधनपरित्याग-  
 द्वारेण ससारकारायामत्रो मुक्तिरुपादेया, अनल्पसुखहेतुत्वाद्, द्रव्यकारावासमुक्तिवदित्य  
 नुमानसिद्धोपादेयमावस्य मोक्षस्य च तत्साधनोपादानद्वारेण ससारबन्धो मे प्रुच्यत  
 मुक्तिश्च जायतामित्याकारिका प्रार्थना सुख मे भूयात् दुःख च मा भूदित्याकारिका सुख  
 साधनोपादानद्वारा सुखस्य दुःखसाधनपरित्यागद्वारा दुःखस्य च मा भवति । न च  
 जीवस्यैव पूर्वोत्तरमवानुभवित्रमावात्तद्वन्धामावेन तवस्तन्मुक्तवरेण्यमाव इति वाच्यम्,  
 " उत्पादच्ययधौन्ययुक्तं सत् " इति सत्त्वान्ययानुपपत्त्योत्पादादिश्रपात्मकस्य तस्यानाद्य  
 नन्तस्य सिद्धेः, तथाहि-अहं यते, जानाम्यहमित्यादिप्रत्ययादात्ममिद्धि, न चाहम्पदवाच्यो  
 दह इति वाच्यम्, मृतदेहवदेहत्वभूतत्वमूर्धत्वरूपादिमत्त्वादिना देहस्याऽचेतनत्वाद्, न  
 च भूतसमुदायपर्यवसित चैतन्य, प्रतिदिन तस्यान्याऽन्यत्वे पूर्वपूर्वदिवमानुभूतस्याऽस्मरण  
 प्रसङ्गात्, नापि प्रत्येकपर्यवसितम्, फरचरणाद्ययत्रिगमे तद्भूतस्य स्मरणाऽप्योगात्,  
 देहस्यैव चैतन्ये च बालस्य न्तन्यपानादौ प्रथमप्रवृत्त्यऽभावप्रसङ्गात्, प्रवृत्तिं प्रतीष्ट-  
 साधनत्वज्ञानस्य कारणभूतस्यामावात्, इह जन्मन्यननुभूतस्येष्टसाधनत्वस्य स्मरणाऽ  
 योगात्, जन्मान्तरानुभूतस्य च तस्यानुभवतिरि मस्ममाद्भूत सत्यन्येनाऽस्मरणात् ।  
 अधोक्तकार्यकारणभावस्यैवामाव इति न च वाच्यम्, अनुभवादीनां प्रवृत्त्यन्तानां कार्य  
 कारणभावस्येहैव जन्मनि निश्चितत्वात्, कारणाभावे कार्याभावस्य सुलभत्वात्, अन्यथा  
 तु तत्त्वव्यवस्थैव न स्यात्, न चाहम्पदवाच्यानीन्द्रियाण्येवेति वाच्यम्, तेषामप्युक्तयुक्त्याऽ  
 चेतनत्वेनैव सिद्धेः, किञ्च योऽहं घटमद्राक्ष सोऽहं त स्पृशामीत्येककर्तृकपट्यानुपसर्शना



श्रयत्वस्य चक्षुरादावसम्भवात्तद्व्यतिरिक्तात्मसिद्धिः, न च मनोऽप्यहपदवाच्यम्, तस्य चक्षुरादिवत् करणत्वेनैवानुमानारिसिद्धेः, ननु पूर्वभवानुभवोत्तरभवस्मरणयोरेककर्तृकत्वेन परलोकात्मसिद्धिर्मवत्, तत्पूर्वतरमये तु कथं तरिसिद्धिरिति चेत्, उच्यते, पूर्वजन्मन्यपि प्रथमप्रवृत्त्यनुरोधेन तत्पूर्वस्य एव तत्पूर्वस्य जन्मनस्सिद्धेर्वीतरागजन्मादर्शनन्यायेनानादित्वेनैव तस्य सिद्धिः, अनादित्वे च सिद्धे आत्मा अनन्त' अनादिभावत्वात्, यन्नैव तन्नैव, यथा घट इत्यनुमानेनानन्तत्वसिद्धेरनाद्यनन्तत्वसिद्धिरिति । एतत्सर्वं पूर्वमेव साधितमिति किं पिष्टपेपणेन ? नन्वात्मनोऽनाद्यनन्तत्वसिद्ध्या स्थैर्यमेव सिद्धं स्यात्, न तत्पादव्ययानिति चेत्, मैवम्, य एवाह पूर्वं मनुष्यादिरूपेणास म एवाह देवरूपेणोत्पन्न इत्यसाधितप्रतीत्यैवोत्पादादित्रयात्मकतयैव सिद्धेः, न च मनुष्यदेवाद्यवस्थाः शरीरस्यैव न त्वात्मन इति नोक्त युक्तमिति वाच्यम्, यतो मनुष्याद्यवस्थाप्रयोज्यो गुणविशेष आत्मनि घटेत, एतत्पक्षः पूर्वमेव निरस्त इति ग्रन्थगौरवभीत्या नाधिकमुच्यत इति ॥ ४६ ॥

अथ कर्मपुद्गलसङ्घातोपगूढस्य जीवस्य कर्मणशरीरस्य चात्मत्वेन शरीरत्वेन स्वस्वग ताऽसाधारणधर्मेण भेद इव जीवकर्मप्रदेशयोरविभक्तत्वात्तद्रूपेणासाधारणधर्मेणाऽभेदोऽपीति प्रतिपादयितुं यथाऽविभक्तत्व तयोस्तथा तत् सद्यष्टान्तमाह—

अण्णोण्णाणुगयाणं, इम व त व त्ति विभयणमजुत्त ।

जह दुद्ध-पाणिघाण, जावत विसेसपज्जाया ॥ ४७ ॥

“ अण्णोण्णाणुगयाण ” अन्योन्यानुगतयोरेकलोलीभावेन परस्परानुप्रविष्टप्रदेशयो-  
रात्मकर्मणोः “ इम व त व त्ति ” इदं वा तद्वा' इति—‘इदं कर्म अयञ्चात्मा’ इति  
' विभयणमजुत्त-विभजनं पृथक्करण, अयुक्तम् अघटमानकम्, तयो' पृथक्कर्तुमशक्यत्वात्,  
न हि दृष्टान्तं विना दार्ष्टान्तिकसिद्धिर्मचितुमर्हतीति तत्साधनार्थं तत्र दृष्टान्तमाह—‘ जह  
दुद्ध-पाणिघाण' यथा दुग्धपाणीययोः परस्परप्रदेशानुप्रविष्टयोः, किं परिमाणोऽयमविभागो  
जीवकर्मप्रदेशयोरित्याशङ्कार्यां तन्निवृत्त्यर्थमाह—‘ जावत विसेसपज्जाया' यावन्तो विशेष-  
पर्यायाः—तावानिति शेषः, यावन्तो विशेषपर्यायास्तावत्सु अपमात्मा इदं कर्म इति विभजनं  
कर्तुमशक्यत्वाद्ऽघटमानकम्, अयम्भावः—“ एगमेगेण जीवस्त एएसे अणतेहिं णाणावर  
णिज्जपोगगलेहिं आवेदिए पवेदिए ” इत्यागमवचनाद् बह्वित्पत्तायःपिण्डवत् सर्वात्मप्रदेशै  
स्सह कर्मसम्बन्धः, न तु सर्पकञ्चुकवद् बहिस्त्वक्पर्यन्तमागवर्तिप्रदेशमात्रेण सहेत्यात्म  
कर्मणोः प्रतिप्रदेशमन्योन्यानुस्यूतत्वादन्यप्रदेशमभिव्याप्याऽविभागः, न चैनं तर्हि तद्विभागो  
न स्यादिति वाच्यम्, यतो हसेन स्वचञ्चला क्रियमाणक्षीरनीरविवेकवज्जीवेन विशुद्धतमप्या  
नानुभवचञ्चला सोऽपि कर्तुं शक्यत एवेति । तावत्पर्यन्तमेवाऽविभाग इति नियमने को  
हेतुरिति चेत्, उच्यते, अन्यविशेषपर्यन्ता एव सर्वविशेषाः, अन्य इति विशेषणाऽन्यथा-  
ऽनुपपत्तेः, इतराव्यापत्तकत्वादिति भावः ॥ ४७ ॥

ननु जीवकर्मणोरन्योन्यानुप्रवेशे सति तदाश्रितगुणानामप्यन्योन्यानुप्रवेशस्यादित्यात्मगतज्ञानादयो देहे स्युः देहगतरूपादयोऽप्यात्मनीति चेत्, तथास्तु का नाम नः क्षतिः, सिद्धान्ते तथैवाभ्युपगमात् । तदेवाऽऽह—

रूपाहपञ्चवा जे, देहे जीवदविषमि सुद्वमि ।

ते अण्णोण्णाणुगया, पण्णवणिज्जा भवत्थमि ॥ ४८ ॥

“रूपाहपञ्चवा जे” रूपादिपर्याया ये, आदिपदेन रसगन्धस्पर्शदियो प्राद्याः, ‘देहे’ शरीरे तदाश्रिता इति यावत्, ये च ‘जीवदविषमि सुद्वमि’ जीवद्रव्ये शुद्धे-आत्मस्वरूपेणात्मद्रव्ये शुद्धे, वस्तुगत्याऽऽत्मा नीरूप इत्यतो रूपाद्यनिशिष्टे, तदाश्रिता इति यावत्, ज्ञानादयो गुणा. ‘ते अण्णोण्णाणुगया’ ते अन्योन्यानुगताः, देहवर्तिरूपादयो देहाभिन्नत्वादात्मनि आत्मगतज्ञानादयो जीवाऽभिन्नत्वादेहे ‘पण्णवणिज्जा भवत्थमि’ प्रज्ञापनीया भवस्थे-समारिणि, ‘गौरोऽह जानामि’ इत्यादिधिपस्तथैवोपपत्तेः, तस्यां प्रामाण्यनिश्चयस्य तु प्रागेव कृतत्वादिह नाधिकं तन्यते । तदेव न धूर्ध्वगतिस्वभावस्य तुम्बिकादेर्मृदादिसम्बन्धव्यतिरेकेण समुद्रेऽधोगमनं दृष्टमित्यतः पुद्गलोपष्टम्भव्यतिरेकेणोर्ध्वगतिस्वभावस्यात्मनोऽन्यदिग्गमनामम्भवेन भवान्तरे स्थूलशरीरमम्बन्धित्वं न स्यादिति तदन्यथाऽनुपपत्त्या स्थूलशरीरसम्बन्धप्रयोजकतया पौद्गलिककर्मणारूपसूक्ष्मशरीरस्यान्तरालेऽप्यभ्युपगन्तव्यत्वेनात्मकर्मप्रदेशयोरन्योन्यानुगमात्तदाश्रितगुणानामप्यन्योन्यानुप्रवेशआमवश्यमिदं इति । यद्वा ‘भवत्थमि’ इत्यत्राकारप्रश्लेषादमस्ये, असमारिणि, न च ससारावस्थायां देहात्मनोरन्योन्यानुगन्धाद्भवतु देहे चैतन्यादिमत्त्वम्, आत्मनि च रूपादिमत्त्वम्, सिद्धावस्थायां तु कथं तत्प्राक्षैर्मान्यम्, तत्र देहामावेनान्योन्यानुप्रवेशाऽभावात्तयोरिति वक्तव्यम्, तदवस्थायामपि देहाद्याश्रितरूपादिग्रहणपरिणतज्ञानदर्शनपर्यायद्वारेणात्मनस्तथाभिधत्वात्तथाव्यपदेशसम्भवात् । अयमभावः-तत्र शरीरस्थामावेऽपि कथञ्चिद्धेदामेदस्य सम्बन्धव्यापकत्वेन ज्ञानज्ञेययोरपि त्रिपयविपदिभावसम्बन्धव्यापकः कथञ्चिद्धेदामेद एवेति मुक्तात्मगतज्ञानदर्शनयोर्देहाश्रितरूपादिविषयकत्वेन कथञ्चिद्रूपाभिन्नत्वम्, तथा च तदभिन्नाभिन्नस्य तदभिन्नत्वमिति नियमेन रूपाद्यभिन्नज्ञानाभिन्ने मुक्तात्मनि रूपाद्यभिन्नत्वेन रूपादिमत्त्वमपि ज्ञानाद्यभिन्नाद्विषयीभूताद्रूपादेरभिन्ने देहे ज्ञानादिमत्त्वमपि च सम्भवत्येव । अत एव देहात्मनो रूपादिज्ञानादीनाञ्चान्योन्यानुप्रवेशात्कथञ्चिदेकत्वमनेकत्वं मूर्त्तत्वममूर्त्तत्वञ्च सिद्धिकोटिमुपदोक्त इति ॥ ४८ ॥

आत्मन एकत्वानेकत्वप्रमाधनायैवाह—

एव एगे आया, एगे वडे य होह किरिया य ।

करणाविसेसेण य तिविहजोगसिद्धी वि अचिरुद्धा ॥ ४९ ॥

‘एव’ अनन्तरोदितप्रकारेण ‘एगे आया’ एक आत्मा, यस्मिन् येपामनुप्रवेशस्ते तदात्मका एवेति व्याप्तेर्मनो-वाक्-कायद्रव्याणामात्मन्यनुप्रवेशान्मनःप्रभृतयः आत्मस्वरूपा एव न तद्द्रव्यतिरिक्तास्त इत्येक आत्मा, अत एव दण्डादीनामेकत्वमाह “एगे दडे य होइ किरिया य” एको दण्ड एका क्रिया च भवति, मनोनाकायेषु दण्डक्रियाशब्दौ प्रत्येकमभिसम्बन्धनीयौ, मनोदण्ड-वचनदण्ड-कायदण्डभेदेन त्रिविधस्यापि दण्डस्य, मनःक्रिया-वाक्क्रिया-कायक्रियामेदेन च त्रिविधाया अपि क्रियाया एकात्माऽभिन्नत्वादेको दण्डः, एका च क्रिया भवति । अत एव स्थानाख्यतृतीयाङ्गकस्थाने “एगे आया ( सू० २ ) एगे दडे ( सू० ३ ) एगा किरिया ( सू० ३ ) इत्यादिषु प्रोक्तमपि सद्गच्छते । आत्मन एकत्व प्रतिपादानेकत्रप्रतिपादनायोचरार्द्धमाह-“करणविशेषेण य त्रिविहजोगसिद्धी वि अवरुद्धा” इति, करणविशेषेण च मनो-वाक्-कायात्मककरणत्रयेण सह कथञ्चिद्भिन्नत्वात्कर्तृभूतस्यात्मनोऽपि त्रिविधयोगरूपत्वात् त्रिविधयोगसिद्धिरप्यात्मनोऽवरुद्धैव, तत एरुस्य मतस्तस्य त्रिविधयोगात्मकत्वादानेकत्रमित्यात्मा नैकान्तैकस्वरूपः किन्त्वेकानेकार्त्वात्त्वादानेकान्तस्वरूप एवेति सिद्धम् ॥ ४९ ॥

नन्वेवमात्मपुद्गलयोरन्योऽन्यानुप्रवेशादकात्मकत्वे बाह्याभ्यन्तरविभागाभावः प्रसज्येत, ओमिति चेत्, तर्हि अन्तर्हर्षविषादाद्यनेकत्रिचर्त्तात्मकमेक चैतन्यम्, बहिर्याल-कुमार-यौवनाद्यनेकावस्थात्मकमेक शरीरमध्यक्षतः सवेद्यत इत्यस्य विरोधस्स्यादिति चेत्, सत्यम्, न च युक्तम्, आत्मभिन्नत्वाभिन्नत्वाभ्यां तदभावेऽपि मानसत्वामानसत्वाभ्यां तद्व्यपदेशात्, तदाह—

ण य बाहिरओ भावो, अबन्तरओ य अत्थि समयम्मि ।

नोइदिय पुण पडुच्च होइ अबन्तरविसेसो ॥ ५० ॥

पूर्वार्द्धस्यायमर्थः—सर्वस्यैव मूर्त्ताऽमूर्त्तादिरूपतयाऽनेकान्तात्मकत्वान्न च बाह्यो भावः, अभ्यन्तरश्च अस्ति समये, अय बाह्य’, अयश्चाभ्यन्तर इति जैनसिद्धान्ते वास्तविकविभागाभावात् । नन्वेव तर्हि किं प्रतीत्याऽभ्यन्तर इति व्यपदेश इत्याशङ्क्यां तन्निवृत्त्यर्थं सूचरार्द्धमाह-“णोइदिय पुण पडुच्च होइ अबन्तरविसेसो” इति, ‘अबन्तरो भावो’ इत्यप्यत्र पाठः ‘णोइदिय पुण पडुच्च’-नोइन्द्रिय मनः पुनः प्रतीत्य ‘होइ’ भवति “अबन्तरविसेसो” अभ्यन्तरविशेष, अयमभ्यन्तरो भाव इति व्यपदेशः, तस्यात्मपरिणतिरूपस्य पराऽप्रत्यक्षत्वात्, अस्यायमभिप्रायः-भावमनस उपयोगरूपमननव्यापारलक्षणत्वेन तस्य चात्मपरिणतिरूपत्वेन तद्रूपे अन्तर्हर्ष-विषादाद्यनेकत्रिचर्त्तात्मकचैतन्ये द्रव्यमनोजन्यमानसप्रत्यक्षरूपस्रसवेदनविषयत्वेनाभ्यन्तरव्यपदेशः, तद्विषये तु बाल-कुमाराद्यवस्थात्मकदेहादौ पादोन्द्रियजन्यप्रत्यक्षविषयत्वाद् बाह्यव्यपदेश इति पदार्थत्वव्यापकमूर्त्तामूर्त्ताभयरूपत्वबाधार्हमेतेऽपि बाह्याभ्यन्तरविभागी नानुपपन्न इति । अत्रेद चिन्त्यम्-

यद्यन्मूर्त्तं तत्तदुत्पद्यते, घटवत्, मूर्त्तत्वात्माऽभ्युपगतस्स्याद्वादिभिः, तत उत्पन्नस्स्यादिति चेत्, मैत्रम्, तथा व्याप्तेरभावात्, मनस्येव व्यभिचारात् । एतेन मूर्त्तत्वाद्वात्मा सावयवस्स्यात्, ओमिति चेत्तर्हि घटवत्तस्य विनाशस्स्यादित्यारेकापि निरस्ता, मनसो मूर्त्तत्वेऽपि सावयवत्वाभावात् । किञ्चाटकर्मपुद्गलसङ्घातोपगूढत्वात् सशरीरत्वाच्च भवत्स्यात्मनो मूर्त्तत्व, तेन च सावयवत्वमभ्युपगतं स्याद्वादिभिः, न तु स्वरूपत इति शरीरानुगततात्मस्वरूपेणैवोत्पत्तिस्तन्नियतविनाशश्चापादनीयस्स्यात्, न तु शुद्धात्मत्वस्वरूपेण, तद्रूपेणामूर्त्तत्वाभ्युपगमात्, तथा च शरीरानुप्रवेशप्रयुक्तात्मीयबालकुमाराद्यात्मकपूर्वोत्तरपर्यायाम्भ्युत्पत्तिविनाशाभ्युपगम्येते एवेत्युक्तप्रसङ्गा तदाभासावेव । एतेन देहात्मनोर्मियोऽनुप्रवेशे तनुवदात्मनस्यावयवत्व स्यादित्यापादनमपि कथञ्चिदिष्टापत्त्या निरस्तम् । अत एव देहवदेवात्मनस्मावयवत्वेन कार्यत्वापत्तिरपि निरस्ता, प्राग्मतं सत्कालामरूपस्य कार्यत्वस्य त्रिकालानुगते शुद्धात्मद्रव्येऽमम्भवात्, तत्तद्बालकुमाराद्यवस्याविशिष्टात्मनि पूर्वाकारपरित्यागेनोत्तराकारोपादानरूपस्य तत्त्वपर्यायनियतस्य च तस्याऽविरोधात्, न च सावयवत्वे तस्य प्राक्प्रसिद्धसमानजातीयावयवत्रायत्वप्रमक्तिरित्यपि वाच्यम्, तथा व्याप्तिसिद्धेः, घटादौ व्यभिचारात्, मृत्पिण्डात्कपालिकानिष्पत्तिः, ततः कपालनिष्पत्तिः, ततः कपालद्वयसयोगाद् घटोत्पत्तिरिति नैवापिकप्रक्रिया न प्रामाणिकी, यत् उक्तक्रममन्तरेणैव मृत्पिण्डात्सस्मानविशेषरूपेण परिणतात् कपालद्वयसयुक्तावस्थात्मकस्य घटस्योत्पत्तिस्माधाद् दृश्यते, अर्थात् मृद्द्रव्यमेव मृत्पिण्डपर्याय पूर्वतन परित्यज्योत्तरघटपर्यायरूपेण परिणमत इति परिणामवाद एव प्रमाणकोटिमुपदौकते । अत एव ह्युपग्रेण त्रिचतुःपरमाणूनां निश्छेपो यत्र तत्रादौसावयवविशिष्टपर्यायत्यक्त्वाऽवशिष्टानपरिशिष्टपर्यायतयैवोर्ध्वतामामान्यात्मकघटस्य परिणमन भवति, न तु तत्रावयवविभागपूर्वकद्रव्यारम्भकसयोगनाशाद् द्वयशुक्लादिनाशक्रमेण घटस्य नाशः । तदनन्तरपुनरपि परमाणुक्रियादिक्रमेण द्वयशुक्लाद्युत्पत्तिद्वारा घटान्तरोत्पत्तिः, अन्यथा पुद्गलानां विचटनचटनस्वमात्रत्वेन प्रतिक्षण कतिपयपरमाणुसंश्लेषविश्लेषमात्राद् घटादावपि स्थैर्याऽमिद्धिप्रसक्तिरिति तद्दृष्टान्तेन वस्तुत्वव्यापक क्षणिकत्व साधयन् धौढ एव विजयेत, अस्मन्मते तु तत्त्वपर्यायपरमावृत्तावपि पूर्वापरपर्यायानुगतोर्ध्वतामामान्यात्मकघटस्य स्थैर्यमेव, अत एव प्रतिक्षणोत्पादादित्रैलक्षण्यासिद्धिः, एतेन तत्रापि घटाद्यो न नश्यन्ति, कतिपयावयवनाशेऽप्यवशिष्टानयवानाश्रित्य कार्यावस्थानसम्भवात्, अन्यथा प्रत्यभिज्ञानाद्यनुपपत्तिरेवेति मीमांसकैर्यदुच्यते, तदपि निरस्तम्, अवयवावयविनोः कथञ्चिदभिन्नत्वेन कतिपयावयवविश्लेषे तद्विशिष्टतया विनाशस्य शिष्टावयवविशिष्टतयोत्पत्तेश्चावश्यम्भवात्, प्रत्यभिज्ञानं तु समागसन्तत्यनुगाम्पूर्ध्वतामामान्यात्मकघटविषयक्रमेवेति न किञ्चिद्रूपनुपपद्य विनाशानाम् । स्यादेतत् मियोऽनुप्रवेशेनाविभक्तस्वरूपतया देहात्मनोरभेद तनुवत्तनुमतोऽपि घ्राशुपप्रत्यक्षापत्तिरिति चेत्, तदपि तत्रानभिज्ञताद्यवकमेव, यथाऽभावप्रतियोगिकाऽमात्राधिकरणकामावस्याधिकरणात्मकत्वमिति नियमाद् घटाभावपटाभावमेदयोरभिन्नत्वेन घटा

भावत्वेन रूपेण घटाभावज्ञाने तेन रूपेण पटामावमेदस्य मानमिष्यते, न तु पटामाव-  
मेदत्वरूपेण, तेन रूपेण तज्ज्ञानम्प्रति प्रतियोगिज्ञानस्य कारणत्वात्, तस्य च पूर्वमभावात्,  
तथा देहत्वेन रूपेण देहचाक्षुपज्ञानेऽपि तेन रूपेण देहाभिन्नात्मनो मान भवति, न  
त्वात्मत्वरूपेण, तद्रूपेणात्मनो नीरूपत्वेन चाक्षुपप्रत्यक्षाऽयोग्यत्वादेवेति । एतेन वपुरवय-  
वच्छेदे आत्मीयावयवच्छेदाम्युपगमे छिन्नावयवे पृथगात्मत्वप्रसक्तिः, अनभ्युपगमेऽन्यो  
न्यानुप्रवेशत्वव्याघात इत्युभयतः पाशारज्जुरिति निरस्तम्, छिन्नावयवे कम्पोपलम्भान्य  
थाऽनुपपन्नया छेदस्य एकान्तच्छिन्नावयवस्य देहमम्बद्धात्मप्रदेशेऽनुप्रवेशे सति तत्रात्मान्त  
रत्वप्रसक्तिदोषमीत्या पक्षनालतन्तुवत् शरीरानुप्रविष्टात्मप्रदेशमम्बद्धत्वाच्छेदस्य चाम्युपग  
मात् । अदृष्टनिमित्तकं शरीरानुगततात्मप्रदेशैस्मह छिन्नावयवप्रविष्टप्रदेशानां पश्चात्सङ्घटनमप्य-  
विरुद्धम्, तत्रोत्तरकाल कम्पानुपलब्धिलिङ्गसद्भावात् । न च छिन्नभागस्यान्यत्र गमनात्तत्र  
कम्पादर्शनमिति वाच्यम्, प्रतिदेहमात्मन एकत्वेन शेषस्यापि देशान्तरगमनापत्तेः । अथ  
तत्रैव विनष्टत्वात्कम्पादर्शनमिति चेत्, तर्ह्यशेषस्यापि विनाशप्रसक्तिः, आत्मन एकत्वेना-  
विभागरूपत्वात्, तस्माच्छिन्नप्रदेशानामन्यत्रागतेस्तत्राऽमरवादि विनष्टत्वाच्च खण्डिततना  
पनुप्रवेशोऽवसीयते, गत्यन्तराऽभावात्, न चाऽनेकधाच्छिन्नावयवसम्बद्धाऽन्तरालवर्त्यात्म-  
प्रदेशानां कोऽपि पुमान् इस्तपादादिना केनापि शस्त्रेण चाऽऽवाधां व्यावाधां वा हुतशुजा  
दग्धता वा कर्तुं शक्नोति, शस्त्राद्यगोचरत्वात्, चादरपुद्गलस्यैव तद्गोचरत्वदर्शनात् ।  
उक्तञ्च पञ्चमाङ्गेषुदशतके तृतीयोद्देशके-अह मते ! कुम्भे कुम्भावलिया गोहा गोहावलिया  
गोणा गोणावलिया मणुस्से मणुस्सावलिया महिसे महिमावलिया एएसिण दुहा विहा वा  
सखेअहा वा छिन्नाण जे अतरा तेऽवि ण तेहिं जीवपएसेहिं फुडा, हता फुडा । पुरिसेण  
मते ! ते अतरे हत्थेण वा पादेण वा अगुलियाए वा सलागाए वा कट्टेण वा  
कालिचेण वा आमूसमाणे वा सणुसमाणे वा आलिहमाणे वा विलिहमाणे वा अन्नपरेण वा  
तिकखेण सत्थजाएण आच्छिदमाणे वा त्रिच्छिदमाणे वा अगणिकाएण वा समोडहमाणे  
तेसिं जीवपदसाण किञ्चि आचाह वा विवाह वा उप्पायइ, छत्रिच्छेद वा करेइ, नो इण्ठे  
समट्टे, नो खलु तत्थ सत्थ सकमइ, इति । प्रदेशानां शृङ्खलावयवव्यायेन सम्बद्धत्वादेव  
चैकस्यैव महर्द्धिकदेवस्य स्वीयप्रदेशविशिष्टानेकरूपनिर्माणेन परस्पर सङ्गामकरणमपि  
युज्यते, नान्यथा, उक्तञ्च पञ्चमाङ्गेषुदशतके सप्तमोद्देशके 'देवेण मते ! महत्तिए जाव  
महमक्खे रूवसहस्स विउवित्तए पभू !, अन्नमन्नेण सद्धिं सगाम सगामित्तए, हता पभू !  
ताओ ण मते ! चोदिओ किं एकजीवफुडाओ अणेकजीवफुडाओ, गोयमा ! एगजीवफुडाओ  
णो अणेकजीवफुडाओ, तेसि ण मते ! चोदीण अतरा किं एगजीवफुडा अणेगजीवफुडा,  
गोयमा ! एगजीवफुडा, नो अणेगजीवफुडा । पुरिसेण मते ! अंतरेण हत्थेण वा एव  
जहा अट्टमए ततिए उदेमए जाव नो खलु तत्थ सत्थ सकमइ " इति । एतेन प्ररोहाघा-

पादनमपीष्टतया व्याख्यातम्, शरीरात्मच्छेदादितिपये इयांस्तु विशेषः—शरीरस्य छिन्ना-  
वयवत्वेनोत्पत्तिस्तच्छेदः, आत्मच्छेदस्तु उगुस्मम्बद्धात्मप्रदेशानां कतिपयानां शृङ्खला  
वयवव्यायेन छिन्नावयवेषु प्रवेश इति, छिन्नशरीरावयवप्ररोहस्तज्जातीयोत्पत्तिः, आत्म-  
प्रदेशप्ररोहस्तु तत्रैवानुप्रवेश इति । अत एव सावयवत्वमुत्पत्तिमत्र विनाशित्व  
चोद्यम्, गृहान्तर्वर्तिप्रदीपप्रभात् सङ्कोचविकाशशालित्वेन तस्य न्यायप्राप्तत्वात् ।  
अयम्भावः—य एव कुन्धवादिशरीरस्य आत्मा अल्पाल्पतरतत्तच्छरीरपरिमाणनियत  
परिमाणपरिणतिमान् स एव हस्त्यादिशरीरस्यो महन्महचरतत्तच्छरीरपरिमाणनियत  
परिमाणपरिणतिमान् मरतीति कारणीभूततत्तच्छरीरनामकर्मपरिणतिवैचित्र्यप्रभवतत्तच्छ-  
रीरपरिमाणनियततत्तदात्मपरिमाणपरिणतिवैचित्र्यान्यथाऽनुपपत्त्याऽऽत्मप्रदेशानामल्पाधि-  
कशेत्रावगाहित्वलक्षणसङ्कोचविकाशशालित्वमेकस्यैव प्रदीपस्याल्पत्वपरमहन्महचरगृहा-  
त्मकाध्यवर्तित्वान्यथानुपपत्त्या तदवयवानां सङ्कोचविकाशशालित्ववदभ्युपगन्तव्यम् ।  
एतेनात्मा विद्युर्नित्यमहस्वाद्, गगनवदित्यपि निरस्तम्, आत्मपरिमाणपरिणतिविशेषे  
शरीरनामकर्मणो हेतुत्वेन तन्न्यत्वाच्चस्य नित्यत्वामिद्ध्या हेतोस्वरूपाभिद्वत्वात् । नन्वेव  
तत्तच्छरीरपरिमाणमेदेनैकस्यैवात्मनः परिमाणमेदाभ्युपगमे नानात्वापत्तिः, परिमाणमेदे  
द्रव्यमेदनियमादिति चेत्, मैवम्, यथा रूपनाश प्रति न नियमेन समत्रायिकारणनाशस्य  
हेतुत्व, पीलुपाकनादिनये परमाणुरूपनाशस्य पिठरपाकनादिनये चात्रयविरूपनाशस्याश्रय  
नाशमन्तरेणापि विलक्षणतेजस्तयोगलक्षणपाकत्वसम्भवात्, तथा परिमाणनाश प्रत्यपि  
नियमतो नाश्रयनाशस्य हेतुत्वम्, तदाधारभूतद्रव्ये सत्येवाहताहारद्रव्योपचयापचयाम्पा  
भवगाहनापरिणामविशेषजननद्वारा पूर्वपरिमाणनाशस्य परिमाणान्तरोत्पादस्य च सम्भ-  
वादित्येकस्मिन्नेव घटे इयामरक्तादिरूपमेदेऽपि घटामेदवत् परिमाणमेदेऽप्याऽऽत्माऽमेदो  
पपत्तेः । ननु तथापि पूर्वपरिमाणविशिष्टस्यात्मन उत्तरपरिमाणविशिष्टस्य चात्मनो विशेषण-  
मेदाद्भेदोऽपरिहार्य इति चेत्, न, यतो विशिष्टरूपेण मेदश्शुद्धरूपेण चाऽमेद इष्ट एवेति  
नानयोर्विरोधः । इत्यमेव च कथञ्चित्क्षणमेदमर्थेन सहञ्जित, एतेन बालयुवशरीरादेरि  
वात्मन उत्पत्तिस्स्यादित्यपि निरस्तम्, यतस्साधिकरणक्षणघ्नमानधिकरणक्षणसम्बन्धरूपा  
सा तत्तत्पर्यायनियता शुद्धात्मद्रव्ये न सम्भवत्येव, स्वपदेन शुद्धात्मद्रव्यग्रहणे तदधिकरण-  
क्षणघ्नसाधिकरणमेव सर्वोऽपि क्षण इति तदधिकरणक्षणघ्नमानधिकरणक्षणस्याऽप्रसिद्धेः,  
विशिष्टस्वाधिकरणक्षणघ्नसानधिकरणक्षणसम्बन्धरूपा तु सात्मद्रव्येऽपि सम्भविनी तन्नियत  
विनाशश्च न निषिध्यते, तत्र विशिष्टस्वपदन बालयुवशरीरादिपरिमाणनियतपरिमाणविशि-  
ष्टात्मद्रव्यादिग्रहणसम्भवादिति । एतेन देहात्मनोरन्योन्यानुप्रवेशित्वे दहस्य मसमसाद्  
भावे देहिनोऽपि तथात्वप्रसक्तिरिति निरस्तम्, क्षीरनीरयोरन्योन्यानुप्रवेशित्वेनैकत्वेऽपि  
क्षीरे क्वाच्यमाने प्रथममुदकक्षयेऽपि व्यभिचारात्, न च तत्र लक्षण-

मेरेन मेदाञ्जैकक्षयेऽप्यपरस्य क्षय इति वाच्यम्, देहात्मनोरपि “ भोगापतन चेष्टाऽऽश्रयं वा शरीरम् ” ज्ञानाधिकरणमात्मेति नैयायिकैरपि लक्षणमेदस्योक्तत्वात् । एतेन देहात्मनो रन्योन्यानुप्रवेशित्वेऽप्याकाशवदात्मनि न शरीरपरतन्त्रतेत्यपि निरस्तम्, तन्निमित्तस्य मिथ्यात्वादेरात्मनि सद्भावात्, आकाशे च तदभावात्, न च शरीरापत्तत्वे सति तस्य मिथ्यात्वादिबन्धहेतुभिर्योगः, तस्माच्च तत्प्रतिबद्धत्वमितीतरेतराश्रयत्वमित्यपि वाच्यम्, अन्योन्यकार्यकारणभावबलेन पारतन्त्र्यमिथ्यात्प्रवाहानादित्नाभ्युपगमात्, बीजाङ्करवत् । न च शरीरद्वाराऽऽत्मनो रूपित्वे आद्यप्राणसयोगलक्षणजन्मनः प्राक् शरीराभावेनात्मनो ऽरूपित्व स्यादिति वाच्यम्, भवान्तरस्पूलशरीरसम्बन्धान्यथाऽनुपपत्तित् आभवक्षयमात्मनस्मदा वैजसकार्मणशरीरसम्बन्धित्वेन तद्द्वारा रूपित्योपपत्तेः । तदेवमात्मा स्वस्वरूपतोऽमूर्त्तस्तन् कर्मपुद्गलैस्महैकलोलीभावेनाविभक्तस्वरूपतया मूर्त्तोऽपीति कथञ्चिन्मूर्त्तामूर्त्तोभयस्वरूपोऽभ्युपगन्तव्य इति नाधिक विस्तरभयाद्विस्तन्यते ॥ ५० ॥

अथ स्वेतरनयनरोपेक्षेण द्रव्यार्थिकेन पर्यायार्थिकेन चैकान्तनयेन स्वस्वमतानुसारिणी यथा प्ररूपणा क्रियते तथा प्रदर्शयितुमाह—

दृष्वद्विचस्स आया वघइ कम्म फल च वेएइ ।

वीचस्स भावमेत्त न कुणइ ण य फोइ वेएइ ॥ ५१ ॥

‘ दृष्वद्विचस्स ’ द्रव्यास्तिकस्य द्रव्यास्तिकनयस्य, इय प्ररूपणेति शेषः, ‘ आया वघइ ’ आत्मा फालगयस्याद्येकात्मा द्रव्यात्मकः ‘ वघइ ’ वघ्नाति सम्बन्धीकरोति, किमिति कर्माकाङ्क्षायामाह—‘ कम्म ’ कर्म, तत्फल स्यात्सैव भुङ्क्ते, किम्वास्य इत्याशङ्कानिवृत्त्यर्थमाह—‘ फल च वेएइ ’ फलश्च तत्कार्यसुखदुःखात्मक वेदयते अनुभवति, य एवात्मा यत्कर्म करोति स एव तत्फल भुङ्क्ते, तन्मते तत्कर्मकर्तृत्वतत्फलमोक्तत्वेक्यात् । नन्वेव तर्हि पर्यायार्थिकत्वेऽपि किं तथैवानुमनुते किं वाऽन्यथेत्याशङ्कयागुत्तरार्द्धमाह—‘ वीचस्स ’ द्वितीयस्य पर्यायार्थिकनयस्य इय प्ररूपणेति शेषः । ‘ भावमेत्त ’ भावमान सव्यवहारोपयुक्तपूर्वोत्तर क्षणिकतत्तज्ज्ञानलक्षणप्रवृत्तिसन्ताने आलयविज्ञानरूपेण सन्तन्यमानान्यान्यात्मैव, न तु स्थिरात्मा, अयम्भावः—यत्सत्तत्क्षणिक, यथा विद्युदादि, सैवात्मा, ततस्स क्षणिक इति क्षणिकविज्ञानात्मक एवात्मा, न तु ज्ञानाभयः, तन्मते गुणगुणिभावामावात् । अत एव ‘ ण कुणइ ण य फोइ वेएइ ’ न करोति न च कथिद्वेदयते, तत्फल भुङ्क्ते । पर्यायनयो हि द्रव्य स्थिरीभूत नाभ्युपगच्छति, किन्तु पर्यायमेव, स चोत्पादव्ययलक्षण इत्युत्पत्तिक्षणाव्यवहितोत्तरक्षणविनाशशालिनो विज्ञानरूपात्मनः कर्मकर्तृत्वतदनुभविद्वत्त्वाऽयोगात् ॥ ५१ ॥

ननु द्रव्यार्थिकनये आत्मा वघ्नाति कर्म फलश्च वेदयते, इत्युक्तम्, न चेतावता य एवात्मा कर्मकर्ता स एव तत्फलमोक्ता चेति निधीयते कर्म वघ्नाति चैवात्मा

तत्फलं च इत्येतावताऽपि चरितार्थत्वात्, उभयोरप्यात्मत्वाऽपिशेषादित्याशङ्का दूरीकृत्य  
 प एव कर्ता स एव भोक्ता इत्येतत्प्रतिपादयितुम्, एव न करोति न च कश्चिद्वेदयते इत्युक्त्या  
 पर्यायास्तिकनयमते उत्पत्तिममनन्तरव्यसिन कर्तृत्वभोक्तृत्वाऽसम्भवं इत्युक्तम्, तर्तिक  
 तन्मते कर्ता भोक्ता च नास्त्येवेति चेत्, अस्त्येव, किंतु य कर्ता स न भोक्ता, यतः  
 कर्तृत्वमुत्पत्तिक्षणे भोक्तृत्वञ्च तदव्ययहितोत्तरक्षणे, तदानीं च पूर्वक्षणवर्तिनः कर्तुः क्षणि-  
 कत्वेन विनष्टत्वात्, किन्त्वन्य एत्येतत्प्रतिपादयितु चाऽऽह—

द्व्यद्वियस्स जो चेव, कुणह सो चेव वेयण णियमा ।

अण्णो करेह अण्णो, परिभुजह पज्ववणयस्स ॥ ५२ ॥

‘द्व्यद्वियस्म’ द्रव्यास्तिकस्य, एतदनन्तर मत् इति शेषः, ‘जो चेव कुणह सो चेव  
 वेयण णियमा’ य एव च करोति स एव च वेदयते तत्फलं भुङ्क्ते नियमात्, तन्मते आत्मनो  
 नित्यत्वात्, ‘पज्ववणयस्म’ पर्यायनयस्य, अत्रापि मते इति शेषः । ‘अण्णो करेह अण्णो  
 परिभुजह’ अन्य. करोति अन्यश्च परिभुङ्क्ते, वस्तुमात्रस्य क्षणिकत्वेनात्मनोऽपि प्रतिक्षणम  
 न्यान्यत्वात्, यस्मिन् क्षणे उत्पद्यते तस्मिन्नेव क्षणे करोति, “भूतिर्यथा क्रिया सैव, कारक  
 सैव चोच्यते” इति वचनात्, तदव्ययहितोत्तरक्षणे स विनष्टः, तदन्य आलयविज्ञानसन्ता  
 नगतस्वरूपेणोत्पन्नश्च तत्फलमनुभवति ॥ ५२ ॥

अथ द्रव्यास्तिकनये एकान्तनित्यात्मनि वर्चमानकालावच्छिन्नकर्मकर्तृत्वस्वभाव इवो  
 चरकालावच्छिन्नकर्मकर्तृत्वस्वभाव इदानीमस्ति न वा, अस्ति चेत्, तदा वर्चमानकाल  
 एतौत्तरकालीनकर्मसम्बन्धात्मककार्योत्पत्तिप्रसङ्ग । अथ कारणान्तरविरहात्तौत्तरप्रसङ्ग इति  
 चेत्, तर्हि कारणान्तरेण किञ्चिदुपक्रियते न वा, उपक्रियते चेत्, तर्हि स उपकार पूर्व  
 मस्ति न वा, अस्ति चेत्, तर्हि पूर्वमपि कर्मसम्बन्धात्मककार्योत्पत्तिप्रसङ्गः, नास्ति चेत्,  
 तदा स उपकारस्वभावाः पूर्ण नास्ति पश्चादुत्पन्न इति स्वभावाऽनित्यत्वेन तद्द्विर्मिणोऽप्य  
 नित्यत्वप्रसङ्गः । अथ नोपक्रियते, तर्हि कारणान्तरापेक्षा व्यर्थव । अथ सम्भूय कार्यं क्रियते  
 इत्येतावता कारणान्तरापेक्षेति चेत्, तर्हि सम्भूयकार्यकरणस्वभाव पूर्वमस्ति न वा, अस्तीति  
 चेत्, तर्हि पूर्वमपि कर्मसम्बन्धात्मककार्योत्पत्तिप्रसङ्ग, अथ पूर्ण नास्ति, इदानीमस्तीति चेत्,  
 तर्हि स्वभावभेदेन तद्द्विर्मिणोऽपि भेदप्रसङ्गः, अत एव न वेति द्वितीयनिषेधपक्षोऽपि न  
 युक्त, उत्तरकालावच्छिन्नकर्मकर्तृत्वस्वभाव पूर्ण नास्ति पश्चादस्तीति तत्तदभावरूपविरुद्ध-  
 घर्माध्यासाद्विर्मिणो भेदप्रसङ्गे, तस्मादेकान्तनित्यात्मनि कर्मकर्तृत्वस्वभावो नोपपद्यते,  
 एवमुक्त्युक्त्येकान्तनित्ये फलभोक्तृत्वस्वभावोऽपि नोपपद्यते इति । एव पर्यायनयेऽपि प्रति-  
 क्षणमात्मनोऽन्यान्यत्वे य एवात्मा कर्म करोति न एव तत्फलं भुङ्क्ते इति व्यवहारवाच्यत्वात्,  
 अथ पूर्वापरविज्ञानव्यक्त्यात्मकात्मभेदेऽप्यालयविज्ञानसन्तानैक्यादेव न व्यवहार इति  
 चेत्, तर्हि मङ्गलान्तरणात्मेवाभ्युपगतस्स्यात्, तदेवमिय परस्परनिरपेक्षद्रव्यार्थिकपर्यायार्थिक



नयोक्तिर्न युक्ता, निराकाङ्क्षयोधाऽजनकत्वेनाप्रमाणभूतत्वादिति सा न स्वममयप्ररूपणा,  
किन्तु परस्परसापेक्षतत्त्वयमापेक्षसप्तमद्वात्मकस्याद्वादोक्तिरेव युक्ता, शान्वाकाङ्क्षतया  
पूर्णोत्तरत्वेन निराकाङ्क्षावाच्यबोधजनकत्वादिति सैव स्वसमयप्ररूपणेत्युपपादनायाह—यद्वा  
द्रव्यपर्यायोमयात्मके आत्मादिनस्तुनि पर्यायनयप्रतिपादितार्थानां सत्यत्वमाधने द्रव्या  
र्थिकनययुक्तयो द्रव्यार्थिकनयव्युत्पादितार्थानांश्च सत्यत्वसाधने पर्यायार्थिकनययुक्त-  
यस्तुल्यवद्वेदोऽज्जृम्भन्त इति नैकप्र वचन पक्षपातो विधेयः, किन्तु स्याद्वादेनोमयोप  
ग्रह उररीकर्त्तव्य इति प्रतिपादनायाह—

जे वयणिञ्जविद्यप्पा, सज्जुज्जतेसु होति एएसु ।

सा मसमयपण्णवणा, तित्थयराऽऽसायणा अण्णा ॥ ५३ ॥

‘जे वयणिञ्जरियप्पा’ ये वचनीयविकल्पः—वक्तु योग्य वचनीयमऽभिधेय तस्य  
विकल्पास्तत्प्रतिपादका वचनप्रकाराः ‘सज्जुज्जतेसु’ सयुज्यमानयोः अन्योन्यसापेक्षयोः  
‘एएसु’ अनयोः द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयवाक्ययोः ‘होति’ भवन्ति, ते च स्यान्मूर्त्त  
एवात्मा । १। स्यादमूर्त्त एवात्मा । २। स्यादवक्तव्य एवात्मा । ३। स्यान्मूर्त्त एव स्यादमूर्त्त  
एवात्मा । ४। स्यान्मूर्त्त एव स्यादवक्तव्य एवात्मा । ५। स्यादमूर्त्त एव स्यादवक्तव्य एवात्मा  
। ६। स्यान्मूर्त्त एव स्यादमूर्त्त एव स्यादवक्तव्य एवात्मा । ७। एव स्यान्नित्य एवात्मा । १।  
स्यादनित्य एवात्मा । २। इत्यादयः । यत्र व्युत्पन्नरूपसापेक्षया भद्रद्वयप्रवृत्तिस्तत्रापि तदधी  
नसप्तमद्गीप्रवृत्तिरपि वक्तृतात्पर्यभावाद् भावनीया, तत्प्रवृत्तिमन्तरेण स्यान्नित्यत्वस्याद्  
नित्यत्वादिस्पादेकत्वस्यादनेकत्वादिमत्तधर्मरिपयकरोधस्यैवानुत्पत्तेः । ‘सा मसमयपण-  
वणा’ सा एषा स्वसमयप्रज्ञापना सम्यगवैपरीत्येनेयन्ते अरुपन्ते वा ज्ञायन्ते जीनादयोऽर्था  
अनेनेति समयः, सिद्धान्तः, स्वस्य समयः स्वसमयः, तस्य प्रज्ञापना निदर्शना, जिनेन्द्र  
प्रणीतागमप्ररूपणा, यद्वा स्वस्य अर्हत्प्रवचनस्य सम्यक् प्रमाणान्तराऽनिसवादिदेवेनेयते  
परिच्छिद्यते इति समयः, तत्त्वभूतार्थः, तस्य प्रज्ञापना प्रकषेण सशयविपर्ययादिराहित्येन  
ज्ञापना प्रज्ञापना अबाध्यानेकान्तात्मकार्थविषयकप्ररूपणा, यथार्थबोधजनकत्वाद्,  
‘अण्णा’ अन्या स्वान्यनयनिरपेक्षैकरूपप्ररूपणा स्वतन्त्रनयद्वयप्ररूपणा च “तित्थ-  
यराऽऽसायणा” तीर्थकरस्याशावना अधिक्षेपः, तत्प्ररूपणोत्तीर्णत्वाद्, उत्सर्गतः स्या-  
द्वादेशनाया एव सम्पत्त्वप्रयोजिकायाः तीर्थकरेण विहितत्वात् । “सकेज याऽसक्वि  
भाव मिक्खु विमज्जावाय च वियागरेजा । मासादुय धम्ममग्गुद्धिनेहिं, वियागरेजा  
समया सुपण्णे” ॥ २२ ॥ इति स्रग्गुवाङ्गचतुर्दशाऽध्वयनोक्तगाथायां ‘विमज्जावाय च  
वियागरेजा’ इत्युक्तेः । एष विमज्ज्यवादः प्रवचनसारभूतः, एतद्बोधनेनैव प्रवचनस्य  
फलवत्त्वात् । नन्वेव तर्हि कालिकश्रुते नयैर्ष्याख्या न कर्त्तव्येति कथमृक्तमिति चेत्, उच्यते  
समाधिः, तत्राशेषनयप्रतिषेध आचार्यविनेयविशिष्टबुद्ध्यभावापेक्ष एवोक्तः, श्रोतृवक्तृ-

निर्मलविशिष्टबुद्धयुत्कर्षमद्भावे तु सम्प्रत्यपि श्रोतृधीपरिकर्मणानिमित्तं नयव्याख्याऽनुमतैव,  
उक्तञ्च भाष्ये “भासिञ्ज नित्यरेण वि नयमयपरिणामणाममत्यम्भि । तदसत्ते परिकर्मणमे-  
गनएण पि वा कुञ्जा ॥२२७८॥” इति, सुगमा, नगर वा शब्दाद् नयद्वयेन त्रयेण वा शिष्यमति-  
परिकर्मणां कुर्यात्, तथाविधमतिमान्ये तु नैकमपि नय भाषेत, इत्येतदपि दृष्टव्यम् ॥ ५३ ॥

अथोत्सर्गतो निखिलनयचतुर प्रपञ्चितज्ञ प्रतिपत्तारमुद्दिश्य अहमेवास्यार्थस्य वेत्ता  
नापर इत्येवमौद्धत्य परिहरद्भिः स्याद्वादतत्त्वज्ञैः पारमेश्वरप्रवचनपरिणतबुद्धिमिराद्यच  
रमलक्षणभाषाद्वयेन परस्परसापेक्षद्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकोभयनयोक्तिरूपप्रमाणवाक्यारिभक्त्या  
स्याद्वादप्ररूपणा कर्त्तव्या, तस्या एव परिपूर्णवस्तुप्रतिपादकत्वात्, न तु निरपेक्षप्रत्येक  
नयोक्तिरूपैकान्ततत्त्वप्ररूपणा, तस्या मिथ्यारूपत्वादिति प्रतिपाद्य अपवादतस्तु द्रव्यार्थिक-  
पर्यायार्थिकान्यतरनयनमेकतरनयप्रियञ्च श्रोतृजनमुद्दिश्य स्याद्वादप्रतिपत्तियोग्यतामाघातु  
तदज्ञातैकनयप्ररूपणाऽपि कर्त्तव्या, तथाऽपि स्याद्वादप्रतिपादनयोग्यतां कर्तुं शक्यत्वात्,  
' असत्ये वर्त्मनि स्थित्या, तत' सत्य समीहते ' इति न्यायादिति प्रतिपादयितुमाह—

पुरिसञ्जाय तु पङ्क-च जाणओ पन्नवेज्ज अन्नयर ।

परिकर्मणाणिमित्तं, दाएहि सो विसेस पि ॥ ५४ ॥

' पुरिसञ्जाय ' पुरुषजात प्रतिपन्नद्रव्यपर्यायान्तरस्वरूप श्रोतार, ' पङ्क ' प्रतीत्य  
आश्रित्य, उद्दिश्येति यावत् ' जाणओ ' ज्ञक' स्याद्वादतत्त्वचनः ' पन्नवेज्ज अन्नयर '  
प्रज्ञापयेत् आचक्षीत अन्यतरत्, द्रव्य वा पर्याय वा यदज्ञातम्, द्रव्य ज्ञात्वा तदङ्गीकर्त्तार  
श्रोतारम्प्रति पर्यायमेव, पर्याय ज्ञात्वा तदङ्गीकर्त्तार तम्प्रति द्रव्यमेव प्ररूपयेत्, किमर्थमेव  
प्रज्ञापयेदित्याशङ्कानिष्टृचयर्थं तत्फलमाह— ' परिकर्मणाणिमित्तं ' परिकर्मणानिमित्तं, श्रोत्रा  
योऽज्ञातोऽस्तद्विषयकबुद्धिपाटवार्थम्, न हि प्रत्येकतत्तदज्ञानामावे निखिलाश्रयिष्ठार्थ-  
ज्ञान मन्तुमर्हतीति द्रव्याशपर्यायाश्रयिष्ठवस्तुज्ञाने द्रव्याशविषयकज्ञान पर्यायाश-  
विषयकज्ञानञ्च हेतुरित्यज्ञाताशज्ञानेन तद्विषयकबुद्ध्युत्कर्षे सति परिकर्मितमतये श्रोत्रे  
' दाएहि सो विसेस पि ' दर्शयिष्यति स स्याद्वादाभिज्ञ विशेषमपि, द्रव्यपर्याययोः  
परस्परसाविनिर्माणरूप द्रव्य पर्यायसयुक्त पर्यायाश्च द्रव्याविषयका इत्येव लक्षण स्याद्वाद  
विशेषमपि, अन्यैर्ज्ञानविषयकविज्ञानस्य विपर्ययरूपता स्यात्, तदितराऽभावे तद्विषय  
स्याऽप्यभावात्, ततश्चेयमेकनयदेशनाऽपि परस्परसापेक्षद्रव्यपर्यायोभयात्मकस्तुविषयक  
स्याद्वादज्ञानोत्पादकत्वाद्भाषतस्स्याद्वाददेशनैवेत्येकनयदेशनाया एकान्तविषयाऽमत्यत्वेन  
तद्विषयिकाया अयथार्थज्ञानजनकत्वान्मिथ्यारूपतया स्वरूपतोऽस्तत्यत्वेऽपि स्याद्वादव्यु-  
त्पादकतया फलतस्मत्यत्व भावनीयम् ।

इति श्रीसम्मतितर्कमहार्णवावतारिकाख्याया सम्मतितर्कटीकाया

प्रथमकाण्ड समाप्तिमगात् ॥

## ॥ अथ प्रशस्तिः ॥

अर्हत्प्रभूक्ताखिलतत्त्वमित्थ-मेवेति सहर्शनशुद्धिहेतोः ।  
द्रव्यानुयोगस्य सुसूक्ष्मतत्त्व-रत्नैर्भृतस्सम्मतितर्कनाम्नः ॥ १ ॥

ग्रन्थस्य पृष्ठ्याभयदेवसूरि,-हृद्याऽऽध्यगाधा विवृतिर्विशाला ।  
तत्र प्रवेशोऽल्पधियामशक्यो, मत्वेति तेषामवगाहनार्थम् ॥ २ ॥

तरीममायामवतारिकारण्य-वृत्तौ कृतायां समयानुगायाम् ।  
वर्षाह्यदावादपुरे प्रभूता-हृद्भव्यैत्याप्रतिरूपशोभे ॥ ३ ॥

श्रीन्यायवाचस्पतियुक्तशास्त्र-विशारदाचार्यपदाश्रितेन ।  
श्रीसूरिसम्प्राद्गुरुरुपद्विधातु-मास्याऽऽवसहर्शनसूरिणेय ॥ ४ ॥

तुल्यास्यकान्तेशशशिनाथचिद्वत्-संगीयमानाच्छगुणोत्करस्य ।  
श्रीनेमिसुरैः सुगुरौः प्रभावात्, श्रीविक्रमाब्दे त्रिपद्मन्ययुग्मे(२००३) ॥५॥

श्रीमार्गशीर्षे सितपक्ष एकादश्यां तिथौ चाऽऽदिमकाण्डटीका ।  
आपुष्पदन्त गुणकाङ्क्षित्ते, पूर्तिं गताऽपूर्वमुद तनोतु ॥६॥ यहमिः कुलकम् ।

इति द्रूपमाकालनिशादिवाकरकल्पत्वेनावानुपयार्थमिधान-प्रवचनोपनिषद्वेदि-महा  
तर्कनादिशिरोमणि—श्रीसिद्धसेनदिवाकरभगवत्प्रणीतस्याखिलनयसमर्दगहनस्य  
सम्यग्दर्शनविशुद्धिकृद्द्रव्यानुयोगतत्परत्नरत्नाकरस्य सकलतत्त्वपरनयपरिशुद्धि-  
विधायकमहातर्कसहृदितस्य “श्रीसम्मतितर्कप्रकरणस्य” सार्वतस्वामृतर-  
ससद्गतिसमवाप्तसुवर्णभावालङ्कृता ऽस्वर्गवर्षवादिष्टुन्दाप्रष्टुष्य प्राज्ञपार्षदगण  
चमत्कारकृद्वाणीविलाससमुद्भूतानुपममव्यव्रातहृदखण्डप्रमोदभरप्रसृ-  
तशशभृद्घवलकीर्तिभरघवलितभूवलय-भव्यात्मसम्यग्दर्शनान्ति-  
विशुद्धिकृदनल्पमहातीर्थसमुन्नतिवद्दकल-श्रीतपागच्छनभोन-  
भोमणि-धरिसम्प्राद्-मङ्गारकाचार्य-श्रीविजयनेमिसुरीश्वर  
पह्ननभोमास्करसमवाप्त न्यायवाचस्पति-शास्त्रविशारद-  
विरुद्मङ्गारकाचार्य-श्रीविजयदर्शनसुरीश्वर  
विरचितायां सम्मतितर्कमहार्णवावतारि-  
काख्यटीकायां प्रथमकाण्ड समाप्तिमगात् ॥

# ॥ श्रीसम्मतिर्कप्रकरणम् ॥



## ॥ द्वितीयकाण्डम् ॥

मगलाचरणम्

यत्पादपद्माच्छरसाय नित्यम्, योगीन्द्रदेवेन्द्रनरेन्द्रवृन्दम् ।  
द्विरेफति श्रीमधुमत्यभिरुप-पुराधिपस्तोऽस्तु शिवाय धीरः ॥ १ ॥  
क्षान्त्यादयो भान्ति गुणाश्च यस्मिन्, विशेषतो ह्याश्रयसद्गुणेन ।  
दुग्ध स्वभावाद्भवत् तथाऽपि, चकास्ति शङ्खाश्रयतो विशिष्य ॥ २ ॥  
धूराश्रिता य जिनशासनस्य, निर्धि धियां दूषणतोऽतिदूरम् ।  
नमामि तं श्रीविजयादिनेभि-सूतिं गुरु सूरिकदम्बसूत्रम् ॥ ३ ॥ युग्मम् ।

एव सामान्य न विशेषविकल विशेषा अपि न सामान्यविकलाः खण्डवदसत्त्वात्,  
तदुक्तम्—निर्विशेष हि सामान्य, भवेत् खरविषाणवत् ।  
सामान्यरहितत्वेन, विशेषास्तद्वदेव हि ॥ १ ॥ इति ।

तथा चान्योन्याऽनुस्यूतत्वात्तयोस्तदुभयात्मक द्वेषस्वरूप प्रतिपाद्याधुनोपयोगोऽ-  
प्युपमर्जनीभूतविशेषाकारप्रधानीभूतसामान्याकारदर्शनोपसर्जनीभूतसामान्याकारप्रधानीभूत  
विशेषाकारज्ञानस्वरूपद्वयात्मकः प्रमाणम्, अयम्भावः—उपयोगो दर्शनज्ञानोभयात्मक  
इति य एव दर्शनोपयोगस्य एव ज्ञानोपयोगतया ज्ञानोपयोगश्च दर्शनोपयोगतया परिणमत  
इति दर्शनत्वेन ज्ञानत्वेन भिन्नमपि दर्शन ज्ञानश्चोपयोगस्वरूपतयाऽभिन्नमित्यनेकान्त  
स्वरूपतया तदुभयात्मक उपयोगः प्रमाणम्, न त्वेकान्तभिन्नदर्शनात्मको न वैकान्तभिन्न  
ज्ञानात्मकस्तः । एतेन सामान्यग्राहिदर्शनमेव प्रमाणमित्येकान्तद्रव्यार्थिकनयमत, विशेष  
ग्राहिज्ञानमेव प्रमाणमित्येकान्तपर्यायार्थिकनयमत निरस्तम्, एकान्तभिन्नदर्शनानानयो-  
प्रमाणत्वात्, तदेवोपदर्शयितुं द्वितीयकाण्डमारिभ्युः सिद्धान्तपायोधिधीश्वरिर्द्रव्यार्थिक-  
पर्यायार्थिकाभिमतप्रत्येकदर्शनज्ञानस्वरूपप्रतिपादिकां गायामाह—

ज सामण्यगगहण, दसणमेय विसेसिय नाण ।

दोण्ह वि णयाण एसो, पाढेक अत्थपज्जाओ ॥ १ ॥ ५५ ॥

“ जं सामण्यग्रहणं दसणमेय ” यत् सामान्यग्रहणं दर्शनमेतत्, द्रव्यास्तिक्रनयमते यदनुगतस्वरूपेण प्रतीतौ भामते तदेव सत्, भासते च तत्र तद्रूपेण सामान्यमेवेति तदेव सत्, न विशेषाः, तेषामननुगतत्वेन तत्राप्रतिभासनादिति सामान्यमेव तन्मते वस्तु, तदेव गृह्यतेऽनेन तत्सामान्यग्रहणम्, यद्वा गृह्यतेऽनेनेति ग्रहणम्, सामान्यस्य ग्रहणं सामान्यग्रहणम्, तत्किमित्यत आह—‘दसणमेय’ दर्शनमेतत्, द्रव्यार्थिकस्य मते इति शेषः । ‘विसेसिय’ विशेषित विशेषविषयकम्, अत्र सामान्यग्रहणमित्यस्माद् ग्रहणमित्यस्य विच्छिद्य विशेषविषयकमित्पर्यर्धकेन ‘विसेसिय’ इत्यनेन सम्बन्धः, तथा च विशेषात्मकवस्तुविषयकं यद्ग्रहणं तत् ‘नाण’ ज्ञानम्, पर्यायास्तिकस्य मत इति शेषः । यद्वा पर्यायास्तिकनयस्य मते वहनदोहनादितत्तत्क्रिया वाहगवाहितचद्विशेषैरेव भवन्ति, न सामान्येनेत्यर्थक्रिया कारित्वात् एव सद्रूपाः, न सामान्यमिति तदात्मकमेव वस्त्वभिमतम्, एतच्च प्रागेव विदुत मिति नेह प्रतन्यते, तथा च विशेष एव गृह्यते येन तद्विशेषग्रहणं ज्ञानमित्यभिधीयते, विशेषितमिति पद लक्षणया विशेषग्रहणपरमित्यभिप्रायः । ‘दोण्ह वि नयाण’ द्वयोरपि अनयोर्नययोः ‘एसो पाडेक अत्थपज्जाओ’ एष प्रत्येकमर्थपर्यायः, अर्थं विषयं पर्येति अवगच्छति यः सोऽर्थपर्यायः, ईदृग्भूतार्थग्राहकत्वमित्यर्थः । द्रव्यार्थिकनयेन सामान्यमात्रं ग्रहणात्मकं दर्शनमभ्युपगतम्, पर्यायार्थिकनयेन तु विशेषमात्रमाहकं ज्ञानगुरीकृतमिति भावः । “कतिविहे ण मते ! उवओगे पन्नत्ते ! गोयमा ! दुविहे उवओगे पण्णत्ते, त जहा-सागारोवओगे य अणागारोवओगे य” इति प्रज्ञापनाऽष्टाविंशतितमपदेऽभिधानात्, उपयोगस्साकारानाकारमेदाभ्यां द्विविधः, तत्राकारः प्रतिनियतोऽर्थग्रहणपरिणामः, “आगारो अ विसेसो” इति वचनात्, सहाऽऽकारेण वर्धत इति साकारः, स चासाधुपयोगश्च साकारोपयोगः, सचेतने अचेतने वा वस्तुनि उपयुज्जान आत्मा यदा सपर्यायमेव वस्तु परिच्छिनत्ति तदा स उपयोगस्साकार इत्युच्यते, न विद्यते यथोक्तरूप आकारो यत्र सोऽनाकारः, स चासाधुपयोगश्चानाकारोपयोगः, यो वस्तुन सामान्यरूपतया परिच्छेदः सोऽनाकारोपयोगः, तत्रानाकारोपयोगो दर्शनं, साकारोपयोगस्तु ज्ञानमित्युच्यते । तत्र द्रव्यार्थिकनयेन दर्शनं मात्रं प्रमाणतया पारमार्थिकमभ्युपगतम्, पर्यायार्थिकनयेन तु ज्ञानमात्रं, न तु दर्शनमिति प्रत्येकनयार्पणा—

“ ज सामण्यपहाणं, गहणं इयरोवसज्जणं चैव ।

अत्थस्स दसणं तं, चिवरीत होहं नाणं तु ॥ १ ॥ ” इति

धर्ममद्वहणीवचनादुपयनयार्पणतया तु सामान्यप्रधानं विशेषोपसर्जनं ग्रहणं दर्शनं विशेषप्रधानं सामान्योपसर्जनं ग्रहणं ज्ञानम्, तथा च तौ द्वावप्युपयोगावुपमर्जनीकृततदितराकारौ प्रधानीकृतस्वस्वविषयावभासकत्वेन प्रवर्चमानौ प्रमाणम्, न तु निरस्तेतराकारौ,

इतरांशविक्रमैकांशरूपविषयाभावेन निर्विषयतया प्रमाणत्वात्तुपपत्तेः, ननु मन्त्येव तथापि किं ज्ञानोपयोगो दर्शनोपयोगो वा मर्यादा सर्वजीवेषु प्रवर्तते किंवा कदाचिन्न, सामान्य-  
 भावादिति चेत्, उच्यते, “उपयोगो लक्षणं” इति २-८ । तत्त्वार्थसूत्रवचनात् उपयोगो  
 लक्षणमात्मनः, तच्चाशुशुभणेरौष्ण्यवत्स्वरूपलक्षणम्, न तु चैत्रस्य दण्डवत्तदस्यलक्षणमिति  
 लक्ष्यलक्षणयोः कथञ्चिदभेदात्लक्षणभूतोपयोग परिहृत्यैकक्षणमात्रमपि कोऽपि लक्ष्यभूत  
 आत्मा नैवावतिष्ठते, लक्ष्यतावच्छेदकमनियतधर्मो हि लक्षणमिति यदा कदाऽप्युपयोग-  
 लक्षणामावे जीवे लक्ष्यतावच्छेदकीभूत जीवत्वमपि न स्यात्, व्यापकामावे व्याप्याभाव-  
 स्यावश्यम्भावात् । ननुत्पत्तिकालावच्छेदेन निर्गुणमेव श्रुतिव्यादिद्रव्यमुत्पद्यते, अत एव  
 प्रतियोगिव्यधिकरणतत्समानाधिकरणात्यन्ताभावाऽप्रतियोगिभूतगन्धादिवच्चमेव पृथिव्या  
 देर्लक्षणम् पर्यवसायितयोच्यते नैयायिकेन, तद्वत्प्रकृतेऽपीत्युपयोगामावस्यापि कदाचिदा  
 त्मनि सद्भावेऽपि प्रतियोगिव्यधिकरणत्वाभावात् स प्रतियोगिव्यधिकरणतत्समानाधि-  
 करणात्यन्ताभावः, किन्तुन्यात्यन्ताभाव एवेति तदप्रतियोगिभूतोपयोगवत्त्वलक्षणस्यात्मनि  
 सर्वदा सहटनान्नाजीवत्वप्रसङ्ग इति चेत्, भवम्, न हि प्रथमक्षणे निर्गुण घटादिद्रव्य-  
 मुत्पद्यते, द्वितीयक्षणे च तत्र गुणोत्पत्तिरिति केनाप्यनुभूयते, अनुभूयते च यदैव मृत्पिण्डा  
 दिपूर्वपर्यायं परित्यज्य घटाद्युत्तरपर्यायतया परिणमते मृद्भ्य तदैव तत्र नीलपीतादिपूर्व  
 पर्यायविनाशेनोत्तररक्तादिपर्यायोत्पादः, अत एव समवायस्य गुणगुणिनोरेकान्तमेदस्य च  
 पूर्वमेव निषिद्धत्वात्मवाच्यत्वादि कारणत्रयात्कार्योत्पत्तिरिति कारणगुणपूर्वरूः कार्यगुण इति  
 च नैयायिकैरेपिकप्रवादस्याप्रामाण्यमवसेयमिति । यदुक्त तत्त्वार्थप्रथमाध्यायतृतीयसूत्र-  
 टीकायाम्—“परिणामोऽचेतनपरमाण्वादीनां शुक्लादिरित्यादि । तत्त्वार्थचतुर्विंशतितम-  
 सूत्रभाष्ये “स्पर्शादयः परमाणुषु स्फुर्येषु च परिणामजा एव भवन्ति” इत्यादि ॥  
 “तेऽपि हि शुक्लादयः कृष्णादित्वेन परिणमन्ते वर्णादिसामान्यमसृजन्तः” इत्युक्त  
 तत्त्वार्थसूत्रभाष्यायैकचत्वारिंशत्सूत्रटीकायामिति । एवमेव देवमनुष्पादि—बालपुवादि  
 पूर्वोत्तरपर्यायानुगाम्यात्मद्रव्यात्मनि पूर्वस्य दर्शनात्मकस्य ज्ञानात्मकस्य बोधोपयोगपर्याय  
 स्योत्तरेण ज्ञानात्मकेन दर्शनात्मकेन बोधयोगेन रूपेण परिणामो भवतीति तच्छून्य आत्मा  
 न कदाप्यवतिष्ठते, सुषुप्त्याद्यवस्योत्तरकालावच्छेदेन व्यक्तीभूतज्ञानलिङ्गेन तत्पूर्वकाला-  
 वच्छिन्नाऽप्यक्तज्ञानस्य परमि सर्पिष इवानुमीयमानत्वेन सुषुप्तिकालेऽप्यव्यक्तज्ञानमभ्यु-  
 पगम्यत एवेति, तत्र श्वासप्रश्वासादिमन्तानोऽप्यक्तचैतन्यप्रयुक्त एव, कथमन्यथा तत्र  
 श्वासोच्छ्वासादिसन्तानोपपत्तिस्स्यात्, अत एव सुप्तमूर्च्छितादीनां जलसेकादिप्रतिकारेणा-  
 व्यक्तचैतन्यमेवामिव्यज्यत इत्यनुभवः, सुषुप्त्युत्थितस्य ‘सुखमहमवाप्त न किञ्चिदवेदिपम्’  
 इत्यनुभवस्तु न किञ्चित्पदोपरागेणाव्यक्तज्ञानमेवावगाहते । स्यादेतत् इन्द्रियवृत्तिनिरोधेन  
 सुषुप्ती ज्ञानमनुपपन्नम्, “द्रव्याप्यक्षे त्वचो योगो मनसा ज्ञानकारणम्” इति, कारिका-

वलीवचनाद् अन्यज्ञानसामान्ये तद्जनोयोगस्य कारणत्वेन तदानीं त्वच त्यक्त्वा पुरीतति नाडीवर्त्तमानेन मनसा ज्ञानाऽजननादिति चेत्, मैत्रम्, द्रव्येन्द्रियवृत्तुपरोधेऽपि तदानीं भावेन्द्रियजज्ञानसम्भवात्, दर्शनावरणकर्मप्रकृतिकार्यविशेषरूपायाः सुषुप्तेर्व्यक्तचतुर्दर्शना देरैवोपघातित्वात् । युक्तश्चैतत्-निश्चयतोऽधिकलकारणस्यैव कार्योत्पत्तिव्याप्यत्वात्, अत्रि-कलञ्च कारण ज्ञाने उपयोगेन्द्रियमेव, तच्चात्मलिङ्गत्वाद्भिन्नमन्तरेण लिङ्गिनोऽनुपपत्ते स्सुषुप्तिकालेऽपि लब्धसत्ताक कथं न स्वकार्यं ज्ञान जनयेदिति । अत एव—

“ जह सुहुमं भार्ग्विदियनाणं दड्विदियावरोहे वि ” इति ।

जं किर यडलाईण, दीसइ सेसँदियोवलभो वि ।

तेणत्थि तदावरणखओ-वसमसभवो तेसँ ॥ ३०० ॥

इति च विशेषावश्यकभाष्योक्तेरेकेन्द्रियजीवेष्वपि द्रव्येन्द्रियपञ्चकामावेऽपि स्पर्शनेन्द्रि-यादिभावेन्द्रियपञ्चकज्ञान सिद्धान्तेऽभ्युपगतम्, एतत्सर्वं सविस्तरमस्मत्प्रणीततत्त्वार्थविवरण-टीकायास्तुक्तमिति तत् एवावसेयम् । तादृशोपयोगक्रमे च देशकालादिनियन्त्रितक्षयोप-शमक्रम एव नियामक इति विभावनीयम् । ननु भवन्मतेऽपि केवलदर्शनावरणकेवलज्ञाना-वरणकर्मणोस्त्वर्षातिप्रकृतित्वेन केवलदर्शनावरणेन सर्वथाऽऽत्मीयदर्शनगुण केवलज्ञाना-वरणेन सर्वात्मनाऽऽत्मीयज्ञानगुण चाऽऽवृत्तमित्युपयोगशून्योऽप्यात्मा कथं नेति चेत्, तदपि न मनोरमम्, वस्तुतत्त्वानवबोधत्वात्, तथाहि-केवलज्ञानावरणस्य स्वावार्थः केवलज्ञानगुणः, स च यद्यपि तेन सर्वात्मनाऽऽव्रियते, तथापि सर्वजीवानां केवलज्ञानस्यानन्ततमो भागो ऽनावृत् एवावतिष्ठते, केवलज्ञानावरणस्यापि तदावरणे सामर्थ्याभावात् । यदाहुः पूज्यश्री देवद्विवाचकवरा नन्दीश्वरे—“ सन्नजीवाण पि थ ण अक्खरस्स अणतभागो निच्चुग्घाडिओ चिद्धइ ” इति । अयञ्चानावृत्तोऽनन्ततमभागस्वभावः केवलज्ञानावरणाऽऽवृत्तस्य जीवस्य घनपटलछन्नस्य रवेर्मन्दप्रकाश इव मन्दप्रकाश इत्युच्यते । तत्र हेतुः केवलज्ञानावरणमेव, केवलज्ञानव्यावृत्तज्ञानत्वव्याप्यजातिविशेषावच्छिन्ने तद्धेतुत्वस्य शास्त्रोक्तत्वात् । ननुक्तकार्य-कारणभावस्तदैव शोभेत यद्युत्कटे स्पष्टप्रकाशप्रतिबन्धके मन्दप्रकाशजनकत्वं दृष्टिगोचर स्यात्, न चैवम्, भित्त्यादौ तस्याऽदर्शनादिति चेत्, मैत्रम्, सूर्यस्पष्टप्रकाशप्रतिबन्धके उत्कटे सान्द्राम्नाघावरणे मन्दप्रकाशजनकत्वस्य सर्वलोकानुभवसिद्धत्वात्, न चानावृत्तानन्ततमभागो मन्दप्रकाशसङ्घकोशः केवलज्ञानस्यैव, अशाशिनोश्च कथञ्चिदमेद इत्येकस्मिन्नेवावृत्तत्वाना-वृत्तत्वलक्षणविरुद्धवर्माध्यासोऽनित् आपद्येतेति वाच्यम्, एकस्मिन् तन्त्वात्मकेशेऽनावृत्तेऽपि पट आवृत् इति प्रतीतिपलात् पटात्मकांशिद्व्यपेक्षयाऽऽवृत्तत्वमेकतन्त्वाऽऽत्मकांशापे-क्षया चाऽनावृत्तत्वमित्यदत्रापि केवलज्ञानांशयऽपेक्षयाऽऽवृत्तत्वमनन्ततममागांशाऽपेक्षया चाऽनावृत्तत्वमित्येषामुपपत्तावर्षितद्रव्यपर्यायात्मना कथञ्चिद्वेदामेदवादे वाचका

भावात् । कथं तर्हि केवलज्ञानावरणस्य सर्वथातिवृत्तिमिति चेत्, उच्यते, यथाऽतिवहले जलदपटले समुद्रते बहुतरप्रभाया आश्रुतत्वात् सर्वाऽपि सूर्याचन्द्रमसोः प्रमाऽनेनाश्रुतेति व्यवहारप्रवर्त्तते, अथ चाद्यापि काचित् दिनरजनीविभागनिका तत्रमा प्रमरति, " सुद्धु वि मेह समुदय होइ पहा चदसुराण " इति नन्दीध्रवचनानुभवमिद्वत्त्वाच्च, तथाऽनभ्युपगमो दिनरजनीविभागभावस्स्यात्, तथाऽत्रापि प्रबलकेवलज्ञानावरणाऽऽश्रुतस्यापि केवलज्ञानस्याऽनन्ततमो मागोऽनाश्रुत एवास्ते, तथाऽत्रामाव्यादेव, यदि पुनस्तमप्याश्रुण्यात् तदजीवोऽजीवत्वमेव प्राप्नुयात् । यदुक्तं नन्दीध्रुवे—“ जइ पुण मो वि आवरिजा, ता जीवो अजीवत्तण पाविजा ” इति । सोऽपि चावशिष्टोऽनन्ततमो मागो जलधरानाश्रुत दिनकरकरप्रसर इव कटक्यादिभिर्मति-श्रुता-ऽवधि-मनःपर्यायज्ञानावरणैराव्रियते, तथापि काचित् निगोदावस्थायामपि ज्ञानमात्राऽवतिष्ठते, अन्यथाऽजीवत्प्रसङ्गस्स्यात् । तत्र सर्वे निरुद्धज्ञानमात्रा सूक्ष्मनिगोदाऽपर्याप्तकानां प्रथमसमयोत्पन्ननीवानामभिधीयते, तस्मात्प्रभृतिज्ञानविशुद्धिर्भवति । उक्तञ्च—

“ सर्वनिरुद्धो जीवस्य दृष्ट उपयोग एव धीरेण ।

सूक्ष्मनिगोदाऽपर्याप्तकानां स च भवति विज्ञेयः ॥ १ ॥

तस्मात्प्रभृतिज्ञानविशुद्धिर्हृष्टा जिनेन जीवानाम् ।

लब्धिनिमित्तैः करणैः कायेन्द्रियग्राह्मनोहग्भिः ॥ २ ॥ ” इति

मतिज्ञानादिविषयभूतांश्वार्थान् यान् छन्नस्यात्मा न जानीते तत्र प्रतिबन्धकः केवलज्ञानावरणोदयो न भवति, तस्याऽनन्तपदार्थविविषयकप्रत्यक्षज्ञानोत्पत्तावेव प्रतिबन्धकत्वात् किं तर्हि ? मतिज्ञानावरणाद्युदय एवेति । एव केवलदर्शनावरणस्य समस्तवस्तुस्तोमसामान्यावबोध आचार्यः, तं सर्वं हन्तीति सर्वथाति अभिधीयते, तदनन्ततममात्रं त्विदमपि सामर्थ्यामावाक्षाशृणोति, सोऽपि चानाश्रुतोऽनन्ततममात्रश्रुतचक्षुरवधिदर्शनावरणैराव्रियते तथापि काचिन्निगोदावस्थायामप्यव्यक्तदर्शनमात्राऽवतिष्ठते, अत्रापि जलधरदृष्टान्तादिभावना पूर्ववदव, छन्नस्यात्मा यान् चक्षुर्दर्शनादिविषयानर्थान् न पश्यति तत्र प्रतिबन्धककेवलदर्शनावरणोदयो न भवति, तस्य निखिलमामान्यविषयकदर्शनीत्युत्पत्तावेव प्रतिबन्धकत्वात्, किं तर्हि ? चक्षुर्दर्शनावरणोदय एवेति । तथा च केवलज्ञानावरणाश्रुतस्यात्मनेघनपटलाच्छादितस्य सूर्यस्यैव योऽनन्ततममात्रात्मको मन्दप्रकाशः सोऽपान्तरालावस्थितमतिज्ञानाधारणक्षयोपशमभेदसम्पादित नानात्व भजत, यथा घनपटलाश्रुतसूर्यमन्दप्रकाशोऽपान्तरालावस्थितकटक्याद्यावरणविवरप्रदेशभेदतः, स च नानात्व क्षयोपशमानुरूपं तत्र प्रतिपद्यमानः स्वस्वक्षयोपशमानुसारेणाभिधानभेदमश्नुते, यथा मतिज्ञानावरणक्षयोपशमजनितः स मन्दप्रकाशो मतिज्ञान, श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमजनितः श्रुतज्ञानम्, अवधिज्ञाना



वरणक्षयोपशमजनितोऽप्रधिज्ञानम्, मनःपर्यायज्ञानावरणक्षयोपशमजनितो मनःपर्यायज्ञानमिति । केवलज्ञानावरणीयेन सर्वात्मनाऽऽश्रुतेऽपि केवलज्ञाने तद्गतमन्दविशिष्टविशिष्टतरविशिष्टतमज्ञानप्रकाशरूपाः क्षायोपशमिक्रमावात्मका एते मतिज्ञानादयश्चत्वारोऽपि भेदाः सर्वथा केवलज्ञानावरणापगमे सति तद्रूपत्रयस्य केवलज्ञानस्य—

“ पणम रल्ल पडिवाए, तत्थेगो देवभावमासज्ज ।

मणुए रोगपमाया, केवलमिच्छत्तगमणे वा ॥ १३७ ॥ ”

इति बृहत्कल्पभाष्ये तत्क्षयोपशमनाशकतायाः प्रतिपादितत्वात्तेन मतिज्ञानाद्यावरणक्षयोपशमनाशे सति न भवन्ति, तदानीं मतिज्ञानाद्यावरणक्षयोपशमरूपनिमित्ताभावात्, केवलज्ञानव्यावृत्तज्ञानत्वव्याप्यजातिविशेषावच्छिन्ने केवलज्ञानावरणस्य हेतुत्वेन तदभावाच्च, अत एव न मतिज्ञानावरणक्षयादिनाऽपि तदानीं मतिज्ञानाद्युत्पादनप्रसङ्गः, अत एव मतिज्ञानादेर्विभावगुणत्वमिति प्रसिद्धिः । तथा च सिद्धमेतन्निमित्तभेदाद् ज्ञान पञ्चविधमिति, तदपि प्रमाणेन विचार्यमाण प्रत्यक्षपरोक्षद्वयरूपमेव भवति, तदन्यप्रमाणाना तत्रैवान्तर्भावात्, यथा च तेषा तदन्तर्भावस्तथा व्युत्पादितमस्मत्प्रणीततरत्रार्थविवरणटीकायामिति तत एवाऽऽसेय विस्तरार्थिना, नेह ग्रन्थगौरवमीत्या विस्तार्यते । ननु तथापि पञ्चज्ञानमध्ये इदं ज्ञान प्रत्यक्षप्रमाणमिदञ्च परोक्षप्रमाणमिति विवेको नावधृत इति चेत्, सोऽप्युच्यते—अक्षमिन्द्रिय प्रतिगत कार्यत्वेनाश्रित यज्ज्ञान तत्प्रत्यक्षम्, इन्द्रियजन्य ज्ञान प्रत्यक्षमित्यर्थः, तत्स्वरूपञ्च मतिज्ञानम्, तद्व्यवहारनयतो यद्यपि प्रत्यक्षप्रमाणम्, लोकेऽपीन्द्रियजन्यज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वेन व्यवहारात्, अत एव विशेषावश्यकभाष्येऽपि—“ इदियमणो भव ज त सबवहारपच्चकए ” इत्युक्तम् । तथापि निश्चयनयतस्तत्परोक्षमेव, तद्घटकाक्षशब्दस्यात्मार्थत्वेन ततो द्रव्येन्द्रियाणि द्रव्यमनश्च पुद्गलमयत्वात् पराणि वर्तन्ते—पृथग्वर्तन्त इत्यर्थः, तेभ्यो यदक्षस्यात्मनो ज्ञानमुदयते, न तु साक्षात्, तत्परोक्षम्, यदमिहित भाष्ये—

“ अक्खस्स पोग्गलकया ज दच्चिन्दिमणा परा तेण ।

तेहिं तो ज नाण परोक्खमिह तमणुमाण व ॥ ९० ॥ ” इति ।

परोक्षलक्षणस्येन्द्रियमनोनिमित्तकज्ञानपर्यवसायितया तद्रूपत्वाच्चस्य । श्रुतज्ञान तु परोक्षमेव परनिमित्तज्ञानरूपत्वात् अनुमानवत् । यदुक्तं नन्दीसूत्रे—परोक्षं नाणं दुविहं पन्नत्तं तज्जा—आभिणिनोहियनाणपरोक्खं च सुअनाणपरोक्खं च । अक्षो जीवः, तं प्रति साक्षाद्गतमिन्द्रियनिरपेक्षं वर्तते यज्ज्ञानं तत्प्रत्यक्षम् । यदुक्तं भाष्ये—

“ जीवो अक्खो अत्थच्चावण-भोयणगुणणिणो जेण ।

तं पइ चट्टं नाणं ज पच्चकए तयं तिविह ॥ ८९ ॥ ” इति ।

इदमपि व्युत्पत्तिनिमित्तमेव, नैश्वयिकं प्रवृत्तिनिमित्तं तत्पञ्चाविन्द्रियमनोनिरपेक्षत्वं स्वस्वावरणकर्मक्षयोपशमक्षयान्यतरसहकृतात्ममात्रजन्यत्वं वा, तदेव च निश्चयप्रत्यक्षलक्षणम्, तदाक्रान्तश्चावधिज्ञानादिप्रथममिति तन्निश्चयप्रत्यक्षप्रमाणरूपम् । यदमिहित नन्दीश्वरे—“ से किं त नोद्दिअपचक्ख ? नोद्दिअपचक्ख तिरिह पन्नत्त, त जहा— ओहिनाणपचक्ख मणपञ्जवनाणपचक्ख केअलनाणपचक्ख ” इति । ननु व्यापहारिक नैश्वयिकप्रत्यक्षानुगतं किं लक्षणमिति चेत्, अर्थसाक्षात्कारित्प्रमेवेत्यवेदि, तच्च साक्षात्करोमि स्पष्टमवैमीति प्रतीत्योरेकाकारत्वात्तत्त्वद्वस्पष्टतालक्षणम् । स्पष्टता यद्यपि ज्ञानावरणक्षयोपशमजन्यतावच्छेदकनातिरूपतया तत्क्षयजन्यतावच्छेदकजातिरूपतया च द्विविधा, तथापि स्पष्टताद्वय स्पष्टतात्वेनानुगतीकृत्य स्पष्ट प्रत्यक्षमित्येवानुगत लक्षण कर्तव्यम्, स्पष्टलक्षणप्रत्यक्षमपि शास्त्रे गुणमुख्यमेदेन द्विविधं प्रोक्तम्, यदुक्तम्—“ स्वार्थसवेदनं स्पष्टमध्यक्षं मुख्यगौणतः ” इति । तत्रायमसर्वपर्यायद्रव्यविषयमिन्द्रियानिन्द्रियप्रभवमस्मदाद्यध्यक्षं विशदं सव्यवहारनिमित्तं मतिज्ञानात्मकम्, तदपि निश्चयतस्तु परोक्षमेव, श्रुतं ज्ञानवत् इन्द्रियाद्यपेक्षत्वेनाविशदत्वात् । द्वितीयमप्युपपत्तावात्ममात्रापेक्षं विकूलमकलमेदेन द्विविधम्, तत्र विकूलं अवधिज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमजन्यरूपिद्रव्यमात्रविषयकावधिज्ञानमनःपर्यायज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमजन्यमनोद्रव्यपर्यायमात्रसाक्षात्कारिमनःपर्यायज्ञानमेदेन द्विविधम्, सकलं तु कलनानावरणक्षयजन्यनिखिलद्रव्यनिखिलपर्यायावगाहिकेवलज्ञानारूपमेकविधमेवेति । अत्र बहु वक्तव्यं तथापि ग्रन्थगौरवमीतेर्नोच्यते, निम्तरार्थिनाऽस्मत्सन्देह्यतस्वार्थविरणटीकातोऽवसेयमिति ।

ननु लक्षणाधीना लक्ष्यव्यवस्थितिरित्यत्र लक्ष्यधीभूते प्रमाणे तदितराप्रमाणमिन्नत्वापेक्ष, प्रमाणं प्रमाणस्वरूपतया व्यवहर्त्तव्यमित्यारारूप्यरहाप्रयोचरुश्च तल्लक्षणमेवेति तत्किमिति चेत्, उच्यते, स्वार्थसवेदनं प्रमाणमिति । तदर्थश्चैतन्—स्वयोग्योऽर्थस्वार्थः, तस्य सवेदनं विशदतया निर्णयस्वरूपम्, तेन सशयविपर्ययाऽनुष्ययमायलक्षणस्य ज्ञानस्य प्रमाणात्परिहार एव सन्मात्रगोचरस्य स्वसमप्रसिद्धस्य दर्शनस्य व्यपहारानङ्गस्य तथाऽज्ञानरूपस्येन्द्रियकारकमाकल्यादेश्च नैयायिकैरिपरिकल्पितस्याऽविकल्पस्य वा मौगतपरिकल्पितस्य प्रामाण्यनिरासः कृतः । यद्वा स चार्थश्च स्वार्थो तयोः सवेदनं यथावस्थितत्वेन निश्चयः स्वार्थसवेदनम्, तत्र ज्ञानजन्यज्ञाततालिङ्गकृतीन्द्रियनानुमानादीनां माह्वानामेकात्मसमवेतोत्तरज्ञानेनाऽनुष्ययमायेन व्यवसायप्रत्यक्षमिति वादिना नैयायिकपुरारिमिथ्याणां प्रधानविवर्त्तनवाचेतनज्ञानवादिनां कापिलानां च मतमपाकर्तुं स्वशब्दसङ्घटनम्, पारमार्थिकरूपदार्थसार्थापलपिज्ञानाद्वैतवादिमाध्यमिकवेदातिना मतं निरमितुमर्थपदोपादानम्, सम्पूर्णप्रमाणलक्षणवाक्येन पुनः परपरिकल्पितस्यार्थोपलब्धिहेतुत्वस्याविसवाद्कत्वस्यान

धिगतार्थाधिगन्तृत्वादेश्च प्रमाणलक्षणता परिक्षिप्ताऽवसेयेति, स्वपरव्यवसायिज्ञान प्रमाणमिति लक्षणमप्युक्तस्वरूपमेवेत्यत्रैव गतार्थम्, तथापि किञ्चिद्ब्रह्माख्यायते-प्रतिपाद्यानुसारेण यथायोग लक्ष्य लक्षण वा द्वय वा विधीयते, परप्रतिपत्तये हि वाक्यमुच्चारयन्ति मनीषिणः, मोहपारतन्व्यवशात् परे चाऽनेकविधास्तत्तद्विषये सशयाना विप्रतिपद्यमानाश्चोपलभ्यन्ते इति स्वपरव्यवसायिज्ञानस्य प्रमाणत्वे विपर्ययसशयानव्यवसायाः कस्यचित्समुत्पद्यन्ते, तत्प्रतिक्षेपाय त प्रत्यक्षधदनन्यायेनाप्राप्त प्रमाण विधीयते, तथा च विवादास्पद ज्ञानं प्रमाण स्वपरव्यवसायिज्ञानत्वादित्यनुमानेन तत्र प्रमाणत्व सिद्धिकोटिसुप्रबौक्यन्ति कृतिनः । तथा मोहपारतन्व्याधीनयथार्थैतत्त्वानभिज्ञत्वादेव प्रमाणस्य स्वपरव्यवसायिज्ञानत्वे कस्यचित्सुसस्ते समुद्भवन्ति, प्रमाण स्वपरव्यवसायिज्ञान न किन्तु कल्पनापोढत्वेन निर्विकल्पकज्ञानरूपमेवेत्यभ्युपगन्तुर्बौद्धस्येवेति तदपनोदाय त प्रति स्वपरव्यवसायिज्ञानत्वं विधेयीकृत्य विवादास्पद प्रमाणं स्वपरव्यवसायिज्ञान प्रमाणत्वान्यथाऽनुपपत्तेरित्यनुमानेन स्वपरव्यवसायिज्ञानत्व सिद्धिसौधमारोपणीयम्, एव प्रमाणप्रमेयापलापिशून्यवादिनम्प्रति समग्र विधेयम् । तथा कदाचिल्लक्षणाशुसिद्धये लक्षणाशस्यैव व्यापारणा, यथा ज्ञानं स्वव्यवसायि परव्यवसायित्वान्यथाऽनुपपत्तेरिति । अत्र यौगास्तस्त्विहन्ते-“ उक्तप्रमाणलक्षण न युक्तिमङ्गलम्, यतो ज्ञान प्रदीपवत्स्वप्रकाशात्मकत्वेन स्वपरव्यवसायिज्ञानरूपमिति सिद्धौ तत्सिद्धयति, न च तदघापि सिद्धम्, यतो ज्ञानस्य बाह्यार्थनिषयकत्वेन तत्र परव्यवसायित्व प्रमाणगोचरमपि न च स्वव्यवसायित्व प्रमाणभावमनुभवति, स्वसवेदनज्ञानस्यैवाऽसिद्धे, तथाहि-अय घट इति ज्ञाने घटविषयकत्वे किम्मानमिति चिन्तायामनुभवसाय एव मानत्वेन प्रदर्शनीय”, तस्य घटविषयकत्वविशिष्टज्ञानविषयकत्वेन विशेषणविधया घटविषयकत्वस्यापि तत्र भानान् तेन तत्सिद्धेः, यद्विषयक यज्ज्ञान तेन तत्सिद्धिरिति व्याप्तेः, तदनुपदर्शने घटज्ञाने घटविषयकत्वमेव न तु पटविषयकत्वमित्यत्र विनिगमकामावेन सर्वविषयकत्व निर्विषयकत्व वाऽऽपद्येत, तच्चानिष्टम्, न च किमनुभवसायप्रदर्शनेन, यज्ज्ञानपदाकार तज्ज्ञान तद्विषयकमिति सामान्यव्याप्त्यैवाय घट इति ज्ञानस्य घटाकारत्वेन घटविषयकत्वसिद्धिसंस्यादेवेति वाच्यम्, बौद्धमते घटाकारत्वपटाकारत्वादेर्ज्ञानधर्मत्वेऽपि तन्मते वास्तवविषयविषयिभावस्यैवाऽभावेन तन्मताश्रयणस्यात्राऽयुक्तत्वेन प्रकृते न्यायनयमवलम्ब्यैव विचारस्य प्रवर्तितव्यतया तन्मते घटाकारत्वस्य घटविषयकत्वाद्यतिरिक्तस्याभावेनातमाश्रयापस्या निरुक्तव्याप्त्या तस्य साधयितुमशक्यत्वान्, तन्मताश्रयणेऽपि वा तज्ज्ञाने घटाकारत्वमेव, न तु पटाकारत्वमित्यत्रानुचाव्यवसाय विना मानान्तर न पश्यामः, तथा चानुभवसायस्य घटविषयकज्ञानानहमित्याकारत्वेन व्यवसायविशेषकघटविषयकत्वप्रकारकतया व्यवसाय घटविषयकत्वसिद्धावपि व्यवसाये व्यवसायविषयकत्वानुगाहनेन व्यवसायविषयकत्वाऽसिद्ध्या व्यनसायविषयत्वविषयकत्व सुतरामसिद्धम्, न हि घटानवगाहि

ज्ञानस्य घटविषयकत्वविषयस्त्व केनाप्यनुमन्यते, तथा च व्यवसाये स्वविषयत्वरूपस्व-  
 प्रकाशत्वस्याऽसिद्ध्या स्वप्रकाशज्ञानाऽसिद्धिरापातैव, न च सर्वज्ञानानां घटमह जानामीत्या-  
 धाकारत्वात् प्रत्यक्षेणैव व्यवसायात्मकज्ञाने स्वविषयकत्वसिद्धिरिति ज्ञाने स्वसविदितत्वं  
 प्रत्यक्षसिद्धमेवेति वाच्यम्, तादृशानुव्यवसायस्य घटोऽपि मिति व्यवसायोत्तरकालभावित्वेन  
 भिन्नत्वेनैवानुभवात् । किञ्च घटमह जानामीत्यस्य घटविषयकज्ञानवानहमित्यर्थकत्वेन  
 कर्तृभूतमात्मानं तत्र कर्मद्वारा ज्ञानं तत्र च घटविषयकत्वं विशेषणविधयाऽवगाहमानं  
 तज्ज्ञानं तेष्वेवात्मज्ञानविषयकत्वेण प्रमाणं स्यात्, न तु व्यवसायात्मकज्ञाने स्वविषय-  
 त्वेऽपि, न हि घटज्ञानतद्विषयकज्ञानयोरभेदोऽप्यापि सिद्ध इति ज्ञानस्य स्वविषयकत्वमेव  
 नास्ति, स्वविषयकत्वविषयकत्वं तु दुरापेतम्, तथा च यज्ज्ञानं यद्विषयकत्वाभाववत्  
 तज्ज्ञानं तद्विषयकत्वे प्रमाणं न भवितुमर्हतीति नियमबलादेव घटमह जानामीत्यनुव्यव-  
 सायप्रत्यक्षं न व्यवसायगतस्वविषयकत्वे प्रमाणम् । अथ तदपि घटज्ञानविषयकत्वं विशे-  
 षणविधयाऽवगाहत् एवेति चेत्, तर्हि घटज्ञानज्ञानरानित्याकारप्रमङ्गस्स्यादिति चेत्,  
 अत्र समाधीयते—“ एकस्मादेव विषयावभाससिद्धेः किं द्वयकल्पनया ” इति नियमबलादेव  
 पूर्वमपि घट इति व्यवसायः तदनन्तरं घटमह जानामीत्यनुव्यवसाय इति ज्ञानद्वयकल्प-  
 नाया गौरवमात्रसम्पादकतयाऽनुपादेयत्वेन लाघवात् व्यवसाय एव कर्तृकर्मक्रियावगाह-  
 नुव्यवसायाकारतयोपादेयः, तादृशानुव्यवसाये च ज्ञानविषयकत्वे विशादाभावेन तस्य स्वा-  
 ऽभिन्नत्वेन स्वविषयत्वमप्यविरादसिद्धमेव । न्यायमते प्रतियोगिताऽनुयोगिता विशेष्यता  
 प्रकारता च यथाश्रयस्वरूपा नातिरिक्ता तथा जैनमतेऽपि स्वविषयत्वस्य स्वस्मादनतिरि-  
 क्तत्वेन ज्ञानात्मकस्वभावे तदात्मकविषयताया अप्यनुव्यवसायमानमिति स्वविषयत्वविषयक-  
 त्वमप्ययत्नसिद्धमेवेति भवति स्वप्रकाशत्वसिद्धिः, एतेन घटमह जानामीति ज्ञाने ज्ञानाव-  
 भासेऽपि तद्विषयत्वं नावभासत इति ज्ञानस्य स्वविषयकत्वमेव नास्ति, स्वविषयत्वविषयकत्वं  
 तु दुरापेतमित्याद्यर्थकं यदुक्तं प्राक् तन्निरस्तमवसेयम्, विषयता हि विषयस्वरूपैव, नाति-  
 रिक्ताः पदार्थ इति व्यवसायात्मकविषयभावे तत्स्वरूपाया विषयताया मानमपि न्याय्यमेव,  
 तथा च घटमह जानामीति ज्ञाने ज्ञानविषयत्व सर्वैरपि स्वीक्रियत इति ज्ञानस्वरूपज्ञाननिष्ठ  
 विषयत्वविषयकत्वमपि तत्र स्वीकरणीयमेव, पूर्वोक्तनीत्या व्यवसायस्यानुव्यवसायाभिन्नत्वेन  
 तत्रापि त्रयात्ममपत्नसिद्धमेवेति, एतेन स्वस्यैव स्वविषयत्वे अभेद एव विषयविषयिभाव  
 स्वीकृतस्स्यात्, न चासौ युक्ता, भेदनियतत्वाच्चस्येत्यपि निरस्तम्, भेदनियतो विशेषण  
 विशेष्यभावः कथमभेद इत्यपि वक्तुं शक्यत्वात्, तस्माद् घटामात्रे घटाभाव इति ‘स्वस्मिन्’  
 स्वविशेषणत्वप्रतीत्यन्यथानुपपत्त्या यथा स्वमात्रविशेषादभेद विशेषणविशेष्यभावस्तथा  
 प्रकृतेऽभेदऽपि स्वमात्रविशेषादेव विषयविषयिभाव इति प्रतीहि । कोऽसौ स्वमात्रविशेष इति  
 चेत्, उच्यते, शर्करायाः कीदृशं माधुर्यमिति केनचित्प्रश्ने कृते त प्रत्युत्तरं दातुमशक्यमपि

धिगतार्थाधिगन्तृत्वादेश्च प्रमाणलक्षणता परिक्षिप्ताऽवसेयेति, स्वपरव्यवसायिज्ञान प्रमाणमिति लक्षणमप्युक्तस्वरूपमेवेत्यत्रैव गतार्थम्, तथापि किञ्चिद्वाख्यायते—प्रतिपादानुसारेण यथायोग लक्ष्म लक्षण वा द्वय वा विधीयते, परप्रतिपक्षे हि वाक्यमुच्चारयन्ति मनीषिणः, मोहपारतन्त्र्यवशात् परे चाऽनेकविधास्तत्तद्विषये सशयाना विप्रतिपद्यमानाश्चोपलभ्यन्ते इति स्वपरव्यवसायिज्ञानस्य प्रमाणत्वे विपर्ययसशयानध्ववसायाः कस्यचित्समुत्पद्यन्ते, तत्प्रतिक्षेपाय त प्रत्यदग्धदहनन्यायेनाप्राप्त प्रमाणं विधीयते, तथा च विवादास्पद ज्ञानं प्रमाण स्वपरव्यवसायिज्ञानत्वादित्यनुमानेन तत्र प्रमाणत्व सिद्धिकोटिमुपलक्षयन्ति कृतिना। तथा मोहपारतन्त्र्याधीनयथार्थत्वानभिज्ञत्वादेव प्रमाणस्य स्वपरव्यवसायिज्ञानत्वे कस्यचित्पुमस्ते समुद्भवन्ति, प्रमाण स्वपरव्यवसायिज्ञान न ऋन्तु कल्पनापोढत्वेन निर्विकल्पकज्ञानरूपमेवेत्यभ्युपगन्तुर्बौद्धस्येवेति तदपनोदाय त प्रति स्वपरव्यवसायिज्ञानत्व विधेयीकृत्य त्रिवादास्पद प्रमाण स्वपरव्यवसायिज्ञान प्रमाणत्वात्न्यथाऽनुपपत्तेरित्यनुमानेन स्वपरव्यवसायिज्ञानत्व सिद्धिसौघमारोपणीयम्, एव प्रमाणप्रमेयापलापिशून्यत्वादिनम्प्रति समग्र विधेयम्। तथा कदाचिच्छ्रवणाशसिद्धये लक्षणांशस्यैव व्यापारणा, यथा ज्ञान स्वव्यवसायि परव्यवसायित्वान्यथाऽनुपपत्तेरिति। अत्र यौगास्तद्विरन्ते—“ उक्तप्रमाणलक्षण न युक्तिसङ्गतम्, यतो ज्ञान प्रदीपवत्स्वप्रकाशात्मकत्वेन स्वपरव्यवसायिज्ञानरूपमिति सिद्धौ तत्सिद्धयति, न च तदद्यापि सिद्धम्, यतो ज्ञानस्य बाह्यार्थत्रिपयकत्वेन तत्र परव्यवसायित्त्वं प्रमाणगोचरमपि न च स्वव्यवसायित्वं प्रमाणभावमनुभवति, स्वसत्त्वेनज्ञानस्यैवाऽसिद्धे, तथाहि—अयं घट इति ज्ञाने घटविषयकत्वे किमज्ञानमिति चिन्तायामनुभवसाय एव मानत्वेन प्रदर्शनीयः, तस्य घटविषयकत्वविशिष्टज्ञानविषयकत्वेन विशेषणविधया घटविषयकत्वरूपापि तत्र मानात् तेन तत्सिद्धेः, यद्विषयक यज्ज्ञान तेन तत्सिद्धिरिति व्याप्तेः, तदनुपदर्शनेन घटज्ञाने घटविषयकत्वमेव न तु पटविषयकत्वमित्यत्र विनिगमकामावेन सर्वे विषयकत्व निर्विषयकत्व वाऽऽपद्येत, तच्चानिष्टम्, न च किमनुभवसायप्रदर्शनेन, यज्ज्ञान यदाकारं तज्ज्ञानं तद्विषयकमिति सामान्यव्याप्त्यैवायं घट इति ज्ञानस्य घटाकारत्वेन घटविषयकत्वसिद्धिस्स्यादेवेति वाच्यम्, बौद्धमते घटाकारत्वपटाकारत्वादेर्ज्ञानधर्मत्वेऽपि तन्मते वास्तवविषयविषयिभावस्यैवाऽभावेन तन्मताश्रयणस्यात्राऽप्युक्तत्वेन प्रकृते न्याय नयमत्रलम्ब्यैव विचारस्य प्ररक्षितव्यतया तन्मते घटाकारत्वस्य घटविषयकत्वाद्यतिरिक्त स्यामावेनात्माश्रयापस्या निरुक्तव्याप्त्या तस्य साधयितुमशक्यत्वात्, तन्मताश्रयणेऽपि वा तज्ज्ञाने घटाकारत्वमेव, न तु पटाकारत्वमित्यत्रानुचाव्यवसाय विना मानान्तरं न पश्याम, तथा चाऽनुभवसायस्य घटविषयकज्ञानवानहमित्याकारत्वेन व्यवसायविशेष्यकघटविषयकत्वप्रकारकतया व्यवसाये घटविषयकत्वसिद्धावपि व्यवसाये व्यवसायविषयकत्वानवगाहनेन व्यवसायविषयकत्वाऽसिद्ध्या व्यवसायविषयकत्वविषयकत्व सुतरामसिद्धम्, न हि घटानवगाहि

ज्ञानस्य घटविषयकत्वविषयकत्व केनाप्यनुमन्यते, तथा च व्यवसाये स्वविषयत्वरूपस्व-  
 प्रकाशत्प्रत्यासिद्ध्या स्वप्रकाशज्ञानासिद्धिरायातैव, न च मर्जज्ञानानां घटमहं जानामीत्या-  
 धाकारत्वात् प्रत्यक्षेणैव व्यवसायात्मकज्ञाने स्वविषयकत्वसिद्धिरिति ज्ञाने स्वसविदितत्व  
 प्रत्यक्षसिद्धमेवेति वाच्यम्, तादृशानुव्यवसायस्य घटोऽयमिति व्यवसायोचरकालमावित्वेन  
 भिन्नत्वेनैवानुभवान् । किञ्च घटमहं जानामीत्यस्य घटविषयकज्ञानवानहमित्यर्थकत्वेन  
 कर्तृभूतमात्मानं तत्र कर्मद्वारा ज्ञानं तत्र च घटविषयकत्व विशेषणविधयाऽऽगाहमानं  
 तज्ज्ञानं तेष्वेवात्मज्ञानविषयकत्वेषु प्रमाणं स्यात्, न तु व्यवसायात्मकज्ञाने स्वविषय-  
 त्वेऽपि, न हि घटज्ञानतद्विषयकज्ञानयोरभेदोऽद्यापि सिद्ध इति ज्ञानस्य स्वविषयकत्वमेव  
 नास्ति, स्वविषयकत्वविषयकत्व तु दुरापेतम्, तथा च यज्ज्ञानं तद्विषयकत्वाभाववत्  
 तज्ज्ञानं तद्विषयकत्वे प्रमाणं न भवितुमर्हतीति नियमबलादेव घटमहं जानामीत्यनुव्यव-  
 सायप्रत्यक्षं न व्यवसायगतस्वविषयकत्वे प्रमाणम् । अथ तदपि घटज्ञानविषयकत्वं विशेष-  
 णविधयाऽऽगाहत् एवेति चेत्, तर्हि घटज्ञानज्ञानवानित्याकारप्रसङ्गस्यादिति चेत्,  
 अत्र समाधीयते—“ एकस्मादेव विषयाऽऽमासिद्धेः किं द्वयकल्पनया ” इति नियमबलादेव  
 पूर्वमयं घट इति व्यवसायः तदनन्तरं घटमहं जानामीत्यनुव्यवसाय इति ज्ञानद्वयकल्प-  
 नाया भौखमाप्रसम्पादकतयाऽऽनुपादेयत्वेन लाघवाद् व्यवसाय एव कर्तृकर्मक्रियावगाह-  
 नुव्यवसायाकारतयोपादेयः, तादृशानुव्यवसाये च ज्ञानविषयकत्वे विवादाभावेन तस्य स्वा-  
 ऽभिन्नत्वेन स्वविषयत्वं प्रमाणविवादासिद्धमेव । न्यायमते प्रतियोगिताऽऽनुयोगिता विशेष्यता  
 प्रकारता च यथाशयस्वरूपा नातिरिक्ता तथा जैनमतेऽपि स्वविषयत्वस्य स्वस्माद्नतिरि-  
 क्तत्वेन ज्ञानात्मकस्वभावे तदात्मकत्रिषयताया अप्यऽयम्मानमिति स्वविषयत्वविषयक-  
 त्वमप्यपत्नसिद्धमेवेति भवति स्वप्रकाशत्वसिद्धिः, एतेन घटमहं जानामीति ज्ञाने ज्ञानान-  
 भासेऽपि तद्विषयत्वं नावभासत इति ज्ञानस्य स्वविषयकत्वमेव नास्ति, स्वविषयत्वविषयकत्व  
 तु दुरापेतमित्याद्यर्थकं यदुक्तं प्राक् तन्निरस्तमवसेयम्, विषयता हि विषयस्वरूपैव, नाति-  
 रिक्ताः पदार्थ इति व्यवसायात्मकत्रिषयभावे तत्स्वरूपाया विषयताया भानमपि न्याय्यमेव,  
 तथा च घटमहं जानामीति ज्ञाने ज्ञानविषयत्वं सर्वत्रैव स्वीक्रियत इति ज्ञानस्वरूपज्ञाननिष्-  
 विषयत्वविषयकत्वमपि तत्र स्वीकरणीयमेव, पूर्वोक्तनीत्या व्यवसायस्यानुव्यवसायाभिन्नत्वेन  
 तत्रापि तथात्वमयत्नसिद्धमेवेति, एतेन स्वस्यैव स्वविषयत्वे अमेद् एव विषयविषयिमाव-  
 स्वीकृतस्यात्, न चासौ युक्तः, भेदनियतत्वाच्चस्येत्यपि निरस्तम्, भेदनियतो विशेषण  
 विशेष्यभावः कथमभेद इत्यपि वक्तुं शक्यत्वात्, तस्माद् घटाभावे घटाभाव इति ' स्वस्मिन् '  
 स्वविशेषणत्वप्रतीत्यन्यथानुपपत्त्या यथा स्वभावविशेषादभेदे विशेषणविशेष्यभावस्तथा  
 प्रकृतेऽभेदेऽपि स्वभावविशेषादेव विषयविषयिमाव इति प्रतीहि । कोऽसौ स्वभावविशेष इति  
 चेत्, उच्यते, शर्करायाः कीदृशं माधुर्यमिति केनचित्प्रश्ने कृते तत्प्रत्युत्तरं दातुमशक्यमपि

तेन तन्निराकर्तृमप्यशक्य यथा तयोक्तस्वभानप्रियेण आख्यातुमशक्योऽपि प्रत्याख्यातु  
 मप्यशक्य एवेति । येऽप्यत्र ज्ञान स्वविषये घटादौ व्यवहार प्रवर्त्तयत्स्वप्रियेऽपि स्वस्मिन्  
 व्यवहार प्रवर्त्तयति, ज्ञानान्तरेण ज्ञानव्यवहारोपगमे गौरव स्यादिति स्वव्यवहारशक्तत्वमेव  
 स्वविषयत्वम्, तथाऽभेदेऽपि सम्भ्रतयेवेति स्वप्रकाशवादिप्रमाकरानुयायिनो वदन्ति, तन्म-  
 त्तमप्यसङ्गतमेव, यतस्स्वव्यवहारशक्तत्व स्वव्यवहारानुकूलशक्तिमत्त्वं, शक्तावनुकूलत्वं च  
 न जनकत्व शक्तेरतीन्द्रियत्वेनाश्रयमापेक्षत्वेन च तत्र स्वातन्त्र्येणान्वयव्यतिरेकाऽसम्भ-  
 वात्, किन्तु जनकतावच्छेदकत्वम्, तच्च शक्तौ तदा स्यात् यदि शक्तिमत्त्वेन रूपेण ज्ञान  
 स्य स्वव्यवहार प्रति कारणत्व मयेत्, तच्च न सम्भ्रति, यतो यदि शक्तिर्जनकतारूपैवाभ्यु-  
 पगम्यते तदा स्वस्यैव स्वावच्छेदकत्वाद् व्यक्तमात्माश्रयः । अथ जनकतातो व्यतिरेका  
 सेति चेत्तदा तस्याः पदार्थान्तरत्वाभ्युपगमेनोक्तात्माश्रयदोषोद्धारोऽपि कारणत्वज्ञानम्प्रति  
 कारणतावच्छेदकज्ञानस्य कारणत्वेन ज्ञाने स्वव्यवहारकारणत्वज्ञानार्थं शक्तिज्ञानमपेक्षणी-  
 यम्, तच्च स्वव्यवहारशक्त ज्ञानमित्याकारक न कारणत्वग्रहं विना, शक्तेरतीन्द्रियत्वेन  
 कारणत्वग्रहाधीनग्रहकत्वादित्यन्योन्याश्रयदोषापत्तिरस्यादिति । नन्वलुच्यवसाये घटज्ञान  
 विषयकत्वस्याप्यवगाहने घटज्ञानज्ञानवानित्याकारप्रमङ्गस्यादित्युक्तं किं विस्मृतं ? न  
 विस्मृतम्, ज्ञानस्यैव जानामीद ज्ञान जानामीत्युभयाकारत्वेनाऽभ्युपगमात् । ननु यद्येक-  
 मेव ज्ञान घट जानामि घटज्ञान जानामीत्याकारद्वयशालि चेत्तदाऽऽकारद्वयवत्तयैव तदमि-  
 ल्येत, न च तथाऽभिलष्यते इत्यतो नाकारद्वयशालि तत्, न वैकं विरुद्धाकारद्वयशालि  
 युज्येतापि, तथा सत्येकमेव न स्यादिति चेद्, नैवम्, यतो घटावगाहनांशघटज्ञानावगाहना  
 शयोर्भेदेन ज्ञानस्यापि कथञ्चिद्भेदस्वीक्रियत एव, ततो घटमह जानामीति घटज्ञानमह  
 जानामीति चाभिलापभेदः, तत्र च विवक्षैव कारणम्, यदा परानुपगमार्थं घटविषयकत्वेन  
 ज्ञान वक्ता वक्तुमिच्छति तदा घट जानामीत्यभिलापः, यदा च घटविषयकज्ञानविषय-  
 कत्वेन तदा घटज्ञान जानामीत्यभिलाप इति नाभिलापभेदो ज्ञानस्य सर्वथा भेदव्यवस्था-  
 पकः, न वा कथञ्चिदेकत्वाभ्युपगमन्तुःप्रकाशवादिमते कथञ्चिद्भेदस्याप्यऽनुपपत्तिरिति ।  
 एतेन स्वविषयत्वे सिद्धे ज्ञानान्तररूपनागौरवसद्वक्तु ज्ञानगोचरताया ग्राहक प्रत्यक्ष स्व-  
 प्रकाशतायां प्रमाण, तेन च मानेन तस्य स्वविषयताविषयतामिद्विरित्यन्योन्याश्रय इत्या-  
 शङ्कापि निरस्ता, लाघवाद् व्यवसायस्यैव ज्ञानविषयत्वेनानुभूयमानानुव्यवसायरूपत्वेनाभ्यु-  
 पगमे सति पूर्वोक्तरीत्या स्वप्रकाशत्वसिद्धेः । अयम्मानः—यद्यप घट इति ज्ञानमाश्रित्य  
 स्वप्रकाशत्व साध्यत तदोक्तदिशाऽन्योन्याश्रयः स्यात्, यतस्तस्य ज्ञानविषयकत्वेनाननु-  
 भवात्, स्वविषयकत्वस्य प्रमाणान्तरेणैव साध्यत्वापत्तेः, न चैवम्, घटमह जानामीत्यनुव्यव-  
 सायमाश्रित्यैव स्वप्रकाशत्व व्यवसायप्यते, तत्र च ज्ञानविषयत्वमनुभवमिदमेव, न प्रमाणा-  
 न्तरान्तरसाध्यम्, विषयतापन्नस्य च व्यवसायात्मकज्ञानस्य लाघवेन विषयितापत्तेनानु-

व्ययसायात्मकज्ञानेनाऽग्नेदे च सिद्धे स्वविषयत्वमपि सिद्धमेव, तदेव च स्वप्रकाशान्वयमिति  
 क्वाऽन्योन्याश्रय इति । ननु ज्ञान स्वप्रकाशात्मकमित्यस्य स्वेनैव स्वस्य प्रकाशे 'स्वप्रकाश'  
 तदात्मकमित्यर्थः स्वीकृतो जनैः, तथा च स्व स्वात्मनैव प्रकाशयति ज्ञानमिति सिद्धम्,  
 अत एव "स्वस्य व्ययसाय" स्वामिमुख्येन प्रकाशेन बाह्यस्येव तदाभिमुख्येन करिकल  
 मकमहमात्मना जानामीति " १-१७ प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कारघट्टोक्तमपि सङ्गच्छते,  
 तच्च न युक्तम्, स्वात्मनि क्रियात्रिरोधात्, न हि सुतीक्ष्णोऽपि करवालः कदाचित् स्व  
 विदारयति, न च विचित्रगतिसञ्चारचतुराऽपि नर्त्तकी निजस्कन्धमधिरोद्धु शक्नोतीति चेत्,  
 अहो भवदीयाज्ञानविलासः, येन स्वदर्शनप्रसिद्धमपीश्वरज्ञानमावालगोपालप्रसिद्धमपि वा  
 प्रदीपालोकादिक स्वपरप्रकाशक नाधारयति, न हि त्रिजगत्कर्तृज्ञान स्वप्रकाशे ज्ञानान्तरम  
 पेशते, नापि प्रदीपदिनकराद्यालोकः स्वस्वरूपप्रकाशने प्रकाशान्तरमपेशते, प्रतीतिविरोधात् ।  
 एतेन घटमह जानामीत्यादेर्ज्ञानस्य कर्तृकर्मक्रियाजगाहित्वे सत्येव तादृशत्रिपुटीप्रत्यक्षात्स्व-  
 सवेदनज्ञानसिद्धिस्स्यात्, न च तत्रितयावगाहित्व तत्र सम्भवति, क्रियायाः कृतेर्वा समवा  
 पित्वलक्षणकर्तृत्वस्य परसमवेतक्रियाजन्यफलशालित्वलक्षणस्य कारणव्यापारविषयत्वलक्षणस्य  
 वा कर्मत्वस्य घात्वर्थत्वलक्षणस्य कृतिजन्यत्वलक्षणस्य वा क्रियात्वस्यायोग्यत्वेन तत्रामा-  
 समानत्वादित्यपि निरस्तम्, उक्तलक्षणतत्रितयामानेऽपि आश्रयत्वलक्षणकर्तृत्वस्य विषयत्व  
 लक्षणकर्मत्वस्य विशेषणीभूतज्ञानत्वलक्षणक्रियात्वस्य च माने बाधकाभावात्, आश्रयत्वादि  
 प्रयाणामाश्रयरूपत्वाऽभ्युपगमेन तद्ज्ञाने तद्ज्ञानस्यावश्यम्भावात् । एतेन विशिष्टबुद्धिमप्रति  
 विशेषणज्ञान कारणमिति नियमेन विशेषणीभूतज्ञान पूर्वं नैव ज्ञातमिति जानामीत्यत्रापि  
 तस्य विशेषणतया कथं मानं स्यात्, येन स्वसवेदनज्ञानमिद्धिस्स्यादित्यारेकाऽपि निरस्ता,  
 पूर्वं विशेषणीभूतस्याभाक्त्वस्याऽज्ञानेऽप्यभावत्रिशिष्टबोधात्तत्र व्यभिचारवारणाय समान  
 विचित्रेद्यमिन्नविशेषणज्ञानत्वेन त्रिशिष्टबुद्धौ हेतुत्वं वाच्यम्, एवञ्च जानामीति ज्ञान  
 विशिष्टात्मज्ञाने ज्ञानरूपविशेषणस्यात्मसमानचित्तिवेद्यत्वेन तज्ज्ञानं न हेतुरिति ज्ञानस्य  
 पूर्वमज्ञातत्वेऽपि विशेषणत्वोपपत्तेस्त्वसवेदनज्ञानस्यैव सिद्धेः । न चाह सुखीत्यादिप्रत्यये  
 आत्ममानेऽपि ज्ञानस्याभानान्न तस्य तत्समानचित्तिवेद्यत्वमिति वाच्यम्, अहं सुखीत्य-  
 स्याप्यहं सुखं साक्षात्करोमीत्याकारत्वात्, अनभ्यामादिदोषेण तदनभिलाषात् । नन्वर्थ-  
 निश्चयत्वेन ज्ञानस्य प्रवर्त्तकत्वाद् घटपटाद्यर्थमात्रविषयकमेव ज्ञानमभ्युपगन्तुमर्हमिति चेत्,  
 तदप्यसङ्गतम्, यतो व्यवसायस्यानुव्ययमायरूपतया स्वविषयकत्वेनाधिकविषयकत्वेऽपि  
 तस्यार्थविषयकत्वेन प्रवर्त्तकत्वमप्यतिरुद्धमेव, इष्टतावच्छेदकप्रकारकप्रवृत्तिविषयविशेष्यक  
 ज्ञानत्वेन प्रवर्त्तकत्वात्, तादृशज्ञानत्रयस्य च स्वसवेदनज्ञानेऽप्यक्षतिरेवेति तत्प्रवर्त्तक  
 स्यादेवेति नोक्तदोष इति । ननु प्रत्यक्षविषयताया प्रत्यक्षजनकत्वाव्याप्यत्वनियमात् स्व  
 सवेदनपक्षेऽनुव्ययमायात्मकप्रत्यक्षजनकस्य व्यवसायस्य कथमनुव्यवसायात्मकप्रत्यक्ष



विषयत्वमिति चेत्, सदप्यसुन्दरम्, अतीतानागतार्थानामीश्वरमाधात्कारजनकत्वाऽभावेऽपि  
 तत्र तत्साक्षात्कारविषयत्वस्य सद्भावेनोक्तव्याप्तौ व्यभिचारात्, दोषविशेषजन्यसाक्षात्कार  
 विषयेऽप्येव व्यभिचारी दृष्टव्यः। उक्तव्यभिचारवारणाय दोषविशेषजन्यपत्त्यक्षविषयत्वं  
 यत्र तत्र प्रत्यक्षजनकत्वमिति व्याप्तिकरणे हेतुघटकप्रत्यक्षे उक्तविशेषणदानवत्त्वसत्वेन  
 ज्ञानभिन्नत्वविशेषणदानेऽपि दीयतां दृष्टिः, येन सर्वं समञ्जसं स्यात्। एतेनेन्द्रियसन्निकर्षो  
 त्पक्ष प्रत्यक्षमिति प्रत्यक्षलक्षणमात्रात् पूर्वं व्यवसायात्मकज्ञानेन सहन्द्रियसन्निकर्ष  
 स्याभावात्कथं तत्प्रत्यक्षमित्यपि निरस्तम्, चक्षुषः प्राप्यकारित्वाऽसिद्धेस्तस्याऽर्थेन सह  
 सन्निकर्षाभावाच्चाक्षुषसत्वेदने तस्य लक्षणस्याऽवष्टमानत्वेनाऽव्यापकत्वात्, तथाहि चक्षुर  
 प्राप्तार्थप्रकाशक अधिष्ठानाऽसम्बद्धार्थग्राहकेन्द्रियत्वात् मनोवदित्यनुमानेन चक्षुषोऽप्राप्तार्थ  
 प्रकाशकत्वे सिद्धे तस्यार्थेन सन्निकर्षाभावेऽपि प्रत्यक्षज्ञानोत्पादकत्वसिद्ध्योक्तलक्षणम  
 व्याप्तिदोषसचलितत्वाच्च युक्तम्, न च चक्षुषोऽसन्निकृष्टार्थप्रत्यक्षजनकत्वे प्रत्यक्षस्य प्रति  
 नियतविषयकत्व न स्यादिति स्वजनकसन्निकर्षाभयत्वं प्रत्यक्षविषयत्वे तत्र वाच्यमिति  
 चक्षुषोऽर्थेन सह सन्निकर्षः प्रत्यक्षविषयत्वप्रयोजकोऽवश्यमभ्युपगन्तव्य इति नीकलक्षण-  
 मव्यापकमिति वाच्यम्, तच्च प्रतिनियतविषयत्वे स्वावरणकर्मक्षयोपशमादिलक्षणयोग्यताया  
 एव तन्त्रत्वात्, तथा च प्रत्यक्षज्ञानस्य यद्विषयत्वाच्चच्छेदेन साऽऽविर्भूयति तद्विषयकत्वमेव  
 भवति, नान्यविषयकत्वम्, एव विषयस्यापि स्वानच्छेद्याविर्भूतावरणकर्मक्षयोपशमादिलक्ष-  
 णयोग्यताविशिष्ट जन्मसासम्बन्धेन यज्ज्ञानं तद्विषयत्वमेव, नान्यज्ञानविषयत्वमित्युक्तं  
 प्राक्। अत एव परीक्षज्ञानस्वार्थसन्निकर्षाद्यऽजन्यतया परेणाभिप्रेतस्य प्रतिनियतविषयकत्व-  
 व्यवस्थोपपत्तिस्मद्च्छेदे। एतेनार्थान्जन्यत्वे ज्ञानस्य कथं प्रतिकर्मव्यवस्था? तदुत्पत्तित  
 दाकारताम्पां हि सोपपद्यते, अर्थाऽनुत्पन्नस्यातदाकारस्य च ज्ञानस्य सर्वार्थान् प्रत्य  
 विशिष्टत्वादिति बौद्धमतमपि निरस्तम्, अर्थोत्पत्तिमन्तरेणाप्यारणक्षयोपशमलक्षणया  
 योग्यतयैव प्रतिनियतार्थप्रकाशकत्वोपपत्तेः, अर्थाद् ज्ञानोत्पत्तावपि च कारणीभूता तादृश  
 योग्यताऽऽवश्यमाश्रयणीया, अन्यथाऽशैषार्थसन्निकर्षेऽपि कृत्स्निदेवार्थात् कस्यचिदेव ज्ञानस्य  
 जन्मेति कौतस्तुतोऽयं विभाग इति। यदि च चक्षुषः प्राप्तार्थप्रकाशकत्व स्यात्तर्हि चक्षि-  
 खज्ञानार्थेन सह सयोगे तस्य दाहच्छेदापत्तिस्स्याद्, हस्तादेरिव, जलादिमयोगे च शीतत्व  
 स्यात्, ननु मुद्गुर्मुद्गुश्चर्यकिरणजलावलोकने दाहशैत्ये अपि मयत् एवेतीष्टापत्या तत्रश्चक्षुषः  
 प्राप्यकारित्वमेव सिद्धयतीति चेत्, मैवम्, यत्रश्चक्षुस्स्वयमुत्प्लत्यादित्यमण्डलादिसमाक्रान्त-  
 प्रदेश गत्वा समाश्लिष्य न रूप परिच्छिनत्ति, किन्तु रनिक्रियादिकमेव चक्षुर्देशमागच्छती  
 त्येतावन्मात्रेणैव दाहलक्षणोपघातोपपत्तेः, शीतलजल-घृत-चन्द्राद्यवलोकने तु "मणेऽत्र  
 अणुगद्द विष उवघायाभानओ सोम्भ" इत्युक्तेर्दाहलक्षणोपघाताभावात् एव शैत्यलक्षणानुग्रह  
 उपपत्तये इत्युपचरितस्यैव तस्य सद्भावाच्च। यच्च चक्षुर्देश स्वतः प्राप्तेन मूर्तिमता चन्द्र-

किरणेनेन्द्रनीलमणिकिरणेन च धस्तुगत्या क्षैत्य भवति, तदपि चक्षुषस्तत्र गमनाभावेन सम्बद्धार्थप्राहकत्वाभावाद् विषयदेशमप्राप्तेनापि तेन रूपपरिच्छेदोपपत्तेश्च न तद्द्रास्य कारित्वक्षतिमाचहति, यदि स्वत एव चक्षुरर्थेन सह सयुज्य तत्प्रत्यक्ष जनयेत्तर्हि चक्षुष स्सूर्यमरीचिदर्शनाद्रुपघातो यथा तथा करवालदर्शनादपि स स्यात्, न चैव भवतीति चक्षुर-प्राप्तार्थप्रत्यक्ष करोतीति मिदम् । तदिदमुक्त भाष्यकृता—“ लोअणमपत्तविसथ मणोह जमणुग्गहाइसुअत्ति । ” अनेन भाष्यगाथापूर्वाद्धेन लोचनमप्राप्तप्राप्तार्थविषयकबोधजनक प्राक्षवस्तुकृतानुग्रहोपघातशून्यत्वाद् मनोवदित्यनुमान प्रदर्शितम् । अत एवाग्रे “ गन्तु न रूपदेस पासइ ” इत्युक्तम् । अथ जाग्रदवस्थायां स्वप्नावस्थायां वा देहान्मनो निर्गत्य मेरुशिखरस्थानिनप्रतिमादिना ज्ञेयेन सश्लिष्यते, लोकेऽप्यनुभवविद्वभेत्, पञ्चस्तत्रापि वक्तारो वदन्ति—अमुत्र मे मनो गतमिति, अतो मनसः प्राप्यकारित्वान्मनोवदिति दृष्टान्तस्माप्यनिरुल इति, तदुक्त पूर्वपथमागुह्य भाष्ये—

“ गतु नेएण मणो मयज्झइ जग्गओ व सिमिणे या ।

सिद्धमिद लोपम्मि यि अमुगत्यगओ मणो मेत्ति ॥ २१३ ॥ ”

इति चेत्, उच्यते समाधिः—“ मनो न ज्ञेयेन सह सश्लिष्यते ज्ञेयकृतानुपरोपघाता-भावात् लोचनवत्, इतरथा तोयचन्दनादिचिन्तनकाले स्पर्शनन्द्रिपवन्मनोऽप्यनुग्रहेत्, दहन-विष-शस्त्रादिचिन्तनसमये च तद्देवोपहन्यत, न चैवम्, तस्माद्लोचनवदप्राप्यकार्येव मनः । अमुत्र मे मनो गतमिति तु भ्रान्तिरेव । उक्तञ्चोत्तरपदमाश्रित्य भाष्य—

“ नाणुग्गहो-वघापाभावाओ लोपण थ सो इहरा ।

तोय-जलणाइचिन्तणकाले जुञ्जेज्ज दोहिं पि ॥ २१४ ॥ ”

किञ्च मनस्तावद्विधा द्रव्यमनो भावमनश्चेति, तत्र कि द्रव्यमनो भावमनो वा मेयादिविषयसन्निधौ गच्छेत्, न तावद्वितीयविकल्पो युक्तः, भावमनसधिन्वाङ्गानपरिमाद्य रूपत्वाद्, तस्य च जीवादव्यतिरिक्तत्वाज्जीव एव भावमनो भवति, धीवात्मकभावमनश्च देहमाश्रय्यापित्वाच्च दहाद्दहिर्नि सरत् प्रमाणयोचरम् । परेहमाश्रयति न तस्य दहाद्-दहिर्निःसरणमुपपद्यते, तद्देवरूपादिवत्, देहमाश्रयति च जीवात्मकभावमनः, तस्मात्तन्न तद्दहिर्निस्सरति । उक्तञ्च भाष्ये—

“ दव्य भावमणो था वएज्ज जीवो थ होइ भावमणो ।

देहव्याचित्तणओ न देहघाहिं तओ सुओ ॥ २१५ ॥ ”

जीवस्य देहमाश्रय्यापित्वाच्च प्रागेव निर्णीतमिति । अथैव तर्हि द्रव्यमनो विषयदख प्रवतीत्यात्मकाद्यपक्षोऽस्तु, यतो वहिर्निर्गत द्रव्यमनः प्राप्य विषय परिच्छिन्नमिति, करणत्वात्, प्रदीप-मणि-चन्द्र-सूर्यादिप्रभावदिति — सोऽपि पक्षो न युक्तः, यतः करण द्विधा

भवति, शरीरगतमन्तःकरणम्, तद्वहिर्भूत बाह्यकरणञ्च, तत्रेदं द्रव्यमनोऽन्तःकरणमेवात्मनः, ततो यदन्तःकरणं तच्छरीरस्थमेव विषयं परिच्छिनत्ति, स्पर्शनवत्, अन्तःकरणञ्च द्रव्यमनः, प्रदीप-मणि-चन्द्रप्रभादिकं तु बाह्यकरणमात्मन इति साधनविकलो दूषान्तः । ननु शरीरस्थमपि मूर्त्तत्वेन सक्रियत्वात्पञ्चनालतन्तुन्यायेन तद्वहिर्निस्सरतु, कोऽत्र दोष इति चेत्, तर्हि स्पर्शनेन्द्रियादेरपि तद्वदेव बहिर्निर्गमनप्रसङ्गात्, तस्माद् यदन्तःकरणं तच्छरीराद्बहिर्निर्गच्छति स्पर्शनेन्द्रियादिवदित्यभ्युपगन्तव्यम्, युक्तञ्चैतत् अनन्तसयोर्माद्यःकल्पनलाघवात् । सुखदुःखादिसाक्षात्कारोऽपि न मनस्सयुक्तसमवायादिसन्निकर्षात्, येन मनसः प्राप्यकारित्वं स्यात्, समवायस्य पूर्वमेव निरासकरणात्, किन्तु मनस्सद्वृत्ततदावरणीयं कर्मक्षयोपशमलक्षणयोग्यतावशादेवेति । अभिहितञ्च भाष्ये—

“ अहं करणभावो तस्मिन् जीवो विधाणेज्जा ॥ २१७ ॥

करणत्तणो तणुसंठिण्ण जाणिज्ज फरिसण्ण व ।

एत्तोच्चिय हेज्जो न नीह चार्हि फरिसण्ण व ॥ २१८ ॥ ” इति

ननु जाग्रदवस्थायां मा भूत् मनसो विषयप्राप्तिः, स्वाभावस्थायां तु भवत्वसौ, अनुभवसिद्धत्वात्, तथाहि—“ अमुत्र मेरुशिखरादिगतजिनायतनादौ मदीयं मनो गतम् ” इति सुप्तैः स्वप्नेऽनुभूयत एवेति मनसः प्राप्यकारित्वमेवेति चेत्, मैवम्, उक्तानुभवस्य भ्रान्तिरूपत्वात्, वृत्ताकारतया भ्रम्यमाणालातचक्रानुभववत् तद्विषयस्याऽमत्यत्वात्, तथाहि—यथोल्मुक वृत्ताकारतयाऽऽशु भ्रम्यमाण भ्रान्तिरशादचक्रमपि चक्रतया प्रतिभासमानं न सत्यम्, अचक्ररूपताया एव तत्रावितथत्वात्, भ्रमणोपरमे स्वभावस्थस्य तथैव दर्शनात् । एव स्वप्नानुभवोपलब्धं मनोमेरुगमनादिकमपि वस्तु न सत्यम्, स्वप्नोपरमे तदभावात्, तदभावश्च जाग्रदवस्थायां देहस्थस्यैव मनसोऽनुभूयमानत्वादिति । ननु स्वप्नानुस्थायां मेर्वादौ गत्वा जाग्रदवस्थायां निवृत्तं तद्विषयतीति चेत्, मैवम्, यथा कदाचिदात्मीयं मनः स्वप्ने मेर्वादौ गतं कश्चित् पश्यति तथा कोऽपि शरीरमात्मानमपि नन्दनतरुकुसुमावचयादि कुर्वन्तं तद्वत् पश्यति, न च तत्तथैव, इह स्थितैस्सुप्तस्य तस्यात्रैव दर्शनात्, द्वयोर्विषयोर्द्वयोश्चात्मनोरसम्भवात्, कुसुमपरिमलाद्यध्वजनितपरिश्रमाद्यनुग्रहोपघाताभावाच्चेति । अभिहितञ्च—

“ सिमिणो न तहारूयो वभिचाराओ अलायचक व ।

वभिचारो य सदसणमुवघाया-णुग्गहाभावा ॥ २२४ ॥

इह पासुत्तो पेच्छहं सदेहमन्नत्थ, नय तओ तत्थ ।

न य तग्गयोवघाया-णुग्गहरूव विवुद्धस्स ॥ २२५ ॥ ”

अयम्भावः—स्वप्ने जिनस्नात्रदर्शनादिकं विज्ञानं स्वप्नानन्तरं जाग्रत्पुंसो हर्षादिकं चत्कलं भविष्यत्कलापेक्षया स्वप्नस्य निमित्तत्वञ्च तस्मात्स्वप्ननिमित्तादवश्यं भाविभविष्य-

स्फुल्लानुभवसिद्धत्वादिज्ञेयं निवारयितुं शक्यम्, किन्तु यदेव मनसो मेरुगमनक्रियादिकं  
 प्रत्यक्षं नोपपद्यते तदेव निषिध्यते, न त्वेतानि विज्ञानादीनि, प्रत्यक्षपक्षमात्रम् । न चैतै-  
 रभ्युपगतैरपि मनसः प्राप्यकारिता काचित्प्रतिपत्तिरिति । तदेव भावमनसो द्रव्यमनसश्च  
 बहिष्कारिताद्यभावादप्राप्यकार्यं मन इति मनोपदिशि दृष्टान्तो न साध्यविकल्प इति  
 सिद्धम् । नाप्युक्तदृष्टान्तो प्राप्तिस्तु कृत्वानुप्रदेशोत्पाद्युत्पन्नानुसिद्धता, यतो यदि मनसो  
 ज्ञेयेन सह सम्पर्कस्स्यात्तर्हि जल-ध्वजादिचिन्तनकाले विद्यमाननिवृत्तिरप्यादिदृष्टान्तानु-  
 प्रवेशः, बहिर्विषयकालादिचिन्तनकाले च दाह-स्फोट-पाटनादिलघुत्वेऽप्यत्र दृष्टान्तम् । न  
 च तौ भवतः, तन्मात्रं साधनविक्रान्तो मनोदृष्टान्त इति तस्मिन् दृष्टान्ते श्रुतीत्यादिभिर्ज्ञेयो  
 कहेतुना लोचनमप्राप्यकार्यं सिद्धयति । अथ चक्षुस्त्वैवस्त्वेन रश्मिमयत्वात्प्रत्यक्षं एव  
 निर्गत्य रविकिरणवत् तन्मयं समुज्य तत्प्रत्यक्षं प्रत्यक्षं, अनुसृतस्पर्शरश्मिगतत्वेन तेषां  
 बह्वादिबन्ध दाहजनकत्वम्, दाहप्रति चक्षुस्त्वैवस्त्वेनैव कारणत्वात्, न वा तेषां  
 तैजसत्वेन रविरश्मीनामिदं बह्वादिभिर्दृष्टान्तानुपपत्त्या इति सिद्धं चक्षुः प्राप्यकारित्व-  
 मिति चेत्, तदप्यनुसृतमेव, चक्षुस्त्वैवस्त्वेनैवसाधनमित्येव, न च चक्षुस्त्वैवस्त्वेन साधन-  
 मन्ते रूपस्यैवामिष्यञ्जकत्वात् प्रतीपवदित्यनुमानाद्यदिदिरिति वाच्यम्, रूपप्रत्यक्षजनके  
 चक्षुस्त्वैवस्त्वेनैवसाधनमात्रवत्पुनरेतन्निरवयवमिति वाच्यम्, रूपप्रत्यक्षजनके  
 वारणाय हेतौ द्रव्यत्वे मतीति विशेषणोपादानमपि न युक्तम्, भूमिनिर्दिष्टनिष्पादिप्रत्यक्ष  
 जनकाऽञ्जनादिना व्यभिचारत्वात् । ननु रूपस्यैवामिष्यञ्जकत्वमिदं रूपविषयकप्रमाणमह  
 प्रत्यक्षजनकत्वम्, अञ्जनादिना तु निष्पादिशास्त्रकारो न प्रमाणमह इत्यन्वयादौ प्रमा  
 यदित्येव हेतोरभावात् तत्र व्यभिचार इति चेत्, मैवम्, निष्पादिशास्त्रकारे प्रमाणस्य  
 तत्त्वादिप्रवृत्तिजनकत्वे हेतुना सिद्धेरुक्तहेतोरव्यभिचारित्वात् । एतेन रश्मिशास्त्रकाराऽप्युपादान  
 कारण तैजस रसाऽप्यञ्जकत्वे सति स्फटिकाद्यन्तरिक्षाद्युपादानवत्त्वजनकत्वात् प्रतीप-  
 वदित्यपि निरस्तम्, अञ्जनविशेषण व्यभिचारत्वात् । अजातनादिभिर्ज्ञेये मतीति हेतौ  
 विशेषणोपादानाद्योक्तव्यभिचार इति चेत्, तस्यैवप्रयोक्तव्योऽप्य हेतुः प्रत्यक्षाजनकमुपादानौ  
 मवदभ्युपगततैजसत्वात्प्राप्तौ तैजसेनातिप्रसक्तत्वात्, चक्षुः प्रतीपवोरुत्पात्तयाऽप्युपादान-  
 ज्ञापया रूपप्रत्यक्षप्रति कारणत्वात्मित्येव, तन्मिति चक्षुः चक्षुस्त्वेन प्रतीपस्य च प्रतीपत्वे  
 नैव कारणत्वाभ्युपगमात् । एतेन स्वप्नादिदृष्टानादिकं महत्त्वमनसैव निष्पादिशास्त्रकारा  
 तत्र च चक्षुःप्रत्यक्षोप इत्यतो निष्पादिकं चक्षुः साध्यान्तरोमीति ध्यान् एव प्रत्यक्ष  
 इत्युक्तानुमान नाञ्जनादिना व्यभिचारः, हेतौ प्रमेति विशेषणोक्तत्वे सति प्रमाणमहत्वात्  
 प्रत्यक्षाजनकत्वात्, तथा च इत्यादिनादिमित्येव मतीति विशेषणं न देयमित्यपि  
 निरस्तम्, व्यभिचारदृष्टान्तनिवृत्तकर्तृत्वात्साधनोपादानादिकहेतुः । न च

अभ्युपगन्तुमपि शक्यम्, अञ्जनादेः पृथक्प्रमाणत्वापत्तेः, मनो यदमाधारणं सहकारिकारणं  
 समामाद्य चर्हिर्गोचरां प्रमा जनयति तस्य प्रमाणान्तरत्वनियमात् । किञ्च स्वमिद्वान्तकदा  
 प्रहावेशेन चक्षुषि पूर्वोक्तहेतुना तेजस्वरस्य तेन च तत्र रश्मिपञ्चस्यस्याभ्युपगमेऽपि तद्रश्मयो  
 विषयदृश्य गताः किं गोलकेनाऽसम्बद्धाः प्रत्यक्षजनकत्वयाऽभ्युपगम्यन्ते, किं वा सम्बद्धाः,  
 आद्यपक्षेऽपि किं निखिला रश्मयस्तथाविधा उत कतिपये इति विकल्पद्वयम् । तत्र नाद्य  
 विकल्पो युक्तः, तथा सति चक्षुरपि निर्गत स्यात्, यतोऽशेषावयवानां देशान्तरगमने  
 तदविष्वग्भूतावयविनोऽपि तथात्वमेव युक्तियुक्तम्, तथा च चक्षुर्विहीनस्य गोलकस्य  
 निस्तेजस्वात्पुरुषाणामन्धत्वप्रमद्गत्स्यात् । किञ्च वस्तुनि नेत्रामिमुखे सत्यपि नेत्रदोषाद्  
 यदेव पुराऽस्पष्टत्वेनाऽवमासते अञ्जनादिभिर्नेत्रनसस्कारे तदेवेदानीं यथाऽवस्थितस्वरूपेण  
 स्पष्ट प्रकाशते इत्यविमानेन सर्वैरेवानुभूयते, गोलक निहितोऽञ्जनादिसस्काराश्चक्षुःशब्द  
 वाच्यत्वेनाभ्युपगतानां गोलकस्यनेत्ररश्मीनामुपकार करोतीति तव युज्येत, सामस्त्येन  
 विषयदृश्यस्थितानां तेषां प्रत्यक्षजनकत्वाभ्युपगमे तु तेषामेवाञ्जनादिना सस्कार उपयोगिता  
 मातर्हेत्, ते च रश्मयो गोलकाऽस्युक्ता इति तदनधिष्ठानस्य गोलकस्य प्रत्यक्षाजनक  
 त्वात्तत्राञ्जनादिना सस्कारस्य नैरर्थक्यमेव स्यात्, तथैव पक्षमपुटोन्मीलनस्यापि निरर्थक-  
 स्वमूहम् । यथा घटानपनकारणतनुसम्बद्धहस्ते आनपनकार्याक्षमत्वापनोदाय तत्र सस्कारो  
 विधीयमानस्माकल्पमनुभवति, न च छिन्नत्वेनासम्बद्धे तदवयवे । अथ पूर्वं रश्मीनां नेत्र  
 स्थत्वेन तत्राञ्जनादिसस्कारपक्षमपुटोन्मीलनयोस्तद्विप्रयोजकत्वेन नापार्थक्यमिति चेत्,  
 स्यादतद्रश्मीनां गोलकसम्बद्धत्वपक्षे, असम्बद्धत्वपक्षे तु न गोलकस्य कश्चिद्विशेषः ।  
 अथ तत्र गतानां रश्मीनां गोलके पुनरावर्चनाभ्युपगमेन नोक्तदोष इति चेत्, मैवम्,  
 आद्यर्चमानानामपि तेषां गोलकासम्बद्धत्वेऽन्धत्वनप्रमद्गस्य वारयितुमशक्यत्वात् । गोलक  
 सम्बद्धत्वे च तैर्गोलकानुपक्तकामलादिप्रत्यक्षापत्तिस्स्यात् । तदव खड्गघारासमानस्वच्छ  
 तरपुद्गलसमूहात्मकाऽभ्यन्तरनिर्घृत्तीन्द्रियगतोपकरणेन्द्रियारूपशक्तियोगितया चक्षुस्पस्तत्त  
 द्विषयकज्ञानारणीयकर्मक्षयोपशमसहकृतस्य विषयमप्राप्तत्वाऽपि प्रत्यक्षजनकत्वसम्भवे  
 तेजसचक्षुःकल्पनमप्यनर्थकमेव । नन्वेव तर्हि दूर्वादिनां मेवादीनामपि किमिति न  
 प्रत्यक्षमिति चेत्, उच्यते, यस्मिन् पदार्थे ज्ञानारणकर्मक्षयोपशमलक्षणतद्गृहणयोग्यत्व  
 तस्यैव प्रत्यक्ष भवतीत्युक्तयोग्यत्वाभावादेवेति जानीहि । अथैतद्दोषमयादाद्यपक्षोक्त-  
 द्वितीयविकल्पपक्ष एवाधीयत इति चेत्, तदपि न मनोरथ पूरयितुं पारयति, यतो  
 यावन्तो रश्मयो विषयसम्बन्धभाजस्तावन्तः पूर्वमपि गोलकेनाऽसम्बद्धा एवेति गोलक-  
 स्याञ्जनादिनोपकारे तत्रस्थरश्मय एवोपचरताः, न तु विषयसम्बन्धभाज इति तदीयाऽ  
 नुपकृतस्वभावस्य पूर्वतदविचलितस्य सत्त्वे सति न कश्चिदञ्जनादिना विशेषः । किञ्च  
 तेऽवयवा रश्मयो यदि गोलकसस्कारदिमभ्यस्पर्शत्वाऽस्युक्ता एव तदा चक्षुषोऽपि नाश

आपतितः, तेषां वा तदवयवत्वाभावात्, न ह्यवयविनः पदार्थस्यैकत्र स्थितस्यावयवानां  
 खण्डीभूयास्युक्तत्वेन परत्र गमने तस्य स्वरूपावस्थान केनाप्यभ्युपगम्यते, न हि  
 पटावयवकपालस्य परदेशगमने घटस्य स्वरूपावस्थान पामरा अपि प्रतीयन्तीति ।  
 ननु तर्हि यथा महस्रांशुरश्मयो, प्रदीपरश्मयो वा तत्सम्पदा विषयदेश गत्वा प्रकाशन्ते  
 तथा नपनरश्मयोऽपीत्यर्थको द्वितीयपथ एवोत्सीक्रियते इति तेषां तत्तद्विषय प्रति गमनस्य  
 तत्तदर्थप्रकाशकत्वस्य चान्यथाऽनुपपत्त्याऽभ्युपगम्यमानस्य पक्षमप्युत्प्रेक्ष्यते न च गोत-  
 क्तव्येति तदुपमयार्थत्वेन न वैपर्ययमिति चेत्, तदपि त्रयापात्रम्, तेषां गोलकानुपकृतिरि-  
 रोगावयविनः प्रकाशकत्वापत्तेः, यतो न हि प्रदीपरश्मीनां स्वाधिष्ठानसंप्रकृत्याकाश-  
 प्रकाशकस्य काचकूपिकान्तर्गतानां प्रदीपरश्मीनां ततो निर्गच्छतां काचकूपिकान्मन्वद्वार्ध-  
 प्रकाशाजनकत्व च घटम् । अथाधिष्ठानापेक्षयाऽत्यन्तामत्यभावस्यापि कारणशोभते  
 इति चेत्, तर्हि गोलकमन्वदाजनशलाकाया अत्रावच्छेदेनाप्यनुपपन्नविद्यमानमन्वदा-  
 यदशेन तस्यास्तत्र समर्गस्तदवच्छेदेनैवाप्रत्ययत्वम्, गोलकदेशावच्छेदेनैवाजनकत्व-  
 संसर्गस्य तत्प्रत्ययत्वमिति प्रतिबन्धकत्वादिति चेत्, मैत्रम्, प्रत्ययप्रतिबन्धकत्व-  
 स्वयोरैकस्मिन् घटुनि विरुद्धयोरपि भिन्नभिन्नदेशावच्छेदेनारिषे मन्वापादेऽप्येव-  
 योरभ्युपगमे तद्वर्धमेदेन कथञ्चित्तद्विषयमिणोऽपि भिन्नस्य स्वरूपत्वमर्थ-  
 स्यादिति मनतामपि स्वादादाधृत्तरसादादप्रमद्वम्पात्, स्वादादन्वद्वैरिति तदवयव-  
 पगमात् । किञ्च चतुरश्रीनामुदीनीमप्रति गमने तद्विषयस्त्विद्वद्वदशवर्षयोः यथा  
 तत्प्रत्यय तथा तद्विषयत्तिकाञ्चनाचलोपलम्भोऽपि स्यात्, उमान्यां तन्त्रेणोपा-  
 दूरत्वदोषस्य तद्विषयत्वप्रतिबन्धकत्वे च निश्चाकरस्याप्यत्रत्यस्य स्यात् । अथ प्रथमा-  
 धुमिनेत्ररश्मीनां बुद्धिमावाचस्य तेषां गमनेन तत्संयोगात् प्रत्ययमिति चेत्, तर्हि त्रिम-  
 धुमिरपि तद्विषयबुद्धिमावाचविशेषात्तैरप्यभिबुद्धानां तेषां सुरादि प्रत्ययमिर्गनात् कथं न  
 तत्प्रत्यय स्यात् । अथ रविकिराणां त्रिमत्वेन नेत्ररश्मीनां प्रतिपातकत्वात् तैरश्मि-  
 रतो नोक्तदोष इति चेत्, तर्हि महस्रांशुद्विराजवाच्यवाचानुत्तममत्राद्गत्वात्,  
 यतो न हि रविकिरणेषु काञ्चनाचलापेक्षया नेत्ररश्मिप्रतिपात-  
 भावश्चेति उक्तं शक्यम्, शक्यत्वे वा स्वादादत्यैव सामान्ये स्यात् । अथ यथासाध्यं  
 प्रकाशक चतुर्धर्मप्राप्तत्वाऽविशेषात् सर्वमपि विद्यमानान्वर्तितवस्तुनिहृत्स्य प्रकाशतेदिति  
 चेत्, तदप्यत्रतम्, चतुर्वी योग्यार्थग्रहणसामान्यात् यत्तदयोग्य तदवयव न प्रकाश-  
 नात्, अन्यथा चतुरस्रपुक्तमवायवमिहृत्तं यथा कृतवस्तुत्वे तथा तद्व्येऽपीति यथा-  
 षोडशप्रसङ्गेनापेन्द्रियाणां वैपर्ययं स्यात् । एतेन चतुर्वी विषयमप्यप्रत्ययकत्व-  
 म्युपगमे कृत्यादिव्यतिशयापि प्रत्यय म्पदित्पि रिरस्यत्, रिरपिण्युपवयवा-  
 ऽभावकूपयोग्यताया अपि अत्रावच्छेदेनाप्यनुपपन्नविद्यमानमन्वदा-

अज्ञानादिजन्यव्यवहितार्थचाक्षुषप्रत्यक्षम्प्रति चाज्ञानादिनिष्ठैव शक्तिलक्षणा योग्यता कारणमिति । किञ्च चक्षुरस्मीनां प्राप्तार्थप्रकाशरूपाभ्युपगमे भित्त्यादेरिव स्फटिकादेरपि नेत्ररश्मिगतिप्रतिबन्धकत्वेन तद्व्यवहितार्थानामप्यनुपलब्धिस्स्यात् । यदि च स्फटिकादेरिति स्वच्छत्वात् नान्यत्ररश्मिगतिप्रतिबन्धकत्वमिति विभाव्यते, तदा प्राप्यकारित्वपक्षे तद्विशिष्टगतिजन्यविभागपूर्वसयोगनाशोत्तरदेशसयोगादिकल्पनाया गौरवाह्लाषवाद्याक्षुषज्ञानाऽप्रतिबन्धकत्वमेव स्फटिकादेः कल्प्यताम्, एव भित्त्यादेरपि तद्विशिष्टगतिप्रतिबन्धकत्वापेक्षया लाघवाद्याक्षुषप्रत्यक्ष प्रत्येव प्रतिबन्धकत्वं कल्पनीयम्, एतेन चक्षुः प्राप्तार्थपरिच्छेदक व्यवहितार्थाऽप्रकाशकत्वात्, यद् यद् व्यवहितार्थाऽप्रकाशक तत्तन्नाप्राप्तार्थपरिच्छेदकम्, यथा प्रदीपः, व्यवहितार्थाऽप्रकाशकश्च चक्षुः, तस्मात् प्राप्तार्थपरिच्छेदकमिति व्योमशिवमममपि निरस्तम्, व्यवहितार्थाऽप्रकाशकत्वहेतुसिद्ध्यर्थं व्यवहितार्थाऽप्रकाशकत्वं चक्षुषः कथमिति कथताप्रश्ने तदुत्तरतया व्यवधानस्य नेत्ररश्मिगतिप्रतिबन्धकत्ववाच्य स्यात् कथमन्यथा व्यवहितार्थप्रत्यक्षं न स्यात् । एवञ्च मति व्यवहितार्थाऽप्रत्यक्षस्याऽव्यवहितार्थप्रत्यक्षस्य चोपपत्तये व्यवधानस्य चाक्षुषज्ञानप्रतिबन्धकत्वं तदभावकूटस्य च चाक्षुषज्ञानकारणत्वमेव अभ्युपगम्यताम्, येन श्लिष्टकल्पना परिहृता स्यात्, तयोः प्रतिबन्धप्रतिबन्धकभावस्त्वेवम्-स्वप्राचीस्थपुरुषस्य त्रिपयतासम्बन्धेन घटादिचाक्षुषप्रत्यक्षम्प्रति स्वप्रतीचीवृत्तित्वसम्बन्धेन भित्त्यादीनां प्रतिबन्धकत्वम्, एव स्वप्रतीचीस्थपुरुषीयघटादिसाक्षात्कारम्प्रति स्वप्राचीवृत्तित्वसम्बन्धेन तेषां तत्त्वम्, तथा स्वोदीचीस्थपुरुषीयघटादिसाक्षात्कारम्प्रति स्वदक्षिणवृत्तिरश्मिसम्बन्धेन तेषां तत्त्वम्, यदि च तद्व्यवहितार्थादिक्रियातत्तदुत्तरदेशादीनामेव सयोगनिषामकत्वेनानतिप्रसङ्गाद्विच्ययादीनां प्रतिबन्धकत्वमिति मतं तदापि तत्तन्नयनोन्मीलनस्य चाक्षुषज्ञान प्रति परम्पराकारणत्वकल्पनापेक्षया “तस्य हेतुत्वापेक्षया तद्वेतोरेव हेतुत्वम्” इति न्यायेन लाघवाद्याक्षुषज्ञान प्रति तस्य साक्षात्कारणत्वकल्पनमेव ज्ञाय’, किमनन्तसयोगादिकल्पनया । एतेनेन्द्रियसन्निकर्षजन्य ज्ञान प्रत्यक्षमिति स्वसिद्धान्तमिदमामान्यलक्षणाऽनुगमाऽनुरोधेन प्रत्यक्षत्वावच्छिन्नम्प्रति इन्द्रियसन्निकर्षत्वेनेन्द्रियसन्निकर्षस्य कारणत्वं ‘यत्तमामान्ययोः कार्यकारणभावस्तद्विशेषयोरपि साः’ इति न्यायावलम्बनेन चाक्षुषप्रत्यक्षप्रत्यनन्तसयोगानां चक्षुस्सयोगत्वेनानुगमस्य तद्व्यवधानुगत कारणत्वश्चाभ्युपगम्यत इति तदुत्तरकालमात्रिगौरव फलपूर्वं न दोषाय, तदुक्त चिन्तामणिकारेण, “प्रत्यक्षविशेषे इन्द्रियार्थमन्निकर्षविशेषो हेतुरनुगत एव” इत्यपि निरस्तम्, प्रत्यक्षसिद्धसामीप्यसम्बन्धेनैव चाक्षुषप्रत्यक्षोपपत्तेरतीन्द्रियसयोगकल्पनानायां प्रमाणाभावात्, कार्यलिङ्गकेन कारणानुमानेन तत्सिद्ध्यभ्युपगमे वोक्तसम्बन्धेन तस्यान्यथासिद्धत्वात् । न चैव तर्हि चक्षुरप्राप्यविषय तत्प्रत्यक्षज्ञानकारीति स्वसिद्धान्तमङ्गप्रसङ्ग इति वाच्यम् चक्षुस्सन्निकर्षद्वारा प्रत्यक्षजनकमिति चक्षुस्स्वविषयं घटादिक

सयुज्य तत्प्रत्यक्ष करोतीति न्यायमतनिराम एवोक्तसिद्धान्तस्य तात्पर्यात् । किञ्च चक्षु  
रश्मीनां विषयैस्मह सयोगानन्तर तत्प्रत्यक्षोत्पादकत्वाभ्युपगमे युगपदेव शाखानिशाकरयोः  
प्रत्यक्ष न स्वात्, युगपदुभयसयोगामावात् । अथ यद्यपि चक्षुरश्मीनामतिवेगाच्छाखासयोगा-  
नन्तरमपिलम्बेनैव शीतकरसयोगादनुक्रमेणैव शाखायाश्चन्द्रमसश्च साक्षात्कारस्तथापि शत  
पत्रशुचीवेद्यद्वयान्तबलेन तत्र यौगपद्याभिमान एवेति चेत्, तर्हि प्रथमे क्षणे शाखासयोगः,  
द्वितीये च शाखानिर्विकल्पश्चन्द्रमससयोगश्च, तृतीये शाखानविकल्पज्ञान चन्द्रमोनिर्विकल्प  
ज्ञानश्च, चतुर्थे शाखाज्ञानज्ञानतत्रनिर्विकल्पज्ञान चन्द्रमसविकल्पज्ञानश्च, शाखानिर्विकल्प-  
ज्ञाननाशश्च, पञ्चमे शाखा साक्षात्करोमीत्यनुष्ययसायज्ञान, चन्द्रज्ञानज्ञानस्वनिर्विकल्पज्ञान,  
शाखासविकल्पज्ञाननाशश्च, चन्द्रनिर्विकल्पज्ञाननाशश्च, षष्ठ्युणे चन्द्रमस साक्षात्करोमीत्यनु  
व्यवसायश्चन्द्रसविकल्पज्ञाननाशश्चाशाखाज्ञानतत्रनिर्विकल्पज्ञाननाशश्चेति प्रक्रियया क्रमेणैव तद्  
भयानुष्यवमायोत्पत्त्यभ्युपगमाद् युगपदेव शाखाचन्द्रमसौ साक्षात्करोमीत्यनुष्यवमायानु  
पपत्तिस्स्यात् । न च क्रमिकोत्पन्नशाखाचन्द्रसाक्षात्कारानुभवजनितक्रमिकसंस्कारद्वयस्य  
युगपदेव प्रयोधात्तदुत्पन्नाया शाखाचन्द्रोभयानगाहिन्यां स्मृतावेव साक्षात्कारत्वरोपाच्छा  
खाचन्द्रमसौ युगपदेव साक्षात्करोमीत्यनुष्यवमाय इति माम्प्रतम्, तादृगारोपादिकल्पनायां  
प्रमाणामावात् । न च तिर्यग्भावात्स्थितयोश्शाखाचन्द्रमसोर्युगपत्त्रयेत्रतेजसा सयोगान्नोक्ता  
नुपपत्तिरिति वाच्यम्, मन्दिहितव्यवहितयोर्युगपत्सयोगेऽतिप्रमङ्गात् । अथ नेत्राद्वह्निर्निर्गत  
तेजसाऽर्धसयोगमकालमेव बाह्यलोकरुमहकारेणान्यचक्षुरारम्भादेवस्य चक्षुषश्शाखायाऽन्यस्य  
च चन्द्रमसा सयोगाद् युगपच्छाखाचन्द्रमसोर्ग्रह इति चेत्, मैत्रम्, उद्भूतरूपवदालोकात्मक  
तेजःससर्गेणाऽनुद्भूतरूपत्वेनोपशेषात्मकचक्षुराऽऽरम्भस्यायोगात्, योगे वा बाह्यचक्षुषा  
पृष्ठावस्थितवस्तुग्रहप्रसङ्गादित्यधिक गौरवमीत्या नोच्यते । तद्व चक्षुर्मनसोः प्राप्पकारित्वा  
ऽसिद्धया इन्द्रियसन्निकर्षोत्पन्न ज्ञानमिति प्रत्यक्षलक्षणाऽमङ्गतेः पूर्वं व्यवसायात्मकज्ञानेन  
सह मनस्मयुक्तसमवायसन्निकर्षस्याभावेऽपि ज्ञानस्य स्वप्रकाशात्मकत्वादेवानुष्यवमाये  
मानोपपत्तेस्तत्प्रत्यक्ष भवत्येवेति स्वपरव्ययसायिज्ञान प्रमाणमिति सिद्धम् । अत एव  
ज्ञानाकरणक ज्ञान प्रत्यक्षमिति प्रत्यक्षलक्षणमपि न युक्तम्, ज्ञायमानलिङ्गस्यैवानुमित्ति-  
करणत्वमित्यभ्युपगन्त्वाऽननैयायिरुमतेऽनुमितेरपि ज्ञानाकरणत्वात्तत्रातिष्याप्तेः ।  
किञ्चोपयोगात्मकमात्मव्यापारमन्तरेण कस्या अपि स्वपरव्ययमितेरभावात् न एव तत्र  
प्रमाणम्, व्यापारीभूतोपयोगलक्षण तदपि स्वार्थव्यवसितिकलात् सर्वथा व्यतिरिक्तम्,  
किन्तु कथञ्चित्, एतच्च निवेद्यव्ययते, तथा च स्वपरार्थविषयकप्रत्यक्षप्रमाणमात्रस्यापि  
ज्ञानकरणरुत्वाद्दुक्तलक्षणममम्भयदोषप्रस्तत्वाद्दुपेक्षणीयमेवेति । एतेनार्थोपलब्धिहेतुः प्रमा  
णमिति प्रमाणलक्षणमाचक्षत वाचस्पतिमिश्रा इत्यपि निरस्तम्, यत् इन्द्रिय सन्निकर्षो  
वा साक्षाद्दुपलब्धौ फले व्याप्तिवते, न तु प्रमाता, तस्य कर्तृत्वात्, न वा प्रमेय, यतः



तस्य प्रत्यक्षादन्यत्रोपलब्धौ हेतुत्वमेव नास्ति, प्रमाणविषयमात्रेणोपयुज्यमानत्वादिति यद्वान्द्रियादिकं तत्सन्निकर्षादिकं वा माक्षादर्थोपलब्धौ हेतुरिति तदेव द्रष्टुमदर्शिनोऽस्य मते प्रमाण, तर्हि स्वपरव्यवसायिज्ञानमेव प्रमाणतयाऽभ्युपगन्तुमुचितम्, यथार्थपरिच्छेदफलस्य माक्षात्त एव भावात्, यथा च ज्ञानरूपादपि प्रमाणात्तत्फल स्वर्यव्यवसित्यात्मकं कथञ्चिद्भिन्नं तथा निर्णयिष्यते । “अव्यभिचारिणीममन्द्रिग्धामर्योपलब्धिं विदधती बोधाबोधस्वभावा सामग्री प्रमाणम्, बोधाबोधस्वभावा हि तस्य स्वरूपम्, अव्यभिचारादिविशेषणार्थोपलब्धिसाधनत्व लक्षणम्” इति न्यायमज्जयं जरनैयायिकचपन्तमद्वोक्तमपि लक्षणं युक्तियुक्तम्, यतस्तसामग्री कारकमाकलयरूपा, कारकमाकलयस्य चाबोधस्वभावस्याज्ञानरूपत्वेन स्वरव्यवसायिज्ञानफलोत्पादने साधकतमत्वामात्रात् प्रमाणत्वम्, किञ्चार्थप्रमितिफलं प्रति नाऽव्यवधानेन सामग्री प्रमाणम्, उपयोगरूपमात्रेन्द्रियस्वभावज्ञानेन तस्या व्यवधानात्, नाप्यव्यवहितव्यापारत्वेन साधकतमत्वाज्ज्ञानं प्रमाणं तदेतत्प्राप्तुं सामग्र्यपि प्रमाणमित्येव स्वरूपव्यवधानेन, तथा सति सा प्रधानं प्रमाणं न स्यात्, औपचारिकं तु तद् को नाम प्रामाणिको नाम्युपैति । एव सकलानां कारकाणां साधारणासाधारणस्वभावानां साकल्यस्य परिममाप्या सर्वत्र वर्तमानस्य कथं साधकतमत्वमित्यपि विचारणार्हं सुबुद्धिधनैः । अयोपात्तविषयाणामिन्द्रियाणां वृत्तौ मत्या बुद्धेस्तमोऽमिमवे सति यः सत्त्वसमुद्रेकः सोऽध्यवसाय इति वृत्तिरिति ज्ञानमिति चारुष्यापते, बुद्धिवृत्तिरेव च पुरुषमुपरज्जयन्ती प्रमाणम्, तदुपरक्तो हि पुरुषः प्रतिनियतत्रिपयद्रष्टा सम्पद्यत इति साह्यमवतमपि न च चिद्रूपा हृदयङ्गमम्, तथाऽभ्युपगमे यो हि महान् जानाति बुद्धयतेऽध्यवस्यति न तस्यार्थदर्शनात्मकं तत्फलम्, अचेतनत्वान्महत्, यस्य च पुसोऽर्थदर्शनं न स जानाति न बुद्धयते नाध्यवस्यति, तथा च ज्ञानादिधर्मयोगः प्रमाणं पुमि न विद्यते, किन्तु बुद्धौ, तत्फलमर्थदर्शनं च बुद्धौ न वर्तते, किन्तु पुरुष इति मिन्नाधिकरणत्व प्रमाणफलयोः प्राप्तम्, न च तद् प्रमाणगोचरचारि । अथ सञ्चलतया पुमि बुद्धिवृत्त्यनुपातिनि बुद्धिधर्माऽध्यारोपाद् ज्ञानादिधर्मयोगोऽपि तत्र विद्यत इत्यर्थद्वैतैव पुमान् ज्ञाता । बुद्धावपि चेतनाकारसत्पेशलक्ष्यमाणायामिव पुरुषधर्माध्यारोपात् साप्यर्थदर्शनफलवतीति न मिन्नाधिकरणत्वदोष इति चेत्, तर्हि स्ववाचैव मिथ्यात्व रूपापित स्यात्, चिद्धर्मो हि बुद्धौ मिथ्या, बुद्धिधर्मश्च चिति मृपेत्यभ्युपगमात्, माह्यथमतश्च निखिल पूर्वमेव निरस्तम्, निरस्यते चेति नात्राधिकं विव्रियते । यदप्यनधिगतार्थोवगाहिज्ञानं प्रमाणमित्यभिधीयते भीमासकैः, तदपि न साम्प्रतम्, प्रमाणस्य गृहीततदितरविषयप्रवृत्तस्य प्रामाण्ये विशेषाभावात् ।

ननु गृहीतविषये प्रवृत्तं प्रमाणं किं कुर्यादिति चेत्, उच्यते, तद्विषयेऽभ्यासपाटवेन हृदयनिश्चयारम्भप्रमाणान्तरोत्पत्त्या संस्कारदृढीकरणमेवेति, तत्फलं किमिति चेत्, प्रवृत्तिनिश्चयादिकमेव, चन्दनघनसारहारमहिलादाबुपादेये पुनः पुनरुपलभ्यमाने प्रीत्यतिशय

लक्षणसंस्कारमहिम्ना प्रवृत्तिः, ह्ये विपथरक्षणकादौ विषये पुनः पुनः परिहृश्यमाने मनः सन्तापात्मकद्वेषसंस्कारवशात्प्रवृत्तिः, शास्त्रीयविषये बन्धादौ निवृत्तिः, सवरादौ च प्रवृत्ति स्तसवेदनसिद्धैवानुभूयते, तथाऽनभ्युपगमे धाराणाहिकज्ञानमप्यप्रमाणं स्यात्, तस्याधिगतार्थाधिगतत्वात् । एव प्रत्यभिज्ञानमप्यप्रमाणं स्यात्, स्याद्य प्रत्यक्षाधिगतस्याप्यर्थस्य सिषाधविषया तार्किकैः क्रियमाणाऽनुमितिस्त्वप्रमाणम् । तस्मादनधिगतार्थग्राहित्वे त्यज्यतामाग्रह' । अथैव तर्हि स्मृतेरपि प्रामाण्यं स्यादिति चेत्, भवतु नाम प्रत्यभिज्ञानवचत्रापि स्वपरव्यवसायित्वात् प्रामाण्यम्, का नाम नः धृतिः, जिनाऽनुभूयैश्च स्वीकृतत्वात् । उक्तञ्च स्याद्वादरत्नाकरे—

“अधाधिगतगन्तृत्वे, प्रामाण्यं स्यात् स्मृतेरपि ।

यदि स्यात् किं तदा जात, क्षुण्ण जैनेन्द्रशासनं ॥ १ ॥” इति

अथ प्रत्यभिज्ञाने इदानीन्तनाऽस्तित्त्वं प्रमेयमधिकं प्रतिभामत इति न तद्दृष्टान्तबलात्स्मृतेः प्रामाण्यमभ्युपगन्तुं युक्तमिति चेत्, मैत्रम्, स्मृताऽप्यतीतकालोपलक्षितार्थस्याधिकस्य प्रतिभासनात् । न चानर्थजन्यत्वादपि तस्या अप्रामाण्यम्, तस्याऽप्रामाण्यप्रत्यप्रयोजकत्वात्, अन्यथा घनाघनघनाहम्बरलिङ्गेन पृथिघर्मिणि मत्रिष्यस्वस्यानुमानमप्यप्रमाणं स्यात्, तद्विषयीभूतस्य भविष्यस्वस्येदानींमसद्रूपत्वात्, एव करीपदर्शनोद्बुद्धधूमस्मरणेनातीतवह्नयनुमानमप्यप्रमाणं स्यात्, अतीतवह्नेस्त्वदानींममाणात्, तदेव भीर्मां-काम्युपगतप्रमाणसामान्यलक्षणमपि न मङ्गत्पदमिति । यद्य चोद्धा' पुनरविमवादकत्वप्रमाणसामान्यलक्षणमाचक्षते, तदुक्तं प्रमाणवार्तिके—“प्रमाणमविमवादिज्ञानम्” २-१ इति, तत्र ह्यनेऽत्रिसनादकव यथावगतार्थप्रापकत्वलक्षणम्, अत एव “प्रापणशक्तिः प्रामाण्यम्” इत्युक्तमिति, तदप्यस्त्रीलम्, यतो नीलनिर्विकल्पज्ञानावगत नीलस्वलक्षणम्, न च तत्प्राप्यते, तस्य क्षणिकत्वेन प्रवृत्तिकालेऽतिक्रान्तस्वरूपतया तदमानात्, अथ “यत्रैव जनयेदेनां तत्रैवास्य प्रमाणता” इत्युक्तेर्नीलनिर्विकल्पज्ञान नीलाये नील नीलमिति विकल्पोत्पादक'नात्तदशे प्रमाणम्, उक्तविकल्पद्वारा नीलार्थप्रापकत्वात् । तद्गृहीते क्षणिकत्वादि श्व तद्विरूपानुत्पादकत्वादप्रमाणं, स्यैवैऽप्यप्रमाणम्, विपरीताऽमायकलुषितत्वादिति, चेत्, यद्येव मन्यते, तर्हि सुतरामिदं प्रमाणलक्षणं दुःस्थम्, यतोऽस्मिन् प्रक्रमे विकल्पो न स्वलक्षणविषयः, किन्तु तत्सन्तानावगाहित्वेन तदव्ययमायरूप इति सोऽर्थ-प्रापण प्रति प्रमाणस्य व्यापार इति वर्णितवानसि, तद्य न युक्तम्, यतो यथा तत्त्व न तथाव्यवसायः, यथाऽव्यवसायो न तथा तत्त्वमिति यथा मरीचिस्वलक्षणदर्शनमुदकाप्यवसायजननादप्रमाणमेव स्वलक्षणदर्शनमपि तद्विपरीतसन्तानाव्यवसायजननादप्रमाणी-भवेदिति । त्रिश्च स'ताने कालविकेऽव्यवसिते सति दृश्याभिमुखः किमिति प्रवर्तते,

निर्विकल्पविकल्पयोरथयोरेकत्वात्परसायादिति चेत्, तर्हि मुख्यध्वन्या स्वयं निर्विकल्प-  
 ज्ञान नार्थक्रियार्थिनां तत्समर्थेऽर्थे सवादिप्रवृत्तिजनकत्वेनाविस्वादाक प्रमाणम्, किन्तु  
 व्यवहारोपयुक्तोक्ताध्यवसायद्वारेवेत्युपचरित तस्य प्रामाण्य स्यात्, तस्मादनुपचरितमवि-  
 सवादाकत्वं प्रमाणस्य लक्षणमिच्छद्भिः परीक्षैर्ब्यवहारार्थमेव प्रमाणान्वेषण क्रियत इति  
 तद्वेतोनिर्विकल्पोचरकालमात्रिनो निश्चयात्मकविकल्पस्यैत्र प्रामाण्यमभ्युपगमन्तव्यम्, न तु  
 निर्विकल्पज्ञानस्य, तस्य साक्षाद्ब्यवहाराऽप्रवर्त्तकत्वेन शिखण्डिकल्पत्वात् । एव हि परम्परा-  
 परिश्रमः परिहृतो भवति, सन्तानस्याप्रभूतत्वेन तद्विषयकत्वाद्रिकल्पस्याप्रामाण्ये कथं  
 तन्निमित्तो व्यवहारोऽविस्वादी ? । अथ यस्मिन् स्वलक्षणभूतेऽर्थे यत्निर्विकल्पज्ञानं सज्जात  
 तन्मूलकात्तत्सन्तानत्रिपयकविकल्पात्प्रवृत्तौ मूलभूतवस्तुसन्तानीयार्थप्राप्त्या व्यवहारोऽवि-  
 सवादीति चेत्, स्यादेतत् सन्तानसिद्धौ, न च तत्सिद्ध, भेदाभेदविकल्पाभ्यामनुपपद्यमा-  
 नत्वात्, तच्च प्रागेवोक्त क्षणिकप्रक्रियानिरासे । तदेव बौद्धाभ्युपगतप्रमाणलक्षणमपि न युक्ति-  
 युक्तमिति सिद्धम् । एतेन बाह्यार्थाऽभावेन तदालम्बनाभावाच्चिरालम्बनमेव ज्ञान प्रमाणमिति  
 स्वसवेदनज्ञानाद्वैतवादियोगाचारारूपबौद्धमतमपि निरस्तम्, इदं नीलमिति ज्ञानरज्ज्वान  
 नीलमित्यपि प्रतीतिप्रसङ्गस्स्यात् । कथं च बाह्यार्थाऽस्तत्त्वे प्रतीतौ तदुल्लेखोऽपि स्यात्, वासनाऽ-  
 भ्यामादिति चेत्, मैवम्, अर्थमन्तरेण वासनाया अप्यनुपपत्तेः, अर्थानुभवसमाहितो हि सस्कारो  
 वासना कथ्यते, सा कथमसदर्थप्रतिभासहेतुस्स्यात् । भवतु वाऽप्यादृशा वासना भवद्भ्यु-  
 पगता तथापि सा बाह्यार्थाभावे चनकुसुमसौरमप्रतीतिं किमित्युपजनयति न गगनारविन्द-  
 सौरमप्रतीतिमिति कुतस्तयो नियमः । किञ्च माह्यग्राहकावभिन्नौ विशेषतो नीलतद्विधा-  
 यभिन्ने इत्यत्र को हेतुः, नियमेन सहीपलम्भ एवेति चेत्, तत्र तस्य पूर्वमेव निरस्तत्वात् ।  
 अधिक गौरवमीत्या न प्रपञ्चयते तदेव रविप्रकाशस्यैव ज्ञानप्रकाशस्यापि बाह्यार्थप्रका-  
 शत्वोपपत्तेस्तन्मतमपि न युक्तियुक्तम् । ज्ञातत्वाफलानुमेयो ज्ञानव्यापारो ज्ञानादिशब्द-  
 वाच्यः प्रमाणमिति मीमांसकमत प्रमाणप्रमेयोभयनिष्ठवशून्यवादिमतश्चाद्यकाण्ड एव  
 निरस्तमिति किं सिद्धेषुपेण ? तदेव तीर्थान्तराभिहितलक्षणस्य प्रमाणस्य निरपवादस्याऽ-  
 सिद्धेस्सिद्ध स्वपरव्यवसायिज्ञान प्रमाणमिति स्वपरव्यवसायिज्ञानपर्यवसायि स्वार्थसवेदन  
 प्रमाणमिति च । ननु प्रमीयते यथावन्निधीयते वस्तुतत्र येन तत्प्रमाणमिति करणे ल्युत्प्रत्यय-  
 निष्पन्नस्य प्रमाणपदस्य प्रमाकरणार्थकत्वेन स्वार्थसवेदनस्य प्रमाकरणत्वे तत्फल किमिति  
 चेत्, उच्यते, स्वार्थव्यवसितिरेव, नन्वहो जेनानामपूर्वेयं विचारघातुरी, यतस्तथाऽभ्युपगमे  
 स्वार्थव्यवसितिरूपप्रमात्मकज्ञप्तिफलस्य स्वामिन्नोपयोगेन्द्रियमेव कारण जिनानुगैरभ्युपगत  
 स्यादित्येकस्मिन्नेव ज्ञाने प्रमाणत्वप्रमात्वविरोध एव दुरुद्धरो दोषस्त्वादिति चेत्, स्यादेतत्,  
 पद्येकस्वभावेन नदुभयाभ्युपगमस्स्यात्, न चैनम्, पावको दहत्योष्ण्येनेत्यत्र पावके दहन-  
 क्रिया घुगपदाहकत्वस्वभावेनोष्ण्यञ्चोष्णत्वस्वभावेनेव साधकत्वमत्वस्वभावेन ज्ञाने प्रमाणत्व

वृत्तिक्रियात्वस्वभावेन प्रमाफलत्वमित्येवमुररीकारात्, घटाभावीप्रतियोगितावान् घट इत्यत्र प्रतियोगिताया प्रतियोग्यात्मकत्वपक्षे एकत्रैव घटत्वेन प्रतियोगितात्वेनाश्रयत्वाश्रित- त्ववत्, प्रतियोगिताया अवच्छेदकारमकत्वपक्षे घटाभावीप्रतियोगिता घटत्वान्च्छिन्नेत्य- त्रैकत्रैव घटत्वत्वेन प्रतियोगितात्वेनावच्छेदकत्वान्च्छिन्नत्ववच्च नैव तत्र स्वभावभेदापेक्ष- योस्तयोः कोऽपि विरोध इति । ननु परश्वधादिकरणस्योद्यमननिपातनादिव्यापारद्वारा- दावादिद्वैधीभावात्मक भिन्नमेव फल दृश्यते, न त्वभिन कुत्रापि, अमेदे कार्यकारणभावा- भावादिति चेत्, प्रदीपः स्व स्वेनैव प्रकाशयतीति प्रतीतेः प्रदीपात्मनः कर्तुं कथञ्चिदभि- न्नस्य प्रकाशात्मककरणस्य प्रकाशनक्रियायाश्च प्रदीपात्मिकायाः कथञ्चिदभेदस्य व्यवस्था- पितत्वात् प्रकाशनक्रियात्मकफलस्य स्वाभिन्नप्रदीपः कारणमित्यत्रापि दीपतां दृष्टिः, यदि च कारणस्य भिन्नेनैव फलेन भाव्यमित्यत्राग्रहस्तदा मत्यादिज्ञायोपशमिप्रमाणानां भिन्न- फलमादानहानधीः, उपादितसाञ्जनिका जिहामाञ्जनिका च बुद्धिरिति यावत्, उपेक्षा- बुद्धिश्च । अतः प्रमाणफल प्रमाणान् कथञ्चिद्विद्याभिन्नम् प्रमाणफलत्वान्यथाऽनुपपत्तेरिति- सिद्धम् । धार्मिकफलज्ञानस्य त्वोदासीन्य फलमवेहि, केवलमगवतां हेयस्य समारतत्का- रणस्य हानात्, उपादपस्य च मोक्षतन्कारणस्योपादानात् सिद्धप्रयोजनत्वेन प्रशुचिनिशुचि- निरीहत्वादिति । सवदति चार " पारम्पर्येण केवलज्ञानस्य तावत्फलमौदासीन्यम् । " ६-४ । " शेषप्रमाणानां पुनरुपादानहानोपेक्षाबुद्ध्यः । " ६-५ । इति प्रमाणनयतया- लोकालङ्कारसूत्रद्वयमिति दिक् ॥ १ ॥

अन्योन्यानुस्यूतसामान्यविशेषात्मक च प्रमाणप्रमेयरूप वस्तुतत्त्वेऽनेकान्तदृष्ट्या व्यव- स्थित द्रव्यार्थिकनयनिश्चयां तन्मतेन सामान्यमात्रग्रहणलक्षणदर्शनस्यैव प्रमाणत्वेना- न्युपगमात्तद्गोचरसामान्यमेव सत्, न विशेषाः, पर्यायार्थिकनयविवक्षायां तन्मतेन विशेष- मात्रग्रहणलक्षणज्ञानस्यैव प्रमाणतयोररीकरणात्तद्गोचरविशेषा एव सन्तः, न सामान्यमित्यु- पदर्श्य तद्गमनयनिपयविषयप्रमाणार्पणायां तु द्रव्यपर्यायो सामान्यविशेषेत्यपराख्यातु- पसर्जनीकृतवदितराकारप्रधानीभूतस्वाकारदर्शनज्ञानग्राह्याऽन्योन्याऽग्निनामाविनावेव सञ्ज्ञता- विति गौणप्रधानभावेन सामान्यविशेषोभयग्राहकदर्शनज्ञानरूप प्रमाणमिति दर्शयन्नाह—

दब्बट्टिओ वि लोञ्ण दसणे पञ्चदट्टिओ होइ ।

उचसमियार्हभाय पडुच्च णाणे उ विवरीय ॥ २ ॥ ॥ ५६ ॥

प्राधान्येन सामान्यांशग्रहणपरिणामे दर्शनेऽपि गौणतया विशेषांशग्रहणपरिणामो न- निवृत्त, नापि प्राधान्येन विशेषांशग्रहणपरिणामे ज्ञाने गौणतया सामान्यांशग्रहणपरिणामो- निवृत्त इति तात्पर्यार्थः । शब्दार्थस्त्वेवम्—' दब्बट्टिओ वि ' द्रव्यार्थिकोऽपि, अत्र द्रव्या-

धिकस्य नयात्मकज्ञानरूपत्वाद्विषयिणा नयेन विषयो द्रव्यार्थरूपो गृहीतः, यद्वा द्रव्य-  
 मेतार्थो द्रव्यार्थः ततस्स्वार्थे प्रत्यये सति द्रव्यार्थिक इति रूप निष्पद्यते, तथा च द्रव्यार्थो  
 ऽपीत्यर्थः । तथा च ' दमणे दशद्विओ वि होऊण ' दर्शने सामान्यविषयके आत्मा द्रव्यार्थ  
 रूपोऽपि भूत्वा सामान्यग्रहणपरिणामोऽपि भूत्वा, तदैव ' पञ्चद्विओ होइ ' पर्यायास्तिको  
 भवति, पर्यायास्तिकनयविषयविशेषग्रहणपरिणामोऽपि भवति, यदा हि सामान्यरूपतया  
 आत्मा दर्शनविषयतामम्पन्नो भवति तदा स्वीयविशेषस्वभावमपि नैव परिजहाति, तदुभय-  
 स्वभावस्याविनाभावित्वात्, यदा च विशेषरूपतयाऽऽत्मा ज्ञानविषयीभूतो भवति, तदापि  
 स्वीयसामान्यस्वभावमपि नैव परित्यजतीति स सामान्यपर्यालोचने दर्शने सामान्यग्रहण  
 परिणामरूपेण प्रवृत्तोऽप्युपात्तविशेषग्रहणपरिणामः, न हि विशिष्टेन रूपेण विना सामान्य  
 सम्भवति, एव विशेषग्रहणोन्मुखे ज्ञाने विशेषग्रहणपरिणामरूपेण प्रवृत्तोऽप्युपात्तसामान्य  
 ग्रहणपरिणामः, न ह्यनुगतसामान्यस्वरूप परित्यज्य विशेषेण अपि प्रमाणभाव मज्जन्ते ।  
 एतद्वाह—' उअसमियाईभाव पडुच ' औपशमिकादिभाव प्रतीत्य इति, औपशमिक-  
 क्षायिक-क्षायोपशमिकादीन् भावान् अपेक्ष्याऽऽत्मनो विशेषरूपत्वेन ' णाणे उ विवरीय '  
 ज्ञाने तु विपरीत विशेषग्रहणपरिणामे ज्ञाने तु पूर्वोक्तसामान्यग्रहणपरिणामदर्शनतो विप  
 रीतम्, अस्य भावग्रहणनिर्दिष्टत्वाद्द्विपरीतमित्यर्थः, अत एव ' ज सामण्यपहाण गहणम् '  
 इत्यादिपूर्वोक्तधर्ममग्रहणीमाथाया प्रथमैकवचनान्त " विवरीय होइ नाण तु " इत्युक्तम् ।  
 अयम्भाव—ज्ञाने हि प्राधान्येन विशेषाकारतया मासमानस्मन् गौणतयाऽऽत्माद्यर्थस्ता  
 मान्याकारतयाऽपि प्रतिभासते, तथा च दर्शने सामान्यस्य विशेषपरिहितस्य ज्ञाने च विशे  
 पाणा सामान्यरहितानामप्रतीयमानत्वादात्माद्यर्थो विशेषरूपस्तन् न एव सामान्यरूपोऽपि  
 भवतीति सामान्यविशेषौ मिथोऽविनाभूतावेव प्रतीयेते इति प्रमाणार्पणया तदुभयात्मक  
 एवात्माद्यर्थ इति सिद्धम् । पूज्यपादामयदरघरिकृतैतद्दीकामनुसृत्य त्वौपशमिक-क्षायिक-  
 क्षायोपशमिकादीन् भावान् अपेक्ष्य विशेषरूपत्वेन ज्ञानस्वभावाद्द्विपरीत्य सामान्यरूपतां  
 प्रतिपद्यते, विशेषरूपस्तन् न एव सामान्यरूपोऽपि भवतीत्याद्यर्थोऽनुसन्धेयः ॥ २ ॥

ननु यथाऽनाकारोपयोगसाकारोपयोगौ दर्शनज्ञानाख्यौ छद्मस्थानां छात्रस्थकोपयोग  
 स्वाभाव्यात्क्रमेण भवतः, तथाहि—यदा चक्षुर्दर्शनाद्यन्यतमदर्शनोपयोगोपयुक्तः छद्मस्थात्मा  
 तदा न मतिज्ञानाद्यन्यतमज्ञानोपयोगोपयुक्तः, यदा च मतिज्ञानाद्यन्यतमज्ञानोपयोगोप-  
 युक्तस्तदा न चक्षुर्दर्शनाद्यन्यतमदर्शनोपयोगोपयुक्त इत्येकतर एवोपयोगो भवत्येकस्मि-  
 न्मये, " जुगए नरिय दो उअओगा " इति वचनात्, न तु युगपदर्शनज्ञानोपयोगौ द्वौ,  
 तथास्वाभाव्यात्, तथैव किं केवलभगवतां केवलदर्शनोपयोगकेरलज्ञानोपयोगौ क्रमेण  
 भवतः, किं वा युगपदेकस्मिन्नेव समये द्वावपि तौ, किं वा यदेव केवलज्ञान तदेव  
 केवलदर्शनमिति चेत्, उच्यते, अत्र स्वस्वगुरुसम्प्रदायादिच्छिन्नवाचनापरम्पराऽऽपा-

तशास्त्रीयतत्तन्नयगर्भितज्ञानमम्पत्प्रयोज्याचार्यायतत्तन्नयाधीनविवक्षाभेदप्रयुक्तमतत्रयम्, तथापि न कस्मिंश्चिदपि मतेऽप्रामाण्यशङ्का कर्त्तव्या, भगवत्प्रवचनस्य तत्तन्नयाधीनप्रवृत्ति कृत्वेन यथोपपन्नतत्तन्नयप्रयोज्यसूत्रार्थगोचरत्वात्पक्षत्रयाणाम्, अत एव शामनानुराम श्रुभोपायवस्तु अत्रिच्छिन्नगुरुपरम्पराऽऽयातसूत्रतात्पर्यमपक्षपातेन तन्वस्तु स्वरिमगवस्तु केषुचिदपि मिथ्यामिनिवेशित्वाऽऽरोपोऽपि न कर्त्तव्य', धीतरागप्रभुप्रणीतशास्त्रतात्पर्य- बाधप्रतिसन्धानपूर्वकान्यथाश्रद्धानाऽभावात्, एतत्तन्नयग्रे विवेचयिष्यते इति नाप्रा- धिक तन्यते । अत्र युगपद्दुपयोगद्वयवादिनां पूज्यपादश्रीमल्लवादिप्रभृतीनामेव मतम्- केवलदर्शनकेवलज्ञानोपयोगौ युगपद्भवतः, एकममयावच्छिन्नस्वस्वमामग्री नन्यत्वात् युग पदाविर्भूतस्वभावत्वाद्वा, यावेवम् तावेवम्, यथा रवे' प्रकाशतापानिति । " जुगुर दो नत्थि उवओगा " इति सिद्धान्तवचनात् महातार्किकशिरोमणितातपादश्रीमिद्धसेनदिनाकर स्तु नैव मन्यते, किन्तु एकेनैव सिद्धे किं द्वयकल्पनयेति न्यायेन यद्न केवलज्ञान तदेव केवलदर्शनमित्येक एव धर्मा, केवलदर्शनकेवलज्ञानभेदव्यवहारस्तु तत्र ज्ञानत्वदर्शनत्व धर्मद्वयकल्पनाप्रयुक्त एव, न तु वस्तुगत्येति । पूज्यपादश्रीजिनमद्गणेशमश्रमणादीनां सिद्धान्तमवलम्बमानानां मतञ्चैवम्—" सञ्जाओ लद्धीओ सागारोउओगोरउत्तस्म मरइ " इत्यर्थावचनस्य विनिगमकत्वात् केवलज्ञानस्यापि लब्धित्वात्माकारोपयोगकाले तस्य भावा दाधे समये तत्, न च तदैव केवलदर्शनोपयोगोत्पत्तिः " जुगुर दो नत्थि उवओगा " इति सिद्धान्तवचनात्, किन्तु द्वितीयसमये, केवलदर्शनोपयोगस्य क्रमभावित्रेनार्थ- सिद्धत्वात्तदानीम् । अथ छन्नस्यज्ञानदर्शनोपयोगापेक्षया तद्वचनमिति चेत्, मैत्रम्, विशेषा नमिधानात्, छन्नस्योपयोगविषयत्वेनोक्तमिद्धान्तवचनस्य सङ्कोचकरणे बीजाभावात् । तदनु क्रमिकोपयोगद्वयधारायास्वरसत एव प्रवृत्तेस्तृतीयममये केवलज्ञानोपयोगः, चतुर्थे क्रमा यातः केवलदर्शनोपयोगः । एवमग्रेऽपीत्येव सर्वकाल प्रतिक्षण क्रमिक एक एव केवलज्ञान- केवलदर्शनान्यपरोपयोग इति । ननु लोके क्रमिकमामग्रीभेदादेव क्रमिककार्यभेदो दृश्यते, न चात्र स इति कथं केवलज्ञानां क्रमिकोपयोगरूपकार्यभेद इति चेत्, मैत्रम्, केवल- ज्ञाने केवलज्ञानान्योपयोगसहकृतकेवलज्ञानानारणक्षपस्य केवलदर्शने च केवलज्ञानोपयो गसहकृतकेवलदर्शनावरणक्षपस्य हेतुत्वेनात्रापि क्रमिकमामग्रीभेदस्य सत्त्वात्, आद्य केवलज्ञानात्पूर्वं केवलदर्शनस्याभावाद्द्वयमिचारस्स्यादत केवलदर्शनोपयोगसहकृतेत्यनुक्त्वा केवलज्ञानान्योपयोगसहकृतेति केवलज्ञानकारणकोटावुक्तम् । नन्वेव तर्हि तथोत्पद्येतां केवलज्ञानोपयोगः केवलदर्शनोपयोगश्च, तन्नाशस्तु समयान्तरे न स्यादेव, नाशक- हेत्वभावादित्यपि न चाशङ्कनीयम्, अर्हत्प्रवचनस्यानेकनयममूहमयत्वात्तन्नयपरिज्ञेय प्राधान्येन तत्तत्कार्योपयोगिनीत्यनुसृष्टवन्नयावलम्बनेन भावमात्रस्य विनाशस्वभावनिय पत्त्वेन स्वनाशम्प्रति स्वाऽभ्यवहितोत्तरक्षणवर्तिभावानपेक्षणेन स्वत एव नाशः, अत

एव स निर्हेतुक इति तन्मतेनोच्यत इति केवलज्ञानस्य केवलदर्शनस्यापि च स्वत एव  
 क्षणान्तरे विनाशात् । यद्योक्तनयमतेन स्वस्य स्व एव नाशक इति केवलज्ञानस्य केवल  
 दर्शनस्य च विनाशे प्रतियोगिन एव हेतुत्वात् द्वितीयक्षणे स स्यादेवेति भावनीयम् ।  
 अत्र केवलज्ञानकेवलदर्शने एकात्मनि युगपदुत्पद्येते न वा, केवलज्ञान स्वसमानाधिकरण-  
 केवलदर्शनोत्पत्तिक्षणोत्पत्तिक्रम न वेत्यर्थपर्यवसायिनी प्रथमा विप्रतिपत्तिः, केवलज्ञानकेवल  
 दर्शने क्रमेणैकात्मनि समुत्पद्येते न वा, केवलज्ञान स्वसमानाधिकरणकेवलदर्शनोत्पत्तिक्षणा-  
 व्यवहितपूर्वक्षणोत्पत्तिक्रम न वेत्यनुगतार्था च द्वितीया इत्याद्या उक्तमतत्रयाणां साधारण्यो  
 विप्रतिपत्तयः । आद्यविप्रतिपत्तौ विधिपक्षो महनीयमान्यपूज्यपादश्रीमल्लनादिसिद्धसेन-  
 दिवाकराणाम्, तत्रापि केवलज्ञान स्वसमानाधिकरणकेवलदर्शनममानकालीनमपि केवल  
 दर्शनाद्भिन्नमेवेति तातपादश्रीमल्लवादिनः । प्रवचनोपनिषद्वेदिवादिमुख्यश्रीसिद्धसेनदिवाक  
 रास्तु तत् केवलदर्शनादभिन्नमेवेति प्राहुः । निषेधपक्षो भगवच्छ्रीजिनभद्रगणिकमाश्रमणा  
 दीनामिति । द्वितीयविप्रतिपत्तौ चोक्तवैपरीत्येन विषयशे निषेधांशे च ह्येयम् । नन्वेव  
 विप्रतिपत्तौ सत्यो किमत्र तत्र सत्यमित्याशङ्कायां 'यथोद्देश निर्देश' इति न्यायात्प्रथम  
 युगपदुपयोगद्वयवादिमतप्रदर्शनापाह—

मणपञ्चवणाणतो णाणस्स च दरिसणस्स च विसेसो ।

केवलनाण पुण देसण ति णाण ति य समाण ॥ ३ ॥ ५७ ॥

'मणपञ्चवणाणतो' मनःपर्यायज्ञानमन्त पर्यवसान यस्य स मनःपर्यायज्ञानान्तः, स कः  
 कस्य चेत्याशङ्कायामाह—'णाणस्स य दरिमणस्स च विसेसो' ज्ञानस्य च दर्शनस्य च विश्लेषः  
 पृथग्भाव इति भाष्यम् । अत्रानुक्तमपि छद्मस्थोपयोगत्व हेतुर्दृष्टव्यः । तथा च प्रयोगः—  
 चक्षुरचक्षुरधिज्ञानानि चक्षुरचक्षुरधिदर्शनेभ्यः पृथक्कालानि छद्मस्थोपयोगात्मकज्ञान  
 त्वात्, श्रुतमनःपर्यायज्ञानवत्, सङ्केतस्मरणोद्बुद्धवाच्यराचरुभावसम्बन्धतोऽर्थस्मरणद्वारा  
 पदज्ञानचन्धतद्वाच्यार्थविषयके तत्तत्पदार्थोपस्थितिद्वारा पदमूहरूपराक्यार्थविषयके वा  
 श्रुतज्ञाने यानि चिन्त्यमानपदार्थानुशुणानि सञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियजीवैः काययोगेन गृहीतानि  
 मनोवर्गणाद्रूप्याणि मनोयोगेन च मनस्त्वेन परिणमितानि तत्पर्यायविषयके मनःपर्याय  
 घाने चक्षुरचक्षुरधिदर्शनपृथक्कालत्वसाध्यसिद्धेर्न दृष्टान्तासिद्धिरिति । अत्र दर्शनत्रयपृथ-  
 क्कालत्व इत्रापि एकस्मिन्नसिमाधयिषितम्, यच्च स्वदर्शनपृथक्कालत्व सिमाधयिषित तन्नोक्त  
 दृष्टान्तयोर्विद्यत इति दृष्टान्ताऽसिद्ध्याऽत्र सावरणत्वं हेतु कचक्ष्यः, रूपतिरेकी च प्रयोगः ।  
 ननु चक्षुरचक्षुरधिज्ञानानि स्वस्वदर्शनपृथक्कालानि सावरणत्वात् यत्रैत्र तन्नैवमिति व्यतिरे-  
 कपनुमानेऽपि व्यतिरेकदृष्टान्तीभूते केवलज्ञाने स्वदर्शनपृथक्कालत्वाभावो हेतुरथापि नैव सिद्ध  
 इति दृष्टान्ताऽसिद्धिस्तदवस्थेति चेत्, तर्हि तज्जन्यत्वमेव हेतुः क्रियताम्, यद् यजन्य तत्ततः

पृथक्कालमिति मामान्यध्याप्तौ यथा दण्डाद् घट इति दृष्टान्तस्य सर्वाऽधिगानेन सिद्धत्वात्  
दृष्टान्तासिद्धिरित्युक्तं ज्ञानचिन्दौ न्यायाचार्यैः श्रुदान्तरेण । यथा चशुर्त्तानादिकं चशुदर्श  
नादिजन्यमित्यतस्ततः पृथक्काल तथा केवलज्ञान केवलदर्शनजन्यं नेति न केवलदर्शनपृथ-  
क्काल किन्तु तद्भूयमेकसमयावच्छिन्नोत्पत्तिकम् अथवावहितपूर्वममयावच्छिन्नस्वमामग्री  
जन्यत्वात्, मतिज्ञानश्रुतज्ञानलब्धिद्वयवदित्याशयेनोत्तरार्द्धमाह—‘केवलज्ञानं पुनः’ केवलज्ञान  
पुनः ‘दस्यति’ दर्शनमिति—दर्शनोपयोग इति, ‘ज्ञानं ति य’ ज्ञानमिति च ज्ञानोपयोग  
इति च ‘समानं’ समानं तुल्यकालम्, तुल्यकालीनोपयोगद्वयात्मकः केवलज्ञानो बोध  
इत्यर्थः । प्रयोगश्चात्र—केवलज्ञानो ज्ञानोपयोगदर्शनोपयोगाद्येकरूपादीनो युगपदाविर्भूतस्वभाव  
त्वात्, यावेवम् तावेवम्, यथा रवेः प्रकाशतापौ ॥ ३ ॥

अयमभिप्राय आगमनिरोधीति केषांचिन्मतम्, तानधिधिपन्नाह—

केई भणति जहआ जाणह तहआ ण पासह जिणोत्ति ।

सुत्तमवलम्बमाणा तित्थपराऽऽसायणाऽभीरू ॥ ४ ॥ ५८ ॥

‘केई’ केचित् पूज्यपादधीनिनभद्रालुयायिनो ‘भणति’ भणन्ति, प्रतिपादयन्ति,  
किं भणन्तीति कर्माकाङ्क्षायामाह—‘जइया’ इत्यादि, ‘जइया’ यदा ‘जाणह’ जानाति  
‘सइया’ तदा ‘ण पासह’ न पश्यति, कर्तुराकाङ्क्षायामाह—‘जिणोत्ति’ जिन  
इति ‘सुत्तमवलम्बमाणा’ सूत्रमवलम्बमाना “केवली ण भते ! इमं रयणप्पम पुढविं  
आगारेहिं हेऊहिं उवमाहिं दिट्टनेहिं वण्णेहिं सठाप्पेहिं पमाणेहिं पडोपारेहिं ज समय  
जाणति त समय पामइ, ज समय पासह त समय जाणह ! गोयमा ! नो इणट्ठे समये,  
से केणट्ठेण भते ! एउं बुचति—केवली ण इमं रयणप्पम पुढविं आगारेहिं० ज समय  
जाणति नो त समय पामति, ज समय पामइ नो त समय जाणह ! गोयमा ! सागारे  
से नाणे भवति, अणागारे से दसणे भवति, से तेणट्ठेण जाव णो त समय जाणति,  
एव जाव अहे मचमे” इति प्रज्ञापनात्रिंशत्समपश्यतात्प्यपदगतसूत्रमवलम्बमानाः, अस्य च  
सूत्रस्य किञ्चायमर्थस्तेषामभिमतः—केवली—मम्पूर्णबोधः, णमिति वाक्यालङ्कारे, मन्ते  
इति भगवन् ‘इमां रत्नप्रमां पृथिवीमाकारहत्वादिभिरष्टाभिः करणभूतैः ‘जं समय  
जाणह त समयमिति’ कालाध्वनोरत्यन्तसंयोग इति २-३-५ इति सूत्रेण द्वितीया अधि  
करणसप्तमीषाधिका, तेन ‘य समय जानाति’ यस्मिन् समये जानाति ‘त समय पासह’  
तस्मिन् समये पश्यति ? यस्मिन् समये पश्यति तस्मिन् समये जानाति ? इति भगवता  
श्रीगौतमेन प्रश्ने कृते भगवानाह—गौतम ! नायमर्थस्ममर्थः, नैव यस्मिन् समये जानाति  
तस्मिन्नेव समये पश्यतीत्यर्थो युक्त्युपपन्नः, ततोऽन्यस्मिन् समये जानाति अन्यस्मिन् समये  
पश्यतीति भावः, तत्रैवमजानानाः पुनः पृच्छति, से केणट्ठेण भते ! इत्याद्युच्चारणीयम्,



मगधानाह—“सागारे से नाणे भवति अणागारे से दमण हवइ ति” माकारं विशेष-  
 गाहि ‘से’ तस्य केवलिनो ज्ञान भवति, अनाकार अतिक्रान्तप्रियेषं सामान्यग्राहि दर्शने  
 भवति “ज सामण्यग्रहण दसणमेय विसेसिय नाण” इति वचनात् । ज्ञानदर्शने चैकसमया  
 वच्छेदेन मिथो विरुद्धे, परस्पराभावनान्तरीयकत्वात्, परमाणुगतश्रीतोष्णत्ववत्, अत्र  
 परमाणुगतेति विशेषणाद् जैनमते एकस्मिन्नवयविन्येकममयावच्छेदेन भिन्नावयवावच्छेदेन  
 श्रीतोष्णत्वयोस्तत्त्वेऽपि न क्षतिः, एकस्मिन् परमाणौ श्रीतोष्णत्वयोर्विहृद्वयोरेकसमयाव-  
 च्छेदेनाऽनभ्युपगमात् । उक्तानुमानेन केवलज्ञानकेवलदर्शने मिथो विरुद्धे इति सिद्धे सत्ये-  
 कस्मिन्नेव समये निरावरणस्यापि केवलिनस्ते तथाविधे युगपद्भवितु नार्हतः । न चैक  
 स्मिन्नात्मनि माकारताऽनाकारतालक्षणज्ञानत्वदर्शनयोर्मयात्मकविरुद्धधर्मशाल्यभिन्नकेवलो  
 पयोगोऽपि सम्भवति, तथा च विशेषग्राहिज्ञानोपयोगः सामान्यग्राहिदर्शनोपयोगान्तरितः,  
 सामान्यावलम्बिदर्शनोपयोगश्च विशेषप्रतिभासिज्ञानोपयोगान्तरितः, तत्स्वाभाव्यादिति युग  
 पदनेकप्रत्ययानुत्पत्तौ स्वभाव एव कारण नान्यत्, यथा सन्निहितेऽपि च द्वयात्मके विषये सर्व  
 विशेषानेव केवलज्ञान सर्वमान्यानि च केवलदर्शन गृह्णातीत्यत्रानयोस्वभाव एव कार-  
 णम्, तथा प्रकृतेऽपि । प्रयोगश्चात्र—एकात्मगते केवलज्ञानकेवलदर्शने पृथक्कालीने एकसमया-  
 वच्छेदेन परस्परविरुद्धस्वभावत्वात्, एकपरमाणुगतश्रीतोष्णत्ववत्, क्रममाप्तिस्वभावत्वाद्वा  
 चक्षुर्ज्ञानश्रोत्रज्ञानवत् । अथवा केवलज्ञानकेवलदर्शने मिथोऽन्तरिततयैवाऽभ्युपगन्तव्ये तत्स्वा-  
 भाव्यात्, यस्य यस्स्वभावस्त तथैवाऽभ्युपगन्तव्यः, यथा केवलज्ञानस्य विशेषग्राहकत्व  
 स्वभावः केवलदर्शनस्य च सामान्यग्राहकत्वस्वभाव इति । एते च व्याख्यातारः किम्भूता  
 इत्याशङ्क्यामाह—‘वित्थपराऽऽप्तायणाऽमीरू’ तीर्थकराऽऽशातनाऽमीरवः तीर्थकराऽऽशात  
 नाया अमीरव । तीर्थकरमाशातयन्तो न विभ्यतीति यावत् । एव हि निःसामान्यस्य  
 निर्विशेषस्य वा वस्तुनोऽभावेन न किञ्चिज्जानाति केवली न किञ्चित्पश्यतीत्यविशेषस्यैव  
 पर्यवसानात् । न चान्यतरमुरयोपमर्जनप्रियतामपेक्ष्योमयग्राहित्वेऽपि उपयोगक्रमाऽपि  
 रोच, मुख्योपमर्जनभावेनोभयग्रहणस्य क्षयोपशमविशेषप्रयोज्यत्वात्, केवलज्ञाने छद्मस्थ-  
 ज्ञानीपयावद्विषयतोपगमे अवग्रहादिमङ्गीर्णरूपताप्रसङ्गात्, सामान्यज्ञानपूर्वक विशेषज्ञान  
 विशिष्टबुद्धौ विशेषणज्ञानस्य कारणत्वादिति छद्मस्थज्ञानीपक्रमानुमारेण केवलिनोऽपि पूर्व  
 केवलदर्शन तदनु केवलज्ञानमिति क्रमप्रसङ्गाच्च । उक्तस्य तु भरदुक्तोऽर्थो न च समी-  
 चीनतामश्नुति, यतोऽस्मिन् सूत्रे समयमिति पद न समयाख्यकालवाचकम्, किन्तु समक  
 तुल्यमित्यर्थवाचकम्, तथा च “अथ केनार्थेन भदन्त ! एवमुच्यते, केवली इमा रत्नप्रमां  
 पृथिवीं पैराकारादिभिः समक तुल्य जानाति न तैराकारादिभिस्तुल्य पश्यति, पैराकारा  
 दिभिः समक तुल्य पश्यति न तैराकारादिभिस्तमक तुल्य जानातीति प्रश्ने कृते तत्प्रतिवचन  
 मिशालम्बनप्रदर्शकम्, केवलिनो ज्ञान साकार भवति, तस्य दर्शने चानाकार भवतीत्यतो

मिञ्जालम्बनावेतौ प्रत्ययात्रित्पाहुं प्राचीना । ज्ञानचिन्दात्रुपाध्यायमगवच्छ्रीपशोविजया-  
स्त्वत्रैव समालोचयन्ति-अत्र यद्यपि 'ज समय' इत्यत्र 'ज' इति अम्भारः प्राकृत  
लशणात्, यत्कृतमित्यत्र 'ज कप' इति प्रयोगस्य लोकेऽपि दर्शनादिति चकतु शक्यते,  
तथापि तृतीयान्तपदवाच्यंराकारादिभि. यैस्ममक यत्समकमिति लुप्ततृतीयान्तसमासस्य  
यत्पदार्थस्य समकपदार्थस्य चान्यूनानतिरिक्तधर्मविशिष्टस्य रत्नप्रभायां मिञ्जलिद्वत्वाद्  
नन्वप इति 'यत्समकम्' इत्यादि क्रियाविशेषणत्वेन व्याख्येयम्, रत्नप्रभाकर्मकाकारादि-  
निरूपितयावद्वन्यूनानतिरिक्तविषयताकज्ञानान् न तादृशतावद्वन्यूनानतिरिक्तविषयताक  
दर्शनवान् केवलीति फलितोऽर्थः । यदि च तादृशस्य विशिष्टदर्शनस्य निषेधस्याऽप्रसिद्धेर्न  
तन्निषेधः, 'अमतो नरिय निसेहो' विशेषा० गा० १५७४ इत्यादिवचनादिति सूक्ष्म-  
मीक्ष्यते, तदा क्रियाप्रधानमात्प्रातमिति वैयाकरणनयाश्रयणेन रत्नप्रभाकर्मकाकारादि-  
निरूपितयावद्वन्यूनानतिरिक्तविषयताक ज्ञान न तादृश केवलिकर्तृक दर्शनमित्येव बोधः,  
सर्वनयात्मके भगवत्प्रचने यथोपपन्नान्यतरनयग्रहणे दोषामावादिति । अत्र न तादृश  
केवलिकर्तृक दर्शनमित्यस्य रत्नप्रभाकर्मकाकारादिनिरूपितयावद्वन्यूनानतिरिक्तविषयता  
कम्भाभावत् कवलिकर्तृक दर्शनमिति पर्ययसितोऽर्थः । तेन ज्ञानतुल्यविषयताकदर्शनस्याऽ-  
प्रसिद्धत्वेऽपि न क्षतिरिति ॥ ४ ॥

युगपदुत्पत्त्यविकलकारणक यद् यद् तत्तद् युगपदुत्पद्यते यथा रूपोत्पत्तिकाले रम., यथा  
वाऽऽदित्यप्रकाशोत्पत्तिकाले प्रतापः, युगपदुत्पत्त्यविकलकारणकश्च कवलज्ञानोत्पत्तिकाले  
केवलदर्शनम्, तस्मात् केवलज्ञानोत्पत्तिकाल एव तेनैव साकृदुत्पद्यते केवलदर्शनमित्याह—

केवलनाणावरणक्त्वयजाय केवल जहा नाण ।

तह दसणपि जुञ्जह णियआवरणक्त्वयस्सते ॥ ५ ॥ ५९ ॥

'केवलनाणावरणक्त्वयजाय' केवलज्ञानावरणक्षयजात कारणीभूते केवलज्ञानावरण  
क्षये सति जात तेनोत्पन्न 'केवल जहा नाण' केवल यथा ज्ञानम्, यथा निरिखलविशेष  
ग्राहकस्वभाव केवलज्ञान 'तह दमण पि जुञ्जह' तथा दर्शनमपि युज्यते निखिलमामान्य  
ग्राहकस्वभाव केवलदर्शनमपि युज्यते, कदेत्यत आह—'णियआवरणक्त्वयस्सते' निजा  
वरणक्षयस्यान्ते दर्शनावरणक्षयानन्तरक्षणे, द्वादशगुणस्थानरचरममये केवलज्ञानावरण  
क्षयकेवलदर्शनावरणक्षयरूपकारणद्वयस्य युगपत्सद्भावे तत्कार्यभूते केवलज्ञानकेवलदर्शने  
युगपदेवोत्पद्येताम् अल्परहितपूर्वमयावच्छेदन तदुभयोत्पत्तिकारणमद्भावात् युगपदुत्पद्य-  
मानाऽऽदित्यप्रकाशतापवत् परमाणौ रूपरसादिरद्वा । ननु केवलज्ञानकेवलदर्शने सम  
कालीनकेवलज्ञानावरणक्षयकेवलदर्शनावरणक्षयहतुके अपि क्रमभानित्वस्वमानादेव क्रमेणै-  
वोत्पद्येते, न हि स्वभावे पर्यनुयोग इति न्यायादिना चेत, युक्तिबलसाम्राज्ये सति न हि

स्वभावमात्रेण सन्तोष्यम्, यतो युगपरकार्यद्वयोत्पादकाऽतुलसमबलकारणद्वयसद्भावेऽपि स्वभावमात्रेण कार्यक्रमाभ्युपगमे सर्वत्र स्वभावेनेव निर्वाहे कारणमात्रस्यैवोच्छेदप्रसङ्गस्स्यात्, तथा गति स्वभाववादस्यैव मात्राज्य स्यात्, उस्मादनन्यगत्या कार्योत्पत्तिस्वभावः कारणे नेव कार्यक्रमस्वमात्रोऽपि कारणक्रमेणैव जननीय इत्यभ्युपगन्तव्यम्, न चान् कारणक्रमः, येनाभिलषितकार्यक्रमोऽपि स्यात्, एतेन सर्वव्यक्तिविषयकत्वसर्वज्ञातिविषयकत्वयोः पृथगेवावरणक्षयकार्यतावच्छेदकत्वादर्थतस्तदवच्छिन्नोपयोगद्रूपसिद्धिरित्यपि निरस्तम्, तत्सिद्धावपि तत्क्रमाऽसिद्धेः, आवरणद्वयक्षयकार्ययोः मगप्राधान्येनार्थगतैरप्रमराच । न च मतिश्रुतज्ञानावरणयोर्युगपत्क्षयोपशमेऽपि यथा तदुपयोगक्रमस्तथा केवलज्ञानकेवलदर्शनावरणयोर्युगपत्क्षयेऽपि केवलिन्युपयोगक्रमस्स्यादिति शङ्कनीयम्, तत्र श्रुतोपयोगे मतिज्ञानस्य हेतुत्वेन शब्दादौ प्रत्यक्षादिमामभ्याः प्रतिबन्धरुन्वेन चोपयोगक्रमसम्भवात्, अप्र तु क्षीणावरणत्वेन परस्परकार्यकारणमावप्रतिबन्धप्रतिबन्धरुभावाद्यभावेन विशेषात् ॥ ५ ॥

एतदवाह—भण्णह् खीणावरणे, जह् मइनाण जिणे ण स्वभवह् ।

तह् खीणावरणिञ्जे विसेसओ दसण नत्थि ॥ ६ ॥ ६० ॥

‘भण्णह्’ भण्यते, निश्चित्योच्यते ‘खीणावरणे’ क्षीणावरणे, क्षीण घनपातिकर्मचतुष्टयमावरण यस्य स तथा तस्मिन्, अस्य ‘जिणे’ इत्यनेनान्वयादेवभूते जिने ‘जह् मइनाण’ यथा मतिज्ञान मत्यादिज्ञानम् अवग्रहादिचतुष्टयरूप वा मतिज्ञान ‘ण समवह्’ न सम्भवति ‘तह् खीणावरणिञ्जे’ तथा क्षीणावरणीये तस्मिन्नेव ‘विसेसओ’ विक्षेपतः पृथग्भावतो ज्ञानोपयोगमयभिन्नमये इति यावत् ‘दसण नत्थि’ दर्शन नास्ति, न सम्भवति, क्रमोपयोगत्वस्य मतिज्ञानाघातमक्रडावस्थिकज्ञानत्वव्याप्यत्वात्, विशिष्टबुद्धिप्रतिविशेषणज्ञानस्य कारणत्वमिति नियमेन पूर्वं सामान्यालम्बनोपयोग पश्चाद्विशेषालम्बनोपयोग इति क्रमोपयोगत्वस्य चावग्रहाघातमक्रत्वव्याप्यत्वात्, केवलज्ञानकेवलदर्शनयोः क्रमोपयोगत्वे तत्रापचित्स्स्यात्, व्याप्यसत्त्वे व्यापकस्यापश्यम्भावात्, उक्ततर्कलेनानुमानप्रयोगश्चानैवम्—केवलज्ञानकेवलदर्शने एकममयात्रच्छिन्नोत्पत्तिके एकममयवर्तिनामप्रीकत्वात्, यदुपदेकममयवर्तिनामप्रीक तत्रेकममयात्रच्छिन्नोत्पत्तिके “सम्मत्तचरिचाह जुगव” इति वचनात् ‘सम्मत्तेण समग सब देस च कोह पडिबजे’ इति पञ्चमसङ्ख्यवचनाच्च एककालीनदर्शनमोहनीयकर्मक्षयोपशमचारित्रमोहनीयकर्मक्षयोपशमवतः कस्यचित्पुंसः सम्यग्दर्शनचारित्रि इव ॥ ६ ॥

न केवल नमवादिनोऽनुमानविरोधा, अपि त्यागमविरोधोऽपीत्याह—

सुत्तमि च्चैव साह—अपज्जवसिय ति केवल वुत्त ।

सुत्तासायणभीरुहिं, त च दट्टव्यय होह ॥ ७ ॥ ६१ ॥

‘सुत्तमि’ केवलज्ञानकेवलदर्शनयोस्माद्यपर्यवसितत्वाभिधायके “केवलनाणी ण पुच्छा

गोयमा ! साह अपञ्जमिए” “ केरलदमणी ण पुच्छा गोयमा ! मातीए अपञ्जवसिए” इति प्रज्ञापनाऽष्टादशपदोक्तपत्रे ‘चैत्र’ चैत्र-निश्चयेन “ साह-अपञ्जसिय ति केवल वुत्त” साद्यपर्यवसितमिति साद्यनन्तमिति ‘केवल’ केरलज्ञान केरलदर्शनश्लोक्तम् । क्रमोपयोगे तु द्वितीयममये तयोः पर्यवसानमिति कुतोऽपर्यवमितता ? । तेन ‘सुचामायणमीरुहिं’ घृत्राशातनामीरुमि ‘त च दड्डवप होड’ तच्च दृष्टव्यम् मरति । चोऽप्यर्थः, न केरल ‘केरली ण मते ! इम रयणप्पम पुद्वि’ इत्याद्युक्तघृत्रयथाश्रुतार्थानुपपत्तिमात्रम्, किन्त्रस्य साद्यपर्यवमितत्ताभिधायकस्य घृत्रस्य विरोधोऽपीति मात्रम् । न च यथा मतिज्ञानादिकमुत्पन्न मत् मिथ्याभावादिप्राप्तौ “ नट्टम्मि उ छाउमत्थिए नाणे केरलनाण उववज्जइ” इति परानात् केरलज्ञानाप्राप्तौ वा प्रतिपत्ति, न च तथास्वभावे केवलज्ञानकेवलदर्शने, तयोः व्याधिक्रमादिति त साद्यपर्यवमिते स्यातामिति वाच्यम्, केरलज्ञानकेवलदर्शनयोः क्रमिकोत्पादपक्षे यस्मिन् ममय यस्य नोत्पत्तिस्तस्मिन् ममये तस्याभावेन सपर्यवमितत्वमेव स्यात् । अथ तदानीं व्यक्तिरूपेण तत्सत्त्वाभावेऽपि लन्धिरूपेण तत्सत्त्वमस्येव, तथा च तद्रूपेण क्वापि प्रतिपाताभावेनापर्यवमितत्व तयोस्स्यादेवेति चेत्, तर्हि केरलज्ञानत्वावच्छिन्ने केवलदर्शनत्वावच्छिन्ने च विज्ञादापन्न क्रमिकत्व प्रमाधनीयमिति तद्वर्मरूपेण तत्रापर्यवमितत्वमभिलषित मिद्व न स्यात्, प्रत्युत लन्धिरूपेण तत्तद्व स्यात्, केवलज्ञानत्वधर्मरूपेण केरलदर्शनत्वधर्मरूपेण तत्रापर्यवसित त्वमस्ति न वेति सशये सति प्रश्ने कृते यद्रूपेण निज्ञासित तद्रूपेणैव तदुत्तरदानेनैव निराकाङ्क्ष-चोषभावाजिज्ञामानिष्टुत्तिस्स्यात्, नान्यथा, न च लन्धिरूपे तत्सम्भव इति । न च मन्मते ऽपि द्वितीयममये प्रथमममयावच्छिन्नयोस्तयोर्विनष्टत्वाद्द्वितीयममयावच्छिन्नयोस्तयोश्चोत्पादादाऽपर्यवमितत्वं न स्यादिति वाच्यम्, तत्तत्त्वमयविशिष्टत्वेनोत्पादविनाशशालित्वेऽपि केवलज्ञानत्वावच्छिन्न-केरलदर्शनत्वावच्छिन्नतद्दीयमन्तानस्य दीपशिखासन्तानरद्विच्छेदात्, अत एवोत्पादादित्रैलक्षण्योपपत्तिः । एव प्रथमममयवर्चिनो यान् निखिलानन्त पदार्थान् स्वस्वानन्तपर्यायविशिष्टान् वर्चमानप्रथमममये वर्चमानस्वरूपेण तदनन्तरद्वितीयादिसमयवर्चिनस्तानागतस्वरूपेण तत्पूर्ववर्चिनश्च तानतीतस्वरूपेण जानन्ति पश्यन्ति च, द्वितीयममये च प्रथमममयवर्चिनस्तान् पद्गुणहानिबुद्धिमात्र प्राप्तानतीततया द्वितीयसमयवर्चिनश्च तान् पद्गुणहानिबुद्धिमात्र प्राप्तान् वर्चमानतया अतीताश्च पद्गुणहानिबुद्धिमात्रप्राप्तानन्तपर्यायविशिष्टान् तानेकममयाधिक्रातीतस्वरूपेणाऽनागतौश्च तद्विशिष्टान् तानेकममयन्यूनानागतस्वरूपेण जानन्ति पश्यन्ति च, एवमग्रेऽपि, तथा च प्रदर्शितप्रकारेण वर्चमानादिस्वभावविशिष्टार्थग्राहकयोः केरलज्ञानकेवलदर्शनयोस्तत्तत्त्वमयविशिष्टार्थग्राहकत्वपरिणतिभेदेन प्रतिक्षणमुत्पादादित्रैलक्षण्यसिद्धिः । एव द्रव्यमात्रस्य प्रतिक्षण पर्यायभेदेन

मिन्नरूपत्वात्तद्भवेयपरिणतिभेदेन तद्वाहकत्वपरिणतिभेदतस्तयोः प्रतिक्षण त्रैलक्षण्यमिद्वि  
 भावनीया, सर्वश्वेतद् भवन्मते तयोर्न सहटते, तत्तत्समये तद्भुमयान्यतरस्यैव सद्भावेन  
 तद्भुमयामावात् । तथा च तत्तत्क्षणेऽन्यतरधर्मिणोऽभावेन तत्र त्रैलक्षण्यधर्मस्य सुतरामभाव  
 एव, न चास्मन्मतेऽपि निकलप्रकाशपरिणामेन नष्टा ध्रुवा चेतनैर त्रयोदशगुणस्थानकाद्य  
 क्षणे सम्पूर्णप्रकाशरूपकेवलज्ञानतया परिणता, अत एव त्रैलक्षण्योपपत्तिः, या चाद्यसमये  
 केवलज्ञानस्वरूपेण परिणता सैव द्वितीयसमये केवलदर्शनरूपेण तृतीयसमये च केवलज्ञान  
 स्वरूपेण च परिणमते, अत एव प्रतिक्षण त्रैलक्षण्यसिद्धिरिति, मा चानुकेवलज्ञानीत्यपि  
 केवलोपयोगस्वरूप नैव कदापि परिजहातीति तद्रूपेण तस्यास्मर्त्तदा प्रवृत्तत्वेन तद्रूपेण  
 केवलज्ञानकेवलदर्शनयोरपर्यवसितत्वं स्यादेवेति वाच्यम्, केवलोपयोगस्वरूपेण तयोरपर्य  
 वसितत्वाभ्युपगमे द्वितीयक्षणेऽपि तयोस्तद्भावप्रमत्तिः, अन्यथा तदमिन्नत्वाऽयोगस्त्वात् ।  
 किञ्च केवलज्ञानतत्रकेवलदर्शनतत्रात्मकस्वस्वामाधारणधर्मरूपेण माद्यपर्यवसितत्वञ्चाऽमि-  
 लपित तयोस्सिद्ध न स्यात् । तदेव क्रमाभ्युपगमे तयोरामविरोध इत्युपसहरन्नाह—

सतमि केवले दसणम्मि, नाणस्स सभवो नत्थि ।

केवलनाणम्मि य दसणस्स तम्हा सनिहणाइं ॥ ८ ॥ ६२ ॥

केवलज्ञानत्वेन केवलदर्शनत्वेन च स्वस्वासाधारणधर्मेण द्वयोः क्रमिकत्वेऽन्यतरकाले  
 ऽन्यतराभावप्रसङ्ग इत्याशयेनाह—‘ सतमि केवले दसणम्मि ’ सति केवले दर्शने, केवल-  
 दर्शने मति ‘ नाणस्म ’ ज्ञानस्य केवलज्ञानस्य ‘ सभयो नत्थि ’ सम्भवो नास्ति ।  
 “ केवलनाणम्मि य दसणस्म ” केवलज्ञान च सति दर्शनस्य, एतदनन्तर ‘ सभयो नत्थि ’  
 इत्यनुकर्षणीयम् । ‘ तम्हा सनिहणाइं ’ तस्मात्सनिधने, अत्र ‘ दुरयणे बहुवयण ’ इति  
 प्राकृतनियमाद्विचचनस्थाने बहुवचनम् । निधनमन्तो विनाशस्तेन सहिते सनिधने, प्रसक्ते  
 इति शेषः । तथा च केवलज्ञानकेवलदर्शनयोरन्यतरकालेऽन्यतराऽभावात्ते सनिधने मविनाशे  
 प्राप्ते, एव च सति तदपर्यवसितत्वंप्रतिपादकोक्तागमविरोधस्तुस्पष्ट एवेति भावः । अत्र  
 ‘ तम्हा अनिहणाइं ’ इति ज्ञानविन्दौ पाठः, तस्य चाऽयमर्थः—स्वरूपतो द्वयोः क्रमिकत्वे  
 ऽन्यतरकालेऽन्यतराभावप्रसङ्गः, तथा चोक्तवक्ष्यमाणदूषणगणोपनिपातः, तस्माद् द्वावप्युप  
 योगौ केवलिनः स्वरूपतोऽनिधनापित्यर्थः ॥ ८ ॥

इत्थ ग्रन्थकृदक्रमोपयोगद्वयाभ्युपगमेन क्रमोपयोगवादिन पर्यनुयुज्य स्वपक्ष  
 दर्शयित्तुमाह—

दसणनाणावरणक्खए समाणम्मि कस्स पुब्बयर (यरो) ।

होञ्ज सम उप्पाओ हदि दुवे नत्थि उवओगा ॥ ९ ॥ ६३ ॥

‘ दसणनाणावरणक्खए समाणम्मि ’ दर्शनज्ञानावरणक्षये समाने निखिलसामान्य

प्रतिभासिकेवलदर्शनावरणक्षयो यस्मिन् ममये तस्मिन्नेव ममये निश्चेषविशेषावगाहिकेवल  
 ज्ञानावरणक्षय इत्येकमयावच्छेदेन दर्शनज्ञानावरणक्षयपलक्षण्ये तदुभयकारणे ममाने मति  
 ' कस्म पुष्यर ' कस्य प्रथमतरमुत्पादो भवेत् ? उभयमामग्रीसङ्गत्वेऽप्यन्यतरोत्पादे तदि  
 तरस्याप्युत्पादप्रसङ्गस्स्यात् । लोके क्रमिकमामग्रीभेदादेव क्रमिककार्यभेदो दृश्यते, न  
 चात्र स इति कथं केवलमगवतां क्रमिकोपयोगरूपकार्यभेदः । अन्यतरमामग्री अन्यतर  
 प्रतिबन्धिकेति चेत्किं विनिगमनाविरहादुभयोरप्यमात्रप्रसङ्गस्स्यात् । ननु "सद्वाओ लद्धीओ  
 सागारोवओगोवउत्तस्स " इत्याद्यार्पवचनमेव केवलज्ञानकेवलदर्शनक्रमोत्पादे प्रमाणम्,  
 पतः केवलज्ञानस्य लब्धित्वात्साकारोपयोगसमये तदुत्पत्तेराद्यसमये केवलज्ञानोपयोग', न  
 च तत्समय एव केवलदर्शनोपयोगोत्पत्ति', किन्तु द्वितीयममय एव "जुगव दो नत्थि उव  
 ओगा" इति सिद्धान्तवचनादिति पूर्वमयोक्तमिति चेत्, मत्स्यमुक्तम्, न तु युक्तियुक्तमुक्तम्,  
 एतद्वचनस्य साकारोपयोगोपयुक्तस्य लब्धियोगपद्य एव साक्षित्वात्, उपयोगक्रमाक्रमयो  
 रौदासीन्यात्, केवलज्ञानकेवलदर्शनयोर्योगपद्येनापि निर्वाहेऽर्थादर्शनऽनन्तरोत्पत्त्यभिद्वे',  
 एकक्षणीत्पत्तिकेवलज्ञानयोरेकक्षणन्यूनाधिकापुष्कयो क्वलिनो. क्रमिकोपयोगघाराया  
 निर्वाहयितुमशक्यत्वाच्च, अयोगिगुणस्थानचरमक्षणे एकस्य क्वलिनो घाराक्रमेण केवल  
 ज्ञान स्यात्, तदन्यस्य च दर्शनमिति तदव्यवहितोत्तरसिद्धिसमयेऽपि तथा स्यात्, न च  
 तद्युक्तम्, सिद्धिलब्धेस्माकारोपयोगकाल एव भावादिति । ननुक्तबाधकषलाङ्गिन्नमम  
 यावच्छेदेन केवलज्ञानकेवलदर्शनयोरुत्पादो माऽभ्युपगम्यताम्, अभ्युपगम्यताञ्चैकमया  
 वच्छेदेन स, बाधकाभावादित्याशङ्कत आराध्यपादश्रीमल्लमारी ' होज मम उप्पाओ '  
 भवेत् ममभेककालमुत्पादस्तयो, एकसमयावच्छिन्नकारणद्वयसङ्गत्वे सत्येकमयावच्छेदनैव  
 कार्यद्वयस्यापि भावात् । अत्र 'होज व समओप्पाओ' इत्यपि ज्ञानविन्दुपाठः-भवेद्वा समय-  
 भेककालमुत्पादस्तयोरित्यर्थः । एकोपयोगी महनीयमान्यधीसिद्धसेनदिवाकरस्त्वसिद्धान्त  
 निरुद्धयति— ' हदि हुवे नत्थि उवओगा ' ज्ञायतां द्वाबुपयोगी न स्तः एकदति, सामान्य  
 विशेषपरिच्छेदात्मकत्वात् केवलज्ञानस्य, यदेव ज्ञान तदव दर्शनमित्यत्रैव निर्मर., उभयहेतु  
 समाजे समूहालम्बनोत्पादस्यैव अन्यत्र दृष्टत्वात् नात्रपरिदृष्टकल्पनाकलेश्च इति भावः ॥ ९ ॥

अखिलसामान्याखिलविशेषोभयविषयकममूहालम्बनज्ञानाभ्युपगमे सत्येव क्वलिन-  
 स्सर्वज्ञतासम्भव, नान्यधेत्याह—

जइ सव्व सायार, जाणह एकसमयेण सव्वण्णु ।

जुज्जइ मयावि एव, अहवा सव्व न जाणाइ ॥ १० ॥ ९४ ॥

' जइ सव्व सायार ' यदि सर्वं सामान्यविशेषात्मकं जगत् साकारं तच्चजातिव्यक्ति-  
 वृत्तिवर्धविशिष्टम्, साकारमिति क्रियाविशेषणं वा निरवच्छिन्नतत्तजातिनिष्ठप्रकारतानिरूपि



तत्तत्त्व्यक्तिनिष्ठविशेष्यनामहित परस्पर यावद्भव्यपर्यापनिरूपितविषयतामहित वा यथा स्यात्तथेत्यर्थः । “जाणइ एकसमयेण सबण्णु” जानाति एकममयेन सर्वज्ञः, पश्यति चेति शेषः, “जुञ्जइ मयावि एव” तदा युज्यते ‘सदाऽपि’ सर्वकाल ‘एव’ सर्वज्ञत्व सर्वदर्शित्व च तस्येत्यर्थः । अयम्भावः-सामान्यविशेषोभयात्मकत्वाद्दस्तुनो यदा सर्व विशेषात्मक जानाति तदैव विशेषानुस्यूतसामान्यमपि सर्वं पश्यति, तत्पश्यन् वा तदविनिर्भागवृत्त निखिलविशेषमपि तदैव जानाति, निखिलसामान्यत्रिपयताकत्वे सति निखिल विशेषविषयताकावबोधैकरूपत्वात् सर्वज्ञोपयोगस्य, तथाभ्युपगमे सत्येव तस्य सर्वज्ञस्य सर्वज्ञत्व सर्वदर्शित्व सदापि युज्यते । ‘अहवा’ अथवा एतद्वैपरीत्ये सति “सव्व न जाणाइ” सर्वं न जानाति, सामान्यविशेषोभयात्मक निश्चेषपदार्थमात्र सर्वज्ञो न जानीयात्, एक देशोपयोगवर्त्तित्वात्, मतिज्ञानिवत्, एकदेशोपयोगवर्त्ती च क्रमोपयोगपक्षे युगपदुपयोग द्वयपक्षे च सर्वज्ञः, तस्मात्सर्वं स न जानीयात्, तथा चोभयमतेऽसर्वज्ञत्वमसर्वदर्शित्वञ्च तस्य स्यात्, न च तथाऽभ्युपगन्तु युक्तमिति प्रतिक्षण सर्वदर्शित्वसर्वज्ञत्वान्यथानुपपत्त्या निखिलसामान्यविशेषपरिच्छेदात्मक यदव केवलज्ञान तदन केवलदर्शनमित्यभ्युपगन्तव्य मिति स्थितम् ॥ १० ॥

अव्यक्तत्वादपि पृथग्दर्शन केवलिनि न सम्भवतीत्याह—

परिसुद्धं साधार, अविअत्त दम्मण अणाधार ।

ण य खीणावरणिजे, जुञ्जइ सुवियत्तमवियत्त ॥ ११ ॥ ६५ ॥

‘परिसुद्ध’ परिशुद्ध-व्यक्तस्वरूप ज्ञानमिति शेषः । तत्र हेतुमाह-‘साधारमिति’ साकार मिति, यत्साकार तद्व्यक्तस्वरूपम्, यथा घटोऽयमिति ज्ञानम् । ‘अवियत्त दम्मण’ अव्यक्त दर्शनम्, तत्र हेतुमाह-‘अणाधारमिति’ अनाकारमिति, यदनाकार तदव्यक्तम्, यथा घटत्वं विषयकनिर्विकल्पज्ञानम्, चक्षुदर्शनादिक वा, न च क्षीणावरणेऽर्हति व्यक्तताऽव्यक्तते युज्येते इत्याह-‘ण य खीणावरणिजे जुञ्जइ सुवियत्तमवियत्त’ न च क्षीणावरणीये-क्षीण निस्मत्ता कमावरणीयमात्मज्ञानादिगुणाच्छादक घातिकर्म यस्य तस्मिन् सर्वज्ञे युज्यते सुव्यक्तमव्यक्तम् । अयम्भावः-दर्शनं स्वमामग्रीवलादव्यक्तस्वरूपमुपजायत इति तस्याऽव्यक्तता स्वरूपम्, ज्ञानञ्च व्यक्तस्वरूपमुपजायत इति तस्य व्यक्तता, न च क्षीणावरणीये सर्वज्ञे ते युज्यते, तस्य जगन्निखिलसामान्यविशेषोभयात्मकतत्त्वाना करामलकरत् सुव्यक्ततयैव प्रत्यक्षभावात् । तस्मात् सामान्यविशेषज्ञेयसस्पर्शुभयैकस्वभाव एवाय केवलिप्रत्यय इत्यभ्युपगन्तव्यम् । न च सामान्यविशेषारूपग्राहकत्वात् केवलदर्शनकेवलज्ञानारूपग्राहकद्वित्वेनापि भाष्यमिति नियमोऽस्ति, केवलज्ञानस्य ग्राहानन्त्येनानन्ततापत्तेः । अथ ज्ञानभेदप्रयोजको न विषयभेद इति चेत्, तर्हि ग्राहकद्वित्वाद् ग्राहकद्वित्वमित्यप्याग्रहो मुच्यताम्, आवरणद्वय





मभ्युपगन्तव्यम्, तत्र च दर्शनावरणक्षयजन्यतात्रच्छेदकव्यक्तत्वधर्मोऽभ्युपगन्तव्यः, तद्  
पेक्षया धर्मिरूपनातो धर्मकल्पना लघीयसीति न्यायेन सिद्धकेवलप्रत्यये ज्ञानत्वधर्मस्यैव  
दर्शनत्वधर्मस्यैव कल्पना श्रेयस्तरी, ताभ्यां धर्माभ्यामेव च ज्ञानदर्शनयोर्भेदः, न तु धर्मि  
भेदन, केवलप्रत्ययश्च व्यक्तस्वरूप एव, तथाऽभ्युपगमे न तत्र कोऽपि दोष इति ॥ ११ ॥

क्रमिकोपयोगपक्षे युगपदुपयोगद्वयपक्षे च दूषणान्तरमाह—

अद्विष्ट अण्णाय च केवली एव भासइ सया वि ।

एगसमयम्मि हदी वयणविगप्पो ण सभवइ ॥ १२ ॥ ६६ ॥

एवेत्यस्य अद्विष्टमित्यत्र अण्णायमित्यत्र चान्वयात् क्रमिकोपयोगपक्षे ज्ञानकाले  
'अद्विष्टं' अदृष्टमेव-दर्शनकाले च 'अण्णाय' अज्ञातमेव, युगपदुपयोगद्वयपक्षे च सामान्याशे  
ऽज्ञातमेव विशेषांशे चादृष्टमेव " केवली भासइ सया वि " केवली भासते मदाऽपि, तेन को  
दोष इत्याशङ्कायां तत्र दोषप्रदर्शनायोत्तरार्द्धमाह ग्रन्थकृत्—'एगसमयम्मि' एकस्मिन् समये  
सर्वांशे ज्ञात दृष्टञ्च भगवान् भासत इत्येव 'वयणविगप्पो ण सभवइ' वचनविकल्पो वचनस्य  
विकल्पो विशेषो भवत्पक्षे न सम्मरतीति गृह्यताम् । अथ केवलदर्शने मुख्यवृत्त्या यद्यपि  
निखिलतत्तजातय एव प्रतिभामन्ते तथापि गौणवृत्त्या निखिलतत्तद्व्यक्तिभानमपि तत्र भव  
त्येव, एव केवलज्ञानमपि तद्वैपरीत्येन ज्ञेयमिति गौणविषया विपयान्तरग्रहणादुक्तवचनविक  
ल्पोपपत्तिस्स्यादेवेति चेत्, तर्हि, भ्रान्तछन्नस्थेऽपि तथाप्रयोगप्रसङ्गस्स्यात्, यदा कदाचित्  
शृङ्गप्रादिकतया ज्ञानदर्शनविषयस्यैव पदार्थस्य तद्बुद्धावनुप्रवेशादिति स्मर्त्तव्यम् ॥ १२ ॥

उक्तपक्षद्वये अज्ञातदर्शित्वात् अदृष्टज्ञातत्वाच्च भगवतस्सर्वज्ञत्व न मम्मवतीत्युप-  
दर्शनायाह—

अण्णाय पासतो, अद्विष्ट च अरहा विघाणतो ।

किं जाणइ किं पासइ, कह सव्वणुत्ति वा होइ ॥ १३ ॥ ६७ ॥

'अण्णाय पासतो' अज्ञात पश्यन् 'अद्विष्ट च अरहा विघाणतो' अदृष्टञ्च अर्हन्  
विजानान, 'किं जाणइ किं पासइ' किं जानाति किं वा पश्यति ? न किञ्चिदपीत्यर्थः ।  
अयमभावः—अत्र काकुपाठात् किम्पद निषेधार्थतात्पर्यकम् । तथा च त्वं किं जानासि ?  
अर्थाच्च किमपीत्यत्रैव जगत्येतद्विषय को जानाति ? न कोऽपीत्यत्रैव ईश्वरे किं मानमिति  
निरीश्वरवादिप्रश्नराक्ये किम्पदतात्पर्यं न किमपीत्यत्रैव वा किं सर्वं जानाति किं सर्वं  
पश्यति ? अर्थात् न किमपि, अशेषपर्यायविशिष्टनिखिलतत्तद्वस्तुविषयकदर्शनज्ञानाभावा  
त्तस्य । 'कह मव्वणुत्ति वा होइ' कथं सर्वज्ञ इति वा भवति, सर्वज्ञ इत्यस्य भावप्रधान  
प्रयोगत्वाच्छ्रवणया सर्वज्ञत्वार्थकत्वेन कथं वा तस्य सर्वज्ञता भवेत् ? न कथमपीत्यर्थः ।

सामान्यांशविशेषांशद्वयशालिनिखिलतत्त्वस्तुगतैकैकांशग्राहिणः केवलदर्शनस्य केवलज्ञानस्य चाऽपरिपूर्णतत्त्वग्राहकत्वादिति ॥ १३ ॥

केवलज्ञानकेवलदर्शनयोरन्यूनानधिकमङ्गयकविषयकत्वेनाऽप्येकत्रमित्याह—

केवलनाणमणंत, जहेव तह दमण पि पण्णत्त ।

सागारग्गहणाहि य, णियमपरित्त अणागार ॥ १४ ॥ ६८ ॥

‘केवलनाणमणंत जहेव’ केवलज्ञानमनन्तार्थविषयकत्वादनन्त यथैव ‘तह दमण पि पण्णत्त’ तथा दर्शनमपि केवलदर्शनमपि प्रज्ञप्त अनन्तमित्यस्याङ्गत्वाऽत्राप्यन्वय । यदि केवलज्ञानकेवलदर्शनयोरेकत्व न स्यात्तदाऽल्पविषयकत्वात् केवलदर्शनमनन्त न स्यात्, तथा च ‘अणते केवलनाणे अणते केवलदमणे’ इत्याद्यागमविरोध प्रमज्जेत । ननु केवलज्ञानात्केवलदर्शनस्य भेदे तदनन्त न स्यादिति कुत इत्याशङ्कानिबृत्त्यर्थमुत्तरार्द्धमाह— “सागारग्गहणाहि” इत्यादि । यत्स्माकारग्रहणादनन्तविशेषग्राहिज्ञानात् ‘अणागार’ अनाकार सामान्यमात्रावलम्बि कवलदर्शन ‘णियमपरित्त’ नियमेनैकान्तेनैव परीत मल्पम्—अल्पविषयक भवतीति विषयभेदात् कुतोऽनन्तता तस्य । पुगपदुपयोगद्वयवादी तु दर्शनमनन्त प्रशक्तमित्यस्या प्रतिज्ञाया ‘सागारग्गहणाणि य णियमपरित्त’ इत्यकार प्रक्षेपात् साकार विशेषे गत यत्सामान्य तस्य यद्ग्रहण दर्शन तस्य नियमोऽवश्यम्भावास्ते नापरीतमपरिमाणमित्यर्थकरणेन साकारगतग्रहणनियमेनापरीतत्वादिति हेतुमभिधत्ते, यथापरीत तदनन्त यथा केवलज्ञानम्, अपरीत च कवलदर्शन तस्मात्तदनन्तम् । न च पक्षीभूते केवलदर्शने अपरीतत्वहेतोरभावात् स्वरूपासिद्धौ हतुरिति वाच्यम्, सामान्यविकल-विशेषाणां प्रमाणागोचरत्वेन पानन्तो विशेषा केवलज्ञाने प्रतिमामन्ते तावन्त्यखण्डमखण्डो पाधिरूपाणि जातिरूपाणि वा सामान्यानि केवलदर्शनेऽप्यवभासन्त एवेति नियमेन विशेषाणामानन्त्येन तत्समसङ्ख्यकमामान्यानामपि तथात्वादुक्तहेतुसिद्धेरिति भावः ॥ १४ ॥

अथ केवलज्ञानकेवलदर्शनयोः क्रमिकत्वात्पुण्यमे तयोर्वर्षवसितत्त्वादिकं न स्यादित्य-भेदवाद्युक्तदूषणस्य क्रमवादिना पूर्वोद्धेन क्रियमाण यत् समाधानमुत्तरार्द्धेन तत्प्रतिमभाषते भभेदवादी—

भण्णह जह चउनाणी जुञ्जह णियमा तहेव एय पि ।

भण्णह ण पचनाणी जहेव अरहा तहेय पि ॥ १५ ॥ ६९ ॥

‘भण्णह’ भण्यते—अभेदवाद्युक्त पूर्वोक्त दूषण समाधीयते, क्रमवादिना ‘जह’ यथा दृष्टान्तोपदर्शन, छाद्यम्बिकज्ञानव्यक्तीनामुपयोगापेक्षयोत्कृष्टतोऽप्यन्तर्दृष्टीर्त्तस्थिति कत्वेन परिणामवाद्यर्हन्मतन मतिज्ञानाद्युपयोगानां श्रुतज्ञानाद्युपयोगरूपेण परिणमनात्

तेषां जीवस्वामाख्यादेव क्रमेणैव प्रवृत्तिः, अत एव मय्यक्तयोत्पत्तिकाले ममकाल मतिश्रुते लब्धिमात्रमङ्गीकृत्य प्रोच्येते, न तूपयोगम्, उक्तञ्च—“ इह लद्धिमद्सुयाह ममकालाह न त्वओगो सिं ” इति । मतिश्रुतावधिमनःपर्यायज्ञानानि न युगपद्भवन्ति, भिन्नकाला वच्छिन्नभिन्नसाम्यपुत्पद्यमानत्वात्, चाक्षुपरामनादिज्ञानवत्, प्रत्यक्षानुमानादिवद्वैत्यनु मानेनापि यौगपद्यनिपेधेनार्थतः क्रमभावित्रमिद्विधे यतः क्रमोपयोगप्रवृत्तोऽपि “ चउ नाणी जुज्जह णियमा ” चतुर्ज्ञानी युज्यते निषमात्, अपर्यवसितमतिज्ञानादिचतुर्ज्ञानो ज्ञातदृष्टभाषी ज्ञाता द्रष्टा च निषमाद्युज्यते, तच्छब्धिभावात् । उक्तञ्च चतुर्ज्ञानित्वमेक स्यापि जीवस्य पञ्चमाङ्गैऽष्टमशतकद्वितीयोद्देशकसूत्रे—“ जे चउनाणी ते आभिणिबोहिय नाणी सुयनाणी ओहिनाणी मणपञ्जवनाणी । न च मत्यादिज्ञानानां लब्धिरूपत्वे सिद्धे सत्येव तेषामपर्यवसितत्वादिक स्यादिति वान्यम्, “ नाणलद्धीण भते ! रुइविहा पन्नत्ता ? गोयमा ! पचविहा पन्नत्ता, त जहा-आभिणिबोहियनाणलद्धी जाय केवलनाणलद्धी ” इति पञ्चमाङ्गाष्टमशतकद्वितीयोद्देशकसूत्रेण तया लब्धिरूपत्वस्य आभिणिबोहियनाणलद्धीण भते ! जीवा किं नाणी अन्नाणी ? गोयमा ! नाणी नो अन्नाणी ? अत्येगतिया दुन्नाणी चत्तारि नाणाह भयणाए ” इत्यादिश्रवणाभिनिरोधिकज्ञानलब्धिरूपाना केषाञ्चि जीवानां मतिश्रुतज्ञानयो. केषाञ्चिच मतिश्रुतावधिज्ञानाना मतिश्रुतमनःपर्यवज्ञानाना वा केषाञ्चिच मतिश्रुतावधिमनःपर्यायज्ञानाना लब्ध्यपेक्षया यौगपद्यस्य च, मत्यादिज्ञानत्रयस्य च “ उक्कोसेण छावट्टि सागरोवमाह माइरेगाह ” मनःपर्यायज्ञानस्य च “ उक्कोसेण देहणा पुब्बकोडी ” इति सिद्धान्तोक्तस्थितिरुक्तस्थितिरुक्तत्वात् तेषा सम्भवति, उत्कृष्टतोऽपि पादनात् । न चैतावत्कालान्तमुपयोगाऽपेक्षयोक्तस्थितिरुक्तत्वात् तेषा सम्भवति, उत्कृष्टतोऽपि छावट्टिस्थिकज्ञानोपयोगस्यान्तर्गृहीतिरुक्त्वात् । एतेनानुपयोगात्मकतया युगपद्व्यस्थितमत्ता कानां मत्यादिचतुर्ज्ञानानां बोधस्वभावता चेत्, तदा स्वस्वयोग्यार्थविषयकज्ञानोपयोगेनापि सदा नियमेन भवितव्यमेव, अन्यथा जडत्वापन्त्या बोधस्वभावत्वाऽनुपपत्तिस्स्यादित्यारेकाऽपि निरस्ता, उक्तहेतोरुक्तनिषेधे मानामावात्, कथमन्यथा “ इहभविण् भते ! नाणे परमविण् नाणे तदुभयमविण् नाणे ? गोयमा ! इहमविण् वि नाणे परमविण् वि नाणे तदुभयमविण् वि नाणे ” इति भगवतीप्रथमशतरूपथमोद्देशकसूत्रोक्तमेतद्भवोत्पन्नस्य मतिश्रुतज्ञानद्वयस्य मतिश्रुतावधिज्ञानत्रयस्य चेहभवे परमवे तदुभयमव परतरमवे चानुगमन सङ्गच्छते, एतद्भवे देहेन्द्रियादेस्मद्भावेऽप्यन्तरालगतौ तदमानन तद्रूपकारणामावेन स्वस्वयोग्यार्थविषयकज्ञानोपयोगस्यैवामावात्तदपेक्षया मतिश्रुतज्ञानाद्यनुगमनामावात् । तस्मादत्र स्वस्वयोग्यार्थविषयकज्ञानानुसूलशक्यपरनामलब्ध्यपेक्षयैव मतिज्ञानादिचतुष्टयस्यैककालावच्छिन्नस्वभिन्नज्ञानमामानाधिकरण्यलक्षण यौगपद्यमनसेयम् । उक्ताशयेनैव भगवतोमाश्रातिना—

“ एकादीन्येकस्मिन् भाज्यानि त्वाचतुर्भ्यः ” । १ । ३१ । इति सूत्र प्रणीतम् । ”

‘ तद्देव एव पि ’ तथैवेतदपि, केवलज्ञानकेरलदर्शनयोरन्यतरोपयोगप्रवृत्तावपि केवली अपर्यवसितकेवलज्ञानी अपर्यवसितकेवलदर्शनी ज्ञातदृष्टभाषी चेत्यादिक्रमपि सार्वदिककेरल ज्ञानदर्शनशक्तिसमन्वयादुपपद्यत एवेत्यर्थः । ‘ मण्णइ ’ मण्णते—अत्रोचर दीपते एकत्व-वादिना, ‘ ण पच णाणी जहेव अरहा तद्देवपि ’ न पञ्चज्ञानी यथैवार्हन् तथैतदपि । “ नट्टम्मि य छाउमत्थिए नाणे केवलनाण उचवज्जइ ” आच० नि० गाथा ५३९ इति यचनात्केवलज्ञानोत्पत्तिर्मतिज्ञानादिचतुष्टयस्य क्षायोपशमिकस्य घातिकर्मक्षये सति क्षयोपशमरूपकारणस्याऽभावाद्भावे सत्यं भवति, अत एवैककालानच्छिन्नमत्यादिज्ञान-चतुष्टयाऽममानाधिकरण केरलज्ञानमिति गीयते मैद्धान्तिके । तत्क्षयोपशमनाशकतायाश्च ‘ पणम खल पडिवाए ’ इत्यादिबृहत्कल्पमाप्पगायोक्तप्रकारेण पूर्वमेव प्रतिपादितत्वात्केर-  
लिनि क्षयोपशमाभावेन क्षायोपशमिकाना मत्यादिज्ञानानामभावाद् यथैवार्हन्न पञ्चज्ञानी तथैतदपि क्रमवादिना यदुच्यते—भेदतो ज्ञानवान् दर्शनशैथिले तदपि न भवतीत्यर्थः । मत्याद्यावरणक्षयेऽपि एकदशग्राहिणो मतिज्ञानादेरिव चानदर्शनारणक्षयेऽप्येकदेशग्राहिणो ज्ञानस्य दर्शनस्य च कवलिनि भेदेनानुपपत्तेरिति भावः । इयास्तु विशेषः—यद्भेदेनापि केवलज्ञाने केवलदर्शनसज्ञा सिद्धान्तप्रममता, न तु मतिज्ञानादिसज्ञेति, तत्र हेतू अन्वर्थोप-  
पत्त्यनुपपत्ती एव द्रष्टव्ये । तथाहि—केवल सम्पूर्ण दृश्यतेऽनेनेति केवलदर्शनमित्यन्वर्थोऽपि सत्त्वतः केवलदर्शनसज्ञा तत्र युक्ता, मतिज्ञानादिसज्ञा तु न युक्ता, मनन मति मति ज्ञानावरणकर्मक्षयोपशममहकृतचक्षुरादीन्द्रियमापक्ष यज्ज्ञान तन्मतिज्ञानम्, श्रोत्रेन्द्रिय द्वारिका श्रुतानुमारिण्यभिलाषप्लागितार्थोपलब्धिश्च्युतज्ञानम्, रूपिद्रव्यमात्रविषयक यज्ज्ञान तदवधिज्ञानम्, मनोद्रव्यपर्यायमात्रमाज्ञात्कारि यज्ज्ञान तन्मनःपर्यायज्ञानमित्यन्वर्थोऽपि सत्त्वमावाचत्र, क्षायोपशमिकभावातीतत्वात् केरलज्ञानस्यति अयञ्च प्रौढिनाद । वस्तुतः क्रमवादे “ केवली यदा जानाति तदा पश्यति ” इत्यादेरनुपपत्तिरेव, यतस्त्वत्र दृश-  
धातोर्दर्शन आख्यातस्य चाश्रयत्वं वर्तमानत्वञ्चार्थः, तथा च पश्यतीत्यस्य वर्तमान कालीनदर्शनाश्रय इत्यर्थः, न च म सङ्घटते, तदानीं दर्शनाभावात् । न च क्रमवादे केवलिनि यत्समयावच्छेदेन ज्ञानोत्पत्तिस्तत्समयावच्छेदेन दर्शनोत्पत्त्यभावेन दर्शनाश्रय-  
त्वाऽभावेऽप्यत्र लब्धेरवाख्यातार्थत्वेन दर्शनलब्धिर्मद्भावाच्चतदपेक्ष्योक्तप्रयोगोपपत्तिरिति वाच्यम्, दृशदत्तो घट यदा नैव पश्यति तदानीमपि ‘ म घट पश्यति ’ इति प्रयोग प्रमद्भावात्, घटदर्शनलब्धेस्तदानीमपि विद्यमानत्वात् । ननु भर मनेऽपि सर्वदर्शनवेलाया मपि चक्षुष्मान् सर्वं पश्यति, न तन्वह इत्यादिप्रयोगस्य कथमुपपत्तिरिति चेत्, उच्यते, अत्रानन्यगत्या लब्धेर्योग्यताया गाऽऽख्यातार्थत्वाऽभ्युपगमेऽपि न तु सर्वत्राऽप्यप-  
न्यायोऽनुमरणीयः, सुप्तश्चक्षुष्मान् सर्वं पश्यतीत्यादरपि प्रमद्भावात् । निद्राकालेऽपि लब्धे

स्सद्भावात् । न च सिद्धान्ते विना निक्षेपविशेषमप्रमिद्वाथे पदवृत्तिरवधार्यते, पट्टपट्टि-  
 सामगरोपमस्थितिकत्वादिकमपि मतिज्ञानादर्लबन्धपेक्षयैवेति दुर्बचम्, एकस्या एव क्षयो-  
 पशमरूपलब्धेस्तावत्कालमनवस्थानात्, द्रव्यक्षेत्राद्यपेक्षया विचित्रापरापरक्षयोपशममन्ता  
 नस्यैव प्रवृत्त्युपगमात् । किन्तु एकत्रीयानच्छेदेन अज्ञानातिरिक्तविरोधतामभ्यसमवहित  
 पट्टपट्टिसामगरोपमक्षणत्वव्याप्यस्वमजातीयोत्पत्तिकत्वे गति नदधिकृष्टानुत्पत्तिकस्वस  
 जातीयत्वरूप तत्पारिभाषिकमेव उक्तव्यम्, अत्र व्यक्तज्ञानोत्पत्त्यवहितपूर्वक्षणातिरिक्त  
 क्षणे नियमतोऽज्ञानात्मकविरोधिमामग्रीममघानस्य भावाद्विरोधिमामभ्यसमवहितपट्टपट्टि  
 सामगरोपमक्षणत्वमप्रसिद्धमतोऽज्ञानातिरिक्तेति विशेषणम् । एवमन्यदप्युक्तम् ॥ १५ ॥

क्रमेण युगपद्वा परस्परनिरपेक्षस्वविषयपर्यवसितज्ञानदर्शनोपयोगौ केवलिन्यमवार्थ-  
 ग्रहणात्मकत्वान्मत्यादिज्ञानचतुष्टयत्र स्त इति दृष्टान्तभाषनापूर्वमाह—

पण्णवणिज्जा भावा, समत्तसुअनाणदसणाधिसओ ।

ओहि मणपज्जवाण य(उ), अण्णोण्णवित्त्तण्णाविमओ ॥१६॥७०॥

अभिलाषयोग्यपर्यायैरेव स्थूलैः कालान्तरस्थापिभिर्व्यञ्जनपर्यायापराभिधानैश्चेतनाचे  
 तनस्य सकलवस्तुनोऽभिलाष्यत्प्रतीतेरभिलाष्यस्वभावात्प्रमनभिलाषयोग्यपर्यायैरेव सूक्ष्मैः  
 प्रतिक्षणभाविभिरर्थपर्यायाऽपरनामधेयैस्मर्वस्यानभिलाष्यत्प्रतीतेरनभिलाष्यस्वभावत्वमिति  
 स्याद्वाद्दरतना रूपश्चमपरिच्छेदाष्टमसूत्रटीकोक्तेः, इह जगति भावा अभिलाषयोग्य  
 व्यञ्जनपर्यायानभिलाषयोग्यार्थपर्यायापेक्षया प्रज्ञापनीयाप्रज्ञापनीयभेदेन द्विविधाः,  
 तत्राऽप्रज्ञापनीयाः प्रतिक्षणभाविस्तुसाऽर्थपर्यायत्वनायचनगोचरताऽऽपन्ना' करलिभग  
 वञ्जानगोचरा अपि न श्रुतज्ञानगोचराः, तदनन्तमागत्यतिनां प्रज्ञापनीयानामेव तद्वोच  
 रतनादित्याह—' पण्णवणिज्जा भावा ' इति-प्रज्ञापनीया' प्रकर्षेण सशयत्रिपर्ययादि  
 राहित्येन ज्ञापयितु योग्या', प्रज्ञाप्यन्त प्ररूप्यन्ते इति प्रज्ञापनीया वा कालान्तरभावि  
 स्थूलव्यञ्जनपर्यायपर्यवमायिचनपर्यायत्वेन श्रुतज्ञानगोचरा इति यावत्, भावा ऊर्ध्वा  
 धस्तिर्यग्लो कान्तनिष्ठिष्ट-भू-मनन-विमान-ग्रह-नक्षत्र-तारका-केन्द्रादयः, ते किंस्वरूपाः ?  
 इत्याह—'सम्मतसुअनाणदसणाधिसओ' समस्तश्रुतज्ञानदर्शनाविषयः, समस्तश्रुतज्ञानस्य  
 द्वादशाद्राव्यात्मकस्य दर्शनाया दर्शनप्रयोजिकायास्तद्वाक्योपजाताया बुद्धेर्विषय आल-  
 म्बनम् । नन्वस्या गाथाया श्रुतज्ञानमतिज्ञानमपि कथं न तथा भावितमिति चेत्, अत्र  
 समाधोयत, " मतिश्रुतयोर्निबन्धः सर्वद्रव्येभ्यमर्थपर्यायपु " ॥ १ ॥ २७ ॥ इति तत्कार्य-  
 सूत्रेण मतिश्रुतज्ञानयोरसर्वपर्यायविशिष्टमर्थद्रव्यपु विषयनियम' प्रदर्शित इति तयोरसर्व-  
 पर्यायमर्थद्रव्यविषयकत्वेन तुल्यार्थत्वप्रतिपादनात्मतिज्ञानमपि श्रुतज्ञानविषयविषयकमेव,

न हि पूर्वकालावच्छेदनागृहीतशब्दमङ्केतादेरव्युत्पन्नस्य मतिज्ञान जायत इति श्रुतज्ञान परिकर्मितमतेर्मतिज्ञानोपप्लुक्तस्य तत्कालावच्छेदेन श्रुतपरिपाटीमन्तरेणापि पद्वभ्यामाजायमानस्याऽसर्पपर्यायघर्मास्तिकायादिर्मर्द्रव्यविषयकमानमज्ञानस्यैव मतिज्ञानत्वात् । यदुक्त विशेषावश्यकभाष्ये—

“आप्तोक्ति व सुत्त, सुउचलद्वेषु तस्त महनाण ।

पसरइ तवभावणया, विणावि सुत्ताणुसारेण ॥ ४०५ ॥” इति ॥

ननु श्रुतपरिकर्मितमतेश्श्रुतोपलब्धेष्वर्थेषु यज्ज्ञान तच्छ्रुतमेव, कथं मतिज्ञानमिति चेत्, उच्यते, अत एवोक्तगाथाया ‘तन्भावणया विणा वि’ इत्युक्तेस्तन्मतिज्ञानम्, तद्भावणया विनापि—श्रुतोपयोगमन्तरेण तद्माननामात्रत एव यद् द्रव्यश्रेत्रकालभाष्येषु प्रवर्त्तते तस्त्रा देशेन मतिज्ञानमिति भावः । तथा च मतिश्रुतयोरमर्पपर्यायमर्द्रव्यविषयकतया तुल्यार्थत्वादेव मतिरपि श्रुतवदमर्पार्थग्रहणात्मकतया भावित्वेति भावणया प्रस्तुतगाथायां श्रुतज्ञानान्मतिज्ञानं पृथक् नोक्तमिति । अत्रेदं चिन्त्यम्—ननु यदि घर्मास्तिकायादिद्रव्याण्यनन्तपर्यायागलीढान्येव वस्तुत्व विप्रति तदा मतिश्रुतज्ञानाभ्यामनन्तपर्यायविशिष्टतयैव तद्ग्रहणेन मतिव्यपमिति चेत्, मैत्रम्, तद्वितरमकलकारणमद्भावं मति मतिश्रुतज्ञानग्रहणयोग्यत्वमस्ये मतिश्रुतज्ञानमन्त्रम्, तदभावे तदभाव इत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां तद्ग्रहणयोग्यतरस्य कारणत्वसिद्धेर्मतिश्रुतज्ञानयोस्मारणत्वेनानन्तपर्यायविशिष्टतया तद्ग्रहणयोग्यतरस्यैवाभावात्ताभ्यामनन्तपर्यायविशिष्टतया तद्ग्रहणभवनाऽभावात् । तथाहि—मतिज्ञानं तत्तदिन्द्रियानिन्द्रिययोग्यार्थग्राहकम्, तत्र च योग्यता मतिज्ञानारणकर्मक्षयोरशमलश्रुतेति मा यस्य यस्य विषयस्य तस्य तस्य मतिज्ञानेन ग्रहणम्, नान्यस्य, तत्र घर्माग्रहणे न सर्वे तद्गता पर्याया गृह्यन्ते, किन्तु कतिपया योग्या एव, न हि चक्षुषा योग्यदृश्यव्यवर्धमिग्रहणे तद्गता अनन्तास्वपरपर्याया गृह्यन्ते, किन्तु रूपसङ्ख्यासयोगादिनियतमङ्गलकाशचक्षुर्विषयभावमापन्ना एतेति । नन्वेव तर्हि घर्माघर्माकाशास्तिकायादीनां द्रव्याणामतीन्द्रियत्वान्नैव मतिज्ञानेन ग्रहणं स्यादित्यमर्पतत्पर्यायग्रहणे का वाच्येति मतेरमर्पपर्यायमर्पद्रव्यविषयनिबन्ध इत्युक्तमुक्तमिति चेत्, न, व्यवहारकालात्पूर्वं श्रुतेन सस्काराघानरूप उपकारं कृतो यस्य पुमस्तस्य मतिज्ञानोपयोगकाले पूर्वप्रवृत्तसम्काराघायकश्रुतानपेक्षस्याऽमर्पपर्यायघर्मास्तिकायाद्यतीन्द्रियविषयकस्यापि मानमज्ञानरूपमतिज्ञानस्य प्रवृत्ते, व्युत्पन्नपुमः कतिपयपर्यायविशिष्टपरमाण्वाद्यतीन्द्रियविषयरूपमानसज्ञानस्यैव, अनन्तपर्यायग्रहणे तु मनो नैव व्याप्रियते, तथाशक्त्यभावात्, कलज्ञानगम्यत्वात्तेषाम्, यदस्यघायि माप्यकारेण—

“आप्तोक्ति पगारो, ओहादेसेण सवदन्नाइ ।

धम्मत्थिआइयाइ, जाणइ न उ सन्नभेएण ॥ ४०३ ॥” इति ।

श्रुतज्ञानमपि श्रुतानुसारेण जायते, तत्र श्रुत सङ्केतत्रिपयपरोपदेशः श्रुतग्रन्थश्चेति शक्तिस्मरणद्वारा तद्वाच्यार्थगोचरेण तेन श्रुतज्ञानेन नैकैकद्रव्यगताः सर्वे स्वस्वाऽमाधारणधर्मरूपेण पर्याया अभिलाष्यानभिलाष्यात्मका त्रिपयीक्रियन्त इति श्रुतज्ञानी सर्वद्रव्याणि जानन्नपि न तद्गतान् तान् पर्यायान् सर्वान् जानीते, तेषा सर्वेषां श्रुतज्ञानावरणीयकर्मक्षयोपशमलक्षणयोग्यत्वस्याऽमावादेवेति । अवधिमनःपर्याययोर्निमित्तविषयकत्वमभिधातुमुत्तरार्द्धमाह—“ ओहिमणपज्जवाण उ अण्णोणविलक्खणा विमओ ” अत्रधिमनःपर्याययोः पुनरन्योन्यविलक्षणा विषयः, मात्रा इत्यस्याऽत्राऽप्यनुकर्षणात् अन्योन्यविलक्षणा भावा विषय इत्यर्थः । अवधिज्ञानस्य रूपिद्रव्यमात्र विषयः ‘ रूपिष्ववधेः । १ । २८ । इति तत्त्वार्थसूत्रस्य नियमपरतया तेनावधिज्ञाने रूपिद्रव्यत्प्रमनियतविषयताकत्वस्यैव प्रतिपादनात् । यतः “ परमोहिन्नाणविओ, केवलमन्तोमुहुत्तमित्तेण ६८९ । इति विशेषावश्यकभाष्योक्तेर्यदुत्पन्नमन्तरमन्तर्मुहूर्त्तकालमात्रेण नियमेन केवलज्ञानमुत्पद्यते इत्येव लक्षणेन सुविशुद्धेनापि ‘ रूवगय लहइ सब ” इति भाष्योक्तेस्सर्वलोकान्तर्गतपरमात्वादिभेदभिन्ननिखिलपुद्गलद्रव्यविषयकेण केवलज्ञानमास्फोटकल्पेन परमात्मविशुद्धिममुत्पत्तेन परमावधिज्ञानेन रूपीण्येव द्रव्याण्यवधिज्ञानी जानीते, तान्यपि न सर्वपर्यायविशिष्टानि, किन्तु ‘ पेच्छइ चउग्गुणाइ जहण्णओ मुत्तिमताइ ” ८०७ इति भाष्यवचनाद् जघन्यत एकैरुद्रव्यापेक्षया चतुःपर्यायविशिष्टानि “ पइदव सखाईयपज्जयाइ च मवाइ ” ८०८ इति भाष्योक्तेरुत्कृष्टतस्त्वेकैकद्रव्यमाश्रित्यामह्यथेयपर्यायविशिष्टानि अवधिज्ञानी जानीते । ननु यद्यवधिज्ञानी उत्कृष्टतोऽपि कृत्स्नलोकराचिनिखिलानि रूपीण्येव द्रव्याणि जानीते तर्हि लोकप्रमाणान्यलोकेऽसङ्ख्यखण्डानि परमावधिः पश्यति, उक्तञ्च—परमोहि असखेज्जा लोकरमिता ” इत्यादि । ततः क्षेत्रस्यारूपित्वात्तत्कथं मङ्गच्छते इति चेत्, उच्यते, यदि तत्र तानि रूपिपुद्गलद्रव्याणि द्रष्टव्यानि स्युस्तदा पश्येदेवावधिज्ञानी, न च तानि तत्र सन्तीत्यतस्मामर्ध्वमात्रवर्णनमेतदिति नोक्तविरोधः । उक्तञ्च भाष्यकृता—

“ सामत्थमेत्तमेघ, जइ दइव्व ह्वेज्ज पेच्छेज्जा ।

न य त तत्थत्थि जओ, मो रुविनिधघणो भणिओ ॥६०५॥” इति

मनःपर्यायज्ञानस्य च ‘ मृणइ मणोदवाइ नरलोए सो मणिज्जमाणाइ ’ ८१३ इत्युक्तेर्मानुषक्षेत्रे सङ्घिपञ्चेन्द्रियजीवेन काययोगेन गृहीत्या मनोयोगेन मनस्त्वेन परिणमितानि मानसिकविचारानुगुणानि अनन्तपरमाणुनिष्पन्नानि मनोद्रव्याणि विषयः । स च विषयोऽवधिज्ञानविषयसमसङ्ख्यको न, किन्तु तदनन्ततमभागरूपः “ तदनन्ततमभागे मनःपर्यायस्य ” १-२९ । इति तत्त्वार्थसूत्रेण यानि रूपीणि द्रव्याण्यवधिज्ञानी जानीते ततोऽनन्ततमभागे मनःपर्यायज्ञानस्य त्रिपयनिबन्धो भवतीति प्रतिपादनात् । ननु यदि मनःपर्यायज्ञानी अव

धिज्ञानविषयस्यानन्ततमभागरूपाणि अरधिज्ञानिनस्सकाशाद्बहुतरपर्यायाणि मनोद्रव्याण्येव जानीते तर्हि किं स सञ्जिजीवैर्मनसा चिन्तित बाह्यस्तु नैव जानातीति चेत्, क आह ? न जानातीति, तर्हि किं वेत्ति ? अगच्छयेव यद्यवधिज्ञान स्यात्तदा तेन सञ्जिजीवैश्चित्तितमपि, नो चेत्चेद्विज्ञाकार दृष्ट्वा ततोऽप्यमाचार्यमगवान् ईदृशाभिप्रायवान् ईदृशेद्विज्ञाकाराऽन्यथानुपपत्तेरित्येवमनुमानेनातेजसी विनयमूर्च्छिः पूज्याचार्याभिप्राय जानाति ।

“ जाणइ य पिहु जणो वि हु, फुडमागारेहिं भाणस भाव ।

एमेव य तस्सुवमा, मणदव्वपगासिए अत्ये ॥ ३६ ॥ ” इति

बृहत्कल्पभाष्यवचनाद्, यद्वा मलीमस प्रशान्त वा मुखाकार चेष्टाविशेषवच्च वा दृष्ट्वा ततोऽप्य पुरुषो दुर्मना' सुमना वा दृश्यमानेदृशमुखाकारस्येदृशचेष्टावचनस्य वाऽन्यथानुपपत्तेरित्यनुमानेनान्यप्राकृतपुरुषोऽन्यपुरुषस्य स्फुट मानस भाव वेत्ति यथा तथा मनोद्रव्यपरिणामस्वत्माद्यविनाभाविन दृष्ट्वा ततो मनोद्रव्याणामीदृशपरिणामान्यथानुपपत्तेरनेन सञ्जिजीवेनेद स्वत्मादि वस्तु मूर्त्तमात्माद्यमूर्त्तं वा चिन्तितमस्तीत्यनुमानेन मूर्त्तामूर्त्तं अपि द्रव्ये मन पर्यायज्ञानी वेत्ति, न तु साक्षादध्यक्षता, यतश्चिन्तको मूर्त्तं परमाण्वादिकममूर्त्तमात्मादिक धानादिक च वस्तु चिन्तयेत्, न च मनःपर्यायज्ञानी मूर्त्तं परमाण्वादिकममूर्त्तं धर्मास्तिकायादिद्रव्यं चिन्तितज्ञानादिगुणादिकं च वस्तुमात्र साक्षाद् जानाति, ततो ज्ञायते मनोद्रव्याणां तथाऽऽस्याकारपरिणामान्यथानुपपत्तिलिङ्गकानुमानादेव चिन्तनीय वस्त्वन गच्छतीति, उक्तञ्च विशेषावश्यकभाष्ये—“ तेजावमासिए उण जाणइ बज्जेऽणुसाणेण ” इति । भावमनःपर्यायप्राहकत्वे मति साश्चात्तद्व्यतिरिक्तद्रव्यपर्यायाऽप्राहक यज्ज्ञान तन्मनःपर्यायज्ञानमिति पर्यायसिततल्लक्षणम्, एतत्सर्वविवेचनमस्मत्प्रणीततत्रार्थविवरणटीकातोऽवसेयमिति । तथा च सिद्धमेतन्मतिश्रुतारधिमनःपर्यायानानि तत्तत्क्षयोपशमकारणभेदप्रयुक्तपरस्परत्रिलक्षणविषयकत्वेनामर्थातीति ॥ १६ ॥

अत एव तेषां चतुर्णां विभागो युज्यते, न तु केवलानि केवलज्ञानकेवलदर्शनयोर्विभाग उपपद्यते, सार्थित्वात्तयोरिति सहेतुकदार्ष्टान्तिकोपपादनायाह—

तम्हा चउच्चिभागो जुज्जइ, ण उ नाणदमण जिणाण ।

सयलमणावरणमणात्-मक्खवय केवल जम्हा ॥ १७ । ७१ ॥

‘ तम्हा चउच्चिभागो जुज्जइ ’ तस्मादुक्तहेतो चतुर्विभागः चतुर्णां मतिज्ञानादीनां विभागो युज्यते तत्तत्क्षयोपशमरूपकारणभेदात्, ‘ न उ नाणदमण जिणाण ’ न तु ज्ञानदर्शनयोः केवलज्ञानकेवलदर्शनयोर्जिनानां क्षीणरागद्वेषादीनां केवलानाम्, ‘ नाणदमणत्ति ’ अविभक्तिको निर्देशः सूत्रत्वात् । तत्र हेतूपदर्शनायोत्तरार्द्धमाह-मयलेत्यादि-मकलमना



वरणमनन्तमक्षय केवल यस्मादिति । यस्मात्केवल केवलज्ञान सकलत्रिपयकत्वात्सकल परिपूर्णम्, पदार्थत्वव्यापकत्रिपयताकृति यान्त । तत्कृत इत्याशङ्कानिवृत्त्यर्थं तत्र हतु-माह-अनावरणम्, निश्शेषावरणमलरहितम्, अनावरणत्वात्तत्कृतम्, न च प्रदीपोऽनावरणोऽपि न सकलार्थान् प्रकाशयतीति व्यभिचारस्तन्निवृत्त्यर्थं विशेषणान्तरमाह—अणत-यदन्तरहितमपर्यरसितमचाक तत् सकलार्थत्रिपयक, न च प्रदीपोऽन्तरहित इति न तत्र व्यभिचारः । यद्वाऽनन्तार्थग्रहणप्रवृत्तम्, प्रदीपस्तु परिमितार्थग्रहणप्रवृत्त इति न तेन व्यभिचारः, तदपि कुतः ? यतोऽक्षयम्, यथा भास्वरस्य जगत्प्रकाशस्वभावोऽति समुन्नतघनाघनपटलाडम्बरेणावृत. प्रतिकूलवाद्यादिना सर्वथा तद्विगमे मति सर्वकलांशै रभिव्यक्तोऽपि पुनरतिप्रबलनापुनाऽऽनीयमानमेघपटलाडम्बरेणाच्छाद्यते तद्वदात्मकेवल प्रकाशोऽतिनिविडतमज्ञानावरणकर्मवरणेनावृतशुक्लध्यानादिना निश्शेषतस्तद्विघ्नसे सति सर्वथाऽभिव्यक्तो न पुनरात्रियते, तत्प्रतिरोधकनव्यकर्मबन्धाभावात्, विरोधिगुणान्तरा भावेन नापि पश्चात्तत्क्षयः, ततश्च तस्यानन्तत्वमिति भावः, तस्मादकमोपयोगद्वयात्मक एक एव केवलोपयोग इत्यभ्युपगन्तव्यम् । तत्रैकत्व व्यक्त्या, द्वयात्मकत्वाच्च नृमिहत्ववदां शिकजात्यन्तररूपत्वमित्येके, मापे स्निग्धोष्णत्ववद्व्याप्यवृत्तिजातिद्वयरूपत्वमित्यपरे, मह नीयमान्यमतिभवन्यायाचार्यश्रीयज्ञोविजयोपाध्यायास्तु केवलत्वमावरणक्षयात्, ज्ञानत्व जातिविशेषः, दर्शनत्वञ्च त्रिपयताविशेषो दोषक्षयजन्यतावच्छेदक इत्याहुः ॥ १७ ॥

केवलज्ञानकेवलदर्शनैक्यमभ्युपगच्छन् ग्रन्थकारस्स्वपक्षे आगमनिरोध परिहरन्नाह—

परवत्तव्वयपक्खा, अविसिद्धा तेसु तेसु सुत्तेसु ।

अत्थगइअ उ तेसिं, विघज्जण जाणओ कुणइ ॥ १८ ॥

“परवत्तव्वयपक्खा अविसिद्धा” परवत्तव्वयरूपत्वाऽप्रतिशेष्टाः, वक्तुं योग्यानि वक्तव्यानि तान्येव वक्तव्यकानि परवैशेषिकादिभिर्नक्तव्यकानि परवत्तव्वयकानि, तेषां पक्षा अभ्युपगमा “युगपच्छानानुत्पत्तिः” “नागृहीतविशेषणा विशिष्टबुद्धिः” इत्यादिरूपास्तैः ‘अविसिद्धा’ अविशिष्टा अभिन्ना एकार्थप्रतिपादका इति यावत् “तेसु तेसु सुत्तेसु” भगवन्मुखांमोजनैर्गतेषु तेषु तेषु सूत्रेषु “ज समय पामइ नो त समय जाणइ” इत्यादिषु अभ्युपगमाः प्रतिभासन्ते, नन्वेव तर्हि तेषां सूत्राणां किं तथैव व्याख्या कर्त्तव्या किं वाऽन्यथेत्याशङ्कानिवृत्त्यर्थमुत्तरार्द्धमाह—“अत्थगइअ उ” तु-शब्दस्पायधारणार्थत्वादर्थगत्यैव मामर्थेनैव ‘तेसिं त्रिपयज्जण जाणओ कुणइ’ तेषां व्यञ्जन झरुः करोति, तेषां सूत्राणां व्यञ्जन द्वादशाङ्गात्मकप्रयचनाऽविरोधेनार्थव्यक्तीकरणम्, व्याख्यानमिति यावत्, जानातीति झः म एव झरुः, अर्हदागमयथार्थज्ञाता करोति “ज समय पामइ नो त समय जाणइ” इत्येतत्स्वर धृतावविमनःपर्यायकेवलसत्तकत्रिपयकेनल्पन्यतराऽपेक्षयैव चरितार्थम्,

न तु केवलकेवल्यपक्षया, तस्याऽगर्वाताप्राप्तेः । ' मोमिला दृष्टव्याए एगे अह नाणदमण-  
द्वयाए दुविह अह ' इति सूत्रमपि ज्ञानत्वदर्शनत्वाभ्यां ज्ञानदर्शनभेदविवक्षयैरोक्तमिति  
सुरेरमिप्रायः ॥ १८ ॥

यद्वा ननु यदेव केवलज्ञान तदेव केवलदर्शनमित्येव केवलज्ञानकेवलदर्शनैक्योरीकारपरि-  
भवन्मतेऽपि—केवली ण भते' इम रयणप्पभ इत्यादिसूत्रे ' ज समय ' इत्यादौ यत्समकामि-  
त्याद्यर्थो न सर्वस्वरमिद्व', तादृशप्रयोगे तथाविरणभावात्, तथा पञ्चमाङ्गेऽष्टादशशतके  
दशमोद्देशक " सोमिला दृष्टव्याए एगे अह नाणदमणद्वयाए दुविह अह " इत्यनेनो-  
त्पन्नकेवलज्ञानेन भगवता स्वयमेव स्वान्तो ज्ञानदर्शनरूपभिन्नपर्यायापेक्षया द्वित्वविशिष्ट-  
एत्वोक्त्या केवलज्ञानकरलदर्शनयोस्त्वष्टादशभेदप्रतिपादनादुक्तागमविरोधोऽपि, यद्धर्मविशिष्ट-  
विषयावच्छेदन भेदनपार्षण तद्धर्मविशिष्टापेक्षयै द्वित्वादम्भाकाङ्क्षत्वात्, अत्र यद्धर्मपदन-  
ज्ञानत्वदर्शनत्वयोर्ग्रहण, तद्विशिष्ट ज्ञान दर्शनश्च, तद्विषयो विशेष सामान्यश्च, तदवच्छेदना-  
त्मनो भेदनस्य भेदग्राहिन्यप्यार्षण विवक्षण, विशेषात्मना सामान्यात्मना च आत्मनो  
भेदव्यवस्थापनम्, तद्धर्मविशिष्टापेक्षयै केवलज्ञानत्वरविशिष्टापेक्षया केवलदर्शनत्वविशिष्टा-  
पेक्षयै च द्वित्वाद. माकाङ्क्षत्वात्, आत्मनि द्वित्वादन्वय " नाणदमणद्वयाए दुविह  
अह " इति वाक्यस्य माकाङ्क्षत्वादित्यर्थः । अथाऽतिप्रमङ्गात् इत्याशङ्क्य युक्तिसिद्ध-  
सूत्रार्थो प्राक्ष., तेषा स्वमयपरममयादिविषयभेदन विचित्रत्वादित्यमिप्रायतानाह सुरिः-

परवत्तन्वयपक्खा, अविमुद्धा तेसु तेसु अत्येसु ।

अत्यगईअ उ तेमि, चिअजण जाणओ कुणइ ॥ १८ ॥ ७२ ॥

श्रीयशोविजयोपाध्यायैरिष गार्थेन विवृता ज्ञानविन्दौ, " परवत्तन्वयपक्खा " परवक्त-  
व्यकपक्षा परेषां वैशेषिकादीनां पानि वक्तव्यकानि तेषां पक्षा. " अविमुद्धा तेसु तेसु  
अत्येसु " अविमुद्धास्तपु तत्त्वर्थेषु सूत्रे तत्तन्वयपरिकर्मणादिहतो. निवद्वाः, नन्वय तर्हि ते  
किं तयैर स्याद्वादतत्त्वज्ञेन प्राक्षा उतान्यथेत्याशङ्कार्या तन्निवृत्त्यर्थमुत्तरार्द्धमाह—'अत्यगईअ  
उ' तुशब्दस्यावधारणार्थत्वात् अर्थगत्यैव सामर्थ्येनैव ' तेमि चिअजण ' तेषामर्थानां  
व्यञ्जनं व्यक्तिं सर्वप्रवादमूलत्वाद्वाऽविरोधेन ' जाणओ कुणइ ' ज्ञानो ज्ञाता करोति ।  
तथा च ' ज समय पामह ' इत्यादर्यथाश्रुताथे केवली श्रुतावधिमन.पर्यायकव्यन्यतरो  
प्राक्ष. परमावधिराधोऽवधिकलक्षणातिरिक्तविषय स्नातकादिविषय वा तादृशसूत्रप्रवृत्तौ  
तत्र परतीर्थिकवक्तव्यताप्रतिषेद्धत्वाच्च, एवमन्यत्रापीति दिक् ॥ १८ ॥

अथ मनःपर्यायज्ञानं पदुद्ययोपशमप्रभवत्वाद् विशेषमेव गृह्यतु-पद्यत, न सामान्यमिति  
तद्विषयस्य विशेषैकरूपत्वाद्वा तज्ज्ञानत्वमैव निर्दिष्ट सूत्रे, अक्रमज्ञानोपयोगदर्शनोपयोग

वरणमनन्तमक्षय केवल यस्मादिति । यस्मात्केवल केवलज्ञान सकलत्रिपयकत्वात्मकल परिपूर्णम्, पदार्थत्वव्यापकविषयताकमिति यावत् । तत्कुत इत्याशङ्कानिवृत्त्यर्थं तत्र हेतु- माह-अनावरणम्, निशेषावरणमलरहितम्, अनावरणत्वात्तत्कलम्, न च प्रदीपोऽना- वरणोऽपि न सकलार्थान् प्रकाशयतीति व्यभिचारस्तन्निवृत्त्यर्थं विशेषणान्तरमाह—अणत- यदन्तरहितमपर्यवसितमत्ताक तत् सकलार्थविषयक, न च प्रदीपोऽन्तरहित इति न तत्र व्यभिचारः । यद्वाऽनन्तार्थग्रहणप्रवृत्तम्, प्रदीपस्तु परिमितार्थग्रहणप्रवृत्त इति न तेन व्यभिचारः, तदपि कुतः ? यतोऽक्षयम्, यथा मास्करस्य जगत्प्रकाशस्यभावोऽति ममुन्नतघनाधनपटलाडम्बरेणावृत प्रतिकूलगत्यादिना सर्वथा तद्विगमे सति सर्वकलांशै रभिव्यक्तोऽपि पुनरतिप्रचलनायुनाऽऽनीयमानमेघपटलाडम्बरेणाच्छाद्यते तद्वदात्मकेवल प्रकाशोऽतिनिविडतमज्ञानावरणकर्माररणेनावृतशुक्लध्यानादिना निशेषतस्तद्विध्वंसे सति मर्यादाभिव्यक्तो न पुनरात्रियते, तत्प्रतिरोधरुनव्यकर्मबन्धाभावात्, विरोधिगुणान्तरा भावेन नापि पश्चात्तत्त्वपः, ततश्च तस्यानन्तत्वमिति भावः, तस्मादक्रमोपयोगद्वयात्मक एक एव केवलोपयोग इत्यभ्युपगन्तव्यम् । तत्रैकत्वं व्यक्त्या, द्वयात्मकत्वं च नृसिंहत्ववदां- शिकजात्यन्तररूपत्वमित्येके, मापे स्निग्धोष्णत्ववद्व्याप्यवृत्तिजातिद्वयरूपत्वमित्यपरे, मह नीयमान्यमतिवैभवन्यायाचार्यश्रीयशोत्रिजयोपाध्यायास्तु केवलत्वमावरणक्षयात्, ज्ञानत्व जातिविशेषः, दर्शनत्वश्च त्रिपयताविशेषो दोषक्षयजन्यतावच्छेदक इत्याहुः ॥ १७ ॥

केवलज्ञानकेवलदर्शनैक्यमभ्युपगच्छन् ग्रन्थकारस्त्वपक्षे आगमपिरोध परिहरन्नाह—

परवक्तव्यपक्त्वा, अत्रिसिद्धा तेसु तेसु सुत्तेसु ।  
अत्थगईअ उ तेसिं, वियजण जाणओ कुणइ ॥ १८ ॥

“ परवक्तव्यपक्त्वा अत्रिसिद्धा ” परवक्तव्यरूपक्षाऽविशिष्टाः, वक्तु योग्यानि वक्तव्यानि तान्येव वक्तव्यकानि परैशेषिकादिभिर्निवृत्तव्यकानि परवक्तव्यकानि, तेषा पक्षा अभ्युपगमा “ युगपदज्ञानानुत्पत्तिः ” “ नागृहीतविशेषणा त्रिशिष्टबुद्धिः ” इत्यादिरूपास्तैः ‘ अत्रिसिद्धा ’ अत्रिशिष्टा अभिन्ना एतार्थप्रतिपादका इति यावत् “ तेसु तेसु —” मगयन्मुखाम्मोजनिर्गतेषु तेषु तेषु सूत्रेषु “ ज समय पासड नो त समय जाणइ ’ दिषु अभ्युपगमा. प्रतिभासन्ते, नन्वेव तर्हि तेषा सूत्राणा किं तथैव व्याख्या कर्तव्य. वाऽन्यथेत्याशङ्कानिवृत्त्यर्थमुत्तरार्द्धमाह—‘ अत्थगईअ उ ’ तु-शब्दस्यावधारणार्थत्वाद्. गत्यैव सामर्थ्येनैव ‘ तेसिं वियजण जाणओ कुणइ ’ तेषा व्यञ्जन शकं करोति, तेषा सूत्राणा व्यञ्जने ङादप्राङ्गयात्मकप्रवचनाऽविरोधेनार्थव्यक्तीकरणम्, व्याख्यानमिति यावत्, जानातीति जं म एव शकः, अर्हदागमयथार्थज्ञाता करोति “ एतन्मम पामइ नो त सम जाणइ ” इत्येतद्वन्न श्रुतानधिभनःपर्यायकेरलिसङ्करत्रिषुकेव...

न तु केवलकेवल्यपेक्षया, तस्याऽमर्षजताप्राप्ते । ' मोमिला दबड्डयाए एगे अह नाणदमण-  
ड्डयाए दुविहे अह ' इति सूत्रमपि ज्ञानत्वदर्शनतराम्या ज्ञानदर्शनभेदविवक्षयैरोक्तमिति  
सुरेरभिप्राय' ॥ १८ ॥

यद्वा ननु यद्द केवलज्ञान तदत्र केवलदर्शनमित्येव केवलज्ञानकेवलदर्शनैक्योरोरकारपर  
भवन्मतेऽपि—केवली ण भते' इम रयणप्पभ इत्यादिघ्ने ' ज समय ' इत्यादौ यत्समकमि  
त्याद्यर्थो न सर्वस्वरसिद्ध, तादृशप्रयोगे तथात्रिरणाभावात्, तथा पञ्चमाङ्गेषटादृशतके  
दृशमोदेशक " सोमिला दबड्डयाए एगे अह नाणदमणड्डयाए दुविहे अह " इत्यनेनो  
त्पन्नकेवलज्ञानेन भगवता स्वयमेव स्वार्त्तमनो ज्ञानदर्शनरूपभिरपर्यायापेक्षया द्वित्वविशि  
ष्टत्वोक्त्या केवलज्ञानकेवलदर्शनयोस्सपष्टाश्वरैर्भेदप्रतिपादनादुक्ताममत्रिरोधोऽपि, यद्धर्मविशिष्ट  
विषयावच्छेदनं भेदनयार्पणं तद्धर्मविशिष्टापेक्षयैः द्वित्वादस्माकङ्गत्वात्, अत्र यद्धर्मपदन  
ज्ञानत्वदर्शनत्वयोर्ग्रहणं, तद्विशिष्टं चान दर्शनञ्च, तद्विषयो विशेष सामान्यञ्च, तदवच्छेदना  
त्तमनो भेदनयस्य भेदग्राहिनयस्यार्पणं विवक्षणं, विशेषात्मना सामान्यात्मना च आत्मनो  
भेदव्यवस्थापनम्, तद्धर्मविशिष्टापेक्षयैः केवलज्ञानत्रविशिष्टापेक्षया केवलदर्शनत्रविशिष्टा  
पेक्षयैश्च च द्वित्वादेः साकाङ्गत्वात्, आत्मनि द्वित्वादस्त्वय " नाणदमणड्डयाए दुविहे  
अह " इति वाक्यस्य साकाङ्गत्वादित्यर्थः । अन्यथाऽतिप्रमङ्गात् इत्याशङ्क्य युक्तिसिद्ध  
सूत्रार्थो ग्राह्य, तेषा स्वसमयपरममयादिविषयभेदनं विचित्रत्वादित्यभिप्रायवानाह सुरिः—

परवत्तन्नयपक्खा, अविस्सुद्धा तेसु तेसु अत्थेसु ।

अत्थगईअ उ तेसिं, विअजण जाणओ कुणइ ॥ १८ ॥ ७२ ॥

श्रीयशोत्रिजयोपाध्यायैरिय गार्थं विवृता ज्ञानचिन्दौ, " परवत्तन्नयपक्खा " परवत्त  
व्यकपक्षा. परेषा त्रैशेपिकादीना यानि वक्तव्यकानि तेषा पक्षाः " अविस्सुद्धा तेसु तेसु  
अत्थेसु " अविशुद्धास्तेषु तत्पथेषु सूत्रे तत्तन्नयपरिकर्मणादिहेतो निबद्धाः, नन्वेव तर्हि ते  
किं तथैव स्याद्वादतरज्जेन ग्राह्या उतान्यथेत्याशङ्कार्यां तन्निवृत्त्यर्थमुत्तरार्द्धमाह—'अत्थगईअ  
उ' तुशब्दस्यानधारणार्थत्वात् अर्थगत्यैत्र सामर्थ्येनैव ' तेमि त्रिअण ' तेषामर्थाना  
व्यञ्जनं व्यक्तिं सर्वप्रवादमूलद्रादशाङ्गाविरोधेन ' जाणओ कुणइ ' इको ज्ञाता करोति ।  
तथा च ' ज समय पामइ ' इत्यादर्यथाश्रुतार्थे केवली श्रुतावधिमत.पर्यायकेवल्यन्यतरो  
ग्राह्य. परमात्रविकाधोऽत्रविक्रमस्थानिरेक्तविषयं स्नातकादिविषये वा तादृशसूत्रप्रवृत्तौ  
त्र परतीर्थिकवक्तव्यताप्रतिषेद्धत्व वाच्यम्, एवमन्यत्रापीति दिक् ॥ १८ ॥

अथ मनःपर्यायज्ञानं पदुक्षयोपशमप्रभवत्वाद् विशेषमेव गृह्यदुत्पन्नत, न सामान्यमिति  
तद्विषयस्य विशेषैकरूपत्वादेव तज्ज्ञानत्वेनैव निर्दिष्टं सूत्रे, अक्रमज्ञानोपयोगदर्शनोपयोग

द्वयात्मकैकैवल्योपयोगस्तु तद्विषयस्य सामान्यविशेषभेदेन द्विविधत्वात्तदुभयाशे सर्वथाऽऽ  
 वरणकर्मक्षयसद्भावात् तद्भाविज्ञानधर्मिण एकत्वेऽपि तदुभयग्रहणोन्मुखत्वेन केवलज्ञानत्वेन  
 केवलदर्शनत्वेन च भिन्नप्रकारेण 'केवलनाणे केवलदमणे' इत्यादिष्वे निर्दिष्ट इत्युप-  
 पादनायाह—

जेण मणोविमयगया-ण दसण नत्थि दच्चजायाण ।

तो मणपञ्जवणाण, णियमा णाण तु निदिट्ठ ॥ १९ ॥ ७३ ॥

'जेण मणोविमयगयाण' येनेति हेत्वर्थे तृतीयाविधानात्, यस्माद्धेतोर्मनोविषयगतानां  
 मनःपर्यायज्ञानविषयता प्राप्ताना संज्ञिजीवैः काययोगेन गृहीत्वा मनोयोगेन मनस्त्वेन  
 परिणमिताना 'द्वजजायाण' द्रव्यजाताना बाह्यपदार्थचिन्तनानुगुणमनोद्रव्यविशेषाणा  
 बाह्यचिन्त्यमानार्थविषयकानुमितजनकतौपयिकविशेषरूपस्यैव सद्भावात् 'दमण नत्थि'  
 दृश्यतऽनेन तद्दर्शनमिति विग्रहसिद्ध दर्शन सामान्यविषयक नास्ति "तो मणपञ्जवणाण  
 णियमा णाण तु निदिट्ठ" अत्र तुरवधारणार्थे, ततो मनःपर्यायज्ञान नियमाज्ज्ञानमेव निर्दिष्टम् ।  
 यद्वा दृश्यते यत्तद्दर्शनमिति विग्रहेण दर्शनपदग्राह्य सामान्य नास्ति 'तो' तत्र, ग्राह्यस्य  
 सामान्यस्याभावे सति मुख्यतया तद्ग्रहणोन्मुखदर्शनाभावात् 'मणपञ्जवणाण णियमा णाण  
 तु निदिट्ठ' तुशब्दस्यावधारणार्थत्वाद् मनःपर्यायज्ञान विशेषाकारत्वाच्चियमाज्ज्ञानमेव  
 निर्दिष्टम्, आगम इति शेषः । केवल तु सामान्यविशेषोभयविषयकैकोपयोगरूपत्वात्केवल  
 ज्ञानकेवलदर्शनोभयात्मकमेकमेव "केवलनाणे केवलदमणे" इत्यादितत्त्वमपि केवल  
 ज्ञानत्वेकैवलदर्शनत्वधर्मभेदेन धर्मिभेदप्रतिपादनपरमेव, न तु चस्तुगत्या धर्मिभेदप्रति  
 पादनपरमित्यागमे तदक्रमेव निर्दिष्टमिति भावः ॥ १९ ॥

सूत्रे उभयरूपत्वेन परिपठितत्वादप्युभयरूप केवलम्, न तु क्रमिकगामय्या क्रमेणो-  
 त्पादादेककालावच्छिन्नभिन्नमामग्रीतो भिन्नभिन्नविषयकत्वेन युगपदुत्पादाद्वैत्यभिप्रायत्वा  
 नाह सूरि—

चक्रुअचक्रुअवहिकेवलाण ममयम्मि दसणवियप्पा ।

परिपठिया केवलनाणदसणा तेण ते अण्णा(तेण विय अण्णा) ॥२०॥७४॥

'चक्रुअचक्रुअवहिकेवलाण' चक्रुचक्रुवधिकरालाना 'ममयम्मि' समये अर्हदा  
 गमे—कइविह ण मते ! दमणे पणत्ते ! गीयमा ! चउविह, त जहा—चक्रुदमणे,  
 अचक्रुदमणे, ओहिदमणे, केवलदमणे" इत्यनेन 'दसणवियप्पा' दर्शनस्य विकल्पा  
 भेदा 'परिपठिया' परिपठिता—भणित्वा, 'तेण' तस्माद्धेतोः "केवलनाणदसणा  
 ते अण्णा" केवलज्ञानदर्शने ते अन्ये, भिन्ने, अत्र 'तेण विय अण्णा' इत्यपि पाठो ज्ञानविन्दौ,

चक्षुरादिजन्यज्ञानरदेव केवल ज्ञानमध्ये पाठात् ज्ञानमपि, दर्शनमध्ये पाठाच्च दर्शनमपीत्येकमेव तत् ज्ञानपदेन दर्शनपदेन च व्यवहार्यमिति परिभाषामात्रमेतदिति ग्रन्थकृतस्तात्पर्यम् ॥ २० ॥

मतिज्ञानादेः क्रम इव केवलस्याक्रमेऽपि तस्मिन् केवलोपयोगेऽखिलसामान्यविषयकत्वं नाखिलविशेषविषयकत्वमृते, तदपि तद्विना न, अल्पव्यवहारित्यतः सामान्यविशेषाज्जड-दृष्ट्यैकोपयोगरूपतया ज्ञानत्व दर्शनत्वञ्चेत्येकदेशिमतदुपपन्नस्यति—

दमणमुग्गहमेत्त घडोत्ति निव्वघण्णा हवइ नाण ।

जह इत्थ केवलाण वि विन्नेसण गत्तिथ चेव ॥ २१ ॥ ७५ ॥

मतिरूपे बोधे 'दमणमुग्गहमेत्त' दर्शनमवग्रहमात्र इदं तदित्येव निर्देशानर्हम् । 'घडोत्ति निव्वघण्णा हवइ नाण' घट इति-पुरोवर्तिपदार्थे अयं घट इति निर्बर्णना निर्बर्णयितुं निश्चयेन व्यपदष्टुं योग्या निर्बर्णना, तदाकारामिलाप इत्यर्थः । 'हवइ नाण' भवति ज्ञानमतिज्ञानम् । ननु निश्चयात्मिका वर्णना घटोऽपमित्याकारामिलापरूपा द्रव्यभूतम्, कथं मतिज्ञानमिति चेत्, उच्यते, कारणे कार्यावचारात्, तथा च घटाकारामिलापजनकं यज्ज्ञानं तन्मतिज्ञानमिति भावः । उक्तदृष्टान्तस्य दार्ष्टान्तिके योजनमाह—'जह इत्थ केवलाण वि' यथा तद्येत्पनयोर्नित्यमम्बन्धात्तद्येत्पन्पाहाराद् यथाऽत्र मतिरूपे बोधे तथा केवलपोरपि, यथा च मतिज्ञानात्केवलस्य वैलक्षण्यं तथा चाह—'रित्तेमण एत्तिथ चेव' एतावन्मात्रेण विशेषः, एकमेव केवल सामान्यांशे दर्शन विशेषांशे च ज्ञानमित्यर्थः ॥ २१ ॥

एकदेश्येन क्रमिकमेदपक्षं दूषयति—

दसणपुज्य नाण नाणनिमित्तं तु दसणं नत्थि ।

तेण सुविणिच्छियाम्मो दसणनाणा ण अण्णत्त ॥ २२ ॥ ७६ ॥

'दसणपुज्य नाण' दर्शनं सामान्यज्ञानं पूर्वं यस्मिन् तद्दर्शनपूर्वं ज्ञानम्, दर्शनं प्राक् पश्चाद् ज्ञानमित्येन पूर्वापरीभावञ्चाद्यस्थित्येवयोगावस्थायाम् भवति, यतो न हि सामान्य-मनुपलभ्य कोऽपि धायोपशमितिक्रमानवान् विशेषमुपलभते, तथा च किमप्येतदिति प्राक् सामान्यमुपलभ्यैव तत्पश्चाद् विशेषोपलभ्याद् दर्शननिमित्तकं ज्ञानं लभ्यस्थोपयोगदृश्यायां प्रसिद्धम्, न चायं क्रमः केवलमुपयोगावस्थायाम्, पूवं केवलदर्शनस्याभावेऽपि केवलं ज्ञानस्य लक्ष्मिरूपत्वेन साकारोपयोगोपप्लुके पुंति प्राचक्षण एवोत्पत्तेः, अथैवमुत्पद्यतामाद्य क्षणे तत्, तत्पश्चाद्वितीयक्षणे तन्निमित्तं दर्शनं मतिरूपतीत्याशङ्कानिदृश्यर्थमाह—'जाणनिमित्तं तु दसणं नत्थि' ज्ञाननिमित्तं यस्य तज्ज्ञाननिमित्तं तु दर्शनं नास्ति कुत्रापि,

तथाऽप्रसिद्धेः 'तेण सुविणिच्छियामो' तेन सुविनिश्चिनुमः 'दसणनाणा ण अण्णत्त' दर्शनज्ञाने नान्यत्तम्, न क्रमापादितमेदम्, केवलानि भजत इति शेषः । क्रमाभ्युपगमे हि केवलानि ज्ञाननिमित्तक दर्शनमभ्युपगन्तव्यं स्यात्, तत्कारणं तु प्रागेवोक्तम्, न च तद् दृष्टमनुभूत चेत्यदृष्टकरूपना न प्रामाणिकीति भावः । 'दसणनाणाण अण्णत्त' इति सम्मतिपाठः, तदर्थस्तु भगवताऽभयदेवधरिणा "तेनाप्यवगच्छाम' कथञ्चित्तपोर्मेद इति, अथश्रद्धयोपशमनिबन्धनः क्रम, केवलानि च तदभावादक्रम इत्युक्तम्" इत्येव कृतः ॥ २२ ॥

यदुक्तं मतिरूपे बोधे अग्रहमात्र दर्शनमित्यादि तदयुक्तमतिव्याप्तेरित्याह—

जइ ओग्गहमेत्त द-सण ति मण्णसि विसेसिआ नाणम् ।

मइनाणमेव दसण—मेव सह होइ निप्फण्णं ॥ २३ ॥ ७७ ॥

'जइ' यदि मत्परबोधे "ओग्गहमेत्त दमण ति" अग्रहमात्र दर्शनमिति "विसेसिय नाणं" विशेषित ज्ञानमिति च 'मण्णसि' मन्यसे 'एव सह' एव सति "मइनाणमेव दमण होइ निप्फण्ण" मतिज्ञानमेव दर्शनं निष्पन्न प्राप्तं भवति, भवत्वेव सिद्धम्, को दोष इति चेत्, सोऽपि श्रूयताम्, "कइविहे ण भते ! उवओगे पण्णत्ते ? गोयमा ! दुविहे उवओगे प० त० सागारोवओगे य अणागारोवओगे य, सागारोवओगे ण भते ! कतिविधे प० ? गो० ! अद्विविहे प०, त० आभिणिबोहियनाणसागारोवओगे, सुयनाणसागारोवओगे, ओहिनाणसागारोवओगे, मणपञ्जवनाणसागा० केवलनाणसागा० मतिअज्ञानसा० सुयअज्ञानसा० विमगणानसा० । अणागारोवओगे ण भते ! कतिविहे प० ? गो० ! चउविह प०, त० चकरुदमणअणागारोवओगे, अचकरुदसणअणा०, ओहिदसणअणा०, केवलदसणअणागारोवओगे य" इति प्रज्ञापनैकोनत्रिंशत्तमोपयोगारूपपदाद्यत्रविरोधप्रसङ्गस्स्यादिति । अस्मिन्धरे मतिज्ञानाख्यगकारोपयोगतोऽनाकारदर्शनोपयोगस्य भेदेन प्रतिपादनात्, मतिज्ञानस्याष्टाविंशतिभेदोक्तिविरोधाच्च ॥

यद्वा मतिज्ञानमेवावग्रहात्मना दर्शनम्, अथायात्मना च ज्ञानमिति यदुक्तं दृष्टान्ताद्यष्टमार्थभेददेशिना तदुपयन्नाह—

जइ उग्गहमित्त द-सण ति मण्णसि विसेसिआ नाण ।

मइनाणमेव दसण—मेव सह होइ निप्फण्णं ॥

इति ज्ञानचिन्दुपाठः । तस्यायमर्थः—यदि मतिरेवावग्रहरूपा दर्शनम्, विशेषिता सा ज्ञानमिति मन्यसे, तदा मतिज्ञानमेव दर्शनमेव सति प्राप्तम् तद्विज्ञ तन्नोति मिद्ध भवति, न चैतद्युक्तम् "स द्विविधोऽस्तुर्मेदं. [तत्त्वार्थ० अ० २, सू० ९] इति सूत्रविरोधादित्यर्थः ॥ २३ ॥

एव सेसिदियद-सणम्मि णियमेण होइ ण य जुत्त ।

अह तत्थ नाणमित्त, चेप्पइ चकरुम्मि वि तहेव ॥ २४ ॥

“ एव सेसिदियदमणमि णियमेण होइ ” एव शेषेन्द्रियदर्शने नियमेन भवति, एव पूर्वोक्तनीत्या श्रोत्रेन्द्रियघ्राणेन्द्रियादिदर्शनेष्वप्यवग्रहमात्र दर्शनमित्यभ्युपगमे मतिज्ञानमेव तदिति नियमेन स्यात्, तच्च न युक्तमित्याह—‘ ण य जुच ’ इति, पूर्वोक्तघ्नविरोध तादवस्थ्यात् । ‘ अह तत्थ नाणमित्त चेप्पइ ’ अथ तत्र ज्ञानमात्र गृह्यते, श्रोत्रादीन्द्रियेषु दर्शनमपि भवज्ज्ञानमेव गृह्यते, मात्रशब्दस्य दर्शनव्यवच्छेदकत्वात्, तद्व्यवच्छेदश्च ष्वचिदप्यागमे श्रोत्रदर्शन घ्राणदर्शनमित्यादिव्यवहारामावात्, श्रोत्रज्ञान घ्राणज्ञानमित्यादिव्यपदेशस्तु शास्त्रे दृश्यत एवेति, तदुत्तरमाह—‘ चक्षुमुमि वि तहेव ’ चक्षुष्वपि तथैव, गृह्यतामिति शेषः, चक्षुरिन्द्रियेऽपि तज्जन्यावग्रहश्चक्षुर्ज्ञानमेव न तु चक्षुर्दर्शनमिति स्वीक्रियताम् । अथ तत्र दर्शनमिति चेत्, तर्हि श्रोत्रेन्द्रियादावपि तथैवाम्युपगम्यताम्, युक्तेस्तौत्पादिति ॥ २४ ॥

कथं तर्हि शास्त्रे चक्षुर्दर्शनादिप्रवाद इत्याशङ्कायां तत्कारणमाह—

नाणमपुट्टे जो अविस्सए अ अत्यम्मि दसण होई ।

सुत्तूण लिङ्गओ ज अणागयाईयविससु ॥ २५ ॥

“ नाणमपुट्टे जो ” चक्षुषोऽप्राप्यकारित्वाद् घटादिविषयमप्राप्यैव ज्ञान चक्षुः करोतीत्यतोऽस्पृष्टेऽप्ये चक्षुषा य उदेति प्रत्ययस्य ज्ञानमेव सत् ‘ दसण होई ’ दर्शन भवति, चक्षुर्दर्शनमित्युच्यते, परमाणुषुष्णरूक्षस्पर्शद्रव्यसमाधेयवद्वास्तुषु ज्ञानत्वदर्शनत्वधर्मद्रव्यममावेश इति भावः, इत्थं श्रीसिद्धसेनदिवाकरमते चाक्षुषज्ञानावर्षणचाक्षुषदर्शनावर्षणकर्माऽपि परमार्थत एकम्, कार्यविशेषत उपाधिभेदतो वा नैकमिति सिद्धम् । तदुक्तं स्तुतो ग्रन्थकृतेव—

चक्षुर्दर्शनविज्ञान, परमाण्वौष्ण्यरोक्ष्यवत् ।

तदावर्षणमप्येक, न वा कार्यविशेषतः ॥ निश्चय० ८ इति ॥

तच्च प्रागेव विश्रुतम् । ‘ अविस्सए य अत्यम्मि ’—इन्द्रियाणामधिपये च परमाण्वादावर्थे ‘ नाण जो ’ इत्यस्यात्राप्यन्वयाद् मनसा य उदेति प्रत्ययस्य ज्ञानमेव सत् ‘ दसण होई ’ अचक्षुर्दर्शनमित्युच्यते । नन्वेव तर्हनुमित्यादिकमपि ज्ञानमस्पृष्टेऽपिपये चार्थे मनसोपजायत एवेति तत्रापि दर्शनत्वापत्तिरित्याशङ्कयामुक्तातिप्रसङ्गनिवृत्तये उत्तरार्द्धमाह—‘ सुत्तूणेत्पादि ’ लिङ्गतोऽनागताऽतीतविषयेषु यज्ज्ञानमुदेति तन्मुक्त्वा । अत्र जमित्यस्य नाणमित्यनेनान्वयः । यच्चदोर्नित्यसम्बन्धात्तदित्यपि दृश्यम् । अयम्भावः—मातिशयोक्तत्वादिधर्मोपेतवारिवाहलिङ्गोपलम्भेनाय काल आसन्नमविष्यद्दृष्टिक इत्यनुमित्यात्मकं पुनर्वैश्वद्यलिङ्गदर्शनेन पुष्यनक्षत्रं सूर्यर्चान्ते उदेष्यतीत्यनुमित्यात्मकं वा कृत्तिकोदयान्यथानुपपत्तिलिङ्गज्ञानेन मरणिर्मुहूर्त्तार्चविक्रपूर्वकालोदयवतीत्यनुमित्यात्मकं इयामताविशेषे दृष्ट्वा धूमलिङ्गस्मरणेनैतदेश आसन्नातीतवाह्निमानित्यनुमित्यात्मकं वाऽनागतातीतविषयकं यज्ज्ञानमुदेति तन्मुक्त्वेति,



इदमुपलक्षणं-भावनाजन्यज्ञानातिरिक्तपरोक्षज्ञानमात्रस्य, नस्यास्पृष्टाविषयार्थम्यापि दर्शन-  
त्वेनाभ्यवहारात् । भावनाजन्यस्य लतादौ कामिन्यादिज्ञानस्य परोक्षस्यापि दर्शनत्वेन  
भ्यवहारात्तदुपलक्षणामम्भवाद्भावनाजन्यज्ञानातिरिक्तेति परोक्षज्ञानस्य विशेषणम् ॥ २५ ॥

ननु यद्यस्पृष्टाविषयार्थविषयकं ज्ञान दर्शनमित्यभ्युपगम्यते तर्हि मनःपर्यायज्ञानमपि  
तथाविधत्वात्तद्रूप स्यादिति तत्रातिप्रमत्त इति पूर्वार्द्धेनाद्यष्टुपोचाराद्धेन तदुत्तरमाह—

मणपञ्चवनाण द-सणति तेणेह होइ ण य जुत्तं ।

भण्णइ नाण नोइ-दियम्मि ण घडादओ जम्हा ॥ २६ ॥

‘मणपञ्चवनाण दसणति’ मनःपर्यायज्ञान दर्शनमिति ‘तेणेह होइ’ तेनोक्तलक्षणेनात्र  
सिद्धं भवति, परकीयमनोगतानां घटादीनामालम्ब्यानां तत्रासरत्वेनास्पृष्टेऽविषये च घटादा  
वर्षे तस्य भावात् । ‘ण य जुत्तं’ न च युक्तम्, एतदिति शेषः । मनःपर्यायज्ञानस्य  
आगमे दर्शनत्वेनानभिहितत्वात् ‘मण्णइ’ मण्यते, तदुत्तरमिति शेषः ‘नाण नोइदियम्मि’  
ज्ञान नोइन्द्रिये, अयम्भावः-सञ्ज्ञिजीवैः काययोगेन गृहीता ये मनोवर्गणापुद्गला मनोयोगेन  
मनस्त्वेन परिणामितास्तन्मय मनो नोइन्द्रियसङ्घयाऽईच्छास्ये गीयत इति मनोद्रव्यार्थप्राहक-  
त्वेन प्रवर्तमान मनःपर्यायबोधरूप ज्ञानमेव, न तु दर्शनम्, तत्र हेतुमाह-‘ण घडादओ  
जम्हा’ यस्मादस्पृष्टा घटादयो नास्य विषय इति शेषः । नित्य तेषां लिङ्गानुमेयत्वात् ।  
अयम्भावः-मनःपर्यायज्ञानी द्रव्यमनश्चिन्तनीयान् तान् बाह्यान् घटादीन् तादृशमनःपरिणा  
माऽन्यथानुपपत्तिलिङ्गतोऽनुमानेन जानाति, न तु साक्षात् । उक्तञ्च भाष्यमुघाऽम्बुधिना—

“तेणाचभासिए उण जाणइ यज्जेऽणुमाणेण” ८१४ इति ।

एतच्च प्रागेव विवृतम् । मनस्वरूपेण परिणता मनोवर्गणास्तु परात्मगता अपि  
स्वाश्रयात्मस्पृष्टातीया एवेति न तदशेषं दर्शनत्वप्रसङ्ग इति । परकीयमनोगतार्थाकार  
विकल्प एवास्य ग्राह्यः, तस्य चोभयरूपत्वेऽपि छात्रस्थिकोपयोगस्यापरिपूर्णार्थग्राहित्वात्  
मनःपर्यायज्ञाने दर्शनत्वसम्भव इत्यप्याहुः ॥ २६ ॥ किञ्च—

मइसुधनाणणिमित्तो छउमत्थे होइ अत्थउचलंभो ।

एगयरम्मि वि तेसिं ण दसण दसण कत्तो ॥ २७ ॥

‘मइसुधनाणणिमित्तो’ मतिश्रुतज्ञाननिमित्तः ‘छउमत्थे होइ अत्थउचलंभो’ छत्रस्ये  
अक्षीणमोहादिघातिकर्मणि मन्वत्यर्थोपलम्भः, आगमे तथैवोक्तत्वात्-‘एगयरम्मि वि तेसिं’  
तपोरेकतरस्मिन्नपि तदुभयान्पतरस्मिन्नपीत्यर्थः ‘ण दसणं’ न दर्शनं, सम्भवतीति शेषः,  
न तावदवग्रहो दर्शनम्, तस्य ज्ञानात्मकत्वात् । ततः ‘दसण कत्तो ?’ दर्शनं कुतः ?  
नास्तीत्यर्थः ॥ २७ ॥

नन्वस्पृष्टेऽर्थे श्रुतज्ञान भवत्कर्मि मिति दर्शन न भवेदित्याशङ्कानिवृत्त्यर्थमाह—

ज पञ्चकखगहण ण इति सुअनाणसम्मिमा अत्था ।

तम्हा दसणसहो ण होह सयले वि सुअनाणे ॥ २८ ॥

‘ज’ यस्मात् ‘पञ्चकखगहण न इति’ प्रत्यक्षग्रहण न यन्ति, न यान्ति वा । यन्तीति क्रिया कर्तृमापेक्षेति तत्कर्तृभूतानर्थानाह—“सुअनाणसम्मिमा अत्था” इति श्रुतज्ञानेन मग्यग्मीयन्त निधीयन्त इति श्रुतज्ञानसम्मिताः, अर्ध्यन्ते परिच्छिद्यन्ते ज्ञान विपयीक्रियन्त इत्यर्थाः । अयम्भावः—श्रुतज्ञानप्रमिता अर्थाः प्रत्यक्षेण न गृह्यन्ते, अथमिन्द्रिय प्रतिगत कार्यत्वेनाभित प्रत्यक्षमिति व्युत्पत्त्याऽञ्जस्यैव व्यावहारिकप्रत्यक्षत्वात् । पर्यवसितार्थमुत्तराद्धेनाह—तम्हेत्पादि ‘तम्हा’ तस्मात्—श्रुतज्ञानस्याञ्जत्वाभावात् परो धार्यग्राहकत्वात् ‘सयले वि सुअनाणे’ सकलेऽपि श्रुतज्ञाने ‘दसणसहो न होह’ दर्शन शब्दो न भवति, न प्रवर्तते, श्रुतज्ञान चक्षुर्दर्शनाचक्षुर्दर्शनशब्दवाच्य न भवतीति तच्चदात्मक नेति भावः । तथा च व्यञ्जनावग्रहाऽविपर्ययप्रत्यक्षत्वमेव दर्शनत्वमिति पर्यवसकम् । प्रत्यक्षपदादय श्रुतज्ञानपदानुमित्यादव्यावृत्तौ परोक्षमिन्नत्वे मतीति विशेषण न देयम् । ‘सुत्तुण लिङ्गो ज’ इत्युक्तस्याप्यत्रैव तात्पर्यं दृष्टव्यम् । इत्य चाप्राज्ञणमादायेत्पादाविवा चक्षुर्दर्शनमित्यपि नञर्थः पर्युदात्तात्मक एवामात्रो ग्राह्य, न त्वचट भूतलमनुष्यमरण्यमित्यादाविवात्पन्तनिषेधकत्वं प्रसज्यात्मकः, पर्युदात्म्य सदृग्ग्राहीति अचक्षुर्दर्शनपदेन मानसदर्शनमेव प्राप्य, न तु श्रोत्रदर्शनप्राणदर्शनादिकम्, अप्राप्यकारित्वेन मनस एव चक्षुर्मिन्नत्वे मति तत्सदृशत्वात् ।

पुट्ट सुणेइ सह रूच पुण पासण अपुट्ट तु ।

गघ रसं फास च यद्धपुट्ट विआगरे ॥ २९ ॥

इत्यावश्यकमुक्ते श्रोत्रप्राणजिह्वास्पर्शनेन्द्रियाणां प्राप्तार्थविषयकप्रत्यक्षजनकत्वेनाप्राप्तार्थविषयकप्रत्यक्षजनकचक्षुस्मादृश्याभावादिति । प्रज्ञापनोपयोगाख्यपदटीकार्या तु—अचक्षुषा चक्षुर्वर्जश्रोत्रेन्द्रियमनोमिर्दर्शन स्वस्वविषये मामान्यग्रहणमचक्षुर्दर्शनम् । ततोऽनाकारोपयोगशब्देन विशेषणममम इत्येव “अचक्षुदमणअणागारोउओमे” इत्यस्यार्थं कृतः, तथा च तत्राऽचक्षुर्दर्शनपदवाच्य श्रोत्रप्राणरमनास्पर्शनन्द्रियमनोदर्शनमित्युक्तं भवति ॥ २८ ॥

नन्वेव दर्शनत्वस्य पारिभाषिकरूपत्वेऽवधिदर्शनमपि मिद्ध न स्यात्, तस्य ध्यञ्जनावग्रहाविपर्ययग्राहित्वेऽपि व्यवहारतः प्रत्यक्षत्वाभावादित्याशङ्कां ममाधत्ते—

ज अपुट्टा भाया ओहिण्णाणस्स होति पञ्चकत्था ।

तम्हा ओहिण्णाणे दसणसहो वि उवउत्तो ॥ २९ ॥

‘ज’ यस्मात् ‘अपुट्टामावा’ असृष्टा भाराः परमाप्यादय’ ते किमित्याह—  
 ‘ओहिण्णाणस्म होइ पच्चखा’ अरधिज्ञानस्य मरन्ति प्रत्यक्षाः, अदनुते व्याप्नोति ज्ञानात्मना  
 सर्वार्थान्, अश्नाति स्रः समृद्ध्यादीन्, पालयति सुद्धे वति ‘उणादिनिपातनात्’ अक्षी  
 जीवः, त प्रति माक्षाद् गतमिन्द्रियनिरपेक्ष वर्त्तत यत्तत्प्रत्यक्षमिति व्युत्पत्तिसिद्ध नैश्वयिक-  
 प्रत्यक्षमवधिज्ञानमपि, अवधिज्ञानावरणकर्मक्षयोपशममहकृतात्ममात्रजन्यत्वेन तत्रेन्द्रियाद्य  
 पेक्षत्वाऽमावादित्यरधिज्ञानप्रत्यक्षविषया मरन्ति, तथा चोक्तदर्शनत्वपर्यवमितलक्षणघट-  
 फीभूतप्रत्यक्षपदेन सांख्यवहारिकप्रत्यक्षपारमार्थिकप्रत्यक्षसाधारणप्रत्यक्षत्वावच्छिन्न ग्राह्यम्,  
 तथाविधश्चावधिज्ञानमपीति तदात्मकमवधिदर्शनं सिद्धं भवति । तदेवोच्यते—

“ तम्हा ओहिण्णाणे दमणमदो वि उवउत्तो ” तस्मादवधिज्ञाने दर्शनशब्दोऽप्युपयुक्तः,  
 दर्शनाभिधाननिमित्तस्योक्तलक्षणस्य मद्भावेन सावकाश इति ॥ २९ ॥

अवधिज्ञाने पारमार्थिकविकलप्रत्यक्षत्ववत् केवलज्ञानेऽपि पारमार्थिकमकलप्रत्यक्षत्वं  
 सद्भावेनोक्तलक्षणमव्याहृतमित्याह—

ज अपुट्टे भावे, जाणइ पासइ य केवली नियमा ।

तम्हा त नाण द-मण च अविसेसओ सिद्ध ॥ ३० ॥

‘ज अपुट्टे भावे’ यस्मादसृष्टान् भावान् ‘केवली नियमा’ करामञ्जकवत्केवलश्रिया  
 विश्वविश्वतश्च कलयन् केवली नियमात्—अवश्यम्भावेन, ‘जाणइ पासइ य’ जानाति  
 पश्यति च, मामान्यप्रतिशेपोमयप्राधान्येन, न तु गौणप्रधानभावेन, तस्य धायोपशमिक  
 ज्ञाननिबन्धनत्वात्, केवलिनस्तु धायोपशमिकमावातीतत्वात् तज्ज्ञान धायोपशमिक  
 ज्ञानात्मकमिति तन्निमित्तकमामान्यप्रतिशेपगौणप्रधानभावस्य तत्राभावात् । ‘तम्हा त  
 नाण दमण च’ तस्मात्तत्करलोपयोगरूप ज्ञान दर्शनशब्दोपयोग्यं ‘अविसेसओ सिद्ध’  
 उभयामिधाननिमित्तस्याप्रतिशेपात्सिद्धम्, अयम्भावः—केवलावयोधो न क्रमिकज्ञानोपयोग  
 दर्शनोपयोगान्यतरात्मकः, न वा युगपज्ज्ञानोपयोगदर्शनोपयोगमेदेनोपयोगद्वयात्मकः,  
 अपि त्वेक एव धर्मी उभयामिधाननिमित्तमद्भावाज्ज्ञानदर्शनोपयोगात्मक इति । मनःपर्याप-  
 ज्ञानस्य तु व्यञ्जनावग्रहाविषयार्थकप्रत्यक्षत्वेऽपि बांक्षविषये व्यभिचारेण स्वग्राह्यतावच्छेदका  
 वच्छेदेन प्रत्यक्षत्वामात्रात् दर्शनत्वमिति निष्कर्ष इत्युक्तं ज्ञानविन्दौ । अयम्भावः—श्रु-  
 मतिविपुलमतिमेदो द्विविधेनाऽपि चानेन मनःपर्यापज्ञानेन तत्तदर्थचिन्तनपरिणतानि  
 मनोद्रव्याण्येव गृह्यन्ते, चिन्त्यमानास्त्वन्मद्भावाद्यस्तु बाह्याः पदार्था अनुमानेनैवाऽ  
 वगम्यन्ते, तावत्पर्यन्तमेकोपयोगाम्युपगमेऽनुमित्यात्मकज्ञानस्य पक्षमाध्यरूपं विषयांशे  
 परोक्षत्वेऽपि मितिमात्रेण स्वप्रकाशत्वपक्षे प्रत्यक्षत्ववन्मनोद्रव्यांशे प्रत्यक्षत्वेऽप्यत्र बाह्यांशे  
 परोक्षत्वमुपपादनीयम्, एकान्तप्रत्यक्षता तु स्वग्राह्यावच्छेदेनैव वाच्या, लैङ्गिके एकान्त-

परोक्षताया अपीत्यमेवोपपत्तेः । न्यायाचार्यमहोपाध्यायपूज्यपादश्रीयशोविजयकृतस्वार्थ-  
प्रथमाध्यायचतुर्विंशतितमसूत्रभाष्यविवरणोक्त्यनुसारण तावत्पर्यन्तमेकोपयोगपक्षे यदि  
मनःपर्यायज्ञाने मनोद्रव्यत् सञ्चिजीवचिन्तनीपघटादिबाह्यपदार्था अपि तद्विशेषणतया  
प्रतिभामन्त तदा स्व मनःपर्यायज्ञान तद्बाह्य मनोद्रव्य तदवच्छेदेन मनःपर्यायज्ञानस्य  
प्रत्यक्षत्वेऽपि स्वप्राज्ञतावच्छेदको घटादिबाह्यांशस्तदवच्छेदेन परोक्षत्वेन प्रत्यक्षताभावान्न  
दर्शनत्वम्, अत्रत्य विवेचनमस्मद्व्यवहारार्थविवरणगूढार्थदीपिकातोऽवसेयमिति ॥ ३० ॥

तस्माद् द्वयात्मक एक एव केवलबोध इति कलित स्मृतमाह सूत्रिः—

साई अपञ्चवसिय, ति दो वि ते ससमय ह्वइ एव ।

परतित्थियवत्तव्य, च एगसमयतरुप्पाओ ॥ ३१ ॥

पूर्वोक्तनीत्या केवलावबोधो द्वयात्मक एक एवेत्यभ्युपगमे स्वममयः, अन्यथा  
परममय इति तात्पर्यार्थः । एतद्वाधायास्तु पूज्यामयदेवसुरिभगवतैरेवमर्थः कृतः—द्वे अपि ते  
ज्ञानदर्शने यदि युगपन्नाना मत्रस्तदा स्वममय—स्वसिद्धान्तः साधपर्यवसिते इति घटते,  
यस्तु तयोरेकममयान्तरोत्पादः “ यदा जानाति तदा न पश्यति ” इत्येवमभिधीयते स  
परतीर्थिकशास्त्र नार्हद्वचन नयाभिप्रायेण प्रवृत्तत्वादिति । न्यायाचार्यश्रीयशोविजयोपाध्या-  
याभिप्रायेण त्वेव साधशब्दार्थः । ‘ साई अपञ्चवसिय ति ’ साधपर्यवसित केवल शास्त्रे  
श्रीक्तमिति हेतोः ‘ दो वि ते ’ द्वे अपि ते ज्ञानदर्शने, उभयशब्दाख्य तदिति यावत् ।  
‘ एव ’ एवमभ्युपगमे सति ‘ ससमय ह्वइ ’ स्वममयः स्वसिद्धान्तोऽय भवति, चस्त्वर्थे  
‘ एगसमयतरुप्पाओ ’ यस्त्वेकममयान्तरोत्पादः, तयोर्मण्यत इति शेषः, तत् “ परतित्थि-  
यवत्तव्य ” परतीर्थिकवक्तव्य परतीर्थिकशास्त्रम् नार्हद्वचन नयाभिप्रायेण प्रवृत्तत्वादिति ॥ ३१ ॥

जिनप्रज्ञप्तनिखिलतत्त्वविषयक भावतो यत्तममूहालम्बनश्रद्धान तल्लक्षण मभ्यग्दर्शनमपि  
मतिज्ञानस्यैव सम्पद्युचिरूपो योऽप्यायाशस्तद्रूपमेव, न ज्ञानादृतेऽन्यद्दर्शनमस्ति, पृथग्वि-  
भागादिप्रक्रिया तु गोष्ठ्यन्यायात्, अत एव मभ्यग्दर्शनत्व मभ्यग्ज्ञानत्रय्याप्यजातिविशेषः,  
विषयताविशेषो वा, तदवच्छिन्ने च दर्शनावरणक्षयोपशमानामेकशक्तिमन्वादिना हेतुत्वमिति  
ज्ञानावरणविशेष एव दर्शनावरणमित्यभिप्रेत्याह—

एव जिणपण्णत्ते सहहमाणस्स भावओ भावे ।

पुरिसस्साभिणिघोहे दसणसहो ह्वइ जुत्तो ॥ ३२ ॥

‘ एव ’ अनन्तरोक्तविधिना ‘ जिणपण्णत्ते ’ अस्य ‘ भावे ’ इत्यनेनान्वयाजिनप्रज्ञप्तान्  
भावान् ‘ भावओ सहहमाणस्स ’ भावत सम्पद्युचिरूपतया श्रद्धानस्य ममूहालम्बनया  
रूपाऽवगृह्यतः । ‘ पुरिसस्साभिणिघोहे दसणसहो ह्वइ जुत्तो ’ पुरुषस्याभिनिघोहे मतिज्ञाना-  
पार्याश्रूपे दर्शनशब्दो भवति युक्तः, जिनप्रज्ञप्तजीवाजीवादिपदार्थनवकत्रिषयकममूहालम्बन-

ज्ञानविशेषरूपाया रुचेः सम्यग्दर्शनशब्दवाच्यत्वात्, तद्योक्तरुचिरूप सम्यग्दर्शनं मुख्यम्, माक्त च तद् अनेकान्तागमवासनोपनीत सर्वाऽनेकान्तताऽऽगाहिघटाद्यपायात्मकमपीति भावः ॥ ३२ ॥

ननु यस्मिन्नात्मनि सम्यग्ज्ञान तस्मिन्नियमेन सम्यग्दर्शनम्, तद्व्यतिरेकेण सम्यग्ज्ञानत्वस्यैवानुपपत्तेरिति वद् यस्मिन् रुचिरूप दर्शनं तस्मिन्नियमेन सम्यग्ज्ञानमस्ति न वेत्याशङ्कामाह—

सम्मन्नाणे णियमे-ण दसण दसणे उ भयणिज्ज ।

सम्मन्नाण च इम, ति अत्थओ होइ उवचण्ण ॥ ३३ ॥

‘ सम्मन्नाणे णियमेण दसण ’ सम्यग्ज्ञाने नियमेन दर्शनं सम्यग्दर्शनम्, “ दसणे उ भयणिज्ज ” दर्शने तु पुनर्भजनीयम् अस्ति न वेति विकल्पनीयम्, सम्यग्ज्ञानमिति शेषः । अनेकान्ततत्त्वविषयकरुचिलक्षणसम्यग्दर्शने सति तदस्ति, एकान्ततत्त्वविषयकरुचिलक्षणदर्शने सति तन्नास्तीति भावः । अविशेषितदर्शनेन सह भजनोक्तारपि सम्यक्पदविशेषणे नेय भजनेत्याशयेनोत्तरार्द्धमाह—सम्मन्नाण चेत्यादि । ‘ इम “ इदमदसोः प्रत्यक्षे ” इति वचनात् इदंशब्दप्रयोगः प्रत्यक्षविषय एवार्थे भवतीतीदमित्यस्य सम्यग्दृष्टिप्रत्यक्षविषयी भूतमित्यर्थः । अस्य च सम्यग्ज्ञानमित्यनेनान्वयः, चशब्दात्सम्यग्दर्शनम् । तथा चेदं सम्यग्ज्ञानं सम्यग्दर्शनमित्यर्थत उपपन्नं भवति, अर्थापत्तिसिद्धमित्यर्थः, अयञ्चार्यः त्वनार्थनिवरणमनुसृत्योक्तः । यद्वा ‘ सम्मन्नाण च इम ति ’ अतः सम्यग्ज्ञानं चेदपदग्राह्यं सम्यग्दर्शनञ्चेति “ अत्थओ होइ उवचण्ण ” अर्थतः सामर्थ्यादिक्रमेणोपपन्नं भवति, तथा च सम्यग्दर्शनं मतिज्ञानापायाशरूपत्वाज्ज्ञानविशेषरूपमेव, मिथ्यादर्शनमपि तदज्ज्ञानविशेषरूपमेवेति सिद्धम् ॥ ३३ ॥

घृत्रे च साद्यपर्यवसित केवलज्ञानं दर्शितमिति तत्तत्त्वमजानानाः केचिदत्र व्याचक्षते, केवलज्ञानस्य प्रतिबन्धकं केवलज्ञानावरणमिति सर्वथा तदुच्छेदं सत्येव तदुत्पद्यते इति कारणोपजायमानत्वाद् घटादिवत् तत्सादि, न चोत्पन्नं सत्तत्पुनर्विनश्यति प्रबलतरतद्विरोधिगुणान्तराभावेन तद्विनाशकसामग्र्यभावात्, न च कर्मावरणेन पुनराप्रियते तत्, कारणोऽभावेन तदावारकनव्यकर्मबन्धाभावात्, विनाशाभावाच्च न पुनरुत्पद्यते, विनाशपूर्वकत्वादुत्पादस्येति पुनरुत्पादविनाशानात्मकं कवलम्, अत एवापर्यवसितमिति, तन्मतनिरामायाह—

केवलणाण साई अपज्जवसिय ति दाइय सुत्ते ।

तेत्तियमित्तोत्तूणा केइ विसेस ण इच्छति ॥ ३४ ॥

‘ केवलणाण साई अपज्जवसिय ति ’ केवलज्ञानं साद्यपर्यवसितमिति ‘ दाइयं सुत्ते ’ दर्शितं घृत्रे ‘ तेत्तियमित्तोत्तूणा ’ तावन्मात्रेण ह्यसा.—एतावन्मात्रेण गर्विताः ‘ केइ विसेस

ण इच्छति' केचन विशेष विशेषपर्याय पर्यवसितत्वात्मक सन्तमपि नेच्छन्ति नाम्बुपग  
च्छन्ति । ननु किं ते सम्यग्वादिनः किं वा नेति चेत्, नेति जानीहि ॥ ३४ ॥ तदेवाह—

जे सघयणार्ह्या भवत्यकेवलविसेसपञ्जाया ।

ते निज्रमाणममये ण ह्येति विगयं तओ होइ ॥ ३५ ॥

'जे सघयणार्ह्या' ये सहननादयः—वज्रर्षभनाराचसहननादयो यद्यपि शरीरधर्मत्वेन  
उत्पर्यायान्तथापि भवत्यकेरल्याऽऽत्मतच्छरीरयोर्दुग्धपानीययोरिवान्योन्यसम्बद्धतयैव व्य  
वस्थितेर्मनस्यकेवलविशेषपर्याया इत्याह—'भवत्यकेवलविशेषपञ्जाया' इति, मये तिष्ठतीति  
मनस्य, म चासौ केवली—केवलज्ञानज्ञान भवत्यकेवली, तस्य विशेषपर्याया. "ते सिद्ध  
माणममये न ह्येति" ते सिध्यत्समये सिद्धस्वरूपावाप्तिममये न भवन्ति, अपगच्छन्तीत्यर्थः ।  
भवत्यकेवलविशेषपर्यायतया तद्दुग्धसे सति किं भवतीत्याशङ्क्यामाह—“विगय तओ  
होइ” विगत ततो भवति । मनस्यकेवलविशेषपर्यायापगमे भवत्यकेवलज्ञानपर्यायतया  
केवलज्ञान विध्वस्त भवति । अयम्भावः—उक्तमनस्यकेवलविशेषपर्यायनाशे तद्विशिष्ट  
केवलस्यात्मविनाश, विशेषणनाशे तद्विशिष्टनाशस्याप्यत्रश्यम्भावात्, शिखाविनाशे शिखी  
विनष्ट इति प्रतीते, न चाप्रापि शिखात्मकविशेषणस्यैव नाश, न तद्विशिष्टस्य इति वाच्यम्,  
एकान्ततया मेदेऽमेदे च विशेषणविशेषभावस्वावस्थाऽवस्थातुमावस्थ चाऽयोगेन कथञ्चि  
दिनाशस्यापि भावात्, तादृशात्मविनाशे च केवलस्यात्माऽव्यतिरिक्त केवलज्ञानमपि  
तद्द्वारा विनष्टमिति ॥ ३५ ॥

अथ केवलभावेनापर्यवसितस्यापि केवलज्ञानस्य पूर्वपर्यायात्मकमनस्यकेवलज्ञान  
पर्यायतया सिद्धिप्रथमसमये विनाशवत्सिद्धकेवलज्ञानपर्यायलक्षणोत्तरपर्यायरूपेणोत्पत्तिर  
प्यवश्यम्भाविनी, अपर्यवसितभावस्यापि तत्तदवस्थाविशेषनिषतनाशोत्पादानश्यम्भावात्  
अन्यथा त्रैलक्षण्यासिद्धिस्स्यादिति प्रतिपादयितुम्, यद्वा विनाशस्योत्पत्तिनियतत्वात्केवल  
ज्ञानस्य भवत्यकेवलज्ञानरूपपूर्वपर्यायरूपेण विनाश प्रतिपाद्य सिद्धकेवलज्ञानपर्यायान्मको-  
त्तरपर्यायरूपेणोत्पत्ति प्रतिपादयितुमाह—

सिद्धत्तणेण य पुणो, उप्पण्णो एम अत्थपञ्जाओ ।

केवलभाव तु पडुच्च, केवल दाइय सुत्ते ॥ ३६ ॥

'सिद्धत्तणेण य पुणो' सिद्धत्वेन—अनादिमन्तत्यागतकाञ्चनोपलसयोगस्यैवानादिजीव  
कर्मसयोगस्य सोपाय यस्संथा विच्छेदस्तत्प्रयुक्तान्मरुर्मर्मांशपृथग्भावलक्षण यत् सिद्धत्वं  
अस्य पूर्वं सिद्धत्वं नासीत् किं त्वद्युनैव तत्सञ्जातमिति प्रतीतिमिद्वेन तेन रूपेण एव सिद्ध-  
स्यकेवलज्ञानारुप्यार्थपर्याय उत्पन्नः, प्रागमतः सत्तालामादित्याह—“उप्पण्णो एम अत्थप

ज्ञानविशेषरूपाया रुचेः सम्यग्दर्शनशब्दवाच्यत्वात्, तद्योक्तरुचिरूप सम्यग्दर्शनं मुख्यम्, भाक्तं च तत् अनेकान्तागमगासनोपनीतं मर्वाऽनेकान्तताऽऽग्राहिषटाद्यपायात्मकमपीति भावः ॥ ३२ ॥

ननु यस्मिन्नात्मनि सम्यग्ज्ञानं तस्मिन्निपमेन सम्यग्दर्शनम्, तद्व्यतिरेकेण सम्पन्नान्तावत्स्वैवानुपपत्तेरिति वदुः यस्मिन् रुचिरूपं दर्शनं तस्मिन्निपमेन सम्यग्ज्ञानमस्ति न चेत्याशङ्क्यामाह—

सम्मन्नाणे णियमे-ण दसणं दसणे उ भयणिञ्जं ।

सम्मन्नाणं च इमं, ति अत्थओ होइ उवचण्णं ॥ ३३ ॥

‘सम्मन्नाणे णियमेण दमणं’ सम्यग्ज्ञानेन निपमेन दर्शनं सम्यग्दर्शनम्, “दसणे उ भयणिञ्जं” दर्शने तु पुनर्मजनीयम् अस्ति न चेति विकल्पनीयम्, सम्यग्ज्ञानमिति शेषः । अनेकान्ततत्त्वविषयकरुचिलक्षणसम्यग्दर्शने मतिं तदस्ति, एकान्ततत्त्वविषयकरुचिलक्षणदर्शने सति तन्नास्तीति भावः । अविशेषितदर्शनेन सह मजनोक्तावपि सम्यक्पदविशेषणेनेयं मजनेत्याश्रयेनोत्तरार्द्धमाह—सम्मन्नाणं चेत्यादि । ‘इमं “इदमदसोः प्रत्यक्षे” इति वचनात् इदंशब्दप्रयोगः प्रत्यक्षरिपय एवार्थे भवतीतीदमित्यस्य सम्यग्दृष्टिप्रत्यक्षविषयीभूतमित्यर्थः । अस्य च सम्यग्ज्ञानमित्यनेनान्वयः, चशब्दात्सम्यग्दर्शनम् । तथा चेदसम्यग्ज्ञानं सम्यग्दर्शनमित्यर्थत उपपन्नं भवति, अर्थापत्तिमिदमित्यर्थः, अयञ्कार्थं तत्रार्थविवरणमनुसृत्योक्तः । यद्वा ‘सम्मन्नाणं च इमं ति’ अतः सम्यग्ज्ञानं चेदपदप्राप्तं सम्यग्दर्शनञ्चेति “अत्थओ होइ उवचण्णं” अर्थतः सामर्थ्यादिकमेवोपपन्नं भवति, तथा च सम्यग्दर्शनं मतिज्ञानापायाशरूपत्वाज्ज्ञानविशेषरूपमेव, मिथ्यादर्शनमपि तद्वज्ज्ञानविशेषरूपमेवेति मिदम् ॥ ३३ ॥

धृत्रे च साधपर्यवसितं केवलज्ञानं दाशितमिति तत्तत्परमज्ञानानां कचिदत्र व्याचक्षते, केवलज्ञानस्य प्रतिबन्धकं केवलज्ञानावरणमिति सर्वथा तदुन्नेदे सत्येव तदुत्पद्यते इति कारणोपजायमानत्वाद् घटादिवत् तत्सादि, न चोत्पन्नं सतत्पुनर्विनश्यति प्रबलतरतद्विरोधिगुणान्तरामावेन तद्विनाशकसामर्थ्यभावात्, न च कर्माररणेन पुनराश्रियते तत्, कारणोऽमावेन तदावारकनव्यकर्मबन्धाभावात्, विनाशाभावाच्च न पुनरुत्पद्यते, विनाशपूर्वकत्वादुत्पादस्येति पुनरुत्पादविनाशानात्मकं केवलम्, अत एवापर्यवसितमिति, तन्मतनिरासायाह—

केवलणाणं साई अपज्जवसियं ति दाइयं सुत्ते ।

नेत्तियमित्तोन्णां केइ विसेसं ण इच्छति ॥ ३४ ॥

‘केवलणाणं साई अपज्जवसियं ति’ केवलज्ञानं साधपर्यवसितमिति ‘दाइयं सुत्ते’ दाशितं धृत्रे ‘नेत्तियमित्तोन्णां’ तावन्मात्रेण दत्ता—एतावन्मात्रेण गर्विताः ‘केइ विसेसं

हच्छति ' केचन विशेष विशेषपर्याय पर्यवसितत्वात्मक सन्तमपि नेच्छन्ति त्राम्युपग  
न्ति । ननु किं ते मध्यगवादिन' किं वा नेति चेत्, नेति जानीहि ॥ ३४ ॥ तदेवाह—

जे सघयणार्हया भवत्थकेवलिविसेसपज्जाया ।

ते सिज्जमाणम्ममये ण होंति विगयं तओ होइ ॥ ३५ ॥

' जे सघयणार्हया ' ये सहननादय'-वज्रर्षभनाराचसहननादयो यद्यपि शरीरधर्मत्वेन  
पर्यायास्तथापि भवस्थकेवलयाऽऽत्मतच्छरीरयोर्दुग्धपानीययोर्विधान्योन्यमम्बद्धतयैर व्य  
त्यतेर्भयस्थकेवलिविशेषपर्याया इत्याह—'मवत्थकेवलिविशेषपज्जाया' इति, मये तिष्ठतीति  
स्थः, म चासौ केवली-केवलज्ञानान् भवस्थकेवली, तस्य विशेषपर्यायाः " ते सिज्ज  
णम्ममये न होंति " ते सिष्पत्समये सिद्धस्वरूपात्राप्तिममये न भवन्ति, अपगच्छन्तीत्यर्थः ।  
स्थकेवलिविशेषपर्यायतया तदुध्वसे मति किं भवतीत्याशङ्कयामाह—“ विगयं तओ  
” विगतं ततो भवति । भवस्थकेवलिविशेषपर्यायापगमे भवस्थकेवलज्ञानपर्यायतया  
लज्ञान विष्वस्त भवति । अयम्भारः-उक्तभवस्थकेवलिविशेषपर्यायनाशे तद्विशिष्ट  
त्वात्माविनाश, विशेषणनाशे तद्विशिष्टनाशस्याप्यवश्यम्भारत्, शिखाविनाशे शिखी  
वत् इति प्रतीते, न चात्रापि शिखात्मरूपविशेषणस्यैव नाश, न तद्विशिष्टस्य इति वाच्यम्,  
ज्ञानतया भेदेऽभेदे च विशेषणविशेष्यभावस्यावस्थाऽवस्थावृत्तावस्थ चाऽयोगेन कथञ्चि  
नाशस्यापि भावात्, तादृशात्मविनाशे च केवलयात्माऽप्यतिरिक्त केवलज्ञानमपि  
द्वारा विनष्टमिति ॥ ३५ ॥

अथ केवलभावेनापर्यवसितस्यापि केवलज्ञानस्य पूर्वपर्यायात्मकभवस्थकेवलज्ञान  
पर्यायतया सिद्धिप्रथमसमये विनाशरत्सिद्धकेवलज्ञानपर्यायलक्षणोत्तरपर्यायरूपेणोत्पत्तिर  
वश्यम्भाविनी, अपर्यवसितभावस्यापि तत्तदवस्थाविशेषनियतनाशोत्पादावश्यम्भावात्  
यथा त्रैलक्षण्यनिर्दिष्टस्यादिति प्रतिपादयितुम्, यद्वा विनाशस्योत्पत्तिनियतत्वात्केवल  
ज्ञानस्य भवस्थकेवलज्ञानरूपपूर्वपर्यायरूपेण विनाश प्रतिपाद्य सिद्धकेवलज्ञानपर्यायात्मको-  
त्पार्यायरूपेणोत्पत्ति प्रतिपादयितुमाह—

सिद्धत्तणेण य पुणो, उप्पणो एम अत्थपज्जाओ ।

केवलभाय तु पट्ठथ, केवल दाइय सुत्ते ॥ ३६ ॥

' सिद्धत्तणेण य पुणो' सिद्धत्वेन-अनादिमन्तत्यागतकाञ्चनोपलसयोगस्यैवानादिजीव-  
वैतयोगस्य सोपाय यस्सर्था विच्छेदस्तत्प्रयुक्तात्मकर्मवर्वाशपृथग्भावलक्षण यत् सिद्धत्व  
स्य पूर्व सिद्धत्व नामीत् किन्त्युच्यते तत्तत्ज्ञातमिति प्रतीतिसिद्धेन तेन रूपेण एव सिद्ध-  
केवलज्ञानारूपपर्याय उत्पन्नः, प्रागसत. सच्चालामादित्याह—“ उप्पणो एम अत्थप



आजो" इति । एतद्भावमपेक्ष्यैवोक्तं नन्दीसूत्रे—“केवलनाणे द्विविहे पणत्ते भवत्यकेवलनाणे य सिद्धकेवलनाणे य ” इति । नन्वेव तर्हि केवलज्ञानमपर्यवसितं किमपेक्ष्य शास्त्रे गदित-  
मित्याशङ्कानिवृत्त्यर्थमुत्तरार्द्धमाह—‘ केवलभावमित्यादि ’ । केवलभावं तु प्रतीत्य-अपेक्ष्य,  
“केवल-दाइयं सुचे” केवलज्ञानं दर्शितं सूत्रे, अपर्यवसितमिति शेषः । तत्तत्पूर्वोत्तरपर्यायपरि-  
त्यागोपादानभावेन विनाशोत्पत्तिशीलमपि प्रतिक्षणज्ञेयपरिणतिभेदेन समयभेदेन च प्रति-  
क्षणभिन्नस्वरूपमपि च केवलज्ञानं नैव कदापि तत्तत्पूर्वोत्तरपर्यायानुगतं केवलभावं केवलीप-  
योगभावं द्रव्यपर्याययोः कथञ्चिदभेद इति कथञ्चिदात्मद्रव्याव्यतिरिक्तत्वात् तन्नित्यत्वेन  
तद्वारा नित्यस्वरूपं परिजहातीत्येतावता तदपर्यवसितमिति सिद्धान्ते गीयते इति भावः ।  
तथा च केवलज्ञानस्य घातिकर्मचतुष्टयक्षयेणोत्पत्तिभावात्तत्सादिः तदनन्तरं शुद्धस्वभाव-  
व्यञ्जनपर्यायापेक्षितदध्रुवसत्ताविनाशरूपामध्यभावात् प्रतिक्षणं ज्ञेयभेदप्रयुक्तनिखिलतत्त-  
ज्ज्ञेयानगाहित्यस्वभावभेदतत्तत्समयविशिष्टस्वभावभेदभिन्नकेवलज्ञानानन्तार्थपर्यायानुगत-  
व्यञ्जनपर्यायात्मकेन केवलभावेन न तत्कदाऽपि विनश्यति, विनाशाभावाच्च न तद्रूपेण  
तत्पुनस्तपद्यत इति तदुभयामावात् केवलज्ञानोत्पत्तिप्रथमममयादेव केवलभावेन सर्वदा  
ध्रुवत्वादपर्यवसितम्, अएकर्मविगमेन सिद्धस्वरूपावाप्तौ केवलज्ञानस्य पुनः पूर्ववत्सिद्धत्वेन  
सिद्धस्थकेवलज्ञानाख्योऽर्थपर्याय उत्पन्न इति भवस्थकेवलज्ञानपर्यायसिद्धकेवलज्ञानपर्या-  
याभ्यां विनाशोत्पत्तिभावात्तत्सादिमपर्यवसितमप्यभ्युपगन्तव्यम्, अन्यथा त्रैलक्षण्याऽनु-  
पपत्त्या सत्त्वमपि न स्यात्, न स्याच्च केवलज्ञानं स्यात्साद्यपर्यवसितं स्यात्सादिसपर्य-  
वसितमित्यादिरूपेण सप्तमङ्गीसङ्घटनाऽपि तत्रेति भावनीयम् ॥ ३६ ॥

ननु जीवोऽनादिनिघनः केवलज्ञानं पुनस्ताद्यपर्यवसितम्, तथा च केवलज्ञानं जीव-  
स्वरूपाद्विन्नं विरुद्धधर्माध्यस्तत्वात्, यच्च यतो विरुद्धधर्माध्यस्तं तत्ततो भिन्नं, यथा घटा-  
त्पट, जीवाद्विरुद्धधर्माध्यस्तं च केवलज्ञानं, तस्माच्चद्विन्नमिति केवलज्ञानस्यात्मस्वरूपता-  
मात्रित्यं तस्योत्पादविनाशाभ्यां केवलज्ञानस्य तौ भवत इत्युपपादनं कथं युक्तियुक्तमि-  
त्याशङ्कते—

जीवो अणाइनिहणो केवलणाण तु साइयमणत् ।

इय थोरम्मि विससे कए जीवो केवल होइ ॥ ३७ ॥

‘ अणाइनिहणो ’ आदि च निघनमन्तश्च आदिनिघने, ते न विद्येते यस्य सो अना-  
दिनिघन, एवम्भूतः क इत्याह—‘ जीवो ’ जीवति-प्राणान् धारयतीति जीवः । ‘ केवल-  
णाण तु साइय ’ केवलज्ञानं तु सादिकं, आदिना सह वर्धत इति सादिकम् आदिमत्,  
पुनस्तद्विशिनष्टि-‘ अणत् ’ न विद्यते अन्तो यस्य तदनन्तम्-अपर्यवसितम्, ‘ इय थोरम्मि  
विससे कए ’ इति शेषः ।

नयोर्घटपटवदत्यन्तमेदात् 'कह जीवो केवल होइ' कथ जीवः केवल भवेत्? कथ जीव-  
स्वरूप केवलज्ञान भवेत्? ॥ ३७ ॥

ननु भवतु तयोर्विरुद्धधर्माध्यायः, तेन किमित्यत आह—

तम्हा अण्णो जीवो अण्णे णाणाइपज्जथा तस्स ।

उवसमिआईलक्खणविसेसओ केह इच्छति ॥ ३८ ॥

'तम्हा अण्णो जीवो' तस्माद्विरुद्धधर्माध्यायमादन्यो जीवो ज्ञानादिपर्यायेभ्य इति शेषः । 'अण्णे णाणाइपज्जथा तस्म' तस्य जीवस्य ज्ञानादिपर्याया अन्ये जीवादिति शेषः । लक्षणमेदादपि तयोर्भेद इति प्रतिपादयितुमाह—उवसमियाईलक्खणविसेसओ' औपश्रमिकादिलक्षणविशेषत । अयम्मायः—ज्ञानदर्शनयो' ध्यायिकश्रायोपश्रमिकाजन्यतरात्मकौ मायो लक्षणम्, जीवस्य तु पारिणामिकभावो लक्षणमित्येव लक्षणमेदाज्ज्ञानदर्शनादिपर्याया जीवाद्भिन्ना इति 'केह इच्छति' केचिद्व्याख्यातारः इच्छन्ति—अभ्युपगच्छन्ति ॥ ३८ ॥ तन्मत निरसितुमाह—

अह पुण पुज्जपयुत्तो अत्थो एगतपक्खपडिसेहे ।

तहचि उयाहरणमिण ति हेउपडिजोयण वुच्छं ॥ ३९ ॥

'अह पुण' अथ पुनः, पद्यप्यय 'एगतपक्खपडिसेहे' एकान्तपक्षस्य द्रव्य पर्यायैकान्तमेदाभेदादस्य य' प्रतिषेधः तद्व्युत्पन्नः 'अत्थो' अर्थः—

दस्य पज्जवचिउत्थं दव्वत्रिउत्ता य पज्जया नत्थि ।

उत्पायट्टिहभगा रुदि दवियलक्खण एय । १ । १२ ॥

इत्यादिना द्रव्यपर्यायी कथञ्चिद्भिन्नाभिन्ना परस्परविविक्तयोस्तयो' कदाचनान्यप्रति मासनादित्येवमनेकप्रकारेण 'पुषपयुत्तो' पूर्वमेव प्रयुक्तो योजित पूर्वप्रयुक्त, अनेकान्त तत्त्वव्यवस्थापनात् 'तहचि' तथापि 'हेउपडिजोयण' कथञ्चिद्भेदाभेदप्रमाद्यस्य हेतोः केवलज्ञानपक्षे आत्मनः कथञ्चिद्भेदाभेदमाद्येन मह प्रतियोगजन नियतमाहचर्यलक्षणव्याप्ति-प्रदर्शकप्रमाणविषय 'उयाहरणमिणति वोच्छ' उदाहरणमिदमिति वक्ष्ये ॥ ३९ ॥ तदेवाह—

जह कोइ सट्टिवरिसो तीसहवरिसो नराठिचो जाओ ।

उभयत्थ जायसहो वरिमचिभाग विसेसेह ॥ ४० ॥

'जह कोइ' यथा कथित् पुरुषः 'सट्टिवरिसो' पष्ठिर्णः सर्वायुष्कामाभित्येति शेषः । 'तीमइवरिसो नराठिचो जाओ' त्रिंशद्दर्पस्मभ्राघिपो जातः, 'उभयत्थ' उभयत्र मनुष्ये राजनि च 'जायसहो' अय मनुष्यो जातः, अयञ्च राजा जात इत्येव प्रयुक्तो जात-

शब्दोऽयं 'वरिसविभाग विसेसेह' वर्षविभाग विशेषयति दर्शयति, पट्टिवर्षीयुष्कस्य पुंरुप सामान्यस्य त्रिशद्वर्षस्य नराधिपपर्यायोऽयं जातः, कथञ्चिदभेदसापेक्षमेदात्मकत्वात् पर्यायस्य, त्रिशद्वर्षीयनराधिपपर्यायात्मकत्वेन चायं पुरुषः पुनर्जातः, कथञ्चिदभेदसापेक्षामेदात्मकत्वात्सामान्यस्य । अयम्भाजः—जन्मादिमरणकालपर्यन्तं पट्टिवर्षीयुष्क पुरुषसामान्यं राजकुमारपर्यायपुत्रराजपर्यायनराधिपपर्यायानुगतमभिन्नमेव, सर्वेषु पूर्वोत्तरपर्यायेषु पुरुषोऽयं पुरुषोऽयमित्यनुगतप्रतीतेः यदनुगतप्रतीतिविषयभूतं तदभिन्नम्, स्थामकीशकुशलादिपर्यायानुगतद्रव्यव्ययत्वं । पूर्वोत्तरकालान्तिष्ठन्नपूर्वापरपर्यायानुगतत्वेनोर्ध्वतामामान्यारूपस्य पुरुषद्रव्यस्यैव च राजकुमारपुत्रराजनराधिपाः पर्याया इति पर्यायस्वरूपतया तदभिन्नमपि, पुरुषद्रव्यमेव राजकुमारत्वेन पुत्रराजत्वेन नराधिपत्वेन चोत्पन्नमिति व्ययहर्तैः । न च पुरुषद्रव्यतत्पर्याययोरेकान्तभेदाच्चैकधर्मस्तदन्यन्मिन्निति नामिन्नपुरुषद्रव्यस्वरूपतया राजकुमारादिपर्याया अभिन्नाः, विभिन्नराजकुमारादिपर्यायतया पुरुषद्रव्यमपि नैवाऽभिसमिति वाच्यम्, यत एकान्तभेदे सम्बन्धाऽयोगेन पुरुषद्रव्यस्यैव राजकुमारादिपर्याया इति व्यवहृतिरेव न स्यात् । नन्वेव तर्हस्तु तयोरेकान्ताऽभेद एव, तैलस्य धारेति प्रतीतिवद् राहोश्शिर इति प्रतीतिवच्चाभेदेऽपि पुरुषस्यैव राजकुमारादिपर्याया इति प्रतीत्युपपत्तेरिति न कथमपि कथञ्चिदभेदाभेदावकाश इत्यपि न च वाच्यम्, जन्मादिमरणान्तकालवर्षित्वेनानुगतपुरुषद्रव्यमेक, राजकुमारादिपर्यायास्तु पुरुषद्रव्यस्यैवावस्थाविशेषा, तत्कालोत्पन्नत्वेन भिन्नस्वरूपा इति पुरुषद्रव्यतत्पर्याययोर्विरुद्धधर्माध्यासादभेदेनाप्युपलब्धेर्नान्ताभेदस्तयोः, तथा च तयोर्मिथो नान्तरीयकतयैकतराऽभावे तदन्यस्याप्यभावाच्चौ प्रमाणार्पणया कथञ्चिदभिन्नाभिन्नौ, तथैव प्रतीयमानत्वादित्यम्बुपगन्तव्यम् ॥ ४० ॥ दृष्टान्त प्रसाध्य दार्ष्टान्तिके तदुपनयमाह—

एवं जीवद्बन्ध, अणाइणिहणमविसेसिय जम्हा ।

रायसरिसो उ केवल्लि—पज्जाओ तस्स स विसेसो ॥ ४१ ॥

'एवं' पूर्वोक्तदृष्टान्तनीत्या 'जीवद्बन्ध अणाइणिहण' जीवद्रव्यमनादिनिघनम् आदि च निघनञ्च आदिनिघने तं न विद्येते यस्य तदनादिनिघनम्, आद्यन्तरहितम्, कस्मादेव मित्यत आह—'अविसेमिय जम्हा' यस्मादविशेषितम्—यथा पुरुषद्रव्यं निर्विशेषितम् सामान्यरूपं तथा जीवद्रव्यमपि निर्विशेषं सामान्यरूपम् । अथ सामान्यं विशेषात्कलमसद्रूपमिति पुरुषसामान्यस्य नराधिपत्वात्मको यो विशेषः प्रागुक्तस्तत्सदृशो जीवद्रव्यस्य सामान्यरूपस्य को विशेष इत्याशङ्कानिघ्न्यर्थं पुत्रराजत्वं—रायसरिसो इत्यादि । 'रायसरिसो उ' राजसदृशस्तु पट्टिवर्षीयुष्कत्रिशद्वर्षीयराजत्वं पर्यायसदृशस्तु 'केवल्लिपज्जाओ' केवल्लिपर्यायः केवल्लित्वपर्यायः, कलज्ज्ञानात्मकपर्याय इति यावत् 'तस्स स विसेसो' तस्य ऊर्ध्वतासामान्यात्मकतयाभूतजीवद्रव्यस्य स केवल्लित्वपर्यायो विशेषः । तथा च

पुरुषद्रव्यस्य राजत्वपर्यायः प्रागमन्त्रेयोत्पन्नस्तद्वज्जीवद्रव्यस्य केवलित्वपर्यायोऽपि पूर्वमन्त्रे  
 योत्पन्न इति द्रव्यपर्याययोः कथञ्चिदभेदात्तदभिन्नजीवद्रव्यमपि तद्रूपेण कथञ्चिदुत्पन्नम्,  
 केवलज्ञानश्च छाद्यस्थिकज्ञाने नष्टे सत्येयोत्पद्यते इति प्राक्तनछाद्यस्थिरुज्ञानाघातमकलय  
 स्थत्वपर्यायविनाशे तद्रूपेण तदभिन्न जीवद्रव्य कथञ्चिद्विगतम्, न च तथापि कदापि  
 पूर्वोत्तरपर्यायानुगतजीवद्रव्यसामान्यभूपयोगलक्षणासाधारणजीवस्वरूप परिजहाति, अन्यथा  
 जीवोऽजीवत्व प्राप्नुयादिति तद्रूपेण ध्रुवमिति त्रिलक्षणात्मक जीवद्रव्यम्, हेमद्रव्य प्राक्तन  
 कटकादिरूपेण विनष्ट सदुत्तराद्गदादिपर्यायरूपेणोत्पन्नमपि नैव पूर्वोत्तरपर्यायपरित्यागोपा  
 दानप्रवृत्तमूर्च्छतासामान्यात्मकस्वरूप कदापि परिजहातीति तद्रूपेण ध्रुवमिति त्रिलक्षणा  
 त्मकहेमद्रव्यवज्ज्ञेयम् । इत्यमेवोपदेशरहस्येऽपि “ विरुलप्रकाशपरिणामेन नष्टा ध्रुवा  
 चेतनैव केवलज्ञानतया परिणमते इत्यमेव त्रैलक्षण्योपपत्ते ” इत्युक्तम् । तथा च विकल  
 प्रकाशपरिणतचेतनाया एव घातिकर्मक्षये सति मरुलप्रकाशस्वभावकेवलज्ञानरूपेण परिण  
 मनमावात्केवलज्ञानं कथञ्चित् भादि, परिणामपरिणामिनोश्च कथञ्चिदभेदात्त्रिकालानुयायि  
 चेतनापरिणामरूपमेव केवलज्ञानमिति परिणामिभूतायाश्चेतनाया घनादित्वात्तदभिन्नकेवल  
 ज्ञानमपि तद्रूपेण कथञ्चिदनादि, अत एव परिणामिकारणस्वरूपतया कथञ्चित्तदेवोत्तर  
 पर्यायरूपकार्यस्वरूपतामधिगच्छतीति मिद्वान्तप्रवादोऽपि प्रमाणकोटिपाटीकते । घाति  
 कर्मक्षये सत्येव केवलज्ञानमुत्पद्यत इत्युत्पत्तिमन्त्राच्च तत्सादि । तथा समयभेदेन भिन्नभिन्न  
 रूपा, केवलज्ञानपर्यायाः शास्त्रे प्रोक्ताः, “ पदमसमयसजोगिमवत्यकेवलज्ञानेन अपदमसमय  
 सजोगिमवत्यकेवलज्ञानेन ” इति नन्दिसूत्रग्रन्थनाम्, अत एव शुद्धगुणव्यञ्जनपर्यायात्मकस्य  
 केवलज्ञानस्यापि ऋजुशुभादेशेन क्षणभेदभिन्नकेवलज्ञानपर्याया अर्धपर्याया इति मन्तव्यम् ।  
 तथा च केवलज्ञानस्य क्षणभेदाद् भेद मति प्रतिक्षणज्ञेयपरिणतिभेदेन तदवगाहितस्वभाव  
 भेदेन भेद च सति तत्सपर्यवसानम् । यद्वा भवत्येवकेवलज्ञानपर्यायमिद्वकेवलज्ञानपर्याय  
 योरप्यर्थपर्यायत्वात् ताभ्यां केवलज्ञानस्य विनाशोत्पत्तिभावात्तत्सपर्यवसानम्, क्षणभेदेन  
 प्रतिक्षणनेयपरिणतिभेदेन च भिन्नभिन्नकवलज्ञानार्थपर्यायाणां केवलज्ञानशब्दवान्पत्वा  
 त्तत्रानुगत स्वभावगुणव्यञ्जनपर्यायाख्यकेवलज्ञानमिति तद्भावात्तमकेवलज्ञानं प्रतीत्या-  
 ऽपर्यवसानमिति भावः ॥ ४१ ॥

नैकान्ततो द्रव्य पर्यायस्यो भिन्नमेवेत्युपदर्शयितुमाह—

जीवो अणादनिहणो ' जीव ' ति य णियमओ ण घत्तव्यो ।

ज पुरिसाउय जीवो देवाउयजीवियविस्तट्ठो ॥ ४२ ॥

‘ जीवो अणादनिहणो ’ जीवोऽनादिनिघन ‘ जीवति य ’ जीव इति च, विशेषवि-  
 कलो जीव एव, देवमनुष्यादिपर्यायाख्यविशेषस्य

‘णियमओ ण वत्तव्वो’ नियमतो न वक्तव्यम्, तत्र हेतुप्रदर्शनायोत्तरार्द्धमाह—‘ज’  
 यत्, यस्मात्, ‘पुरिमाउयजीओ’ पुरुषायुष्कजीवः ‘देवाउयजीवियविसिद्धो’ देवायुष्क-  
 जीवितविशिष्टो—दनायुष्कजीवाद्भिन्नः । अयम्भार—द्रव्यस्य पर्यायेभ्य एतन्तन्निन्नत्वात्तच्च  
 दनात्मकमेवेत्यतो जीवोऽपि पर्यायेभ्यो भिन्नत्वात्तदनात्मक एवेति मनुष्यजीवदेवजीवादि-  
 विशेषात्मक जीवद्रव्य न, किन्तु जीवैकस्वरूपत्वादभिन्नमेवैक तदित्यभ्युपगमे तु सामान्यै-  
 करूपतया मर्थाऽभिन्ने जीवे पुरुषायुष्कजीवो देवायुष्कजीवाद्भिन्न इति मेदप्रत्ययव्यवहारो  
 न स्याताम्, एव पर्यायभेदैर्जावभेदानभ्युपगमे मनुष्यजीवोऽय देवजीवोऽय तिर्यग्जीवोऽय  
 नारकजीवोऽयमित्यादिमेदप्रत्ययव्यवहारो जीवे न स्याताम्, तन्निमित्तस्य मनुष्यजीव-  
 देवजीवादिविशेषस्य त्वथाऽनभ्युपगमात्, तदभ्युपगतस्य केरलजीवसामान्यस्य तु तद-  
 निमित्तत्वात्, अनुमवातीतत्वात्, मेदप्रत्ययव्यवहारयोर्निमित्त विनाऽप्यभ्युपगमे सामान्य-  
 प्रत्ययव्यवहारयोरपि निमित्त विनाऽपि सम्भवात्तन्निवन्धनभूतमामान्याभ्युपगमोऽप्ययुक्त  
 स्सादिति मर्वाभावप्रसङ्गः । न च विशेषप्रत्ययव्यवहारयोर्मिथ्यात्वमेवेति वाच्य, बाधा  
 रहितयोरपि तयोर्मिथ्यात्वाऽभ्युपगमे सामान्यप्रत्ययव्यवहारयोरपि मिथ्यात्वप्रसक्त्या  
 सामान्यभ्याप्यसिद्धिप्रसक्तिस्यत्वात् । तस्मात्सामान्यप्रत्ययव्यवहारयोरेव विशेषप्रत्ययव्य-  
 वहारयोरपि प्रामाणिकृतयैवाभ्युपगन्तव्यत्वेनानुगतमामान्यप्रतीतिव्यवहारसिद्धसामान्य  
 जीवद्रव्यमवाधितविशेषप्रत्ययव्यवहारान्यथानुपपत्त्या विशेषात्मकमभ्युपगन्तव्यमिति वस्तु  
 द्रव्यपर्यायोभयात्मक सिद्धमिति ॥ ४२ ॥

गुणगुणिनोः कथञ्चिद्भिन्नाभिन्नतयैव पूर्णं व्यवस्थापितत्वाद् व्यवस्थापयिष्यमाणत्वाच्च  
 केवलज्ञानस्य कथञ्चिदात्माऽप्यतिरेकादात्मनो वा केरलज्ञानाऽप्यतिरेकात्कथञ्चिद्वेदकत्वा  
 तयोर्मिथो धर्मसङ्गम इति प्रतिपादयितुमाह—

सम्पेज्जमसखेज्ज, अणत्तकप्प च केवल नाण ।  
 तह रागदोसमोहा, अण्णे चि च जीवपज्जाया ॥ ४३ ॥

वस्तुतत्त्वस्य प्रमाणनयैरधिगम इति प्रमाणार्पणया द्रव्यपर्याययोर्मिथोऽनुस्यूतत्वेनात्मा  
 द्रव्यपर्यायोभयात्मक, द्रव्यार्थिकनयविवक्षायां त्वेकद्रव्यरूपत्वात् म एक, कथञ्चित्तदभिन्न  
 केवलज्ञानमप्येकम्, पर्यायार्थिकनयविवक्षाया तत्त्वपर्यायभेदभिन्नरूपत्वात्सङ्घेययासङ्घेयेय  
 पर्यायरूप आत्मेति तदभिन्नकेवलज्ञानमपि सखेयेयरूपमसखेयेयरूपञ्चेत्याह—सखेज्जमसखेज्ज  
 इति, ‘अणत्तकप्प च केवल नाण’ ज्ञेयज्ञानयोः कथञ्चिदमेदात् ज्ञेयाऽऽनन्त्यादनन्तकल्पम-  
 नन्तमेद केरलज्ञानम् । अयम्भाष.—प्रतिक्षणं सम्भारदपरपरकालकृतवालकुमारतरुणनर-  
 नारकत्वादिपर्यायरूपादिपिनाशयोगेऽपि द्रव्यार्थत्वैरु एवात्मा, पूर्वापरपर्यायानुगतैकद्रव्य-  
 त्वादिति कथञ्चित्तदभिन्न केरलमप्येकम्, केरलस्य वा ज्ञानदर्शनरूपतया द्विरूपत्वात्त-

दृश्यतिरिक्त आत्माऽपि द्विरूपः, प्रदेशार्थतया न्नात्माऽमह्वयम्, असह्येयप्रदेशात्म-  
 क्त्वात्तस्य, प्रदेशप्रदेशिनोश्च कथञ्चिदभेदात्, अमह्वयेयप्रदेशस्वरूपतयात्मनोऽसह्येयत्वे  
 च कथञ्चिच्चदमिन्न केवलमप्यसह्येयम्, विषयत्रिपयिणो कथञ्चिदभेदादनन्तार्थत्रिपयकत्वेन  
 केवलज्ञानमनन्तमिति तदमिन्न आत्माऽप्यनन्त । यद्वा “ अनन्तपर्याय ज्ञेयानन्त्यात् ”  
 इति न्यायाचायक्षीयशोत्रिजयोपाध्यायकृततत्त्वार्थविवरणोक्तेर्निखिलरूप्यरूपिप्रियाऽनन्त्येन  
 तदवगाहितयाऽनन्तपर्याय केवलज्ञानम् । अपम्भावः-यमेक विषय येन स्वभावेना  
 वगाहते केवलज्ञानं न तेनैव स्वभावेन विषयान्तरं, किन्तु भिन्नेनैवेति विषयाणामानन्त्ये  
 नाखिलतत्त्वद्विपयावगाहनस्वभावात्मका अपि पर्याया अनन्ता एव तस्मिन्नित्येवस्मिन्  
 समयेऽप्यनन्तपर्याय तत्, समयान्तरेऽपि निखिलपदार्थानामुत्पादादिप्रयात्मकत्वान्यथाऽनु-  
 पपस्या कथञ्चित्परावर्त्तनस्वभावानामत एव प्रतिसमय मिथ्याना प्रत्येक मिन्नमिन्नस्वभाव  
 तयाऽवगाहित्वेनानन्तपर्याय तदिति तदमिन्न आत्माऽप्यनन्तपर्याय इति । “ तद् रागदोम  
 मोहा अण्णे वि य जीवपजाया ” केवलान यथा सद्सह्येयासद्सह्येयानन्तमेद तथैव  
 रागद्वेषमोहा अन्येऽपि च जीवपर्यायाऽष्टमस्थानस्थामाग्निस्मद्सह्येयासद्सह्येयानन्तमेदाः,  
 यत्सद्सह्येयस्यैकस्यापि जीवस्य तत्तत्कालमेदन रागद्वेषमोहाद्यालम्बनानि सद्सह्येया  
 सद्सह्येयानन्तमेदात्मकानीत्यालम्ब्यमेदात्तेऽपि तत्सद्सह्येया, तदात्मकत्वात्समार्था  
 त्माप्युक्तमेदात्मकोऽनन्तव्य । सोमिलनाक्षणप्रश्नप्रतिवचनरूप पञ्चमाद्वाष्टादशशतकदश-  
 मोद्देशकषष्ठमप्येतदर्थं सजति, तथा च तत्सह्येयम्-एगे भव दुवे मज अक्खए भव अव्वए  
 भव अवट्टिए भव अपेगभूयभावमविए मज ? मोमिला ! एगे वि अह जाव अपेगभूय  
 भावमविए वि अह । से केणट्टेण मते ! एव बुध्द जाव मविए वि अह ! सोमिला !  
 दव्वट्टयाए एगे अह, नाणदसणट्टयाए दुवे अह, पएमट्टयाए अक्खए वि अह, अव्वए वि  
 अह, अत्तट्टिए वि अह, उवयोगट्टयाए अपेगभूयभावमविए वि अह, से तेणट्टेण जाव  
 भविए वि अह ” इति । रागादीनां चैकाद्यनन्तमेदत्वमात्मपर्यायत्वात्, यो ह्यात्मपर्याय  
 स एकाद्यनन्तमेदाः, यथा केवलान्बोध, आत्मपर्यायाश्च रागादयः, तस्मादेकाद्यनन्त  
 मेदास्ते इति द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयाम्या स्थित्युत्पत्तिनिरोधात्मकत्वमर्हत्यपि सिद्धमिति ।

एतावता सम्मतिटीकैकवाक्यतापन्नेन व्याख्यानैः यथाश्रुतार्थमप्यनयोधकलावाप्ति  
 मात्रकृतकृत्यानां पूर्वोत्तरपक्षभावावबद्धमूलगाथाकदम्बान्यतमावगतज्ञानदर्शनोपयोगद्वययो  
 गपद्याम्युपगन्तुमहनीयमान्य-श्रीमद्भुवादिमत- तत्रमिकत्वाभ्युपगन्तुपूज्यपादश्रीजिन  
 भद्रगणिक्षमाधमणमत तद्ब्रह्मयाऽमेदोररीकर्षुं सम्मनितर्कप्रणेतृश्रीसिद्धसेनदिवाकरम  
 ताना शासनप्रभासकस्त्रियात्तवमन्दहपराबुखतालक्षणमाध्यस्थ्याचान्तस्वान्त करणाना  
 प्रदर्शितयुक्तिकदम्बोपेतमाननिर्णीताखिलतत्त्वगतोत्पादव्ययध्रौव्यात्मकत्वलक्षणसत्त्वसमर्थित  
 समव्याप्ताऽत्रिरुद्धमेदा मेद-निन्याग्निनित्यत्वाद्यनन्तधर्मात्मकत्वलक्षणानेकान्तत्वभावनानाददा-

वासिस्मभावितकतिपयोत्तरकालभाविमम्यदर्शनज्ञानचारित्रलक्षणार्त्तकरत्नत्रयस्वरूपमुक्त्य  
 वन्ध्यकारणासिप्रभवाएविधकर्मत्यन्तिकृष्यावश्यम्भाविस्वस्वरूपाखण्डनित्याज्वाध्यपरमान  
 न्दमनोरथानां न प्रस्तुतार्य समीहित किञ्चिज्ज्ञातव्यमवशिष्टमिति न तान् यथाश्रुत-  
 ग्राहिणः समुद्दिश्य वक्तव्यम् । येऽपि तत्तन्मतेकान्तध्र्वाप्लावितान्तःकरणतया तत्प्ररूप  
 णाव्यतिरिक्तप्ररूपणादर्शनेऽपि परादमुखा यथा तथा स्वस्वश्रद्धेयपथोद्गार-कदाग्रह  
 प्रहिलत्वेनापरपक्षयुक्तिवात् मानोपेतमपि कदाग्रहनिजृम्भितमेवेत्यभिमन्यमानास्तान् प्रति  
 परपक्षदिग्दर्शनमप्यऽनाकाङ्क्षितत्वाद्दरमणीयमिति न तानुद्दिश्याऽपि किञ्चिद् वक्तव्यम्,  
 ये तु स्याद्वादराद्धान्तसम्भतावाध्यमभिमन्यमाना नात्र भवितव्यं क्वचिदप्यशे विरोधेन,  
 आपाततः परस्परविरुद्धतया भाममानोऽप्यशोऽपेक्षामेदेन परिहृतविरोध एव स्याद्वादराद्धान्त-  
 न्तषट्कः, नाऽन्यथेति तथाविधाशोऽपेक्षामेदान्वेषणपरायणाः कथमपि स्वसन्देहपथप्रपन्नत  
 वस्त्वऽमन्दिग्ध विधातु तथाविद्गधपरीक्षरुचनशुश्रुपयश्च तान् प्रतीद किञ्चिदुपदर्शयते—

नन्वर्हच्छास्त्रग्रन्थिस्थाननगमेदिवज्जोपममतिरैभवमहनीयमहत्तमाचार्यत्रयमत्कपक्षत्रया-  
 न्यतमस्यैकस्यैव पक्षस्य वस्तुगत्या प्रामाणिकत्वेन तद्विज्ञपक्षद्वयस्यार्हच्छास्त्रबाधितत्वात्तत्त्व  
 क्षाम्युपगन्तुणामर्हच्छास्त्रविपरीतध्र्वाशालित्वान्मिथ्यात्प्रसङ्ग इति न चात्र शास्त्रतत्त्वज्ञेरा  
 शङ्कनीयम्, प्रत्यात्मप्रदेशानुस्यूताविच्छिन्नार्हच्छामनानुरागशुभोपायालङ्घनानामविच्छिन्न-  
 गुरुपरम्पराऽऽयातध्र्वात्तात्पर्यमपक्षपातेन तन्वता विदुषा मिथ्याभिनिवेशामात्रात्, तथाहि—  
 स्वाग्रहाऽप्रहिलस्वान्तास्त्रयोऽपि सूर्यः स्वस्वाम्युपगतमर्थं शास्त्रतात्पर्यबाध प्रतिमन्धायाऽपि  
 पक्षपातेन न प्रतिपन्नन्तः, किन्तुविच्छिन्नस्वस्वगुरुपरम्परायातप्रार्चनिकपरम्परया शास्त्र  
 तात्पर्यमेव स्वाम्युपगतार्थानुकूलत्वेन गतिमन्धायेति न ते मिथ्याभिनिवेशिनः, वीतराग  
 प्रभृत्प्रणीतशास्त्रतात्पर्यबाधप्रतिसन्धानपूर्वकाऽन्यथाध्र्वादानाभावात्, किञ्चानेकनयसमूहात्मके  
 भगवत्प्रवचने—“ नत्थि नएहिं विहूण सुत्त अत्थो अ निणमए किचि ” इति सिद्धान्त-  
 वचनादनेन नयेनेद्द स्र प्रवृत्तम्, अनेन नयेन चेदमिति सम्भविततत्तन्नपसमालोचनां  
 रिना नैत्र तत्तत्त्राणि याथार्थ्येन ज्ञायन्ते इत्यत्र स्वस्वगुरुमप्रदायाविच्छिन्नतत्तन्नपग-  
 र्मवाचनाप्रवाहायावास्त्रयोऽपि सूरिपक्षाः प्रमाणकोटिप्रविष्टा इति तेषा सूरिणा केषामपि  
 नापसिद्धान्तोक्त्या मिथ्यात्प्रसङ्गः, तथाहि—यत् सत्तत्क्षणिकमिति सामान्यव्याप्त्या  
 निखिलवस्तुनस्तद्रूपत्वेन क्षणिकत्वमिति पूर्वपूर्वक्षणिकवस्तुनस्स्वोत्तरोत्तरक्षणिककार्य  
 कूर्तृत्वात्मकतया कारणत्वेन पूर्वपूर्वक्षणिकेनोत्तरोत्तरक्षणिककार्यं जायते इति पूर्वो-  
 त्तरक्षणवर्तिक्षणिकवस्तुद्वयकार्यकारणभावाऽम्युपगन्तुवौद्धमत्प्रकृत्युद्धव्रनयापेक्षया केवल  
 ज्ञानकेवलदर्शनेस्त्राभिप्राय व्यवस्थापयन्त पूर्वोत्तरक्षणवर्तिनो, ऋजुस्त्राम्युपगतकार्य  
 कारणभावाद्य एव प्रस्तुतोपयुक्तं न त्वर्जुस्त्राम्युपगतनिखिलत्वस्वभावात् इति तत्रौदासी-  
 न्यमुक्तकार्यकारणभावे च प्राधान्यमभिमन्दधाना केवलज्ञानकेवलदर्शनक्रमिकोत्पाद

पूज्यधीजिनभद्रगणिकमाश्रमणा' प्रतिपादयन्ति—यद्यपि चेतनालक्षणमामान्यात्मना  
 केवलोपयोगलक्षणमामान्यात्मना वा केवलज्ञानकेवलदर्शनयोरैक्यमेव तथापि सामान्य  
 विशेषभेदप्राहितया तदुभयभेदप्राहकैश्लेषिकनैयायिकमतप्रकृतिव्यवहारनयापेक्षया केवल-  
 ज्ञानकेवलदर्शनद्वत्राभिप्रायपुरीकुर्वन्तो व्यवहारनयाम्पुपगतभेदान्यतत्त्वमागे औदासीन्य  
 भ्रममाना' तदभ्युपगतभेदमात्रस्य प्रस्तुतोपयुक्तत्वात् प्रधानीकृत्य एकसमयावच्छिद्यो  
 रपत्तिकेवलज्ञानकरलदर्शनभेद जगद्वर्षकमाञ्जश्रीमल्लवादिन ऊचुः—“ सदेव सौम्ये  
 दमग्र आसीत्, एकमेवाद्वितीयम्, नेह नानास्ति किञ्चन ” इत्यादिधृत्या षटः सन्  
 षटस्मदित्याद्यनुगतप्रत्ययगोचरीभूतेन सत्त्वेन रूपेणैकस्यैव सर्वजगतो षट्त्वपटत्वाद्यु-  
 पाधिभेदेन य. बान्पनिभेदो यद्वाऽस्तण्डमधिदानन्दात्मकस्यैकस्यैव ब्रह्मणो माया  
 वच्छिन्नत्वात्तःकरणवच्छिन्नत्वोपाधिभेदेन य. काल्पनिकभेदस्त्वद्वाहिवेदान्तिमतप्रकृति-  
 मद्ब्रह्मनयापेक्षया केवलज्ञानकेवलदर्शनद्वत्राभिप्रायमभ्युपगच्छन्त प्रवचनोपनिषद्दिमहातर्क  
 यादिमग्नस्त्रीसिद्धसेनदियाकरा, न तु व्युत्पत्त्या भेद, केवलज्ञानव्यक्तेरेकत्वात्, किन्तु  
 ज्ञानत्वदर्शनत्वधर्मोपाधिभेदेनैकस्यापि केवलज्ञानस्य भेद कथयामासु, तथा चाच्छिन्न  
 प्रावचिकपरम्पराऽऽयाततत्तन्मयगर्भसूत्रतात्पर्यं श्याम्पुपगतार्थानुसूत्वेन प्रतिमन्धाय प्रति  
 पन्नता श्रयाणामपि हरिमग्नतां मध्ये नैकोऽपि स्वाम्पुपगतेऽर्थे भगवत्प्रणीतशास्त्रतात्पर्य-  
 बाध प्रतिमन्धायैव पक्षपातेन तमर्थं श्रद्धये इति तत्र शास्त्रतात्पर्यबाधप्रतिमन्धानामाववति  
 “ विदुषोऽपि स्वरसनाहिमग्नत्प्रणीतशास्त्रबाधितार्थभ्रद्धानमाभिनिवशिकम् ” इति लक्षणा  
 ऽनङ्गतेनैकस्मिन्नपि हरिवरे आभिनिवेशिकमिध्यात्प्रसङ्गः, प्रतिपादितञ्चोक्तमतप्रयेऽपि  
 तत्तन्मयापक्षभेदप्रयोज्य प्रामाण्य न्यायाचार्यश्रीयशोविनयोवाच्यैर्ज्ञानविन्दौ—

“ प्राचां याचा विमुग्गयिपयोन्मेपसूक्ष्मेक्षिकाया,  
 येऽरण्यानी भयमधिगता नयमार्गाऽनभिजाः ।  
 तेषामेपा समयवणिजा सम्मतिग्रन्थगाथा,  
 विश्वामाय स्वनयधिपणिप्राञ्चवाणिज्यधीधी ॥ १ ॥  
 भेदग्राहिव्यग्रहृतिनयं सश्रितो मह्लवादी,  
 पूज्याः प्रायः करणफलयोस्मीन्नि शुद्धर्जसूत्रम् ।  
 भेदोच्छेदोन्मुग्गमधिगत मद्दह सिद्धमेनः,  
 तस्मादेते न मल्ल विपमा. सूरिपक्षास्त्रयोऽमी(पि) ॥ २ ॥  
 चित्सामान्य पुरुषपदभाक्केवलारूपे विशेषे,  
 तद्रूपेण स्फुटमभिहित साध्यनन्त यदेव ।  
 सूक्ष्मैरदौ. क्रमवदिदमप्युच्यमान न दुष्ट,  
 तत्सूरीणाभिपयमभिमतता मुग्गयौणयस्था ॥ ३ ॥



तमोपगमचिञ्जनुः क्षणभिदानिदानोद्भवाः,  
 श्रुताः बहुतराः श्रुते नयविवादपक्षा यथा ।  
 तथा क इव विस्मयो भवतु सूरिपक्षत्रये,  
 प्रधानपदवी धिया क नु दधीयसी हृदयते ॥ ४ ॥  
 प्रसन्न सदसत्त्वयोर्न हि विरोधनिर्णायकम्,  
 विशेषणविशेष्ययोरपि नियामक यत्र न ।  
 गुणाऽगुणविभेदतो मतिरपेक्षया स्यात्पदात्,  
 किमत्र भजनोर्जिते स्वसमये न सद्गच्छते ॥ ५ ॥  
 प्रमाणनयसङ्गता स्वसमयेऽप्यनेकान्तधी—  
 नैयस्मयतदस्थतोऽसदुपाधिकिर्मांरिता ।  
 कदाचन न याधते सुगुरुसम्प्रदायक्रम,  
 समञ्जसपद वदन्त्युरुधियो हि सद्दर्शनम् ॥ ६ ॥  
 रहस्य जानन्ते किमपि न नयानां हतधियो,  
 विरोध भापन्ते विविधबुधपक्षे यत यलाः ।  
 अमी चन्द्रादित्यप्रकृतिविकृतिव्यत्ययगिराः(रो),  
 निरातङ्काः कुत्राप्यहह न गुणान्वेषणपराः ॥ ७ ॥” इति ।

प्राचागिति-ये नव्यमार्गानभिज्ञाः प्राचां वाचा विमुखविषयोन्मेषसूक्ष्मेक्षिकाया  
 अरण्यानीभयमधिगता' तेषा समयवणिजा विश्वासाय एषा सम्मतिग्रन्थगाथा सुनयविषणि  
 प्राज्यवाणिज्यरीचीत्यन्ययः । सङ्घेपतस्तदर्शस्तनयम्-य प्रमाहविशेषा नव्यमार्गानभिज्ञा  
 यन्मार्गानुमरणतः केवलज्ञानकेवलदर्शनयौगपद्यक्रममात्रितैक्यरूपपक्षत्रयाणामपि पूर्वोक्त  
 सूरित्रयप्रतिपादितानामविरोधभावप्राप्तिं सुखेनोपजायते तथाभूत नव्यमार्गमजानन्त' प्राचां  
 वाचा प्राचीनयौगपद्याद्यभ्युपगन्त्वसूरित्रयवचमा विमुखविषयोन्मेषसूक्ष्मेक्षिकायाम्  
 आपाततः परस्परविरोधभाक्त्तत्सूरिपक्षप्रतिपाद्यत्रिष्येऽपि वस्तुगत्या नैव विरोध इति  
 प्रतिपत्तिकृत्तत्रयगर्मसूक्ष्मविचारणायां नव्यमार्गानभिज्ञत्वादेव अरण्यानीभयमधिगताः  
 अतिगहनतरुगुल्मरुण्टकलतादिमयवनमध्योपगताना उत्पारगमनमार्गमपश्यता यादृशम  
 रण्यावलोकरतस्त्रादिप्रभव मय भवति तादृश भयमधिगताः प्राप्ताः, तेषा समयवणिजा  
 जैनागमगतापूर्वतपरत्नपरीक्षाव्यापारपरायणाना, विश्वासाय प्राचा वचनेषु श्रद्धोत्पाद-  
 नाय स्तनया एव परस्परसापेक्षभाव गता अन्याश्रीदासीन्यनैकांशप्राहिणस्त्वनया अर्हत्प्रद  
 श्रितनया एव त्रिषणि, सुनयति पाठे तु सुनया एव त्रिषणि' क्रयविक्रयस्थान तत्र प्राज्य  
 मुत्कृष्ट यद्वाणिज्य त्रयत्रिक्रयलक्षण वणिजां कर्म तस्य वीधी-मार्गः, एषा सम्मति-  
 ग्रन्थगाथा यथास्थान तत्तन्मताधिगतये मया दर्शितति शेष ॥ १ ॥

नयमेदावलम्बनेन केवले स्वस्याभ्युपगमनिशेषप्रवर्णयतां त्रयाणामपि धरिप्रवराणाप-  
 नेकनयमयजैनमिद्वान्तानतिक्रमणमेवेत्युपदर्शयितुमाह—भेदग्राहीति । यद्यपि चिच्छक्षण  
 सामान्यात्मना केवललक्षणमामान्यात्मना वा ज्ञानदर्शनयोरैक्यमेव तथापि तयोर्भेद प्रहीतु  
 शील यस्य त भेदग्राहिण व्यवहृतिनय सश्रित-—तमवलम्ब्य तयोर्योगपद्याभ्युपगमे  
 प्रवृत्तो मल्लवादी, एकस्मिन्नेव समये विभिन्नकार्यजनरूपामभ्योस्तन्निपाते युगपदेव कार्य  
 द्वय भवितुमर्हति, सामग्रीक्रमामावे विभिन्नस्वरूपकार्ययोः क्रमस्याभ्युपगन्तुमनर्हत्तादि-  
 मिन्नस्वभावयोस्तयोरैक्याभ्युपगमस्याप्यन्याप्यत्वादिति भेदग्राहिष्ववहृतिनयमाश्रितवतो  
 महनीयमान्यमल्लवादिनो ज्ञानदर्शनयोगपद्याभ्युपगमन न्यायमेवेति हृदयम् । यद्वा 'भेद  
 ग्राही' इति पाठे त्वेतत्पद मल्लवादीत्यस्य विशेषणम्, तथा च भेदग्राही मल्लवादी व्यवहृति  
 नय सश्रित इत्यन्वयः । पूज्याः श्रीमन्तो जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणा. प्रायो बाहुल्येन, येषां  
 मतिज्ञानाद्युपयोगानामन्तर्गृह्यार्थाद्यवस्थान सिद्धान्तनिर्णीतमित्यम्—पूर्वमत्याद्युपयोग\* काश्चि  
 त्काल स्वस्थितिमनुभूयैवान्ते उपयोगान्तरलक्षणकार्यं जनयति, नोत्पत्त्यनन्तरमेवेति तेषु  
 मतिज्ञानाद्युपयोगेषु क्षणिका एव सर्वे भावा इति पूर्वपूर्वक्षणांनानुत्तरोत्तरक्षणकुर्वद्रूपस्वरूपाणां  
 स्वोत्पत्त्यनन्तरक्षण एव स्वकार्यकारित्वमित्यभ्युपगमप्रवणशुद्धर्जुद्धत्रममाश्रयणामावेऽपि  
 केवल्लोपयोगस्थले पूर्वक्षणे ज्ञानोपयोगस्तदनन्तरक्षण एव दर्शनोपयोगस्तदनन्तरक्षण एव  
 ज्ञानोपयोग इत्येवमुपयोगधाराया आगमसिद्धाया निर्वाहायात्र तदाश्रयणमित्यावेदयितु  
 मुक्त प्राय इति, करणफलयोस्तीम्नि कार्यकारणभावव्यवस्थालक्षणमर्थादाया, शुद्ध  
 र्जुस्तुत्र—वचनव्यत्यासेन सश्रिता इत्यस्यानुकर्षेण मन्वन्धः, ये केवलज्ञानदर्शनयोगोपपद्य-  
 म्भुरीकुर्वन्ति ये वा तयोरैक्यमभ्युपगच्छन्ति तेषामपि मते द्वितीयादिक्षणे उत्पादव्यय-  
 ध्रौव्यलक्षणसत्त्वोपपत्तये केवल्लोपयोगस्य केनचिद्रूपेणोत्पादः केनचिद्रूपेण विनाशः  
 केनचिद्रूपेण ध्रौव्यमभ्युपेयमेवेति, तत्र पूर्वपूर्वकेवलपर्यायस्योत्तरोत्तरकेवलपर्यायहेतुत्वाभ्यु  
 पगमत एव केवल्लोपयोगधारोपपत्तिरिति तत्र शुद्धर्जुद्धत्रममाश्रयणेन केवलदर्शनकुर्वद्रूपा  
 त्मकेन केवलज्ञानेन केवलज्ञानकुर्वद्रूपात्मरूप्य केवलदर्शनस्योत्पत्तिस्तथाविधेन केवल  
 दर्शनेन तथापिष्य केवलज्ञानस्योत्पत्तिरित्येव केवल्लोपयोगधारा निरावाधैव, तदपेक्षयाऽ-  
 पर्यवसितत्वमपि सुमङ्गतम् । यथा च घटविषयकविज्ञानपटविषयकविज्ञानमठविषयकविज्ञाना  
 धविच्छिन्नप्रवाहस्य प्रवृत्तिविज्ञानमन्तानत्व प्रवृत्तिविज्ञानत्वेन घटपटादिविज्ञानानां साजा  
 त्यमुपादाय निर्वहति, अन्यथा घटविज्ञानत्वादिना घटपटादिविज्ञानाना प्रत्यक्षत्वानुमान  
 त्वादिना वा प्रत्यक्षानुमानादीनां च साजात्याभावात्प्रवृत्तिविज्ञानसन्ततिरपि जाप्रदशा  
 भाविनी न स्यात्, तथा केवलज्ञानकेवलदर्शनयो, केवलज्ञानत्वेन केवलदर्शनत्वेन वा  
 साजात्याभावेऽपि केवल्लोपयोगत्वेन साजात्यात्प्रथम केवलज्ञान ततः केवलदर्शन ततः  
 केवलज्ञानमित्येव केवल्लोपयोगाविच्छिन्नप्रवाहलक्षणा

विश्वनाथ

तमोपगमचिञ्जनुः क्षणभिदानिदानोद्भवाः,  
 श्रुताः बहुतराः श्रुते नयविवादपक्षा यथा ।  
 तथा क इव विस्मयो भवतु सूरिपक्षत्रये,  
 प्रधानपदवी धियां क नु दवीयसी दृश्यते ॥ ४ ॥  
 प्रसह्य सदसस्त्वयोर्न हि विरोधनिर्णायकम्,  
 विशेषणविशेष्ययोरपि नियामकं यत्र न ।  
 गुणाऽगुणविभेदतो मतिरपेक्षया स्यात्पदात्,  
 किमत्र भजनोजिते स्वसमये न मद्गच्छते ॥ ५ ॥  
 प्रमाणनपसङ्गता स्वसमयेऽप्यनेकान्तधी—  
 नैयस्मयतदस्थतोल्लसदुपाधिकिर्मीरिता ।  
 कदाचन न बाधते सुगुरुसम्प्रदायक्रम,  
 समञ्जसपदं वदन्त्युरुधियो हि सदृशान्म् ॥ ६ ॥  
 रहस्य जानन्ते किमपि न नयाना हतधियो,  
 विरोध भापन्ते विविधबुधपक्षे घत म्बलाः ।  
 अमी चन्द्रादित्यप्रकृतिविकृतिव्यत्ययगिराः(रो),  
 निरातङ्गाः कुत्राप्यहह न गुणान्वेषणपराः ॥ ७ ॥" इति ।

प्राचामिति-ये नव्यमार्गानभिज्ञाः प्राचां वाचां विमुखविपयोन्मेषसूक्ष्मेक्षिकाया  
 अरण्यानीभयमधिगता' तेषा समयवणिजा विश्वासाय एषा सम्प्रतिग्रन्थगाथा सुनयविपणि  
 प्राज्यवाणिज्यवीथीत्यन्वयः । मद्भेपतस्तदर्थस्तयम्-ये प्रमाहृविशेषा नव्यमार्गानभिज्ञा  
 यन्मार्गानुसरणतः कवलज्ञानकवलदर्शनयौगपद्यक्रममात्रिवैक्यरूपपक्षप्रयाणामपि पूर्वोक्त-  
 सूरित्रयप्रतिपादितानामविरोधभावप्राप्तिः सुखेनोपजायते तथाभूत नव्यमार्गमजानन्तः प्राचा  
 वाचा प्राचीनयौगपद्याद्यम्पुपगन्तृसूरित्रयवचसां विमुखविपयोन्मेषसूक्ष्मेक्षिकायाम्  
 आपाततः परस्परविरोधमाकृतत्तन्सूरिपक्षप्रतिपाद्यविपयेऽपि उस्तुगत्या नैव विरोध इति  
 प्रतिपत्तिकृत्तचक्षयगर्भसूक्ष्मविचारणाया नव्यमार्गानभिज्ञत्वादेव अरण्यानीभयमधिगताः  
 अतिगहनतरुशुल्भकण्टकलतादिमयवनमध्योपगताना उत्पारगमनमार्गमपश्यता यादृशम  
 रण्यावलीकनतस्करादिप्रभय मय भवति तादृश भयमधिगताः प्राप्ताः, तेषा समयवणिजां  
 जैनागमगतापूर्वतरस्त्रपरीक्षाव्यापारपरायणाना, विश्वासाय प्राचां वचनेषु श्रद्धोत्पाद-  
 नाय स्वनया एव परम्परसापेक्षभाव गता अन्याश्रीदासीन्येनैकांशप्राहिणस्स्वनया अर्हत्प्रद-  
 श्चितनया एव विपणि, सुनयति पाठे तु सुनया एव विपणि' क्रयविक्रयस्थान तत्र प्राज्य  
 मुत्कृष्ट यद्वाणिज्य व्रयतिक्रमलक्षण वणिजां कर्म तस्य वीथी-मार्गः, एषा सम्प्रति-  
 ग्रन्थगाथा यथास्थान तत्तन्मताधिगतय मया दर्शितेति शेषः ॥ १ ॥

नयभेदानलम्बनेन केवले स्वस्वाभ्युपगमरिशेषभ्युपवर्णपतां प्रयाणामपि धरिप्रवराणाम-  
 नेकनयमयजैनसिद्धान्तानतिक्रमणमेवेत्युपदर्शयितुमाह-भेदग्राहीति । यद्यपि चिह्नभूग  
 सामान्यात्मना केवललक्षणमामान्यात्मना वा ज्ञानदर्शनयोरैक्यमेव तथापि तयोर्भेद प्रहीते  
 शील यस्य त भेदग्राहिण्यव्यवहृतिनय सश्रित -तत्रलम्ब्य तयोर्योगपद्याभ्युपगमे  
 प्रवृत्तो मल्लवादी, एकस्मिन्नेव समये विभिन्नकार्यचक्रप्रामथ्योस्सन्निराते युगपदेव कार्य  
 द्वय भवितुमर्हति, मामग्रीक्रमामावे विभिन्नस्वरूपार्थयोः क्रमस्याभ्युपगन्तुमनर्हत्वादि-  
 भिन्नस्वभारयोस्तयोरैक्याभ्युपगमस्याप्यन्याप्यत्वादिति भेदग्राहिष्यप्रवृत्तिनयमाश्रिततयो  
 महनीयमान्यमल्लवादिनो ज्ञानदर्शनयोगपद्याभ्युपगमन न्याय्यमेवेति हृदयम् । यथा 'भेद  
 ग्राही' इति पाठे त्वत्तरपद मल्लवादीत्यस्य विशेषणम्, तथा च भेदग्राही मल्लवादी व्यवहृति  
 नय सश्रित इत्यन्वय' । पूज्याः श्रीमन्तो जिनभद्रगणिसमाश्रमणाः प्रायो बाहुल्येन, येषां  
 मतिज्ञानाद्युपयोगानामन्तर्गृह्यार्थावस्थान सिद्धान्तनिर्णीतमित्यम्-पूर्वमत्याद्युपयोगः कश्चि  
 त्काल स्वस्थितिमनुभूयमान्ते उपयोगान्तरलक्षणकार्यं जनयति, नोत्पन्नानन्तरमेवेति तेषु  
 मतिज्ञानाद्युपयोगेषु धणिका एव सर्वे भावा इति पूर्वपूर्वक्षणानामुचरोत्तरलक्षणकुर्वद्रूपस्वरूपाणां  
 स्वोत्पन्नानन्तरक्षण एव स्वकार्यकारित्वामित्यभ्युपगमप्रवणशुद्धर्जुष्वत्तमाश्रयणामावेऽपि  
 केरलोपयोगस्थले पूर्वक्षणे ज्ञानोपयोगस्तदनन्तरक्षण एव दर्शनोपयोगस्तदनन्तरक्षण एव  
 ज्ञानोपयोग इत्येवमुपयोगघाराया आगमसिद्धाया निर्वाहायात्र तदाश्रयणमित्यावेऽपितु  
 युक्तं प्राय इति, कारणफलयोस्मीम्नि कार्यकारणभावव्यवस्थालक्षणमर्थादायां, शुद्ध  
 जेतुं-वचनव्यत्यासेन सश्रिता इत्यस्यानुकरणेन सम्बन्ध', ये केरलज्ञानदर्शनयोर्योगोपप-  
 द्यरीकुर्वन्ति ये वा तयोरैक्यमभ्युपगच्छन्ति तेषामपि मते द्वितीयादिक्षणे उत्पादव्यप  
 धौष्पलक्षणमत्रोपपत्तये केरलोपयोगस्य केनचिद्रूपेणोत्पत्तः केनचिद्रूपेण विनाशः  
 केनचिद्रूपेण धौष्पमभ्युपेयमेवेति, तत्र पूर्वपूर्वकेवलपर्यायस्योत्तरोत्तरकेवलपर्यायहेतुत्वाम्भु  
 पगमत एव केरलोपयोगघारोपपत्तिरिति तत्र शुद्धर्जुष्वत्तमाश्रयणेन केरलदर्शनकुर्वद्रूपा-  
 त्मकेन केवलज्ञानेन केवलज्ञानकुर्वद्रूपात्मकस्य केरलदर्शनस्योत्पत्तिस्तथावियेन केरल  
 दर्शनेन तथावियस्य केवलज्ञानस्योत्पत्तिरित्येव केरलोपयोगघारा निरावाधैव, तदपेक्षयाऽ-  
 पर्यवसितत्वमपि सुप्रकृतम् । यथा च घटविषयस्त्रिज्ञानघटविषयकविज्ञानमठविषयस्त्रिज्ञाना  
 घपिच्छिन्नप्रवाहस्य प्रवृत्तिविज्ञानमन्तानत्वं प्रवृत्तिविज्ञानत्वेन घटघटादिविज्ञानानां सात्रा  
 ल्यप्रपादाय निर्भरति, अन्यथा घटविज्ञानादिना घटघटादिविज्ञानानां प्रत्यक्षरानुमान  
 त्वादिना वा प्रत्यक्षानुमानादीनां च साक्षात्तयाभावात्प्रवृत्तिविज्ञानमन्तविरपि जाप्रदशा  
 भाविनी न स्यात्, तथा केवलज्ञानकेरलदर्शनयोः केरलज्ञानत्वेन केरलदर्शनत्वेन वा  
 साक्षात्त्यामावेऽपि केरलोपयोगत्वेन साक्षात्त्यात्प्रथमं केवलज्ञानं ततः केरलदर्शनं ततः  
 केवलज्ञानमित्यत्र केरलोपयोगाविच्छिन्नप्रवाहलक्षणा केरलोपयोगमन्तविरनाम्नमवनिष्ठ

इत्यभिप्रायवतां पूज्यानां जिनभद्रगणिक्रमाश्रमणानां मतमतिमनोहरमेवेति । सिद्धसेनः—  
 केवलज्ञानमेव केवलदर्शन, न तयोर्भेद इत्यभ्युपगन्ता मम्मतितर्कप्रणेता सिद्धसेनदिवाकर  
 स्तु, भेदोच्छेदोन्मुख—केवलज्ञानदर्शनयोर्भेदस्तद्वच्छेदपर तयोर्भेदमेवेत्यभ्युपगमपर  
 सङ्ग्रहमप्रिगतः—उक्तसङ्ग्रहमवलम्ब्य केवलज्ञानदर्शनयोर्भेद स्वीकृतवान्, केवलज्ञान-  
 दर्शनयोर्भेदे यदेव केवलज्ञानावरण तदेव केवलदर्शनावरणमिति तत्क्षयलक्षणकारणघटित  
 सामग्र्या एकत्वात्सामग्रीभेदाभावात् यौगपद्य तयोः; नापि च केवलदर्शनम्प्रति केवल-  
 ज्ञानस्य कारणत्वान्तर गौरवावह रूपनीयमिति न तयोः क्रमोऽपि, किन्त्वेकस्याप्येक  
 सामग्रीतो जायमानस्य केवलोपयोगस्याशेषसामान्यविषयकत्वाद्दर्शनत्वमशेषप्रतिशेषविषय  
 फत्वाञ्ज्ञानत्वमित्युपाधिप्रयुक्तो भेदः, न तु वस्तुगत्येति युक्तम् । तथा च सर्वनयमये  
 स्याद्वादे तत्तन्नयभेदावलम्बनेन तत्तत्पक्षध्रणसूत्रधाराल्लयोऽपि सूरय म्याद्वादसेवैकरमिका  
 एवेति तेषा पक्षा युक्त्युपपन्नत्वात् त्रिषमा इत्युपसहरति—तस्मादिति स्पष्टम् ।

अत्र—‘अपि’ इत्यस्य स्थाने ‘अमी’ इत्यपि पाठः ॥ २ ॥ यथा चोपयोगलक्षणो जीव  
 इति निरुपयोगस्त कदापि न भवतीति चित्सामान्यद्वययोगापरामिधानमनाद्यनन्तमेव  
 तद्रूप यत्पुरुषपदेनोच्यते तस्यैव च केवलोपयोगो विशेषस्तादिरनन्तश्चेति केवलोपयोगा  
 त्मना तदपि चित्सामान्यपर्यवमितमिति गीयते, तथा तदेव चित्सामान्य स्वविशेषस्य केवलो-  
 पयोगस्य यौ विशेषौ ज्ञानदर्शनस्वभावौ साकारोपयोगनिराकारोपयोगौ तद्रूपसूत्रमाशा  
 पेक्षया क्रमिकमपि सम्भ्रति । तथा च केवलोपयोगस्यैव चित्सामान्यविशेषस्य मुख्यतया  
 विवक्षितत्वे तदशयोरान्तरविशेषयोस्ताकारानाकारोपयोगयोस्तद्रूपप्रतिष्ठत्वेन गौणतया  
 विवक्षितत्वे साधपर्यवसितत्वे, साकारानाकारोपयोगयोरेव मुख्यतया विवक्षितत्वे उपयोग  
 सामान्यस्य च गौणतयाऽऽश्रयणे क्रमिकत्वमित्येव व्यवस्था सूरीणामभिमतता सूत्रपादैवे-  
 त्याशयेनाह—चित्सामान्यमिति, केवलत्वाख्ये विशेषे पुरुषपदभाक्—पुरि वपुषि शेत  
 इति पुरुष, आत्मा, पुरुषपद भजते सेवत इति पुरुषपदभाक्, स्याद्वादमिद्वान्ते गुणगुणिनोः  
 कथञ्चिदभेदादात्मवाचिपुरुषपदवाच्य यदेव चित्सामान्य तदेव तद्रूपेण—केवलरूपेण  
 साद्यनन्त स्फुट यथा स्यात्तथाऽऽगमे अभिहितम्—गदितम्, इद—तदेवेदं चित्सामान्य  
 सूक्ष्मरसौ ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणैः क्रमवदभ्युच्यमान पूज्यैरभिधीयमान न द्रष्टुं द्रष्टुं  
 भवति, अपेक्षामेदेनानन्तत्वक्रमिकत्वयोरेकत्र सत्त्वे विरोधाभावात्, तत्—तस्मात्कारणात्,  
 सूरीणामपि मुख्यगौणव्यवस्थाऽभिमतैत्यर्थः ॥ ३ ॥

यदेत्य नयभेदावलम्बनेन सूत्रिपक्षत्रयाभिमतमुख्यगौणव्यवस्था सामञ्जस्यमञ्चति तदा  
 निस्मयोऽपि नात्र करणीय, आगमे यथाऽन्ये नयविवादापक्षास्तथैतेऽपि सुसद्गता एवेत्याह—  
 तन्मोपगमेति । यद्यपि निरावृताजन्यमर्षदावस्थितस्वयमाविर्भूतचैतन्यस्वरूप एवात्मा  
 निश्चयतस्तथापि मतिगानाधारणकर्मलक्षणतमसोऽपगमे सति चिञ्जनुः चैतन्यस्य जन्म

भवति, क्षणभिदा प्रतिक्षण चैतन्यमन्यदन्यदव विशिष्टविशिष्टतर भवति निदानोद्भवः  
स्वस्वनिपतकारणतोऽस्योद्भव इत्याद्या नयविवादपक्षा\* बहुतरा यथा श्रुते आगमे  
श्रुता अभिहिता\*, अपेक्षामेदेन तेषामुपपन्नत्वान्न तेषु कथमेतदघटमान घटामटतीति  
विस्मयो भवति यथा, तथा स्वरिपक्षत्रये क इव विस्मयो भवतु, न कोऽपि विस्मयः,  
पक्षत्रयस्यापि नयमेदारलम्बनेनोपपादितत्वात्, नु-रितर्के, क्व-स्वरिपक्षत्रयमध्ये कस्मिन्  
पक्षे, धिया प्रधानपदवी दवीयसी दृश्यते, काका न कुत्रापीत्यर्थः, स्वरिपक्षत्रयमप्य-  
पेक्षामेदेनोपपद्यत एवेति भाव\* ॥ ४ ॥

ननु विरोधे जाग्रति सति कथं पक्षत्रयमपि समीचीनतयाऽभ्युपगन्तुमर्हमित्यत आह-  
प्रसङ्गेति-यत्र स्वस्वमये जैनसिद्धान्ते, प्रसङ्ग इडादेव एकान्तत इति यावत्, स्वस्व  
स्वयोः सत्त्वामच्चयो\*, एतच्च नित्यत्वानित्यत्वादीनामभ्युपलक्षणम्, विरोधनिर्णायक  
यत्र सत्त्वन्तत्र नासत्त्वमित्येवमेकाधिकरणावृत्तित्वलक्षणस्य विरोधस्य निर्णायक निर्णय  
जनक, न-नैव किञ्चित्, सत्त्वामच्चनित्यत्वाऽनित्यत्वाद्योर्विद्वयोरप्यपेक्षामेदनाविरु-  
द्धत्वात् स्वद्रव्यक्षेत्रकालमात्रच्छेदेन सत्त्वस्येव परद्रव्यक्षेत्रकालमात्रच्छेदेनामत्त्वस्यापि  
द्रव्यापेक्षया नित्यत्वस्येव पर्यायापेक्षयाऽनित्यत्वस्यापि चैकस्मिन् वस्तुनि सत्त्वे बाधक  
प्रमाणाभावात्, कपिसयोगतदभावयोरित् मत्त्वासत्त्वनित्यत्वानित्यत्वादीनामव्याप्यवृत्ति  
त्वेन भिन्नावच्छेदेन स्यामात्रमामानाधिकरण्याऽनुभवात् तथा विशेषणविशेष्ययोरपि  
नियामक न-इदमस्य विशेषणमिदञ्चास्य विशेष्यमित्येव प्रतिनियतविशेषणविशेष्य  
भावस्यापि नियामक न किञ्चित्, यद्यस्य विशेषण तत्तस्य विशेष्यमपि सम्भवति, यद्यस्य  
विशेष्य तत्तस्य विशेषणमपि सम्भवतीत्यर्थः । गुणेति स्यात्पदात्स्यादस्तीत्यादिवाक्या-  
त्स्यात्पदबलादस्तित्वादेः प्रधानतया नास्तित्वादगर्णतया अपेक्षया स्वस्वनिमित्तमेदापे-  
क्षया मतिर्बोधो भवतीत्यतो भजनोर्जिते अपेक्षामेदेन विरुद्धयोरप्यविरुद्धतया प्रतिपादके  
अत्र अस्मिन् स्वस्वमये जैनसिद्धान्ते किं न सङ्गच्छते-सर्वमेव सङ्गच्छते, स्याद्योगपद्य  
केवलज्ञानदर्शनयोः, स्यादैक्य केवलज्ञानदर्शनयोः, स्यात्क्रमिकत्वं केवलज्ञानदर्शनयोः,  
स्यादपर्यवसितत्वं स्यात्पर्यवसितत्वञ्च तयोरित्येव स्यात्पदयोजनया जैनसिद्धान्ते सर्वमेव  
नयमेदावलम्बनेन चतुरस्रमिति भाव ॥ ५ ॥

न केवलमन्यविषयेष्वेव स्याद्वादः किन्तु स्याद्वादेऽपि स्याद्वादोऽनेकान्तेऽप्यनेकान्त-  
स्याद्वादः स्यादेकान्तवाद\* स्यादनेकान्तवाद इति अनेकान्तः स्यादेकान्तः स्यादनेकान्त इति  
प्रमाणापेक्षया स्याद्वादत्वमनेकान्तत्वं च नयापेक्षयैकान्तवादत्वमेकान्तत्वंञ्च, सेयमनेकान्तधी-  
र्नयस्य प्राधान्यतादृश्याभ्यां त्रिविधामोचरतापन्नैकान्तत्वानेकान्तत्वाद्युपाधिसवलितार्थाव-  
गाहिनी सती न गुरुमभ्रदायकमवाधिका भवति, प्रत्युतेत्यमेव सदर्शनं धीधना आप्ता सर्वथो

पपन्नतास्पद कथयन्तीत्याह—प्रमाणेति, स्वसमयेऽपि जैनसिद्धान्तेऽपि, स्याद्वादे अनेका  
 न्तत्वे च, अनेकान्तधीः कथञ्चिदकान्तवादत्वकथञ्चित्स्याद्वादत्वोभयधर्मप्रकारिका कथञ्चि-  
 देकान्तत्वकथञ्चिदनेकान्तत्वप्रकारिका वा बुद्धिः, प्रमाणनयसङ्गता प्रमाणनयावलम्बने  
 नानेकान्तत्वादिस्वरिपयीभूतार्थे प्रवृत्ता नयस्य यः स्मर्योऽभिमानः प्राधान्यमिति यावत्,  
 या च नयस्य तदस्थता प्रमाणस्य प्राधान्ये नयस्य गौणता, ताम्यामुल्लगन्तो वस्तुनि  
 प्रकारतयाऽप्रामाणानां ये उपाधयोऽनेकान्तत्वादिधर्मास्तैः किर्मांरिता चित्रिता तादृशशेष  
 धर्मांनगाहिनीति यावत्, एवम्भूता मती, सुगुरुसम्प्रदायक्रम सुगुरुपरम्पराम्युपगतार्थ-  
 परिपार्टी कदाचन न याधते, प्रत्युतैवविधाऽनेकान्तधीस्तत्परिपोषिकैः भवति, हि—यता,  
 उरुधियः धीवैभवशालिनः, समञ्जसपद समञ्जसस्थान यथाभ्युपगमे सति सर्वं समञ्जस  
 भवति सम्यगुपपद्यते तत् सदृशं वदन्ति, तदेव सदृशं यत्र सत्त्वासत्त्वादिकं सर्वमपि  
 वस्तुनि सङ्गतिमङ्गति, एवम्भूतश्च स्याद्वाद् एवेति स्याद्वाद् एव सदृशनमिति भावः ॥ ६ ॥

ये च नयानां तत्प्रमजानन्तः हतधियस्वरिपक्षेण निरोधमुद्घोषयन्ति तानधिकृत्याह—  
 रहस्यमिति, वत आश्चर्ये, आश्चर्यं खल्वेतत्, खला दुर्जनाः, हतधियो नष्टसद्बुद्धयो,  
 नयानां सङ्गहादितत्तन्नयानां रहस्य तात्पर्यार्थे, किमपि न जानन्ते, अल्पमात्रमपि नैवा  
 वगच्छन्ति, अत एव विविधबुधपक्षे तत्तन्नानाविधम्यस्वबुद्धमम्प्रदायायाततत्तन्नयापेक्षतत्  
 त्त्वामिप्रायप्राजिष्णुपूर्वोक्ततत्प्राज्ञपक्षे, विरोध भापन्ते, अमी चन्द्रादित्यप्रकृति  
 विकृतिव्यत्ययगिराः (२.) चन्द्रस्वभावं रवावुद्गिरन्ति रविस्वभावं चन्द्रे प्रलपन्तीत्येव  
 स्वभावास्वीयातिजडत्वस्वभावं प्रकटितवन्तः, अहह सेद कुत्रापि कस्मिंश्चिदपि विषये,  
 निरातङ्का न गुणान्वेषणपरा—निरर्मला भवभयनिर्मुक्तास्मन्तो यथातथाप्रलापिनो न  
 गुणान्वेषणपराः किन्तु परदूषणान्वेषणतत्परा एवामीति भावः । यद्वा अमी चन्द्रादित्य  
 प्रकृतिविकृतिव्यत्ययगिरः ।

“सलिलमये शशिनि रवेर्दीधितयो मूर्च्छितास्तमोनैशम् ।

क्षपयन्ति दर्पणोदरनिहिता इव मन्दिरस्यान्तः ॥ १ ॥”

इति वराहसंहितावचनाद् जलमये चन्द्रमसि सूर्यकिरणानां प्रवेशादेव तमोनाशकत्वं  
 चन्द्रमसो भवतीत्यवगमात् चन्द्रमसो विकृतित्वं प्रकृतित्वन्तु आदित्यस्यति सिद्धं भवति  
 तत्र चन्द्रमम एव प्रकृतित्वं सूर्यमैव विकृतित्वमित्याकारकं व्यत्यय व्यन्यास गिरन्तो  
 जना यथा स्वीयमङ्गत्वमेष प्रकटयन्ति एव तत्तत्स्वरिपक्षेण निरोधप्रदर्शनेन स्वीयमनव  
 बोधमात्र प्रकाशयन्तोऽमी जना अपि अहह कुत्रापि निरातङ्का न गुणान्वेषणपराः ।  
 तदर्थस्तु पूर्ववत् । ‘अमी चन्द्रादित्यप्रकृतिकृतिव्यत्ययगिर इति पाठे तु चन्द्रादित्य  
 प्रकृतीनां चन्द्रधर्मादीनां परस्परविरोधस्वभावानां विकृते,—विहारस्य शीतोष्णस्पर्शादेः व्य-  
 त्यय व्यन्यास—चन्द्र उष्णस्पर्शवान् सूर्यश्च शीतस्पर्शवानित्याकारकं विपरिवर्चनं ये गिरन्ति

तद्वत् स्वरिवचनेषु त्रयेषु विरोधमुद्भावयन्तः स्वीयमज्ञानमेव प्रदर्शयन्तोऽग्नी अहह कुत्रापि निरातङ्का न गुणान्वेषणपराः, तदर्थस्तु पूर्वम् ॥ ७ ॥ इत्यल पल्लवितेन ।

भ्रान्ताया चिदि धर्मिणि प्रभितिरूपत्व प्रकाराशके ।

भ्रान्तत्वञ्च यथा तयोर्न कणमुच्छास्त्रे विरोधस्तथा ॥

ज्ञाने स्वार्थविनिश्चयेऽपि करणापेक्षप्रमाणात्मता ।

कार्यापेक्षप्रमात्मता पृथगपेक्षातो विरोधोऽत्र नो ॥ १ ॥

पक्षाः केवलबोधदर्शनसमुत्पत्तौ विरुद्धा ह्या-

भासन्ते नयसूत्रकुण्ठितधिया सूरिद्योक्तास्त्रयः ।

तत्सूत्र किल तन्नयानुगतमेतत्तत्रयापेक्षक-

मित्थ सूत्रनयानुयोगविदुषा तध्यास्त इत्यादिभिः ॥ २ ॥

तत्त्वैस्सम्मतितर्कसत्प्रकरणे रत्नैर्द्वितीये भृते ।

काण्डे देवगुरुत्तमातुलहूपा-भारेण पूर्तिं गता ॥

श्रीमद्दर्शनसूरिणा विरचिता गार्थसम्बोधिनी ।

सेय सद्विद्युतिस्नोतु विदुषा चित्ते मुदान्दोलनम् ॥ ३ ॥

त्रिभिर्विशेषकम् ।

अर्हद् धर्मधुरीणमन्त्रिविमलश्रीवस्तुपालादिभि-

र्वृन्धैरिन्द्रनरेन्द्रचित्तहरणैरभ्रलिहैर्मन्दिरैः ॥

नानाचित्रविचित्रभायरसदे तीर्थेऽर्जुदाद्रौ वरे ।

काण्डे, पूर्तिमित्तञ्चतुर्गगनद्वयन्दे शुचौ मास्यम् ॥ ४ ॥

ज्ञानाद्यनन्तगुणरत्नपयोनिधे !ऽर्हन् ?,

नानाप्रफुल्लकुसुमैर्विजयादिदेवैः ।

स्वर्गेऽर्चित ! स्तुत ! मनोहरसूक्तिभिस्त्वत्-

प्रौढप्रभावगुरुदर्शनप्राज्ञसूरि । ॥ ५ ॥

त्वद्दर्शनाश्रयगुणो विजयप्रतिज्ञ-ज्ञानां जगत्सु तिलको विजयात्मभायाम् ।

उप्त्वा गृह्णद्भुवि जिनेश्वरधर्मयीज, सिक्त्वा जिनोक्तिसुधया शुभ

भाषपत्रम् ॥ ६ ॥

पृक्ष सुमेधुविजय त्रिजगज्जयाद्या-गन्द-प्रियङ्कर-महोदय-शान्तिपुष्पम् ।

सम्पाद्य मोक्षसुफल जनयत्यर य-स्तत्राऽसित नाथ ! जिन ! ते

चरणानुभाषः ॥ ७ ॥ त्रिभिर्विशेषकम् ॥



सम्यग्दर्शन भावनोदयलसत्त्वानन्दनम्पक्रम,  
 हृत्पद्मे स्वगुरोः प्रविश्य मधुप विज्ञानरेणोलिहे ।  
 शश्वद्भागमृतप्रचाररुणाह्लावण्यमूर्त्ति सुधीः,  
 सूरिं नेमिगुरु नतश्च विवृषेर्न स्तौति ? कस्तूरसा ॥ ८ ॥  
 येऽसूयान्वितमानसाः परगुणान् सन्दूषयन्ति क्षणात् ।  
 ये वा द्वेषविशेषदूषितहृदो निन्दन्ति चास्मानिह ॥  
 तानुद्दिश्य न यत्न एष ममतु स्यात्तुल्यशीलो जनो ।  
 छर्षी कश्चिदनेन भूरतिपृथु कालस्य वा नायधिः ॥ ९ ॥

इति दूषमाकालनिष्ठादिवाकररूपत्वेनावप्रपथार्थाभिधान-प्रवचनोपनिषद्वेदि-महावर्क-  
 वादिशिरोमणि-श्रीनिकमादित्यादिमहाभूपतिप्रतिबोधक-श्रीसिद्धसेनदिवाकरमगव  
 त्प्रणीतस्याखिलनयसमर्दगहनस्य सम्यग्दर्शनत्रिशुद्धिकृद्द्रव्यानुयोगतत्परत्नरत्ना  
 करस्य सकलतत्तत्परनयपरिशुद्धिविधायकमहावर्कमङ्गलितस्य निखिलवादानाय  
 कानेकान्तवादगोचरपदार्थत्वव्यापकाऽविरुद्धकथञ्चित्पदमदादितत्परमापकस्य  
 “ श्रीसम्मत्तितर्कप्रकरणस्य ” मार्वतच्यामृतरममङ्गलितमवाप्तसुवर्ण  
 मावाऽलङ्कृता-ऽखर्वगर्वादिदृष्टान्दाप्रष्टव्य-प्राज्ञपार्यदगणचमरकारकृदा-  
 णीविलाससमुद्भूतानुपमभव्यत्रातहृदखण्डप्रमोदभरप्रसृतशुभुद्भ  
 वलकीर्तिभरघणलितभूरलय-न्यायव्याकरणमिद्वान्तादिपारा-  
 चारसमवगाहनममुपलब्धानल्पतत्परत्नसदृशचृद्दन्ममति-  
 वृत्तिवृत्ति-न्यायखण्डखाद्यष्ट्याद्यनल्पग्रन्थमन्दर्भ-भ-  
 व्यात्मसम्यग्दर्शनातित्रिशुद्धिकृदनल्पमहातीर्थमधु-  
 चतिचद्रकथ-श्रीतपागच्छनमोनभोमणिसुरि-  
 सम्राड्-महद्वारकाचार्य-श्रीविजयनेमिसुरि-  
 श्वरपट्टनभोभास्कर-समवाप्तन्यायवाच-  
 स्पति-शास्त्रविशारदविरुद्धमहद्वारका-  
 चार्य श्रीविजयदर्शनसूरीश्वर-  
 विरचितायां सम्मत्तितर्क  
 महार्णवावतारिकारूप  
 टीकाया ‘ द्वितीय-  
 काण्ड ’ समाप्ति  
 मगात् ॥

# ॥ श्रीसम्मतिर्कप्रकरणम् ॥



## ॥ तृतीयकाण्डम् ॥

भगवाचरणम्

सपर्या पर्याप्ता त्रिकरणसमापत्तिविहिता,  
फल फुल्ल कर्तुं निखिलदुरित हर्तुमनिशम् ॥  
प्रभोर्यस्य प्राप्ता अगणितजनास्सिद्धिममलाः,  
यत्श्रीवीरेणोऽतुलमधुमतीपूर्वुकुटक ॥ १ ॥

अपूर्वो यो मेघो भविकहृदये वर्षति भृशम्,  
वचोवारिस्वच्छ जनयति सुघर्माङ्कुरमरम् ॥  
मया बाल्येऽनल्पप्रणयभरतः पूजित इति,  
स मे हृत्क्षमा तस्वाऽनुभवरमरम्या रचयतु ॥ २ ॥ युगम् ॥

एव परस्परानुस्यूतसामान्य-विशेषग्रहणप्रवृत्तदर्शन-ज्ञानस्वरूपद्वयात्मक उपयोगः  
प्रमाणार्पणया प्रमाणमिति प्रतिपाद्येदानीं तद्विषयभूतौ सामान्यविशेषावस्थान्योन्याविनि  
र्भागस्वरूपाविति प्रतिपादयितु तृतीयकाण्ड प्रारिप्तुस्वरिराह-यद्वा दर्शनज्ञानयोः परस्पर  
मविनिर्भागरूपतां प्रतिपाद्याद्युना सामान्य विशेषानुगत विशेषाश्च सामान्यानुगता इति  
तयोरपि मिथोऽनुस्यूतस्वरूपतां प्रतिपादयितु तृतीयकाण्ड प्रारिप्तुस्वरिराह—

सामण्णम्मि विसेमो, विसेसपत्तले च वयणविणिवेसो ।  
दब्बपरिणाममण्ण, दाएह तय च णियमेह ॥ १ ॥

‘सामण्णम्मि’ इदं मत् इदमपि मद्दिन्याद्यनुगतप्रतीतिविषये सत्ताख्यमामान्ये  
आत्माऽनात्मपदार्थमात्रे अस्ति अस्तीत्यनुगतप्रतीतिविषयेऽस्तित्वसामान्ये वा ‘विसेमो’  
विशेष इदं द्रव्यं नाद्रव्यं इयं पृथिवी न जलादिकमित्येवं व्यावृत्तबुद्धिगोचरो द्रव्यपृथि  
व्याद्यात्मको विशेषः तथा “विसेमपत्तले यं वयणविणिवेसो” ‘विशेषपक्षे च वचनविनि  
वेशः’ द्रव्यपृथिवीघटाद्यात्मके विशेषपदार्थे च ‘द्रव्यं सत्तं, पृथिवी सती, घटः पटश्च  
सन्नित्याद्यनुगतवचनस्य यद्वा ‘द्रव्यमस्ति पृथिव्यस्ति घटोऽस्ति पटोऽस्तीत्याद्यनुगत

वचनस्य-नामनामवतोरभेदात् सत्तामामान्यस्य अस्तित्वमामान्यस्य वा, यद्वा लक्षणयोक्त-  
 वचनप्रतिपाद्यस्य सत्तासामान्यस्य अस्तित्वसामान्यस्य वा तथा पृथिवीजलादाविद द्रव्य-  
 मिदमपि द्रव्यमित्यनुगतवचनस्य नामनामवतोरभेदात् द्रव्यसामान्यस्य यद्वा लक्षणयोक्त  
 वचनप्रतिपाद्यस्य द्रव्यमामान्यस्य पृथिवीजलादिपूर्वोत्तरपर्यायानुयायितया त्रिकालानुगतत्वे  
 नोर्ध्वतामामान्यात्मकस्य विनिवेशः विनियोजन प्रदर्शनमिति यावत् 'दक्षपरिणाममण्य  
 दाएइ' द्रव्यपरिणाममन्य दर्शयति, सत्ताख्यमामान्यस्यास्तित्वसामान्यस्य वा द्रव्यपरि-  
 णाम द्रव्याख्यविशेषे तथा जैनमिद्वान्ते पुद्गलानामेकजातीयत्वात् पृथिवीजलादीनां पुद्गल  
 द्रव्यपरिणामत्वेन पृथिवीजलादिपूर्वोत्तरपर्यायानुगतोर्ध्वतासामान्यारमकपुद्गलद्रव्यस्य पृथि-  
 व्याद्याख्यपरिणाम पृथिव्याद्याख्यविशेषमन्य विशेषस्य सामान्यात्मकत्वात् सामान्यस्वरूप  
 परित्यागे विशेषस्वरूपमपि परित्यजेदित्यतस्तसामान्यस्वरूपाऽपरित्यागेनैव वृत्तं दर्शयति,  
 सामान्यानुविद्धविशेष इव सामान्यमपि विशेषानुविद्धमेव, यतो विशेषोऽभावे सामान्यस्या  
 प्यभावप्रसक्तिस्स्यात्-यद् यदात्मकं तच्चदभावे न भवति, यथा मृत्पिण्डस्थामकोशकुशला  
 घात्मकं मृद्द्रव्यमिति तदभावे तदभावः, विशेषात्मकश्च सामान्यमिति तदभावे तस्याप्य  
 भावस्स्यात् । एतावत्प्रबन्धेन सामान्यविशेषयोर्मिथोऽनुस्यूतत्वेन सामान्यस्य विशेषात्मकत्व  
 प्रतिपाद्याधुना विशेषस्यापि सामान्यात्मकत्वं प्रतिपादयितुमाह-'तय च नियमेइ' तर्कं च  
 नियमयति । तमित्यर्थकमकचप्रत्ययसिद्धं तत्र विशेषे नियमयति, द्वितीयपक्षे सामान्य  
 विशेषात्मकमिति वद्विशेषोऽपि सामान्यात्मक एवति गमयति, अन्यथा मृदभावे मृत्पिण्ड  
 स्थामकोशकुशलाद्यभावयत्सामान्याभावे विशेषस्याप्यभावप्रमद्वस्स्यादिति भावः ॥ १ ॥

न च सामान्यविशेषो मिथो निरपेक्षत्वाद्विभिन्नबुद्धिप्राप्तत्वाच्चैकान्ततो भिन्नावेवेति न  
 सामान्य विशेषात्मकं न च विशेषास्मामान्यात्मका इति न तदुभयात्मकं चस्त्वित्यभ्युप  
 गन्तव्यम्, प्रत्यक्षादिप्रमाणविरोधप्रमद्वात्, तथापि तथाभ्युपगमे यत्स्यात्तदाह—

एगत्तणिविसेस, एयत्तविसेसिय च धयमाणो ।

दध्वस्स पज्जवे प-ज्जवाहि दधिय णियत्तेइ ॥ २ ॥

“एगत्तणिविसेस धयमाणो दध्वस्स पज्जवे णियत्तेइ” “एकान्तनिर्विशेषं वदन् द्रव्यस्य  
 पर्यायान् निवर्त्तयति” एकान्तेन निर्गता विशेषा यस्मात्सामान्यात्तदेकान्तनिर्विशेषम्,  
 विशेषानात्मकं सामान्यं वदन् द्रव्यस्य मृद्द्रव्यस्य पर्यायान् मृत्पिण्डस्थामकोशादीन् गोरमा-  
 देभ्यः पपोदधिपृष्ठादीन् एव द्रव्यान्तरस्य स्वीयस्वीयपर्यायान् निवर्त्तयति, न च तन्निवृत्तिर्यु-  
 क्तिपुक्ता, यत्तन्निवृत्त्यभ्युपगमे मृत्पिण्डस्थामकोशकुशलादिपूर्वोत्तरपर्यायात्मकमृद्द्रव्यस्य  
 दुग्धदधिपृष्ठादिपूर्वोत्तरपर्यायारमकं गोरमादिद्रव्यस्याप्यभ्युपगमादिप्रमाणप्रतीयमानस्य निवृत्ति-  
 प्रमद्वात्, एतन्नामपरिणामिनो, परिणामपरिणामिभावनं कथञ्चिदभेदात्तत्परिणा-

मात्मकपर्यायाभावे परिणामिद्रव्याभावस्याप्यवश्यम्भावात्, द्रव्यत्वज्ञातियोगात् ममत्रापि कारणत्वाच्च द्रव्यमित्यस्य तु प्रागेव निरस्तत्वाच्च पुनस्तन्निरस्यते, अत एवात्मानमधिकृत्य “ न द्रव्यमेव तदसौ समवायिमात्रात्, पर्यायताऽपि किमु नात्मनि कार्यभावात् । उत्पत्तिनाशनियतस्थिरतानुवर्ति, द्रव्य वदन्ति मरदुक्तिविदो न जात्या ॥ ६३ ॥ ” इति खण्डखाद्याऽपरनाममहावीरस्तबोक्त सङ्गच्छते, “ एतद्विसेसिय च वयमाणो पञ्चाह द्रवियणियत्तेह ” एकान्तविशेषञ्च एकान्ततस्मान्मान्यरहित विशेष च वदन् पर्यायेभ्यो विशेषेभ्यो द्रव्य निवर्त्तयति, न च तन्निवृत्तिर्युक्ता, यैव मृत्पिण्डव्यक्तिः सैव स्थासस्वरूपा सैव कोशस्वरूपा सैव कुशलादिस्वरूपा, य एव गोरसो दुग्धरूपः न एव दधिघृतादिस्वरूप इत्याद्या कारापास्तत्पूर्वोत्तरपरिणामलक्षणविशेषानुगतोर्ध्वतासामान्यारूपद्रव्यप्रतीतेर्भावात्, द्रव्यस्याबाधितानुगतप्रतीतिसिद्धत्वेऽपि निवृत्त्यभ्युपगमे एकस्यैवात्मद्रव्यस्य बालधुवद्भृत्तादिदेवनरनारकादिपर्यायाः न त्वन्यद्रव्यस्येति व्यावृत्तबुद्धिप्राधान्यामपि विशेषाणा निवृत्तिप्रसङ्गात्, सामान्यविशेषयोर्मिथोऽनुस्यूतत्वेनानुभूयमानयोर्मध्यादेकस्याभावे तदपरस्याप्यभावो न्यायप्राप्त एव, न च द्रव्यपर्यायावेकान्तमिन्नौ मिन्नबुद्धिप्राधान्यात् घटपटवदित्यनुमानेन द्रव्यपर्याययोरेकान्तमेदसिद्धौ तयोर्मिथोऽनुस्यूतत्वमेवाऽमिदमिति नोक्त सङ्गतमिति वाच्यम्, य एवाह पूर्वं देवत्वेनाभूव स एवाह मनुष्यत्वेनोत्पन्नः, य एवाह पूर्वं बालस्य एवाह युवास्मि, य एव दवदत्तो बालत्वेन दृष्टस् एव युवत्वेन मया दृश्यत इत्यादिप्रत्यभिज्ञाचलेन द्रव्यपर्यायरूपेण कथञ्चिद्भेदाभेदोभयस्वरूपस्यैव सिद्धे, अत एव तयोरेकान्ताऽभेदोऽपि प्रतिक्षिप्तः, पूर्वोक्तयुक्ते, यन्निवृत्तौ यस्य न निवृत्तिस्तत्ततो मिन्न यथा घटनिवृत्तावपि पटस्याऽनिवृत्तिरिति स ततो मिन्नो दृश्यते, पर्यायनिवृत्तावपि द्रव्यस्य न निवृत्तिः, ध्रुवस्वभावात्त्वादिति तस्य द्रव्यस्य पर्यायतो मिन्नत्वाच्च, यतो द्रव्यपर्याययोरभेदे द्रव्यस्वरूपवत्पर्यायस्याप्यनिवृत्तिस्स्यात्, यद्वा द्रव्यस्यापि निवृत्तिस्स्यात् पर्यायस्वरूपवत्, न च तद् युक्तम्, यतो द्रव्यपर्याययोः कथञ्चिद्भेदाभेदोभयस्वरूपतयैवानुभूयमानत्वेन द्रव्यस्वरूपाऽनिवृत्तावपि पर्यायनिवृत्ति पर्यायनिवृत्तावपि द्रव्यस्यानिवृत्तिरपि नानुपपन्ना, कथञ्चिद्भेदपक्षसमाश्रयणात्, तदेव वस्तुमात्र सामान्यविशेषोभयात्मकम् अत्राप्यमानानुगतव्यावृत्तबुद्धिगोचरत्वाऽन्यधानुपपत्तेरभ्युपगमन्तव्यमिति सिद्धम् । यद्मिहित स्याद्वादर्त्नाकरे—तत्सामान्यविशेषारूपा—ऽनेकान्ताक्रान्तमूर्त्तिकम् । वस्तु प्रमेयमायात, प्रमाणस्योपपत्तितः ॥ १ ॥ इति । नन्वेतच्चृतीयकाण्ड नारब्धव्यम् अनेकगामानन्दोद्देशैरनेकधा पूर्वप्रतिपादितविषयकत्वेन पुनरुक्तत्वदोषाघातत्वात्, पिष्टपेषणवदस्य निष्कलत्वाच्चेति चेत्, एतमेतत्, किन्तु प्रमेयप्राधान्येन तद्वाहकस्य प्रमाणस्यापि निरूपणमित्येतत्प्रदर्शनद्वारेण तत्प्रतिपादकवाक्यावतार प्राग्विहितः, इह त्वन्निधमानप्रमेयस्य प्रमाणस्य प्रमाणत्वासम्भवात् प्रमाणनिरूपणद्वारेण प्रमेयनिरूपणमिति प्रदर्शनद्वारेण ‘ सामण्यमि विसेसो ’ इत्यादिवाक्यावतार

इत्यपेक्षामेदप्रयोज्य एवैतत्काण्डारम्भ इति नोक्तदोषः । यथा नैयायिकवैशेषिकावेकस्मिन्नेव  
 भ्रान्तज्ञाने धर्म्यश्रप्रकारांशावच्छेदेन प्रामाण्याप्रामाण्ये आख्यायां वृक्षः फणिसयोगी न  
 तु मूले इति प्रतीतेरेकस्मिन्नेव वृक्षे शाखामूलानच्छेदेन फणिसयोगतद्भावौ नितम्बे पर्वते  
 वद्विर्न तु शिखरे इति प्रतीतेरेकस्मिन्नेव पर्वते नितम्बशिखरावच्छेदेन वद्वितद्भावौ चाभ्यु-  
 पगच्छतः, निरीक्षरसेश्वरमेदेन द्विनिघावपि माङ्गुषी प्रकाशोपष्टम्भावरणादिविरुद्धकार्ये  
 कारित्वेन परस्परविरुद्धसत्त्वरजस्तमोगुणप्रयात्मकमेक प्रधान स्वीकृतं, स्वप्रकाशवादिनो  
 वेदान्तिनोऽनुमितौ पक्षांशे प्रत्यक्षत्व साध्यांशे च परोक्षत्व मन्त्रते । बौद्धस्तु नीलपीते  
 इत्याद्याकारकज्ञानस्य स्वप्रकाशरूपत्वेन यद् ग्राहकाकार चित्रज्ञानस्वरूप तद्रूपेण तदेक,  
 नीलाकारस्य पीताकारस्य च भिन्नत्वेन तद्रूपेण चानेकम्, एवमेकस्यैव रूपस्य स्वाध्यवहितो  
 चररूप प्रत्युपादानकारणत्व स्वाध्यवहितोत्तरमादिक्र प्रति च निमित्तकारणत्वसुररीकरोति,  
 इत्येवमपेक्षामेदेन तदतस्त्वभावमनेकान्तमभ्युपगच्छन्तोऽपि तत्तद्वादिनोऽनेकान्ततत्त्वे  
 प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धे यद्विरोधादिदोषानुद्भावयन्ति तत्परिहारोऽनेकधा क्रियमाणो न दोष  
 पोषायेति न कश्चिदोषः 'मामण्यम्मि विसेतो' इत्यादि सूत्रसन्दर्भविरचने ॥ २ ॥

एकस्मिन्नेव देवदत्ते पित्रपेक्षया पुत्रत्वम्, पुत्रापेक्षया पितृत्वम्, एकस्मिन्नेव बदरादौ  
 अण्वपेक्षया महत्त्वम्, महदपेक्षया चाणुत्वम्, एकस्मिन्नेवाङ्गुल्यादौ वक्रापेक्षया ऋजुत्वम्,  
 ऋज्वपेक्षया च वक्रत्वम्, द्रव्यापेक्षया सामान्यात्मकत्वम्, पर्यायापेक्षया च विशेषरूप  
 त्वमित्येवमापक्षिकवचनमाप्तस्य, इदमित्यथेवेत्येव निर्णोतैकस्वरूपप्रतिपादकतयैकान्तवचन  
 मनाप्तस्येत्येतत्स्वरूपप्रतिपादनार्थमाह—यद्वा सामान्यविशेषानेकान्तात्मकवस्तुप्रतिपादक वच-  
 नमाप्तस्य, इतरदितरस्येत्येतदेव दर्शयन्नाह—

पञ्चुप्पन्न भाव, विगयभविस्सेहिं ज समण्णेह ।

एय पडुच्चवयण, दच्चतरणिस्सिय ज च ॥ ३ ॥

'पञ्चुप्पन्न भाव' प्रपुत्रपन्न भाव—निखिलजीवाजीवादिद्रव्यस्य प्रत्यक्षादिप्रमाण  
 गोचरीभूत वर्त्तमानपर्याय 'विगयभविस्सेहिं' विगतभविष्यद्भार्या अतीतानागतपर्यायान्या  
 'जं समण्णेह' यत्समन्वेति—कालत्रयानुगतोर्चतासामान्याख्यद्रव्यस्य भूतवर्त्तमानभवि-  
 ष्यत्पर्यायपरिणामितया तद्रूपेण समानरूपतया नयति प्रतिपादयति वचः 'एय पडुच्च-  
 वयण' एतत्प्रतीत्यवचनम्, आपेक्षितवचनम्, सर्वज्ञवचनमित्यर्थः, अन्यज्ञानाप्तवचनम्,  
 ननु वर्त्तमानपर्यायस्यातीतपर्यायात्मकत्वे तद्वत्तस्यापि प्राक् सत्त्वप्रसङ्ग इति सत्कार्पवाद  
 साम्राज्यापत्तिः, तथा चेदानींतनतत्कारकव्यापारवैकल्यप्रसङ्गः, कार्यात् प्रागपि तत्स-  
 त्वस्य तत्कार्यस्य चोपलम्भप्रसङ्गश्च, अथ पूर्वमनाविर्भावाद् न तत्प्रसङ्ग इति चेत्, न,  
 अनाविर्भावस्य निर्वक्तुमशक्यत्वात्, उपलम्भमावरूपत्वे तस्यात्माश्रयात्, पञ्चकाद्य-

भावरूपत्वे च व्यञ्जकादयः किं पूर्वं मन्तोऽमन्तो वाऽभ्युपगम्यन्ते, आद्ये तत्सर्वोपलम्भ  
 प्रसङ्गेन तदभावाऽयोग'। द्वितीये च तदनुत्पत्तिप्रसङ्गः, असदकरणादुपादानग्रहणात्  
 सर्वमस्मत्त्वाऽमात्रात्। शक्तस्य शक्यकरणात्कारणभावाच्च मत्कार्यम् ॥ १ ॥ इत्युक्तेः।  
 किञ्चैवमुत्पत्तिपदार्थ एव विलीयेत, कार्यस्य प्रागपि भवेनाद्यक्षणमम्बन्धलक्षणायास्तस्या  
 इदानीमयोगात्। अथ पूर्वं कार्यं शक्तिरूपेण मत् नामिन्व्यक्त्याऽपीति नोक्तदोष इति  
 चेत्, तर्ह्यनायासेनैवामत्पक्षसिद्धिः, पूर्वममिन्व्यक्तिरूपेणाऽमतोऽपि कार्यस्योत्पादाभ्युप  
 गमात्। एव भविष्यत्पर्यायात्मकत्वे च वर्तमानपर्यायस्य तद्विनाशहेतुव्यापारवैकल्यम्,  
 तेन तद्विनाशकार्याकरणात्, उत्तरकालावच्छेदेनापि घटादिकार्यसद्भावेन तदुपलब्धिजला  
 हरणादितत्कार्यप्रसङ्गश्च, ततो यद्यत्कालावच्छेदेन स्वीयकार्यकृतत्तत्कालावच्छेदेनैव सत्,  
 वर्तमानपर्यायश्च स्वकालावच्छेदेनैव कार्यकृदित्यर्थक्रियाकारित्वात् तदानीमेव मत्, न  
 पूर्वोत्तरकालावच्छेदेन, तदानीमर्थक्रियाकारित्वाऽभावादिति चेत्, मैरम्, कथञ्चित्सद  
 सत्कार्यवादे दोषाभावात्, द्रव्यरूपेण प्राक् सतः पर्यायस्य द्रव्यरूपेण प्रागभ्युपलम्भात्,  
 पर्यायरूपेणामतस्तस्याऽऽद्यक्षणसम्बन्धलक्षणोत्पत्तेः सुघटत्राच, न चेदवम् उपादानका  
 रणत्वमेव दुर्घट स्यात्, पूर्वं समवायस्य निरस्तत्वेन स्वसमवेतकार्यकारित्वलक्षणस्यो  
 पादानत्वस्याऽसिद्धे' कार्यप्रागभावाधिकरणत्वमुपादानत्रमित्यपि न, यतोऽसतः कार्यस्य  
 पूर्वं स्वरूपामावे स्वरूपात्मकप्रतियोगित्वस्याप्यभावेन कार्यनिष्ठप्रतियोगितानिरूपका-  
 भावात्मकः कार्यप्रागभाव एव न सिद्धयेत्, एव तस्य स्वरूपात्मकविशेषणत्रमम्बन्ध  
 स्याभावे तेन मम्बन्धेन तदधिकरणत्वस्याप्ययोगादिति। अत्राह बौद्धः-यद्यत्तुर्वद्रूपात्मक  
 तत्त्वोपादानकारणमिति चेत्, तदपि न मङ्गतम्, एकान्तक्षणिकृतत्वस्य पूर्वं निरस्तत्वेन  
 तस्याऽप्यसिद्धे', एव वर्तमानपर्यायस्य भविष्यत्पर्यायात्मकत्वेन तद्वत्तस्यापि स्वस्वरूपेणो  
 पलब्धिप्रसङ्ग इत्यपि न युक्तम्, ऊर्ध्वतासामान्याख्यद्रव्यस्य पूर्वकालावच्छिन्नतत्त्वदव  
 स्यावर्तित्वेनेवोत्तरकालावच्छिन्नतत्त्वदवस्थावर्तित्वेन कथञ्चित्तदभिन्नवर्तमानपर्यायसत्त्वमपि  
 तदानीं द्रव्यरूपेणैवाऽभ्युपगमात्, न तु स्वस्वरूपेणेति न तदानीं भविष्यत्पर्यायस्वरूपेणो  
 पलम्भप्रसङ्गः, पूर्वोत्तरतत्त्वदवस्थार्या प्रतिमाममानेन द्रव्यरूपेण तदुपलम्भस्त्विति एव, अत  
 एव पर्यायरूपेण तद्विनाशहेतुव्यापारवैकल्यमपि न, तेन रूपेण तद्विनाशभावादर्थनात्,  
 तदेव कारणे नैकान्तेन सत्कार्यमुत्पद्यते, कारणवैकल्यप्रसङ्गात्, न चैकान्तेनामत्, घटादेरिव  
 शशशृङ्गादेरप्युत्पत्तिप्रसङ्गात्, अमत्त्वाविशेषात्। किन्तु कथञ्चित्सदेवेति कारणस्य  
 कथञ्चित्सजननस्वभाव एव युक्तः। नन्वेकान्ताऽमत्पक्षेऽपि शशशृङ्गाद्युत्पत्त्यापादन  
 न सम्पद्यते घत्ते, यतस्तदनुत्पत्तिः कारणाभावादव, न त्रमत्त्वादिति चेत्, सोऽपि  
 कुतः?। अमत्त्वादिति चेत्, तदपि कुतः?। कारणाभावादिति चेत्, तर्ह्यन्योन्याश्रयः।  
 ननु यदसत्तदुत्पद्यत एवति नियमो नाभ्युपगम्यते, येनोक्तदोषस्यात्, किन्तु यद्वर्मा-

वच्छिन्न प्रति यद्दर्मावच्छिन्नस्य कारणत्व तद्दर्मावच्छिन्नमन्वे तदितरमङ्गलमहकारिसम-  
 वधाने च पूर्वमतोऽपि कार्यतावच्छेदकतद्दर्मावच्छिन्नस्योत्पत्तिरित्यभ्युपगमोऽस्मा-  
 कम्, तथा च शशशृङ्गादिक यदि कस्यचित्कारणस्य सन्निधानात्पूर्वमतमपि पश्चादुत्पद्य-  
 मानमुपलभ्येत तदाऽनापत्या शशशृङ्गावच्छिन्नमप्रत्यपि यत्किञ्चिद्दर्मावच्छिन्नस्य कारण-  
 त्वमभ्युपगत भवेत्, तेन च तस्योत्पत्त्याद्यापादन युक्तिमङ्गत भवेत्, न चैवम्, तथा च  
 पूर्वमतस्त्वाऽविशेषेऽपि तदनु कारणसमाजादुत्पद्यमानस्योपलम्भाच्छशशृङ्गादेश्च कदाचिदस्य  
 उपलम्भादनुपलभ्यमानकार्यस्यानुपलभ्यमानतत्कारणस्य च कल्पनायाः प्रयोजन विना  
 गौरवमात्रसम्पादकत्वादापादकामावादेव न तदापत्तिरिति चेत्, मैवम्, यतो यदि  
 कारणे असदेव कार्यमुत्पद्यते तर्हि किमिति तन्तुभ्य एव पटो न कपालादिभ्यः, विनिगम  
 कामावात्, एकस्मादपि कपालादेर्घटपटादिनिखिलकार्योत्पत्तिस्स्यात्, सत्त्वपक्षे च यस्य  
 कार्यस्य यत्र कारणे सत्त्वं तस्य तत्कारणादेवोत्पत्तिः, नान्यस्मात्, उपादानकारणानां  
 कथञ्चित्सञ्जननस्वभावस्यैकस्यैवाभ्युपगमेन लाघवम्, अमत्त्वपक्षे तु प्रतिनियतकार्यजन-  
 कत्वस्वभावकल्पने कार्यकारणभेदेनानन्तरमात्रप्रसङ्गेनाऽतिगौरवमित्यत्र दीपतां दृष्टिः,  
 नन्वसदुत्पत्तिपक्षे शशशृङ्गाद्युत्पत्तिगौरवापादन तदा शोभेत यदि निष्प्रामाणिकः कल्पना-  
 मात्रविषयोऽभ्युपगतो भवेत्, यानता प्रत्यक्षप्रमाणमेव प्रतिनियतकार्यकारणमात्र निश्चिन्वत्  
 कार्यस्य कारणभेद पूर्वकालाऽमत्त्वं च निश्चिनोतीति प्रमाणसिद्धोऽसद्वादो वैकल्पिक सद-  
 सद्वाद मिथ्यात्वेनाऽवबोधयति, अत एवोक्तमन्यत्र, “सविदेव हि भगवती वस्तुपगमे नश-  
 रणम्” इति चेत्, न, यत्र सविद्भगवती प्रमाणत्वेन भवतोऽप्यस्ता सा स्यमेवात्मनः कथ-  
 ञ्चिद्भेदाभेदाद् कथञ्चित्सदसद्वादश्चाऽन्तरेणानुपपन्ना कथ तमेव बाधेत, तथाहि सविद्  
 भवद्विरप्यात्मगुणत्वेनाभ्युपगम्यते, सा चात्मत्वेन ज्ञानत्वेनात्मज्ञानयोर्भेदः, अन्योन्यानु-  
 स्मृतत्वेनाऽप्युत्सिद्धत्वेन चाभेद इत्येवं कथञ्चिद्भेदाभेदमन्तरेणानुपपन्नेति। ननुक्तमेव गुण-  
 गुणिनोस्समवायलक्षणोऽतिरिक्तस्मम्बन्धत्वेन भिन्नमपि ज्ञानमात्मनि वर्त्तत इति तयोर्गुण-  
 गुणिमात्र इति तत्किं विस्मृतम्? इति चेत् को नाम नोक्तमिति वदति, न वा विस्मृतं तत्,  
 किन्तु योऽयं समवायात्मा मम्बन्धो भवद्विरभ्युपगतस्त प्रमाणबाध इति श्रुतमप्यश्रुतकल्प-  
 कृतोपेक्षितः, प्रमाणानुचरत्लक्षणप्रमाणबाधत्व तु तस्य पूर्वमेवोक्तमिति न पुनरुच्यते,  
 नन्वेव सति सदुत्पादपक्ष एवास्तु प्रमाणार्हो न तु कथञ्चित्सदसत्पक्षः, अनुभवपथातीवत्वाद्  
 इति चेत्, मैवम्, मत्पक्षे हि कार्यस्य कारणात्मकत्वेनेदमस्य कारणमिदमस्य कार्यमित्य-  
 सङ्कीर्णव्यवहारविलपनप्रमङ्गात्, यतो न हि यद्यतोऽप्यतिरिक्तं तत्तस्य कार्यं कारणं वेति  
 व्यपदेशु शक्यम्, कार्यकारणयोर्भिन्नलक्षणत्वात्। तथा चोपादानकारणे कथञ्चित्सञ्जन-  
 स्वभावस्यैव प्रमाणानुचरत्वेन तत्र प्रागपि द्रव्यरूपेण सत्कार्यं कार्यरूपेणानुत्पन्नत्वात्-  
 द्रव्येण चाऽमदिति कार्यकारणभावस्य कथञ्चित्सदसत्पक्ष एव घटमानत्वेनोपादानकारणस्य

पूर्वोत्तरपर्यायरूपेण परिणमनात्तद्रूपान्वयिद्रव्यस्य त्रिकालास्तित्वात्तद्द्वारेण वर्तमानपर्यायस्य त्रिकालाऽस्तित्वप्रतिपादक प्रतीत्य वचनमिति सिद्धम् । 'द्वतरणिस्मिय ज च' द्रव्यान्तरनिस्तृत यच्च तदपि प्रतीत्य वचनम् । यद्यप्युपादानकारणरूपा, परमाणव एव विभक्तत्वाणुत्वपरिणामबहुत्वमङ्गुयादिरूपतया ये पूर्वमामन् त एव सयुक्तत्वमहस्व परिणामैकत्वसङ्ख्यादिभावमापन्ना ह्यणुरुच्यणुकादिव्यपदेश भजन्ते, अत एव नोक्तस्वरूपेण पूर्वकालावच्छिन्नमचाक्रपरमाणुभ्यस्मर्थाऽतिरिक्तमवयविद्रव्यमस्ति, न चैव तर्हि विभक्ता नामिव सयुक्तानामप्यणुनां चाक्षुपप्रत्यक्षगोचरत्व न स्यादिति वाच्यम्, विभक्तदशायां चाक्षुपप्रत्यक्षाऽजननस्वभावत्ववत् तेषां सहस्रदशायां चाक्षुपप्रत्यक्षजननस्वभावत्वात्, निप्रकृष्टमन्त्रिकृष्टेषु रेखादिषु चाक्षुपप्रत्यक्षाजननतजननस्वाभाव्यदर्शनात्, उक्तनानास्वभावत्वे च तद्विषयरुचाक्षुपज्ञानावरणरुर्मक्षयोपशमभावाभावावेव कारणम् । तथापि नैयायिकैरशेषिकमतेन समवायसमवायिनिमित्तकारणेभ्योऽयविद्रव्यमतिरिक्तमेयोत्पद्यते इति तदभिप्रायतत्समवायिकारणपरमाणुत, कार्यद्रव्य ह्यणुकादि द्रव्यान्तर तेन निस्तृत सम्बद्ध कारण परमाण्वादि, केन सम्बन्धेन मन्मद्भूमिति चेत्, सयुक्ततया परिणतस्य परमाणुद्वयादे सयोगात्मरूपर्यायस्यैकत्वेन तदभिन्नत्वाद्भेद, परमाणुत्वद्वयणुक्तत्वादिना च भेद इति कथञ्चिद्भेदविशिष्टाभेद एव कथञ्चिद्भेदाभेद इति तदात्मकरूपमन्वन्धेन, न तु सम्बन्धान्तरेण, समवायस्य निरस्तत्वात् एकान्तव्यतिरिक्तसयोगादिमन्वन्धस्य चाघटमानत्वात्, इत्य यत्प्रतिपादयति तदपि प्रतीत्य वचनम्, तथाहि—यदाऽणुो विभागबहुत्वसङ्ख्याऽणुपरिमाणादिपर्यायान् परित्यज्य सयोगैकत्वसङ्ख्यामहस्वादिपर्यायान् गृह्णन्ति तदा स्थूलकार्यस्वरूपमामादयन्तीत्यणुनामेव सयोगैकत्वसङ्ख्यामहस्वादिपर्यायैरुपचिः, विभागबहुत्वसङ्ख्याऽणुपरिमाणादिपर्यायैर्ह्यणुकादिपूर्वसङ्क्षमस्वरूपतया वा विनाशः, स्थूलकार्यनिष्पत्तावपि परमाणवो न मूलभूतद्रव्यस्वरूप परमाण्वात्मक परित्यजन्तीति तद्रूपेण ते नित्या, परमाणुरूपतयाऽपि विनाशोत्पत्त्यभ्युपगमे तु पूर्वोत्तरावस्थयोर्निराधारविगमप्रादुर्भासप्रसक्तिः, न च तदवस्थयोरेवाधारत्वम् तयोस्तदानीममन्वात् । न च समवेतकार्य समवायिकारणे उत्पद्यत इति तदेव तदाधार इति वाच्यम्, तद्घटकममवायस्य पूर्वमेव निरस्तत्वेन तदसिद्धेः, नन्वेव तर्हि घटकार्पोत्पत्तिः कथमिति चेत्, मृदुपादानात्, तथाहि—पूर्वमृत्पिण्डपर्याय परिहायोत्तरघटपर्यायमुपादत्ते मृद्रव्यम् । उक्तञ्च श्रीमहावीरस्तवे "सामान्यमेव तव देव ! तदूर्ध्वताण्य, द्रव्य वदन्त्यनुगत क्रमिकक्षणीये" इति । एतेन कार्यकार्यप्रत्यासत्त्या कपालद्रव्यसयोगस्यासमवायिकारणत्वमित्यपि निरस्तम्, सयोगस्य पर्यायरूपत्वनातिरिक्तसयोगगुणस्यैवामावात् । तदुक्तमुत्तराव्ययनस्ये—

“एगत्त च पुहुत्त सखा सट्टाणमेव  
सजोगो य विभागो य पज्जवाण ण ॥” इति ।



तद्व च कपालद्वयसंयुक्तावस्थैर घटोत्पत्तिरिति मन्तव्यम् । घटनाशस्तु शुद्धरादिना घटस्य विमक्तावयवात्मकतयोत्पन्नकपालकदम्भात्मकः, धर्मिकल्पनातो धर्मकल्पना लघीय सीति न्यायादुत्तरपर्यायैश्वेव नाशत्रधर्मकल्पनाया लघीयस्त्वात्, अतिरिक्तनाशस्याननुभूय मानत्वाच्च । तथा च व्यवस्थितमेतत् मूढव्यमेव कपालद्वयसंयुक्तावस्थारूपेणोत्पन्न मृत्पिण्ड पर्यायरूपतया विनष्ट मूढव्यरूपतया ध्रुमिति त्रिलक्षणशालित्वेन मद्रूपम्, यदमिहित स्याद्वादरत्नाकरे— “ तेनोत्पादव्ययधौष्य-युक्त सदिति भारती । ददाति विद्ब्रह्मोकाय, नूनं जगति भारती ॥ १ ॥ ” इति । अत्र एव कारण कार्यतः कथञ्चिद्भिन्नाभिन्नमिति कथञ्चिद् भेदाभेदात्मकस्वरूपमम्बन्धेन कार्यद्रव्येण सह सम्बद्धमिति तथाभूत्तस्तुप्रतिपादकमेरास्त-वचनम्, एकान्ततत्त्वप्रतिपादक त्वनास्तवचनमिति । अथवा एकद्रव्यादन्यद्रव्यं द्रव्यान्तर तस्मिन् निस्सृत सम्बद्ध यत्प्रतिपादयति तदपि प्रतीत्य वचनम्, यथा दीर्घतर मध्यमाह लिद्रव्यमपेक्ष्य हस्ततरमङ्गुष्ठकद्रव्यमिति वच, हस्ततर-दीर्घन्वादिकस्तु स्वधर्म एव द्रव्यान्तरविशेषाऽभिव्यक्तयः पितेव पुत्रादिना । अयम्भावः-अनन्तधर्मात्मके वस्तुनि महस्व हस्वत्व गुरुत्व लघुत्वमित्यादयो द्रव्यान्तरविशेषाभिव्यक्त्या ये धर्मास्ते तदशा एवेति तत्र तेषामविरोधप्रतिपत्तये यानि निमित्तानि तानि तत्तन्नप्रयोज्यानीति इद वस्त्वेतदपेक्षया महद् इस्व वेति घोषे तत्तन्निमित्तोपनायकतया तत्तन्निमित्तोपगमनपरा नया अपेक्षिता भवन्ति, तत्र महस्वहस्वत्वादीनामेकत्र सत्त्वाविरोधाय यान्यपेक्षणीयानि तत्तन्नप्रयोज्याव ध्यादिरूपतत्तन्निमित्तानि तदपेक्षं यद्वचस्तदपि प्रतीत्यवचनमापेक्षिकवचनम्, यथेद वस्त्वे तदपेक्षया महत्, एतदपेक्षया च हस्व एतदपेक्षया गुरु एतदपेक्षया च लघ्विति वचः ॥ ३ ॥

ननु वर्त्तमानपर्यायशब्देर्त्तमानकालावच्छेदेनेवातीतानागतकालावच्छेदेनापि सस्तदाऽवच्छेदकतासम्बन्धेन वर्त्तमानपर्यायाश्रयत्वाद्द्वर्त्तमानकालरदतीतानागतकालयोरपि वर्त्तमान-कालतापत्या तेषामैक्य स्यात्, अन्यथोक्तसम्बन्धेन वर्त्तमानपर्यायाश्रयत्वमेव तयोर्न स्यादिति वर्त्तमानपर्यायस्य त्रिकालावच्छिन्नसत्त्वमेवानुपपन्न स्यादिति तथाभूतार्थप्रतिपादकं वचनमप्रतीत्यवचनमेवेत्याशङ्क्याह—

द्रव्यं जहा परिणय, तद्देव अतिथित्ति तस्मिन् समयस्मिन् ।

विगय भविस्सेहि उ पज्जएहि भयणा विभयणा वा ॥ ४ ॥

‘द्व जहा परिणय’ द्रव्यं धर्मास्तिकायाख्य तत्तज्जीवागमनमापोन्मेषमनो योगवचनयोगकाययोगादितत्तत्पुद्गलागमनगमनादिचलभावोपष्टम्भरूपतया परसयोगत्र पर्यायैश्च, अधर्मास्तिकायाख्य च तत्तज्जीवस्थितिकायोत्सर्गशयनादितत्तत्पुद्गलस्यत्यादि-स्थिरभावोपष्टम्भकतया परसयोगत्रपर्यायैश्च, आकाशास्तिकायाख्य च तत्तज्जीवतत्तत्पुद्गला-वमाहनक्रियोत्पत्तिनिमित्तमानतया परसयोगत्रपर्यायैश्च, पुद्गलास्तिकायाख्य परमाण्वा-दिक पद्गुणज्ञानिशुद्धिभावापन्नतत्तद्वर्णतत्तद्रसतत्तद्रन्धतत्तत्सपर्शादिभावकार्यतया त्वशुक्तय

शुकादियावदुघटपटादिकार्यतया च, जीवास्तिकापाख्यञ्च मनुष्यनरकादितत्तद्रूप्यादि पर्यायतया तत्तदर्थग्राहिविज्ञानदर्शनादिपर्यायतया च विशिष्टविशिष्टतरविशिष्टतमाऽप्य वसायादिपर्यायतया च, कालाख्यञ्च तत्तत्पुद्गलनवपुराणादिमात्रहेतुतया हेमन्ताद्यृतुवि भागेन च समयविभागेन च परिणत यत्तद् “ तदेव अतिथि तिम्मि ममपम्मि ” तथैव तस्मिन् समये वर्त्तमानकालेऽस्तीति । उक्तञ्च भगवत्यां त्रयोदशशतके चतुर्थोद्देशके “ धम्मत्थिकाए ण भते ! जीवाण किं पवत्तति ? गोयमा ! धम्मत्थिकाए ण जीवाण आगमणममणमानोम्मसमणजोगा वयजोगा कापजोगा जेयावण्णे तहप्पगारा चन्ना भावा सवे ते धम्मत्थिकाए पवत्तति गतिरुक्खणे ण धम्मत्थिकाए । अहम्मत्थिकाए ण जीवाण किं पवत्तति ? गोयमा ! अहम्मत्थिकाए ण जीवाण द्वाणनिसीयणतुपट्टणमणस्स य एगच्चिमारकरणया जेयावण्णे तहप्पगारा यिरा भावा मवे ते अहम्मत्थिकाए पवत्तति ” इत्यादि । “ विगय-भविस्सेहि उ पज्जएहि भयणा ” विगतमविष्यद्विस्तु पर्यायैर्म जना-कथञ्चित्तैस्तस्यैकत्वम्, ‘ विमयणा वा ’ विगतमजना विमजना कथञ्चित्तैकत्वम् ‘ वा ’ शब्दस्य कथञ्चिदर्थत्वात् । यतो यदेव द्रव्यमतीतपर्यायतया परिणत तदेव वर्त्तमानपर्यायतया परिणमति मविष्यत्पर्यायतया परिणस्पतीति तदभिन्नाभिन्नस्य तद-भिन्नत्वमिति नियममनुसृत्य वर्त्तमानपर्यायाऽभिन्ना-व्यतिद्रव्याभिन्नातीतानागतपर्यायाणां वर्त्तमानपर्यायाऽभिन्नत्वमिति द्रव्यार्थिकनयप्राधान्यविवक्षायामन्यविद्रव्यद्वारा वर्त्तमान-पर्यायस्यातीतानागतपर्यायैरेकत्वम्, पर्यायार्थिकनयप्राधान्यविवक्षायामतीतानागतपर्या-याणां विनष्टाऽनुत्पन्नत्वेनामद्रूपैस्तैर्वर्त्तमानपर्यायस्यार्थक्रियाकारित्वेन मद्रूपस्य भिन्नत्वम्, ततो वर्त्तमानपर्यायस्यातीतानागतपर्यायार्थां स्वरामाधारगधर्मरूपेण मेदवद-व्यतिद्रव्य-रूपेणाऽमेदोऽपीत्यन्वविद्रव्यवत्तदभिन्नस्य वर्त्तमानपर्यायस्यापि तद्रूपेण त्रिकालावच्छिन्न सत्त्व नानुपपन्नमिति कथं तत्प्रतिपादकवचनस्याप्रतीत्यवचनतेति सिद्धम् ॥ ४ ॥

नन्यात्मघटादिचेतनाचेतनपदार्थस्य कैः पर्यायैरस्तित्त्वं कैश्च नास्तित्त्वमिति चेत्, उच्यते, सदृशामदृशपर्यायाभ्यामेकान्तमदमद्विलक्षणस्य जात्यन्तरात्मकस्यैवानुभूयमान-त्वेन सदृशपर्यायैरस्तित्त्वं विमदृशपर्यायैश्च नास्तित्त्वमित्युपपादनायाह—

परपज्जवेहिं असरि-सगमेहिं णियमेण णिचममि नत्थि ।

सरिसेहिं पि घजणओ, अत्थि ण पुणत्थपज्जाए ॥ ५ ॥

‘ परपज्जवेहिं ’ परपर्यायै वर्त्तमानपर्यायव्यतिरिक्तभूत-मविष्यत्पर्यायाः परपर्यायाः, तैः, कथम्भूतैस्तैरित्याह-‘ असरिमगमेहिं ’ असदृशगमैः, ये गत्यर्थास्ते ज्ञानार्था इत्युक्तेर्विजाती यज्ञानप्राप्तैः, अत्र “ विमरिममहिं ” इत्यपि पाठः, विमदृशगमैः विजातीयज्ञानप्राप्तैः.

विमदृशपर्यायैरिति यावत् “ णियमेण णिचमपि नत्थि ” नियमेन नित्यमपि नास्ति  
 चेतनद्रव्यमचेतनद्रव्यञ्च, तैरपि तस्य सच्च तदेव स्याद्यदि भूतमपिप्यत्पर्यायात्मकपर  
 पर्यायाणां वर्तमानकाले सच्च स्यात्, तथा मत्पतीतानागतवर्तमानात्रस्थात्रयमङ्गीर्णता  
 प्रमङ्गस्स्यात् “ सरिसेहिं पि वज्जणओ अत्थि ” सदृशैरपि व्यञ्जनतोऽस्ति, येषु सदृश  
 पर्यायान्तेऽपि सदृशव्यवृथिव्यादिशब्दप्रतिपाद्या व्यञ्जनपर्यायाः कालत्रयानुगताः सामान्य  
 विशेषात्मकास्तेऽत्र ग्राह्याः, तेषां शब्दत्रयत्वात्, न तु ऋजुश्रुताभिमतता अर्थपर्याया,  
 तेषामन्योन्यव्यावृत्तवस्तुस्वलक्षणग्राहकृजुश्रुताभिमतानां स्वलक्षणतात्मकत्वेन प्रतिक्षणभिन्न  
 रूपाणां शब्दाऽत्राच्यत्वात्, अत एव “ अभिलाष्यानभिलाष्य, प्रमाणपर्यङ्कशायि विश्वमिदम् ।  
 तस्मादङ्गीकार्यं, न त्वेकान्तव्यमनन्दु स्थम् ॥ १ ॥ इत्युक्तेःस्तुमात्रमभिलाष्यत्रानभिलाष्यत्वं  
 धर्मद्वयभाजन, अन्यथा तदुभयधर्मरूपेणानेकान्तात्मकमेव तन्न स्यात्, न च शब्दत्रयत्वाद्  
 पदेवाभिलाष्यत्वं धर्मक तदेव शब्दत्रयत्वादनभिलाष्यत्वं धर्मकमिति कथं मद्गतम्,  
 घटत्वपटवयोरितैतद्धर्मयोर्वैरुद्धत्वेनैकं ममावेशाऽयोगादिति वाच्यम् हस्तत्रयीर्षत्वयोस्वि  
 तयोर्भिन्नापेक्षत्वेन विरोधाऽभावात्, न च भिन्नापेक्षत्वं तयोरसिद्धमिति वाच्यम्, कालान्त  
 रस्थायिस्थूलव्यञ्जनपर्यायैरभिलाष्योग्यपर्यायापरऽभिधानैश्चेतनाचेतनवस्तुन्यभिलाष्यत्वस्य  
 प्रतिक्षणभिन्नश्रुतमार्थपर्यायैरभिलाष्योग्यपर्यायाऽपरऽभिधानैश्चानभिलाष्यत्वस्य भावा  
 दित्पुक्कलक्षणैस्सदृशव्यञ्जनपर्यायैस्त्रिकालानुगतैस्सर्गमस्ति, तत्तद्द्रव्य कालत्रये वर्तते,  
 न त्वर्थपर्यायैरित्याह— ‘ ण पुणत्थपज्जाए ’ न पुनर्नेऽर्थपर्यायैस्तदस्ति । अप्यभाव—  
 सामान्यविशेषात्मकमेव वस्तु गुणप्रधानभावेन शब्दत्रयम्, न तु सामान्यमात्रम्,  
 यथाऽग्निगोराहादिशब्दप्रतिपाद्यसामान्यमात्रस्याग्निस्त्वगोत्वाश्चत्वादिरूपस्य दहनदोहना-  
 ऽऽवेगगमनाद्यर्थक्रियाजनकत्वाभावेन सामान्यमात्रायाश्च ज्ञानाद्यर्थक्रियायास्तदानीमेवो  
 त्पत्तेर्दाहाद्यर्थिना तत्र व्यक्त्यप्रतिभासे तदानयनफला प्रवृत्तिरेवोच्छिद्यते, न च निराश्रयस्य  
 सामान्यस्याऽगम्यत्वेन सामान्यप्रतिपादनद्वारा स्तशक्यजात्याश्रयत्वं सम्बन्धरूपलक्षणयाऽ  
 नुमानतो वाऽर्थक्रियाजनकस्य विशेषस्य प्रतिभासाभ्युपगमात्साऽप्रवृत्ति, लक्षणाधीनं तु  
 गामानयेत्यादायानयनकर्मत्वाद्दौ प्रकृततायादिप्रते, ससर्गतायादिमतं दानयनादौ कर्मत्वादि  
 सम्बन्धन जातेरन्यथाऽनुपपत्तिरेवेति वाच्यम्, प्राक्सामान्यस्य प्रतिभासाः पश्चाद्भ्यक्त्या-  
 त्मनविशेषस्येति क्रमप्रतीतरनुभूयमानत्वात्, नन्वेव तर्हि व्यक्त्यात्मकविशेषा एव शब्द-  
 वाच्यात्मन्त्विति चेत्, तदपि न मनोरमम्, तेषामानन्त्येन सङ्केताऽगम्यत्वात् । न च  
 प्रत्येकगतादिव्यक्तिरेकेवेति तत्र शक्तिकल्पनार्था यथा सकलगोव्यक्तिमानार्थं ताव  
 द्गोव्यक्तिपु शक्तिरूपनापक्षे गौरवज्ञान बाधक विनिगमक तथैकव्यक्तिशक्तिपक्षे तन्नोति  
 वाच्यम्, यत एकस्यामेव व्यक्तौ शक्यभ्युपगमे व्यक्त्यन्तरमानार्थं तत्र लक्षणायां  
 र्सीकृताया स्वसमवेताश्रयस्य ससर्ग, कल्पनीय इति गौरवज्ञान बाधक तदवस्थमेव ।

अथानुगतज्ञात्यरच्छिन्नपावद्व्यक्तिष्वनुगतज्ञात्यवच्छिन्नैकैव शक्तिः, अनुगतैककारणतावच्छेदकधर्मान्च्छिन्नकारणतावदिति जातिविशिष्टव्यक्तिशक्तिपक्षे गोत्ररूपेण मकरगोव्यक्तिमानमुपपद्यत एवेति चेत्, अस्त्वेवम्, न च तथापि जातिव्यक्तयोरेकान्ततो भेद एव, तत्र सम्बन्धस्यायोगाद्, विशिष्टबुद्ध्यनुपपत्तेः । न चैकान्तमिन्नयोरपि तयोस्ममरायसम्बन्धोऽस्तीति तद्बलात्सा भविष्यतीति वाच्यम्, प्रागेव तस्य निरासत्, तत्र स्याद्वादस्य सम्बन्धत्वरव्यापकत्वेन कथञ्चिद्भेदाभेदसमर्गस्यैव विशिष्टबुद्धिनियामकत्वेनाभ्युपगन्तव्यतया गोत्वादेः कथञ्चिद्गवादिष्यक्तिस्वरूपस्यापि जातिरूपत्वादेव निरवच्छिन्नप्रकारतया तद्व्यक्तिस्वरूपस्य तद्व्यक्तिरस्यैव मानोपपत्तेः किमतिरिक्तज्ञातिकल्पनया । किञ्च धर्मिकल्पनातो धर्मकल्पना लयीयसीतिन्यायेन कल्प्यमानजातो मामान्यत्वकल्पनापेक्षया सिद्धगवादिषिण्डेष्वेव गोमामान्यत्वरकल्पनायां लाघवमिति तद्रूपेणा अनुगतस्य गोपदार्थस्य सङ्केतमहे तज्ज-यशब्दबोधे च प्रकारतया मानोपपत्तेः सामान्यत्वेन रूपेणापूर्वव्यक्तिष्वपि सङ्केतविषयत्वरमुपपद्यत एवेति सामान्यविशेषोभयात्मकमेव वस्तु गुणप्रधानभावेन शब्देनाभिधीयत इति शब्दप्रतिपाद्यैस्मदृशैर्ध्वज्जनपर्यायैरेव मर्ममस्ति न त्वर्थपर्यायैरित्युपपन्नम् ॥ ५ ॥

नन्वेवमपि भावस्य प्रभुत्वन्नपर्यायेण नियमेनाऽस्तित्तरमेवेत्यभ्युपगमेऽप्येकान्तवादापत्तिरित्याशङ्क्याह—यद्वैकान्तवादापत्तिमिया न च वर्तमानपर्यायेणापि भावस्य नियमेन मन्वमेवाभ्युपगन्तव्यम्, किन्तु सत्त्वासत्त्वोभयमेवेति प्रतिपादयितुमाह—

पञ्चुप्पणम्मि वि प-ज्जयंमि भयणागइ पडइ दच्च ॥  
ज एगगुणाईया, अणतकप्पा गमचिसेसा ॥ ६ ॥

‘पञ्चुप्पणम्मि वि’ प्रत्युत्पन्नोऽपि—वर्तमानेऽपि ‘पञ्जयम्मि’ पर्याये, “भयणागइ पडइ दच्च” मज्जनागति स्वरूपतया मदमदात्मिकां अघो-मध्योर्वादिरूपेण च भेदाऽभेदात्मिकां विकल्पपद्धतिं पतति—आमादयति द्रव्यम्, तत्र हेतुमाह—“ज एगगुणाईया अणतकप्पा गमचिसेसा” इति, अत्र गुणविसेसा इत्यपि पाठो नयोपदेशशुद्धो, एनमेव पाठमनुसृत्य पूज्यैरमयदेवस्यरिभिरप्यर्थ. कृत इति मयाऽपि तथैवार्थं क्रियते, यद्-यस्माद्धेतो एकगुणकृष्णत्वादयोऽनन्तरप्रकारास्त्र गुणविशेषाः, कल्पशब्दः प्रकारवाची, तथा च मध्ये केनचिदेव गुणविशेषेण युक्तं तत्, तथाहि कृष्णद्रव्यं तद् कृष्णद्रव्यान्तरेण तुल्यमधिकं न्यूनं वा भवेत् प्रकारान्तराऽभ्यात्, आद्यपक्षे त्रिभेदकतयाऽभिमतधर्मेणापि तुल्यत्वे विरुद्धधर्माध्यायामावाद्भेदाभावेनैक्यं तयोस्स्यात्, तथा चैतत्कृष्णद्रव्य एतत्कृष्णद्रव्यापेक्षया कृष्णतरपर्याय एतत्कृष्णद्रव्यापेक्षया च कृष्णतमपर्यायमिति कृष्णवर्णपर्यायतरतमादिप्रतीतिबाधस्स्यात्, एव नो०००, ज्ञेयम्, उत्तरपक्षयोः कृष्णे तत्त्वान्तर-

जातीयकृष्णानां नीलादौ च तत्तदवान्तरजातीयनीलादीनामनेकविधानां स्वकारणो  
पजातानां सम्भवाच्चतदपेक्षयोत्कर्षावर्कप्रयोज्यमङ्कुर्येयामद् रूपेयानन्तभागगुणवृद्धिहानि  
भ्या पदस्थानकप्रतिपत्तिरवश्यम्भाविनी, तथा च प्रतिनियतहानिषुद्वियुक्तप्रत्युत्पन्न  
कृष्णादिपर्यायेण सत्त्वं नान्यनेत्यत्रापि भजनागतिं पतति द्रव्यमिति सिद्धम् ॥ स्यादेतत्  
पुद्गलद्रव्य पुद्गलद्रव्यान्तरेण सह सत्त्वंद्रव्यत्वादिना सजातीयचुद्धिप्राप्तत्वेनाऽभिन्नम्, स्व-  
स्वासाधारणधर्मेण विजातीयचुद्धिप्राप्तत्वेन च भिन्नम्, घटपटादिवदिति तत्रानेकान्ता  
त्मकता युक्ता, प्रत्युत्पन्ने चारमद्रव्यपर्याये कथमनेकान्तरूपता युक्तेति चेत्, उच्यते,  
आत्मपर्यायस्यापि ज्ञानादेस्वग्राह्यार्थग्राहकत्वपरिणतिस्त्वत्र वर्तते, न तु तद्विपरीतेति  
ताभ्या तत्र सत्त्वासत्त्वोभयसद्भावान्नेकान्तरूपता पुद्गलवद्विरुद्धा, अत एव ज्ञानत्वेनाऽ  
भिन्नमपि ज्ञेयपरिणतिभेदेन प्रतिक्षणं ज्ञानं भिन्नमेवोत्पद्यत इत्यभेदापेक्षया धौव्यम्, भेदा  
पेक्षयोत्पादव्ययानिति भवत्यसिद्धस्यकेवलज्ञानपर्यायेऽपि त्रैलक्षण्य व्यपत्तिमुते, किञ्चै  
कस्याप्यात्मनो द्रव्यात्म-कपायात्म-योगात्म-उपयोगात्म-ज्ञानात्म-दर्शनात्म-चारित्रा  
त्म-वीर्यात्मभेदतोऽनेकप्रिधत्वप्रतिपादनेन पुद्गलवदनेकान्तात्मकता सिद्धान्तसिद्धैव, यदुक्त  
पञ्चमाङ्गे द्वादशशतके दशमोद्देशके " कइविहा ण भते ! आया पण्णत्ता ! भोयमा ! अह  
विहा आया पण्णत्ता, त जहा-द्विपाया-कमायाया-जोगाया-उरओगाया-णाणाया-दस-  
णाया-चरिआया-वीरियाया " इत्यादिग्रन्थे, एतद्विस्तृतार्थस्तद्वीकात् एवात्रसेयः । तथा  
चाह वाचकमुख्यः प्रश्नमरतौ ।

द्रव्य कपाययोगाद्युपयोगो ज्ञानदर्शने चैव ।

चारित्र वीर्यं चेत्यष्टविधा भार्गवा तस्य ॥ १९९ ॥

जीवाजीवानां द्रव्यात्मा सकपायिणां कपायात्मा ।

योगः सयोगिनां पुनरुपयोगः सर्वजीवानाम् ॥ २०० ॥

ज्ञान सम्यग्दृष्टेर्दर्शनमथ भवति सर्वजीवानां ।

चारित्र विरताना, तु सर्वससारिणां वीर्यम् ॥ २०१ ॥

द्रव्यात्मेत्युपचारः सर्वद्रव्येषु नयविशेषेण ।

आत्मापेशादात्मा भवत्यनात्मा परादेशात् ॥ २०२ ॥

एव सयोगाल्पबहुत्राद्यैर्नैकशः स परिमृग्यः ।

जीवस्यैतत्सर्वं, स्वतत्त्वमिह लक्षणैर्दृष्टम् ॥ २०३ ॥ इति ॥ ६ ॥

प्रकारान्तरेणात्मनोऽनेकान्तरूपतामुपपादयितुमाह—

कोव उप्पायन्तो, पुरिसो जीवस्स कारओ होइ ।

तसो विस्सायन्तो ( इति ) तस्योऽनेकान्तरूपतामुपपादयितुमाह—

‘कोप’ कोपपरिणाम ‘उत्पायन्तो’ स्वस्मिन् स्वयमुत्पादयन् उपनयन् वा ‘पुरितो’ पुरुष ‘जीवस्म कारओ होइ’ जीवस्य परभवप्रादुर्भाउपरिणतिविशिष्टस्य कारको निर्वर्तको भवति, कोपपरिणतेः कर्मबन्धहेतुत्वेन तन्निमित्तकर्मण उपादानात्, तेन कथञ्चिद्भेदाभेदो-  
मय व्यवस्थापयितुमुत्तरार्द्धमाह—‘ततो विमण्यद्यो’ कोपपरिणतिपरिणतश्च पुरुषः ततः परमवोत्पद्यमानजीवाद् विभजनीय’, ‘ततो वि य भइयद्यो’ इत्यप्यत्र पाठः, ततोऽपि च मजनीयः, कथञ्चिद्धिन्नो व्यवस्थापनीय’, पूर्वस्य कारणत्वेनोत्तरस्य च कार्यत्वेन कार्यका-  
रणरूपयोस्तयोर्मृत्पिण्डघटवत्कथञ्चिद्भेदात् । एकान्ताऽभेदे कार्यकारणभाव एव न स्यात्, भेदे सत्येव तद्भावात् । अथ वीतरागस्य जन्म न भवति किन्तु मरागस्यैव, सवदति चात्र “वीतरागजन्मादर्शनात् । ३ । १ । २५ इतिन्यायसूत्रम्, जातमात्रस्य रागश्च पूर्वानुभव विना नेति । स्तन्यपानमिष्टमाघनमित्यादिस्मरणतः पूर्वमशीयानुभवैतद्भवीयतत्स्मरणकर्तृजीव-  
स्यैकतयैव सिद्धे, कथं भवभेदेन तद्भेद इति चेत्, भवम्, भवरूपविशेषणभेदेन कथञ्चित्त-  
द्विशिष्टभेदस्याप्यनुभवसिद्धत्वात् । अथ विशेषणभेदादयं विशिष्टयोर्भेदो न तु मुख्यवृत्त्येति-  
चेत्, न, विशेषणविशेष्यभावस्य हि कथञ्चिद्भेदाभेदाद एव घटमानत्वेन विशेषणभेदे-  
तदभिन्नतद्वतोरपि कथञ्चिद् भेदो मुख्यवृत्त्यैवाश्रयितव्यः, न हि निमित्तभेदाश्रयणे मुख्य-  
वृत्तिर्हीयते, येन विशेषणभेदाद्विशिष्टभेदाभ्युपगमे मा न स्यात्, अन्यथा घटपटादीनामपि-  
मुख्यवृत्त्या भेदो न स्यात्, मन्त्रद्रव्यत्वादिनाऽभेदमाजां तेषामपि स्वस्वामाधारणधर्मरूप-  
निमित्तभेदेनैव भेदात्, तस्माद्भवभेदनापि मुख्यवृत्त्यैव तद्विशिष्टभेदोऽभ्युपगन्तव्यः । किञ्च-  
कारण कार्याकारेण पूर्वस्वरूप परिहायैव परिणमति, अन्यथा कार्यकारणावस्थाद्वयसङ्कीर्ण-  
ताप्रसङ्गस्यादिति कारणीभूतकोपपरिणत्यात्मकपूर्वस्वभावो निरुद्ध’, कार्यात्मकोत्तरभवोत्प-  
त्तिपरिणतिलक्षणस्वभावान्तरञ्चोत्पन्नमित्येकस्यापि जीवस्य स्वभावभेदेन कथञ्चिद्भेदोऽभ्यु-  
पगन्तव्यः । नन्वेव तर्हि परमवचीवात् कोपपरिणतिमापद्यमान, पुरुषो भिन्न एवास्तिवत्या-  
शङ्कानिरासार्थमाह—‘परमि सयमेव भइयद्यो’ परस्मिन्, भव इति शेषः, स्वयमेव पुरुषो भज-  
नीय’ पूर्वोत्तरभवानुयाय्यामद्रव्यस्वरूपेणाऽभिन्नतया व्यवस्थापनीय’, य एवाह बालत्वेनास-  
स एवाह युवत्वेन वृद्धत्वेन बोपजात इति प्रत्यभिज्ञानवद् य एवाह देवमवादिपूर्वमवे आस-  
स एवाहमेतद्भवे मज्जात इत्यास्तिकानामभेदप्रत्यभिज्ञानात् । यद्वा जातिस्मृत्यादिमतां कोप-  
परिणतिवशेनाह पूर्वमनुप्यभव परिहायात्र तिर्यक्षूपन्न इत्यभेदप्रत्यभिज्ञानात्, तदेवमत्राऽ-  
प्यनेकान्त एव प्रमाणकोटिमाटीकते, एतच्च निश्चयनयमाश्रित्यावसेयम्, यतो निश्चयनयः-  
कोपपरिणतिं स्वात्मैवोत्पादयति न त्वन्यात्मेति मनुते । यद्वा कोपपरिणतिमन्यस्मिन् जीवे-  
उत्पादयन् पुरुष कारको भवति, ततोऽग्नौ कोपकाररूत्वेन विभजनीय’, कोपपरिणतियोग्ये-  
जीवे कारकः, अन्यत्राकारक इति, एतच्च व्यवहारनयापेक्षम्, यतस्म व्यवहारप्रधान इति-  
कोपादिपरिणति’ परनिमित्तिकेति मन्तते इति ॥ ७ ॥

अथ द्रव्यगुणयोः कथञ्चिद्विन्नाभिन्नतयैर प्रतीतेस्तात्पनेकान्ताल्लिङ्गितावेवेति यजि-  
नानुगैरुरीकृत तदमहमानानां मतप्रुत्थापयति—

रूपरसगन्धकासा, असमाणगगहणलक्षणजम्हा ।

तम्हा द्रव्याणुगया, गुणत्ति ते केइ इच्छन्ति ॥ ८ ॥

‘रूपरसगन्धकासा’ रूपरसगन्धस्पर्शाः “असमाणगगहणलक्षणजम्हा” यस्मा-  
दममानग्रहणलक्षणा । यमहमद्राक्ष तमेव स्पृशामीत्यनुमन्धानाद् दार्शनं स्पर्शनञ्च घटादि-  
द्रव्यमित्यादिव्यवहाराच्च द्वीन्द्रियप्राप्तत्वं घटपटादिद्रव्यस्य, रूपरसादेश्चभुरादिप्रतिनिय  
तन्द्रियजन्यप्रत्यक्षगोचरत्वंमित्येव द्रव्याहुणा असमानग्रहणाः, तथा सयोगजनकताच्छेद,  
कजातिमत्त्वं विभागजनकतावच्छेदकजातिमत्त्वं जन्मजनकतावच्छेदकजातिमत्त्वं वा  
द्रव्यस्य लक्षणम्, द्रव्यत्वव्यापकतावच्छेदकमत्ताभिन्नजातिमत्त्वं, सामान्यवत्त्वे सति  
कर्मान्यत्वे च मति निर्गुणत्वं वा गुणस्य लक्षणमित्येव द्रव्याहुणा असमानलक्षणाः, संवदति  
चात्र “क्रियागुणवत्समवायिकारणम्” ॥ १-१-१५ इति द्रव्यलक्षणम् । द्रव्याध्व्य-  
गुणवान् सयोगविभागेष्वकारणमनेक्ष ॥ १-१-१६ इति च गुणलक्षणम् । द्रव्यगुण  
भिन्नलक्षणप्रतिपादनपरं वैशेषिकद्वयमपि । तथा च गुणा द्रव्याद्भिन्ना भिन्नप्रमाणप्राप्त  
त्वाद्भिन्नलक्षणत्वाच्च, यो यस्माद् भिन्नप्रमाणप्राप्तो भिन्नलक्षणवाश्च न तस्माद्भिन्ना, यथा-  
जीवद्रव्यादजीवद्रव्य घटादात्मा वेत्यनुमानेन गुणानां द्रव्याद्भिन्नत्वे सिद्धे यत्स्यात्तदाह-  
‘तम्हा द्रव्याणुगया गुणत्ति’ तस्माद्द्रव्याणुगता गुणा इति द्रव्यमनुगता द्रव्याणुगता  
द्रव्याश्रिता गुणा इत्यर्थ, ‘ते केइ इच्छन्ति’ ते केचन वैशेषिकाद्यास्त्वयूध्या वा  
सिद्धान्तवचनमजानानां इच्छन्ति-अभ्युपगच्छन्ति ॥ ८ ॥

तन्मतनिराचिकिर्पयाऽऽह—

दूरे ता अण्णत्त, गुणसदे चेव ताव पारिच्छ ।

किं पज्जवाहिण होज्ज, पज्जवे चेव गुणसण्णा ॥ ९ ॥

‘दूरे ता अण्णत्त’ दूरे तावद् अन्यत्वं, गुणगुणिनोरेकान्तेन भिन्नत्वम्, अमम्माव  
नीयमिति यावत्, “गुणसदे चेव ताव पारिच्छ” गुणशब्द एव तावत्पारीक्ष्यम्, कथं  
पारीक्ष्यमित्याशङ्क्यायां तत्स्वरूपमाह—“किं पज्जवाहिण होज्ज पज्जवे चेव गुणसण्णा” किं  
पर्यायाधिके पर्यायाद्भिन्ने गुणसज्ञा गुणशब्दो भवेत्, किं वा पर्याय एव, अत्र ‘पज्जवे वा  
वि गुणमण्णा’ इत्यपि पाठः । वा विकल्पे, उत पर्यायेऽपि गुणसज्ञा गुणशब्दः प्रवर्तते,  
अर्थात् पर्यायाद्भिन्ने गुणात्मकेऽर्थे गुणशब्दः प्रवर्तते, किं वा पर्याय एव । गुणशब्दवाच्यः  
पर्यायाद्भिन्नो गुणात्मकोऽर्थः किं वा पर्याय एवेति विवेचनार्हमिति भावः । ननु पूर्वोक्तेन  
भिन्नप्रमाणप्राप्तमिन्नलक्षणत्वहतुद्वयन गुणा द्रव्याद्भिन्ना इति सिद्धे गुणशब्दः गुणात्मक

एवार्थे प्रयोगार्हः, न तु पर्यायात्मकस्य इति तत्र किं पारीक्ष्यमिति चेत्, तत्र विद्वन्मनो रञ्जकम्, उक्तहेतुद्वयस्य कथञ्चिद्भिन्नत्वेनैव मह व्याप्यत्वेन तेन कथञ्चिद्भेदमाधने सिद्ध- साधनात् । एकान्तभेदे साध्ये तस्य क्वचिदप्यप्रसिद्ध्या व्याप्यत्वासिद्धेः । न च रूपवान् घट, ज्ञानवान् आत्मेत्यादिप्रतीत्या भेदे मत्प्रयोगाद् गुणगुणिनोरेकान्तभेदसिद्धेर्नोक्तदोष इति वाच्यम्, नित्ययोगेऽत्र मत्तुविधानात्, द्रव्यगुणयोस्तादात्म्यात् मदाऽग्निनिर्माणार्थं स्वात्, अन्यथा प्रमाणबाधोपपत्तेः । सज्ञा-सङ्ख्या-स्लक्षणाधिक्रियामेदाद्वा कथञ्चित्तयोर भेदेऽपि भेदसिद्धेर्न मत्तुवस्तुपत्ति । किञ्च नित्ययोगविहितमत्तुप्रत्ययार्थस्य नित्यसम्बन्धस्य समर्गनिधया कथञ्चिद्भेदात्मेदात्मरूपस्यैव भानम्, एकान्तभेदे सम्बन्धाऽयोगात्, अन्यथा हिमत्रद्विन्ध्याचलयोरपि सयोगसम्बन्धस्स्यात् । अथ व्यवधानामात्रस्य सयोगकारणस्या भावान्न तद्गुणसयोग इति चेत्, तर्हि ययोस्तयोगस्तयोस्तद्युक्ततया परिणतिभावेन तद्रूपेण तयोः कथञ्चिद्भेदेनैवोपपत्तेर्नैकान्तभेद प्रमाणविपयतामास्कन्दति, नन्वेकान्त- मिन्नयोरपि गुणगुणिनोस्तमवायसम्बन्ध इति रूपवान् घट इत्यादिप्रतीतिस्वमरायेनैवोप- पत्स्यत इति चेत्, मैत्रम्, ममवायस्य निरस्तत्वात्, सम्बन्धान्तरस्य चाऽभावात्, किञ्च गुणो धर्मितया पर्यायात्मकोऽभिप्रेतः, किं वा तदनात्मक, नाद्य, यत् पर्यायस्य कथञ्चिद्द्रव्यानतिरिक्तत्वेन तदात्मकगुणस्यापि द्रव्याऽव्यतिरिक्तत्वाद्बाधः, नान्त्यः आश्रयासिद्धे, एतेन द्रव्य गुणादिभ्यो मिन्न गुणवत्त्वादित्यनुमान निरस्तम्, रूपादेरपि सङ्ख्यात्मकगुणवत्तया प्रतीयमानत्वेन तत्र व्यभिचारात् । एक रूपमत्र द्वे रूपे बहूनि रूपाणि इत्यादिप्रतीतिभ्रान्त्यात्मिकेति चेत्, तर्हि पृथिव्यादौ रुधमभ्रान्तिरूपा सेति वक्तव्यम् । तत्र बाधकाभावादिति चेत्, तुल्यमन्यत्रापि । गुणस्य गुणवत्तया द्रव्या श्रव्यगुणवान् सयोगविभागेऽकारणमनपेक्ष १-१-१६ इति गुणलक्षणमेव वैशेषिक- सूत्रोक्त बाधकमिति चेत्, न, अगुणवानिति लक्षणाश्रयाद्याप्यमिद्धेः, सख्यावत्तया प्रती- तेर्विद्यमानत्वात् । असौ भ्रान्तिरिति चेत्, तर्हि परस्परश्रय, तथाहि-तस्या भ्रान्तित्वे लक्षणाश्रय सिद्धेर्विशिष्टलक्षणसिद्धिः, तत्सिद्धौ च बाधरूपलात् सङ्ख्याप्रतीतेर्भ्रान्तिरसिद्धि- रिति । न च लिङ्गान्तराद्रूपादिः गुणवत्त्वसिद्धेस्तस्या भ्रान्तित्वमिति नान्योऽन्याश्रय इति वाच्यम्, तत्रोपन्यस्यमानदृष्टान्तस्यापि सङ्ख्यावत्तया प्रतीयमानत्वेनागुणवत्त्वासिद्धेः । सङ्ख्यायामनवस्थितिप्रमद्वेन निस्तङ्गत्वव्यवस्थावत्तयागुणवत्त्वमिद्धेस्तैव दृष्टान्त इति चेत्, न, तत्रापि पृथक्त्वादप्रतीतेस्तत्सिद्धेरयोगात् । पृथक्त्वस्यापि च सङ्ख्यावत्त्वेन प्रतीतेर्न तदपि दृष्टान्तीकर्तुं योग्यमिति । न च द्रव्य एव सङ्ख्यास्वीकारे सङ्ख्यैकार्थममवायसम्बन्धेन रूपादावपि सङ्ख्याप्रत्ययव्यवहारोपपत्तौ स्वपनालाघवाद् गुणे सङ्ख्याद्यस्वीकार इति वाच्यम्, घटे रूपरमगन्धस्पर्श इति बहुत्वप्रतीतेरनुदयप्रसङ्गात्, आश्रयस्यैकत्वात् । व्यासज्यवृत्ति-सयोगादावेकत्वप्रत्ययानुदयप्रसङ्गाच्च, आश्रयस्यानेकत्वात् । किञ्च गुण एव साक्षात्सम्बन्धेन



अथ द्रव्यगुणयोः कथञ्चिद्भिन्नाभिन्नत्वयैव प्रतीतेस्तान्नेकान्तालिङ्गितावेवेति यजि  
नानुगैररीकृत तदमहमानानां मतमुत्थापयति—

रूपरसगन्धफासा, असमाणगगहणलक्षणजम्हा ।

तम्हा दवाणुगया, गुणत्ति ते केइ इच्छन्ति ॥ ८ ॥

‘रूपरसगन्धफामा’ रूपरसगन्धस्पर्शाः “अममाणगगहणलक्षणजम्हा” यस्माद्  
दममानग्रहणलक्षणाः । यमहमद्राक्ष तमेव स्पृशामीत्यनुमन्धानाद् दार्शनं स्पर्शनञ्च घटादि  
द्रव्यमित्यादिव्यवहाराच्च डीन्द्रियग्राह्यत्व घटपटादिद्रव्यस्य, रूपरसादेश्चबुरादिप्रतिनिप  
तेन्द्रियजन्यप्रत्यक्षगोचरत्वमित्येव द्रव्याद्गुणा अममानग्रहणाः, तथा सयोगजनकतावच्छेद,  
कजातिमत्त्व विभागजनकतावच्छेदकजातिमत्त्व जन्यमजनकतावच्छेदकजातिमत्त्व वा  
द्रव्यस्य लक्षणम्, द्रव्यत्वव्यापकतावच्छेदकप्रताभिन्नजातिमत्त्वम्, सामान्यरश्चे मति  
कर्मान्यत्वे च सति निर्गुणत्व वा गुणस्य लक्षणमित्येव द्रव्याद्गुणा अममानलक्षणाः, संबदति  
चात्र “क्रियागुणवत्समनायिकारणम्” ॥ १-१-१५ इति द्रव्यलक्षणम् । द्रव्याभ्रव्य-  
गुणवान् सयोगविभागेष्वकारणमनपेक्ष ॥ १-१-१६ इति च गुणलक्षणम् । द्रव्यगुण  
भिन्नलक्षणप्रतिपादनपर वैशेषिकसूत्रद्वयमपि । तथा च गुणा द्रव्याद्भिन्ना भिन्नप्रमाणग्राह्य  
त्वाद्भिन्नलक्षणत्वाच्च, यो यस्माद् भिन्नप्रमाणग्राह्यो भिन्नलक्षणत्वाच्च म तस्माद्भिन्नाः, यथा  
जीवद्रव्यादजीवद्रव्य घटादात्मा चेत्यनुमानेन गुणानां द्रव्याद्भिन्नत्वे सिद्धे यत्स्यात्तदाह—  
‘तम्हा दवाणुगया गुणत्ति’ तस्माद्द्रव्यानुगता गुणा इति द्रव्यमनुगता द्रव्यानुगता  
द्रव्याश्रिता गुणा इत्यर्थ, ‘ते केइ इच्छन्ति’ ते केचन वैशेषिकाद्यास्त्वयूध्या वा  
सिद्धान्तवत्प्रमजानाना इच्छन्ति—अभ्युपगच्छन्ति ॥ ८ ॥

तन्मतनिराचिकिर्पयाऽऽह—

दूरे ता अण्णत्त, गुणसदे चेव ताव पारिच्छ ।

किं पज्जवाहिण होज्ज, पज्जवे चेव गुणसण्णा ॥ ९ ॥

‘दूरे ता अण्णत्त’ दूरे तावद् अन्यत्र, गुणगुणिनोरेकान्तेन भिन्नत्वम्, अस्मात्  
नीयमिति यावत्, “गुणसदे चेव ताव पारिच्छ” गुणशब्द एव तावत्पारीक्ष्यम्, कथ  
पारीक्ष्यमित्याशङ्कायां तत्स्वरूपमाह—“किं पज्जवाहिण होज्ज पज्जवे चेव गुणसण्णा” किं  
पर्यायाधिके पर्यायाद्भिन्ने गुणसज्ञा गुणशब्दो भवेत्, किं वा पर्याय एव, अत्र ‘पज्जवे वा  
वि गुणसण्णा’ इत्यपि पाठः । वा निकल्पे, उत पर्यायेऽपि गुणसज्ञा गुणशब्दः प्रवर्तते,  
अर्थात् पर्यायाद्भिन्ने गुणात्मकोऽर्थे गुणशब्दः प्रवर्तते, किं वा पर्याय एव । गुणशब्दान्यः  
पर्यायाद्भिन्नो गुणात्मकोऽर्थः किं वा पर्याय एवेति भिन्नेवनाहमिति भावः । ननु पूर्वोक्तेन  
भिन्नप्रमाणग्राह्यत्वभिन्नलक्षणत्वहेतुद्वयेन गुणा द्रव्याद्भिन्ना इति सिद्धे गुणशब्दः गुणात्मक



सह्यादिप्रत्ययव्यवहारौ, द्रव्ये तु स्राश्रयसमवायित्वरूपपरम्परासम्बन्धेनैवेत्येव कुतो न स्यात्, अन्यथा द्रव्य एव साक्षात्सम्बन्धेन मह्यथादिनत् सत्ता वर्तते, गुणादौ सद्बुद्धिस्तु परम्परासम्बन्धेनैवेत्येव कल्पनालाघात् किमर्थं नाङ्गीक्रियते । किञ्च गुणस्य सर्वथा द्रव्याद्भिन्नत्वाभ्युपगमेऽत्रयगुणात्समवयविनि समजातीयोत्कृष्टगुणारम्भरूपनिपमेनाऽवयव इय उत्कृष्टगुरुत्वादवयविन्यप्युत्कृष्टतरगुरुत्तोत्पत्तेरवयवस्यापि तदानीं सत्त्वेन तद्गुरुत्वसत्त्वाच्च नमनोन्नमनादिलिङ्गकानुमानादिना द्विगुणगुरुत्वोपलब्धिप्रमत्तः, तदानीमवयवान्भ्युपगमे समवायिकारणनाशात् कार्यनाशोपगमेन घटस्यापि नाशप्रसङ्गः । अथावयवोत्कृष्टगुरुत्वापेक्षयाऽत्रयविन्यपकृष्टगुरुत्वेऽत्रयविनस्तत्तद्व्यक्तित्वेन कारणत्वमिति विशेषणामग्रीपलादवयविन्यपकृष्टगुरुत्वमेवेत्यतो नोक्तदोष इति चेत्, मैवम्, अतिगौरवात्, मत्पन्तरे सति विशेषरूपनाया अनवकाशत्वाच्च । तथा चेदमत्र तत्र-वस्तु द्रव्यपर्यायात्मकम्, तत्र कालप्रयावच्छिन्न पूर्वोत्तरपर्यायेष्वनुगतबुद्धिग्राह्य परिणामिकारणलक्षण द्रव्यम्, व्यावृत्तबुद्धिग्राह्यश्च पर्यायो द्रव्यविकारात्मकरिणामलक्षणः, म च क्रममाविमहमाविमेदेन द्विविधः, तत्र क्रमभाविनः पर्याय इति सहमाविनो गुण इति च सद्भा, क्रममाविपर्यायाः पुद्गलादीनां नीलादयः, सहमाविगुणा रूपादयः, यतः पुद्गला नीलादिपूर्वपर्याय परिहृत्यानीलाभवन्तोऽपि न हि कदाप्यरूपिणो भवन्ति, स्वस्वरूपहानिप्रसक्तेः, उक्तञ्च श्रीमहावीरस्तवे खण्डखाद्यापरनामक 'स्वद्रव्यपर्यायगुणानुगता द्वि तत्तेत्यादिश्लोकरटीकायां स्वद्रव्य घटादि, तद्गुणो रूपादिः, तत्पर्यायो रक्तत्वादिरिति । आत्मनि क्रममाविपर्यायाशोपाधिजन्य सुखदुःखहर्षविषादघटादिज्ञानादयः, सहमाविगुणास्तूपयोगादयः, अत एव तत्रार्थश्लोकरुचार्तिके पञ्चमाध्यायद्विचत्वारिंशत्तमध्यायटीकाया- 'पर्याय एव च द्वेषा, सहक्रमनिवर्तितः' इत्युक्तम् " विशेषोऽपि द्विरूपः, गुण पर्यायश्च ॥ ५-६ ॥ गुणः सहमावी धर्मः, यथाऽऽत्मनि विज्ञानव्यक्ति-शक्त्यादिरिति ॥ ५-७ ॥ पर्यायस्तु क्रममावी, यथा तत्रैव सुखदुःखादिरिति ॥ ५-८ ॥" इति प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कारपञ्चमाध्यायसूत्रत्रयमप्युक्तमेवार्थसवदति, यतो विशेषो मेद पर्याय इत्येतेषां पर्यायशब्दत्वेनात्र विशेषपदस्य पर्यायत्वावच्छिन्नपर्यायसामान्यार्थकत्वात्तद्भेदोक्त्या पर्यायत्वावच्छिन्नपर्यायसामान्यस्यैव भेदद्रव्योक्तिः प्रतिपादिता । गुणपर्याययोश्च पर्यायत्वेन रूपेणैक्येऽपि सहमाविनो गुणाः, क्रममाविनश्च पर्याया इति लक्षणमेदेन कथञ्चिद्भेदमभिप्रेत्यैव " गुणपर्यायद्रव्यम् " ५-३७ । इति पञ्चमाध्यायसप्तत्रिंशत्तमध्याय भगवतोमास्त्रातिना प्राणायि, तत्र गुणपदसाहचर्यात्पर्यायपदेन क्रममाविलक्षणपर्यायविशेष एव गृहीतः, न तु पर्यायत्वावच्छिन्नपर्यायसामान्यमिति सिद्धमेतत् वस्तुतो गुणा पर्यायमेदरूपत्वाच्चदन्तर्गता एव, न तु तद्व्यतिरिक्ता इति ॥ ९ ॥

तथा च द्रव्यार्थिकनयगोचरद्रव्यत्वेन पर्यायार्थिकनयनिपयपर्यायत्वेन द्रव्य पर्यायाश्चेति विभागो युक्त, न तु द्रव्य गुणा पर्यायाश्चेति द्रव्यत्वेन गुणत्वेन पर्यायत्वेनेति

प्रकारत्रयेण, यदि च गुणोऽपि पर्यायातिरिक्तस्स्यात्तदा तद्वाहकतृतीयगुणास्तिकनयोऽपि त्रिलोकाधिपतिप्रवृत्त्या प्रवचनीयस्स्यादित्याह—

दो उण णया भगवया, दब्बट्टियपज्जचट्टिया णियया ।

एत्तो य गुणविसेसे, गुणट्टियणओ वि जुज्जतो ॥ १० ॥

‘दो उण णया भगवया’ द्वौ पुनः नयो—द्वावेव मूलनयो भगवता ‘दब्बट्टिय—पज्ज चट्टिया णियया’ द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकौ नियमितौ ‘एत्तो य गुणविसेसे’ एतस्माच्च पर्याया दधिके गुणविशेषे प्राहे सति तद्वाहक ‘गुणट्टियणओ वि जुज्जतो’ गुणार्थिकनयोऽपि युज्यमानः, नियमयितु स्यादिति शेष । अन्यथा नपानामव्यापकत्व स्यात्, केवलभगवतो वा तदपरिज्ञान प्रसज्येत ॥ १० ॥

न च भगवता गुणार्थिकनयोऽपि नियमितः, किन्तु पर्यायार्थिकनय एवेत्याह—

ज च पुण अरिहया तेसु तेसु सुत्तेसु गोयमाईण ।

पज्जचसण्णा णियया, वागरिया तेण पज्जाया ॥ ११ ॥

‘ज च पुण अरिहया तेसु तेसु सुत्तेसु’ यच्च पुनरर्हता तेषु तेषु सूत्रेषु ‘वण्णपज्जवेहिं गघपज्जवेहिं’ (मग० सू० शत० १४, उ० ४) इत्यादिना ‘पज्जवमण्णा णियया’ पर्यायसज्ञा नियमिता, वर्णादिभित्ति शेषः ‘गोयमाईण वागरिया’ गौतमादिभ्यो व्याकृता व्याख्याता ‘तेण पज्जाया’ तेन पर्यायाः, ततः पर्याया एव वर्णादयो न गुणा इत्यभिप्रायः ॥ ११ ॥

अथ तत्र गुण एव पर्यायशब्देनोक्त किं न स्यादित्याशङ्कयामाह—

परिगमण पज्जाओ, अपणेगरुण गुणत्ति तुल्लत्था ।

तह वि ण गुणत्ति भण्णइ, पज्जवणयदेसणा जम्हा ॥ १२ ॥

‘परिगमण पज्जाओ’ परि—समन्तात्सहभाविभिः क्रमभाविमिश्च भेदैर्वस्तुनः पग्णि तस्य गमन ‘ये गत्यर्थास्ते ज्ञानार्था’ इति वचनात् परिच्छेदो य स पर्यायः । नन्वेव सति शास्त्रान्तरे पर्येत्युत्पादविनाशौ प्राप्नोतीति पर्याय इति व्युत्पत्त्योत्पादविनाशशाली वस्त्वश एव पर्यायः प्रतिपादित इति कथमनेन सह न निरोध इति चेत्, भवम्, अत्र विषय-विषयिणोरभेदविवक्षणेन तथोक्तत्वात् । “अपणेगरुण गुणत्ति” अनेकरुण गुण इति अनेकरूपतया वस्तुन करण ‘करोतेर्ज्ञानार्थत्वात्’ परौ भ्रुवोऽवज्ञाने’ इति ज्ञापकात् ‘धातूनामनेकार्थत्वात्’ ज्ञान, पूर्वद्विषयविषयिणोरभेदादेव गुणः, पर्यायस्य परिगमणमिति गुणस्यानेकरुणमिति च व्युत्पत्तिनिमित्तमपश्य ‘तुल्लत्था’ तुल्यार्थो गुणपर्यायशब्दो ‘तह वि ण गुणत्ति भण्णइ’ तथापि न गुणा इति भण्यन्ते, पर्याया गुणशब्दवाच्यत्वात् प्रादिवद्गुणा एवेति नाभिधीयन्ते, पर्यायविशेषनाचकस्य गुणशब्दस्य पर्यायविशेषोक्तावेव

प्रवृत्तिभावात् पर्यायसामान्योक्तावप्रवृत्तेः, न च गुणशब्दस्य पर्यायसामान्य एव शक्तिः कल्पनीया, तत्र हेतुमाह—' पञ्जरणयदेशना जम्हा ' यस्मात् पर्यायनयदेशना, पर्यायार्थिकनयद्वारेणैव भगवता देशना कृता, न तु गुणार्थिकनयद्वारा, अतो व्युत्पत्तिनिमित्ततौल्येऽपि गुणपर्यायशब्दयोस्सामान्यविशेषभावापन्नप्रवृत्तिनिमित्तमेदान्न पर्यायशब्दत्वमिति । अप्यम्भावः—गवि गत्रये च व्युत्पत्तिनिमित्तस्य गमनाश्रयत्वस्यैव गुणे पर्याये च व्युत्पत्तिनिमित्तस्य हानत्वस्य समानतया विद्यमानत्वेऽपि गुणशब्दस्य पर्यायविशेषत्वावच्छिन्नार्थकत्वेन तस्य पर्यायविशेषत्वप्रवृत्तिनिमित्तकत्वम्, पर्यायशब्दस्य च पर्यायत्वावच्छिन्नार्थकत्वेन तस्य पर्यायसामान्यत्वप्रवृत्तिनिमित्तकत्वमित्येव तयोः गौगत्रयशब्दयोरिव प्रवृत्तिनिमित्तमेदान्न पर्यायशब्दत्वमिति ॥ १२ ॥

ननु पर्यायाणा प्रतिक्षणपगवर्त्तनस्वभावत्वात् पर्यायशब्दः क्रममाविधर्मवाचक एव, गुणाना यावद्द्रव्यावभ्यायित्वाद् गुणशब्दश्च महमारिधर्मवाचक एव, तथा च गुणाः पर्यायेभ्योऽतिरिच्यन्ते, पर्यायातिरिक्तगुणाभिधानान्यथाऽनुपपत्त्या च गुणार्थिकनयोऽपि भगवताऽर्थादुपदिष्ट एवेत्याशङ्कां प्रतिपादयति—

जपति अत्थि समए, एगगुणो दसगुणो अणतगुणो ।

रूवाहयपरिणामो, भण्णह तम्हा गुणविसेसो ॥ १३ ॥

' जपति ' जल्पन्ति, प्रतिपादयन्ति द्रव्यगुणान्यत्ववादिन इति शेषः, किं जल्पन्तीति कर्माङ्गाह्यायामाह—' अत्थि समए, एगगुणो दसगुणो अणतगुणो ' इति । अस्ति विद्यत एव, ममये सिद्धान्ते, ' एगगुणकालए दुगुणकालए ' इत्यादिवचनात् एकगुणकालः दशगुणकालः सहस्रगुणकालः असहस्रगुणकालः अनन्तगुणकाल इत्यादि व्यपदेशोरूपादौ, ततः किमित्यत आह—' रूवाहयपरिणामो, भण्णह तम्हा गुणविसेसो ' इति, तस्माद्भादिकपरिणामो गुणविशेष एवेति भण्यते, ततोऽस्ति गुणार्थिकोऽपि नयः, उपदिष्टश्च भगवतेति नात्रापसिद्धान्तरवप्रसङ्गः ॥ १३ ॥

अत्राह सिद्धान्तवादी—

गुणसद्दमत्तरेणा-वि त तु पञ्जवविसेससंखाण ।

सिज्जह णवर सखा-णसत्थधम्मो तइ ( न उ ) गुणोत्ति ॥ १४ ॥

" गुणसद्दमत्तरेणावि त तु पञ्जवविसेससंखाण सिज्जह " तनु एकगुणकाल इत्यादि प्रागुक्तवचनं तु, गुणशब्दमन्तरेणापि गुणत्वावच्छिन्नरूपरसादिगुणात्मकार्थबोधानुकूलशक्तिमद्गुणशब्दं विनाऽपि, पर्यायविशेषसहस्रान्न पर्यायविशेषसहस्रयावाचकं सिद्ध्यति, न त्वतिरिक्तगुणगुणार्थिकनयप्रतिपादनपरम्, नन्वेव तर्ह्येकगुणकालः दशगुणकाल इत्यादिव्यपदेशः, किं निषन्धन इत्यत आह—णवर सखाणमत्थधम्मो तइगुणोत्ति, नवर सहस्रानशास्त्रधर्मः

तावद्गुण इति, तत्र गुणशब्दस्यैतावताऽधिको न्यूनो वा भाव इति गणितशास्त्रधर्मवाचक-  
स्वादिति । अत्र 'न उ गुणो ति' इति 'ण य गुणो ति' इत्यपि च पाठः । उक्तव्यपदेश-  
एतावताऽधिको न्यूनो वा भाव इति गणितशास्त्रधर्मवाचकशब्देनैव भवति, न तु गुणगुणा-  
र्थिकनयप्रतिपादनाभिप्रायेण, येन च रूपेण विभिन्नमूलव्याकरणिनयग्राह्यता तेनैव रूपेण  
विभागः, अन्यथा विभागस्य मम्प्रदायपरिहृतत्वात्, अत एव "गुणपर्यायवद्रव्यम्"  
५-३७ इति तत्रार्थक्षेत्रे गुणपर्यायपदाभ्यां युगपदयुगपद्भाविपर्यायविशेषोपादानेऽपि  
न द्रव्यत्वेन गुणत्वेन पर्यायत्वेनेति त्रैविध्येन विभाग इति भावः ॥ १४ ॥

दृष्टान्तद्वारेणाहमर्थं दृढीकर्तुमाह—

जह दससु दसगुणम्मि य, एगम्मि दसत्तण सम चेव ।

अहियम्मि वि गुणसहे, तहेव प्यपि दद्वव्व ॥ १५ ॥

"जहा दससु एगमि य" पथा दशसु, द्रव्येष्विति शेषः, एकस्मिंश्च, द्रव्य इति  
शेषः, तद्विनिश्चिष्टि—'दसगुणम्मि' दशगुणे दशगुणिते "अहियमि वि गुणसहे" अधिकऽपि  
गुणशब्दे, गुणशब्दातिरेकेऽपि, "दसत्तण सम चेव" दशत्व सम चैव, यस्य पादपूरणार्थक-  
त्वात् सममेव । दृष्टान्तमुपदर्श्य दार्ष्टान्तिके उपनयमाह—"तहेन एय पि दद्वव्व" तथैव  
तदपि द्रव्यम्, तथैवैतदपि न मिद्यते, परमाणुरेकगुणकृष्णादिरिति, एकादिशब्दाधिकगुण  
शब्देनापि तदधिकार्थाऽप्रतिपादनादिति द्रव्यम्, तथा च तेनापि नातिरिक्तगुणसिद्धिरिति  
भावः । न चैव गुणानां पर्यायानतिरेके वाचकचक्रवर्तिक्षेत्र "गुणपर्यायवद् द्रव्य" इति  
विरुध्यते, युगपदयुगपद्भाविपर्यायविशेषप्रतिपादनार्थत्वात्तस्य, सहभाविधर्मवाचकगुणशब्द-  
समभिव्याहृतस्य पर्यायशब्दस्य क्रमभाविधर्मवाचकस्यापि 'गोबलीवर्द' न्यायेन तदति-  
रिक्तधर्मप्रतिपादकत्वे दोषाभावात्, न हि काल्पनिको गुणपर्याययोर्मदो वास्तव तदमेद  
विरुणद्धि, कल्पनाबीज च तत्र तत्र प्रदेशे व्युत्पत्तिविशेषाधानमेव ॥ अत एव—

गुणाणमासओ दव्व, एगदव्वरिससया गुणा ।

लक्कम्पण पज्जवाण तु, उभओ अस्सिसया भवे ॥

इत्युत्तराध्ययनाष्टाविंशतितमाध्ययनपष्ठगाथावचन 'दव्वनामे गुणनामे पज्जवणामे'  
इत्याद्यनुयोगद्वारवचन च शिष्यव्युत्पत्तिविशेषाय काल्पनिकगुणपर्यायमेदाभिधानपरमेय,  
स्वाभाविकतद्भेदाभिधानपरत्वे तु गुणार्थिकनयप्रमहस्स्यात् । 'न च नाणदसण्हयाण दुवे  
अह' इत्यादि भगवतीक्षत्रवचनमेव गुणार्थिकनयप्रतिपादकमित्याशङ्कितव्यम्, यत उक्त-  
सूत्रवचनस्य द्रव्यार्थिकनयभ्युपगतस्यऽऽत्मद्रव्यत्वरूपेणैकस्यात्मनः पर्यायार्थिकनयमतेनैव  
ज्ञानदर्शनादिभेदेन द्वैविध्यादिप्रतिपादनपरत्वात्तातो गुणार्थिकनयप्रवृत्तिर्भवेति । तदेव  
गुणस्य पर्यायान्तर्भावेण पर्यायस्य च सज्ञामङ्ग्याऽर्थक्रियादिभेदेन कथञ्चिद्विन्नत्वेऽपि

मयद्विविदिनाऽन्यैस्सचेतोभिर्वक्तु शक्यते, मयदुक्ते पुरुषदृष्टान्तेऽपि सर्वथैक्ये ययोमेदेनाल्पो  
 महान्वेति विशेषप्रतीतिर्न भवेदित्याशयेनोत्तरार्द्धमाह-ण उ इत्यादि-न त्वल्पको महान्  
 वा भवति सम्बन्धतः पुरुषः । अयम्भावः-पुत्रादिसम्बन्धद्वारेण पित्रादिरेव पुरुषो भवेद्,  
 न त्वल्पो महान् वेति युक्तः, विशेषप्रतिपत्तिर्लाक्षणिकैव मिथ्यारूपैव वेति चेत्, तर्हि  
 मामान्यप्रतिपत्तिरपि तथान्मिकैव स्यात्, विनिगमनाद्युक्त्यभावात् । एतेनैकस्मिन्नपि  
 पुरुषे पितृपुत्रादिगतपुत्रपित्रादिसंस्कारजनकस्वभावतया तादृशसंस्कारलक्षणमहकारिमेदा  
 द्विन्नपुत्रपित्रादिव्यपदेशो मविष्यतीत्यलमेकानेकत्वकल्पनयेत्यपि निरस्तम्, कार्यतामेदेन  
 तन्निरूपककारणतास्वभावमेदस्पावश्यकत्वेनैकस्याप्यनेकात्मकरात्, अन्यथैकस्यानेकमह  
 कारित्वाऽद्योगेन धिविक्तव्यवहारोच्छेदस्स्यात्, न चैव तर्ह्येकत्वेनानुभूयमानस्य घटस्य  
 जलाहरणाद्यनेककार्यकारित्वेनानेकत्वापत्तिरिति वाच्यम्, तथाऽम्युपगन्तव्यमपेक्ष्येष्टापस्या  
 परिहृतत्वात् । योऽन्यैकस्यानेकरूपताऽऽपादनवर्क उक्तः, सोऽपि तदामासः, नयसमूहात्मक  
 जैनसिद्धान्ते समभिरूढनयाभिप्रायेण सञ्ज्ञामेदेनैकस्याप्यनेकत्वेन स्वीकृतवयेष्टत्वात् ॥१९॥

अत्रैकान्तामेदवाधारेकते—

भण्णइ सम्बन्धवसा, जइ सधधित्तण अणुमय ते ।

नणु सम्बन्धविसेसे, सधधिविशेषण सिद्ध ॥ २० ॥

‘ भण्णइ ’ भण्यते एतन्तामेदवादिना समाधीयते, किं भण्यत इति कर्माकाङ्क्षायामाह-  
 संघधवसा इत्यादि, ‘ सधधवसा जइ ’ यदि सम्बन्धवशात् सम्बन्धसामान्यवशात्,  
 ‘ सधधित्तण अणुमय ते ’ सम्बन्धित्वमनुमत सम्बन्धित्वमामान्यमनुमत तव, तदा “ नणु  
 सधधविसेसे सधधिविसेसण सिद्ध ” ननु सम्बन्धविशेषे सम्बन्धविशेषण सिद्धम् । सम्बन्ध  
 विशेषद्वारेण सम्बन्धविशेषोऽपि किं नाभ्युपगम्यते ? इत्यर्थः ॥ २० ॥

स्पाद्वादिसिद्धान्तवादी समाधत्ते—

जुज्जइ सधधवसा सधधिविसेसण ण उण ण्य ।

णयणाइविसेसकओ( गओ ) रूवाइविसेसपरिणामो ॥ २१ ॥

‘ जुज्जइ सधधवसा सधधिविसेसण ’ युज्यते सम्बन्धवशात् सम्बन्धविशेषण, सम्बन्ध  
 विशेषप्रयुक्तः सम्बन्धविशेषोऽपि युक्त एव, यथा पुरुषसामान्यापेक्षया दण्डकण्डलादि  
 सम्बन्धविशिष्टं पुरुषो भिन्न एव प्रतीयते, पुरुषसामान्ये दण्डी पुरुष इति कुण्डली पुरुष  
 इति च प्रतीत्यभावात्, दण्डविशिष्टे कुण्डलविशिष्टे पुमि चोक्तप्रतीतिभावात् । अत्र  
 भिन्नताप्रयोजको दण्डकण्डलाद्यात्मकसम्बन्धविशेषजनितसयोगसम्बन्धविशेष एवेति सम्ब  
 न्धविशेषात् सम्बन्धविशेषोऽस्मन्मते सिद्धत्येवेति सम्बन्धविशेषद्वारेण सम्बन्धविशेषा-  
 पादनमप्यस्मन्मतादुक्तमेव, इष्टत्वात्, म्वन्मते तु न सम्बन्धविशेषो नापि सम्बन्ध-

सन्नाति० काण्ड १, पा० २२

विशेषस्तद्गच्छत इति कुतो नयनादिसम्बन्धविशेषजनितसम्बन्धविशेषकृतो रूपादिविशेष-  
परिणाम इत्याह—'न उण एय' इत्यादि ॥ २१ ॥

'नन्वेकान्तवादिनां भवतां मतेऽपि रूपरसादेः पद्गुणहानिवृद्धिरूपवैषम्यपरिणतिः  
कथमुपपन्ना भवतीति पराशङ्कामुपदर्श्य तादृशपरिणतद्रुपपादनायाह ग्रन्थकारः—

भण्णह विसमपरिणय, कह एय होहिइत्ति उवणीय ।

त होइ परनिमित्त, ण वत्ति एत्थत्थि एगतो ॥ २२ ॥

'मण्णह' मण्यते द्रव्यैकान्तवादिना, तेन यद् मण्यते तदाह—'विसमपरिणय कह  
एय होहिइत्ति' विषमपरिणत कथमेतत् भविष्यतीति । अयम्भावः—शीतोष्णस्पर्शवदेकत्रै-  
कदा विरोधादेतदाऽऽप्रफलादि द्विगुणाद्यनन्तगुणवृद्धिदानिरूपविषमपरिणतिपरिणत कथ  
भविष्यतीति, एव परेण प्रेरिते सति तद्रुपपादनायाह—उवणीय इत्यादि । 'विसमपरिणत  
कह एय होहिइत्ति' इत्येव पाठे त्वपर्ययः—शीतोष्णस्पर्शवदेकत्रैकदा विरोधादेकत्राप्रफलादौ  
विषमपरिणतिः कथमेवा परिदृश्यमाना भवतीति यद्मण्यते परेण तद्रुपपादनायाह—उवणीय  
इत्यादि, उपनीत उपदर्शितमाप्तेनेति शेषः, तेन स्वमिरा श्रोतृश्रुतज्ञानगोचरीकृतमित्यर्थः,  
यद्रुपनीत तदेवाह—'त होइ परनिमित्त' तद् वैषम्य भवति परनिमित्तम्, यथा कारणं  
तथा कार्यमिति न्यायेन कार्यमात्रे द्रव्यक्षेत्रकालभावाना कारणत्वात् तद्रूपसहकारिवैचित्र्य  
बलत्, कार्यमपि विचित्रभावमवाप्नोतीति तदाऽऽप्रादिफलमपि तेन विषमरूपतया परिणम  
तीति वैषम्य परनिमित्तमित्यर्थः, 'ण वत्ति एत्थत्थि एगतो' न वा 'परनिमित्तमेव' इत्य  
प्राप्यैकान्तोऽस्ति, उपादानविधया स्वस्यापि कथञ्चिन्निमित्तत्वात्, अन्यथा द्विगुणरसादीनां  
एव एवोपादानाख्याश्रयो न त्वन्य इत्याश्रयनिषमो नैव स्यात्, विरोधश्च कालभेदेन  
देशभेदेन वा निरमनीयः, न चैकत्रैव प्रदशे द्विगुणरसादित्वे एरुगुणरसादिद्वयसमावे-  
शाद्विरोधस्तम्भावनीयः, एकैकगुणापेक्षया द्विगुणपर्यायवतो रमस्य प्रत्येकातिरिक्तत्वेना-  
विरोधात्, अत एव परापेक्षया पदस्थानपतितत्वमप्यविरुद्धम्, आपेक्षिकधर्मयोर्ह्रस्वत्व-  
दीर्घत्वयोरिव विरोधासिद्धेरिति दिक् । तत्रैकान्तद्रव्याद्वैतवादः सङ्गतिमङ्गति । एतेन अथास्तु  
तर्हि प्रमाणकोटिं नीत एकातगुणाद्वैतवादः, रूपादिगुणैरेव द्रव्यकार्योपपत्तेः, अनेकान्त-  
वादस्य तु विरोधादिदोषाघातत्वेन कथमपि नावकाश इत्यपि निरस्तम्, आश्रयामावे  
आश्रितानुपपत्ते, निराधार एवति चेत्, न, यमहमद्राक्ष तमेव स्पृशामीति प्रतिसन्धानेन  
तदाश्रयद्रव्यस्यानुभूयमानत्वात्, न च तद्विषयो रूपादिरवेति वाच्यम्, जात्यन्यस्यापि  
नीलादिप्रत्ययप्रमत्रेण तस्य द्वीन्द्रियाऽप्राद्यत्वात्, न चैकमेव वस्तु नयनेन रूपत्वेन त्वचा  
स्पर्शत्वेन गृह्यत इत्यपि वाच्यम्, तयोर्विरुद्धत्वेन तदाश्रयैकवस्तुनोऽभावात् । अथ रूपत्व  
स्पर्शत्वयोरेक एव धर्मा, विरोधे मानाभावादिति चेत्, आ! कीदृशमज्ञानविलमितम्,



येन तयोर्विरोधित्वेऽप्यविरोधित्वम्, मिश्रापेक्षया कथञ्चिद्भेदाभेदयोस्त्वविरोधित्वेऽपि विरोधित्वमभ्युपगतम् । किञ्च रूपवान् घटा, ज्ञानमानात्मेत्यादिप्रतीतिर्नैव भवेत्, किन्तु भवन्मते रूप घटः ज्ञानमात्मेत्यादिप्रतीतिस्स्यात् । अन्यच्च पीतशङ्ख इति भ्रान्तप्रतीतौ श्वेत्यानुपलम्भेऽपि तदाश्रयोपलम्भतो जात्यन्वयपुसा सचक्षुःपुसाऽन्वयकारे च रूपाग्रहेऽपि शङ्खस्य त्वचा ग्रहाद्य द्रव्यस्यैव माम्नाज्य किमिति न कल्पयसि ? । पीतात्मकतयोत्पन्नः शङ्ख एवोक्तभ्रान्तप्रतीतौ भासत इति चेत्, न, स्वस्थपुरुषैः श्वेत्यस्यैवोपलम्भमात् । भ्रान्त पुरुषापेक्षया पीतात्मकः, स्वस्थपुरुषापेक्षया च श्वेत्यात्मक एवैकदा शङ्ख उत्पन्न इति तून्म चवचनवदुपेक्षणीयमेव, एकस्य शङ्खस्यैककालावच्छेदेनोभयात्मकतया केनापि त्रिदुषाऽनभ्युपगमात् । तदेव सिद्धान्तोपनिषद्विचारारूढप्रमाणकान्तमनेकान्तवाद स्वीकृत, परिहर च द्रव्यैकान्तवादमिबोक्तदोषमुद्गरप्रहारमीत्या गुणैकान्तवादमपीत्यल प्रसङ्गानुप्रसङ्गेन ॥ २२ ॥

अथ द्रव्यगुणयोर्भेदेकान्तवादिनो द्रव्यगुणलक्षणानुपपत्तिमुद्गायन्ति—

द्वचस्स ठिई जम्मवि-गमा य गुणलक्खण ति घत्तच्च ।

एव सह केवलिनो, जुज्जइ त णो उ दविचस्स ॥ २३ ॥

‘द्वचस्म ठिई’ द्रव्यस्य स्थितिर्भाव्य लक्षणमिति शेषः, यद्वा ‘गुणलक्खण’ इत्यस्माद्विच्छिद्य लक्षणमिति सम्बन्धः । ‘जम्मविगमा य गुणलक्खण ति घत्तच्च’ जन्म विगमौ उत्पादव्ययौ च गुणाना लक्षण गुणलक्षणमिति वक्तव्य स्यात् । ‘एव सह केवलिनो जुज्जइ त’ एव सति, एवमभ्युपगमे सति, केवलिनः करामलकरत्साक्षात्कृतविश्वविश्व तत्त्वस्य युज्यते तदेतल्लक्षणम्, तथाहि—केवलिनः करलज्ञानमुत्पन्न सत्स्थापिकत्वात् स्वरूपतो न व्ययमेतीति तदभिन्नत्वात्तद्रूपेण केवलिनो ध्रौव्यम्—प्रतिक्षणचेतनाचेतनात्मक ज्ञेयपरिणतिपरावृत्त्या तद्विषयक केवलज्ञानमपि प्रतिक्षण परावर्त्तत इत्युत्पादव्ययस्वभाव-केवलज्ञानरूपेण तदभिन्नत्वात् केवलिनोऽपि प्रतिक्षणोत्पादव्ययाविति तस्य त्रिलक्षणत्व घटते ‘णो उ दविचस्स’ न तु द्रव्यस्याप्यादेर्लक्षणमिद् युज्यते, न ह्यणौ रूपादयो जायन्ते अत्यन्तभिन्नत्वात् गमाश्चादिवत्, अथवा केवलिनोऽपि सकलज्ञेयग्राहिणो नैतल्लक्षणं युज्यते, न चापि द्रव्यस्याचेतनस्य, गुणगुणिनोरत्यन्तभेदे सति उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकत्वलक्षणं सच्च यद्भवतोऽनुमत तन्न द्रव्ये, तत्र ध्रौव्यस्यैवैकस्य भावात्, नापि गुणे, तत्रोत्पादव्यययोरेव सद्भावात्, तथा च अमन्न किञ्चिल्लक्षणा लिङ्गित भवतीति भवदनुमतोक्तसत्त्वाभावात्सतोश्च द्रव्य गुणयोः स्वरविषाणादेरिव लक्षणाऽसम्भवादिति द्रव्यार्थान्तरभूतगुणवादिनो ब्रुवन्ति ॥ २३ ॥

अत्रोचरमाह सूरिः—

द्वचत्थतरभूया, मुत्तामुत्ता य (घ) ते गुणा होज्जा ।

जइ मुत्ता परमाणू, नत्थि अमुत्तेसु अग्गाहण ॥ २४ ॥

‘ ते दत्ततरभूत्रा गुणा मृत्ता मृत्ता व होजा ’ ते तय, मत इति शेषः । द्रव्यार्थान्तर-  
भूता गुणा मूर्त्ता अमूर्त्ता वा भवेयुः, अथवा द्रव्यार्थान्तरभूतास्ते पूर्वोक्तलक्षणलक्षिता  
गुणा मूर्त्ता अमूर्त्ता वा भवेयुः, ते गुणाः किं मूर्त्ता अमूर्त्ता वेति भावः । ‘जह मृत्ता परमाणु  
नत्थि’ यदि मूर्त्ताः यत्तदोर्नित्यमम्बन्धात्तर्हि परमाणवो न सन्ति न भवन्ति, मूर्त्तिम  
द्रूपाद्याधारत्वात्, अनेकप्रादेशिकस्कन्धत् । अथ यद्यमूर्त्तास्तर्हि तेषामग्रहणम्, अमूर्त्तत्वात्,  
आकाशवदित्याशयेनाह—‘अधुत्सेसु अग्रहण’ अत्र सप्तम्या. पञ्चम्यत्वात् अमूर्त्तानामग्रहण  
मित्यर्थः, ततो द्रव्यगुणयोः कथञ्चिद्भेदाभेदावम्बुपगमनीयो, अन्यथा प्रतीतिविरोध  
स्स्यात्, तथाहि—द्रव्यगुणयोर्विधाक्रमभेदानेरुप्रत्ययान्तत्वात्कथञ्चिद्भेद प्रतीयते, कथ  
ञ्चिदभेदोऽपि, रूपाद्यात्मना द्रव्यस्वरूपस्य रूपादीनां च द्रव्यात्मकतया प्रतीतेः, अन्यथा  
तदभावापत्तेः ॥ २४ ॥

एतच्च विवक्षामात्रेणोच्यते, अन्यथा जात्यन्तरात्मकं उस्तुनि भेदाभेदाद्यन्यतरकथाया  
एवामम्भवात्, न हि चित्र वस्तु नीलपीताद्यन्यतरतया कथ्यते चर्ष्यते वा, एकरतरजिज्ञा-  
सया केवल तथा प्रतीयत इति । एतदेवाह—‘सीसमर्ह’ इत्यादि । यद्वा यद्यप्यार्हतमिद्वान्तो  
क्तानेकान्ततत्राभ्यामजन्त्यतद्विषयकपरिपुष्टबुद्धीना मत्तमङ्गयात्मकप्रमाणवाक्यस्यैव मत्त  
विधजिज्ञामानिरुत्तंरुमत्तधर्मप्रकारैकैकधर्मिनिशेष्यत्वात्खण्डोद्यजनकतापर्याप्तिमत्राद्दुर्तमर्गत-  
स्स्याद्वादरूपप्रमाणवाक्यस्य तथाऽनन्तधर्मात्मकस्तत्वेकदेशोऽपि स्याद्वादरूप एवेति हेतो,  
रितरधर्माऽप्रतिशेषितयाऽन्याशेषदेशमाकाङ्क्षैकदेशोद्यजनकानां स्याद्वादैकवाक्यतापन्नतत्त  
न्नयवाक्यानां चाभिधानमेवोचितम्, ताभ्यामेव यथार्थतत्राधिमतेः, सन्नदति चात्र  
“ प्रमाणनयैरधिगम । ” १-६ इति तत्रार्थद्वयमपि, न त्वितरधर्मानपेक्षितयैरुधर्ममात्र-  
प्रतिपादकस्त्रतत्रतन्नयवाक्यानाम् । एकान्ततत्रानाममद्रूपत्वेन तत्प्रतिपादकानां तेषा  
मिष्यारूपत्वात्, तथापि स्याद्वादवाक्यात्मकप्रमाणवाक्यतज्जन्याशेषाश्विशिष्टपरिपूर्णवस्तु-  
विषयकनिराकाङ्क्षशब्दशोवात्मकज्ञानविशेषकार्यकारणमात्रविज्ञानरूपा चा स्याद्वादव्युत्पत्ति-  
स्तदर्थितया शिष्याणामग्रग्राहिषु नयथादध्ययपत्रादतः प्रवृत्तिरुचितैव, न हि प्रत्येकतत्तदश  
ज्ञानाभावे निखिलाश्विशिष्टार्थज्ञान भवितुमर्हतीत्यशेषाश्विशिष्टार्थशोधे एकैकतत्तदशविष-  
यकनयज्ञानानामपि हेतुत्तम् । ननु तदितराश्विनिरपेक्षतत्तदशविषयकनयवादानां मिथोविरो-  
धिनां तद्विषयाऽमत्यत्वेनायथार्थज्ञानजनकत्वात्तत्रतो मिष्यारूपत्वादसत्यत्वेन तदुक्त-  
युक्त्याश्रयण नोचितमिति चेत्, सत्यम्, तथापि “ अमत्ये वर्त्मनि स्थित्वा, ततः मत्य  
समीहते ” इत्यादिन्यायेन शिष्यमतिनिस्कारणार्थं तदुक्तयुक्त्याश्रयणमपि न्याय्यम्,  
एकान्तविषयाऽमत्यत्वेन तत्प्रतिपादकानां मर्षेण नयवादानां स्वरूपतोऽमत्यत्वेऽपि स्याद्वाद-  
व्युत्पादकतया फलतः सत्यत्वादित्याशयेनाह—

सीसमईविष्कारण-मेसतथोय कओ समुह्यापो ।

इहरा कहामुहं चेष, नतिथ एव ससमयम्मि ॥ २५ ॥

“ सीसमईविष्कारणमेसतथोय ” शिष्यमतिविस्फारणमात्रार्थोऽयं, विनीतविनेयबुद्धि-  
विकाशनमात्रफलोऽयं, त्रिकरणयोगशुद्धिपुरस्मरध्वणैकतानानामन्तेवासिनां विनय-  
भक्तिभावेन सुगुरूपासकानां सप्तमद्भ्यात्मकमहावाक्यचन्यप्रमाणात्मकाऽस्त्वण्डशान्दबोध-  
जनकावान्तरनयवाक्यार्थविषयकस्त्वण्डबोधोत्पादनमात्रफलोऽयमिति यावत् । “ कओ  
समुह्यापो ” कृतः समुह्यापः, विहितः प्रबन्धः । ‘ इहरा ’ इतरथा स्याद्वादस्य वस्तुत्व-  
व्यापकत्वेन वस्तुमात्रस्यानेकान्तात्मकत्वात् ‘ कहामुहं चेष नतिथ एव ससमयम्मि ’  
किमेते गुणा गुणिनो भिन्ना आहोस्विदभिन्ना इत्येव स्वसमये अर्हत्सिद्धान्ते कथैवैषा  
नास्ति, एतान्तनयविषयाऽभवन्नेव तत्कथा नैव प्रमाणभाव मजत इति स्याद्वादागमतत्त्व-  
ज्ञेन न सा प्रतिपादनीया, अत एव “ नैवावधारणी भाषां भाषेत ” इति सिद्धान्तोक्तमपि  
सङ्गच्छते । अयञ्च निषेधः स्वतन्त्रनयविषय एव, स्याद्वादैकवाक्यतापन्ननयवाक्यता तु  
परस्परनिरूप्यनिरूपकभावापक्षविषयताकनिराकाङ्क्षाऽस्त्वण्डमहावाक्यार्थबोधानुकूलबोधजन-  
नकतया सुनयरूपत्वादेव तत्कथा नाप्रतिपादनीया, अपेक्षावचनात्मकसुनयवाक्यश्लादेव  
सापेक्षप्रतिनियतधर्मप्रकारकैकधर्मिविशेष्यरूपबोधद्वारा निर्दुष्टस्य लक्ष्यलक्षणादिव्यवहारस्य  
विशेष्यविशेषणभावादिव्यवहारस्य प्रवृत्तिनिवृत्त्यादिव्यवहारस्य च सिद्धेरिति भावः ॥ २५ ॥

चद्रस्तु यद्दमोन्वित तद्रस्तु तद्रूपेणैव प्रतिपादयन्तस्मभ्यग्नादिनः, न त्वन्यथेति पूर्वोक्त-  
नीत्या जीवाजीवादिनिखिलवस्तु अनेकान्तात्मकतया प्रत्यक्षानुमानागमादिप्रमाणविद्वम-  
प्येकान्तात्मकतया ये तत्प्रतिपादयन्ति ते मिथ्यावादिन इति न ते यथार्थत्वमधि-  
गच्छन्तीति प्रतिपादयितुमाह—

ण वि अत्थि अण्णवाओ, ण वि तच्चाओ जिणोवएसम्मि ।

त चेष य मण्णता, अवमण्णता ण याणंति ॥ २६ ॥

‘ ण वि अत्थि अण्णवाओ ’ अत्रापेरेवार्थत्वाच्चैवास्ति अन्यवादः, गुणगुणिनोरेकान्त  
भेदवादः । ‘ ण वि तच्चाओ ’ नाऽपि तद्वादः, तयोरेकान्ताऽभेदवादः, कस्मिन् सिद्धान्त  
इत्याशङ्कायामाह—‘ जिणोवएसम्मि ’ जिणोपदेशे, अर्हत्प्रणीतसिद्धान्ते, वस्तुत्वव्यापकत्वा-  
दनेकान्तात्मकत्वस्य, वस्तुमात्रस्य कथञ्चित्तदुभयधर्मोपेतत्वात् । ‘ त चेष य मण्णता ’  
तद्व्यभिन्नमेव चकारादकान्तभिन्नमेव वा वस्तुत्वमन्यमाना अर्थात् गुणगुणि-  
नावेकान्तेनाभिन्नावेष भिन्नावेष चेति मन्यमाना ‘ अवमण्णता ’ अत्र मननीय वादिनश्चेति  
शेषः, तथा च मननीयमवमन्यमाना वादिनः, ‘ ण याणंति ’ न जानन्ति, यथार्थ- तत्त्वमिति  
शेषः, पारमेश्वरप्रवचनोक्तविषयाऽवगणनाविधायित्वादज्ञा भवन्ति, ये च जिनेन्द्रगदित-

द्वादशाङ्गोक्तामलतरवावगणनाविधायिनो न ते पदार्थतत्त्वमवगच्छन्ति, अन्यथावादिनिर्ग  
पादिवदिति तात्पर्यार्थः ॥ २६ ॥

एतावता प्रबन्धेनाऽनेकान्तवाद एव मष्टुक्त्या सिद्धिकोटिं नीतः, तथाहि-ज्ञानात्मनो  
र्षटरूपाद्योश्च न तावदकान्तमेदः, तथा सति हिमवद्विन्ध्याचलपौरिव मम्बन्धाऽयोगत  
आत्मनोऽङ्गत्व घटादथ नीरूपत्वादि प्रसज्येत, भिन्नत्वाविशेषाद्वाऽऽकाशादावपि सचेतनत्व  
रूपादिमथ च भवेत् । ननु नैव भवेत्, यत सर्वथा भिन्नयोरप्यव्यवहितयोर्षट्मूलयो  
स्सयोगस्येवाद्युत्सिद्धयोर्ज्ञानात्मनोर्षटरूपाद्योश्चापि समवायसम्बन्ध इति तेनात्मनि ज्ञानस्य  
घटे च रूपादेस्सद्भावादिति चेत्, मैवम्, यतो न सम्बन्धिनोरमम्बद्धस्मम्बन्धो विशिष्ट  
बुद्धिमाघातु धमः, तथा सत्यात्मज्ञानयोरिवाकाशज्ञानयोरपि समवायसम्बन्धो विशिष्टबुद्धि  
विद्वेषात्, अतस्मम्बद्धस्मम्बन्धो विशिष्टबुद्धिं जनयतीत्यभ्युपगन्तव्यम्, अथ समवाय  
सम्बन्धस्वरूपसम्बन्धेनैव सम्बद्ध इति ज्ञानप्रतियोगिरूप आत्मना महैव स्वरूपसम्बन्धेन  
सम्बद्ध इति तत्रैव विशिष्टबुद्धिं करोतीति चेत्, तर्हि परं प्रथमत एव तस्याभ्युपगमन,  
किमन्तर्गद्गुना ममवायेनेति, अधिकं पूर्वमेवोक्तमिति न पुनरुच्यते, तत्रैकान्तमेदो युक्तः ।  
नाप्येकान्ताऽमेदः, तथा सत्यात्मनि ज्ञान ज्ञानवानात्मा, घटे रूप रूपवान् घट इत्यादि  
मेदावगाहिप्रतीतिर्नैव प्रामाणिकी भवेत्, अभिन्नयोराधाराधेयभावामानात्, प्रस्तुत आत्मा  
ज्ञान ज्ञानमात्मा घटो रूप रूप घट इति इति प्रतीतिस्स्यात्प्रमातिमकेति प्रमाणप्रथा मनोरथ-  
मात्रार्था स्यात्, घटादिवद्रूपस्यापि द्वीन्द्रियवेद्य रूपवादिवद् घटादवपि प्रतिनियतेन्द्रिय  
ग्राह्यत्व च स्यात्, अथाभिन्नयोरपि तादात्म्यसमर्पणाधाराधेयभावो भविष्यतीति चेत्, तदपि  
न युक्तम्, तस्य स्वस्मिन् स्वरूपसम्बन्धित्वस्यैव नियामकत्वात्, अन्यथा घटे घटो घटवान्  
घट इत्यादिप्रतीतिरपि स्यात् प्रमातिमक्ता, ओमिति चेत्, तथाप्याधाराधेयत्वधर्ममदनैव  
भिन्नत्वप्रमद्, धर्मयोर्धर्मिरूपत्वात्तत्रैवमिति चेत्, तथाप्येकान्तैकत्वस्यैव सुदृढनिरुद्धत्व प्राप्तम्,  
द्विरूपस्यैकरूपत्वान्यथाऽनुपपत्तेः, आधारत्वाधेयत्वधर्मयोः कास्वनिर्कन्धकथन तनुचित  
मेव, तद्वतोऽपि तथात्वापत्ते, विशेषणस्यापारमार्थिकत्वे विशिष्टस्याप्यपारमार्थिकत्वस्या-  
विगानेन सिद्धत्वादिति कथञ्चिद्भेदाभेदस्यैव सम्बन्धव्यापकत्वेन तदभावे तदभावास्स्यात्,  
व्यापकाभावस्य व्याप्यभाववान्तरीयकत्वात्, तथा च द्रव्यगुणौ भिन्नावच्छेदनैकाधिकरण  
वृत्तित्वसमर्पण भेदविशिष्टाभेदरन्तौ सम्बन्धाऽन्यथाऽनुपपत्तेरित्याद्यनुमानेन भेदाभेदात्म  
कत्व सिद्धिमौघमभ्यास्ते । अथ साध्याऽप्रसिद्धिश्चापकस्पर्शमाजित्वात् तत् तत्पावनक्षम  
नेति चेत्, मैवम्, अनुयोग्युपस्थापकपदममानविमक्तिरूपप्रतियोग्युपस्थापकपदमभिध्या-  
हृतस्य नञो भेदप्रत्यायकत्वेन मूले महीरुदो न कपिसयोगीति प्रत्ययमलात् प्राञ्जशिरो  
मणिना शिरोमणिना शालामृगसयोग्यऽभिन्न एव वृक्षे मूलावच्छेदेन कपिसयोगिभेद  
प्रसाधनात् । अथास्तु त प्रति तत्सिद्धिः, तस्मिन् प्रति सा कथमिति चेत्, उच्यते,

मेदामेदोभयरूपत्वेन मेदामेदोभयस्य साध्यतां विधाय सा प्रसाधनीयेति । न चोभयत्वस्याप्येकत्रिंशिष्टापरत्वरूपत्वेन पूर्वाक्तदोषतादवस्थमिति वाच्यम्, विरुद्धयोरपि घटत्वपटत्वयोरुभयत्वेन प्रत्ययात् तस्य तद्रूपत्वाभावात् । मेदामेदोभयश्च पक्षे सिद्ध्यन् ईश्वरवादिमते क्षितिः मकर्तृका कार्यत्वादित्यनुमानेनोपादानापरोभज्ञानचिन्तीर्षाकृतिमत्त्वमिति कर्तृत्वलक्षणो न किञ्चिदज्ञानां ह्यणुकोपादानपरमाणुविषयकप्रत्यक्षज्ञानाद्यमममवेन तद्ब्रह्माघात पक्षधर्मतापलादीश्वरसिद्धिवज्जात्पन्तरात्मक एव सिद्ध्यति, उक्तश्च श्रीमहावीरस्तवे पूज्यपादो पाध्यायैः “ स्याद्वादतस्तव तु ब्राह्ममथान्तरङ्ग, सल्लक्षण शबलतां न जहाति जातु ” इत्यादि ॥ अत्रैरुधर्मिणि स्वधर्ममेदाभेदावमह्विण्वस्तन्प्रान्तरीयास्तद्गिरन्ते, अहो आर्हता केनेद सुहृदा युग्मश्चित्ते शल्यमकारि, येन परस्परविरहरूपत्वात् वह्निवह्नयभावाविव विरुद्धावपि मेदाभेदावविरुद्धावित्यङ्गीकुरुथ । न च परस्परविरहरूपत्वहेतुरेवासिद्धः पक्षे दृष्टान्ते चेतिस्वरूपासिद्धिदृष्टान्तासिद्धिदोषद्वयप्रस्तस इति वाच्यम्, यतो वह्निमति वह्न्यभावस्याप्रतीतेस्तदभावस्य व्यवहाराद्य धूमध्वजो वह्न्यभावविरहात्मकः, एव वह्न्यभाववति वह्नेरप्रतीतेस्तदभावस्य च सचेदनाद्बह्न्यभाजो हुतधुग्विरहात्मक इति न दृष्टान्तासिद्धिः, एव घटभेदवति पटे घटाभेदस्याप्रतीतेः तदभावस्य च व्यवहृषमाणत्वाच्च घटभेदो घटाभेदविरहात्मकः, एव घटाभेदोऽपि घटभेदविरहात्मको ज्ञेय इति न स्वरूपासिद्धिरपि, तथा चैकतरनिषेधेऽपरविधेरवश्य भावेनैकरूपमेव वस्त्वभ्युपगन्तव्यम्, अन्यथा दृष्टहानेरदृष्टकल्पनायाश्च प्रसङ्ग इति चेत् अहो पण्डितमन्यानां भवतां न्यायनिष्णातत्वम्, विरोधलक्षणमपि नैव सम्यग्ज्ञातम्, यतो विरोधस्य किं लक्षणमिति वाच्यम् । अथात्र किं वाच्यम्, एकाधिकरणावृत्तित्व तदिति चेत्, तत्र सहृदयानां चमत्कृतिं विधत्ते, यत इदं रजतमित्यादिभ्रान्तज्ञाने धर्म्यंशे ग्रामाण्य प्रकाराशे चाऽग्रामाण्यमिति तयोरप्येकस्मिन्नेव ज्ञाने वृत्तित्वाद्बिरोधो न स्यात्, एवमिह परिते नितम्बे हुताशनो न शिखर इति प्रतीतेरेकत्रैव श्रितिवधरे नितम्बशिखरदेशावच्छेदेन वह्नितदभावयोर्वृत्तित्वेन तयोरप्यविरुद्धत्व म्यात् । एवमिदानीं तन्तो न घट इति प्रतीतेः घटरत्यपि काले तन्त्ववच्छेदेन घटाभावस्य सद्भावाद् घटतदभावयोरपि विरोधो न स्यात् । अथ यदेशावच्छेदेन प्रतियोगी यत्र वर्त्तते तदेशावच्छेदे नैव तदभावो न तत्र वर्त्तते इत्येतानता तयोर्विरोधोऽश्वत एवेति चेत्, तदपि न, इदानीन्तनघनञ्जयवत्यपि शैलेऽतीतानागतकालावच्छेदेन तदभावप्रतीतिभिन्नकालावच्छेदेनाप्येकत्र तत्तदभावयोरपि वृत्तेर्विरोधो न स्यात् । अथ तथावृत्तिरेव नाम्युपगम्यत इति चेत्, नैवम्, घटविनाशकाले इह कपाले न घट इति प्रतीतेर्घटवत्यपि कपाले घटनाशकालावच्छेदेन तदभावस्याप्यभ्युपगमात् । प्रतियोगिमत्तोरपि देशकालयोः कालदेशमेदावच्छेदेन तदभाव इति शिरोमणिवचनात् । अथ यदेशकालावच्छेदेन यत्र यो वर्त्तते तदेशकालावच्छेदेन तत्र तदभावो न वर्त्तते इत्येव त्रिरोचलक्षण क्रियत इति नोक्तदोष इति चेत्, तदापि पर्वते

सयोगेन वक्षिर्पदेशावच्छेदेन यत्कालावच्छेदेन च वर्धते तद्देशकालावच्छेदेन पर्वते समवायसम्बन्धावच्छिन्नरङ्गिनिष्ठप्रतियोगिताकामावस्य विद्यमानत्वेन वदितदभावयोर्विरोधो न स्यात् । अथ येन सम्बन्धेन यद्देशकालावच्छेदेन यत्र प्रतियोगी तत्र तेन सम्बन्धेन तद्देशकालावच्छेदेन तदभावो नेत्येव सम्बन्धदेशकालघटितमेव विरोधलक्षणं कियत् इति चेत्, तर्हि स्वद्रव्यक्षेत्रकालाभिर्यत्समन् परद्रव्यक्षेत्रकालभिर्यथा मन् द्रव्यार्थतया नित्यः पर्यायार्थतया चाऽनित्य इत्येवमेकस्तुन्यापेक्षिकतत्तदमात्रप्रतिपादकस्याद्वादागमतत्तत्तैर्भेदा भेदयोर्मिन्नावच्छेदेनैकस्तुन्यभ्युपगमे का प्रोक्तलक्षणविरोधक्षतिरिति विभाव्यताम् । अथ परस्परविरहनिष्ठापाद्यतानिरूपितापादकताकत्वलक्षण विरोधस्येति चेत्, तदप्यत्र नोपयुक्तम्, यतश्चीतत्वोप्यत्वयोरिति ययोः परस्परभावव्याप्यत्व तयोरेवोक्तलक्षणविरोधो घटते, न तु घटतदभावयोरिति परस्परविरहरूपयोर्भेदाभेदयोः, तथा च यदि भेदस्स्यात् तर्हिभेदो न स्यादित्यापादनमापादकस्य भेदस्यापाद्याभेदाभावरूपत्वेन तथा यद्यभेदस्स्यात्तर्हि भेदो न स्यादित्यापादनमभेदस्यापादकस्यापाद्याभेदाभावरूपत्वेनापाद्यापादकयोर्भेदो नेति तयो- र्ध्याप्यव्यापकमावाऽभावाच्चोक्तलक्षणं कर्तुं शक्यमिति प्रकृते तन्न सङ्गच्छते, महानरस्थान- लक्षणं तत्रैव चरितार्थमिति, तन्नानेकान्ततत्त्वाम्युपगमे विरोधगन्धलेशोऽपि । यदुक्त- मस्यात्मोपनिषदि—

“ भिन्नापेक्षा यथैकत्र, पितृपुत्रादिकल्पना ।

नित्यानित्याद्यनेकान्तः—स्तथैव न विरोत्स्यते ॥ १ ॥ ” इति ।

एतेन यदवच्छेदेन भेदस्तदवच्छेदेन भेद एव, यदवच्छेदेनाभेदस्तदवच्छेदेनाभेद एवति कथमेकमेवोभयरूपम् । अथ भेदावच्छेदकरूपेणाऽभेदोऽपि अभेदावच्छेदकधर्मेण भेदोऽपीति चेत्, तर्हि सङ्करदोषप्रसङ्गः, सर्वेषां युगपत्प्राप्तः, तदुक्तम् “ सर्वेषां युगपत्प्राप्तिः सङ्करः ” इति, इत्यपि निरस्तम्, स्वस्वरूपापेक्षयैकरूपेऽपि धर्मिणि स्त्रीयस्त्रीयभिन्नभिन्ननिमित्तापेक्षयोभयरूपत्वे विरोधाभावात्, यतो न द्वेकापेक्षयैव भेदाभेदोभयेन भाव्यमित्येव तत्रविविधीतिरिति । भेदावच्छेदकरूपेणाभेदोऽपीत्यादि न्यायानभिज्ञताविलसितमेव, यतो न हि सकर्णेन सनिरूपकपदार्थानामेकापेक्षयैरैकस्मिन् रस्तुनि सत्रमभ्युपगम्यत, अन्यथा यदपेक्षया ह्रस्वत्वं तदपेक्षयैव दीर्घत्वं च स्यात् । एतेन सङ्करप्रसङ्गोऽपि निरस्तः, एकावच्छेदेन युगपद्भेदाभेदोभयरूपत्वात् । अत एव भिन्नभिन्नापेक्षकभेदाभेदाद्युभयावगाहि प्रत्यक्षादिप्रमाणगोचरत्वाद्भस्तुमात्र यथार्थभावाङ्गीकारानेकान्तात्मकतयैव निश्चीयत इति न सशयाऽप्रतिपत्त्याद्यप्य’ केऽपि दोषा उद्भासयितुं योग्याः । तदेव विरोधादिदोषाकलङ्कित- तयाऽनेकान्ततत्त्वमेव प्रमाणकोटिमाटीकत इति सिद्धम् ॥ २६ ॥

नन्वनेकान्तेऽनेकान्तोऽस्ति न वा, आद्ये तत्राप्यनेकान्तः, तत्राप्यवमित्येवमनेकान्त-

धाराया अविच्छिन्नैरनवस्थालताऽऽकाशतलावलम्बिनी स्यात्, द्वितीये एकान्तत्वप्रमक्तिः, द्वौ नम्रौ प्रकृतं गमयत इति न्यायात्, तथा चात्र घटपटादिक्रमनेकान्तात्मके वस्तुत्वादिति पर्यवसितानुमानेऽनेकान्त एव व्यभिचारदोषप्रमक्तिः, अनेकान्तात्मकत्वाभावप्रत्यनेकान्त एव वस्तुत्वहेतोस्तत्त्वादिति चेत्, उच्यते, यो हि वस्तुमात्रमनेकान्तात्मकमिति द्रूते स कथमनेकान्तेऽनेकान्तोऽस्ति न वेति पर्यनुयुज्येत, अनेकान्तत्वस्य वस्तुत्वसमनियतत्वेन जिनानुगैरुक्तत्वाद्नेकान्तेऽनेकान्तत्वाभावे वस्तुत्वव्यापकत्वांशासहद्वयेन तथात्व न स्यादिति तदन्यथानुपपत्त्याऽनेकान्तेऽप्यनेकान्तत्वस्येष्टत्वात्, न चानवस्था, तृतीयचतुर्थीत्यन्ताभावयोर्न्यायमते प्रथमद्वितीयात्पन्ताभावात्मकत्ववत् तृतीयचतुर्थीनेकान्तयोरपि प्रथमद्वितीयानेकान्तात्मरूपाभ्युपगमात्, यथा नैयायिकादीनां पटाभावोऽतिरिक्त एव, तदभावश्च पट एव, तृतीयाभावश्चाद्याभाव एव, चतुर्थीभावश्च द्वितीयाभाव एव, इत्यादिरीत्या नानवस्था तथाऽस्माकं "अनेकान्तः । १ । अनेकान्ताऽनेकान्त एकान्तः ॥ २ ॥ घटाभावोऽतिरिक्तो पट इवेति द्वितीयभेदः । तदनेकान्त आद्य एव, घटाभावोऽतिरिक्तो घटाभाव इवेति तृतीयभेदः ।" तदनेकान्तश्च द्वितीय एवेति का नामानवस्थेत्याशयेनाह—

भयणा वि द्रु भयव्या, जह भयणा भयह सव्वदव्याह ।

एव भयणा णियमो वि होह समयविरोहेण ॥ २७ ॥

"जह भयणा भयह सव्वदव्याह" यथा भजना मज्जेते सर्वद्रव्याणि, यथाऽनेकान्तो जीवाजीवसर्ववस्तूनि भिन्नाभिन्न नित्यानित्यमित्यादितदतत्त्वभानात्मकतया ज्ञापयति तथा "भयणा वि द्रु भयव्या" भजनाऽपि अनेकान्तोऽपि खलु भजनीया, स्यादेकान्तः स्यादनेकान्त इत्येवमनेकान्तोऽप्यनेकान्तः । यद् यद्वस्तु तत्तदनेकान्तात्मकम्, यथाऽऽत्म पटादिकमिति व्याख्याऽनेकान्तत्वस्य वस्तुत्वव्यापकत्वेन सिद्धेऽथेवनाचेतनयोरिवानेकान्तोऽपि व्याप्यस्य वस्तुत्वस्य नियमेन सत्त्वात्तथापकस्यानेकान्तत्वस्याऽप्यवश्यम्भावेनानेकान्तस्याप्यनेकान्तानुविद्वैकान्तगर्भत्वात् । कथमनेकान्तेऽनेकान्त इति चेत्, उच्यते, नयापेक्षया स्यादेकान्तः प्रमाणापेक्षया च स्यादनेकान्तः, "अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः प्रमाणनयमाधनः" इत्यभिधानात् । तथाहि—यथा नित्यानित्यादिश्रवणैकस्वरूपे वस्तुनि नित्यत्वानित्यत्वाद्येकतरधर्मावच्छेदकारवच्छेदेनैकतरधर्मात्मकत्वम्, उभयधर्मावच्छेदकावच्छेदेन बोधधर्मात्मकत्व तथा नित्यत्वानित्यत्वादिमत्तधर्मात्मकत्वप्रतिपादकतापर्याप्त्यधिकरणेऽनेकान्तमहावाक्येऽपि सकलनयवाक्यावच्छेदेनोक्तरूपमनेकान्तात्मकत्वप्रत्येकनयवाक्यावच्छेदेन चैकान्तात्मकत्व च न दुर्बलमिति भावः । एतदेवाह— "एव भयणा णियमो वि होह समयविरोहेण" अत्रापिशब्दस्य चकारार्थत्वात्, एव पूर्वोक्तनीत्या भजना अनेकान्तो नियमधैकान्तश्च समयस्य सिद्धान्तस्य "रणण्यमा सिय सासया सिय

असासया" इत्येवमनेकान्तप्रतिपादकस्य " दक्षद्वयाए सासया पञ्चद्वयाए असासया " इत्येव चैकान्ताभिधायकस्याऽविरोधेन सिद्धो भवति । खण्डखाद्ये—

देशेन देशादलन भजनापथे तु, त्वच्छासने निजकरेण मलापनोदः ।

व्याघातकृद् भजनाभजना जनाना, मित्यर्थं स्थितौ शयलवस्तुविवेकसिद्धिः ॥४२॥

इति श्लोकटीकायामित्यमुक्तम्—भजनाभजना स्याद्वादेऽपि स्याद्वादः, न व्याघातकृत् न स्याद्वादलक्षणशक्तिकृत्, एकत्र धर्मिणि प्रतिघर्मं मत्तघर्मप्रकारकयोश्चजनकतापर्याप्तमवृ-  
षाक्यत्वस्य स्याद्वादलक्षणस्य प्रतिमङ्गमेकधर्मावधारणत्वरूपनपत्वेऽप्यविरोधात् । तदाह समन्तमद्रः—अनेकान्तेऽप्यनेकान्त इत्यादि, प्रमाणत्वमाश्रित्यानेकान्तः नपत्वमाश्रित्य चैकान्त इत्येतदर्थः । यदि च स्यादस्त्येवेत्यादिमत्तमङ्गत्वात्मकमहावाक्ये स्यात्पदस्य वाचकत्वपक्षे बुद्धिविषयावच्छेदकावच्छिन्नत्वमेव तदर्थः, तदा सामान्यतोऽवच्छेदकत्वामे विशेषतस्तज्ज्ञानायां तदनन्तर स्वद्रव्यापेक्षयाऽस्त्येवेत्यादिरेकान्तेन नयनाक्यप्रयोग इति तस्यापि प्राक्तनानेकान्तत्वापेक्षत्वेनानेकान्ताऽनेकान्तत्व परिभाषते, अत एव नानवस्था, तृतीयचतुर्थानेकान्तयोः प्रथमद्वितीययोरेव विश्रामात्, अन्योन्याश्रयस्तु प्रामाणिक इति बहवः । विशेषतोऽवच्छेदकजिज्ञासाया अपि सप्तविधाया औत्सर्गिकत्वात्, मङ्ग द्वयप्रयोगस्य च व्युत्पन्नापेक्षत्वात्, सामान्यविशेषभावेन मत्तमङ्गीद्वयविधामे तदादि-  
वत् स्यात्पदेन लब्धस्यार्थस्य विवरणेन स्पष्टत्वाय चोचरप्रयोगाच्च दोषस्पर्शोऽपीति वयमित्यादि । अत्र प्रमाणत्वमाश्रित्येत्यादेरयमर्थ—स्याद्वादः प्रतिमङ्गमेकधर्मावधारणरूपत्वेन नयात्मकः, सप्तमङ्गयपेक्षया तु मत्तधर्मावधारणरूपत्वात् प्रमाणरूपः, अतो नपत्वप्रमाणत्वो भयधर्मशालित्वात् स्याद्वादोऽपि स्याद्वादरूप इति । अस्मिन् कल्पेऽवच्छेदकस्य सङ्कोच विकासमावेनैकान्तत्वानेकान्तत्वविचारणा न कृता, यदि चेति कल्पे तु तयाविचारणा कृतेति विशेषः । अपरमात्रः—स्यादस्त्येवेति मङ्गे स्यात्पदस्य वाचकत्वपक्षे बुद्धिविषयत्वेन रूपेण स्वद्रव्यादीनां चतुर्णामप्युपमङ्गहादनेकावच्छेदकमुखेनावच्छेद्यप्रतिपादनादनेकान्तत्वम्, विशेषावच्छेदकजिज्ञासाया प्रतिपाद्यमाने च स्वद्रव्यापेक्षयाऽस्त्येवेत्यादिमङ्गे प्रतिनियतावच्छेदकविशेषमुख्येनावच्छेद्यप्रतिपादनादेकान्तत्वमिति कृत्वा स्यादस्त्येवेत्यादि सप्तवाक्यापेक्षयाऽनेकान्त, स्वद्रव्यापेक्षया स्यादस्त्येवेत्यादिमत्तमङ्गापेक्ष्यैकान्त इत्यनेकान्ते सामान्यतोऽवच्छेदकावच्छेदेनास्तित्वाद्यभिधायकस्य तच्चद्वयस्यावच्छेदकांशेऽनेकान्तत्व विशेषतोऽवच्छेदकावच्छेदेनास्तित्वाद्यभिधायकस्य तच्चद्वयस्यावच्छेदकांशे एकान्तत्वमित्येवमनेकान्तत्वैकान्तत्वोपमधर्मयोगादनेकान्तता, पूर्वं स्यादस्त्येवेत्यादिमत्तमङ्गास्वामान्यतोऽवच्छेदकमादाय मत्तधर्मज्ञानम्, ततश्च सामान्यज्ञानादिशेषजिज्ञासया स्वद्रव्यापेक्षया स्यादस्त्येवयादिसप्तमङ्गीप्रवृत्तिः, तत्प्रवृत्त्या च प्रथममत्तमङ्गत्वान्मकाने



कान्तस्य स्वस्वरूपेणानेकान्तत्वेऽपि द्वितीयसप्तमङ्गपेक्षया एकान्तत्वमित्यनेकान्तता, एव द्वितीयसप्तमङ्गयास्वस्वरूपेणैकान्तत्वेऽपि प्रथमानेकान्तसप्तमङ्गपेक्षयाऽनेकान्तत्वमित्यनेकान्ततेति ॥ अन्यत्सर्वमस्मत्प्रणीतमहावीरस्तवकल्पलतिकारोऽवसेयम्, विस्तरमयाभेदप्रतन्यते ॥ २७ ॥

नन्वनेकान्तत्वस्य वस्तुत्वव्यापकत्वे पट्टजीवनिकायास्तदूघाते चाधर्म इत्यत्राप्यनेकान्तापत्तिस्स्यादित्याशङ्कामिष्टापत्त्या परिहर्तुमाह—

णियमेण सहहतो उक्त्वा ए भावओ ण सहहह ।

हदी अपज्जयेसु चि सहहणा होह अविभत्ता ॥ २८ ॥

“णियमेण सहहतो” नियमेनावधारणेन पडेवैते जीवाः कायाश्चेत्येव श्रद्धान् “उक्त्वा ए भावओ ण सहहह” पट्टकायान् भावतः परमार्थतो न श्रद्धते, जीवराशेरेकत्वेन तदपेक्षया जीवेश्वेकत्वस्य कायेऽपि पुद्गलत्वेन रूपेणैकत्वस्य जीवपुद्गलप्रदेशानां परस्परविनिर्भागवृत्तित्वाज्जीवप्रदेशेष्वपि कथञ्चिदजीवत्वस्य च निकायेऽपि प्रत्येक प्राधान्यविवक्षया कथञ्चिदनिकायत्वस्य च सद्भावऽपि, एव प्रमादयोगेन प्राणव्यपरोपणं हिंसेति हिंसालक्षणोक्तेः प्रमादकृतहिंसा हिंसवेति तथा स्यादधर्मः, अप्रमादकृतहिंसा त्वहिंसैव, उक्तहिंसालक्षणाऽघटनादिति तथा नाधर्मः, सूत्रविहितविधिना प्रवृत्त्वान्, इत्युभयधर्मस्य मद्भावेऽपि च तत्तद्धर्मरूपेण यथावस्थितान्कान्तात्मकवस्तुज्ञानामावाञ्च भावसम्पगदष्टिरमौ प्रमाणसकलतत्तन्नयगर्भमसप्तमङ्गीपथेन कथञ्चित्पट्टरादिकथञ्चिदपट्टत्वादि कथञ्चिन्निकायत्व कथञ्चिदनिकायत्वादिमसधर्मप्रकारकैरुधर्मिनिशेष्यकथोपामावेन जिनप्रज्ञसपट्टत्वापट्टत्वादि सप्तधर्मान्वितभावविषयकममूहालम्बनरुच्यमावात्, प्रकृतधर्मघटितसप्तमङ्गजन्यसप्तधर्मपर्याप्तप्रकारताकाखण्डबोधजनितममूहालम्बनरुचरेव भावश्रद्धापदार्थत्वात्, द्रव्यसम्पगदष्टिस्तु स्यादेव, अन्यदर्शनासद्बहनिवृत्त्या जिनवचनरुचिस्वभावस्य सक्षेपसम्पत्त्वस्य तत्र सद्भावात् । उक्तश्च सङ्घेपसम्पत्तलक्षणमुचराध्ययनाष्टाविंशतितमाध्ययने—

“अणभिग्गहिणकुविट्ठी, सखेधरुहत्ति नायव्वो ।

अविसारओ पववणे, अणभिग्गत्थिओ च सेसेसु ॥ २६ ॥” इति ।

नियमेन पट्टकायान् श्रद्धाद् भावतो न श्रद्धे इति भावतो न सम्पगदष्टिरित्यत्रैव हेतुपदर्शनार्थमुत्तरार्द्धमाह हदीत्यादि । ‘हदि’ इत्युपदर्शने, यतः अपर्यायेषु भङ्गान्तरसबलनरहितेषु धर्मेषु अपेक्षितमत्वात् श्रद्धाप्यऽविमक्ताऽसपूर्णा भवति, द्रव्यश्रद्धापर्यवसन्ना भवतीति यावत् यद्वा ‘हदि’ इत्युपदर्शने, यतः अपर्यायेषु एकद्वयादिप्रकाररहितेषु पट्टसु कायेषु अपेक्षितप्रमत्वात् श्रद्धाप्यविमक्ता अविचिता-संक्षिप्ता भवति, द्रव्यश्रद्धापर्यवसन्ना भवतीति भावत् ।

एगविह दुविह त्रिविहा, चउच्चिहा पच छच्चिहा जीवा ।

चेयण-तस ह्यरेहिं, वेय-गह-करण-कायेहिं ॥ १ ॥

इति सिद्धान्तोक्तेरेकविधद्वित्रिविधत्वादिसिद्धान्तोक्तयावत्प्रकारेण यथाऽऽस्थित-  
जीवतश्चावबोधो न तस्येति स्याद्वादेन विविक्तपट्टकायपरिह्वान विना स्वसमयपरसमय-  
विवेचन विना चौघतस्तद्रागमात्रसद्भावात् । अतएवोपदेशरहस्ये—

“सदसदविसेसणाओ, विभज्जवाय विणा ण सम्मत्त ।

ज पुण आणारुहणो त निउणा विंति दब्बेण ॥ १०० ॥”

इति गाथटीकायां “यत्पुनराह्वारुचेः प्रियगीतार्थाज्ञस्य मार्गानुसारिणः सम्यक्तरम्,  
तन्निष्पन्ना मिद्वसेनदिवाकरप्रभृतयः द्रव्येण ह्युवते स्याद्वादप्रतिपत्तियोग्यतायास्तज्जन्य-  
निर्जराजनककर्मक्षयोपशमरूपायास्तेष्वखडितत्वादिःपुक्तम् ।

तथा च नियमतः पट्टकायध्रुवनेऽपि भगवतैरमुक्तमिति जिनवचनरुचिमत्त्वाद्द्रव्यतः  
सम्पगट्टित्वम्, न तु भावतः, भावमभ्यगदर्शनस्य सकलनयनिपयविवेचनसाध्यत्वात्, एक-  
विधद्विविधादिपर्यायाऽपरिच्छेदं तदनुपपत्तेरिति भावः । अत एव शास्त्रे मय्यक्त्व तावद्द्रव्य  
भावभेदाद् द्विविध प्रोक्तम्, तत्र परमार्थाऽपरिह्वानेऽपि भगवद्वचनतत्त्वचरुचिराद्यम्, परमार्थ-  
परिह्वानतश्च द्वितीयम्, तच्च नयनिक्षेपादिपरिच्छेदाधीनयथाऽवस्थितसूत्रतात्पर्यार्थपरि-  
ह्वानजन्यविशिष्टप्रवचनतत्त्वचरुचिस्वभावम् । तदाह—

“तुह वयणतत्तर्हई, परमत्थमयाणओ वि दब्बगय ।

ह्यर पुण तुह समये, परमत्थावगमओ होइ ॥ १ ॥” इति ।

उक्तलक्षण द्रव्यसम्पत्त्वमपि शुभात्मपरिणामविशेषानुगत भावसम्पत्त्वरूपमपि न  
व्यभिचरति, अर्पितानर्पितसिद्धेरुमयरूपाविरोधात्, अत एव रुचिभेदा अपि द्रव्यसम्प-  
त्त्वरूपेण भासमाना अपि क्षायोपशमिकादिभेदेष्वतर्माविता वाचकचक्रवर्तिना प्रवृत्ता ।  
तद्यमपेक्षयैव द्रव्यभावविभागो भावनीय इत्युक्त प्रतिमाशतरुटीकायाम् ।

यद्वा अपर्यायेषु एकादिप्रकाररहितेषु पट्टसु कायेषु ध्रुवाऽविभक्ता भवति, स्याद्वादज्ञान  
परिममाप्याकाङ्क्षाऽपरिपूर्त्याऽत्रिभ्रान्ता मरति, एगविहदुविहेत्यादिपूर्वगाथोक्तप्ररूपणयैव  
तद्विभ्रान्तिसम्भवात्, यतो नियमेन पडेव जीवनिष्काया इति ध्रुवानवतः प्रकृतपट्टत्वादि-  
धर्मघटितसप्तमङ्गप्रतिपाद्यसप्तधर्मपर्याप्तप्रकारताकस्य स्याद्वादजन्यबोधस्याऽभावेन तत्परि-  
समाप्यायास्तादृशबोधनिर्ज्याया आकाङ्क्षयास्तस्यविधधर्मजिज्ञासाया निवृत्तिलक्षणपरि-  
पूर्तेरभावेन पडेव जीवनिष्काया इति ध्रुवा अत्रिभ्रान्ता अपरिपूर्णा भवति । अत्र विशेष-  
जिज्ञासुभिर्नयोपदेशटीकाऽनेकान्तव्ययस्थाऽष्टसहस्रीप्रतिमाशतरुटीकादयोऽवलोकनीया इति ।

तदेवमप्यर्हच्छास्त्रपरिकर्मितमतेर्जीवनिकायधर्मिणि स्यादेकत्वानेकत्वषड्विधत्वापद्विध  
त्वादिना सप्तमङ्गीपथेन स्यादेकत्वस्यादनेकत्वस्यात्षड्विधत्वस्यादपद्विधत्वादिसप्तधर्म  
प्रकारकाखण्डबोधस्यैरोत्पत्तेर्नाव्यापकोऽनेकान्त इति ध्येयम् ॥ २८ ॥

ननु वस्तुत्वस्यानेकान्तत्वव्याप्यत्वेन तदतत्त्वभावात्मक वस्तुमात्रमित्यभ्युपगमे  
गच्छति तिष्ठतीत्यत्रापि तथास्वभावापरया गमनक्रियावद्द्रव्ये गच्छति स्थितिक्रियावद्द्रव्ये  
च तिष्ठतीति निघतव्यवहारो विलुप्त एव स्यादित्याशङ्कामुद्धर्तुमाह—

गहपरिणय गर्हं चैव, केह णियमेण दवियमिच्छन्ति ।

त पि य उड्ढुगर्हअ, तथा गर्हं अण्णहा अगर्हं ॥ २९ ॥

“ गहपरिणय दविय णियमेण गर्हं चैव केह इच्छन्ति ” गतिपरिणत गतिक्रियापरिणत  
द्रव्य नियमेन गतिमदेव, एवकारेण नागतिमदित्युक्त भवति, इत्येव केचिदिच्छन्ति  
मन्यन्ते तन्निषेधार्थमुत्तरार्द्धमाह— त पि येत्यादि । तदपि च गतिक्रियापरिणत जीवद्रव्य  
सर्वतोऽगमनाऽयोगाद्दर्शादिप्रतिनियतदिग्गतिकमिति तैर्वादिभिरभ्युपगमे कृते सत्येवोच्यं  
गच्छतीति विवक्षितप्रतिनियतदिग्गच्छन्नगतिव्यवहार उपपन्नो भवति, नान्यथा, यतस्ता  
मान्यतो गच्छतीत्युक्तौ कस्यां दिशीति जिज्ञासा समुल्लसत्येव, सा च विवक्षितदिगुक्त्यैव  
शान्ता भवतीति, तथा च विवक्षितप्रतिनियतदिग्गपेक्षया गतिमत्, दिगन्तरापेक्षया चाम  
तिमदेवेति सिद्धं भवति । अयमभावः—यथा पर्वते शिखरे वह्निः, न तु नितम्बे इति प्रतीति  
षलाच्छिखरावच्छेदेन पर्वतो वह्निमान्, न तु नितम्बदेशावच्छेदेनेति तथेदं द्रव्यमूर्च्छादिशि  
गच्छति न तु दिगन्तर इति प्रतीतिभावाद् गतिक्रियापरिणत द्रव्यमूर्च्छादिप्रतिनियतदिग्  
वच्छेदेन गतिमत्, न तु दिगन्तरावच्छेदेनेति तत्तदन्यदिगवच्छेदेनोभयस्वभाव तदभ्युप  
गन्तव्यम्, अन्यथाऽभिमतदिगवच्छेदेनेवानभिप्रेतदिग्गच्छेदेनापि गतिमत् स्यात्, तथा  
चैककालावच्छेदेनानुपलभ्यमानविरुद्धोभयदेशप्राप्तिस्स्यात्, न च सानुभवसिद्धेत्यनुभवबाधः,  
न चैकदैकस्मिन्नेव पर्वते भिन्नदेशावच्छेदेन स्थितवह्नितदभावापि एवमिदानीं तन्तौ न घट  
इति प्रतीतिर्घटवत्यपि काले तन्त्ववच्छेदेन घटाभावस्य घटविनाशकाले इह कपाले न घट  
इति प्रतीतिर्घटवत्यपि कपाले घटनाशकालावच्छेदेन घटाभावस्य च नैयायिकैरभ्युपगमेन  
भिन्नदेशकालावच्छेदेनैकाऽधिकरणावस्थितघटघटाभावाविव भिन्नभिन्नदिगवच्छिन्नगतिवद-  
ऽभावो विरुद्धौ, येनैस्मिन् द्रव्ये एककाले तौ न स्याताम्—तथा च कारणममाजेन विवक्षित  
प्रतिनियतदिग्गच्छन्नगतिपरिणामस्वभाववति द्रव्ये तदानीमेव तदन्यदिगवच्छिन्नाऽगति  
परिणामस्यमात्रोऽभ्युत्पद्यत इति नात्राप्यव्यापकोऽनेकान्तः । अथाभीष्टदेशगतिरेवानभि  
मतदेशगतिरिति विष्येकस्वरूपत्वात्प्राधान्येकान्तोऽनकाश भजत इति चेत्, तर्हि यद् यस्य  
विरोधि तद् तदभावस्य एव स्वस्वरूप चिमर्त्तति विरोधिण्या अनभिमतदेशगतेरभावा

भावेऽमीष्टदेशगतिकमेव द्रव्य न स्यात् । किञ्चानभिमतदेशागतिरेऽमीष्टदेशगतिरिति विपर्ययमपि षडतुर्यत्र नैव वक्त्रीमवेत्, तथा चानभिमतदेशागतिस्वभावस्य प्राधान्ये बौद्धनयेनाभावस्य तुच्छरूपत्वाद्मीष्टदेशावच्छेदेनापि द्रव्य गतिकार्यार्जनाय समर्थ न स्यात् । नन्वमीष्टदेशगतिस्वभावः प्रतिनियतवस्तुन्येव वर्चत इत्यसाधारणधर्मत्वात्तस्य स्वभावत्वाद्भ्युपगमो युक्तः, न चैवमनमीष्टदेशागतिस्वभावस्य, तस्य वस्तुमात्रवृत्तित्वेन साधारणधर्मत्वादिति चेत्, भैवम्, यतोऽमीष्टदेशावच्छिन्नानुयोगिकस्वरूपमम्बन्धेनानभि प्रेतदेशागतिस्वभावस्यामीष्टदेशावच्छिन्नवस्तुन्येव सत्त्वेनासाधारणधर्मत्वात्तस्य स्वभावत्वाद्भ्युपगमो नायुक्त इति । न चात्र शुद्धद्रव्यत्वेन रूपेणामिन्नस्यापि गतिमत्त्वेनागतिमत्त्वेन च भेदस्मिद्धस्यात्तदाऽनेकान्तरकाशस्यात्, न चैवम्, तथा सति गच्छति द्रव्ये न गच्छतीत्यपि व्यवहारापत्तिस्यादित्याशङ्कितव्यम्, विवक्षितप्रतिनियतदेशावच्छेदेन गतिमामान्यव्यवहारस्यैव सद्भिन्नदेशावच्छिन्नानुयोगिकस्वरूपसम्बन्धेन गतिसामान्याभावत्वात्तस्यापि तद्द्रव्ये सत्त्वेनोक्तव्यवहारस्येष्टत्वात् । एतेन गतिमदेवेत्येकान्तेन गतिमामान्यवति गति सामान्याभावो निषिध्यते न च गतिविशेषाभावेन न बाध्यते, न हि विशेषाभावात् एव सामान्याभाव इति कोऽयमनेकान्त इत्याशङ्कापि निरस्ता, सामान्यविशेषयोः कथञ्चिद्भिन्नत्वेन गतिविशेषस्यापि गतिमामान्यरूपतया गतिविशेषाभावात्स्यापि गतिमामान्याभावत्वात्, न हि विशेषसामान्याद्भ्युपतिरिक्त एव, तथा सति यत्र विशेषस्तत्र सामान्यस्य सत्त्वे पृथक् पृथक् विशेष' सामान्यञ्चैकशोपलभ्येत, न च विशेषस्य कस्यचिद्भावे सामान्यस्यास्ति सम्मत् इति गतिमामान्यस्य गतिविशेषाभावस्य च सत्त्वले स्यादेवानेकान्तः, यत्किञ्चिद्गतिविशेषाभाववति योऽयमगतिव्यवहारस्म गतिविशेषाभावात्स्वरूपमेव गत्यभावप्रपादायेति यत्किञ्चिद्गतिविशेषाभावाधिकरणावच्छेदेन गतिमामान्याभावो गतिविशेषाभावात्तदतिरिक्त एव, अर्थात् गतिमामान्यवति गतिवत्त्वेन रूपेण गतिमामान्यस्य सत्त्वेऽपि गतिविशेषत्वेन रूपेण गतिमामान्यस्याभावोऽपि विद्यत इति तादृगस्य गति सामान्याभावस्य गतिविशेषाभावात्तदतिरिक्तत्वमेव, तादृशाभावसम्बलनेनानेकान्तोऽवधारित प्रसर एव, यद्य यावद्गतिविशेषाभावाधिकरणावच्छेदेन विद्यमानो गतिमामान्याभावस्तस्य गतिविशेषाभावात्तदतिरिक्तत्वमेव, तदुपादायानेकान्तत्वाभावेऽपि न नो हानिः, गतिमामान्यस्य येन केनचिद्गतिमामान्याभावेन सदैकर मभावेऽत एव भावाभावोभयरूपसमावेशप्रयुक्तानेकान्तत्वादमात्राज्यात्, नन्वेकान्तत्वादिना यदेव निषिध्यते तस्यैव विधानेऽनेकान्तत्वादसात्राज्यम्, गतिपरिणत गतिमदेवेत्येकारेण गतिवत्त्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावात् एव निषिध्यते, गतिविशेषत्वेन गतिमामान्याभावस्तु न गतिवत्त्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक इति तद्विधानेऽपि नैकान्तव्याघात इति चेत्, न, गतिवत्त्वेन गतिविशेषाभावस्य गतिवत्त्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वेन तदुपादायैकान्तव्याघातापत्ते, न च

गतित्वावच्छिन्नगतिसामान्यनिष्ठप्रतियोगिताकात्यन्ताभावेन सह गतिसामान्यस्य नैकत्र समावेश इति तद्विरोधैकान्ताख्यायात् एवेति वाच्यम्, गतिसामान्याभावस्यैवैकस्य यत्किञ्चिद्गतिविशेषामावाधिकरणावच्छेदेन गतिविशेषत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्व यावद्गति- विशेषामावाधिकरणावच्छेदेन गतित्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वमित्यस्याभ्युपगमेन यावद्गतिविशेषामावाधिकरणावच्छेदेन गतिमामान्याभावस्य गतिसामान्यविरुद्धत्वेऽपि गति- विशेषामावाधिकरणावच्छेदेन तस्य गतिसामान्येन समविरोधस्यापि भावेन विरोधा विरोधयोरप्यनेकान्तस्य साम्राज्यादिति । एवमेव भूतलादिप्रतिनियतदेशापेक्षयैवैकस्मिन् द्रव्ये स्थितिमच्च न तु देशान्तरापेक्षयेति भिन्नभिन्नदेशापेक्षया स्थितितदभावोभयसत्त्वा दप्राप्यनेकान्तो भावनीयः ॥ २९ ॥

ननु वस्तुमात्रं तदस्वभावमात्मकमिति स्याद्वादपक्षे दहनात् अर्थाहाहानुकूलशक्ति मत्त्वाद्दहन इतीव स किमदहनात् अर्थाहाहानुकूलशक्त्यभावात्तदानीमेवादहनोऽपि ! एव पचनात् अर्थात् पाकानुकूलशक्तिमत्त्वात्पचन इव स किमपचनात् अर्थात् पाकानुकूलशक्त्य- भावात्तदानीमेवाऽपचनोऽपि ! । ओमिति चेत्, तर्हि विरुद्धस्वभावापचन्या तेन स्वस्वरूपमपि परिहृत स्यादिति चेत्, स्यादेतद् यदि दहने यदपेक्षया दहनत्वस्वभावः पचनादौ च पचनत्वादिस्वभावस्तदपेक्षयैव तद्विरुद्धस्वभावस्स्यात्, न चैवम्, स्वभावद्वयस्य भिन्नापेक्षकत्वादित्युपपादनायाह—

गुणनिवृत्तियसण्णा, एवं दहणादओ वि दद्वेष्या ।

ज तु जहा पडिसिद्ध, दव्वमदव्व तथा होइ ॥ ३० ॥

“गुणनिवृत्तियसण्णा दहणादओ वि” गुणनिर्वर्तितसंज्ञा दहनादयोऽपि, गुणेन दह तीति दहनः पचतीति पचन इत्यादिव्युत्पत्तिसिद्धदाहानुकूलशक्तिमत्त्वलक्षणदहनत्वपाकानु- कूलशक्तिमत्त्वलक्षणपचनत्वस्वभावात्मकेन निर्वर्तिता उत्पादिता संज्ञा येषां तेऽपि दहन- पचनादयः, ‘एव दद्वेष्या’ तयैरानेकान्तात्मका दृष्टव्याः, कथञ्चिद्दहनादहनोभयात्मका अभ्युपगन्तव्याः, दहनस्य दाहपरिणामयोग्यतृणाद्यपेक्षया दहनत्वात्, पचनस्य च पाकपरिणामयोग्यौदनाद्यपेक्षया पचनत्वात्, तत्परिणामायोग्यापेक्षया चातथात्वात्, तदेवाह—‘ज दव्व तु जहा पडिसिद्ध तथा अदव्व होइ’ यद्भव्य तु यथा प्रतिपिद्ध तथा अद्रव्य भवति, यद्भव्य त्वद्दाह्याऽऽत्माकाशाप्राप्तवज्रापवाद्यपेक्षया यथा दाहाऽऽद्यनुकूल शक्तिमत्त्वलक्षणदहनादिरूपतया प्रतिपिद्ध तद्रव्य तदपेक्षया दाहकत्वादिशक्त्यभावात् अद्रव्य- मदहनादिरूप, दहनाद्यभावरूपमिति यावत्, तथा भजनाप्रकारेण भवति, दाशं तृणादिकं दहनो दहति, न त्वदाहमात्माऽऽकाशादिरूपमिति प्रतीतेर्दहनः स्याद्दहनः स्याददहन इत्य- प्राप्यनेकान्त एव निवरां सिद्धिकोटिमुपदोक्तै, तथाऽदहन इत्यत्राप्यनेकान्तो भावनीयः,

तथाहि—पदुदकद्रव्य दाहकत्वशुष्यभावाद्दहनरूपेण प्रतिपिद्ध तदपि न मर्षथाऽद्दहनद्रव्य भवति, पृथिव्यादेरदहनरूपाद् व्याघृत्ततया कथञ्चिदुत्तयात्त्वात्, अन्यथा दहनव्यतिरिक्त-भूतैकत्वप्रसङ्गः, इत्यत्राप्यनेकान्त एव, समयाऽविरोधेन भजनाप्रवृत्तेरिति दिक् ॥ ३० ॥

अथ जीवः स्वस्वरूपापेक्षया जीवः कुम्भादिपररूपापेक्षया च न जीवः, एवमजीवोऽपि स्वस्वरूपापेक्षयाऽजीवो जीवात्मरूपरूपापेक्षया च नाजीव इति तयोः कथञ्चिद्दुमयात्मकत्वाद्नेकान्तात्मकत्वमित्युपपादनायाह—

कुम्भो ण जीवदविय, जीवो वि ण होह कुम्भदविय ति ।

तम्हा दोवि अदविय, अण्णोण्णविसेसिया होंति ॥ ३१ ॥

कुम्भो न जीवद्रव्य भवति, जीवोऽपि न भवति कुम्भद्रव्य, तस्माद् द्वावप्यद्रव्य मन्योन्यविशेषितौ परस्परव्याघृत्तात्मकौ भवतः । अयम्भावः—कुम्भाद्यजीवद्रव्यं जीवाद् व्याघृत्त एव जीवद्रव्यमपि कुम्भादेरजीवद्रव्याद्वाघृत्तम्, अन्यथा मर्षस्य मर्षात्मकत्व स्यादिति प्रतिनियतरूपाभावतस्तयोरभावस्स्यात्, खरविपाणवत्, तथा च प्रतिनियतरूपान्यथाऽनुपपत्त्या तयो परस्परव्याघृत्तस्वरूपत्वे च स्वरूपापेक्षया जीवो जीवद्रव्य कुम्भाद्यजीवद्रव्यापेक्षया तु न जीवद्रव्यम्, एवमजीवोऽपि स्वस्वरूपापेक्षयाऽजीवद्रव्य जीवापेक्षया तु नाजीवद्रव्यम्, ततो वस्तुमात्रस्याऽऽपेक्षिकतदतत्त्वभावात्मकत्वात् सर्वमनेकान्तात्मकमिति व्यवस्थितम् । नन्वेवमजीवो जीवापेक्षया नाजीव इति द्वौ नञौ प्रकृत गमयत इति न्यायाद् जीवोऽपि स्यादिति चेत्, मैवम्, अभावपरिणते परापेक्षत्वेऽपि भावपरिणतेः स्वापेक्षत्वात् स्वस्वरूपापेक्षया जीवः कुम्भाद्यपेक्षया न जीवः, स्वस्वरूपापेक्षयाऽजीवोऽपि जीवापेक्षया नाजीव इति व्यवहारोऽपि स्याद्वादव्युत्पत्तिमहिम्ना क्षुपपाद एवेति सुधीभिर्भावनीयम् । न चायमनेकान्तः कल्पनामात्रनिर्मितवपुष्टेन न वस्तुगतसद्दर्शसाधकः, कल्पनाया निरङ्कुशत्वेनाप्रमाणभूतत्वादिति वाच्यम्, निष्ठुण निरूपणे प्रज्ञावद्भिः सर्ववस्तुनामनेकान्तात्मकतयैवाकलनादिति ॥ ३१ ॥

अथोत्पन्नकेवलज्ञानेन भगवता “उत्पन्नेह वा विगमेह वा घुवेह वा” इति त्रिपद्या प्रवचनाधारभूतया जीवाजीवात्मक जगत् द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयावपेक्ष्य प्रतिक्षणोत्पादव्ययधौष्ययुक्तमाख्यायि, अत एव प्रवचनोपनिषद्वेद्येत्तद्ग्रन्थकृत्स्नरिवरेण—“उत्पायद्विभगा हृदि दवियलक्षण एय” इत्यनेन नयद्वयत्रिपयकप्रमाणार्पणया परस्परानुविद्योत्पादस्थिति-मङ्गलक्षण वस्तुत्समनियत प्रोक्तम्, अत्रोत्पाद ‘उत्पन्नमिदम्’ इति धीसाधिको घर्मः, स किमेकविध एव किं वा प्रकारान्तररूपोऽपीत्याशङ्कायामाह—

यद्दोत्पादादयो “मृदि घट उत्पन्नो मृदि घटो विनष्टो मृद्द्रव्यरूपेण स्थिरयेति धीसाधिका आधारत्वादिवदतिरिक्ता अपि, न त्वाद्यक्षणसम्बन्धादिरूपा एव, क्षण एवा-

मावात्, क्षणे आद्यक्षणसम्बन्धरूपोत्पादमिद्वये तत्रापि क्षणान्तरस्याद्यस्य सम्बन्धकल्पना यामनवस्थापचे', तत्रोत्पादादीनां घटत्वादिना प्रतियोगित्वम्, मृत्रादिना चानुयोगित्वम्, द्रव्ये तु पर्यायोपहितरूपेण प्रतियोगित्वम्, तत्र चानुयोगितायाः प्रतियोगित्वेन समावेशाद् द्रव्यस्य नाऽनुयोगित्वम्, यथा 'घटविशिष्टमृद्द्रव्यमुत्पन्नम्,' इति । इदमत्रावधेयम्-कस्योत्पाद इत्याकाङ्क्षानिष्ठचिर्घटस्योत्पाद इत्युक्त्यैव भवति, कस्येत्याकाङ्क्षानिर्वर्तकस्य प्रतियोगित्वम्, यथा अयं गुरुरित्युक्तौ कस्य गुरुरित्याकाङ्क्षानिष्ठचित्तैत्रस्योत्पत्तया भवतीति गुरुत्वप्रतियोगित्वं चैत्रस्य, तथोत्पादप्रतियोगित्वं घटत्वेन घटस्य, एव विनाशादिप्रतियोगित्वमपि, कुत्रेत्याकाङ्क्षानिर्वर्तकस्यानुयोगित्वम् यथा बह्वेः संयोग इत्युक्तौ कुत्रेत्याकाङ्क्षानिष्ठचित्' पर्यते इत्युक्त्या भवतीति पर्वतस्य सयोगानुयोगित्वम्, तथा घट उत्पद्यते इत्युक्तौ कुत्रेत्याकाङ्क्षानिष्ठचित्: मृदि घट उत्पद्यते इत्युक्त्या भवतीति मृत्रादिना मृदादीनामनुयोगित्वम्, किमुत्पन्नमित्याकाङ्क्षानिर्वर्तकं घटविशिष्टमृद्द्रव्यमुत्पन्नमिति, यद्वा कस्योत्पाद इत्याकाङ्क्षानिर्वर्तकं घटविशिष्टमृद्द्रव्यस्योत्पाद इति प्रयुज्यते यत्र तत्र घटात्मकपयापविशिष्टमृद्द्रव्यस्य किमित्याकाङ्क्षायाः कस्येत्याकाङ्क्षायाश्च निर्वर्तकत्वात्प्रतियोगित्वं, कुत्रेत्याकाङ्क्षा तत्र नास्त्येव, यन्निरवर्तकत्वान्मृदोऽनुयोगित्वं सम्भाव्येतापि, घटस्य पर्यायभाजस्योत्पादविवक्षायामेव मृदि घटस्योत्पादस्य भाजादनुयोगित्वं स्यात्, सा विवक्षा तु नादृता, किन्तु घटपर्यापविशिष्टमृद्द्रव्यस्यैवोत्पादो विवक्षित इति अनुयोगिन्या अपि मृदः प्रतियोगिकोटावेव प्रक्षिप्तत्वादिति । न चात्र विशेषणस्यैवोत्पादो विषय इति वाच्यम् विशिष्टस्यैव प्रतियोगित्वानुभवत्, इतरत्रान्वितस्य घटस्योत्पादेऽन्वयायोगाच्च । न च विशिष्टहेतुफलपने गौरवम्, घटहेतूनामेव घटविशिष्टहेतुत्वात् । अत एव क्षणहेतूनामेवं क्षणविशिष्टहेतुत्वात् उत्पत्त्यनन्तरक्षणेषु सर्वथाऽविशिष्टत्रैल्लमिकोत्पादसिद्धिः, तथा चाश्रोक्तमुक्तिसिद्धातिरिक्तोत्पादः किमेकविध एव किं वा प्रकारान्तररूपोऽपीत्याशङ्क्यामाह-

उप्पाओ दुवियप्पो, पओगजणिओ अ विसस्रा च्चव ।

तत्थ घ पओगजणिओ, समुदयवाओ अपरिसुद्धो ॥ ३२ ॥

“उप्पाओ दुवियप्पो” उत्पादो द्विविकल्पः, प्रायोगिकवैल्लसिरुभेदाभ्यां प्रकारद्वयात्मकः, विरूपद्वयमेवाह-“पओगजणिओ अ विमसा च्चवत्ति” स्वस्मकृन्मादीनां प्रेषाकारिपुरुषक्रियापन्नत्वात् प्रयोगेण पुरुषव्यापारेण पुरुषप्रयत्नेनति यावत् जनितो निर्वर्त्य उत्पादः प्रयोगजनितः, पुरुषव्यापाराजन्य उत्पादो विस्रसाजनितः, न च पुरुषेतरकारकव्यापारपन्नत्व विस्रसाजनितोत्पादस्य लक्षणमस्तिवति वाच्यम्, प्रायोगिकऽतिव्याप्तेः, तन्मात्रजन्यत्वं तु गुरुवादत्रैव निभाम्यति, तस्मात्पुरुषेतरकारकव्यापारजन्यत्वं स्वरूपकथनमात्रम्, न तु लक्षणम् । तत्राद्यभेदस्वरूपप्रतिपादनापोचरार्द्धमाह-तत्थेत्यादि । तत्र च-उक्तमेव-

द्वयमध्ये चेत्यर्थः, प्रयोगजनितो मूर्त्तिमद्द्रव्यावयवारब्धत्वात्समुदयवादः, तथाभूतारब्धस्य समुदायात्मकत्वात्, तत एव चासात्परिशुद्ध इति गीयते, अत्रापरिशुद्धत्वं स्वाश्रययावदवयवोत्पादापेक्षया पूर्णस्वभावत्वम्, न ह्यपूर्णवयवो घट उत्पद्यमानः कात्स्न्येनोत्पन्न इति व्यवहियत इति । ननु न प्रयोगजन्य उत्पादः, घटादेरेव प्रयत्नजन्यत्वात्, उत्पादस्य त्वाद्यक्षणसम्बन्धलक्षणस्यावथात्वात्, यतः कपालादीनां घटत्वावच्छिन्न प्रति कारणत्वम्, न तु घटोत्पादत्वावच्छिन्न प्रतीति चेत्, मेवम्, 'सुद्धरपाताद् नष्टो घटः' इति व्यपदेशाद् नाशे सुद्धरपातजन्यत्वम् 'पुरुषव्यापारादुत्पन्नो घटः' इति 'व्यवहारादुत्पादेऽपि पुरुषव्यापारजन्यत्वस्यावश्यकत्वात् । विविच्याननुभूयमानत्वेनोत्पादापलापे च नाशस्याप्यपलापप्रसङ्गात् । उत्पत्तेराद्यक्षणमन्वयेनान्यथासिद्धौ नाशस्यापि चरमक्षणसम्बन्धेनान्यथासिद्धे' सुवचत्वात्, घटप्रतियोगिकत्वेन नाशो विलक्षण एवानुभूयत इति चेत् तथोत्पादोऽपीति तुल्यम् । किञ्चाद्यक्षणे 'आद्यक्षणसम्बन्धवान् घटः' इतिवत् 'आद्यक्षण उत्पन्नो घटः' इति प्रयोगो न ह्युत्पादस्स्यादिति न किञ्चिदेतत् ॥ ३२ ॥

द्वितीयभेदरूपो विस्त्रमाजनितोऽप्युत्पादो द्विविध इत्याह—

साभावितो वि समुदयकओव्व एगत्तिओव्व होज्जाहि ।  
आगात्ताईआण तिण्ह परपच्चओऽणियमा ॥ ३३ ॥

'सामावित्रो वि' स्वामाविकोऽप्युत्पाद एकः 'समुदयकओ व' समुदयकृतो वा जीवप्रयत्नमन्तरेण विस्त्रमापरिणतपुद्गलसमुदायेन जनितो मूर्त्तिमद्द्रव्यावयवारब्धत्वात्समुदयजनित उच्यते इति भावः । द्वितीयश्च "एगत्तिओव्व होज्जाहि" ऐकत्विको वा भवेत् । तत्राद्यः स्वमात्परिणताभ्रेन्द्रधनुरादीनामुत्पादः, घटादीनामप्रथमतयोत्पादश्च प्रतिक्षणोत्पादव्ययध्रौव्यान्यथानुपपत्तिमिद्धद्वितीयादितत्तत्क्षणविशिष्टविनाशस्य विशिष्टोत्पादनियतत्वात्, न हि मूर्त्तावयवसयोगकृतत्वं समुदयजनितत्वम्, विभागकृतपरमाणाद्युत्पादेऽप्यप्यप्ये, किन्तु मूर्त्तावयवनिघतत्वम्, तच्च तदवस्थावयवस्यापि ननुपुराणभावलक्षणावस्थाविशेषात् सम्भवत्येवेति । नन्वभ्रेन्द्रधनुरादित्रयप्रथमतया घटाद्युत्पादस्यापि स्वामाविकत्वेन कारणान्तरानपेक्षत्वे घटोत्पादार्थं दण्डग्रहणादौ प्रवृत्तिर्न स्यादिति चेत्, मेवम्, उत्पादस्य प्रायोगिकवैज्ञानिकभेदेन द्विविधत्वोक्त्या स्वामाविकोत्पादे हेत्वनपेक्षायामपि प्रायोगिकोत्पादे तदपेक्षाध्रौव्यात्प्रवृत्त्युच्छेदाभावात् । एतेन कालादिहेतुपञ्चक्यामप्याः कार्योत्पत्तिनियतत्वं जिनानुगैरभ्युपगत तदपि स्वामाविकोत्पादपक्षे न स्यादित्यपसिद्धान्तमीरपि निरस्ता, उक्तद्वैविध्यस्य प्रयोगविस्त्रसाप्राधान्येनैव व्यरस्थितेर्गणविधया कालादिहेतुपञ्चक्यामग्रीनिष्कारणत्वाभ्युपगमादिति । विस्त्रसापरिणामिनो वस्तुनो हेत्वन्तरमन्तरेण स्वभावत एव विनाशशीलत्वमिव हेत्वन्तरमन्तरेण स्वमात्तदेवोत्पादशीलत्वमपि न्याय्यम्, उत्पादविनाशयोः



कारणान्तरानपेक्षत्वे च व्यवस्थिते स्थितेरपि तच्चेन स्वामाविकत्व युक्तम्, अवाचितकत्व  
 स्येव कादाचित्कत्वस्यापि स्वभावनियतत्वात्, तथा च विममापरिणामिनः कारणान्तरानपेक्ष-  
 मेव स्वभावप्रयुक्तमुत्पादादिप्रयमिति मिद्धम्, ऐकत्विकारूपद्वितीयभेदप्रतिपादनायोरसार्द्ध-  
 माह—‘आगासार्हयाण’ इत्यादि । “आगासार्हयाण तिण्डं” आकाशादीनां प्रयाणाम्,  
 आकाशास्तिकायधर्मास्तिकायाऽधर्मास्तिकायानां प्रयाणां ‘परप्रत्ययो’ परप्रत्ययाः, अत्र  
 ग्राहकगन्तु-स्थातृजीवपुद्गलात्मकरद्रव्यनिमित्तो धवगाहनागतिस्थित्युपग्रहकारितयो-  
 त्पादः, सोऽपि न नियमेन, किन्तु कथञ्चिद्भावेनेत्याह—‘णियमा’ अत्राकारप्रत्येकरणात्-  
 नियमादनेकान्ताद्भावेत्, आकाशादीनां प्रयाणां तत्तदवगाहक-गन्तु-स्थातृद्रव्यसम्भ्रान-  
 तोऽवगाहन-गति स्थित्युपग्रहकरणक्रियोत्पत्तेरनियमेन स्यात्परप्रत्ययो मूर्द्धिमदमूर्द्धिमद  
 धवद्रव्यद्वयोत्पाद्यत्वादवगाहनादीनां स्यादैकत्विकः स्यादनैकत्विकश्चेत्यत्राप्यनेकान्त एव  
 सिद्धिसौधमव्याप्तेः । अयम्भावः—न हि तेषु पौरुषेयः प्रयोगो विस्रसा वा क्रमत इत्यतः  
 परप्रत्ययाद्युत्पादविनाशौ प्रयाणां, जीवपुद्गलानां तु प्रयोगविस्रसाभ्यामुत्पादव्ययौ सम्भवतः,  
 धौव्य तु सर्वेष्वविशिष्टमिति तत्त्वार्थटीकोक्तेर्जीवपुद्गलानां प्रयोगविस्रसाभ्यामुत्पादव्ययौ  
 यथा सम्भवतः, न तथाऽऽकाशादीनां प्रयाणाम्, किन्तु ततोऽन्यादृशौ तौ तत्र, तथाहि-  
 घटाद्युत्पादवन्न चाकाशादित्रयेषु प्रायोगिक उत्पादः, न वा विस्रसापरिणतपुद्गलजनित  
 अन्द्रेन्द्रनुराद्युत्पादवद्वैसक्तिकः, आकाशादेरुत्पादस्य प्रयोगविस्रसात्मकमूर्द्धिमद्व्ययानारब्ध  
 त्वात्, किन्त्ववगाहकगन्तुस्थातृजीवपुद्गलात्मकरनिमित्तस्तत्रोत्पादः, एवमेव विनाशोऽपि  
 परनिमित्तो विज्ञेयः, अत एव खण्डखाद्ये “आकाशादावपि परप्रत्ययोत्पादव्यसनामागम  
 सिद्धत्वादित्युक्तम्” । अस्य चायमर्थः—यस्मिन्परततदेशावच्छिन्नावगाहकस्वभावे चैत्रे सति  
 तन्निमित्तकतदेशावच्छिन्नतदवगाहनादायित्वस्वभावप्रत्ययाऽपैति स एवाकाशास्तिकायः,  
 सद्युपगततदन्वयदेशावच्छिन्नावगाहकस्वभावे चैत्रे तन्निमित्तकदेशान्तरावच्छिन्नतदवगाहना  
 दायित्वस्वभाववत्तयोत्पद्यते, एव यस्मिन्परततगतिव्यापारे चैत्रे तद्गत्युपग्रहव्यापारवत्प्रत्ययाऽपैति  
 स एव धर्मास्तिकायो जिगमिषदेवदत्ते तद्गत्युपग्रहदायित्वस्वभावतयोत्पद्यते, अधर्मास्तिकायेऽपि  
 गतिपदस्थले स्थितपद सयोज्य तत्र ज्ञेयम्, इत्येवमवगाहक-गन्तु-स्थातृद्रव्यनिमित्तोत्पा-  
 दव्यसनामागमसिद्धत्वादिति । नन्वाकाशधर्माधर्मास्तिकायानां सर्वदाऽविवलितस्वरूपतयै-  
 वावस्थितत्वेनाविक्रियात्मकानामन्यरूपेण पूर्वतत्स्थितस्य तदन्वरूपेण परिणमनमेव नास्ती-  
 ति तेषूत्पाद एव न सम्भवतीति कुतस्तत्रोत्पादानेकान्त इति चेत्, उच्यते, तेष्वपि स्वामाविक  
 उत्पाद ऐकत्विकोऽनैकत्विकश्च द्विप्रकारोऽप्यस्ति भजनया, यतस्स्याद्वादपक्षे नैवाकाशादि-  
 द्रव्यत्रय सर्वप्रकारेणानिर्कार्यव, किन्तु द्रव्यार्थतया नित्यमपि पर्यायार्थतया पूर्वावगाहका-  
 वगाहाद्युपग्रहकारिस्वभावत्वेन पिनश्यति, पूर्वावगाहकादिव्यतिरिक्तावगाहकाद्यवगाहाद्यु-  
 पग्रहकारिस्वभावत्वेनोत्पद्यते चेत्यनित्यमित्यतो विकार्यमपि, आकाशादिप्रयाणां कथञ्चिद-



कारणान्तरानपेक्षत्वे च व्यवस्थिते स्थितेरपि तच्चेन स्वामाविकत्व युक्तम्, अवाचित्कत्व  
 स्येव कादाचित्कत्वस्यापि स्वमात्रनियतत्वात्, तथा च विस्रमापरिणामिनः कारणान्तरानपेक्ष-  
 मेव स्वभावप्रयुक्तमुत्पादादित्रयमिति सिद्धम्, ऐकत्वकारुण्यद्वितीयमेदप्रतिपादनायोरसौ-  
 माह-‘आगासाईयाण’ इत्यादि। “आगासाईयाण तिण्ह” आकाशादीनां त्रयाणाम्,  
 आकाशास्तिकायधर्मास्तिकायाऽधर्मास्तिकायानां त्रयाणां ‘परपद्यो’ परप्रत्ययः, अत्र  
 गाहकगन्तु-स्यात्तृतीयपुद्गलात्मकपरद्रव्यनिमित्तो अत्रगाहनागतिस्थित्युपग्रहकारितयो-  
 त्पादः, सोऽपि न नियमेन, किन्तु कथञ्चिद्भावेनेत्याह-‘णियमा’ अत्राकारप्रत्येकरणात्  
 नियमादनेकान्ताद्भावेत्, आकाशादीनां त्रयाणां तत्तदवगाहक-गन्तु-स्यात्तृतीयपुद्गलान-  
 तोऽवगाहन-गति स्थित्युपग्रहकरणक्रियोत्पत्तेरनियमेन स्यात्परप्रत्ययो मूर्त्तिमदमूर्त्तिमद  
 व्यवद्रव्यद्वयोत्पाद्यत्वाद्दवगाहनादीनां स्यादैकत्विकः स्यादनैकत्विकश्चेत्यत्राप्यनेकान्त एव  
 सिद्धिसौधमध्यास्ते। अयमभावः-न हि तेषु पौरुषेयः प्रयोगो विस्रमा वा क्रमत् इत्यतः  
 परप्रत्ययाद्युत्पादविनाशौ त्रयाणां, जीवपुद्गलानां तु प्रयोगविस्रमाभ्यामुत्पादव्ययौ सम्भवतः,  
 धौव्यं तु सर्वेष्वनिश्चितमिति तत्त्वार्थटीकोक्तेर्जीवपुद्गलानां प्रयोगविस्रमाभ्यामुत्पादव्ययौ  
 यथा सम्भवतः, न तथाऽऽकाशादीनां त्रयाणाम्, किन्तु ततोऽन्यादृशौ तौ तत्र, तथाहि  
 षटाद्युत्पादवन्न चाकाशादित्रयेषु प्रायोगिक उत्पादः, न वा विस्रमापरिणतपुद्गलजनितो  
 भ्रेन्द्रधनुराद्युत्पादवद्वैस्रसिकः, आकाशादेरुत्पादस्य प्रयोगविस्रमात्मकमूर्त्तिमद्द्रव्यानारब्ध  
 त्वात्, किन्त्ववगाहकगन्तुस्यात्तृतीयपुद्गलात्मकपरनिमित्तस्तत्रोत्पादः, एवमेव विनाशोऽपि  
 परनिमित्तो विज्ञेयः, अत एव खण्डखाद्ये “आकाशादावपि परप्रत्ययोत्पादध्वंसानामागम  
 सिद्धत्वादित्युक्तम्”। अस्य चायमर्थः-यस्समूहपरतददेशावच्छिन्नवगाहकस्वभावे चैत्रे सति  
 तन्निमित्तकदेशावच्छिन्नतदवगाहनादायित्वस्वमात्ररक्षयाऽपैति स एवाकाशास्तिकायः,  
 समूहगततदन्वदेशावच्छिन्नवगाहकस्वभावे चैत्रे तन्निमित्तकदेशान्तरावच्छिन्नतदवगाहना  
 दायित्वस्वभाववत्तयोत्पद्यते, एव यस्समूहपरतदव्यापारे चैत्रे तद्द्रव्युपग्रहव्यापारवत्तयाऽपैति  
 स एव धर्मास्तिकायो जिगमिपद्देशदत्ते तद्द्रव्युपग्रहदायित्वस्वभावतयोत्पद्यते, अधर्मास्तिकायेऽपि  
 गतिपदस्थले स्थितिपद सयोज्य तत्र ज्ञेयम्, इत्येवमवगाहक-गन्तु-स्यात्तृतीयनिमित्तोत्पा  
 दध्वंसानामागमसिद्धत्वादिति। नन्वाकाशधर्माधर्मास्तिकायानां ‘सर्वदाऽविवलितस्वरूपतथै  
 वावस्थितत्वेनाविक्रियात्मकानामन्यरूपेण पूर्वमत्रस्थितस्य तद्रूपरूपेण परिणमनमेव नास्ती  
 ति तेषूत्पाद एव न सम्भवतीति कुतस्तत्रोत्पादानेकान्त इति चेत्, उच्यते, तेष्वपि स्वामाविक  
 उत्पाद ऐकत्विकोऽनैकत्विकश्च द्विप्रकारोऽप्यस्ति भजनया, यत्तस्याद्वादपक्षे नैवाकाशादि  
 द्रव्यत्रय सर्वप्रकारेणानिर्कार्यैव, किन्तु द्रव्यार्थतया नित्यमपि पर्ययार्थतया पूर्वोऽवगाहका-  
 यगाहाद्युपग्रहकारिस्वभावत्वेन विनश्यति, पूर्वोऽवगाहकादिव्यतिरिक्तावगाहकाद्यवगाहाद्यु-  
 पग्रहकारिस्वभावत्वेनोत्पद्यते चैत्यनित्यमित्यतो विकार्यमपि, आकाशादित्रयाणां कश्चिद्

नित्यत्वे च तेष्वप्यवगाहाद्युपग्रहकारिस्वभावत्वेनैकत्विक उत्पादः कथञ्चिद्भावेनैव, न त्वेकान्तेन । नन्नाकाशादिश्रयाणामवगाहाद्युपग्रहकारिस्वभावतयोत्पादोऽवगाहावगाहकाभ्यां तादृशस्वभावस्याऽऽत्मलामलक्षणं, तस्य त्वेकमात्रनिबन्धनत्वाभावादकत्विकत्वमेव न सङ्घटत इति व्युत्पत्तिनिमित्ताऽभावात्कथमैकत्विक इति सङ्गा तत्र युक्तेति चेत्, उच्यते, आकाशेऽवगाहकानुप्रवेशेऽवगाहोपष्टम्भकत्वस्वभावस्योत्पत्तिरभिव्यक्तिरेव, सा च तादृशस्वभावस्याऽऽकाशगुणत्वादाकाशगतैव, तज्जनकत्वाद्वावगाहकमवगाहोपष्टम्भकत्वस्वभावस्य व्यञ्जकमेव, नोत्पादकम्, व्यञ्जकञ्चाकाशादन्यदेव भवति व्यङ्ग्याद् घटादेरिव प्रदीपादि, इत्य चाभिव्यक्तेराकाशव्यतिरिक्ताऽवगाहकमात्रनिमित्तकत्वादकत्विकत्वमेवेति तत्रैकत्विक इति सङ्गा युक्तैव, एव धर्मास्तिकाये तत्तज्जीवपुद्गलगतौ सत्त्वां तदुपग्रहदायित्वस्वभावस्योत्पत्तिरभिव्यक्तिरेव, सा चोक्तस्वभावस्य धर्मास्तिकायगुणत्वाद्धर्मास्तिकायगतैव, तज्जनकत्वाद्गन्तृद्रव्य गत्युपग्राहकत्वस्वभावस्य व्यञ्जकमेव, नोत्पादकम्, इत्य चाभिव्यक्तेर्धर्मास्तिकायव्यतिरिक्तगन्तृद्रव्यमात्रनिमित्तकत्वात्तच्छ्रणोत्पाद ऐकत्विकः, एवमधर्मास्तिकायेऽपि स्वयमेव ज्ञेयम्, नन्वेव तर्धनैकत्विक उत्पादः कथमिति चेत्, तदप्युच्यते, आकाशस्य तत्तत्पुद्गलजीवावगाहनादायित्वस्वभावतयोत्पादोऽवगाहावगाहकद्रव्यसमुदायजन्यत्वात्, धर्मास्तिकायस्य च तत्तत्पुद्गलजीवगत्युपग्राहकत्वस्वभावतयोत्पादो गन्तृधर्मास्तिकायद्रव्यद्रव्यसमुदायकार्यत्वात्, अधर्मास्तिकायस्यापि च तत्तत्पुद्गलजीवस्थित्यनुग्रहहेतुत्वस्वभावरूपेणोत्पादस्याधर्मास्तिकायद्रव्यद्रव्यसमुदायजन्यत्वाच्चानैकत्विकः, तत एव समुदायजनित इत्यपि च गीयते सैद्धान्तिकैः । विवेचितञ्चैतच्चार्थत्रिषुः पर्यां निस्तरार्यमिस्तत एवावसेयम् ॥ ३३ ॥

उत्पादत्रयिगमोऽपि तथाविध एवेत्याह—

विगमस्त वि एस विही, समुदयजणिपन्मि सो उ बुविष्यो ।  
समुदयविभागमेत्त, अत्थतरभावगमण च ॥ ३४ ॥

“ विगमस्त वि एम विही ” विगमस्यापि नाशस्यापि एष विधिः, प्रायोगिकं वैलसिकञ्चेति भेदद्रव्यम्, तद्वयातिरिक्तस्य वस्तुनोऽभावात्, पूर्वावस्थाविगमव्यतिरेकेणोत्पत्तयस्योत्पत्त्यनुपपत्तेः, तत्राय आत्मव्यापाराश्रयणं, द्वितीयस्तु जीवव्यापारनिरपेक्षः । ननु विनाशो निर्हेतुकः प्रतियोग्यतिरिक्तभावान्तरानपेक्षत्वादित्यनुमानेन विनाशस्य निर्हेतुकत्वे सिद्धे कालान्तरे हेतुमपेक्ष्य जायमानो प्रायोगिकविनाश एव नास्तीति भेदद्रव्यस्यैवा सिद्धिरिति वाच्यम्, शुद्धरादिना घटो विनष्ट इति प्रात्यक्षिकप्रतीतिबलादेव विनाशस्य सहेतुत्वत्वे सिद्धे उक्तानुमानस्य घाघितत्वात् । ननु भावस्त्वहेतोरेवोत्पद्यमानत्वादृशो भवति, पेनोत्पत्तिसमनन्तरमेव विनश्यतीति, अयुक्तमेतत्, प्रतिज्ञाभावात्, त्रयमपि अमो-भावाः

सहोतरेव तादृश उपजायते, येन कालान्तरमवस्थाय विनश्यतीति, अस्मिन् पक्षे प्रत्यक्षा  
 घपि प्रमाण सहकारि भवति । ननु भावो विनश्चरस्वभावोऽविनश्चरस्वभावो वा, आद्ये  
 नाशप्रतिबन्धरुः कः ? येनोत्पत्त्यनन्तरमेव न नश्यति ? । द्वितीयपक्षे च नैव कदापि  
 विनश्येत, यतो विनश्चरस्वभावस्यैव विनाशः, अन्यथा नित्यत्वेनाभ्युपगतानामपि विनाश  
 स्यादिति चेत्, मैवम्, “ प्रागभूतात्मलाभत्वाभाशः कारणवान् भवेत् ” इत्युक्तेः  
 प्रागसत्त्वे सति सत्त्वलक्षणकादाचित्कत्वहेतुना विनाशस्य सहेतुकत्प्रसिद्धेहेतुसमवधाने सत्येव  
 तद्भावोदित्यलमतिप्रसङ्गेन । स्थितमिदम्-प्रायोगिकोऽप्यस्ति विनाश इति । स च समुदय  
 जनित एवेत्येकप्रकारात्मकः, वैज्ञानिकस्तु द्विविधः-समुदयजनित ऐक्यत्वकथ, तत्रैकत्वक  
 विनाश आकाशादित्रयाणां तत्त्वपुद्गलतत्तलीवावगाह-मति स्थित्युपपत्तमरुत्वपर्यायोत्पादस्य  
 तदनुपपत्तमकत्वलक्षणपूर्वावस्थाध्वसपूर्वकत्वेनान्ततः क्षणध्वसे तद्विशिष्टध्वसनियमाध्याभ्यु-  
 पेयः । प्रयोगजनितविज्ञसाजनितभेदद्वयान्तर्गतममुदयजनितविनाशस्य द्वैविध्यप्रतिपाद  
 नायाह-‘ समुदयजनिअस्मि सो उ द्विविप्यो ’ समुदयजनिते स विनाशस्तु द्विविकल्पः,  
 उभयत्रापीति शेषः । विकल्पद्वयमेवाह-“ समुदयविभागमेव अत्यन्तरभावगमन च ”  
 समुदयविभागमात्रम्, अर्थान्तरभावगमनश्च । तत्र समुदयविभागमात्रं कैवल्यमुदयविभाग  
 लक्षण एक, यथा पटादेः कार्यस्य तत्कारणीभूततन्त्वादिपृथक्करणे विनाशस्तन्तुविभागा-  
 त्मा, घटविनाशश्च कपालविभागात्मा, न तु तदतिरिक्तम्., तथा सत्यतिरिक्तध्वसारूपो  
 ऽभावः कल्पनीयः, तत्र चानुयोगितानिशेषरूप ध्वसत्वमिति धर्मिधर्मोभयाभ्युपगमापेक्षया  
 “ धर्मिकल्पनातो धर्मकल्पना लघीयसीति ” न्यायाह्लाघवाद्बुभयानुमते तत्तदवयवविभागा  
 त्मके धर्मिणि ध्वमत्वधर्मसिद्धौ तद्रूपेण मुद्गरेण घटो विनश्यति निन्दो वेति प्रतीतिस्म  
 मुदायविभागात्मकध्वमावगाहिन्यभ्युपगन्तव्येति तत्तदवयवविभागात्मैव ध्वसोऽभ्युपगन्त  
 व्य. । अयमभावः-पटावयवानां तन्तूनां विभक्तीकरणे नातिरिक्तं पटस्य विनाशो जायते  
 किन्तु निभक्ततन्तुसहविलक्षणोत्तरकार्यात्मैवेति तल्लक्षणः प्रायोगिकः पटविनाशः, एव मुद्गरा  
 दिना नातिरिक्तो घटादिध्वसो जन्यते, किन्तु निभक्तकपालकदम्बकाद्यात्मक एव, अतिरिक्त  
 नाशाऽदर्शनादिति विभक्तरूपालकदम्बकात्तरकार्यात्मा विनश्यमानस्य पटस्य प्रायोगिको  
 विनाशोऽभ्युपगन्तव्यः । एवमश्रेन्द्रधनुराधवयवानां विभक्ततयोत्पत्तौ विपद्यमानानामश्रेन्द्र  
 धनुरादीनां ह्यभाविको विनाशो विभक्ततत्तदवयवात्मैवाभ्युपगन्तव्य. । सरदति चात्र-  
 यदुत्पत्तौ कार्यस्यावश्य विपत्तिः सोऽस्य प्रध्वसामाव इति । ३ । ५७ ॥ यथा कपालकदम्ब-  
 कोत्पत्तौ निपमतो विपद्यमानस्य कलशस्य कपालकदम्बकमिति । ३ । ५८ । इति प्रमाणनय-  
 तत्त्वालोकालङ्कारध्वजप्रथममिति । द्वितीयध्वान्तरभावगमनलक्षणः, यथा तन्त्व एव पटरूपा  
 र्थान्तरभावेन परिणमन्त इति तन्तूनां विनाशः पटरूपार्थान्तरभावप्राप्तिलक्षणः, न चैव तर्हि  
 पूर्वावस्थाविनाशेनैवोचरावस्योत्पत्त्यभ्युपगमात् तन्त्वादिपरिणामनाशेनैव पटादिपरिणा

मोक्षपक्षः पटकाले तन्तुप्रतीतिर्न स्यात्, नष्टस्यातीतवदप्रहणादिति वाच्यम्, यत्र पटस्य ममुदिततत्तत्तन्ववयवास्ततो विमक्तास्तत्र ममुदयविभागलक्षणपटविनाशस्य यटात्मकप्रति योगिप्रतीतिविरोधित्वेऽपि यत्र विमक्तानां तन्तूनां वा सयुक्तावस्था तद्रूपपटात्मकार्यान्तर-भावलक्षणविनाशस्तेषां तत्र विमक्ततया तन्तूनां विनाशेऽपि संयुक्ततया तेषामविनाशात्तद्रूप-प्रतियोगिप्रतीत्यनिरोधित्वात्, पटकाले तन्तुप्रतीतिभावात्, एव मृत्पिण्डस्य विनाशो घट-रूपार्थान्तरभावलक्षणे विद्येयः । न चैत्र तर्हि तद्विनाशे मृत्पिण्डप्रादुर्भावप्रसक्तिः, पूर्वोत्-रावस्थयोस्त्वभावतोऽमङ्गीर्णत्वात्, वर्त्तमानकालावच्छिन्नवस्त्वन्तररूपेऽतीतकालावच्छिन्न-वस्त्वन्तरस्यापादयितुमशक्यत्वात्, अतीतस्य च वर्त्तमानत्वायोगात् । न च “ आगामाई-याण तिण्ह परपच्चओ नियमा ” इत्युक्त्याऽऽकाशादित्रयाणामुत्पादव्यययोः परनिमित्त-कत्वात्तौपचारिकौ स्यातामिति वाच्यम्, “ उप्पजेइ वा धुवेइ वा विगमेइ वा ” इति त्रिपद्या मगवतोत्पादादित्रयात्मकतया जगत्स्वरूपमविशिष्टमेवोक्तमिति परमार्थभूतोत्पाद-व्ययशून्य ध्रौव्य न च कुत्रापि सम्भवतीति यत्र परमार्थभूत ध्रौव्य तत्र नियमेन पारमा-र्थिकावुत्पादव्ययो, यथा पुद्गलजीवयोः, परमार्थभूत ध्रौव्यश्चाकाशादिषु त्रिविधे तत्रापि नियमेन पारमार्थिकौ तावम्पुपगन्तव्यौ, अन्यथा त्रिपद्या प्रतिपादित यदुत्पद्यते यद्व्येति पथ ध्रुव सत्तमदिति सल्लक्षण सिद्ध न स्यात्, सदात्मकलक्ष्यैकदेशे आकाशादावेव तदमद्गते, तत्रोत्पादव्यययोरौपचारिकत्वेनामद्रूपत्वेन भवताऽभ्युपगमात् । अथोपचारो व्यवहारमूलकः इति तत्सिद्धौ तौ तत्रेति चेद्, व्यवहार' प्रामाणिकोऽप्रामाणिको वा, आद्यधेतुर्ज्ञानापासेन तौ पारमार्थिकौ सिद्धौ, प्रामाणिकव्यवहारस्यागममूलकत्वात् । द्वितीये सल्लक्षणमाकाशादा-वव्याप्त स्यात्, तस्माद् व्यवहारतो नित्यस्याकाशादेरनित्यस्य च प्रदीपादे स्याद्वादशैल्या द्रव्यार्थिरूपर्यापार्थिकनवापेक्षया कथञ्चिन्नित्यानित्यतयैव सिद्धेस्तदपेक्षया वस्तुमात्र पारमा-र्थिकोत्पादव्ययध्रौव्ययुक्ततयैव मदित्वाकाशादित्रयमपि तद्रूपतयैव सदिति व्यवस्थितम् । स्थितिश्चाविचलितस्वरूपत्वात् विमक्ता शास्त्रकारेणेति ॥ ३४ ॥

अथाऽत्रोत्पादव्ययस्थितयः किं भिन्नकाला अभिन्नकालाश्च मन्ति न वेति चेत्, सन्तीति ब्रूम' । तथाहि-एकप्रतियोगिनिरूपितत्वेन तद्विशिष्टद्रव्यनिरूपितत्वेन चोत्पाद-व्ययस्थितानां भिन्नकालता, यथा घटोत्पादममये घटविशिष्टमृदुत्पादममये वा न तद्वि-नाशः, अनुत्पत्तिप्रसक्तेः । नापि घटविनाशममये घटविशिष्टमृद्विनाशममये वा तदुत्पत्तिः, अविनाशप्रसक्तेः । न च तत्प्रादुर्भावममय एव तत्स्थितिः, तद्रूपेणावस्थितस्यानरस्या प्रसक्त्या प्रादुर्भावाऽयोगात् । अतो द्रव्यादर्थान्तरभूतास्ताः, भिन्नकालत्वेन नानास्वमारानां तासामेकरूपरूपत्वाऽयोगात् । भिन्नप्रतियोगिनिरूपितत्वेन तद्विशिष्टद्रव्यनिरूपितत्वेन वाऽभिन्नकालता तासां, यथा कुशूलतद्विशिष्टमृदाशयतद्विशिष्टमृदुत्पाद-मृत्स्थितानाम् । अतो द्रव्यादनर्थान्तरभूतास्ताः, अभिन्नकालत्वेनैकरूपत्वादिति प्रतिपादनायाह—

तिणिण वि उप्पायाई, अभिन्नकाला य भिन्नकाला य ।

अत्थत्तरं अनत्थत्तरं च, ववियाहि णायब्बा ॥ ३५ ॥

“ तिणिण वि उप्पायाई ” त्रयोऽप्युत्पाद-विगम-स्थितिस्त्रमावाः, ते किमित्यत  
 भीई—“ अभिन्नकाला य भिन्नकाला य ” अभिन्नकालाश्च भिन्नकालाश्च, यतो यदा घटस्य  
 कम्बुग्रीवाघाकारावांस्वारिमकोत्पत्तिस्तदैव न विशकलितकर्परमावारिमका तत्प्रच्युतिः, स्वोत्प-  
 त्तिपूर्वकत्वात्स्वविनाशस्य । नापि विमक्तकर्परसहतिलक्षणोत्तरपर्यायात्मकतद्विनाशसमये तस्य  
 कपालद्वयसंयुक्तावस्थालक्षणप्राक्पर्यायात्मिका समुत्पत्तिः, तदा तदुत्पत्त्यभ्युपगमे तदानीं  
 विनाशापत्तेः, न च स्वप्रादुर्भावकाल एव स्वस्थितिः, उत्पत्तिमात्रव्यवस्र्वात्, स्वैस्वरूपेणा-  
 पस्विन्नवस्थानवस्थाप्रसक्तितः प्रादुर्भावाऽयोगाच्च, न च घटरूपमृत्स्थितिकाले तस्या विनाशः,  
 तद्रूपेणावस्थितस्य विनाशाऽनुपपत्तेः, न च घटविनाशनिश्चिष्टमृत्काले घटविशिष्टाया एव मृदं  
 उत्पादः, नापि तदुत्पादविशिष्टमृत्समये तस्या एव मृदो ध्वसः, अनुत्पत्तिप्रसक्तेः, इत्येवंके-  
 प्रतियोगिनिरूपितत्वेन तद्विशिष्टद्रव्यनिरूपितत्वेन बोत्पादादित्रयः परम्परतो भिन्नकालाः,  
 घटोत्पादसमये घटविनाशस्य घटविनाशसमये घटोत्पादस्य तदुत्पादविनाशयोर्हत्पत्ति  
 विनाशानवच्छिन्नकालसम्बन्धरूपायास्तस्मिन्घटविनाशविशिष्टघटरूपमृत्स्थित्योर्वा विरोधेन  
 परस्परान्नात्मकत्वात् । अत एवान्योन्यव्यतिरिक्तकालोत्पादविनाशस्थित्यव्यतिरिक्तद्रव्य-  
 स्वैकत्वाऽयोगात् तदुद्भव्य नानास्वभावम् । भिन्नप्रतियोगिनिरूपितत्वेन तद्विशिष्टद्रव्य-  
 निरूपितत्वेन बोत्पादादित्रयोऽभिन्नकालाश्च, तथाहि—कुशलाघात्मकपूर्वपर्यायस्तद्विशिष्टमृदा  
 यदैन विलीयते तदैव घटाघात्मकोत्तरपर्यायस्तद्विशिष्टमृद्वोत्पद्यते, यतो न हि पूर्वपर्याय  
 विनाशोत्तरपर्यायोत्पादयोः पूर्वपर्यायविशिष्टद्रव्यनाशोत्तरपर्यायविशिष्टद्रव्योत्पादयोर्वा भिन्न  
 कालता दृश्यते, यदि च पूर्वस्य विनाशकालोऽन्यस्स्यात् उत्तरस्योत्पादकालोऽन्यस्स्यात्  
 तदा प्राक्तन विनष्टमृत्तरमनुत्पन्नम्, तथाऽभ्युपगमे च पूर्वस्य तस्मिन् क्षणे विनाशादेवोत्तरस्य  
 चानुत्पादादेव न सत्त्वम्, ध्वमानुत्पादयोस्तदानीं सत्त्वेऽप्यमावरूपत्वेन तुच्छत्वादेव न  
 वस्तुत्वमिति वस्तुशून्यस्त कालस्स्यात्, मवत्त्वेवमिति चेत्, तद्युत्तर निष्कारणमृत्पद्येत,  
 र्धसस्य तुच्छत्वेन जनकत्वामायात्, अव्यवहितपूर्वक्षणे वस्तुमावाच्च, एतेन ननु बल-  
 वत्पुरुषप्रेरितमृत्तरामिघाताद् घटावयवेषु क्रियोत्पत्तिः, ततोऽव्ययविमागाः, तत आरम्भक  
 सपीगनाशः, तेन च घटविनाशः, कपालस्तु विद्यत एव, तद्विनाऽपि तदवयवा विद्यन्त एव, न तु  
 तदुत्पाद इति तयोरेकस्मादेतोरभावान्न घटविनाशात्मा कपालोत्पाद इति निरस्तम्, अस्य  
 विनाशोत्पादकारणप्रक्रियोद्घोषणस्याप्रातीतिकत्वात्, बलवत्पुरुषप्रेरितमृत्तरादिव्यापारादेव  
 घटविनाशकपालोत्पादयोरनलोकनात्, मृत्तरव्यापारेण घटो विनष्टः कपालधोत्पन्न इति  
 प्रतीतेः, तस्मात्पूर्वोत्तरपर्यायविनाशोत्पादावभिन्नकालौ, ते च पूर्वोत्तरपर्यायविनाशोत्पत्ति  
 क्रिये निराधारे न सम्भवत इति तदाधारभूतद्रव्यस्थितिरपि तदाऽभ्युपगन्तव्याः, इत्थं

मिन्नप्रतियोगिकानामुत्पादादिप्रपाणामभिन्नकालत्वेनैकरूपत्वात्तदभिन्नं द्रव्यमेकस्वभावञ्च न नानास्वभावम्, अत एवोत्पादादयस्त्रयोऽपि द्रव्यादर्थान्तरमनर्थान्तरञ्च, उत्पादादित्रिम्यो वा द्रव्यमर्थान्तरमनर्थान्तरञ्चेत्याह—“ अत्यन्तरं अनत्यन्तरं च दधियाहि णायथा ” इति । अथ प्रमाणाधीना प्रमेयसिद्धिरित्युत्पादादयस्त्रयोऽप्येककाला विभिन्नकालाश्चेत्यत्र किं प्रमाणमिति चेत्, उच्यते, तत्रोत्पादविनाशयोरेककालतायां सिपाघयिपितायां उत्पादविनाशौ परस्परमेककालौ स्वात्मत्वाऽपृथग्भूतत्वात्, एकक्षणवर्षेकरूपवदित्यनुमानमेव प्रमाणम्, न चात्र हेतुस्वरूपासिद्धिः, यतो न हि उत्पादविनाशयोः स्वात्मा भिद्यते, यथैकस्मिन्नेकक्षणमर्त्तिनि रूपे विमागामायात् स्वात्मलामकाल एवैकः कालो नान्य समस्ति, यथैककाल न भवति तदेकपि नियमेन न भवति, यथा गवाश्वयोर्जन्मविनाशविति । एव ध्रौव्यात्मकस्य द्रव्यस्योत्पादविनाशाभ्यां महाभिन्नकालत्वसाधनाय ध्रौव्यात्मक द्रव्यमुत्पादविनाशकैककाल स्वात्मत्वापृथग्भूतत्वादित्यनुमानम्, उत्पादविनाशयोर्द्रव्येण सहाभिन्नकालत्वसाधनाय उत्पादविनाशौ द्रव्यैककालौ स्वात्मत्वाऽपृथग्भूतत्वादित्यनुमानञ्चानुसन्धेयम्, उभयत्रैकक्षणवर्षेकरूपवदवेति दृष्टान्तो वाच्यः, न च सिद्धमाधनादुक्तानुमानानवतार इत्याशङ्क्यम्, एकान्तवादिभिस्तथा भिन्नकालतया विभिन्नतयैव चैकान्तेनाभ्युपगमेन तान् प्रत्येवोक्तानुमानप्रयोगात् । नन्वेव सत्पुक्तहेतोरस्वरूपासिद्धिदोषोपेतत्वमेव, एकान्तवादिमिरुत्पादविनाशयोः परस्परं ध्रौव्यात्मकद्रव्यस्यापि च ताभ्यां सह, तयोश्च द्रव्येण सह स्वात्मत्वाऽपृथग्भावस्थानङ्गीकारादित्यपि न चाशङ्कनीयम् । यदेव सर्पद्रव्यमुत्फणाकारेणोत्पद्यते तदेव च विफणाकारेण विनश्यति तदेव शोत्फणाकारविफणाद्याकारानुगतोर्घातामामान्यस्वरूपेण ध्रुवमिति य एव सर्पद्रव्यात्मा पूर्वं विफणाकारेणाऽऽसीत् न एवोत्फणाकारेणोत्पन्नोऽस्तीति सर्पद्रव्यात्मैवोभयाकारः, यतो न हि विफणाकारकाले यस्मर्पद्रव्यात्मा न नोत्फणाकारकाले, अनुभवविरोधात् । अत एव वस्तुमात्रं न कालद्रव्यरूपम्, उत्पादव्ययरूपपर्यायस्वरूपत्वस्यापि सत्र सद्भावात्, नापि केवलोत्पादव्ययरूपपर्यायैकरूप, पूर्वापरपर्यायानुस्यूतध्रौव्यात्मकद्रव्यस्वभावत्वस्यापि सद्भावात्, किन्त्वविमक्तद्रव्यपर्यायोभयससर्गात्मकत्वाद् जात्यन्तरेण, अत एव “प्रत्येक यो भवेदोषो द्वयोर्भावे कथं न सः” इति न दोषापत्तिरपि । उक्तञ्च—

“ नान्वयो भेदरूपत्वात् न मेदोऽन्वयरूपतः ।

मृद्देद्वयससर्ग-वृत्तिर्जात्यन्तरं घटः ॥ १ ॥ ” इति

तथा च सर्पस्यापि प्रमाणार्पणया परस्परानुस्यूतद्रव्यपर्यायोभयरूपेण परस्परमाकाङ्क्षोत्पादव्ययध्रौव्यात्मकत्वमिति तदभिन्नाभिन्नस्य तदभिन्नत्वमिति नियमेन विफणाकाराभिन्नसर्पद्रव्याभिन्नस्योत्फणाकारस्य विफणाकाराऽभिन्नत्व ततश्च स्वात्मत्वाऽपृथग्भावं उभयावस्थस्य सर्पस्य सिद्ध इति हेतोर्न स्वरूपासिद्धिदोष इत्युक्तहेतुनैककालत्वमिदौ ततोऽनर्थान्तरताऽप्युत्पादविनाशयोस्मिन्नस्यैव,



अनर्थात्, विनाशेन महोत्पादस्यैककालत्वात्, यावेककालौ तावन्तर्धन्तरम्, यथैकक्षणवर्तिरूपम्, एककालौ चोत्पादविनाशप्रति तावन्तर्धन्तरमिति, एवमेव ध्रुवोत्पादध्रुवविनाशात्मकद्वयेऽनर्थात्तरता भावनीया, उक्तद्वैतकदृष्टान्तबलादेव, यथा चोत्पादादीनामभिन्नकालतरमनर्थात्तरत्वञ्च, तथैव घट उत्पद्य कञ्चित्काल स्थित्वा विनश्यतीत्यतो भिन्नकालत्वमत एवार्थात्तरत्वञ्च भावनीयम् । अनुमानप्रयोगश्चात्र एकप्रतियोगिनिरूपिता उत्पादादयो नान्योन्यमेकतां विभ्रति, अत्यन्तप्रयुग्भूतस्वरूपत्वादत्यन्तभिन्नकालत्वाच्च घटव्योमादिवत् । एवमुत्पादादयोऽर्थात्तर मिथस्सलक्षणभेदात् घटपटादिवदित्यप्यनुमानं ज्ञेयम् । एव भिन्नाभिन्नकालतोत्पादादीनामर्थात्तरताऽनर्थात्तरता च स्याद्वादप्रक्रियायां सकलप्रमाणाऽविरोधिनी सिद्धिकोटिमुपबोद्धते, न त्वेकान्तवादप्रक्रियायाम्, तत्रोत्पादादिव्यपणां तत्र च भिन्नाभिन्नकालत्वादनभ्युपगमादिति भावः ॥ ३५ ॥

उक्तार्थस्पष्टीकरणार्थमेव प्रत्यक्षप्रतीतमुदाहरण प्रतिपादयितुं धरिराह—

जो आउचणकालो, सो चेव पसारियस्स वि ण जुत्तो ।

तेसिं पुण पडिवत्ती-विगमे कालंतरं नत्थि ॥ ३६ ॥

‘ जो आउचणकालो ’ अङ्गुल्यादेर्द्रव्यस्य य आकुञ्चनकालः “ सो चेव पसारियस्स वि ण जुत्तो ” स एव प्रसारितस्यापि न युक्तः, अङ्गुल्यादेः प्रसारणस्यापि स एव कालो न युक्त इत्यर्थः । यदैवाङ्गुलिः आकुच्यते न तदैव प्रसार्यते, यदैव च सा प्रसार्यते न तदैवाकुच्यते, किन्तु भिन्नकाल एवेत्यङ्गुल्यादिद्रव्यस्याकुञ्चनात्मकपूर्वपर्यायविनाशकाल एव प्रसारणात्मकोत्तरपर्यायोत्पत्तेः तयोः पूर्वोत्तरपर्याययोर्भिन्नकालावच्छेदेनैव प्रतीतेर्भेदः, अत एव भिन्नकालः, अन्यथा तयोर्मङ्गीर्णतापर्याया स्त्रीयामाधारणस्वरूप परिव्यक्त स्यात् । कथञ्चित्तत्पर्यायाऽभिन्नस्याङ्गुल्यादिद्रव्यस्यापि पूर्वोत्तरपर्यायविशिष्टतया भिन्नस्वभावत्वात् तदपि भिन्नमभ्युपगन्तव्यम्, यतो न हि भिन्नस्वभावमभिन्नरूप युक्तम्, स्वभावभेदेनैव कथञ्चिद्भेदाभ्युपगमात् । आकुञ्चनप्रसारणपर्याययोस्तद्विशिष्टद्रव्यस्य च भिन्नकालत्वमत एव भिन्नत्व पूर्वोद्धेन प्रतिपाद्याङ्गुलिद्रव्यमेव प्रसारणभावमवलम्ब्यमानमाकुञ्चनभावेन यदैव विनष्ट तदैव प्रसारणभावेनोत्पन्नमङ्गुलित्वेन मामान्यात्मनाऽवस्थितमित्याकुञ्चनात्मकपूर्वपर्यायविनाशप्रसारणात्मकोत्तरपर्यायोत्पादाङ्गुलि-वावच्छिन्नाङ्गुलिद्रव्यावस्थितानामभिन्नकालतामत एवाऽभिन्नरूपता प्रतिपादयितुमुच्यते—‘ तेसिं पुण पडिवत्तीविगमे ’ ‘ तयोः पुनः प्रतिपत्तिविगमे ’ प्रतिपत्तिश्च विगमश्च प्रतिपत्तिविगमौ, अनयोस्समाहारः प्रतिपत्ति-विगम, तस्मिन्, प्रतिपत्ति-प्रादुर्भावः, विगमो-विनाशः, प्रसारणात्मकोत्तरपर्यायस्योत्पत्तिः आकुञ्चनात्मकपूर्वपर्यायस्य विघ्नसः तत्र, ‘ कालतरं नत्थि ’ कालान्तरं भिन्नकालत्व नास्ति । आकुञ्चनात्मकपूर्वपर्यायविनाशप्रसारणात्मकोत्तरपर्यायोत्पत्त्यङ्गुलिद्रव्यावस्थितानामभिन्नका

लता अत एवाऽभिन्नरूपता च प्रतीयते, आकुञ्चनादिपूर्वपर्यायरूपेण परिणतमेवाकुलिद्रव्यमाकुञ्चनादिपूर्वपरिणामपरित्यागकाल एव प्रसारणाद्यात्मकोत्तरपर्यायरूपेण परिणमत इत्येकस्यैव द्रव्यस्य तथापरिणामात्मकस्य यैवाकुलि, पूर्वमाकुञ्चिता सैव प्रसारितेति प्रत्यभिज्ञाप्रमाणतः प्रतीतेः । एतेन ये क्षणिकान् पदार्थानभ्युपयन्ति त एव प्रतिपादयन्ति—उत्पत्तिसमनन्तरमेव स्वभावतो विलीयन्त, न द्वैतमपेक्षन्ते घ्वसमानाः, स्वात्मलामक्षणानन्तरं क्षण-क्षण उच्यते, निरुक्तविधानात्, तद्योगात् क्षणिकमिति । तथा चोक्तम्—

क्षणो चाचेह नैरुक्तै रूत्पत्त्यनन्तर क्षयः ।

निर्हेतुः सोऽनपेक्षत्वात्, तद्योगात् क्षणिक मतम् ॥ १ ॥ इति ।

यथा पयःप्रदीपादयः प्रतिक्षणमन्ये चान्ये चोत्पद्यन्ते निरवशेषपूर्वनाशममकालम्, एवमन्येऽपि महीघ्रादयः इति, तन्मतमपास्तम्, पयःप्रदीपादिषु परिणाममात्रस्यैव सद्भावेन सर्वथाऽन्यथात्वाभावात्, पूर्वोत्तरपर्यायानुगतोर्ध्वतासामान्यारूपद्रव्य स्वजातपनुच्छेदेनैव कञ्चित्पूर्वपर्याय परित्यज्य पर्यायान्तरमुपादत्ते, पुद्गलत्वचैतन्यनात्यनुच्छेदेन तस्य तस्य तथाभावः परिणामः, सोऽन्यत्वबुद्धेः कारणम्, उत्फणविफणाकुण्डलप्रसारणाद्यनेकावस्थसर्पषडेकमन्ययि यद्द्रव्यं तत्परिणमते, न तु सर्वथा पूर्वोच्छेदेनान्य उत्पद्यत इति, इत्यञ्च ये यद्भावं प्रत्यनपेक्षास्ते तद्भावनियता, यथान्त्या कारणसामग्री स्वकार्योत्पादन प्रति, विनाशप्रत्यनपेक्षाश्च भावा इति विनाशनियतास्ते इति परेषा भौद्धानामभिधानमपि न प्रकृतषाकम्, प्रत्युतानुकूलमेव, भावस्योत्तरपरिणाम प्रत्यनपेक्षतया तद्भावनियतस्वीपपत्तेः, पूर्वोत्तरपरिणामान्वयिद्रव्यगतपूर्वपरिणामस्य स्वयमेवोत्तरपरिणामी भवत उत्तरपरिणाम प्रत्यपरापेक्षाऽभावात्तस्त प्रतिक्षेपायोगात्, तथा च नैकान्तक्षणिकत्व युक्तम् । नन्वेव तर्हि जलोर्मिव दुत्पादव्ययादिविकाराः काल्पनिका एवेति कूटस्थमेव नित्य द्रव्यमस्त्विति चेत्, मैव वद, यतो जलोर्मयोऽपि नैव काल्पनिका, तेषा प्रेक्षादक्षैरपि प्रत्यक्षप्रमाणेनानुभूयमानत्वेन वस्तु, भूतत्वात्, ततो जले पूर्वापरोर्मय इव पूर्वापरपर्यायानुगतप्रतीतिविषयीभूतद्रव्ये पूर्वापरस्वपर्यायाः प्रतिक्षण विनश्यन्ति मधुत्पद्यन्त च । तदुक्तम्—

अनाद्यनिघने द्रव्ये, स्वपर्यायाः प्रतिक्षणम् ।

उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति, जलकल्लोलवज्जले ॥ १ ॥ इति ।

तदेव पूर्वापरोर्मिभावेन जलमेव यथा परिणमत, तथैव तत्तद्द्रव्यमेव पूर्वापरपर्यायरूपेण परिणमत इति परिणामज्ञाद एव न्याययुक्तः, उत्पादविनाशादिविकाराणां काल्पनिकत्वे प्रमाणाभावात्, प्रेक्षानिर्धार्यार्थतयैव ग्रहणात्, न चोत्पादादिप्रयाणा विरोधः, पर्यायत्वावच्छेदेनोत्पादव्यययोर्द्रव्यत्वावच्छेदेन ध्रौव्यस्य चाविरोधात्, अन्यथा गोत्वा-

वच्छेदेन गव्यश्चमेदस्य ब्रह्मत्वावच्छेदेन तदमेदस्य चाविरोध औपनिषदाभिमतोऽपि कथ  
स्यादिति भावः ॥ ३६ ॥

अथ यथा भिन्ननिरूपितानामुत्पादादिप्रयाणामेककालीनानामेकद्रव्याभिव्यानां परस्पर  
स्वरूपत्वमिति हेतोस्तदन्तर्गत प्रत्येकमेकैक रूपमुत्पादादित्रयात्मकम्, अन्यथा तद-  
सत्त्वापत्त्या वस्तु अनेकान्तात्मकम्, उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकसल्लक्षणशालित्वात्, यत्रैव तत्रैवम्,  
वियत्कृमुमवदित्यनुमाने वस्त्वात्मरूपक्षैकदेशे उत्पादे व्यये ध्रौव्ये चैकैकस्मिन् हेतोरभावेन  
भागासिद्धिस्स्यात्, तथा भूतवर्चमानमप्रिष्यत्कालत्रययोगेनाप्येकैक रूप त्रिकालतामासाद-  
यतीति प्रतिपादयितुमाह—

उत्पन्नमाणकाल उत्पण्ण ति विगद्य विगच्छत ।

दविय पण्णवयतो तिकालविसय विसेसेइ ॥ ३७ ॥

‘ उत्पन्नमाणकाल ’ उत्पद्यमानकालमित्यनेनाद्यसमवादारभ्योत्पत्त्यन्तसमय चाव  
दुत्पद्यमानत्वस्येत्त्वाद्बर्चमानमविष्यत्कालत्रिपय द्रव्यमुक्तम्, ‘ उत्पण्ण ’ उत्पन्नमित्यनेन  
त्वतीतकालविषयम्, एव ‘ विगद्य ’ त्रिगतमित्यनेनातीतकालविषय, ‘ विगच्छत ’ विगच्छ-  
दित्यनेन च वर्चमानमप्रिष्यत्कालविषय द्रव्यमुक्तम्, ततश्चोत्पद्यमानमुत्पन्न विगत विगच्छत्  
“ दवियं पण्णवयतो ” द्रव्य प्रज्ञापयन् प्रज्ञस्तद् ‘ विसेसेइ ’ विशेषयति विशिनष्टि, कथं ?  
‘ तिकालविसय ’ त्रिकालविषय यथा भवतीत्येव गार्थार्थः । भावार्थस्त्वयम्—यद्यपि निश्चय-  
नयेनैकस्मिन्नेव कार्योत्पत्त्यनुकूलव्यापारान्त्यसमये कार्योत्पत्तिरिति स एव कार्योत्पत्तिकालः  
“ भूतिर्येषां क्रिया सैव कारण सैव चोच्यते ” इति वचनात्, तथापि व्यवहारनयेन दीर्घः  
क्रियाकाल आशिककार्यक्षणकोटिविषयोऽभ्युपगतः, तथा च तस्मिन् दीर्घे कार्योत्पत्तिकाले  
विवक्षितकार्यस्य यस्मिन् ममये वर्चमानपर्यायोत्पत्तिस्तस्मिन्नेव समयेस्तीतपर्यायविनाशः,  
विनाशपूर्वकत्वादुत्पत्तेः, उत्पत्तिनिनाशक्रिये निराधारे न सम्भवत इति तदाधारद्रव्य  
स्थितिरपि तदाऽभ्युपगन्तव्येत्येवमभिन्नकालानामुत्पादादिप्रयाणा प्रत्येकमेकधर्मिससर्गि  
तथा त्रैकाल्य तेन नयेन प्रतिपाद्यते, तथाहि—पट उत्पद्यमानकाले प्रथमतन्तुप्रवेशे  
उत्पद्यमान एव किञ्चिदशेनोत्पन्नो भवति तत्रोत्पद्यमानत्व तस्य प्रथमतन्तुप्रवेशकालादारभ्य  
पट उत्पद्यत इत्येव व्यवहारदर्शनात्प्रसिद्धमेव, उत्पन्नत्व तूपपत्त्या प्रसाध्यते, तथाहि—  
उत्पद्यमानः पटः प्रथमतन्तुप्रवेशकालावच्छेदेन किञ्चिदशेन नोत्पन्नश्चेत्तदाऽऽद्यक्रियाया  
चैपश्ये स्यात्, यथा चाद्यक्रियया नोत्पन्नस्तथैवोत्तरक्षणेऽप्युत्तरक्रियाभिर्नोत्पन्नस्स्यात्,  
को ह्युत्तरक्षणाक्रियाणां विशेषो ? येन प्रथमया नोत्पन्नस्तद्दुचरामिस्तुत्पत्त्यते, अतः सर्व  
देषानुत्पत्तिप्रसङ्गः, दृष्टा चोत्पत्तिः, अन्वयतन्तुप्रवेशे पटस्य दर्शनात् । न च तन्तुसयोग  
स्यैव पटत्वावच्छिन्न प्रत्यसमवायिकारणत्वात्तन्तुक्रियया तन्तुद्रव्यसयोगे द्वितन्तुकपटोत्पत्तिः,

तत्र च तन्वन्तरसयोगे त्रितन्तुकादिपटक्रमेणान्त्यतन्तुसयोगे सत्येव महापटोत्पत्तिरिति नोक्तं युक्तमिति वाच्यम्, समवायसम्बन्धस्य सखण्डकारणत्वस्य च निषिद्धत्वेन समवायस्य समवायिनिमित्तकारणेभ्यस्त्रिभ्यः कार्योत्पत्तिरिति गौतमीयप्रवादस्याश्रद्धेयत्वेन प्राक्प्रतिपादनात् शक्तिरेव कार्योत्पादिकेति प्रथमतन्तुप्रवेशकालेऽप्यशतस्माऽस्त्येवेत्युत्पद्यमानमपि पटद्रव्यं तद्रूपकारणवशात्तदानीं किञ्चिदशेनोत्पन्नमित्यभ्युपगन्तव्यम्, सन्नति चैनमर्थं “चलमाणे चलि ए जाव निज्जरमाणे निज्जिण्णे” इति मग्नद्रव्यम् । यथा चोत्पद्यमानपटादिद्रव्यं प्रथमतन्तुप्रवेशमये किञ्चिदशेनोत्पन्नं तथैव द्वितीयतृतीयादितन्तुप्रवेशसमयेऽप्यपरापरांशेनैवोत्पन्नमभ्युपगन्तव्यम्, नोत्पन्नांशेनैव, तथा सति तस्मिन्नेव कार्यांशे द्वितीयतृतीयादिमयभारितन्तुक्रियाव्यापाराणां व्यग्रतया तैरपूर्वापूर्वांशेन कार्योत्पत्तिर्न स्यादित्यशेषाश्विशिष्टपटादिकार्योत्पत्तिः कदापि न स्यादिति प्रथमतन्तुप्रवेशादारभ्यान्त्यतन्तुसयोगावधिपारत्रयन्धेनोत्पद्यमानं तत्तदशेनोत्पन्नम्, तदेव चामिषेत्ररूपतयोत्पत्त्यस्ये इत्युत्पद्यमानमुत्पन्नमुत्पत्त्यमानञ्च भवति । एवमुत्पन्नमप्युत्पद्यमानमुत्पत्त्यमानञ्च तथैवोत्पत्त्यमानमप्युत्पन्नमानमुत्पन्नञ्च ज्ञातव्यमित्येवमेकैकमुत्पन्नादिकालत्रयेण त्रैकाल्यं यथा प्रतिपद्यते तथा विगच्छदादिकालत्रयेणाप्युत्पद्यमानादिरकैककक्षीकाल्यं प्रतिपद्यते, तथाहि—यद् यदैरोत्पद्यमानं तत्तदैव किञ्चिदशेन विगतं विगच्छद् विगमिष्यच्च, एव यदेव यदैरोत्पन्नं तदैव तदपि विगतादिकालत्रयस्यार्थं ज्ञेयम् । एवमेवोत्पत्त्यमानमपि द्रव्यं तथैव तद्रूपं ज्ञेयम् । एवमेवोत्पन्नोत्पद्यमानोत्पत्त्यमानमेदा प्रत्येकशो विगतविगच्छद् विगमिष्यद्रूपैरिव स्थिततिष्ठन्स्थास्यद्रूपैरपि सप्रभेदा ज्ञेयाः, एव स्थितिप्रिगमावपि कालत्रयस्यार्थं त्रिलक्षणयोगेनोत्पत्तिप्रणालिक्रया सप्रभेदौ प्रिज्ञातव्याविति, न चैते भेदाः कल्पनामाप्रनिर्मितवपुषो, निपुण निरूपणे प्रजावद्भिः परमार्थस्वरूपतयैव सर्वेषामेवाकलनात् । यत्तु वर्त्तमानप्रागभावप्रतियोगित्वं मत्रिभ्यश्च वर्त्तमानञ्चसप्रतियोगित्वं चातीतत्वमिति न वर्त्तमानक्रियाकाले कालत्रयवाचिप्रत्ययप्रयोगमभवत् इति नैयायिकादीनां मतम्, तत्स्थूलव्यवहारैकान्तामिनिवेशविजृम्भितम्, नयत्रिशेषेणैकदा त्रैकाल्यस्पर्शस्य सर्वसम्मतत्वात्, अन्यथोत्पत्तिकाले उत्पन्नोऽप्यमिति प्रत्ययस्य भ्रान्तत्वापत्तेः, मागुदायिकोत्पादे स्थूलकालमाविनि ऐकत्विकोत्पादानां सूक्ष्मकालस्पर्शना त्रैकाल्यस्पर्शं तु न काचिदनुपपत्तिः, तस्माद्वर्त्तमानक्रियाकाले कालस्य स्थूलसूक्ष्मत्वाभ्यां त्रैकाल्यं नयत्रिशेषेण यौक्तिकमेवेति सिद्धा यथोक्तमङ्गाः । सैद्धान्तिकास्तु क्रियाकालनिष्ठाकालयोरभेदात्समागमन्ततिपतिततया निष्ठामविष्यत्तयोः समावेशाच्चैकक्षणेऽपि कालत्रयवाचिप्रत्ययार्थाऽत्रिरोद्यमादिशन्ति । तदेव सर्वं रेभिर्धर्मैस्त्रिकालस्पर्शैर्मिरयिनाभूतं द्रव्यं प्रज्ञापयस्त्रिकालत्रियं विशेषयति, अनेन प्रकारेण त्रिकालत्रियं द्रव्यस्वरूपं प्रतिपादयद्वाक्यं प्रमाणम्, तद्व्यतिरिक्तं तु वाक्यमप्रमाणम्,



अन्यप्रकारस्य द्रव्यस्याभावात्, अत्र व्यवहारनयाऽभिमते दीर्घे कार्योत्पत्तिकालेऽभिन्न कालानां तदुत्पत्तिनाशस्थितीनां प्रत्येक कालत्रयस्पर्शत्रिलक्षणयोगेन सप्तविंशतिर्भङ्गाः, भिन्न कालानां च कालत्रययोगेन सप्तविंशतेस्त्रिधा गुणने एकाशीतिर्भङ्गा यथा भवन्ति तथा—  
“यद्गृह्यते तदिह वस्तु गृहीतमेव, तद्गृह्यते च न च यत्तु गृहीतमास्ते ।

इत्थं भिदामपि स किं न विदां करोतु, य पाठितो भवति लक्षणभङ्गजालम् ॥५४॥

इति श्लोकटीकायामस्मत्कृतमहावीरस्तवकल्पलतिकारण्याया प्रदर्शिता इति भङ्गजाल जिज्ञासुभिस्तत एव ते वेदितव्याः । अत्र ग्रन्थगौरवमीत्या न प्रतन्यन्त इति ॥ ३७ ॥

नन्वर्थान्तरगमनलक्षणस्य विनाशस्य विभागजस्य चोत्पादस्यासम्भवात् तद्द्रव्याभावे स्थितेरप्यभावात् तत्रैकारण्यं दूरोत्सारितमेवेति मन्यमानान् वादिनः प्रति तदभ्युपगमप्रदर्शन पूर्वकमाह—

द्वयंतरसजोगाहि केचि दवियस्त वेति उप्पाय ।

उपायत्याऽङ्कुसला विभागजायं ण इच्छति ॥ ३८ ॥

सयोगानां द्रव्यम् । अ. १, आ १, सू० २८ । इति वैशेषिकसूत्रस्य निस्स्पर्शानां द्रव्याणामन्त्यावयविनां च विजातीयद्रव्याणां च ये सयोगास्तान् निहाय बहूनां तत्तत्तन्वादिसयोगानां पटादिरूपमेक द्रव्यं कार्यम्, अर्थात् अनेकेभ्यस्तत्तत्जातीयतन्वादि-सयोगेभ्य एक पटादिकार्यमुत्पद्यत इत्यर्थकस्य बलाद्वैशेषिकादयो यथा कार्यद्रव्योत्पाद व्यावर्णयन्ति तथा प्रदर्शयितुं पूर्वाद्धिमाह—“द्वयंतरसजोगाहि केचि दवियस्त वेति उप्पाय ” ‘केचि’ केचिद्वैशेषिकनैयायिकादयः. ‘दवियस्त’ पटादिकार्यद्रव्यस्य ‘द्वयंतरसजोगाहि’ द्रव्यान्तरसयोगैः, तन्मतेऽवयवावयविनोर्भेदात्स्वभिन्नस्वीयावयवभूत तन्वादिसयोगैरनेकैः, अथवा तन्मते सजातीयात्सजातीयोत्पत्त्यभ्युपगमात् पृथिवीत्वेन सजातीयैस्तत्तत्तन्वाद्यवयवात्मकद्रव्यान्तरैस्तदन्यतन्वाद्यवयवलक्षणद्रव्यान्तराणां सयोगैरममवायिकारणभूतैः तत्तन्निमित्तमहकृतैस्ममवायिकारणे ‘उप्पाय वेति’ कार्यद्रव्योत्पादं घटते, अवयविकार्यद्रव्यं निमित्तकारणाऽममवायिकारणसमवायिकारणत्रयेभ्य उत्पद्यत इति षदन्ति, द्वयोस्तन्त्वोत्सयोगेनापि तत्तन्निमित्तसहकृतेन द्वितन्तुकपटस्य तन्ती, कपालद्रव्यसयोगेनापि च कपाले समवायिकारणे घटस्योत्पादाभ्युपगमात्तदुपलक्षकमेतत्, ते चोत्पादनिषपकथार्थज्ञानाः किं वा नेत्यारेकापामाह—‘उपायत्याऽङ्कुसला’ उत्पादार्थाऽङ्कुसला उत्पादार्थानभिज्ञाः, ‘विभागजायं ण इच्छन्ति’ विभागजातमुत्पादं नेच्छन्ति—नाभ्युपयन्ति, आरम्भकसयोगस्यैव कार्यद्रव्यासमवायिकारणत्वेन तैरभ्युपगमात्तद्रूपकारणाभावादिति भावः ॥ ३८ ॥

नन्ववयवसयोगेनैव कार्यद्रव्यस्योत्पादो भवति न तु विभागेन इत्यमभ्युपगन्तारो वैशेषिकनैयायिकादय कुत उत्पादार्थं नाभिजानन्तीत्याशङ्कामाह—

अणु दुअणुएहिं दवे आरद्धे तिअणुपति ववएसो ।

तत्तो य पुण विभत्तो अणुत्ति जाओ अणू होइ ॥ ३९ ॥

‘दुअणुएहिं दवे आरद्धे’ द्वौ चाणुकौ च द्व्यणुकौ ताभ्यां, द्वाभ्यां परमाणुभ्यां ‘आरद्धे दवे’ आरब्धे द्रव्ये कार्यद्रव्ये ‘अणु’ इत्यस्य “येन यस्याभिमन्वन्धो दूरस्थ स्यापि तस्य स” इति न्यायेन “इति ववएसो” इत्यनेन सम्बन्धात् अणुरिति व्यपदेशः, परमाणुद्वयारब्धे अणुके परमाणुद्वयगतद्वित्वसङ्ख्याजन्याऽणुपरिमाणस्यैव मद्भावात् । त्रिमिद्वर्णुकरारब्धे द्रव्ये “तिअणुत्ति ववएसो” अणुकमिति व्यपदेशः, अणुके च अणुकत्रयगतबहुत्वसङ्ख्यया महत्त्वपरिमाणमुत्पद्यते, अन्यथा तत्प्रत्यक्षमेव न स्यात्, बहिरिन्द्रियजन्यद्रव्यप्रत्यक्ष प्रति महत्त्वस्योद्भूतरूपवचस्य च कारणत्वात् । अयमत्र भावः— नैयायिकमते “महत्त्वात् परिमाणाच्च प्रचयादपि जायते” इत्युक्तेरनित्यपरिमाण त्रिधो त्यद्यते, तत्र परमाणुगतद्वित्वसङ्ख्यातो अणुकेऽणुपरिमाणमुत्पद्यते, न तु परमाणुपरिमाणतः, एव त्रसरेणुपरिमाणमपि न अणुरूपपरिमाणत उत्पद्यते, यतः परिमाणस्य स्वसमानजातीयोत्कृष्टपरिमाणजनकत्वनियमाद् अणुकस्याणुपरिमाण तु परमाणुणुत्वापेक्षया नोत्कृष्टम्, त्रसरेणुपरिमाण तु न द्व्यणुकपरिमाणसजातीयम्, अतः परमाणुगतद्वित्वमहत्त्वात् अणुकपरिमाणस्य अणुकगतत्रित्वसङ्ख्या च त्रसरेणुपरिमाणस्यामववायिकारणम्, अत एव त्रिमिद्वर्णुमिर्वा पञ्चमिर्वा परमाणुमिर्वा क्रिपयणुपरिमाण कार्यद्रव्यमारभ्यते, कारणगत बहुत्वसङ्ख्यया महत्त्वपरिमाणोत्पत्त्यभ्युपगमात्, सवदति चात्र “कारणबहुत्वाच्च” ७ अ० १ आ० ९ सू० इति वैशेषिकसूत्रम्, एतत्प्रकरणकारेणापीत्येव सूचयितुं “अणु दुअणुएहिं दवे आरद्धे” इत्युक्तम् । द्वाभ्यां तन्तुभ्यामप्रचिताभ्यामारब्धे पटे केवल महत्त्वमेवामववायिकारणम्, बहुत्वप्रचययोस्तत्रामावात्, यत्र द्वाभ्यां तूलपिण्डाभ्यां तूलपिण्डारम्भस्तत्र परिमाणोत्कर्षदर्शनात् शिथिलमपोगलक्षणप्रचयः कारणम्, बहुत्वस्याभावात्, महत्त्वस्य सत्त्वेऽपि परिमाणोत्कर्षे प्रत्यप्रयोजकत्वान् । एव च सति यदि महत्त्व तत्र कारण तदा न दोषः । तदुक्तं “द्वाभ्यामेकन सर्वैर्वा” इति । इत्य नैयायिको वैशेषिकश्च अणुकत्रमरेण्वादिकार्यद्रव्यस्य तत्र परिमाणस्य चोत्पत्तिप्रक्रियां निरूपयन्तारऽप्रेक्षितवस्तुयाथात्म्यतया स्वीयाज्ञतां व्यञ्जयतः, यतो न अणुक केवल द्वयोः परमाण्वोः सयोगे सत्यन्योन्याश्लेषपरिणामलक्षणसङ्घातादुत्पद्यते, किन्तु यस्मिन्नेव समये अणुकस्वरूपादेकोऽणुभिद्यते तस्मिन्नेव समयेऽपरस्मद्ग्रहणत इत्येवमेकमामायिकाम्भ्यां सङ्घातमेदाम्भ्यामप्युत्पद्यते तत्, एव पर्यन्तवर्तिस्करूपादेकद्रव्यादिपरमाणुमेदकमेणाचोऽधो यावद्विप्रदेशस्करूपाद्योत्पत्तिः,

अन्यप्रकारस्य द्रव्यस्याभावात्, अत्र व्यवहारनयाऽभिमते दीर्घे कार्योत्पत्तिकालेऽभिन्न-  
कालाना तदुत्पत्तिनाशस्थितानां प्रत्येक कालत्रयस्पर्शत्रिलक्षणयोगेन सप्तविंशतिर्भङ्गाः, भिन्न  
कालाना च कालत्रययोगेन सप्तविंशतेस्त्रिधा गुणने एकाशीतिर्भङ्गा यथा भवन्ति तथा—

“यद्द्रव्यते तद्विद् वस्तु गृहीतमेव, तद्द्रव्यते च न च यत्तु गृहीतमास्ते ।

इत्थ भिदामपि स किं न विदाकरोतु, य पाठितो भवति लक्षणभङ्गजालम् ॥५४॥”

इति श्लोकीकायामस्मत्कृतमहावीरस्तवकल्पलतिकारुपाया प्रदर्शिता इति भङ्गजाल  
जिज्ञासुभिस्तत एव ते वेदितव्याः । अत्र ग्रन्थगौरवमीत्या न प्रतन्यन्त इति ॥ ३७ ॥

नन्वर्थान्तरगमनलक्षणस्य विनाशस्य विभागजस्य चोत्पादस्यासम्भवात् तद्द्रव्याभावे  
स्थितेरप्यभावात् तत्रैकाल्य दूरोत्सारितमेवेति मन्यमानान् वादिनः प्रति तदभ्युपगमप्रदर्शन  
पूर्वकमाह—

दध्वन्तरसजोगाहि केचि दवियस्स वेति उप्पाय ।

उपायत्थाऽकुसला विभागजाय ण ह्छति ॥ ३८ ॥

सयोगानां द्रव्यम् । अ. १, आ १, सू० २८ । इति वैशेषिकसूत्रस्य निस्स्पर्शानां  
द्रव्याणामन्त्यावयविनां च विजातीयद्रव्याणां च ये सयोगास्तान् विहाय बहूनां तत्त-  
त्तन्त्वादिसयोगानां पटादिरूपमेक द्रव्य कार्यम्, अर्थात् अनेकेभ्यस्मजातीयतन्त्वादि  
सयोगेभ्य एक पटादिकार्यमुत्पद्यत इत्यर्थकस्य बलाद्वैशेषिकादयो यथा कार्यद्रव्योत्पाद  
व्यावर्णयन्ति तथा प्रदर्शयितुं पूर्वार्द्धमाह—“ दध्वन्तरसजोगाहि केचि दवियस्स वेति  
उप्पाय ” ‘ कचि ’ केचिद्वैशेषिकनैयायिकादयः ‘ दवियस्स ’ पटादिकार्यद्रव्यस्य ‘ दध्व  
न्तरसजोगाहि ’ द्रव्यान्तरसयोगैः, तन्मतेऽवयववायविनोर्भेदात्स्वभिन्नस्वीयावयवभूत  
तन्त्वादिसयोगैरनेकैः, अथवा तन्मते सजातीयात्सजातीयोत्पत्त्यभ्युपगमात् पृथिवीत्वेन  
सजातीयैस्तत्तन्त्वाद्यवयवात्मरुद्रव्यान्तरैस्तदन्यतन्त्वाद्यवयवलक्षणद्रव्यान्तराणां सयो  
गैरसमवायिकारणभूतै तत्तन्निमित्तसहकृतैस्ममवायिकारणे ‘ उप्पाय वेति ’ कार्यद्रव्यो  
त्पादं घृणते, अवयविकार्यद्रव्य निमित्तकारणाऽसमवायिकारणममवायिकारणत्रयेभ्य उत्पद्यत  
इति वदन्ति, द्रयोस्त्वन्त्योस्सयोगेनापि तत्तन्निमित्तसहकृतेन द्वितन्तुकपटस्य तन्तौ,  
कपालद्रव्यसयोगेनापि च कपाले समवायिकारणे घटस्योत्पादाभ्युपगमात्तदुपलक्षकमेतत्, ते  
चोत्पादविषयक्यथार्थज्ञानाः किं वा नेत्यारेकायामाह—‘ उप्पायत्थाऽकुसला ’ उत्पादा-  
र्थाऽकुसला उत्पादार्थानभिज्ञाः, ‘ विभागजाय ण ह्छन्ति ’ विभागजातद्रव्यात् तद्नेच्छन्ति-  
नाभ्युपयति, आरम्भकसयोगस्यैव कार्यद्रव्यासमवायिकारणत्वेन तैरभ्युपगमात्तद्रूपकारणा  
भावादिति मान. ॥ ३८ ॥

नन्ववयवसयोगेनैव कार्यद्रव्यस्योत्पादो भवति न तु विभागैः इत्यमरमुपगन्तारो  
 वैशेषिकनैयायिकादयः कुत उत्पादार्थं नामिद्वानन्तीत्याज्ज्ञापामाह—

अणु वुअणुएहिं दवे आरदे तिअणुपति ववएसो ।  
 तत्तो य पुण विभत्तो अणुत्ति जाओ अणू षोइ ॥ ३९ ॥

‘द्रुअणुएहिं दवे आरदे’ द्वौ चाणुर्नै च द्व्यणुको द्वाभ्यां, द्वाभ्यां परमाणुभ्यां  
 ‘आरदे दवे’ आरन्ध्रे द्रव्ये कार्यद्रव्ये ‘अणु’ इत्यस्य “येन यस्यामिमम्प्रधो द्रव्य  
 स्यापि तस्य स” इति न्यायेन “इति ववएसो” इत्यनेन सम्बन्धान् अणुरिति व्यपदेशः,  
 परमाणुद्रव्यारन्ध्रे अणुके परमाणुद्रव्यगतद्वित्वमह्वयाज्ज्ञापारिमाणस्यैव सद्भावात् ।  
 त्रिमिद्व्यणुकैरारन्ध्रे द्रव्ये “तिअणुअंति ववएसो” अणुकमिति व्यपदेशः, अणुके च  
 अणुकप्रयगतबहुत्वमह्वया महश्चपरिमाणमुत्पद्यते, अन्यथा तत्प्रत्यक्षमेव न स्यात्,  
 बहिरिन्द्रियजन्यद्रव्यप्रत्यक्ष प्रति महश्चम्पोद्भूतरूपवत्त्वस्य च काणत्वात् । अयमत्र भाषः—  
 नैयायिकमत “मह्वयातः परिमाणाश्च प्रचपादपि जायते” इत्युक्तेरातित्वपरिमाण त्रिगो  
 त्यद्यते, तत्र परमाणुगतद्वित्वमह्वयातो अणुकऽणुपरिमाणमुत्पद्यते, न तु परमाणुपरिमाणतः,  
 एव त्रसरेणुपरिमाणमपि न अणुरुपरिमाणत उत्पद्यते, यतः परिमाणस्य स्वसमानभाती-  
 योत्कृष्टपरिमाणजनकत्वनिषमाद् अणुकस्याणुपरिमाण तु परमाण्वणुत्वापेक्षया नोत्कृष्टम्,  
 त्रसरेणुपरिमाण तु न द्व्यणुकपरिमाणसजातीयम्, अतः परमाणुगतद्वित्वमह्वया अणुक-  
 परिमाणस्य अणुरुगतत्रित्वसह्वया च त्रसरेणुपरिमाणस्यानमवायिकारणम्, अत एव  
 त्रिमिद्वतुर्निवा पञ्चभिर्वा परमाणुभिर्न किमप्यणुपरिमाण कार्यद्रव्यमारभ्यते, कारणगत  
 बहुत्वसह्वया महत्परिमाणोत्पन्नमप्युपगमात्, सरदति चात्र “कारणबहुत्वात्” ७ अ० १  
 आ० ९ ख० इति वैशेषिकसूत्रम्, एतदप्रकरणकारेणापीत्येव सूचयितुं “अणु द्रुअणुएहिं  
 दवे आरदे” इत्युक्तम् । द्वाभ्यां तन्तुभ्यामप्रचिताभ्यामारन्ध्रे पटे केवल महश्चमेकाम-  
 वायिकारणम्, बहुत्वप्रचपयोस्तत्राभावात्, यत्र द्वाभ्यां तूलविष्टाभ्यां तूलवि-  
 ष्टा रभस्तत्र परिमाणोत्कर्षदर्शनात् त्रियुक्तसंयोगलक्षणप्रचपः कारणम्, बहुत्वस्याभावात्,  
 महश्चस्य भवेदपि परिमाणोत्कर्ष प्रत्यप्रयोजकत्वात् । एत च सति यदि महश्च तत्र कारणा  
 तदा न दोषः । तदुक्तं “द्वाभ्यामेकन सर्वथा” इति । इयं नैयायिको वैशेषिकश्च अणु-  
 कप्रसरेणवादिकार्यद्रव्यस्य तत्र परिमाणस्य चोत्पत्तिप्रक्रिया निरूपयन्तारऽप्रेक्षितवन्तुया  
 थात्म्यतया स्वीयाङ्गतां व्यञ्जयतः, यतो न अणुक केवल द्वयोः परमाण्वो. मयोगे मत्स-  
 न्धोन्याश्लेषपरिणामलक्षणमहत्वाद्बुत्पद्यते, किन्तु यस्मिन्नेव समये अणुकस्त्वादेकोऽणुर्नि-  
 द्यते तस्मिन्नेव समयेऽपरस्मदहन्यत इत्येवमेकमामायािवाभ्यां महत्वात्मेदाभ्यामप्युत्पद्यते  
 तत्र, एव पर्यन्तरचित्कावादेकद्रव्यादिवरसाङ्गमेकमेवाधोऽधो यावद्विप्रदेशरक्तचोत्पत्तिः,



स्कन्धाद्विद्यमानशृणुकोत्पत्तिश्च मेदमात्रेण मायनीया, शृणुकमपि न केवलं शृणुकत्रया-  
 देवोत्पद्यते, किन्तु द्विप्रदेशस्य स्कन्धस्य परमाण्वन्तरेण सयोगे सति त्रयाणां परमाणूनां वा  
 सयोगे सति सघातपरिणामे शृणुकमुत्पद्यते, चतुरणुकस्कन्धादेकोऽणुर्षुदा पृथग्भवति तदै-  
 काणुमेदाच्च, तथैकस्मिन्नेव ममये शृणुकस्कन्धादेकोऽणुर्भिद्यते परस्सहन्यते समकमेवेत्यतः  
 सघातमेदाभ्यामुत्पद्यते तत्, एवमेव चतुःपञ्चपडादिमह्वयेयामह्वयेयानन्तप्रादेशिकस्कन्धो-  
 त्पत्तिर्भावनीया । उक्तञ्च तत्रार्थे 'सहातमेदस्य उत्पद्यन्ते' ५-२६ इति । तत्र सङ्घेया-  
 ऽमह्वयेयप्रदेशिकस्कन्धास्तु नैव चक्षुर्गोचरा, अनन्तप्रदेशिकस्कन्धा अपि यावत्सूक्ष्मपरि-  
 णामरूपास्तावन्न प्रत्यक्षतामायान्ति, अत एव त्रसरणुचाक्षुप्रप्रत्यक्षमपि नैवाहर्तैरभ्युपगतम्,  
 सूक्ष्मपरिणामत्वाच्चैस्य, किन्तु सूक्ष्मपरिणामापन्नानन्तप्रदेशिकानां स्कन्धानां सूक्ष्मपरिणामो-  
 परतो तत्र केचन परमाण्वस्महन्यन्ते केचन भिद्यन्ते इत्येवमेकमामायिकाम्बां मेद-  
 महाताम्बां रौक्ष्यस्नेहविशेषात् समुपजातस्यौल्यपरिणामा एव चाक्षुप्रप्रत्यक्षयोग्यतां प्राप्ता  
 वादरस्कन्धाः प्रत्यक्षगोचरा भवन्तीत्यभ्युपगतम् । उक्तञ्च तत्रार्थे "मेदमहाताम्बां  
 चाक्षुपाः" ५-२८ इति सूत्रद्वयौ न सर्वे एव सहातश्चक्षुषा ग्राह्या, यतोऽनन्तानन्ताणु  
 सहतिनिष्पाद्योऽपि स्कन्धो वादरपरिणतिमानेव नयनादिगोचरता प्रतिपद्यते, न श्रेय इति ।  
 विचित्रपरिणामाः पुद्गलाः कदाचिदृष्टपरिशिवादरपरिणाममनुभूय पश्चाच्चतुस्पर्शिसूक्ष्म  
 परिणाममाददन्तो न चक्षुर्गोचरा, सूक्ष्मपरिणाममप्यनुभूय कदाचिच्च रौक्ष्यस्नेहविशेषाद्  
 वादरपरिणामपरिणताश्चक्षुर्गोचरता प्रतिपद्यन्त इति चाक्षुप्रप्रत्यक्षे वादरपरिणाम एव  
 कारणम्, वादरपरिणामस्कन्धद्रव्यमप्यनुद्भूतरूप व्यवहितञ्च दूरवर्त्यादिकञ्च नैव माक्षाद्-  
 दृश्यते चर्मचक्षुर्भिरिति तत्प्रत्यक्षे उद्भूतरूपवत्त्वव्यवधानामावालोकादिक चाक्षुपज्ञाना  
 वरणीयकर्मक्षयोपशमाघायकतया कारण वाच्यम् । एतेन "जालान्तरस्यसूर्यांशौ, यत्सूक्ष्म  
 दृश्यते रजः । भागस्तस्य च पृष्ठो यः, परमाणुः स उच्यते ॥ १ ॥" इति निरस्तम्,  
 जालान्तरस्यसूर्यमरीचिप्रतिभासमानापेक्षिसूक्ष्मरजोद्रव्यस्य वादरपरिणामवतोऽत्यन्तसूक्ष्मा  
 न्त्यकारणात्मकनेश्चयिकपरमाणुभिरनन्तैस्समुत्पन्नानां नैश्चयिकस्कन्धरूपाणां तीव्रशक्ता  
 यच्छेद्यामेद्यचक्षुराद्यगोचरव्यावहारिकपरमाणूनामनन्तानां स्कन्धरूपत्वेन तदनन्तमाग  
 रूपत्वाच्चैश्चयिकपरमाणोरिति । न च नैयायिकादिवदाहर्तैः परमाणुरपि नित्य एवाभ्युपगतः  
 किन्तु विभक्तमावेनोत्पत्तिमानात् कथञ्चिन्नित्यानित्योभयरूप इत्याशयेनोचरार्द्धमाह-  
 'ततो य पुण विभक्तो' तस्मादकत्रपरिणतिपरिणततया स्कन्धपरिणामभावमापन्नत्कार्ये  
 द्रव्याच्च पुनर्निभक्तः विभागात्मकरूपर्यायरूपेणोत्पन्नः 'अणुत्ति जाओ अणू होइ' अणुरिति  
 अणुपरिमाण इति हेतोः, अणुः परमाणुर्जात उत्पन्नो भवति । कार्यद्रव्ये स्कन्धात्मके सपुक्ता-  
 वस्थारूपेण य एव पूर्वं परमाणु कथञ्चिदकत्रपरिणाममात्रमापन्नो जघन्यत एक समय  
 मुक्त्वथोऽसङ्घेयकाल यावदासीत् स एव ममयान्तरे असङ्घेयकालानन्तर वा कथञ्चि

देक्त्वपरिणामभावविनाशे ततो विभक्ते सति विभक्तावस्थारूपेणोत्पन्नस्मन् परमाणुसञ्ज्ञां भजते, विभक्तावस्थापन्नपरमाणुभावेन पूर्वममच्यात्, मन्वे वा स्थूलकार्याभावात्प्रसङ्गात् । तद्व पृथग्भावलक्षणमेदे सति विभागपर्यायरूपेण परमाणोरुत्पादस्सिद्धः, सवदति चात्र "मेदादणु ॥ ५-२७ ॥ इति तद्वार्थद्वयम् 'मेदादेव परमाणुरुत्पद्यते न सहातादिति' माप्यमनाथम् । न च य एव कार्यद्रव्यारम्भः परमाणवस्त एवारम्भकसयोगनाशप्रयुक्ततद्रव्यनाशोत्तरकाल स्वस्वरूपेण व्यवस्थिता इति तेषा नित्यत्वान्नोत्पत्तिर्युक्तेति वाच्यम् कार्यद्रव्यप्रागभावात्प्रघ्नताभावयोरेकत्रविरोधात्, घटद्रव्यप्रागभावात्मकमृत्पिण्डतत्प्रघ्नमाभावात्मककपालयोरिव, तथाहि-यन्निष्ठत्वावेव कार्यस्य समुत्पत्ति सोऽस्य प्रागभाव इति ॥ ३-५५ । यथा मृत्पिण्डनिष्ठत्वावेव समुत्पद्यमानस्य घटस्य मृत्पिण्ड इति ॥ ३-५६ । यदुत्पत्तौ कार्यस्यावश्य विपत्तिः सोऽस्य प्रघ्नमामाव इति । ३-५७ । यथा कपालकदम्बकोत्पत्तौ नियमतो विपद्यमानस्य कलशस्य कपालकदम्बकमिति । ३-५८ । इति प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कारवधनाद् घटद्रव्यप्रागभावः पूर्वपर्यायमृत्पिण्डात्मको घटद्रव्यप्रघ्नमाभावोत्तरपर्यायकपालात्मकः, न चैव तर्हि प्रागभावेऽनादित्व घ्नसे चानन्तत्वं न स्यादिति वाच्यम्, ऋजुध्वजनादेशात्तत्सन्तानापेक्षया तदुभयस्य निर्वाहत्वादिति तयोरेकत्वं यथा निरुद्ध तथैव परमाणूनां तादवस्थे पूर्वकालावच्छेदेन वर्तमानकार्यद्रव्यप्रागभावात्मान उत्तरकालावच्छेदन च तद्रव्यविनाशात्मानस्ते मधेयुरिति तेषामेरुत्वं विरुद्ध स्यादिति द्रव्यार्थिकनयादेशाद् द्रव्यस्वरूपतयाऽवस्थिता एव परमाणुप्रसक्तकार्यात्मना पर्यायनया देशात् परिणमन्त इत्यणुत्वपरिणामपरिणतत्वमपहाय रौक्ष्यन्नेहविशेषाद् यदा स्थूलपरिणाममाप्नुवन्ति तदैकत्वसङ्ख्या-सयोगमहत्त्वापरत्वादिपर्यायैरुत्पद्यन्ते इति ते कार्यात्मिकाः, यदा च स्नेहरीक्ष्यपरिणामात् स्थितिध्वयाद् द्रव्यान्तराभिघातेन मेदात् सभावावगत्या च तद् द्रव्यमेदादणुपरिणाम भजन्त तदा बहुत्वमङ्ख्या-विभागाणुपरिणाम-परत्वादिपर्यायैरुत्पद्यन्ते इति पर्यायनयादेशात्तत्कार्यभावेनोत्पद्यमानाः कथञ्चिद्भिन्नास्तेऽभ्युपगन्तव्याः । नन्वेव पूर्वपरिणामोपमदेनोत्तरपरिणामभावात्तदानीं पूर्वपरिणामस्याभावात् एव, भावान्तरापत्तिकलत्वात्परिणामस्येत्यतस्सूक्ष्मपरिणामाद्भावात्परिणामस्यार्थान्तरत्वाच्चत्राणुपरिणामामाव एव, तथा च बादरपरिणामपरिणतमहाद्रव्ये परमाणव स्वेन रूपेण न सन्ति, परिणामान्तरापन्नत्वात्, सिन्धुपरिणतौ गुडादश्च इवेति तदानीं परमाणुभावेन परमाणूनां नाशाम्युपगमात्, अत्रयत्रिभागोत्तर परमाणुभावेन विभक्ततया चोत्पादाभ्युपगमात्—

"कारणमेव तदन्त्य सूक्ष्मो नित्यश्च भवति परमाणुः ।

एकरसवर्णगन्धो द्विस्पर्शः कार्यलिङ्गश्च ॥ १ ॥ "

इति पारमर्षोक्तिविरोधस्स्यादिति चेत्, मैत्रम्, यतस्सर्वमेव मत्तद्रव्यं स्थूलं निदायं

माणमशक्यमेदपरमाणुपर्यवसान जायते, न पुनरत्यन्ताभावरूप निरूपाख्यमिति सूचनाय तदुक्तिरिति न विरोधः । यद्वा कारणमेवेत्याद्यवधारणेन ज्ञापितमेतत् द्रव्यार्थिकनयापेक्षया सर्वेषां द्व्यणुकव्यणुकादिद्रव्याणां परमाणुरेव मूलकारणमिति, ततस्तन्नयादेशाद्द्वयकत्यात्मना तस्य नित्यत्वमक्षतमेवेति विरोधाभाव एव । एतेन द्व्यणुकाद्युत्पत्तिकाले परमाणोः परमाणुभावेन नाशस्य तदन्यत्रविभागकाले च विभागरूपेणोत्पादस्याभ्युपगमादनित्यत्वप्रमङ्गेन परमाणुर्नित्य इति व्यनहारोऽपि भ्रान्तस्स्यादित्यारेकाऽपि निरस्ता, यतो ध्वमाऽप्रतियोगित्वे सति प्रागभावाऽप्रतियोगित्वमिति व्यावहारिकनित्यतालक्षणे विशेषणविधया समुदायविभागलक्षणध्वम एवोपादेयः, स च द्व्यणुकादिरूपपूर्वपर्यायस्यैव, न तु परमाणोः, तस्य तु द्व्यणुकाद्युत्पत्तौ तद्रूपेण परिणमनादर्धान्तरभावगमनलक्षणध्वमस्यैव भावात् । तथा चोक्तलक्षणनित्यत्व परमाणावक्षतमेव, समुदायविभागलक्षणध्वमप्रतियोगित्वस्य द्व्यणुकादि पूर्वपर्याय एव मत्त्वेन तदप्रतियोगित्वस्य परमाणौ मद्भावात्, द्व्यणुकाद्युत्पत्तौ तदात्मना कार्यभावात्परमाणोः परमाणुत्वरूपेण निवृत्तावपि द्रव्यस्वरूपतया नैव तस्य निवृत्तिरिति प्रागभावात्प्रतियोगित्वस्यापि द्रव्यरूपेण मद्भावाच्चेति तत्र नित्यत्वव्यवहारे न भ्रान्तत्वप्रमङ्ग इति । एतेन पृथिव्यादयश्चत्वारः परमाणुरूपा नित्या एव, कार्यरूपास्त्वन्तिया इति नैयायिकादिप्रक्रिया निरस्ता, परमाणूनामपि कार्याऽभिन्नतयाऽर्धान्तरभावगमनरूपस्य नाशस्य विभागजातस्य चोत्पादस्य समर्थनात् । अत एव द्वादशारणयचक्रटीकार्यां “ यदि कारणं यदि कार्यं ततः को दोषः ?, इत्यते हि कारणमपि कार्यमपि, यथा परमाणुः कारणद्व्यणुकादेर्मृत्पिण्डशिवकादीनां कार्यमपि, तद्भेदजत्वादित्याद्युक्तं सङ्गच्छते ॥ ३९ ॥

ननु जन्मपृथिवीत्वाद्यवच्छिन्ने पृथिवीत्वादिना समवायिकारणत्वात्परमाणूनां नित्यत्वाद्दुक्तकार्यतावच्छेदकानाक्रान्तत्वात्तदुत्पत्तिर्न युक्तेति न चाशङ्कनीयम्, ममवापस्य निषिद्धत्वात्, तादात्म्यमम्बन्धेन पृथिवीत्वाद्यवच्छिन्ने स्वध्वमत्वमम्बन्धेन पृथिवीत्वादिनोपादानकारणत्वस्यैवोचितत्वेन विभागजातोत्पत्तिस्थलेऽपि द्व्यणुकादिध्वसरूपाया एव परमाणुत्पत्तेर्भावात् । नन्वेव मत्यपि कार्यद्रव्यत्वावच्छिन्न प्रति सयोगत्वेन कारणत्वे तमन्तरेणापि विभागात् कार्यद्रव्योत्पत्तेर्व्यतिरेकव्यभिचारः, एव विभागत्वेन कारणत्वे तदभावेऽपि सयोगात् कार्यद्रव्योत्पत्तेर्व्यतिरेकव्यभिचारो ज्ञेय इति चेत्, मैरम्, सयोगजातकार्यद्रव्ये विभागजातकार्यद्रव्ये च वैजात्योपगमात्, यद्वा सयोगाव्यवहितोत्तरजायमानकार्यद्रव्य प्रति सयोगत्वेन विभागाव्यवहितोत्तरजायमानकार्यद्रव्य प्रति च विभागत्वेन कारणत्वोपगमात् फलबलकल्प्यगौरवदोषस्यादोषत्वात्, अथवा सयोगविभागयोस्सह्यातमेदारूपयोरपि कार्यद्रव्यत्वावच्छिन्नप्रत्येकशक्तिमत्त्वेनोभयानुगतस्य कारणत्वस्योपगमात् । तथाऽनभ्युपगमे तु त्रिप्रदेशिकस्वरूपा देकाणुभेदे द्विप्रदेशिकस्याकस्मिन्वापत्तेः, तत्कारणसह्यातविशेषाभावात्, सर्वत्र परमाणुपर्यन्तभेदेन परमाणुद्रव्यादिसयोगाद् द्व्यणुकाद्युत्पत्तिकल्पने महागौरवात् । उक्तञ्च—

“सयोगाच्च विभागाच्च, द्रव्यमुत्पद्यते द्रव्यात् ।  
 वैजात्य वापि वैशिष्ट्य, कार्ये तत्र प्रकल्प्यते ॥ १ ॥  
 अणुद्वयणुकसयोगा-दणुकोत्पत्तिमिच्छताम् ।  
 तद्विभागादणुत्पत्तौ, प्रद्वेष किं निबन्धनः ? ॥ २ ॥  
 केयूरकुण्डलीभावे, तत्र स्वर्णवदिष्यताम् ।  
 साधारणमुपादान, क्षमादि किं चिन्तयाऽत्र न. ? ॥ ३ ॥  
 तादात्म्यनियताधारा-धेयभावनिबन्धनम् ।  
 कारण प्रत्युपादेय, विभिन्न परिणामि वा ॥ ४ ॥  
 तावत् सङ्घातभेदा या, हेतुस्तच्छालि वस्तु वा ।  
 गच्छत्पविनिगम्यत्व-मप्यत्रैतत् सहायताम् ॥ ५ ॥  
 जात्यन्तरात्मके वस्तु-न्येव किञ्चिन्न दुष्यति ।  
 कार्याकार्यभेदाभेद-व्यवसायव्यग्रस्थिते ॥ ६ ॥  
 सयोगत्रद्विभागेऽपि, वैजात्यस्य व्यवस्थितौ ।  
 एकस्य हेतुताऽन्यस्य, नेति मोहविजृम्भितम् ॥ ७ ॥  
 सयोगे समवायश्चे-द्वेतुताया नियामकः ।  
 मृद्द्रव्ये सविभागे स्ता-दशांशो वा विभज्यताम् ॥ ८ ॥  
 स्वध्वंसत्वेन योगेनो,-पादान हेतुरस्तु वा ।  
 तद्द्रव्यव्याप्तिरत्र स्यान्नभोव्याप्तिर्वा दीर्घिकी ॥ ९ ॥  
 सयोगजन्यता जन्य-द्रव्ये हि भवतोच्यते ।  
 मया तत्र विजातीय इति गौरवमीः कुतः ? ॥ १० ॥ इति ॥

यथा बहूना सयोगे एकप्रत्ययव्यवहारनिदान समुदयजनित उत्पादोऽभ्युगतस्तथैकस्य कार्यद्रव्यस्य विनाशे बहुप्रत्ययव्यपदेशनिदान विभागजातोऽभ्युत्पाद् किन्नाभ्युपेय ? व्यवहरन्ति हि 'मग्ने घटे बहूनि कपालान्पुत्पन्नानि' इति, एव परमाणूनामप्येककार्यनाशे युक्तो विभक्ततया बहुत्वेनोत्पाद् । तदवाक्षेपद्वारेणाह—

बहुआण एगसद्दे जह सजोगाहि होइ उप्पाओ ।

न णु एगविभागम्मि वि जुज्जह बहुआण उप्पाओ ॥ ४० ॥

'जह बहुआण सजोगाहि' यदि बहूना द्वयणुकादीनां सयोगैः, 'एगसद्दे' एक शब्दा-एकशब्दव्यपदेशनिदान 'होइ उप्पाओ' मवत्पुत्पाद्, एकस्य व्यणुकादरिति

माणमशक्यमेदपरमाणुपर्यवसान जायते, न पुनरत्यन्ताभावरूप निरूपारूपमिति सूचनाय तदुक्तिरिति न विरोधः । यद्वा कारणमेवेत्याद्यवधारणेन ज्ञापितमेतत् द्रव्यार्थिकनयापेक्षया सर्वेषां द्रव्यशुक्रयणुकादिद्रव्याणां परमाणुरेव मूलकारणमिति, ततस्तन्नयादेशाद्द्रव्यकृत्यात्मना तस्य नित्यत्रमक्षतमेवेति विरोधामात्र एव । एतेन द्रव्यशुक्राद्युत्पत्तिकाले परमाणोः परमाणुभावेन नाशस्य तदत्रयविभागकाले च विभागरूपेणोत्पादस्याभ्युपगमादनित्यत्वप्रमत्नेन परमाणुर्नित्य इति व्यग्रहारोऽपि भ्रान्तस्स्यादित्यारेकाऽपि निरस्ता, यतो घ्नसाऽप्रतियोगित्वे सति प्रागभावाऽप्रतियोगित्वमिति व्यापहारिकनित्यतालक्षणे विशेषणविधया समुदायविभागलक्षणध्वंस एवोपादेयः, न च द्रव्यशुक्रादिरूपपूर्वपर्यायस्यैव, न तु परमाणोः, तस्य तु द्रव्यशुक्राद्युत्पत्तौ तद्रूपेण परिणमनादर्धान्तरभावगमनलक्षणध्वंसस्यैव भावात् । तथा चोक्तलक्षणनित्यत्व परमाणावक्षतमेव, समुदायविभागलक्षणध्वंसप्रतियोगित्वस्य द्रव्यशुक्रादि पूर्वपर्याय एव नत्वेन तदप्रतियोगित्वस्य परमाणौ सद्भावात्, द्रव्यशुक्राद्युत्पत्तौ तदात्मना कार्यभावात्परमाणोः परमाणुत्वरूपेण निवृत्तावपि द्रव्यस्वरूपतया नैत्र तस्य निवृत्तिरिति प्रागभावात्प्रतियोगित्वस्यापि द्रव्यरूपेण सद्भावाच्चेति तत्र नित्यत्वव्यवहारे न भ्रान्तत्व प्रसङ्ग इति । एतेन पृथिव्यादयश्चत्वारः परमाणुरूपा नित्या एव, कार्यरूपास्त्वनित्या इति नैयायिकादिप्रक्रिया निरस्ता, परमाणूनामपि कार्याऽभिन्नतयाऽर्धान्तरभावगमनरूपस्य नाशस्य विभागजातस्य चोत्पादस्य समर्थनात् । अत एव द्वादशारनयचक्रटीकार्या “ यदि कारणं यदि कार्यं ततः को दोषः ?, इत्यते हि कारणमपि कार्यमपि, यथा परमाणुः कारणं द्रव्यशुक्रादेर्मृत्पिण्डशिवकादीनां कार्यमपि, तच्चेदजत्वादित्याद्युक्तं सङ्गच्छते ॥ ३९ ॥

ननु जन्यपृथिवीत्वाद्यवच्छिन्ने पृथिवीत्वादिना समवायिकारणत्वात्परमाणूनां नित्यत्वा दुक्तकार्यतावच्छेदकानाक्रान्तत्वात्तदुत्पत्तिर्न युक्तेति न चाशङ्कनीयम्, समवायस्य निपिद्धत्वात्, तादात्म्यमम्बन्धेन पृथिवीत्वाद्यवच्छिन्ने स्पष्टमत्वमम्बन्धेन पृथिवीत्वादिनोपादान कारणत्वस्यैवोचितत्वेन विभागजातोत्पत्तिस्थलेऽपि द्रव्यशुक्रादिध्वंसरूपाया एव परमाणूत्पत्तेर्भावात् । नन्वेव सत्यपि कार्यद्रव्यत्वावच्छिन्न प्रति सयोगत्वेन कारणत्वे तन्मन्तरेणापि विभागात् कार्यद्रव्योत्पत्तेर्व्यतिरेकव्यभिचारः, एव विभागात्वेन कारणत्वे तदभावेऽपि सयोगात्कार्यद्रव्योत्पत्तेर्व्यतिरेकव्यभिचारो ज्ञेय इति चेत्, मैत्रम्, सयोगजातकार्यद्रव्ये विभागजातकार्यद्रव्ये च वैजात्योपगमात्, यद्वा सयोगाव्यवहितोत्तरजायमानकार्यद्रव्य प्रति सयोगत्वेन विभागाव्यवहितोत्तरजायमानकार्यद्रव्य प्रति च विभागत्वेन कारणत्वोपगमात् फलबलकल्प्य गौरवदोषस्यादोषत्वात्, अथवा सयोगविभागयोस्तद्वातमेदाख्ययोरपि कार्यद्रव्यत्वावच्छिन्नप्रत्येकशक्तिमन्त्रेणोभयानुगतस्य कारणत्वस्योपगमात् । तथाऽनभ्युपगमे तु त्रिप्रदेशिकस्वरूपा द्रव्यशुक्रादेर्द्विप्रदेशिण्याकस्मिन्त्वापत्तेः, तत्कारणमद्वातविशेषामावात्, सर्वत्र परमाणुपर्यन्तमेदेन परमाणुद्रव्यादिसयोगात् द्रव्यशुक्राद्युत्पत्तिकल्पने महागौरवात् । उक्तञ्च—

“सयोगाच्च विभागाच्च, द्रव्यमुत्पद्यते द्वयात् ।  
 वैजात्य वापि वैशिष्ट्य, कार्ये तत्र प्रकल्प्यते ॥ १ ॥  
 अणुद्वयणुकसयोगा-दणुकोत्पत्तिमिच्छताम् ।  
 तद्विभागादणुत्पत्तौ, प्रद्वेष किं नियन्धनः ? ॥ २ ॥  
 केयूरकुण्डलीभावे, तत्र स्वर्णवदिष्यताम् ।  
 साधारणमुपादान, क्षमादि किं चिन्तयाऽत्र नः ? ॥ ३ ॥  
 तादात्म्यनियताधारा-धेयभावनियन्धनम् ।  
 कारण प्रत्युपादेय, विभिन्न परिणामि वा ॥ ४ ॥  
 तावत् सङ्घातभेदा वा, हेतुस्तच्छालि वस्तु वा ।  
 गच्छत्यविनिगम्यत्व-मप्यत्रैतत् सहायताम् ॥ ५ ॥  
 जात्यन्तरात्मके वस्तु-न्येय किञ्चिन्न द्रुप्यति ।  
 कार्याकार्यभेदाभेद-व्यवसायव्यवस्थितेः ॥ ६ ॥  
 सयोगवद्विभागेऽपि, वैजात्यस्य व्यवस्थितौ ।  
 एकस्य हेतुताऽन्यस्य, नेति मोहविसृम्भितम् ॥ ७ ॥  
 सयोगे समवायक्षे-द्वेतुताया नियामकः ।  
 मृद्द्रव्ये सविभागे स्ता-दशाशो वा विभज्यताम् ॥ ८ ॥  
 स्वध्वसत्वेन योगेनो-पादान हेतुरस्तु वा ।  
 तद्द्रव्यव्याप्तिरत्र स्यान्नभो-व्याप्तिर्वा क्षीर्षिकी ॥ ९ ॥  
 सयोगजन्यता जन्य-द्रव्ये हि भवतोच्यते ।  
 मया तत्र विजातीय इति गौरवमीः कुतः ? ॥ १० ॥ इति ॥

यथा बहूनां सयोगे एकप्रत्ययव्यवहारनिदान मद्द्रव्यवन्नित उत्पादोऽभ्युपगमन्त्यैरस्य  
 कार्यद्रव्यस्य विनाशे बहुप्रत्ययव्यपदेशनिदान विभागत्रातोऽप्युत्पादः किञ्चाभ्युपेयः ? व्य-  
 हरन्ति हि 'भग्ने घटे बहूनि कपालान्युत्पन्नानि' इति, एत परमाणूनामप्यकार्यनाशे  
 युक्तो विभक्ततया बहुत्वेनोत्पादः । तदवाशेषद्वारेणाह—

बहुआण एगसद्दे जह सजोगादि होइ उप्पाओ ।

न णु एगविभागमि वि जुअइ बहुआण उप्पाओ ॥ ४० ॥

‘जह बहुयाण सजोगादि’ यदि बहूनां क्वचुकादीनां सयोगे, ‘एगसद्दे’ एक-  
 शब्दा-एकशब्दव्यपदेशनिदान ‘होइ उप्पाओ’ वस्तुत्पादः,

शेषः, अन्यथैकाऽभिधानप्रत्ययव्यवहारौ न स्याताम्, यतो न हि बहुवृत्तपक्षेण एको घट उत्पन्न इति प्रयुङ्क्ते प्रत्येति वा प्रेक्षादक्षः, 'नणु' नन्वित्यक्षमायां, 'एगनिभागम्बि वि' एकविभागेऽपि, एकस्य कार्यस्य विनाशे तत्कारणावयवनिभागेऽपि, " जुञ्जद् बहुत्राण उप्पाओ " युज्यते बहूना विभक्तानामवयवयानामुत्पादः, मुद्गरादिसहकारिकलापाद् घटस्य तदवयवविभागलक्षणे विनाशे सति बहूनि विभक्तानि कपालानि, कपाले च मग्ने विभक्तानि बहूनि शकलानि जातानीति व्यवहाराऽन्यथाऽनुपपत्तेः, न च मुद्गरपाताद् विनष्टो घट इत्येव प्रतीयते व्यवह्रियते चेत्यतिरिक्तनाशस्यैव सिद्धिरिति वाच्यम्, यतो घटविनाशस्वरूपेण विभक्तकपालकदम्बकात्मकोत्तरकार्यात्मैव प्रायोगिको घटविनाशः प्रतीयते, न तु तद्यतिरिक्तः, पूर्वपर्यायनाशस्योत्तरपर्यायोत्पादानान्तरीयकत्वानुभवाद्, दीपादिनाशेऽपि तमःपर्यायोत्पादानुभवात्, पूर्वोत्तरपर्यायविनाशोत्पादयोरेकसामग्री प्रभवत्वाच्च । उक्तञ्च " दृष्टस्तान्दय घटोऽत्र निपतन् दृष्टस्तथा मुद्गरो, दृष्टा कर्परसहितः परमतोऽभागे न दृष्टोऽपर' । तेनाभाज इति श्रुतिः क्व निहिता किं वाऽत्र तत्कारणम्, स्वाधीना कलशस्य केवलमिय दृष्टा कपालावली ॥ १ ॥ " इति । ये तु लाघवप्रणयिनोऽपि कपालोत्पादिकां भिन्ना सामग्रीम्, घटनाशोत्पादिकां च भिन्नामेव कल्पयन्ति तेषां काचिद्-पूर्वव वैदग्धी । न च घटस्योत्तरपर्यायस्वरूपत्वे तस्य मानन्तत्वात्साधनन्तो घट इति घटलक्षणमेवानुपपन्न स्यादिति वाच्यम्, कल्पे उत्तरपर्याये घटघटसत्त्वकल्पने लाघवात्तद् व्यक्तित्वादिना सादित्वेऽपि घटघटसत्त्वेनानन्तत्वस्याप्यऽक्षतेः, अत एव पूर्वपर्यायात्मा प्रागभावोऽपि तद्व्यक्तित्वादिना सादिरूपोऽपि प्रागभावत्वेनानादिरूपो भावनीयः । तदेव मुद्गव्यस्यैवानुगतस्य मृत्पिण्डशिवक-स्थामक-कोशक-कुशूल-घट-कपाल-शकल-शर्करा-पांशुादियावन्नसरेणुद्वयणुकरमाणुपर्यन्तक्रमिकपर्याया इति तत्तत्पर्यायरूपेण परिणममान मुद्गव्य तत्तत्पूर्वपर्यायान् परित्यज्यैव तत्तदुत्तरपर्यायानुपादत्त इति तद् द्रव्यरूपेण ध्रुव सत् पूर्वोत्तरपर्यायाभ्यां विनाशोत्पादात्मकमिति तत्रपात्मकम्, तन्नित्यविकलस्य तस्यानुपलब्धे रसत्वात् सिद्धम्, यथा चोत्पादव्ययधौव्यस्वभावा नैव मिथ एकान्तेन भिन्नाः, किन्तु द्रव्यार्थतयाऽभिन्नाः पर्यायार्थतया च लक्षणभेदेन भिन्ना इति कथञ्चिद् भिन्नाभिन्नस्वभावा इत्येककालीनधर्मिरूपतया परस्परतात्मकत्वेन तदभिन्नाभिन्नस्य तदभिन्नत्वमिति न्यायेन प्रत्येकमेकैकरूप = यात्मक तथैव कालत्रयापेक्षयाऽपि पूर्ववत्त्यात्मकमभ्युपगन्तव्यम्, अतोऽनन्त पर्यायात्मकमेक द्रव्यमिति व्यवस्थितमेतत् ॥ ४० ॥

ननु यद्यप्युत्पत्त्यादीनां भेदप्रभेदा यदैकपर्यायमाश्रित्यैकस्मिन् द्रव्येऽनेकस्वरूपतामान यन्ति तदा प्रतिक्षणमाविभिन्नभिन्नपर्यायसमाश्रयणेनानन्तकाले स्वयमनन्तता विभ्रानाः कथञ्चित्स्याभिन्ने द्रव्येऽनन्ततामानयन्तीति कैमुतिक्रियायप्राप्तमेवेति न तत्र त्रिप्रतिपद्याभेदे, तथाप्येकक्षण एवैकस्मिन् द्रव्येऽनन्तपर्यायत्वमिति कौतुकमिति न चाशङ्कनीयम्,

एकधुणेऽप्यनन्तानामुत्पादानां तदन्यूनानतिरिक्तसङ्ख्यकरिगमानां तन्नियतस्थितीनां च सम्भवात् । तदेवाह—

एगसमयम्मि एगदचियस्स बहुया वि होंति उप्पाया ।

उप्पायसमा विगमा ठिई उ ( ठिइओ ) उस्सग्गओ णियमा ॥ ४१ ॥

‘ एगसमयम्मि ’ एकसमये—एकस्मिन् धुणे ‘ एगदचियस्स ’ एकद्रव्यस्य ‘ बहुया वि होंति उप्पाया ’ बहुयोऽपि भवन्त्युत्पादाः । ‘ उप्पायसमा विगमा ’ उत्पादसमा उत्पादमम सङ्ख्यका विगमा पूर्णपर्यायप्रतिपादा अपि तदैव भवन्ति, तद्व्यतिरेकेणोत्पादाम्भवात्, ‘ ठिई उ उस्सग्गओ णियमा ’ अत्र तुशब्दस्याप्यर्थकत्वात्स्थितिरपि उत्सर्गतो नियमात्, स्थितिरपि उत्सर्गतसामान्यरूपतया अन्वितरूपेण तथैव नियता, स्थितिरहितोत्पादव्यया म्भवात्, तत्सम्भवे वा शशशृङ्गादेरप्युत्पत्तिव्ययप्रसङ्गस्यादिति । अत्रैकधुणेऽप्यनन्तानामुत्पादानां तत्समाना विगमाना तन्नियतस्थितीनां च सम्भवादिति शास्त्ररार्त्तममुच्य-  
टीकोक्तेरनन्तोत्पादव्ययवत्तत्समसङ्ख्यकरिगतयोऽप्यनन्ता एकधुणे एकधर्मिणि सम्भवन्तीति सिद्धं भवति, तत्सङ्गतिः प्रकृतगाथोक्तजात्येकवचनान्त “ ठिई ” इतिपदमहिम्ना कर्तव्या, यतस्तत्पर्यायोत्पादावच्छिन्ना तत्पर्यायविगमावच्छिन्ना च स्थितिर्मिन्ना मिन्नेव विशेषण भेदेन विशिष्टस्यापि भेदादित्युत्पादव्ययनियतत्वेन तत्समसङ्ख्यकरिगतयोऽपि नियमाद्भवन्तीति । ‘ ठिइओ उस्सग्गओ णियमा ’ इत्येव पाठे तु तस्य चायमर्थः—स्थितय उत्सर्गतो नियमात्, यद्यपि पूर्वत्तरपर्यायेपूर्वतासामान्यद्रव्यस्यानुगतत्वात्तदात्मकसामान्यरूपतया स्थितिरैव, तथापि तत्पर्यायोत्पादावच्छिन्ना तत्पर्यायविगमावच्छिन्ना च स्थितिर्मिन्ना मिन्नेव, विशेषणभेदेन विशिष्टस्यापि भेदादित्युत्पादव्ययनियतत्वेन तत्समसङ्ख्यकरिगतयोऽपि नियमाद्भवन्तीति भावः ॥ ४१ ॥

एकधुणावच्छिन्नसयोगविभागज्ञानन्तोत्पादतामनाशकिर्मीरितध्रौव्यैकस्वभाववस्तु दृष्टान्तद्वारेण विनिश्चेतुमाह—

काय-मण-धयण-किरिया-रूराह-गई विसेमओ वाचि ।

सजोपभेयओ जाणणा य दचियस्स उप्पाओ ॥ ४२ ॥

कायेति—यदैवानन्तानन्तप्रदेशिकाहारभाषपरिणतपुद्गलोपयोगोपजातरमरुधिरादिपरिण-  
तिवशाविर्भूतशरोऽङ्गल्याद्यद्गोपाङ्गभावपरिणतस्थूल सूक्ष्म सूक्ष्मतरादिभेदभिन्नाप्रयवात्मकस्य  
कायस्योत्पत्तिस्तदैवानन्तानन्तपरमाणूपचितमनोरर्गणापरिणतिपरिणतमनम उत्पादोऽपि,  
तदैव च वचनस्यापि काययोगाकृष्टभाषारर्गणापरिणतिप्रविलम्बवृत्तिरुत्पादः, तदैव च काया



त्मनोरन्योन्यानुप्रवेशाद्विपमीकृताऽसङ्ख्यातात्मप्रदेशे कायक्रियोत्पत्तिः, तदैव च पद्गुणहा  
 निवृद्धिभावेन नीलरक्तादिरूपमधुराम्लादिरमसुरभ्यादिगन्धशीतोष्णादिस्पर्शात्मकपर्याया  
 णामपि प्रतिशुणोत्पत्तिनश्वराणां सजातीयविजातीयस्वभावतयोत्पत्तिः, तदैव च मिथ्यात्वा-  
 चिरिति-प्रमाद-कषायादिपरिणतिसमुत्पादितकर्मबन्धनिमित्ताऽऽगामिगतिविशेषाणामप्युत्प-  
 त्तिः, तदैव चोत्सृज्यमानोपादीयमानानन्तपरमाप्त्वापादिततत्प्रमाणसयोगत्रिभागानामुत्पत्तिः,  
 तदैव च तत्तज्ज्ञानविषयत्वादीनामुत्पत्तिः, यदैव शरीरादेरेकस्य द्रव्यस्योत्पत्तिस्तदैव त्रैलो-  
 क्यान्तर्गतसमस्तद्रव्यैस्मह साक्षात्पारम्पर्येण वा सम्बन्धानामुत्पत्तिः, सर्वद्रव्यव्याप्तिव्यव-  
 स्थिताकाश-धर्माधर्मास्तिकायादिद्रव्यसम्बन्धात्, एव तत्र त्रैलोक्यान्तर्गताशेषपदार्थान्तर्ग-  
 तैकैकार्थपेक्षया भिन्नत्वादिपर्यायाणाञ्चोत्पत्तिः, किं बहुना ? मयूराण्डकरसे प्रथमक्षण एव  
 शिरो-ग्रीवा-चञ्चु-नेत्र-पिच्छो-दर-चरणायनेकावयवोत्पादनानुगुणशक्त्युत्पत्तिवद् भाव्य  
 नन्तस्वपरपर्यायोत्पत्त्यनुकूलशक्तीनाञ्चोत्पत्तिः, अन्यथा तत्र तेपामुत्तरकालमप्यनुत्पत्तिप्रम-  
 ङ्गस्यात्, तदैव कायमनोवचनक्रियारूपादिगतिविशेषपेक्षया सयोगमेदापेक्षया च ज्ञान  
 विषयत्वाद्यपेक्षया चैकस्यैव द्रव्यस्यानेकघोत्पत्तिभारादनन्तपर्यायात्मकत्व सिद्धम् । भिन्न  
 भिन्नवस्तुनोऽपि कथञ्चित्सम्बन्ध एरुद्रव्येण सह ममस्तीति सम्बन्धितयैक्यमतस्तदुत्प-  
 न्याऽपि तदुत्पत्तिभावात् । अथ यद्यप्येकक्षणेऽप्यनन्तानामुत्पादानां तत्समाना विगमानां  
 तन्नियतस्थितीनां च पूर्वोक्तयुक्त्या सम्भवादस्त्वेरुद्रव्यमनन्तपर्यायात्मकम्, तथापि न च  
 तत्तथात्वेनास्मदादिभिरव्यक्षेण गोचरीक्रियत इति तत्तथात्मकमिति कथं शक्यमिति चेत्,  
 मैवम्, यतोऽस्मदाद्यव्यक्ष्यारिखलस्वप्नामाधारणधर्मरूपेण निरवशेषधर्मविशिष्टस्वप्नाहक-  
 त्वस्वभावत्वादेव तथा तथोह्येन तदग्रहणम्, न तु तदभावात्, अन्यथा गुरुत्वादेरस्मद-  
 ध्यथाग्रहणादसत्त्वं स्यात्, अथ नमनोन्नमनादिकार्यलिङ्गेनानुमीयमानत्वात्तत्सत्त्वमिति  
 चेत्, अप्रापि यद्येकैक द्रव्यमनन्तपर्यायात्मकं न स्यात् तर्हि साक्षात्सम्बन्धेन स्वपर्यायाणां  
 त्रिभुवनान्तर्गतस्वभिन्नसर्वद्रव्यपर्यायात्मकपरपर्यायाणां च स्वाभावरूपपरपरपराम्बन्धेन  
 तत्र सत्त्वमेव न स्यात्, सत्त्वञ्चास्ति, तस्मात्तदनन्तपर्यायात्मकमिति प्रसङ्गविपर्ययाभ्या  
 तत्सिद्धेः, तथा च त्रैलोक्यव्यापृत्तस्त्रलक्षणान्यथाऽनुपपत्तिलिङ्गकानुमानेनानन्तपर्यायात्मक  
 द्रव्यमिति सिद्धम् । अत एवानन्तधर्मात्मक तत्त्वमित्यर्हत्सिद्धान्तदृढसत्कारवतां प्रयोजन  
 पश्चादेकमपि पर्यायं शृङ्खलां भावतस्तथा परिज्ञानमस्त्येव, तदानीं तेषां मतिज्ञानावरणकर्म-  
 क्षयोपशमजनितस्याद्वादसत्कारसद्भावेन भावतोऽनन्तपर्यायात्मकतया वस्तुग्रहणपरिणाम-  
 स्याक्षीणत्वादिति सिद्धान्ते गीयते । तदाह-भाव्यसुधासुधाधम्मोधिः—

पञ्जायमासपन्तो, एक पि तओ पओघणवसाओ ।

तत्तियपञ्जाय चिय, त गिण्हइ भावओ चत्थु । ३२२ । इति ॥ ४२ ॥

अथ प्रत्यक्षपरोक्षमेदेन प्रमाण द्विविधं प्राक् प्रोक्तम्, तत्र प्रत्यक्षमेदस्वरूपमुक्तवा

परोक्षान्तर्गतागमप्रमाण प्रमाणान्तरावगतवस्त्वस्तित्वप्रतिपादकत्वेन हेतुवादात्मकम्, प्रमा  
णान्तरानवगतार्थाऽस्तित्वप्रतिपादकत्वेन चाहेतुवादात्मकमिति तद्वेदद्वयनिरूपणायाह—

दुविहो धम्मावाओ, अहेउवाओ य हेउवाओ य ।

तत्थ उ अहेउवाओ, भवियाऽभवियादओ भावा ॥ ४३ ॥

‘दुविहो धम्मावाओ’ द्विविधो धर्मावाद, धर्माणां वस्तुगतास्तित्वादीनामा समन्तात्  
वादस्तत्प्रतिपादक आगम, तद्वैविध्यमेवाह—‘अहेउवाओ य हेउवाओ य’ अहेतुवादश्च  
हेतुवादश्च । तत्रेन्द्रियव्यापारहेतुयुक्त्याद्यभावेन प्रत्यक्षानुमानादिप्रमाणैर्ये नावगम्यन्ते एव  
म्भूतार्थप्रतिपादक आगमोऽहेतुवाद, तद्विपरीतो हेतुवादः, हेतोर्हेतुपरिच्छिन्नस्य वादो  
हेतुवाद इति व्युत्पत्तेः, यद्वा हिनोति—गमयत्यर्थमिति हेतु, तत्परिच्छिन्नोऽपि हेतुः,  
त वदति य आगमः स हेतुवादः, हेतुबहुलत्वात् प्रायो दृष्टिवादाख्य आगमो हेतुवादः,  
तदितरथाहेतुवाद उच्यते, तत्राहेतुवादात्मकाद्यभेदे ज्ञाते सति तद्विपरीतत्वाद्देतुवादात्मक-  
द्वितीयभेदोऽपि स्वयमेव सुतरां ज्ञातुं शक्यत एवेत्याशयेनाद्यभेदप्रतिपादनायोत्तरार्द्धमाह—  
तत्थेत्यादिना । तत्र त्वहेतुवादः, तत्र भेदद्वयमभ्ये, अहेतुवादस्तु “ भवियामवियादओ  
भावा ” भव्याभव्यादयो भावाः, भव्याभव्यत्वादिप्रतिपादक आगम इत्यर्थः । प्रतिपाद्य  
ग्रहणेन प्रतिपादकग्रहणात् । न हि ‘अय भव्यः, अयन्तरभव्यः’ इत्यत्रास्मदादीनामागममृते  
प्रमाणान्तर प्रवर्त्तते, नन्वत्रापि भव्याभव्यविभागप्रतिपादक वचन पथार्थम् अर्हद्वचनत्वात्,  
जीवाजीवारूपद्रव्यमनन्तपर्यायात्मकमित्यादिवचोवदित्यनुमानप्रवृत्तेर्नोक्त युक्तमिति चेत्,  
मैवम्, अस्याप्यनुमानस्य पक्षप्रविष्टमव्याऽभव्यविभागांशसिद्धिविधायकाऽऽगममापेक्षस्यैव  
प्रवृत्तेः, न ह्यागमवचनमन्तरेण स्वतन्त्रानुमानेनाय भव्यः, अयञ्चामव्य इति ज्ञातुमस्मदा  
दिमिदंशक्यते । अयम्भारः—यो हि मुक्तिगमनयोग्यः स मुक्तिस्वरूपयोग्यताञ्छेदकधर्म  
वानेव, तादृशधर्ममन्तरेण मुक्तिगमनानुपपत्तेरिति स धर्मो भव्यत्व तद्वान् भव्यः, एत-  
द्विपरीतश्चाऽभव्य इत्येव वचनविभागस्य यथार्थनिर्णायकत्वेनोक्तानुमानस्य प्रवृत्तावपि  
आगममन्तरेणागमैकगम्यमव्याभव्यस्वरूपे स्वतन्त्राऽनुमानस्य प्रवृत्तिर्नोपपद्यते इत्येताव-  
ताऽहेतुवादश्च भव्याभव्यत्वप्रतिपादकागमस्य प्रतिपाद्यते, तथा च भव्याभव्यत्वादयोऽ  
हेतुवादमिद्धा, तदन्ये च हेतुवादसिद्धा इति सिद्धम् ॥ ४३ ॥

अथ भव्याभव्यादिभावानामहेतुवादविषयत्वं प्रतिपाद्य आगमोपगृहीतहेतुप्रवृत्तानुमान-  
गम्यत्वाद्देतुवादविषयत्वप्रतिपादनायाह—अथवा अहेतुवादागमसिद्धस्याप्यर्थस्य तत्तद्वर्ति-  
प्यहेतुवादागमप्रतिपादितलिङ्गेन हेतुवादागमसिद्धत्वमपीति तत्प्रतिपादनायाह—

भविओ सम्मइसण-नाणचरित्तपडिच्चित्तिसपट्ठो ।

णियमा दुक्कगतकडो-त्ति लक्खण हेउवायस्स ॥ ४४ ॥

भविओ इत्यादि । 'मम्मदसणनाणचरित्तपडिवत्तिमपभो' इति-अत्र 'सम्मदसणनाण-  
 चरित्तगुणलद्धिसपभो' इत्यपि चास्पृशप्रतिनादे पाठः, माध्यहेतुघटितोऽय प्रयोगः, तथा च  
 अय मध्यः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रप्रतिपत्तिसम्पूर्णत्वात् मय्यग्दर्शनज्ञानचारित्रगुणलब्धि  
 सम्पन्नत्वाद्वा सम्प्रतिपन्नपुरुषादित्यनुमान पर्यवस्यति । उक्तहेतोः किमित्याशङ्कानिवृत्त्यर्थ  
 मृत्तरार्द्धमाह- 'णियमा दुक्खतकहोत्ति' नियमाद् दुःखान्तकृदिति, नियमात्ससारदुःखान्त  
 करिष्यति कर्मव्याधेस्समूलकाप कपणमनुभविष्यति, तन्निबन्धनमिथ्यात्वादिप्रतिपक्षाभ्याम  
 सात्मीमावात् व्याधिनिदानप्रतिकूलाचरणप्रवृत्ततथाविधातुरवत् । यः पुनर्न तत्प्रतिपक्षाभ्याम  
 सात्स्यवान् नासौ दुःखान्तकृद्भविष्यति, तन्निदानानुष्ठानप्रवृत्ततथाविधातुरवत्, इति 'लक्खण  
 हेउयास्यम' हेतुवादस्य लक्षणम् । ननु मव्यामव्यादेर्लक्षणमागम एव प्रोक्तमित्यागमात्-  
 छक्षणे ज्ञाते सति तेनैव तज्ज्ञान भविष्यतीति किमेतादृशानुमानप्रयोगपरिकलेशेनेति चेत्,  
 भैवम्, यत आगमात्त्रिधितमप्यर्थ मिसाधयिपयाऽनुमिन्वतेऽनुमानरसिकाः, इत्यमेव मनन  
 साध्यश्रद्धाविशेषस्योत्पत्तेः । अत एव "प्रत्यक्षपरिकलितमप्यर्थमनुमानेन बुद्धत्मन्ते तर्कर  
 सिकाः" इति पक्षताग्रन्योक्त शिरोमणिवाक्यमपि सङ्गच्छते, ततोऽहेतुवादसिद्धेऽप्यर्थेऽनेकान्ता  
 त्मकन्यसाधिका निराकाङ्क्षातात्पर्यप्रतिपत्तिपर्यन्ताश्च या उपपत्तयस्ता हेतुवादसिद्धत्वमुप  
 पादयन्ति, श्रुतमात्रेण ज्ञातस्याज्ञातप्रायत्वात्, ताश्चोपपत्तयः श्रुतोपयोगाऽनन्यत्वाच्च श्रुतत्व  
 व्याहन्यः, श्रुतानुसारिमतेः श्रुतान्तर्भूतत्वेन शास्त्रोक्तत्वात् । अत एव प्रेषावन्त आगमाद-  
 नुमानाश्च प्रवर्त्तमानास्तच्च लभन्ते, न केवलादनुमानात्, प्रत्यक्षादितस्तेषामप्रवृत्तिप्रसङ्गात्,  
 नापि केवलादागमादेव, विरुद्धार्थमतेभ्योऽपि प्रवर्त्तमानानां प्रेषावन्तप्रसक्तेः, एतेन हेतुवादे  
 कान्तवादिनो ये केचिद् हेतुव एव सर्वमुपादेयतच्च सिद्ध्यति, न प्रत्यक्षात्, तस्मिन् सत्यपि  
 त्रिप्रतिपत्तिमम्भवात्, युक्त्या यन्न घटनामपैति तदह इष्टाऽपि न श्रद्धे, इत्यादेरेकान्तस्य  
 बहुल दर्शनात् अर्थानर्थविवेचनस्यानुमानाश्रयत्वात् तद्विप्रतिपत्तेस्तद्व्ययस्थापनाया हेत्वादि-  
 वचनात् । प्रत्यक्षतदामासयोरपि व्यवस्थितिरनुमानात्, अन्यथा सङ्करयति कुरोपपत्तेरर्था  
 नर्थविवेचनस्य प्रत्यक्षाश्रयत्वासम्भवादिति मन्यन्ते तन्मत निरस्तम्, यतस्तेषां मतेऽनुमान  
 प्राकालेऽपि प्रत्यक्षप्रमाणात् पक्षस्य साधनस्योदाहरणस्य च ज्ञान न स्यात्, तज्ज्ञानाभावे  
 च न च कस्यचिदनुमान प्रचैव, अनुमानान्तरात्तज्ज्ञानाभ्युपगमे तस्यापि पक्षादिज्ञान-  
 पूर्वकत्वादनुमानान्तरमपेक्षणीयमित्यनवस्था स्यात् । तथा च प्रामाण्यसशयमूलार्थसशय-  
 निराकरणरूपविवेचनेऽनुमानस्येव तन्मूलव्याख्यादिपरिच्छेदे प्रत्यक्षस्याभ्युपयोगाद्दुयो-  
 स्तुल्यत्वमिति नैकान्तश्रेयान् । आगमैकान्तवादिनो ये च केचिदागमादेव सर्वं सिद्ध्यति,  
 अनुमानप्रतिपक्षेऽपि चिन्तितादावाममापेक्षणात् आगमबाधितपक्षस्यानुमानस्याजगमक-  
 त्वाच्चेति मन्यन्ते तेषां मते विरुद्धार्थमतान्यपि शास्त्रोपदेशेभ्यः सिद्ध्यन्तु, विशेषामावात् ।  
 सम्यगुपदेशेभ्यस्तत्रसिद्धिरिति चेत्, तर्हि युक्तिरपि तत्रसिद्धिनिबन्धनम्, तत एव तेषां

सम्यक्प्रतिनिर्णयात् । अदृष्टकारणजन्यत्वबाधवर्जितत्वाभ्यां तदुपगमात् । न चैते सम्यगुपदेशा युक्तनिरपेक्षाः, अन्यथा परस्परविरुद्धार्थतत्त्वसिद्धिप्रमङ्गस्स्यात् । युक्तित्वानुमानात्मिकैः । ततः कृतश्चिदागमात्त्वसिद्धिमनुरुध्यमानेन प्रत्यक्षानुमानाभ्यामपि तत्त्वसिद्धिरभ्युपगन्तव्या, अन्यथा तदसिद्धिप्रमङ्गादित्यत्रापि नैकान्तो युक्त । प्रत्यक्षानुमानाभ्यामेव तत्त्वसिद्धिर्नागमादित्यपरे, तेऽपि न सत्यवादिनः, ग्रहोपरागादेस्तत्कलत्रिशेषस्य च ज्योति-शास्त्रादेव सिद्धेः, यतः प्रत्यक्षानुमानाभ्यामुपदेशमन्तरेण न ज्योतिर्ज्ञानादिप्रतिपत्तिः, अथ सर्वविदः प्रत्यक्षादेव तत्प्रतिपत्तिः, अनुमानविदा पुनरनुमानादपीति चेत्, न, सर्वविदामपि योगिप्रत्यक्षात्पूर्वमुपदेशाऽभावे तदुत्पत्त्ययोगात्, ते हि श्रुतमयीं चिन्तामयीं च भावनां प्रकर्षपर्यन्तं प्रापयन्तोऽनीन्द्रियप्रत्यक्षमात्मसात्कुर्वते, नान्यथा, तथाऽनुमान-विदामपि नात्यन्तपरोक्षेर्धर्मेषु परोपदेशमन्तरेण मात्स्याऽविनाभाविसाधनप्रतिपत्तिः सम्भवति, सर्वज्ञत्वप्रसङ्गात्, ततो नात्राप्येकान्तं प्रामाणिकं इति । तदुक्तमष्टमद्वय्याम्—

“सिद्ध चेद्वेतुत सर्वं, न प्रत्यक्षादितो गतिः ।

सिद्ध चेदागमात्सर्वं, विन्द्वार्थमतान्यपि ॥ १ ॥” इति

तदेवमागमप्राप्तेऽप्यर्थं हेतुप्राप्तत्वमविरुद्धमिति व्यवस्थितम् । अत एव ‘मन्यो ज्ञानादिमान् सिद्ध्यति’ इत्याद्यागम्येऽर्थं हेतुप्राप्तत्वमविरुद्धमित्यस्पृशद्गतिवादेऽभिहितं सङ्गच्छते ॥ ४४ ॥

अयागमस्याहेतुवादहेतुवादागमोमयरूपत्वे मिद्वे स्वसमयप्रज्ञापकत्वस्य तत्परिज्ञान निबन्धनत्वाच्चदुभयञ्च एव स्वममयस्य प्रज्ञापक, किमत्र प्रमाणमिति तर्कानुसारिप्रश्न विषयभूते हेतुवादागमविषयेऽर्थेऽस्पृश्यामोषहेतुयुक्तिप्रकरलक्षणैः अहेतुवादागममात्रगम्येऽर्थे आगममात्रप्रज्ञापनालक्षणेऽस्तैस्तेर्यथोचितोपायै प्रतिपादकवचसि धोतुगतावितथाविचल श्रद्धाविधापित्वाचस्य, तदितरस्तु तद्विराधकः प्रतिपादकवचम्यऽनास्यादिदोषोत्पादकत्वादि त्युपपादनायाह—

जो हेउवायपक्वम्भि, हेउओ आगमे य आगमिओ ।

सो ससमयपण्णवओ, सिद्धतविराहओ(गो) अन्नो ॥ ४५ ॥

‘जो हेउवायपक्वम्भि’ यः कश्चिद्वेतुवादपक्षे जीवकर्मादौ युक्तिमार्गसद्वे वस्तुनि ‘हेउओ’ हेतुकं प्रचलतमयुक्तिप्रणयनप्रवीणः, ‘आगमे य आगमिओ’ आगमे च देवलोकपृथ्वीसङ्ख्यादावर्थे आगममात्रगम्ये, आगमिक, आगममात्रप्रज्ञापनाप्रवीणः. ‘सो ससमयपण्णवओ’ म मममयप्रज्ञापकः मममयस्य द्रव्यानुयोगादिमेदभिन्नस्य प्ररूपकः तैस्तेरुपायैरुपदेशक उच्यते, ननु यदि हेतुवादागमविषयमर्थं हेतुवादागमेन यः प्रदर्शयति,

अहेतुवादागमविषय चार्थमागममात्रेण प्रज्ञापयति, न तु तत्रापि मतिमोहिर्नी युक्तिं तनोति स स्वसमयप्रज्ञापकस्तर्हि तद्विपरीतः कीदृश इत्याशङ्कायापाह—'सिद्धतविराहो अण्णो' सिद्धान्तविराहको जिनरचनानुयोगविनाशकोऽन्यः, प्रायुक्तविशेषणनिकलः साधुः, तच्छाघवापादनात् । तथाहि—युक्तिप्रकरमहेष्वप्यागमगम्यत्वमेव पुरस्कर्तुं स नास्तिक्वादिप्रणीतक्युक्तिनिराकरणाभावात् श्रोतृणां तर्कानुमारिणां दृढा प्रतीतिं कर्तुं शक्नोति, आगमगम्येषु तु युक्तिपथातीतेषु युक्तिषुदृक्कयन्नमम्पादितनियतार्थप्रतीतिर्विकलारम्भत्वेन स्वयमेव वैलक्षण्यमजते, श्रोतृश्रानादेयवचनो भवतीति न विपरीतव्यवहारिणा तेन मय्यक्मिद्वान्त आराधितो मरतीति । तदेवमागमोक्तविधिना श्रोतारमालोच्यागमोक्तया हेतुयुक्त्या वा यथा यथाऽसौ बुध्यते तथा तथा तत्रोपदेशश्रोतृविवेचकः कार्योऽर्हत्समयज्ञेनेति । पञ्चवस्तुकेऽप्युक्त गाथाचतुष्टयम्—

अहं चक्खाणेअब्ब, जहा जहा तस्स अवगमो होइ ।

आगमिअमागमेण जुत्तीगम्मं तु जुत्तीए ॥ ९९१ ॥

जम्हा उ दोण्हवि इह, भणिअ पन्नवग कएण भावाणं ।

लक्खणमणघमर्हं, पुब्बायरिएहिं आगमओ ॥ ९९२ ॥

जो हेउवायपक्खम्मि, हेउओ आगमे अ आगमिओ ।

सो ससमयपण्णवओ, सिद्धतविराहओ अज्जो ॥ ९९३ ॥

आणागिज्झो अत्थो, आणाए चेव सो कहेयब्बो ।

दिट्ठति अ दिट्ठता, कएणविहिं विराहणा इहरा ॥९९४॥ इति ।

यो हेतुवादसिद्धमर्थं हेतुना साधयति, आगमसिद्ध चागमेन, तस्य नयवादः परिशुद्धः, नान्यस्येति प्रतिपादयन्नाह—पद्मा वस्तुधर्मप्रतिपादकस्वाहेतुहेतुवादमेदभिन्नागमस्य वाक्यनयरूपस्य परिशुद्धेतरमेदेन द्विरूपां प्रतिपादयितुमाह—

परिसुद्धो नयवाओ, आगममेत्तत्थसाहओ होइ ।

सो चेव दुण्णिगिण्णो, दोण्णि वि पक्खे विधम्मेह ॥ ४६ ॥

“ आगममेत्तत्थसाहओ नयवाओ परिसुद्धो होइ ” आगममात्रार्थसाधको न त्वनागमार्थसाधकः, नयवादः श्रुतप्रमाणपरिच्छिन्नानन्तधर्मार्तकं वस्तुनि प्रयोजनवशान्मुख्यवृत्तैर्यैकधर्मस्य गुणीभूतमकलस्वेतरधर्मस्य प्रतिपादको नयवादः, परि समन्तात् शुद्धः परिशुद्धो भवति, स्वेतरनिखिलांशमापेक्षवस्त्वेकांशावगाहियथार्थनिश्चयात्मकबोधजनकनयवाक्यस्यैव सुनयवाक्यत्वात्, गजनिमीलिकान्यायेन स्वप्रतिपाद्याशभिन्नाशेषांशविधाननिषेधाकरणात्, स एव स्वप्रतिपाद्याशेतरमकरणांशनिषेधकरणे त्वपरिशुद्धः अपेक्षामन्तरेणैकधर्म-

निश्चायकवाक्यस्य दुर्नयवाक्यत्वादिति प्रतिपादयितुमुत्तरार्द्धमाह—‘सो चेव चि’ अपभ्रमावः—  
 वस्तुमात्रं किं नित्यमनित्य वा, जायपक्षे एकान्तनित्यस्य पूर्वोत्तरतत्कालावच्छेदन  
 तत्तदर्थक्रियायां कारित्वे कार्यभेदेन स्वभावभेदप्रसक्त्याऽनित्यत्वापत्तिः, अकारित्वे चाम  
 पत्तिः । सत्तायोगात्सदिति चेद्, न, प्राग्निहितोत्तरत्वात्, अथैकान्तनित्योऽप्यर्थोऽनेक  
 कार्यानुकूलैकशक्त्यैव तत्तत्कार्याणि करोतीति नोक्तदोष इति चेद्, मैत्रम्, कार्यताभेदेन  
 तन्निरूपितकारणतास्वभावभेदस्याप्यवश्यम्भावेन पूर्वोक्तदोषतादवस्थ्यात् । द्वितीयपक्षे  
 चैकक्षणवर्तिनोऽप्यर्थस्य तत्तदन्यदेशात्च्छेदनं मामर्थ्यामामर्थ्याम्याम्, एव पूर्वरूपस्या  
 व्यवहितोत्तररूपं प्रत्युपादानकारणत्वम्, अव्यवहितोत्तरमादिकम्प्रति च निमित्तकारणत्व  
 मिति स्वभावभेदाभ्यां, विरुद्धधर्माभ्यासाद्भेदप्रसक्तिः, तद्वयं यत्सत्तत्त्वमनेकान्तात्मक  
 अर्थक्रियाकारित्वात्, स्वस्वियकारणवित्तिवत्, तथा नस्तुतत्त्वं न किञ्चिदेकान्तं तथात्वे  
 सर्वथाऽर्थक्रियाऽमममवादित्यादिनाऽनेकान्ततत्त्वसिद्धयैकान्ततत्त्वस्य चाधेनासद्रूपतया तथा  
 भूतविषयामावेन तद्विषयिणोऽप्यप्रमाणत्वमिति यदा ‘सो चेव दुष्णिगिणो’ स एव  
 नपवादं दुर्निर्णीतं दुर्निश्चितं प्रमाणविरुद्धैकान्तार्थप्रतिपादकत्वेन प्रयुक्तस्तदाऽपेशामन्तरेण  
 कस्यापि धर्मस्य सद्रूपत्वमिति निरपेक्षस्य तद्विषयस्यासद्रूपस्यापि सद्रूपतया प्रतिपादनाद्  
 भ्रान्तबुद्धिजनकत्वेनापरिशुद्धो मयति, तच्चन्महद्वस्तुनि स्वावधिकमहत्त्वापेक्षया लघुत्ववत्त-  
 त्तदपेक्षमर्भतत्तदनकपर्यायधर्माणां सद्भावेऽपि तन्निराकृतेर्नैवैकधर्मरूपत्वात्, अत एव “दोष्णि  
 वि पक्षे विधम्मेह” इति पक्षौ निधर्मयति सुन्दोपसुन्दन्यायन परस्पराप्रामाण्यज्ञापक  
 नययुक्तभिः परस्परनयविषयाऽमद्रूपकरणेनामद्रूपतया ज्ञापयति दुर्निश्चितो नयवाद एव ।  
 तदेवमहेतुवादागम श्रुतप्रमाणम्, हेतुवादागमो नयवादः, ताभ्यां ससकृतमलङ्कृत तत्रज्ञान  
 प्रमाणं युक्तिशास्त्राऽनिरुद्धार्थगोचरत्वात् सुनिश्चितासम्भवदूषकत्वादिति भावः ॥ ४६ ॥

अथानन्तधर्मात्मकप्रस्त्वेकधर्मोऽपि स्वैतरमकलधमपेक्षितया स्याद्वादरूप एवेति  
 तत्प्रतिपादकं परिशुद्धनयवादः स्याद्वादैकवाक्यतापन्न तत्राधिगमकारणत्वेन सम्प्रग्रू-  
 तया स्वसमयरूप, इतरधर्मप्रतिश्लेषितया प्रस्त्वेकधर्मप्रतिपादकत्वं परिशुद्धनयवादः स्या  
 द्वादैकवाक्यतारहितो मिथ्यारूपतया परसमयात्मकः । नन्वेव तर्हि म क्रियत्सङ्ख्यक  
 इत्याशङ्क्यामाह—

जावइया वयणपहा, तावइया चैव हुति णयवाया ।  
 जावइया णयवाया, तावइया चैव परसमया ॥ ४७ ॥

‘जावइया वयणपहा’ यावन्तो नचनपथा—वक्तृविकल्पहेतवोऽप्यनसायप्रशेषा  
 ‘तावइया चैव हुति णयवाया’ तावन्त एव भवन्ति नयवादा तन्नितवक्तृविकल्पा-  
 शब्दात्मकाः, सामान्यतो नैगमादिसप्तभेदोपग्रहऽपि प्रतिव्यक्ति तदानन्त्यात् । ‘जावइया

ण्यवाया ' यावन्तो नयवादाः ' तावह्या चैव परसमया ' तावन्त एव परसमयाः, स्वेच्छापारिकल्पितवक्तृविकल्पमात्रकल्पितत्वात्तेषाम् । स्याद्वादैकवाक्यतारहिता एकैकनया वस्तुनो यावन्तोऽनन्ता अशास्तान् सर्वान् नाम्युपगच्छन्ति, किन्त्वेकैकांशानित्येकैकांशग्राहका यावन्तः प्रतिपत्तृणामभिप्रायास्तावता नयानां वचनपथतुल्यसंख्यकानामपरिमितत्वेन तत्कल्पितनयवादात्मकपरसमया अप्यपरिमिता एव, अभिनिवेशान्वितवस्त्वे ' कैकांशविषयकप्रतिपत्त्रभिप्रायलक्षणनयप्रमत्तनयवादस्यैव परसमयलक्षणत्वादिति परमार्थः । नन्वेव नयवादानां वचनपथतुल्यसङ्ख्यकानामपरिमितत्वेन तच्चनयवादात्मकपरसमयानामपि परिमितिर्न विद्यते, तर्हि तन्निवन्धनभूताना नयानामध्यवसायलक्षणानां " से किं त गण ? मत्त मूलणया पण्णत्ता, त जहा—णोगमे सगहे ववहारे उज्जुसुए सदे समभिरुठे एवभूए " इत्यनुयोगद्वारसूत्रेण यः सप्तधा विभागो विहितस्तोऽपि प्रमाणतां नैव प्राप्नुयादिति, चेत्, उच्यते, स्थूलन्यायेन मूलजातिभेदतस्तोऽपि प्रमाणमानमञ्जत्वेव, ततोऽपि सूक्ष्मतरभेदविवक्षायामेकैकनयः शतभेद इति नयत्वमाक्षाद्वाप्यजात्यवच्छिन्नानां सप्तनयानां प्रभेदास्मप्तनयशतानि भवन्ति, नयत्प्रव्याप्यजातिव्याप्यजात्यवच्छिन्नत्वात्, तदुक्त विशेषावश्यकभाष्ये— " इत्तिको य सयविहो सत्तनयसया हवति एमेव " इति । उपदिशितनयसङ्ख्याऽपरिमाणत्वरिधानन्तु ततोऽपि सूक्ष्मतरदृष्टिपर्यालोचनयैव, ततोऽनन्ताशात्मके वस्तुन्येकैकांशपर्यवसायिनो यावन्तः प्रतिपत्तृणामभिप्रायास्तावन्तो नयाः, ते च नियतसङ्ख्या सङ्ख्यातु न शक्यन्ते, अत एव तदुत्थनयप्रवादानामपि परसमयरूपाणां साधधारणत्वेनैकान्ततत्प्रतिपादकानां नियतसङ्ख्या न विद्यत इति । एतेन मूलत एव नयविचारो नारम्भणीयः निष्फलत्वात्, काकदन्तपरीक्षावदिति तत्सङ्ख्या भवतु मा वा किं तद्विज्ञानेनेति निरस्तम्, नयविचाराऽरूपे नयविधिमजानतां नयज्ञानाऽभावेन सम्यग्वागुच्चारणमेव अन्योन्यवाग्मुक्तायुक्तत्वविवेकोऽपि च न स्यात्, एव नैगमादितत्तत्तयाऽनपेक्ष्य जीवाजीवाद्यर्थ एवस्वरूप इति सूक्ष्मेक्षिकया विचाराऽरूपे यथार्थज्ञानाऽभावेनऽयुक्तमपि युक्त युक्तमप्ययुक्त प्रतिभासेत, किञ्च परममयरूप यदेकान्तनित्यत्वादिप्रतिपादकमेकनयमत तदेकान्तनित्यत्वादिप्रतिपादकेन तत्प्रतिपक्षभूतेनान्येन नयेन नयविधिज्ञो यदि स्यात्तदा निराकुर्यात्, नान्यथा, किञ्च स्वसिद्धान्तेऽपि यदज्ञानद्वेषादिकल्पितस्तन्कोऽपि दोषयुद्ध्या किमपि यजीवादिवस्तु अन्यथा यो नयविधिज्ञस्म एव नयोक्तिभिर्यथार्थतया स्थापयेत्, अन्यथा तु कणीय एवेति सिद्धम् । नन्वेव तर्हि जीवो यज्ञैव, यज्ञैव, घटादिवत्, यज्ञैव, तत्रैव, आत्मवदित्येव लक्षणमेव, अत एव

चेतनावशात्, यश्चेतरभिन्न तन्न चेतनावत् यथा घटः; एवमजीव इतरभिन्नः अचेतनावत्वात्, यश्चैव तन्नैव यथात्मा इत्येवमितरभेदानुमापकमपि लक्षणमेव, तथा च नयो नयत्वेन व्यवहर्त्तव्य इति व्यवहारज्ञानप्रयोजनको नय स्वैतरसशयविपर्ययादिभिन्न इत्यनुमित्युपपादकञ्च नयसामान्यलक्षण किमित्याशङ्कायां तत्प्रतिपादनीयम्, तन्निरूपणे च कृते तज्ज्ञानन नयो नयत्वेन व्यवहर्त्तव्य इतरभिन्नत्वेन च ज्ञातव्य इति सामान्यतो नय-गोचरज्ञाने जाते मति नयभेदजिज्ञासया कतिभेदा नयानामिति प्रश्ने कृते मूलजातिभेदतो नया नैगमादपस्मत्तेत्युचरे दत्ते नवत्वावान्तरतच्छर्मावच्छिन्नतत्तन्नयलक्षणजिज्ञासया नैगमादितत्तन्नयलक्षणमव्याप्यादिदोषाऽऽकुरुञ्चित किमिति प्रश्ने कृते शिष्येण तदपि वाच्यमिति चेत्, उच्यते, श्रुयता सावधानीभूय, श्रुतप्रमाणपरिच्छिन्नानन्तधर्माव्यामितवस्तुनो गजनिर्मूलिकान्यायेन तदितरधर्मोदासीन्यतस्स्यामिप्रेतैकधर्माग्राही प्रतिपत्तुरभिप्रायविशेषो नय इति नयसामान्यलक्षण जानीहि । तदुक्त प्रमाणनयतत्कालोक्तलङ्कार मत्तमपरिच्छेद—

“ नीयते येन श्रुताख्यप्रमाणविषयीकृतस्वार्थस्थाशस्तदि-  
तराशौदासीन्यत. स प्रतिपत्तुरभिप्रायविशेषो नयः ॥ १ ॥ ” इति  
तत्संवादी चाय श्लोकः—

“ श्रुताथांशाश एवेह, योऽभिप्रायः प्रवर्त्तते ।  
इतराशाऽप्रतिक्षेपी, स नय. सुव्ययमिथत ॥ १ ॥ ” इति ।

न्यायाचार्यश्रीपशोविजयोपाध्यायमगवन्तस्तु अनन्तधर्मात्मक वस्तुनि प्रतिनियत-धर्मप्रकारकापेक्षात्मकशाब्दबोधत्त ज्ञानात्मकनयत्व, वाक्यपाठमकनयत्वं तु तादृशशाब्दबोधजनकवचनत्वमिति नयलक्षण प्राहुः । तदुक्त नयोपदेशे—

“ मन्वास्तत्रानुपेतार्थे-परपेक्षावचन नय ।  
न विवेचयितु शक्य, विनाऽपेक्षा हि मिश्रितम् ॥ २ ॥ ” इति ।

अपेक्षात्वञ्च ध्योपशमजन्यतावच्छेदको जातिविशेषो विषयिताविशेषो वेत्यन्यदेतत् । ननु घटोऽस्तीत्यादिवाक्यश्रवणाद् घटत्वनिष्ठप्रकारतानिरूपितनिस्वच्छिन्ननिश्चयत्वाऽभिन्न-घटत्वावच्छिन्नविशेष्यतानिरूपितास्तित्वनिष्ठप्रकारताकशाब्दबोधो स जात इत्येव लोकाः प्रतीयन्ति, न तु तत्रापेक्षात्वमपीत्यपेक्षात्मकनयज्ञानमन्त्र किं प्रमाणमिति चेत्, उच्यते-विरुद्धत्वेन प्रतीयमाना ये सत्रामन्त्रनित्यत्वानित्यत्वादयो नानाधर्मास्तद्विशिष्ट वस्त्वपेक्षा विना विरहितैकधर्मप्रकाररुनिश्चयविषयीकर्तुं न शक्यम्, तद्विरुद्धधर्मवत्ताज्ञानस्यानपेक्षात्मकस्यानुपपत्तौ, तथाहि—तदभावतद्व्याप्यत्वादिनिश्चयदशायामपि तद्वत्ताज्ञानस्याव्याप्य



वृत्तिवद्विज्ञानकालीनस्याहार्थस्य च दोषविशेषजन्यस्य च लौकिकसन्निकर्षजन्यस्य चोदयेन  
तेषा सर्वेषां प्रत्येक भेदानां प्रतिबन्धतावच्छेदकतया निवेशापेक्षया तेषु सर्वेष्वपेक्षात्वजाति  
मभ्युपगम्य तद्वदन्यत्वनिवेशे लाघवमिति प्रतिबन्धतावच्छेदकभेदप्रतियोगितावच्छेदकतया  
तस्मिद्धिः, एवञ्च तद्वर्तमानपक्षरत्तया निश्चिते धर्मिणि तद्वर्तमानज्ञानमन्यथानुपपन्न सत्त्व  
गतत्वेनाऽपेक्षात्व निश्चयतीत्यन्यथाऽनुपपत्तिस्तत्र प्रमाणम्, सैव सर्ववलाधिका, बल  
वत्प्रमाणत्वात्। तदाह श्रीदर्पः-खण्डनखण्डखाद्ये परि० १, श्लो० ६

“ अन्यथानुपपत्तिश्चेदस्ति वस्तुप्रसाधिका ।

पिनष्ट्यहृष्टवैमत्यं, सैव सर्ववलाधिका ॥ १ ॥

वाच्याऽन्यथोपपत्तिर्वा, त्याज्यो वा हृष्टताऽऽग्रहः ।

न ह्येकत्र समावेश-च्छायाऽस्तपवदेतयोः ॥ २ ॥ ” इति ।

न चापेक्षां विना लौकिकोऽपि व्यवहारः सङ्गच्छते, शाखाया कपिसयोगी वृक्षो न तु  
मूल इत्येव मूलावच्छेदन कपिसयोगाभाववति वृक्षे शाखापेक्षयैव कपिसयोगवत्त्वव्यवहारात्,  
न च शाखावच्छेदेन कपिसयोगावगात्रेवाय व्यवहारो न स्वपेक्षात्मक इति वाच्यम्, शाखा  
वच्छिन्नो वृक्ष कपिसयोगवान् न तु सम्पूर्ण इति प्रत्ययस्य स्कन्धदेशापेक्षा विनाऽनुपपत्तेः,  
यतः शाखानच्छिन्ने वृक्षे कपिसयोगरत्त्वे सम्पूर्णं तत्र कपिसयोगाभावः स्कन्धरूपदेशे  
कपिसयोगाभावयुक्त एव, अन्यथा शाखावच्छिन्ने वृक्षे कपिसयोगवत् स्कन्धावच्छिन्नेऽपि यदि  
कपिसयोगसस्यात्, तर्हि कोऽयं शाखा-स्कन्धाभ्यामन्यः सम्पूर्णो वृक्षः ? यत्र कपिसयोगा  
भागो भवेदिति, ततश्च स्कन्धे कपिसयोगो नास्तीत्येतावतैव सम्पूर्णो वृक्षः ‘कपिसयोगा  
भाववान्’ इति व्यवह्रियते, अतस्स्कन्धान्मकदशापेक्षामाश्रित्यैव तथा व्यवहारः, अन्यथा  
तदनुपपत्तेरिति । घटपटयोः रूपमिति प्रत्ययः, सङ्गहनयाश्रयणेन रूपत्वेन रूपेण मर्वत्र रूप  
सामान्यमेकमेवति तद् घटपटोभयत्र वर्त्तत इति सामान्यापेक्षया यथार्थ इति सोऽपेक्षा निष्ट  
ङ्कपति, घटपटयोर्न रूपमिति प्रत्ययश्च व्यवहारनयाश्रयणेन नीलपीतादिरूपविशेषातिरिक्त  
रूपसामान्य नास्त्येवेति तत्तद्रूपव्यक्तित्वेन रूपेण तत्तद्रूपविशेषो नोभयत्रेति विशेषापेक्षया  
यथार्थो भवन्नपेक्षामिदं वस्तुवत्तदपेक्षया महत् एतदपेक्षया च ह्रस्वमिति प्रत्ययोऽपि च तां  
साधयत्येव, दुर्नयानामपि सम्पद्दृष्टिमिः परिग्रहे सति तेषां सुनयीकरणमप्युक्ततापेक्षयैव,  
तादृशापेक्षाविनिर्माके तु वस्तुस्थित्या दुर्नयत्वमेव, तद्व्यतिरेकेणैकान्ततत्त्वावगाहित्वात्तेषा-  
मित्यल पञ्चवितेन ॥ अधिकजिज्ञासुभिर्नयोपदेशवृत्तिरवलोकनीया, गौरवभीत्या नाधिकमन्यते।

तत्तन्मलक्षण त्वेवम्-निगमेषु येऽभिहिताश्शब्दास्तेषामर्थः शब्दार्थपरिज्ञानश्च  
देशसमग्रग्राही नैगम इत्युक्त नैगमलक्षण तत्त्वार्थभाष्ये । अस्य चायमर्थ - निश्चयेन गम्य  
न्ते उच्चार्यन्ते प्रयुज्यन्ते येषु शब्दास्त निगमा जनपदाः, तेष्वभिहिता उच्चारिता ये शब्दा

पटादयः, तेषामर्थो जलाहरणादिममर्थः, शब्दार्थरिञ्जामश्च, अयं शब्द एतस्यार्थस्य वाचकः, अयमर्थ एतस्य शब्दस्य वाच्य इत्येव वाच्यवाचकमात्रपरिह्वानश्च नैगमनयः, स च सामान्यविशेषावल्ग्वीत्येतद्दर्शयति-देशो विशेष समग्र सामान्य तद्वाही, अयं हि सामान्यग्राही जातिमेव पदार्थमाह, विशेषग्राही च द्विक्रमिकादिकम्, तथा चोक्त विचित्रप्रकार नैगमनपमाश्रित्य—

“ एकं द्विकं त्रिकं चाप्य, चतुष्कं पञ्चकं तथा ।

नामार्थं इति सर्वेऽस्मी, पक्षा शास्त्रे निरूपिताः ॥ १ ॥ ” इति ॥

तत्रैकमिति केवलजातिम्, पक्षान्तरे केवलव्यक्ति जातिविशिष्ट वेत्यर्थः, द्विकमिति जातिव्यक्ती इत्यर्थः, त्रिकमिति जातिव्यक्तिलिङ्गानीत्यर्थः, चतुष्कमिति बहुव्यामहित त्रिकमित्यर्थः । पञ्चकमिति कारकमहित चतुष्कमित्यर्थः । केचित्तु शब्देन सह षडपि नामार्थाः, तस्यापि नियत शब्दबोधे भानात्, अन्यथा निष्पुमृचारयेत्यादावगतेः, अर्थोच्चारणासम्म वादित्याहुः । अन्ये च बुद्धिप्रतिनिम्बकान्यापोह एव शब्दार्थ इति प्रतिपादयन्ति । अस्य विस्तरतोऽर्थः । तत्रार्थप्रथमाव्यायनिवरणतोऽस्मत्प्रणीततद्धीकातश्चावसेय । एवमेते सर्वेऽपि शब्दार्थाव्यवसाया नैगमनये मम्मन्ति, प्रत्यक्प्रसुतिदृष्टान्तेन विचित्रस्य तस्य सूत्रे प्रतिपादनात्, तथा चैतादृशाव्यवसायवृत्तिद्रव्यार्थिकत्वव्याप्यजातिमत्त्वं नैगमलक्षणमनुगत बोध्यम् । अत्र नैगमनपस्य नानाप्रकारत्वाच्चैगमत्त्वजातिमादाय तत्सर्वप्रकारसमग्रार्थं द्रव्यार्थिकत्वव्याप्यजातिपर्यन्तानुधान्न कृतमिति । तद्वृत्तिजातिमात्रनिवेशे नैगमत्त्वजातिमादाय नानाप्रकारसर्वनैगमनयमल्लहणाव्याप्तिदोषनिवृत्तायपि महामामान्यमत्ताजातिमादाय वस्तु मात्रेऽतिव्याप्तिस्स्यात्, तन्निरारणाय तद्वृत्तिज्ञानत्वव्याप्यजातिनिवेशे नयत्वजातिमादाय पर्यापार्थिकनयेऽतिव्याप्तिस्स्यात्, तद्वारणाय तद्वृत्तिनपत्त्वव्याप्यजातिनिवेशं द्रव्यार्थिकत्वजातिमादाय सङ्घादावतिव्याप्तिस्स्यादित्यतस्तद्वृत्तिद्रव्यार्थिकत्वव्याप्यजातिनिवेशं कृतम्, न चैतमपि द्रव्यार्थिकत्वजातेऽस्मान्मत्त्ववृत्तिव्याप्यत्वेन सामादाय मल्लह-नयादावतिव्याप्तिस्तदवस्थैवेत्याशङ्कनीयम्, तत्तमानाधिकरणभेदप्रतिपोगितावच्छेदकत्व लक्षणन्यूनवृत्तित्वार्थकस्य व्याप्यत्वस्यात्र ग्रहणात्, यदि तदभाववद्वृत्तित्वमेव व्याप्यत्वमित्यवाग्रहस्तदा स्वस्य स्वव्याप्यत्ववारणाय स्वभिन्नत्वेनापि व्याप्यजातिविशेषणायति । एवमग्रेऽपि भावनीयम् । दध्नित्यञ्जोति षोडश नित्य णञो नियमसुद्धजादञ्जो ॥ ९ ॥ इत्यादि सम्मतिग्रन्थपर्यालोचनया अनुगतद्रव्यार्थिकत्वजात्यभावपक्षे तु नैगमनयस्य यावन्तोऽध्य-वसायविशेषास्तावदध्यवसायविशेषान्यतमत्त्वं नैगमलक्षणमवसेयम् । एवमग्रेऽपि यस्य नयस्य यावन्तोऽध्यवसायविशेषास्तस्य नयस्य तावदध्यवसायविशेषान्यतमत्वमव लक्षण बोध्यमिति । “ सामान्यविशेषो मयस्वीकर्तृजातीयैकदेशबोधत्वं नैगमत्त्वम् ” इति नयोपदश

पुण्युक्तनैगमलक्षणमत्रोपमम्, अथवा प्राधान्येन सामान्यविषयकाध्यवसायवृत्तिन्वे मति प्राधान्येन विशेषविषयकाध्यवसायवृत्तिद्रव्यार्थिः क्वच्यप्यजातिमत्त्वं नैगमत्वमित्याद्यपि लक्षणमूढम् । अत्र मत्त्यन्तनिवेशात् व्यवहारेऽतिव्याप्तिः, सुनयवृत्तेर्ष्यरहास्त्वस्य गौणवृत्त्या सामान्यविषयकाध्यवसायवृत्तित्वेऽपि प्राधान्येन तद्विषयकाध्यवसायवृत्तित्वाभावात्, व्यवहारेण प्रधानतया विशेषविषयकाध्यवसायस्यैवाऽऽभ्युपगमात्, प्राधान्येन विशेषविषय-केत्याद्युपादानात् सद्ब्रह्मनयेऽतिव्याप्तिः, सुनयवृत्तेस्मत्प्रहस्त्वस्य गौणतया विशेषविषयकाध्यवसायवृत्तित्वेऽपि प्रधानवृत्त्या तद्विषयकाध्यवसायवृत्तित्वाभावात्, प्राधान्येन सामान्यविषयकत्वे सति प्राधान्येन विशेषविषयकाध्यवसायत्व नैगमत्वमित्येतावन्मात्रोक्तौ च यद्यपि प्रमाणात्मकज्ञाने नातिव्याप्तिः, यतस्तस्य प्राधान्येन सामान्यविशेषोपविषयकत्वेऽपि सामान्यविशेषोपविषयकत्वेन जात्यन्तरस्वरूपवस्त्ववगाहित्वत् एव तस्य निरुक्तोपवाधगाहित्वमिति तत्र सामान्यविषयत्वविशेषविषयत्वयोरकवस्त्ववच्छेदेन समानाधिकरणयोरवच्छेद्यावच्छेदकभावः, नयनिरूपितयोश्च तयोरेकवस्तुविभिन्नांशमाश्रयतयोर्नावच्छेद्यावच्छेदकभाव इति मियोऽवच्छेद्यावच्छेदकभावानापन्नपोरेव सामान्यविशेषविषयत्वविशेषयोर्निरुक्तनैगमलक्षणे प्रवेशात् । तथापि—

इत्युक्तलक्षणनैगमस्य “ सचैतन्यमात्मनि १ । वस्तु पर्यायवद्रूप २ । धनमेकं सुखी विषयामक्तजीवः ३ । ” इति नैगमनयोदाहरणत्रयेऽप्यव्याप्तिस्त्वात्, तत्र प्रधानोपमर्जनमात्रविवक्षणादिति तद्वारणाय प्राधान्येन सामान्यविषयकाध्यवसायवृत्तित्वे सति प्राधान्येन विशेषविषयकाध्यवसायवृत्तिद्रव्यार्थिः क्वच्यप्यजातिमत्त्वं नैगमत्वमित्युक्तम् । तथा च नैगमस्य धर्मद्वयविषयके प्रथमभेदे धर्मियुग्मगोचर द्वितीयभेदे धर्मधर्म्यालम्बने तृतीयभेदेऽपि च नैगमत्वजातिमादायोक्तलक्षणमन्वयात्प्राप्त्याः, एवञ्च पटोऽप्यपटोऽप्यमित्याद्येकैकधर्ममाश्रावगाद्यवसायेऽपि तादृशाध्यवसायवृत्तिद्रव्यार्थिः क्वच्यप्यनैगमत्वजातिर्वर्तत इति न तेष्वप्यव्याप्तिः । अत्रापि अन्यत्सर्वं पूर्ववद्दृष्टम् इति ।

“ धर्मयोर्धर्मिणोर्धर्म-धर्मिणोश्च विवक्षणम् ।

गुणप्रधानभावेन, नैगमस्तद्विदा मत. ॥ १ ॥ ”

इति श्लोकेन “ धर्मयोर्धर्मिणोर्धर्मधर्मिणोश्च प्रधानोपमर्जनभावेन यद्विवक्षणं स नैकगमो नैगमः ॥ ७-७ इति प्रमाणनयनत्वालोकालङ्कारसूत्रानुसारिणोक्तस्य नैगमनयलक्षणस्य पर्यवसनश्चैव द्वेषम्-पर्याययोर्द्रव्यवस्तुनोः पर्यायद्रव्ययोश्च मुख्यामुख्यरूपतया यो विवक्षात्मकाऽभिप्रायस्तद्वृत्तिद्रव्यार्थिः क्वच्यप्यजातिमत्त्वं नैगमनयत्वमिति । अत्र नैगमस्य धर्मद्वयगोचरप्रथमभेदस्योदाहरणम्—“ सचैतन्यमात्मनीति ” तत्र चैतन्याख्यस्य व्यञ्जनपर्यायस्य

विशेष्यतया मुख्यत्वेन सत्कारणस्य च व्यञ्जनपर्यायस्य चैतन्यविशेषणत्वेनामुरूपत्वेन  
 त्रिवक्षणम्, नैगमस्य धर्मिद्वयगोचरद्वितीयभेदस्योदाहरणम्—“ वस्तु पर्यायवद्द्रव्यमिति ”  
 अत्र पर्यायत्रयव्य वस्तु वर्तते इति त्रिवक्षायां पर्यायवद्द्रव्याख्यस्य धर्मिण उद्देश्यतया  
 विशेष्यत्वेन प्राधान्यम्, वस्तुख्यस्य तु धर्मिणी विशेष्यत्वेन प्रकारतया गौणत्वम् । यद्वा  
 किं वस्तु पर्यायवद्द्रव्यमिति त्रिवक्षायां वस्तुनो विशेष्यत्वात् प्राधान्य, पर्यायत्रयद्रव्यस्य विधे-  
 यतया प्रकारत्वविषयताद्वैतत्वम्, धर्मधर्मिगोचरद्वितीयभेदस्योदाहरणम्—“ क्षणमेक सुखी  
 विषयामक्तजीव इति ” । अत्र विषयामक्तजीवाख्यस्य धर्मिणो मुख्यता, विशेष्यत्वात्,  
 सुखलक्षणस्य तु धर्मस्याप्रधानता तद्विशेषणत्वेनोपात्तत्वादिति । न चास्यैव प्रमाणत्वानुपपन्नं,  
 धर्मधर्मिणोर्द्वयोः प्राधान्येनात्र ज्ञप्तेरममभावात् । तयोरन्यतरमेव हि नैगमनय प्रधानतया  
 विषयीकरोति “ प्राधान्येन द्रव्यपर्यायद्रव्यात्मक चार्थमनुभवद्वितान प्रमाण प्रतिपत्तव्य  
 नान्यत् ” इत्याकरे प्रोक्तत्वात्प्रमाण तु प्राधान्येन द्रव्यपर्यायोभयरूप जात्यन्तरात्मकमर्थ  
 यद्वाति न तु नयवत्प्रधानगुणभावेनेति तत्रोक्तनयलक्षणमङ्गत्पमावाञ्जातिप्रमद इति ।

सङ्ग्रहलक्षण त्वेवम्—“ अर्थाणां सर्वैरुदेशमङ्ग्रहण सङ्ग्रहः ” इति तत्त्वार्थस्य  
 प्रोक्तम् । तस्यापमर्थः—अर्थाणां घटादीनां सर्वं सामान्यमेकदेशे विशेषस्तयो सङ्ग्रहयदेक  
 भावेनाभयण मर्ममेक सद्विशेषादित्यव्यवसाय इति यावत्स मङ्ग्रहो मप्यते । तत्र सङ्-  
 विशेषादित्यस्य चेतनाचेतनपदार्थमात्रे सन् मन्निन्यनुगतप्रतीतिमावाचयित्वात्तद्व्यवसायेन  
 रूपेणाशेषार्थानामविशेषादमेदादित्यर्थ । तथा चाशेषविशेषोदाहारेण मङ्ग्रहो मप्यते  
 रूपेण वस्तुमात्राभेदाध्यवसायस्तद्व्यवसायव्यवसायव्यवसायव्यवसायव्यवसायव्यवसायव्यवसाय-  
 नयलक्षणमवसेयम्, तेनापरमङ्ग्रहस्य द्रव्यत्वान्निवेश इत्येवमिति तद्व्यवसायेना-  
 गाहिन उक्ताध्यवसायत्वामावेऽप्युक्ताध्यवसायव्यवसायव्यवसायव्यवसायव्यवसायव्यवसाय-  
 सत्त्वाभावापत्तिः, अत एव न प्रत्येकमप्यलप्रदाद्विद्वत्तद्व्यवसायव्यवसायव्यवसायव्यवसायव्यवसाय-  
 सद्व्यवसायव्यवसायव्यवसायव्यवसायव्यवसायव्यवसायव्यवसायव्यवसायव्यवसायव्यवसाय-  
 स्वीकारेऽपि तद्रूपेण निखिलवस्तुन्यमेदाध्यवसायव्यवसायव्यवसायव्यवसायव्यवसायव्यवसाय-  
 नीयम् । सङ्ग्रहस्यापि प्राधान्येन विशेषविशेषके ए प्रोक्तद्वये वद्व्यवसायव्यवसायव्यवसाय-  
 सामान्यत्रियपरैरुदशबोधव्यवसायव्यवसायव्यवसायव्यवसायव्यवसायव्यवसायव्यवसाय-  
 लक्षणान्तरमप्यवसेयम् । अत्रावृत्तान्तोपादानेनैवमप्यव्यवसायव्यवसायव्यवसायव्यवसाय-  
 व्यवहारत्वजातेरपि तत्र एवोपादानान्तरत्वेनैव व्यवसायव्यवसायव्यवसायव्यवसायव्यवसाय-  
 व्याप्यभावेन प्राधान्येन सामान्यविशेषकेऽप्येवमिति तद्व्यवसायेना-  
 लक्षणस्य व्यवहारप्रयोजनत्वे उक्तद्वये तद्व्यवसायव्यवसायव्यवसायव्यवसायव्यवसाय-  
 चारस्वरूपाऽमिद्वयव्यवसायव्यवसायव्यवसायव्यवसायव्यवसायव्यवसायव्यवसायव्यवसाय-  
 तथा व्याप्यत्वामिद्विदोषोपपत्तयेनैव तद्व्यवसायव्यवसायव्यवसायव्यवसायव्यवसाय-

स्वभावविशेषाऽऽलिङ्गितव्यत्तयमिष्यद्गृह्यत्वेन तादृशव्यवहारेणैतन्नयाऽप्यभिप्रेते जातिवदित  
लक्षणस्य जातिविशेषमिच्छावन् एति दुर्ज्ञेयत्वमेव स्यादिति हतुस्वरूपाज्ञानरूपासिद्धिवारक  
तया न तस्य व्यर्थविशेषणघटितत्वप्रयोजकनेत्पुपादेयमेव तदिदं न्येदानुमितपिथेऽपीति ।  
द्रव्यार्थिकत्वमाद्यावृत्त्याप्येति विशेषणस्य जातावनुपादाने यद्यपि ज्ञानतन्त्रयत्वद्रव्यार्थिक  
त्वादिव्यापकचातीरादाय नातिव्याप्तिरत्र ममुन्मिपति, तामां प्राधान्येन विशेषविषयकैक  
देशबोधव्यक्तिवृत्तित्वेनाऽव्युत्पन्नेनैव चारणात्, तथापि नैगमत्वव्याप्यमामान्यमाप्रविषय-  
कबोधगतजातिमादाय नैगमविशेषेऽतिव्याप्तिवारणाद्योपादेयमेवेति ।

“लौकिकसम उपचारप्रायो विस्तृतार्थो व्यवहारः” इति तत्रार्थमाप्यस्वारस्या-  
लौकिकव्यवहारप्रधान उपचारबहुलो विस्तृतार्थविषयको योऽव्यवहारस्तद्वृत्तिद्रव्यार्थिक  
त्वव्याप्यजातिमत्त्वमिति व्यवहारनपर्यवसितलक्षण सिद्ध्यति । लौकिकव्यवहारप्रधान  
इत्यनेनर्जुसुत्रादौ नातिव्याप्तिः, तन्मतं धणिकपदार्थम्येनाभ्युपगमेन घटादिपदार्थानां  
स्यैर्ये सत्येव दृश्यमानस्य तदानपादिलौकिकप्रवृत्त्यादिव्यवहारस्यैवानुपपत्तेः, उपचारबाहु-  
ल्यञ्च स्वेतरनयापेक्षया निरक्षणीयम्, नानः मद्ग्रह नैगमे नयेऽपि च स्वस्वसिद्धान्तोचितो  
पचारसङ्घातेऽप्यतिव्याप्तिः । उपचाराबाहुल्यस्यास्मिन्नेव नये मद्ग्रावात् । नानाव्यक्तिक  
शब्दसङ्केतग्रहणप्रण इत्यर्थक विस्तृतार्थे इति विशेषण नयान्तरतो व्यवहारस्य विषय-  
वैलक्षण्यप्रदर्शनेन विभक्तानेकविशेषविषयकलौकिकव्यवहारस्वरूपावबोधार्थमप्युपात्तम् । उक्त  
लक्षणे नयत्वव्याप्यजातिनिशेषे द्रव्यार्थिकत्वजातिमादाय सद्ग्रहादावतिव्याप्तिस्त्वात्,  
अतस्तद्वारणाय द्रव्यार्थिकत्वव्याप्यजातिनिवेशः कृत इति । व्यवहारनपलक्षणान्तर-  
श्रैवम्—व्यवहारो हि सामान्यमतद्रव्यावृत्त्यात्मनेऽभ्युपगच्छति, न तु विद्यात्मनेत्यतो  
विद्यात्मना मामान्याभ्युपगन्त्वव्यवृत्तिस्थिरविशेषाभ्युपगमवृत्तिद्रव्यार्थिकत्वसाक्षाद्-  
व्याप्यजातिमत्त्वं व्यवहारनयत्वम्, अत्रावृत्तीत्यन्तोपादानात् नैगमेऽतिव्याप्तिः, तेन  
नयेन विद्यात्मना सामान्याभ्युपगमात् । मद्ग्रहत्वव्युदासस्याप्युक्तविशेषणेनैव सम्भवे  
स्थिरविशेषाभ्युपगमवृत्तीत्युक्तिर्जातिविशेषस्वरूपाभिव्यक्त्यर्थमेवेति, द्रव्यार्थिकत्वसाक्षाद्द्रव्या-  
प्यत्वस्य जातिविशेषणतयोपादानाश्रयमत्त्ववान्तरस्थिरविशेषाभ्युपगममावृत्तिजातिमादाय  
नैगमविशेषे नातिव्याप्तिः । अस्मिँल्लक्षणे व्यवहारत्वजातिमादाय सर्वव्यवहारनयस्य  
सङ्गहो भावनीय इति । ‘दृष्टव्यपपडी सुद्धा’ इत्याद्युक्त्या द्रव्यार्थिकनयप्रकृतिशुद्धा  
सङ्गहाख्या, अशुद्धा तु सा व्यवहारारूपति द्रव्यार्थिकस्य मद्ग्रहव्यवहाराभ्यामेव विभाग-  
करणादतत्प्रकरणकारमते नातिरिक्तो नैगमनयः, अत एव ‘एव मत्तं विषयते’ इत्यादि-  
गाथाव्याख्याने मत्तमङ्गथा न कथिद्गहो नैगमनयोत्य’ प्रतिपादित, अर्थनये सङ्गह-  
व्यवहारसुद्धात्मकनयत्रयस्यैव ग्रहणादिति तल्लक्षणायास्तो निष्कल एव, एतन्मते  
सङ्गहस्य परसङ्गहापरमद्ग्रहाभ्यां भेदद्वयमपि नास्ति, तथा चैतन्मते मद्ग्रहणाति सत्त्वेन

रूपेण सर्वं वस्तु क्रोडीकरोति एकीकरोतीति मद्ब्रह्म इति व्युत्पत्तिबललभ्य सत्त्वेन रूपेण सर्वं स्वमेदग्राहिनयस्मद्ब्रह्मनय इति सद्ब्रह्मनयलक्षण पर्यवस्यति, व्यवहारनये हि घटोऽस्ति पटोऽस्ति कटोऽस्तीत्यादि व्यवहारस्तोऽपि स्वरूपसत्त्वैव, न त्वतिरिक्तैकानुगतमत्तया, स्वरूपसत्त्वा तु घटोऽस्ति पटोऽस्तीत्यान्वयैस्वरूपसत्त्वं पटस्वरूपमन्वित्यर्थकत्वेन प्रतिव्यक्तिनियतभिन्न-भिन्नरूपैवेत्येकानुगतसत्त्वालक्षण महामामान्य नास्त्येव, अत एव स्यादस्त्येव घटः स्यान्नास्त्येव घट इत्यादिमत्सद्ब्रह्मया मत्तारूपास्तित्त्वप्रतिपादकस्य प्रथममङ्गस्य मद्ब्रह्ममूलकत्वम्, सत्त्वाभावपर्यवमितमत्ताप्रतिपक्षरूपनास्तित्वात्मकप्रतिपादकस्य द्वितीयमङ्गस्य व्यवहारमूलकत्व मद्ब्रह्मत्वे, न चैतत्स्वरूपनामूलम् 'एव मत्तं नियम्यो' इत्यादिमम्मतिगाथा टीकार्या "तत्र मामान्यग्राहिणि मद्ब्रह्म प्रथमः, विशेषग्राहिणि व्यवहारे द्वितीय इत्यादि नोक्तत्वादिति । उपपादितश्चैतन्नयोपदेशवृत्तौ यद्वर्मप्रकारक सद्ब्रह्मरूपो बोध प्रथममङ्ग-फलत्वेनामिमत्त' तद्वर्माभावप्रकारको व्यवहारारूपो बोध एव द्वितीयमङ्गफलत्वेनैष्टव्य इति निरूपणेन, किन्तु द्रव्यत्वपृथिवीत्वघटत्वपटत्वादिलक्षणमवान्तरसामान्यमेवास्ति तत्तदवान्तरसामान्यात्मकोपादयताञ्छेदनीभूतधर्मेणोपादय इष्टमाधनत्वज्ञानेनोक्तधर्मावच्छिन्नोपादेयार्थविषयकप्रवृत्तेः इत्यतान्छेदकन तत्तदवान्तरसामान्यधर्मेण ह्येऽनिष्टसाधनत्व-ज्ञानेनोक्तधर्मावच्छिन्नहयार्थविषयकनिवृत्तेशोपेक्षणीये चोपेक्षणीयताञ्छेदनेऽनिष्टमाधनत्वानिष्टमाधनत्वान्यतरानवच्छेदकरुधर्मपर्यवमितेन तत्तदवान्तरसामान्यधर्मेणैष्टमाधनत्वानिष्ट-साधनत्वान्यतरसामान्यज्ञानन तादृशधर्मावच्छिन्नोपेक्षणीयार्थविषयकोपेक्षायाम् भावात् । तथा चोपादेयहेयोपेक्षणीयविषयकप्रवृत्तिनिवृत्त्युपेक्षालक्षणव्यवहारमत्पादकप्रतिवस्तुवचनार्थनिश्च-यो व्यवहारनय इति व्यवहारनयस्य पर्यवस्यितलक्षणम् । यद्वा मत्ताभिन्नपरापरसामान्य यावदन्त्यविशेषाम्युपगमप्रवणनयो व्यवहारनय इत्येतन्नरूपरुन्मूरिभगवदाशयः । इद-न्त्वत्रावधेयम्, प्रतिव्यक्तिभ्युरूपमत्ताऽभ्युपगमो यो व्यवहारनयस्य, स महामामान्य सत्त्वानभ्युपगमपरो हेयो न तु महामामान्यमन्त्रानभ्युपगमवद् द्रव्यत्वादिमामान्यविशेषा-णामनभ्युपगमोऽपि तस्य, तथा सति द्रव्यत्वादिरूपेणास्तित्वप्रतिपादक द्रव्यतयाऽस्त्येव घट इति प्रथममङ्गे मति स्यान्नास्त्येव घट इति द्वितीयमङ्गो यदि व्यवहारनयमस्युत्थं, तदा प्रथममङ्गो नैगमानभ्युपगन्त्वसिद्धसेनमत न नैगमनयमस्युत्थो, न या ऋचलमहामामान्य सत्त्वानभ्युपगन्त्वसद्ब्रह्माभ्युपगमप्रवणे तन्मते सद्ब्रह्मनयमस्युत्थ इति मूलीभूतस्य कस्यचिन्नय स्यान्नाऽद्रव्यतयाऽस्त्येव घट इति प्रथममङ्ग एव न प्रवर्तते, तदभाव तत्प्रतिपक्षप्रतिपादको द्वितीयमङ्गोऽपि द्वितीयस्थान नाभिधातु शक्येत, अतो नैगमानभ्युपगन्त्वसिद्धसेनमत महा सामान्यसत्त्वमात्राभ्युपगमप्रवणत्व मद्ब्रह्मस्य, तदतिरिक्तान्तरद्रव्यत्वपृथिवीत्वादिसर्व सामान्यविशेषाम्युपगन्त्वत्व यन्नैगमगत परामिषेन लक्षण तद्व्यवहारस्य, तथा नैगमनयाम्यु-पगन्त्वमते . . . . . स्य, तदप्यवश्यमभ्युपेयम्,

एवञ्च व्यवहारस्याशुद्धद्रव्यार्थिकप्रकृतिकस्वाशुद्धता तदैव स्याद्यदि तस्य मङ्गलविषययोग्य-  
विधिरूपमामान्यमिश्रितस्वरूपविषयकत्व भवेत्, तथा च शुद्धद्रव्यार्थिकमङ्गलशुद्धता-  
द्विशेषात्मकत्वेनाशुद्धमवान्तरसामान्य मा नाम विषयीकरोतु तथापि तत्सङ्गहविषययोग्यता  
वच्छेदकविधिरूपसामान्यत्वाक्रान्तत्वेन सङ्गहविषययोग्य भवति, तच्च विशेषावगाहित्वस्व-  
भावेन व्यवहारेण विधिरूपतया विषयीकर्तुमशक्यमपि अतद्व्यावृत्तिरूपतया विषयीक्रियते,  
तदभिलाषकश्च द्रव्यत्वादिशब्दो यादृश तद्भवेत्तादृश समग्रविषययोग्यतावच्छेदकविधि-  
रूपसामान्यत्वाक्रान्त तदवगमयति, यदि व्यवहारनादशादतद्व्यावृत्तिस्वरूपतयैव तदवगम-  
येत्ता मङ्गलविषययोग्यविधिस्वरूपाऽत्रिश्रमणादशुद्धतैव तदादशकस्य व्यवहारस्य न स्यात्,  
अभ्युपगम्यत चाशुद्धता तस्य, न चैवमक्रान्तनाशुद्धतैव व्यवहारस्य, स्थिरान्त्यविशेषविषय-  
कत्वेन शुद्धत्वस्यापि सम्भवात्, एवञ्च सङ्गहस्यापरमङ्गलप्रभेदानभ्युपगमे अपरमङ्गल-  
स्थानाभिषिक्तेनाशुद्धव्यवहारविशेषण विधिरूपाऽजहद्द्रव्यतद्व्यावृत्तिस्वरूपेण द्रव्यत्वादिना  
ऽस्त्येव घट इति प्रथमो मङ्गलसमग्रविषययोग्यतावच्छेदकविधिरूपमामान्यत्वाक्रान्ताऽतद्-  
व्यावृत्तिविषयकव्यवहारमूलकः प्रवर्तते, रुवलैकातद्व्यावृत्तिस्वरूपेण चान्त्यविशेषेण स्यान्ना-  
स्त्येव घट इति द्वितीयमङ्गल. प्रथममङ्गलविषयधर्मप्रतिपक्षधर्मविषयकोऽन्यादृशव्यवहारमूलकः  
प्रवर्तते इति द्रव्यत्वादीनां यदतद्व्यावृत्तिरूपत्व तदत्र विशेषरूपत्व, अतद्व्यावृत्तिरूपात्मनैव  
द्रव्यत्वादिक विषयीकरोति प्राधान्येन व्यवहार इति व्यवहाररूपत्वमेव मति सुरक्षित भवति,  
विधिरूपता तत्र द्रव्यत्वादौ सती नापलपितु योग्या, तथा सत्यशुद्धतैव तस्य न स्यादिति  
विधिरूपेण व्यवहरणमपि युक्तमेव, स्वरूपमत्ताभ्युपगमस्तु व्यवहारस्य महामत्ताभ्युपगम-  
विरोधी न तु द्रव्यत्वाद्यभ्युपगमविरोधी, इत्थमभ्युपगमे न कापि शङ्का समुद्भवतीति ।

सता साम्प्रतानामर्थानामभिधानपरिज्ञानमृजुसूत्र इति तत्रार्थभाष्यम्, ऋजु-  
सूत्रप्रत्येऽतीतानागतकालावच्छिन्नावर्धोर्विनाशानुत्पत्तिभ्याममस्वमेव, यदि स्यातामतीताना-  
गतन तर्हि मृतपुत्रिका युवति' पुत्रकमुद्दिश्य रुचात्, न च पुत्रार्थिनी योपित् औपयाजिकादि-  
विशिष्टदवतासन्निधौ विदध्यात्, रोदनादिकार्यदर्शनात्ते न स्त., तयोरमद्रूपयोरभ्युपगमश्च  
कुटिल इति हेतोरतीतानागतकालभेदेनार्थभेद., तद्वेद च तद्वत्तद्वाचकशब्दोऽपि भिन्न एव,  
वाच्यभेद वाचकभेदस्यावश्यम्भावात्, तज्वानमपि भिन्नमेव, न त्वेकम्, अतीतार्थावगा-  
हित्वस्वभावानागतार्थावगाहित्वस्वभावात्मरुधर्मभेदेन ज्ञानात्मरुधर्मभेदस्यापि भावात्,  
अत एवोक्तभाष्यस्य—' अर्थमभिधान परिज्ञानञ्च वर्त्तमानमेव योऽध्यवसायो  
ऽभ्युपैति स ऋजुसूत्र ' इत्यर्थस्तत्रोपाध्यायैः कृतः । अत्र यद्यपि वर्त्तमानक्षणमात्रवर्त्ति-  
परमार्थसदर्थशब्दपरिज्ञानाभ्युपगमन्यध्यवसायविशेषा यावन्तस्तावदध्यवसायविशेषान्यतम-  
त्वमृजुसूत्रत्वमित्यूजुसूत्रलक्षण पर्यवस्यति तादृशान्यतमत्वेन सर्वसूत्रप्रकाराणां सङ्गहणात्  
कृत्राप्यव्याप्त्यादिदोषा, तथाप्यस्य—

“ अतीतानागताकार-कालस्वर्यशिवजितम् ।

यत्तमानतया मर्ध-भृजुसूत्रेण सूच्यते ॥ १ ॥ इत्युक्ति

भावत्वे यत्तमानत्व-व्याप्तिधीरविशेषिता ।

शक्तसूत्र श्रुत. सूत्रे, शब्दार्थस्तु विशेषित. ॥ २९ ॥ ”

इति नयोपदेशयोक्तिश्चानुसृत्य अविशेषिताऽतीतानागतमन्वन्वामावध्याप्यमावत्त्वा-  
 ध्यवमायविशेषा ये ये तदन्यतमन्वमृजुसूत्रत्वमित्युक्त्यानुगतलक्षणमित्यत्र ता-र्यमव-  
 सेयमिति “ वञ्जुप्यमगाही उञ्जुसुत्रो णयविही गुणेषो ” इत्यनुयोगद्वारसूत्रतात्पर्य-  
 मप्यत्रैव बोद्धव्यमिति । अत्राविशेषितपदोपादानाद्विशेषितविशेषिततरविशेषिततमार्थप्राहिणि  
 शब्दादिनपत्रये नातिव्याप्ति, अतीतेत्यादिविगेषणात् नैगमादावप्यतिव्याप्ति, द्रव्या-  
 र्थिकत्वपर्यायार्थिकत्वजातिपक्षे त्वविगेषितातीतानागतमन्वन्वामावध्याप्यमावत्त्वाप्यवमाय  
 वृत्तिपर्यायार्थिकत्वव्याप्यजातिमत्र श्रुजुसूत्रत्वमिति लक्षण महावार्तिकानुसारिपत्रे, पर्याया  
 र्थिकत्वव्याप्यसूत्रत्वजातिपादाय श्रुजुसूत्रप्रतिनिधौशान्तिक्वाप्युपगता यावन्तः प्रकारा.  
 धणिकत्वाम्युपगमोपपादनपरा एकावत्त्वाऽकदाश्रितास्तावत्तु मर्धप्रकारेषु लक्षणमन्वय ।  
 श्रुजुसूत्रनयो द्रव्यार्थिकनयमेदात्मक एवेत्यम्युपगन्तुमिद्वान्तानुसारिपत्रे तु अतीतानाग  
 तमन्वन्वामावध्याप्यमावत्त्वाप्यवमायवृत्तिद्रव्यार्थिकत्वव्याप्यनातिमत्त्वमित्येवमृजुसूत्रलक्ष्य  
 कर्त्तव्यम्, तत्र शब्दादिनपत्रये द्रव्यार्थिकत्वव्याप्यनात्यवमावदेव नातिव्याप्तिरिति तन्नि  
 वारणायाऽविशेषितपदोपादान न कर्त्तव्यमिति दिक् ।

“ नामादिषु प्रसिद्धपूर्वाच्छब्दादर्थे प्रत्यय' साम्प्रत ” इति तत्रार्थमाप्य-  
 निष्कर्षलभ्य भावमात्रप्रमितशक्तिकगुणदन्य छानमिति साम्प्रतापरसत्रकगुणदनपलक्षणम्,  
 जन्यता चात्र नयत्रमाद्याद्व्याप्यजात्यवच्छिन्ना प्राद्या, अत्र माद्यान्वदोरादानात् विवित्र  
 त्वाभैगमस्य भावमात्रप्राहिणि तत्रेद नातिव्याप्ति, नैगमावान्तरमेते उक्तगुणजन्यताया  
 नैगमत्वव्याप्यजात्यवच्छिन्नत्वेन नयत्वमाद्याद्व्याप्यनैगमत्वजात्यवच्छिन्नत्वाभावात्, जन  
 कता च निरुक्तशब्दत्वेन, तत्र मममिच्छदनये सञ्जाभेदेनार्थमेद इति तत्रच्छब्दाव्य  
 पिपयकशब्दबोधोन्वावच्छिन्नमप्रति तत्रत्पदविषयज्ञानत्वेन, एवमेवमभूतनयेऽपि तत्तत्का  
 लावच्छिन्नव्युपचिनिमित्तक्रियाभेदेनाप्यर्थमेद इति तत्रत्क्रियाकालविशिष्टार्थविरपकगुणद  
 बोधत्वावच्छिन्नमप्रति तत्रत्क्रियाव्युत्पत्तिकत्वत्पदज्ञानत्वेन हतुन्याम्युपगमेन निरुक्त  
 गुणदत्वेन कारणत्वान्म्युपगमान्न तत्रातिव्याप्ति, एत सर्वविधतविषयनमसन्तुतत्रवा  
 र्थविवरणटीकायां कृतमिति तत्र म्य विन्त्रगार्थिनाऽवसेपम्, गौरवमीत्या नेह प्रतन्यते ।  
 “ इच्छर विसेविपतर वञ्जुप्यम नञो मरो ” इति विशेषावश्यकनिर्धुक्तयनुयोगद्वारसूत्रो  
 चयनुसारेण तु विशेषिततरसुत्रावामिममार्थप्राहिनपवृत्तिपर्यायार्थिकत्वव्याप्यजातिमत्र गुणद



नयत्वमित्यनुगतशब्दनयलक्षण सिद्धयति, न च ममभिरूढनयादावतिव्याप्तिः, तस्य विशेषि ततमार्थग्राहित्वात् । अत्र ऋजुसूत्रनयो लिङ्गवचनकारकादिभेदेऽप्यभिन्नमर्थमभ्युपगच्छति शब्दनयस्तु न तथा, यतस्तदस्तटीतटमित्यादिशब्दानां भिन्नान्यत्राभिधेयानि, भिन्नलिङ्गवृत्तिरात् स्त्रीपुरुषनपुंसकरत्, तथा गुरुर्गुर इत्यत्राप्यभिधेयभेद एव, भिन्नवचनवृत्तित्वात् पुरुषः पुरुषा इत्यादिवदित्येवमसौ प्रतिपद्यते । नामस्थापनाद्व्यप्यरूपाथ नेन्द्राः तत्कार्या करणात् स्वप्पवत्, किन्तु भावरूप एवेन्द्र इत्यृजुसूत्रापेक्षया विशुद्धत्वाद्विशेषिततरोऽस्याभ्युपगमः, समानलिङ्गवचनानां तु बहूनामपि शब्दानामेकमभिधेयमसौ मन्यते, यथेन्द्रशक्रपुरन्दरादिशब्दानामिन्द्ररूप एकोऽभिधेयः, घटकुम्भकलमादिशब्दानाञ्च घटात्मक एकोऽभिधेयः । तथा चोक्तलक्षणस्यापि लिङ्गसङ्ख्याकारकपुरुषभेदप्रयुक्तार्थभेदाभ्युपगमन्तुत्वे मति भावनिक्षेपमात्राद्यभ्युपगमन्तुत्वे सति समानलिङ्गशब्दवाच्यार्थभेदाभ्युपगमन्ता च य ऋजुसूत्राभिमतार्थग्राहकोऽभिप्रायविशेषस्तद्वृत्तिपर्यायार्थिकनयत्वव्याप्यजातिमन्व शब्दनयत्वमिति पर्यवसितोऽर्थः । अत्राद्यविशेषणेनर्जुसूत्रनयातिव्याप्तिनिवृत्तेर्द्वितीय विशेषण स्वरूपोपरञ्जकमेव, यद्वा द्वितीयविशेषणे मात्रपदोपादानेनर्जुसूत्रातिव्याप्तिनिराससिद्धेराद्यविशेषण स्वरूपोपरञ्जकमेव, समानलिङ्गेत्याद्युक्तेर्न समभिरूढादावप्यतिव्याप्तिरिति ।

“वत्पूजो सकमण होइ अवत्यु नए समभिरूढे” इत्युक्तमनुयोगद्वारसूत्रे विशेषावश्यक निर्युक्तौ च, वस्तुन इन्द्रादेः सङ्क्रमणमन्यत्र शक्यादानिति दृश्यम्, भवति अवस्तु, अवस्तु भवतीत्यर्थः; केत्याह-नये समभिरूढे, समभिरूढमतेनेत्यर्थः । यदा इन्द्रशब्दः शक्रशब्देन सहैकार्थ उच्यते तदेन्द्रशब्दार्थपरमैश्वर्यलक्षणवस्तुनः शक्रनलक्षणे शक्रशब्दार्थे वस्त्वन्तरे सङ्क्रमण कृत भवति, तयोरेकत्वमापादित भवतीत्यर्थः, तथासम्भवित्वादवस्तु, नहि य एव परमैश्वर्यपर्यायः स एव शकनपर्यायो भवितुमर्हति, सर्वपर्यायसाङ्ख्यापत्तितोऽतिप्रसङ्गात्, तथा च वस्तुनो वस्त्वन्तरसङ्क्रमणाभाव एव लक्षण समभिरूढनयमममतमित्यमिप्रेत्य “सत्स्वर्थेऽत्रसङ्क्रमः समभिरूढ ” इत्युक्त वचार्थभाष्ये, सत्सु वर्तमानेषु भावरूपेषु च घटादिष्वर्थेषु, असङ्क्रमः स्वधाचकत्वामिमतशब्दान्तरस्यावाच्यत्व समभिरूढः, अयम्भावः-घटशब्दवाच्यः कुम्भोऽपि इन्द्रशब्दवाच्यश्शक्रीऽपि चाभिन्नमन्यते शब्दनयः, तेन समान लिङ्गकशब्दानामेकार्थकत्वेनाभ्युपगमात्, तन्मते हि न यदेव व्युत्पत्तिनिमित्त तदेव प्रवृत्तिनिमित्त, किन्तु भिन्नमेव, तथा च समानलिङ्गकघटकुम्भादिशब्दा एकार्थवाचकाः अघटव्यावृत्तिलक्षणघटत्वात्मकैकप्रवृत्तिनिमित्तकत्वात्, ये चैकार्थवाचका न, न ते एक-प्रवृत्तिनिमित्तका घटपटादिशब्दवत् । प्रवृत्तिनिमित्तव्युत्पत्तिनिमित्तयोरैक्यमेवेत्यभ्युपगतवता समभिरूढनयेन तु निरूढलिङ्गादिशब्दानामिव समानलिङ्गकघटकुम्भादिशब्दानामप्यर्थ भेद एवाभ्युपगतः, भिन्नव्युत्पत्तिनिमित्तकत्वात्, घटपटादिशब्दवदिति, घटादिष्वर्थेषु स्व-

नाचक्रत्वाऽभिमतकुम्भादिशब्दान्तराच्यत्व नेति तादृशामङ्गलक्षण नासङ्गतम्, तथा च  
 व्युत्पत्तिनिमित्तमेदव्याप्यशब्दार्थमेदाभ्युपगमप्रणो भिन्नव्युत्पत्तिनिमित्तक्रुशब्दनिष्ठकारण  
 तामेदप्रयुक्तमेदशालिकार्यताश्रयः शाब्दबोधो वा समभिरूढनयपर्यवसितलक्षणम् । नयः  
 समभिरूढोऽस्ती यः मत्स्वर्थेष्वसङ्गमः । शब्दमेदेऽर्थमेदस्य व्याप्यभ्युपगमश्च मः ॥ ३६ ॥  
 इति नयोपदेशश्लोऽव्याख्यायां यत्र यत्र मञ्जामेदस्तत्र तत्रार्थमेद इति व्याप्यभ्युप  
 गमोऽसङ्गमपदार्थ उक्त, तथा च सञ्ज्ञामेदनियतार्थमेदाभ्युपगन्त्व समभिरूढत्वमिति  
 समभिरूढनयलक्षण पर्ययस्यति । अत्र घटपटादिसञ्ज्ञामेदेनार्थमेदाभ्युपगन्तरि नैगमनयादा-  
 यतिव्याप्तिवारणाय नियतपदोपादानम्, तथा चैकस्यैव घटस्य घटकृत्कुम्भकलशादिना-  
 नासञ्ज्ञाऽस्ति नैगमादिनय इति न सञ्ज्ञामेदनियतोऽर्थमेदस्तत्रेति नातिव्याप्तिः, एवम्भूत  
 नयोऽप्युक्तलक्षणभागिति तत्रातिव्याप्तिवारणाय तदन्यत्वे मतीति विशेषणोपादानमपि तत्र  
 कर्तव्यम् । ननु यस्मिन् लक्षणेऽतिव्याप्तिस्तद्वेतुक्तानुमाने व्यभिचारदोष इति लक्षणेऽति  
 व्याप्तिवारकविशेषणमनुमितिमाधरुहेतौ व्यभिचारनिवाररुमेवेति लक्षणे व्यभिचारस्थला  
 न्यत्वपर्यवमाच्यतिव्याप्तिवारकविशेषणोपादाने न कोऽपि हेतुरमद्वेतुस्स्यादिति यदि कोऽपि  
 प्रयाचदा प्रतियोगिव्यधिकरणो यस्त्वव्युत्पत्तिनिमित्तमावस्तदभाववत्त्वलक्षणस्यप्रवृत्ति  
 निमित्तक्रियोपलक्षितत्वाल्लिङ्गितार्थगचक्रवस्य नाम्ब्रव्यापकृतपाऽभ्युपगन्त्व समभिरूढ-  
 त्वमित्येव समभिरूढनयलक्षण कर्तव्यम् । तेन व्युत्पत्तिनिमित्तक्रियाकालावच्छिन्नार्थनाचक्र  
 त्वस्यैव नाम्न्यभ्युपगन्तरि एवम्भूतनयेऽपि नातिव्याप्तिः, उक्तलक्षणमङ्गमनञ्चैव कर्तव्यम्-एव  
 घटपद तद्व्युत्पत्तिनिमित्त घटनक्रिया, तदभावः प्रतियोगिव्यधिकरणस्मन् न घटनक्रियाम-  
 कुर्वति शृङ्कोणादिस्यतघटात्मकस्य, प्रतियोगिभूतव्युत्पत्तिनिमित्तघटनक्रियाया घटनक्रिया  
 कालावच्छेदनाधिकरणे तस्मिन् तदभावस्य घटनक्रियाकरणाभावकालावच्छेदेन मत्त्वेन प्रति  
 योगिममानाधिकरणत्वात्, किन्तु घटनादिक्रियां कुर्वति कटादावेव वर्तते, तदभाववच्च घट  
 नक्रियां कुर्वती घटनक्रियामकुरत्यपि घटात्मकस्य, तल्लक्षणस्यप्रवृत्तिनिमित्तोपलक्षितत्वा  
 लिङ्गितघटान्मकार्यवाचकत्वं व्याप्यीभूतघटनामन्ववति घटनामिन् वर्तते इत्येवमभ्युपगन्त्व  
 समभिरूढनये इति लक्षणममन्वय । तथा च तामत सर्वेषां शब्दानां क्रियाशब्दत्वाद् व्युत्प  
 त्तिनिमित्तक्रियैव प्रवृत्तिनिमित्तमित्युक्तस्य रूपव्युत्पत्तिनिमित्तोपलक्षितत्वात् तदानीं न घटन  
 क्रियां करोति किन्तु तामऽघटव घटिष्यते वेत्येव यदा कदापि घटनक्रिया कराति नोऽपि  
 घटो घट एव इत्यभ्युपगमस्य समभिरूढनयस्य, एवम्भूतनयस्तु व्युत्पत्तिनिमित्तमुपलक्षणीकृत्य  
 नामार्थं न प्रतिपद्यते किन्तु विशेषणीकृत्येति घटनममयात्प्राक् पश्चाद्वा घटो घट इति व्यपदेश  
 नामादयति, अत एवैतन्मत घटपदजन्यतावच्छेदं जलाहरणकर्तृत्वविशिष्टविषयकशाब्द  
 बोधत्वमेव, समभिरूढनय व्युत्पत्तिनिमित्तमुपलक्षणीकृत्य बोध इत्यनयोर्नययोर्विशेष इति ।

एवम्भूतनयस्वरूप विशेषावश्यकमाप्ये एवमुक्तम्-

“ एवं जह सप्तथो, संतो भूओ तदन्नहाऽभूओ ।

तेणेव भूयनओ, सदत्थपरो चिसेसेण ॥ २२५१ ॥ ” इति ।

एव यथा ‘घट चेष्टायाम्’ ‘पट आच्छादने’ इत्यादिरूपेण शब्दार्थो व्यवस्थितः तथैव यो वर्तते घटादिकोऽर्थः स एव सन् भूतो विद्यमानः । ‘तदन्नहाऽभूओ ति’ यस्तु तदन्यथा शब्दार्थोल्लङ्घनेन वर्तते स तत्रती घटाद्यर्थोऽपि न भवति, किन्तु भूतोऽविद्यमानः, तत्रतो घटनामार्थ एव न मरति । येनैव मन्यते तेन कारणेन शब्दमममिरूढनयाम्नां सकाशादेवम्भूतनयो विशेषेण शब्दार्थतत्परः । अयं हि घटपदव्युत्पत्त्यर्थाविष्टत्वाभावात् कुटपदार्थे न घटपदार्थमङ्गीकुरुते यथा तथा जलाहरणादिरिहकालावच्छेदनं गृहकोणादिव्यवस्थित-घटमपि घटशब्दार्थं नाम्पुपगच्छति, अचेष्टावत्त्वाऽविशेषात्, किन्तु योपि न्मस्तकारूढ जलाहरणादिक्रियानिमित्तं घटमानमेव चेष्टमानमेव घट घटशब्दार्थं मनुते इत्येव विशेषतः शब्दार्थतत्परोऽयमित्यर्थः । तथा चैतेन व्युत्पत्तिनिमित्तनिष्ठिदार्थनाचकृत्वस्य नामत्वव्यापकृतयाऽम्पुपगन्तृत्व, पदानां स्वव्युत्पत्तिनिमित्तावच्छिन्नाऽर्थीघकृत्वाऽम्पुपगन्तृत्वा, पदवाच्यव्युत्पत्तिनिमित्तक्रियाकालव्यापकपदार्थमत्ताऽम्पुपगन्तृत्व चैवम्भूतनयत्त्वमित्येवम्भूतनफलक्षणं लभ्यते । “ वज्रण-अत्थ-तदुभय एवभूओ चिसेसेइ ” इति निर्धुक्तिं “ व्यञ्जनार्थयोरेवभूतः ” इति तत्रार्थमाप्यञ्जानुसृत्योक्तस्य ।

“ एवम्भूतस्तु सर्वत्र, व्यञ्जनार्थविशेषणः ।

राजचिह्नैर्यथा राजा, नान्यथा राजशब्दभाक् ॥ ३९ ॥ ”

इति नयोपदेशश्लोकस्य व्याख्यायामुपाय्यायैः पदानां व्युत्पत्त्यर्थान्वयनियतार्थबोधकत्वाऽम्पुपगन्तृत्वमेवम्भूतत्वमित्येवम्भूतनफलक्षणं निष्कर्षितम् । नियमथात्र कालतो देशतश्चेति न सममिरूढातिव्याप्तिरिति । यद्यपि विषयनिरूप्यं ज्ञानमिति तत्रज्ञयलक्षणवत्तत्रज्ञयविषयोऽप्यत्र व्याख्येयतयोपयुक्तस्तथापि तत्रज्ञयलक्षणान्तर्गततया पृथक्तया चानेकधा विवेचित इत्यत्र ग्रन्थगौरवभीत्या स नोच्यते, परन्तु प्रस्तुते उपयोगत्वात्सक्षिप्ततया सप्तनयविषयोपदर्शकानि प्राचीनाचार्योक्तवृत्तान्पुष्टिरूपन्ते । तथाहि—

“ शुद्धं द्रव्यं समाश्रित्य, सङ्घटस्तदशुद्धितः ।

नैगमव्यवहारौ स्तां, शेषां पर्यायमाश्रिताः ॥ १ ॥

अन्यदेव हि सामान्य-मभिन्नज्ञानकारणम् ।

विशेषोऽप्यन्य एवेति, मन्यते नैगमो नयः ॥ २ ॥

सद्रूपतानतिक्रान्त, स्वस्वभावमिदं जगत् ।

सत्तारूपतया सर्वं, सङ्गृह्यन् सङ्गृहो मतः ॥ ३ ॥

व्यवहारस्तु तामेव, प्रतिवस्तु व्यवस्थिता ।

तथैव दृश्यमानत्वाद्, व्यापारयति देहिनः ॥ ४ ॥

तत्रजुस्तुघनीति' स्यात्, शुद्धपर्यायसञ्चिता ।  
 नश्वरस्यैव भावस्य, भावास्तिथितिवियोगिनः ॥ ५ ॥  
 विरुद्धलिङ्गमदृश्यादि,—भेदाद् भिन्नत्वभावताम् ।  
 तस्यैव मन्यमानोऽय, शब्द' प्रत्ययतिष्ठते ॥ ६ ॥  
 तथाविधस्य तस्यापि, घस्तुन' क्षणवर्तिन ।  
 घृते समभिरूढस्तु, मशामेदेन भिन्नताम् ॥ ७ ॥  
 एकस्यापि ध्यनेर्याच्य, सदा तन्नोपपद्यते ।  
 क्रियाभेदेन भिन्नत्वा—देवंभूतोऽभिमन्यते ॥ ८ ॥" इति ॥ ४७ ॥ -

ननु यदि परस्परसापेक्षाशेषनपरममूहात्मकाऽसमगांमीर्यशालिमरूढनयवादानापक्रान्ते-  
 कान्तवादज्ञेनेन्द्रागमममुद्रिन्दुकल्पा वन्त्वेकैकांशावगाहन्यनयनिरपेक्षैकैकनयविकल्पप्रसूता  
 स्तत्परममया, अत एव तत्तद्दर्शनमूलकारणत्वात्तत्रयः प्रकृतिः, तस्मादाभिर्भूतत्वात् पर  
 समयात्मकतत्तद्दर्शन विकृतिस्तर्हि किं दर्शनं किं मूलभूतनयप्रमत्तमित्याशङ्कानिवृत्त्यर्थमाह—

ज कापिलं दरिसण, एय दद्वयस्स वत्तव्व ।

सुद्धोअणतणयस्म उ, परिसुद्धो पज्जअवियण्णो ॥ ४८ ॥

' ज कापिल दरिसण ' यत् कापिल कपिलस्येद कापिल, कपिलर्षिणा प्रणीत दर्शनम्,  
 साङ्ख्यदर्शनमिति यावत् " एय दद्वयस्स वत्तव्व " एतद् द्रव्यार्थिकस्य वक्तव्यम्,  
 एकान्ताशुद्धद्रव्यार्थिकनयविकल्पप्रसूतमित्यर्थः, द्रव्यार्थिकरूपदमत्र व्यवहारनयलक्षणाऽशुद्ध  
 द्रव्यार्थिकपरं दृष्टव्यम् । शुद्धद्रव्यार्थिकनयप्रकृत' सद्ब्रह्मनयरूपाया वेदान्तदर्शनोत्पत्तिमूलाया.  
 " दद्वयनयपयही सुद्धा सगहपरूणाविमओ " इत्यनेन पूर्वमुक्तत्वात् । अत एव अशुद्धस्तु  
 द्रव्यार्थिको व्यवहारनयार्थावलम्बी एकान्तनित्यचेतनाचेतनवस्तुद्वयप्रतिपादकमाङ्ख्य-  
 दर्शनाश्रित इति सम्प्रतिटीकाकारवचनमपि सद्ब्रह्मते, सद्ब्रह्मते चाष्टममिप्रायमादृत्य—

" अशुद्धाद्वयवहाराख्यात्ततोऽभूत् साङ्ख्यदर्शनम् ।

चेतनाचेतनद्रव्या-नन्तपर्यायदर्शकम् ॥ १११ ॥ " इति ।

नयोपदेशोक्त, तस्यायमर्थस्तत्र कृतः—ततो द्रव्यार्थिकनयात्माह्वयदर्शनमभूत्, कीदृश  
 तत् चेतनश्चाचेतनद्रव्यं च अनन्तपर्यायाश्चाविर्मात्रतिरोमावात्मकाः, तेषां दर्शकं प्रति  
 पादकमिति । अत एव—

" साङ्ख्यशास्त्रे च नानात्म-व्यवस्था व्यवहारकृत् ।

इत्येतावत्पुरस्कृत्य, विवेकं सम्मता वचम् ॥ ११६ ॥ " इति ।

नयोपदेशश्लोकव्याख्यायामेवमुक्तम्—" साङ्ख्यशास्त्रे च नानात्मना व्यवस्था प्रति  
 निपतजन्ममरणादिव्यवहारकृद्भवति, इत्येतावत्पुरस्कृत्याय विवेकं सम्मतौ, पदुत व्यवहार-

“ एवं जह महत्थो, सतो भूओ तदज्ञहाऽभूओ ।

तेणेव भूयनओ, सहत्थपरो विसेसेणं ॥ २२५१ ॥ ” इति ।

एवं यथा ‘घट चेष्टायाम्’ ‘पट आच्छादने’ इत्यादिरूपेण शब्दार्थो व्यवस्थितः तथैव यो वर्धते घटादिकोऽर्थः स एव मत् भूतो विद्यमानः । ‘तदज्ञहाऽभूओ ति’ यस्तु तदन्यथा शब्दार्थोल्लङ्घनेन वर्धते म तत्त्वतो घटाद्यर्थोऽपि न भवति, किन्त्वभूतोऽविद्यमानः, तत्त्वतो घटनामार्थ एव न भवति । येनैव मन्यते तेन कारणेन शब्दममभिरूढनयाम्या सकाशादेवम्भूतनयो विशेषेण शब्दार्थतत्परः । अयं हि घटपदव्युत्पत्त्यर्थविष्टत्वाभावात् कुटपदार्थं न घटपदार्थमङ्गीकुरुते यथा तथा जलाहरणादिविरहकालावच्छेदेन गृहकोणादिव्यवस्थित-घटमपि घटशब्दार्थं नाभ्युपगच्छति, अचेष्टावच्चाऽविशेषात्, किन्तु योपि नमस्तकारूढ जलाहरणादिक्रियानिमित्त घटमानमेव चेष्टमानमेव घट घटशब्दार्थं मनुते इत्येव विशेषतः शब्दार्थतत्परोऽयमित्यर्थः । तथा चैतेन व्युत्पत्तिनिमित्तप्रतिशार्थवाचकत्वस्य नामत्वव्यापकतयाऽभ्युपगन्तृत्व, पदानां स्वव्युत्पत्तिनिमित्तावच्छिन्नाऽर्थनोधकत्वाऽभ्युपगन्तृत्व वा, पदवाच्यव्युत्पत्तिनिमित्तक्रियाकालव्यापकरूपदार्थसत्ताऽभ्युपगन्तृत्व चैवम्भूतनपन्वमित्येवम्भूतनयलक्षणं लभ्यते । “ वज्रण-अत्थ-तदुमय एवभूओ विसेसेह ” इति निर्युक्तिं “ व्यञ्जनार्थयोरेवभूत् ” इति तत्त्वार्थभाष्यञ्चानुसृत्योक्तस्य ।

“ एवम्भूतस्तु सर्वत्र, व्यञ्जनार्थविशेषणः ।

राजचिह्नैर्घथा राजा, नान्यदा राजशब्दभाक् ॥ ३९ ॥ ”

इति नयोपदेशश्लोकरूप व्याख्यायामुपाध्यायैः पदानां व्युत्पत्त्यर्थान्वयनियतार्थबोधकत्वाभ्युपगन्तृत्वमेवम्भूतत्वमित्येवम्भूतनयलक्षणं निष्कर्षितम् । नियमश्चात्र कालतो देशतथेति न समभिरूढातिव्याप्तिरिति । यद्यपि विषयनिरूप्य ज्ञानमिति तत्तन्नयलक्षणवत्तन्नयविषयोऽप्यत्र व्याख्येयतयोपयुक्तस्तथापि तत्तन्नयलक्षणान्तर्गततया पृथक्तया चानेरुधा विवेचित इत्यत्र ग्रन्थगौरवभीत्या स नोच्यते, परन्तु प्रस्तुते उपयोगित्यात्सक्षिप्ततया सप्तनयविषयोपदर्शकानि प्राचीनाचार्योक्तैकैकान्पुच्छिरूपन्ते । तथाहि—

“ शुद्ध द्रव्य समाश्रित्य, सङ्ग्रहस्तदशुद्धित ।

नैगमव्यवहारौ स्ता, शेपा. पर्यायमाश्रिताः ॥ १ ॥

अन्यदेव हि सामान्य-मभिव्यञ्जानकारणम् ।

विशेषोऽप्यन्य एषेति, मन्यते नैगमो नयः ॥ २ ॥

सद्रूपतानतिफ्रान्त, स्वस्वभावमिदं जगत् ।

सत्तारूपतया सर्वं, सङ्गृह्य सङ्ग्रहो मतः ॥ ३ ॥

व्यवहारस्तु तामेव, प्रतिवस्तु व्यवस्थितां ।

तथैव दृश्यमानत्वाद्, व्यापारयन्ति देविनाः ॥ ४ ॥

तत्रर्जुसूत्रनीतिः स्यात्, शुद्धपर्यायसञ्चिता ।  
 नश्वरस्यैव भावस्य, भागारिस्थितिवियोगिनः ॥ ५ ॥  
 निरुद्धलिङ्गसङ्ख्यादि, -भेदाद् भिन्नस्वभावताम् ।  
 तस्यैव मन्यमानोऽय, शब्दः प्रत्यवतिष्ठते ॥ ६ ॥  
 तथाविधस्य तस्यापि, यस्तुनः क्षणवर्तिन ।  
 भ्रूते समभिरुद्धस्तु, सज्ञाभेदेन भिन्नताम् ॥ ७ ॥  
 एकस्यापि ध्वनेर्वाच्य, सदा तन्नोपपद्यते ।  
 क्रियाभेदेन भिन्नत्वा-देवभूतोऽभिमन्यते ॥ ८ ॥” इति ॥ ४७ ॥

ननु यदि परस्परसापेक्षाशेषनयसमूहात्मकाऽसमर्गाऽमीर्षशालिसकलनयवादानापकाने-  
 कान्तवादज्ञेनेन्द्रागमसमुद्रविन्दुकल्पा वस्त्वैकैकांशावगाहन्यनयनिरपेक्षैकैकनयविकल्पप्रसृता  
 स्तत्तत्परसमया, अत एव तत्तदर्शनमूलकारणत्वात्तत्तन्नयः प्रकृतिः, तस्मादाविर्भूतत्वात् पर-  
 समपात्मकत्वदर्शनं निवृत्तिस्तर्हि किं दर्शनं किं मूलभूतनयप्रभवमित्याशङ्कानिवृत्त्यर्थमाह—

ज काविल दरिम्पण, एय दब्बड्डियस्स यत्तव्वं ।

सुद्धोअणतणयस्स उ, परिसुद्धो पज्जवचियप्पो ॥ ४८ ॥

‘ज काविल दरिम्पण’ यत् कापिल कपिलस्येद कापिल, कपिलर्षिणा प्रणीत दर्शनम्,  
 साङ्ख्यदर्शनमिति धारत् “एय दब्बड्डियस्स यत्तव्वं” एतद् द्रव्यार्थिकस्य वक्तव्यम्,  
 एकान्ताशुद्धद्रव्यार्थिकनयनिकल्पप्रसृतमित्यर्थः, द्रव्यार्थिकरूपदमत्र व्यवहारनयलक्षणाऽशुद्ध  
 द्रव्यार्थिकपरं दृष्टव्यम् । शुद्धद्रव्यार्थिकनयप्रकृतेः सङ्गहनयरूपाया वेदान्तदर्शनोत्पत्तिमूलायाः  
 “दब्बड्डियनयपयडी सुद्धा सगहपरूणणाविमओ” इत्यनेन पूर्वमुक्तत्वात् । अत एव अशुद्धस्तु  
 द्रव्यार्थिको व्यवहारनयार्थाविलम्बी एकान्तनित्यचेतनाचेतनवस्तुद्वयप्रतिपादकमाङ्ख्य-  
 दर्शनाश्रित इति सम्मतिटीकाकारवचनमपि मद्गच्छते, सङ्गच्छते चासुमभिप्रायमादृत्य—

“अशुद्धाद्वयवहाराख्यात्ततोऽभूत् साङ्ख्यदर्शनम् ।

चेतनाचेतनद्रव्या-नन्तपर्यायदर्शाकम् ॥ १११ ॥” इति ।

नयोपदेशोक्त, तस्यायमर्थस्तत्र कृतः—ततो द्रव्यार्थिकनयात्साङ्ख्यदर्शनमभूत्, कीदृश  
 तत् चेतनश्चाचेतनद्रव्यं च अनन्तपर्यायाश्चाप्रिर्माणविरोधात्तस्मात्, तेषां दर्शक प्रति-  
 पादकमिति । अत एव—

“साङ्ख्यशास्त्रे च नानात्म-व्यवस्था व्यवहारकृत् ।

इत्येतावत्पुरस्कृत्य, विवेक’ सम्मता वयम् ॥ ११६ ॥” इति ।

नयोपदेशश्लोकव्याख्यायामेवमुक्तम्—“साङ्ख्यशास्त्रे च नानात्मना व्यवस्था प्रति-  
 निपतजन्मभरणादिव्यवहारकृत्त्विति, इत्येतावन्नास्त्वप्य विवेकः परस्परौ नयन-”

प्रकृतिक साङ्ख्यदर्शनम्, सद्ब्रह्मप्रकृतिकश्च वेदान्तदर्शनमिति, वेदान्तप्रकृतिभूतसद्ब्रह्मनये-  
नैकतया विषयीकृतस्यात्मनो भेदकरणेन मद्ब्रह्मविषयभेदकत्पलक्षणसमन्वयाद् व्यवहार-  
प्रकृतिरूप साङ्ख्यदर्शनस्य विवक्षितमिति तात्पर्यम्, तेन सत्कार्याद्यंशे व्यवहारप्रकृतित्वाऽ  
भावेऽपि न क्षतिः, आत्मन एव सकलशास्त्रप्रयोजनमागित्वेन मुख्यत्वात्, मुख्योद्देशेनैव च  
नयानां प्रकृतिभूतचिन्ताया युक्तत्वादिति भावः । निरीश्वरवादिसाङ्ख्यदर्शनस्यान्यनयान-  
पेक्षव्यवहारनयप्रवृत्तस्य मिथ्यात्वे च जीवातिरिक्त कर्मकलेशाशयाऽपराभृष्ट पुरुषविशेषमीश्वर  
कपिलाननुमतमभ्युपगच्छदपि पातञ्जलदर्शनमन्यांशे समानमेव, यतस्त्वेश्वरमाह्वयमतप्रवर्तक  
पतञ्जलग्रनेरपि प्रधानादीनि पञ्चविंशतितत्त्वानि प्राचीनान्येव मम्मतानीति व्यवहारनयसम  
भूत तदपि मिथ्यात्वेन व्याख्यातम् । “ सुद्वोऽग्रतणयस्त उ ” शुद्धोदनतनयस्य तु,  
शुद्धोदनतनयबुद्धप्रणीतस्य तु चोद्बद्धदर्शनस्य ‘ परिसुद्धो पञ्चविषयो ’ परिशुद्धः पर्याय-  
विकल्पः पर्यायविशेषः ‘ वक्तव्य ’ मित्यस्यानुकर्षणीयस्य लिङ्गव्यत्यासाद् वक्तव्यः । अय-  
म्भावः-चोद्बद्धदर्शन निरपेक्षशुद्धपर्यायास्तिकनयविकल्पजनितम्, यतस्त्वस्य मूलनयः पर्याया  
र्थिकः, चोद्बद्धदर्शनश्च सौत्रान्तिकवैभाषिकयोगाचारमाध्यमिकभेदेन चतुर्विधम्-पर्यायार्थिक  
नयोऽप्युद्बुद्धशब्दममिहैवम्भूतभेदतश्चतुर्विध इत्यतः सौत्रान्तिकारूपचोद्बद्धदर्शनमृजुद्ध  
नयप्रसूतम्, वैभाषिकारूपचोद्बद्धदर्शन शब्दनयप्रसूतम्, योगाचारारूपचोद्बद्धदर्शन सममि  
रूढनयप्रभवम्, माध्यमिकारूपसुगतदर्शनमेवम्भूतनयोत्थमित्यतस्सौत्रान्तिकवैभाषिकादि  
चतुर्विधशौद्धोदनिदर्शनस्युद्बुद्धादिनयचतुष्टयात्मरूपपर्यायार्थिकनयप्रकृतिकत्वमत्रसेयम् । अत  
एव खण्डखाद्ये वैभाषिकादिक्रमेण चतुर्विधस्यापि ताद्यागतमतस्युद्बुद्धादिनयचतुष्टयप्रकृति  
कत्वस्य सम्मत्यादिसिद्धत्वादिद्युक्तं सङ्गच्छते । तथैवोक्तञ्च नयोपदेशेऽपि—

“ ऋजुसूत्रादितः सौत्रान्तिकवैभाषिकौ क्रमात् ।

अभुवन् सौगता योगा-चारमाध्यमिकाश्चित् ॥ १२० ॥ ”

सौत्रान्तिकादीनां स्वरूपमेतेन काव्येन ज्ञेयम्—

“ अर्थो ज्ञानसमन्वितो मतिमता वैभाषिकेणोप्यते ।

प्रत्यक्षो न हि बाह्यवस्तुविसरः सौत्रान्तिकैराश्रितः ॥

योगाचारमतानुगैरभिमता साकारबुद्धिः परा ।

मन्यन्ते वत मध्यमाः कृतधियः स्वच्छा परा सविदम् ॥ १ ॥ ” इति ।

अयम्भावः-ज्ञेयज्ञानोभय सर्वं सत्यं, किन्तु यत्सत्तत्क्षणिकमिति व्याप्तेः क्षणिकमेवेत्या-  
स्याशीलसौत्रान्तिकवैभाषिकयोः क्षणिकबाह्यार्थाम्युपगमस्समान एव, परमाद्यस्य मते ब्राह्म-  
ब्राह्मकपोर्विभिन्नक्षणे निष्पत्तिः, ज्ञानज्ञेयस्त्रलक्षणयोर्विषयविषयिभावाभावेऽपि प्रतिकर्मव्यव-  
स्था ज्ञानस्य प्रतिनियततत्तदर्थकारत्वलिङ्गकाजमानाद्यत्रि यदाकारं यद्ब्रह्म तेन तत्सिद्धि-

रिति व्याप्तेः, अत एवैतन्मतेऽनुमानादर्थसिद्धिः, न तु प्रत्यभत इति माकारविज्ञाननादस्तस्य । द्वितीयस्य मते ज्ञानज्ञेययोरेकक्षण एतोत्पत्तिः, प्रतिनियततत्तदर्थोत्पादकमामग्रीप्रभवत्वादव ज्ञानस्य प्रतिकर्मव्यवस्थेति निराकारविज्ञाननादस्तस्य । ज्ञानज्ञेययोस्महोपलम्भनियमाद् विज्ञानमात्राभ्युपगमपरस्य तृतीययोगाचारस्य मते तु बाह्य नास्त्येव, योऽय व्यवहारो भूत भौतिकाद्याश्रयः स सर्वः मांशृतः, न परमार्थः, ज्ञानस्य तु स्नात्मैव तत्तदाकारो विषयः, ज्ञानज्ञेययोस्तादात्म्यमेव सम्बन्धः, आकारप्रतिनियमोऽपि पूर्वपूर्वविज्ञानवैचित्र्योद्भासित वासनाविशेषपरिपाकतः, ततो विज्ञानमेव पूर्वपूर्ववासनावैचित्र्यात्स्वाभिन्ननीलपीताद्याकार भवभासते, अतो न बाह्योऽर्थः परमार्थः । उक्तञ्च—

“ बाह्यो न विद्यते ह्यर्थो, यथा बालैर्विकल्प्यते ।

वासनालुण्ठित चित्त-मर्धाकार प्रवर्त्तते ॥ १ ॥ ” इति ।

तस्मात् अय नील इत्यादिज्ञानद्विज्ञान स्नापनविज्ञानवत्स्वावभासमात्रम्, यद्विद्वद्वा भासस्तु वासनाविपर्ययकृतो भ्रम एव, ननु अनेनदमुक्त भवति—विज्ञान ग्राहकान्तरनिरपेक्ष ग्राह्यान्तरनिरपेक्ष च स्नात्मान स्वस्मादभिन्ननीलाद्याकारश्च गृह्णातीति, इदञ्चानुपपन्नम्— एकस्यैव कर्तृकर्मक्रियात्मकतानुपपत्तिरिति चेत्, सत्यम्, न वयमात्मसवेदनम् ग्राह्यग्राहक भावलक्षण भ्रमः, तद्वैधुयति, किन्तु स्वप्रत्ययेभ्यो जडभिन्नत्वेन रूपेणास्य प्रकाशात्मतयो त्पत्तिरेव स्वसवेदनम् । तदुक्त तत्रवमङ्गहे—

“ विज्ञानं जडरूपेभ्यो, व्यावृत्तमुपजायते ।

इयमेवात्मसपत्ति-रस्य याऽजडरूपता ॥ १ ॥

क्रियाकारकभावेन, न स्वसपत्तिरस्य तु ।

एकस्यानशरूपस्य, त्रैरूप्यानुपपत्तितः ॥ २ ॥

तदस्य षोडशरूपत्वाद्, युक्तं तावत्स्ववेदनम् ।

परस्य त्वर्थरूपस्य, तेन सवेदन कथम् ? ॥ ३ ॥ ” इति ।

सोऽय बाह्यनिरपेक्ष, क्षणिकमाकारवादस्तस्य । सर्वशून्यतायादिमाध्यमिकमते तु—

“ न सद्भासन्न सदसत्, न चाप्यनुभयात्मकम् ।

चतुष्कोटिविनिर्मुक्त, तत्र माध्यमिका जगुः ॥ १ ॥ ”

इत्युक्तेर्ज्ञानस्यापि विचारत उपप्लुतत्वात्तदपि मदमदादिचतुष्कोटिविनिर्मुक्तमेव तत्रम्, यत्सर्वभावाना शून्यतेति गीयते, सर्वशून्यता पश्यत एव परम निर्वाणम्, हेयोपादेयत स्माघनविरहे निषिद्धभयविहितरागादिरिहात्, तन्मत तत्रविचारकुशलैर्विचार्यमाणाः सर्व, एव भासा निस्स्वभावा अविद्यातिमिरोपहतमतिनयनानां चालरूपा भासमाना.



कर्त्ता कर्म, गन्ता गम्य, हेतु. कार्यं, दृष्टा दृश्यमिति परस्परमापेक्षतामात्रेण प्रसिद्धियुगता  
गन्धर्वनगरायन्ते । उक्तञ्च—

“ बुद्ध्या विविच्यमानाना, स्वभावो नावधार्यते ।

अतो निरभिलप्यास्ते, निस्स्वभावाश्च कीर्तिताः ॥ १ ॥

इद वस्तुपलायात, यद्वदन्ति विपश्चितः ।

यथा यथाऽर्थाश्चिन्त्यन्ते, विशीर्यन्ते तथा तथा ॥ २ ॥ ” इति ।

यद्यप्यय स्कन्धायतनधातुविभेदः प्रदृश्यते नाम तथापि मांशुत एवायम्, सष्टया—  
आवरणेन मायया कल्पितोऽय भेदव्यवहारः । उक्तञ्च—

“ केनपिण्डोपम रूप, वेदना बुद्बुधोपमा ।

मरीचिसदृशी सज्ञा, सस्काराः कदलीनिभाः ॥ १ ॥

मायोपम च विज्ञान-मुक्तमादित्यधन्धुना ॥ ” इति ।

अन्यत् सर्वं तद्वन्धेभ्योऽरसेयम् । उक्तबौद्धमतचतुष्टयनिरासस्तु प्रागेव विहित इत्यधिक  
ग्रन्थगौरवभीत्या नोच्यते, नन्वेव परस्परनिरपेक्षैकैकनयावलम्बिनोः साहचर्यसौगतमन्वयो  
मिथ्यात्वे द्रव्यार्थिकनयविषयं सामान्य पर्यायार्थिकनयविषय विशेषमभ्युपगच्छतो वैशेषिक-  
दर्शनस्य द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयद्वयावलम्बित्वेन मम्यत्तव स्यादित्याशङ्क्य तन्निषेधार्थमाह—

दो हि वि नएहि णीय, सत्थमुल्लएण तह्वि मिच्छत्त ।

ज सविसयप्पहाण-त्तणेण अण्णोणनिरवेक्खा ॥ ४९ ॥

‘ दोहि वि नएहि ’ द्वाभ्यामपि द्रव्यास्तिनय-पर्यायास्तिरुनयाभ्यां, ‘ णीय  
सत्थमुल्लएण ’ नीत पृथग्व्यवस्थापित द्रव्यगुणकर्ममामान्यविशेषममवायाभावात्मक-  
सप्तपदार्थप्ररूपक शास्त्रमुल्लेकेन वैशेषिकदर्शनाद्यप्रवर्त्तकेन ‘ तह वि मिच्छत्त ’ तथापि  
मिथ्यात्वम्, एकान्तवादिना तेन प्रवर्त्तित तन्मिथ्यारूपमेव, तत्र हेतूपदर्शनायोचरार्द्धमाह-  
ज यत् यस्मात् ताविति शेषः, तौ वैशेषिकदर्शनप्रवर्त्तकतया मूलभूतौ द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिक  
नयो “ सविसयप्पहाणत्तणेण अण्णोणनिरवेक्खा ” स्वविषयप्रधानत्वेन सावधारणस्ववि-  
षयावगाहित्वेन, अन्योन्यनिरपेक्षौ स्वस्वरूपनाशिलिपविरचितक्युक्तिभिरितराशापलापिनौ,  
जैनामिमतौ तु तौ स्याच्छब्दलाञ्छितत्वेन परस्परमापेक्षतान्न मिथ्यारूपौ इत्युक्तपर्यतो  
अनेकान्तव्यवस्थायां विशेषावश्यकभाष्ये उक्तगाथाटीकायां नयनिवेचने चेति । तथा च  
वैशेषिकदर्शन मिथ्या मिथो निरपेक्षद्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयविषयपरस्परत्रिक्तमामान्य-  
विशेषोभयात्मकैकान्तनयप्रतिपादकत्वात् यदकान्ततत्रप्रतिपादक तन्मिथ्यारूपम्, यथा  
साहचर्यादिदर्शनम्, एकान्ततत्रप्रतिपादकञ्च वैशेषिकदर्शनमिति तदपि मिथ्यारूपम् । यद्वा  
नन्वेव नयान्तरनिरपेक्षैकैकनयावलम्बिनोः साहचर्यसौगतमन्वयोमिथ्यात्वे सङ्गहनव्यवहार

नयद्वयविषयसामान्यविशेषोभयमभ्युपगच्छतो वैशेषिकदर्शनस्य सद्ब्रह्मव्यवहारनयोभयाऽवलम्बित्वेन सम्यक्त्वस्यादिन्याशङ्कानिवृत्त्यर्थमाह—‘दोहि वि नष्टि णीअ’ इत्यादि ।

“दोहि वि णएहि” द्वाभ्यामपि सामान्यविशेषग्राहिभ्यां मद्ब्रह्मव्यवहाराभ्यां नयाभ्यां “णीय सत्थ” पृथग्व्यवस्थापितं शास्त्रं द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषमवायाभावाः सप्तपदार्था इति सप्तपदार्थप्रतिपादकं, केनेत्यत आह—‘उल्लूण’ उल्लूकेन वैशेषिकदर्शनाद्यप्रवर्तकेन, तर्किकं प्रामाणिकं न वेत्याशङ्कानिवृत्त्यर्थमाह—‘तद्द वि मिच्छत्त’ तथापि मिथ्यात्वम्, एकान्तवादिना तेन प्रवर्तितं तन्मिथ्यारूपमेव, तत्रैव हेतूपदर्शनायोत्तरार्द्धमाह—ज यत् यस्मात् ‘मविसयप्पहाणचणेण अण्णोणनिरवेक्त्वा’ स्वविषयप्रधानत्वेन सामान्यविशेषोभयो भिन्नमेव अनुगतबुद्धिहेतुत्वात्, विशेषा अपि सामान्याद्भिन्ना एव व्यावृत्तबुद्धिहेतुत्वात्, एतमाश्रयादपि सामान्यं भिन्नमेव, अन्यथा व्यक्तित्वदुर्गतत्वात्पुनरप्यस्यैव तस्यादित्येव स्वमताग्रहेण सावधारणस्वविषयत्वग्राहित्वेन अन्योन्यनिरपेक्षत्वात्, अस्य प्रयोगस्य मात्रप्रधानत्वादन्योन्यनिरपेक्षत्वादित्यर्थः, एकान्ततः परस्परत्रिभिकसामान्यविशेषोभयप्रतिपादकत्वादिति भावः । उक्तञ्च नयोपदेशे “द्वाभ्यां नयाभ्यामुन्नीतमपि शास्त्रं कणाशिना । अन्योन्यनिरपेक्षत्वान्मिथ्यात्वं स्वमताग्रहात् ॥ ११८ ॥” इति ।

न हि नयद्वयावलम्बनमेव शास्त्रस्य सम्यक्त्वप्रयोजकम्, किन्तु यथास्थाने तद्विनिर्गमनम्, तच्च यद्यपि सामान्यग्राहकमद्ब्रह्मनयमिप्रायेणाद्यमङ्गः प्रवर्तते, विशेषाभ्युपगन्तव्यवहारनयप्रयुक्तश्च द्वितीयमङ्ग इत्येव मद्ब्रह्म प्रधानीभूतमद्ब्रह्मव्यवहारकैकनयप्रभवम्, तथापि तद्विन्नपरस्परसाकाङ्क्षस्याद्वादलाञ्छितवृत्तीयादिमद्ब्रह्मविवेचने तृतीयमङ्गं श्रुतुमन्नाधीनप्रवृत्तिक एव, चतुर्थमङ्गश्च सद्ब्रह्मव्यवहाराधीनप्रवृत्तिक, पञ्चमः मद्ब्रह्मसूत्राभिप्रायेण प्रवृत्तः, षष्ठो व्यवहारसूत्राधीनप्रवृत्तिक, सप्तमश्च मद्ब्रह्मव्यवहारसूत्रनयप्रयाधितः, तत्राद्यत्रिमङ्गा एकनयनियम्या, चतुर्थादिमङ्गा अन्योन्यमन्वदनयद्वयप्रयापेक्षका भवन्तीत्येव रूपे तात्पर्यं सत्येव मन्वद्यते, तदेव सम्यक्त्वप्रयोजकम्, एकतरस्यापि मद्ब्रह्मस्याऽतात्पर्यं सिद्धान्तनिराधनाया अपरिहारात् । परस्परमापेक्षतत्तन्नयत्रिभिकमिथःसाकाङ्क्षस्यात्पद्व्यदित्तमत्तमद्ब्रह्मकमहावाक्यस्यैव सप्तविधधर्मप्रकारकैकधर्मविशेष्यरूपमूहालम्बनात्त्वोद्यजनकत्वेन पूर्णोत्तररूपत्वात् । अनन्तधर्माभ्यासितवस्तु यावद्दमेर्जिज्ञासितं तावद्दर्माभिधान एव वाक्यस्य निराकाङ्क्षतामावात् । यच्च चक्रा कश्चिद्ब्रह्मद्वयमात्रप्रतिपादनं विधीयते तत्तु स्याद्वादव्युत्पन्नपुरुषापेक्षयैवेति प्रतीतिः । तत्रापि हि वस्तुस्तद्भिन्नमद्ब्रह्मविवेचने तात्पर्यमस्त्येव, स्याद्वादव्युत्पन्नधोतृणा मद्ब्रह्मप्रयोगमात्रेण न सप्तधर्मावगतिरिति तदर्थं तान् प्रति सप्तविधमद्ब्रह्मप्रतिपादनमाशयकमेव । तथैकैकस्मिन् वस्तुनि परस्परसापेक्षसामान्यमापेक्षिते एकैकं पर्यायमाश्रित्य विधिनिषेध-

प्रकारान्यां ये सप्तमङ्गाः प्रतिपर्याय प्रतिपाद्यपर्यनुयोगसप्तकाधीनसप्तविधनियततज्जिज्ञासा-  
 प्रयुक्ततत्सदेहमप्तकाधीनास्तत्प्रतिपाद्यसप्तत्रिधर्माभ्युपगमे मत्थेव सम्भ्रति, सैषा पूर्णोत्तर  
 रूपा प्राङ्प्रदर्शितस्वरूपा सप्तमद्वीप्ररूपणा स्याद्वादनियन्त्रिता स्वसमयार्थप्रज्ञापना, अर्हद्वा  
 पितकथञ्चित्सामान्यविशेषात्मकयथावस्थितवस्तुतत्त्वप्रतिपादकत्वात् यन्नैव तन्नैवम्, यथैका-  
 न्ततद्दर्शनप्रज्ञापना, तदिहैकान्तभिन्नसामान्यविशेषप्रतिपादक वैशेषिकदर्शन तत्समानत  
 न्तत्वाद्यैयायिकदर्शनश्च परस्परनिरपेक्षसद्ग्रहव्यवहारनयद्वयावलम्ब्यपि न यथोचिततद्वि-  
 नियोगकारीति न सम्यक्त्वप्रयोजकम्, अत एव मिथ्यारूप तद्भ्रमयमिति मिद्धमिति ।  
 वैशेषिकदर्शनस्य सद्ग्रहव्यवहारप्रकृतिकत्वे च नैगमनयो न कस्यापि दर्शनस्य प्रवर्तको  
 यतस्सामान्यग्रहाय प्रवृत्तस्य तस्य सङ्ग्रह एव विशेषग्रहाय च प्रवृत्तस्य व्यवहारनय एवा  
 न्तर्भाव इति तद्भ्रमयभिन्नस्य सङ्ग्रहव्यवहारविषयातिरिक्ततद्विषयाऽसिद्धेस्वात्मानमेवात्म  
 मानस्य तस्य न भिन्नदर्शनप्रकृतित्वमभिधातु युज्यत इत्ययं प्रवचनोपनिषद्विदां श्रीसिद्ध-  
 सेनदिवाकराणा पक्षः । अत एव नयोपदेशेऽपि—

“ हेतुर्मतस्य कस्यापि, शुद्धाशुद्धो न नैगमः ।

अन्तर्भावो यतस्तस्य, सद्ग्रहव्यवहारयोः ॥११७॥” इत्युक्तम् ॥

येषां पूज्यश्रीमद्वादिदेवस्यार्थाचार्याणां तु मते पृथक् नैगमनयो विद्यते उन्मतेन  
 नैगमनयप्रकृतिक वैशेषिकदर्शनम् । अत एवानेकान्तव्यवस्थायां—

“ दर्शितेय यथा शास्त्र, नैगमस्य नयस्य दिक् ।

कणाददृष्टिहेतुश्चश्रीयशोविजयवाचकैः ॥ १ ॥”

स्याद्वादरत्नाकरं च सप्तमपरिच्छेदे द्वादशसूत्रटीकायां “ नैयायिकवैशेषिकयोर्दर्शन  
 चैतदाभासतया ज्ञेयम् ” इत्युक्तं सङ्गच्छत इति । नैगमनयस्य चान्यनयनिरपेक्षस्य मिथ्या  
 ध्यानरूपतया तत्प्रकृतिकवैशेषिकदर्शनस्य तत्समानतन्त्रनैयायिकदर्शनस्यापि च तथात्व-  
 मवसेयमिति ।

ज सचिसयप्पहाणत्तणेण, अण्णुण्णनिरवेक्कत्त ।

इत्यपि शास्त्रवार्तासमुच्चये धर्मपरीक्षायाञ्च पाठः—तत्रोत्तरार्द्धेन हेतुमाह—‘ ज ’ इत्यादि,  
 यस्मात् स्वविषयप्रधानत्वेन अन्योन्यनिरपेक्ष अन्योन्यनिरपेक्षोभयनयाश्रितं तत्, अन्योन्य-  
 निरपेक्षनयाश्रितत्वस्य च मिथ्यात्वादिनाऽविनाभूतत्वादित्यर्थः । एव “ सदेव सौम्य  
 इदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयम् ” ॥ १ ॥ “ स आत्मा तस्मिन्निश्चेतकेतो ” ॥ २ ॥  
 “ नेह नानास्ति किञ्चन ” ॥ ३ ॥ इत्यादि श्रुत्या सच्चिदानन्दस्वरूपं ब्रह्मैव सत्, तद्व्या-  
 शेपनगतो मिथ्यात्वमेव, घटपटादिरूपजगतस्तत्ता नक्षमचैव, यतो ब्रह्मैव तेन तेन  
 पटाघातमनाऽनभासते, तथा चायं सर्प इयं माला इदं वस्त्रमित्यादाविदं स्वरूपमनुगामि

तथा घटस्मन् पटस्मन् मठस्मन्नित्यादौ सर्वत्र घटात्मरूपद्रूपमनुगामि, अतो ब्रह्मरूपेण सर्वस्यैकत्वमिति महद्ब्रह्मण्यमूलकस्य वेदान्तदर्शनस्य, एव—

“अनादिनिधनं ब्रह्म, शब्दतत्त्व यदक्षरम् ।  
विवर्त्ततेऽर्थभावेन, प्रक्रिया जगतो यतः ॥ १ ॥”

इत्युक्तेः सर्वेषां शब्दानां सर्वेषां चार्थानां प्रकृतिः शब्दस्वभाव प्रणवस्वरूप ब्रह्मेवेति शब्दमन्मात्रस्वरूपब्रह्मवाद्स्य च भर्तृहरिणा स्वीकृतस्य शब्दार्थयोरभेद एव मन्मन्व इति वैयाकरणाभ्युपगममूलकस्य शब्दब्रह्मत्वेन सर्वस्यैकत्वेनाभ्युपगमात् महद्ब्रह्मण्यप्रकृतिकस्य, तथा शब्दस्वार्थेन सह वाच्यवाचकभावलक्षणविभ्रममन्मन्वः, म च मन्मन्वो नित्य एव, “औन्पत्तिकस्तु शब्दस्वार्थेन मन्मन्वः” (मीमां० १. १. ५.) इति मीमांसकब्रह्मे औत्पत्तिक इत्यस्य विरुद्धलक्षणया नित्य इत्यर्थकत्वेन व्याख्यानादित्येव प्रतिपादकस्या शुद्धद्रव्यार्थिकप्रकृतिव्यवहारनयप्रसृतस्य मीमांसकादिदर्शनस्यैकान्तैकैकनयालम्बित्वा निम्नधात्वमयस्येवमिति दिक् । नन्वनेकान्तवादिनामिद्वैकान्तनयवादिनामपि घटत्व-विशिष्टे घटे घटोऽय पटत्वविशिष्टे पटे पटोऽय तद्गतरूपादौ चेद रूपम् अय रम इत्येवमेव प्रत्यक्षज्ञान भवतीति तज्ज्ञानस्य मिथ्यात्वे किं बीजमिति चेत्, उच्यते—परमार्थवृत्त्या घटे घटत्वधर्मवत् पटे च पटत्वधर्मवत् रूपे च रूपत्वधर्मवत्तदितरानन्तधर्ममद्भावेऽप्येकान्त नयवासनासवलिततयेकान्तवादिनां घटत्वमात्रस्य पटत्वमात्रस्यैकस्यैव धर्मस्य प्रादरु घटोऽयमिति पटोऽयमिति प्रत्यक्षाघातमक यज्ज्ञान समुत्पद्यते तन्मिथ्याज्ञानमेव, एकान्तधर्मा भाववति घटादिवस्तुन्येकान्तधर्मावगाहित्वेनैकान्तनयात्मकत्वाद्, यतो घटस्यापि पटस्यापि तद्गतरूपाद्देश्याप्यनेकान्तात्मकतयाऽनन्तस्वपर्यायाणां माश्रात् मन्मन्वयेन परपर्यायाणां च स्वाभावस्वरूपपरम्परासम्बन्धेन परमार्थवृत्त्या तत्र सद्भावेऽपि मिथ्यात्वदोषवलात्तज्ज्ञानाभावेन तद्विराकरणपूर्वकस्त्वैकदेशमात्रादिमिथ्यानपन्नितवासनादोषप्रमय सर्वथा घट एवाऽय पट एवाऽय, इद रूपमेवेत्येवमेकनयगोचरघटत्वपटत्वादिप्रतिनियतैकधर्मवत्त्वलभ्यैकान्ततत्त्वप्राहित्वेन तज्ज्ञान भ्रान्तमेव, एकस्मिन्नपि कलानिधौ तिमिरादिदोषवलाद् भ्रान्तद्वित्वप्रत्ययवत् । अयमभाव.—मिथ्यादृष्टेर्यद्घटे घट एवाय पटे पट एवायमित्याद्याकार-मेकान्तज्ञान तत् तद्गति तत्प्रकारकत्वाद् व्यवहारदृष्ट्या प्रामाण्यकमप्यवधारणेन घटत्व-पटत्वाद्यन्यानन्तधर्माणां सत्तामपि प्रतिषेधकरणात् निश्चयदृष्ट्या प्रामाण्यकम्—अनेकान्त-वामनोपनीतानेकान्तविषयकज्ञानस्यैव स्यादस्येव घट इत्याकारकस्य सर्वनयविषयता-द्व्यापकविषयताकत्वेन प्रामाण्याभ्युपगमादिति मिथ्यादृष्टेर्ज्ञानमज्ञानमेव, मदमतोः कथञ्चिद्भावेनाननगाहित्वादिति, अत एव तद्भवबीजमिति गीयते निश्चयनगुरूपदिष्टानेका-न्तात्मकवस्तुत्ववर्द्धः, स्याद्वादिनान्तु जिनेन्द्रसगवन्मुखारविन्द्रविनिर्गतम्याद्वादस्य

पदार्थत्वव्यापकत्वेन ज्ञानादनेकान्ततत्त्वविषयकसुदृढवासनावासिततया स्पष्टव्यक्षेत्रकालभावरूपेण घटोऽय पटोऽय न तु परद्रव्यक्षेत्रकालभावरूपेणापीति कथञ्चिदुघटोऽय कथञ्चित्पटोऽयमित्येव घटे पटे च कथञ्चिदुघटत्वपटत्वप्रत्यक्षज्ञान समुत्पद्यते, तत्रानन्तधर्मात्मकत्वद्योतककथञ्चित्पटेनैवानुवृत्तिव्यावृत्तिधर्मद्वारा सर्वधर्मज्ञानमिति तज्ज्ञान सम्पद्ज्ञानम्, प्रमाणज्ञानमिति यावत्, यद्यप्यनुवृत्तिव्यावृत्तिद्वारा सर्वस्य सर्वात्मकस्यानन्तपर्यायस्य वस्तुनः प्रयोजनादिवशादेकपर्यायप्रकारेण ग्रहणेऽपि “जे एग जाणइ से सव जाणइ” इत्याद्युक्ते. सर्वमनन्तपर्यायात्मकमित्याद्यागमार्थश्रद्धानोपनीतमर्वात्मकत्वानन्तपर्यायात्मकत्वावगाहित्व सम्यग्दृष्टिज्ञाने सर्वत्रैवेति तदेव प्रमाणम्, अत एव मोक्षोपयिक तदेव ज्ञानमिति तत्रतैर्गीयते, अत एव परदर्शनाभिमतेऽर्थे स्यात्पदोपादानमात्रेण तत्त्वपरदर्शनस्यापि स्वदर्शनरूपतया तत्रापि स्वदर्शनत्वबुद्धिरिति तत्तद्दर्शनीयेषु स्त्रीयत्वावधारणाद्भवति मोक्षोपयिकी साम्यसम्पत्तिः स्याद्वादिनां कर्मदोषादज्ञाननिमग्न पर पश्यताम् । परेषा तु स्वपक्षसिद्धावन्योन्य सुन्दोपसुन्दन्यायेन कलहायमानानां यावज्जीवमपि यववृत्तिरूपानुपरमेन द्वेषानुच्छेदाद् नास्त्येव साम्यत्रार्चोऽपीति समारहेतुत्वात्सर्वां ज्ञानमप्यज्ञानमिति परिभाषन्ते परमप्रावचनिका, ततो मिथ्यादर्शनगरलव्यधानिबुद्ध्यै स्याद्वादादाभृतपानमेव विषेय विवेकिनेति परमरहस्यम् ॥ ४९ ॥

अन्योन्यनिरपेक्षनयाश्रितस्य मिथ्यात्वाऽविनाभूतत्वमेवेत्पाह—

जे संतवायदोसे, सकोलूया भणति सग्वाण ।

सग्वा य असव्वाए, तेसि सग्वे वि ते सच्चा ॥ ५० ॥

‘जे संतवायदोसे’ यान् मद्वाददोषान्, एकान्तसद्वादपक्षे यान् दोषान् ‘सखाण’ साह्ययानां प्रकृतिमहदादिपञ्चविंशतितत्त्वप्रतिपादककपिलघृनिप्रणीतमाह्वयदर्शनाश्रितानां ‘सकौलूया भणन्ति’ शाक्यौलूक्या भणन्ति बुद्धकणभुक्प्रणीतदर्शनभक्ता. प्रतिपादयन्ति, ‘सखा य असव्वाए’ साह्यथासाद्वाद, शाक्यौलूक्याभ्युपगते अमत्कार्यवादे यान् दोषान् साह्यथाश्च भणन्ति ‘तेसि मग्गे वि ते सच्चा’ तेषां पूर्वोक्तवादिना मर्वेऽपि ते दोषाः सत्याः, तच्चछास्त्रोक्तैकान्तविषयाऽमत्यत्रुपाकाः, तच्चछास्त्रोक्तैकान्ततत्त्वविषयकज्ञानाऽप्रामाण्यज्ञानोत्पादकत्वात्तेषाम्, अत एव सद्दोषतत्त्वप्रतिपादकत्वादेकान्तनयप्रणीतशास्त्र सर्वं मिथ्यारूपमिति सिद्धम् । अयमभावः—साह्यथाभ्युपगतसत्कार्यवादे असत्कार्यवादिन एव दोषान् प्रतिपादयन्ति, सत्पक्षे कार्यस्य कारणात्मकत्वेनदमस्य कारणमिदमस्य कार्यमित्यसङ्कीर्णव्यवहाग्निलयप्रमङ्गस्स्यात्, यतो न हि यद् यतोऽव्यतिरिक्त तत्तस्य कार्य कारण वेति व्यपदेश्यशक्यम्, कार्यकारणयोर्भिन्नलक्षणत्वात्, अथोच्येत न सर्वात्मना कारणे कार्यस्य सत्त्वमभ्युपगत, येनोक्तदोषस्स्यात्, किन्तु शक्या, नामिव्यक्त्यापीति, येन यस्यामिव्यक्तिर्जायते तत्तस्य

कार्यमिति नोक्तदोष इति चेत्, तर्ह्यनायासेनैवास्तत्पक्षमिद्विः, पूर्वममत्या अप्यमिष्यक्तेरुत्पा  
 दाम्युपगमात् । अयञ्च सत्कार्यमाः प्रागेन निरस्त इति किं पिष्टपेपणेन ? । एतेन प्रधानस्य  
 महद्गुणेण महदादेशाहङ्कारादिरूपेण परिणतत्वात्, कारणमेव कार्याकारेण परिणमत इति  
 परिणामवादोऽपि निरस्तः, कारण कार्याकारेण किं पूर्वस्वरूप परिहाय परिणमति उत  
 अन्यथेति कथाद्वयम्, तत्राद्याया पूर्वस्वभावो निरुद्धः, अन्यस्वभावश्चोत्पन्न इति स्वरूपहा  
 निप्रसक्तेरित्यैस्वरूपताविरोधः । द्वितीयकक्षायां चात्रस्याद्वयसाङ्ख्यप्रसङ्गः । किञ्च कार्या  
 कारोऽपि कारणव्यापारात् पूर्णं सन्नमन् वा किं वा मदमदात्मकः, आद्ये कारणव्यापारवैफल्य-  
 प्रसङ्गः, द्वितीये च शशशृङ्गादिवदनुत्पत्तिप्रसक्तिः, असदकरणादुपादानग्रहणादित्यादिमवदी  
 योक्तेरेव, तृतीये चानेकान्तापत्तिः, कारणाकारेण मत एव पूर्णकालावच्छिन्नमञ्जुतकार्या-  
 कारेण परिणमनाभ्युपगमात् । एव बौद्धशेषिकाभ्युपगतामत्कार्येऽपि माह्वया एव दोषानमि  
 दधति, असत् चेत्कारणव्यापारात्पूर्वं कार्यं नास्य मत्त कर्तुं केनापि शक्यम्, न हि नील  
 शिल्पिसहस्रेणापि पीत कर्तुं शक्यम्, तत् उपादानकारणे यदेव सत् तस्यैव कारणव्यापारादमि  
 व्यक्तिर्जायते, पीडनेन तिलेषु तैलस्यैव, अवघातेन घान्येषु तण्डुलानामिवेत्यभ्युपगन्तव्यम्,  
 किञ्च कार्येण सम्बद्ध कारण कार्यस्य जनकम्, सम्बन्धश्च कार्यस्यासतो न सम्भवतीति  
 कारणव्यापारात् प्राक् सदेव कार्यमभ्युपगन्तव्यम् । नन्वमम्बद्धमेव कार्यं कारणव्यापारेण  
 जन्यताम्, तत्र को दोष इति चेत्, तर्ह्यसम्बद्धत्वाऽविशेषेण सर्वं कार्यजातं सर्वस्माद्भवेत्, अथ  
 नैव भवेत्, असम्बद्धमपि सत्तदेव करोति यस्मिन् कार्ये यत्कारणं शक्तम्, तत्तत्कार्यानुकूल  
 कुर्तुं शक्तिश्च कार्यदर्शनादवगम्यते इति चेत्, इन्त मो ! कारणगता शक्तिः कार्यमम्बद्धा  
 असम्बद्धा वा, आद्ये तादृशशक्तेर्नामिता कार्येण सम्बन्ध इति सत्कार्यमभ्युपगन्तव्यम्, तथा  
 च सत्कार्यजननशक्तिर्यस्मिन् कारणे तस्मादेव कारणात् सत्कार्योत्पत्तिरिति मत्कार्यवादप्रमद्  
 इति भावः । द्वितीये असम्बद्धत्वाऽविशेषात्सर्वस्मात्सर्वकार्योत्पत्तिप्रमद् इत्यव्ययस्थातादव-  
 स्थ्यम्, कार्यस्य कारणात्मकत्वाच्च मत्कार्यम्, न हि कारणाद्भिन्न कार्यम्, कारणञ्च सदिति  
 कथं तदभिन्न कार्यमसद्भवेत्, तथा च कारणे कार्यजननशक्तिरूपेण कार्यमस्तीत्यभ्युपग-  
 न्तव्यम्, सा च शक्तिर्यत्कार्यानुकूला कपालोपादान एवेति तस्मादेव महकार्यन्तरमह  
 कृताद् घटकार्यनिष्पत्तिः, न तु वन्तुम्, तत्र घटकार्यानुकूलशक्यभावात्, यद्यपि तत्त  
 त्कार्यमेदेन तत्तत्कार्यानुकूलशक्तिरिष्येन्न, तथापि शक्तित्वेन शक्तिरेकैवेति कार्यानुकूलशक्ति-  
 मत्त्वेन कारणत्वमभ्युपगमे एव एव कार्यकारणभावः, अमत्कार्यवादपक्षे तु प्रतिनियततत्तद्  
 धर्मावच्छिन्नकार्यं प्रति प्रतिनियततत्तद्घर्मावच्छिन्नस्य कारणत्वमभ्युपगतं स्यादित्यनेक-  
 कार्यकारणभावापत्तिर्दोषः । तदुक्तम्—

“ असदकरणादुपादानग्रहणात्, सर्वसम्भवाऽभावात् ।

शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम् ॥ १ ॥ ” इति ।

तदेव सुन्दोपसुन्दन्यायेनामद्वादिषौद्वौल्लक्ष्योक्तयुक्तयस्माद्वाभ्युपगतसत्कार्यपक्ष  
साहचर्योक्तयुक्तयश्च सौद्वौल्लक्ष्याभ्युपगताऽसत्कार्यपक्षं प्रतिवृत्तन्ति, न तु कार्यकारणयोः कथ-  
श्चिदमेदादुपादानकारणद्रव्यात्मना कारणे कार्यं सत् पर्यायलक्षणतत्कार्यात्मनाऽसदित्येव  
कथञ्चिरमदसदात्मकान्तकान्तपक्षम्, यतोऽनेकान्तत्व जात्यन्तरमेव, अथिमक्तपरस्परसापेक्ष-  
सदमद्रूपद्वयसमर्गात्मरूपात्, न पुनरेकान्तपरस्परनिरपेक्षमदसदुभयात्मकत्वरूप तत्, प्रत्ये-  
कपक्षदोषस्योभयपक्षेऽपि मद्भावात्। “प्रत्येकं यो भवेद्दोषो द्वयोर्भावे कथं न मः” इत्युक्तेः,  
किन्तु नरसिंहादिरद्विलक्षणमखण्डस्वरूपमेव, अत एव प्रत्येकपक्षोक्तदोषाऽस्पृष्टम्। यदाह—

“ न नरः सिंहरूपत्वात्, न सिंहो नररूपतः ।

शब्दविज्ञानकार्याणां, भेदाज्जात्यन्तरं हि तत् ॥ १ ॥ ” इति ।

तथा च शास्त्रान्तरयुक्त्यप्रतिद्वन्द्वमान परस्परसापेक्षद्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयप्रतिपाद्य  
भजनाङ्किततत्त्वप्रतिपादकमहच्छास्त्रमेव सम्यग्भावं घत्ते, तदन्यत्तु परस्परशास्त्रयुक्तिभिर्निरा-  
क्रियमाणमन्यनपरिपेक्षेण केवलद्रव्यार्थिकनयेन केवलपर्यायार्थिकनयेन वा परस्परनिरपेक्ष  
द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयाम्भावात् व्याख्यापितं सर्वं शास्त्रं मिथ्येति सिद्धम्। अत एव  
शाब्दयौल्लक्ष्यानां सत्कार्यवादे साहचर्यानां चासत्कार्यवादे पर्यनुयोगा एकान्तपक्षनिवृत्त्यशे  
फलवन्त एव सिद्धान्तिकैरुक्ता इति ॥ ५० ॥

अद्युमेवार्थमन्यव्यतिरेकाभ्यां दृढीकर्तुमाह—

ते उ भयणोचणीया, सम्महसणमणुत्तरं ह्येति ।

ज भवदुःखविमोक्ष, दो वि न पूर्येति पाण्डिक् ॥ ५१ ॥

‘ ते उ भयणोचणीया ’ तौ तु द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयो भजनोपनीतौ उपमर्जनी-  
भूतस्वेतरनयविषयप्रधानीभूतस्त्रविषयप्रतिपादकतयोपयोजितौ, अत्र यदा भवतस्तदेति शेषः  
‘ सम्महसणमणुत्तरं ह्येति ’ सम्यग्दर्शनमनुत्तरं नास्ति उत्तरं प्रधानं यस्मादिति व्युत्पत्त्या  
यदबधिकोत्कर्षत्रिंशष्टमन्यन्नास्ति तत्तथाभूतं भवतः, तादृशसम्यग्दर्शनरूपतामवाप्नुतः, पर-  
स्परविनिर्मागवर्तिन्द्रव्यपर्यायात्मकैरुक्ततत्त्वविषय रुरुच्यात्मकावाधितावबोधस्वभावत्वाद्  
भजनाघटिततदुभयपक्षस्य सर्वनयसम्मतत्वेन जिनमतरूपतया सम्यग्भूत्वात् । यदा  
त्वन्वोन्यनिरपेक्षतया स्वतन्त्रद्रव्यपर्यायप्रतिपादकत्वेनोपनीतौ तौ भवतस्तदा न सम्यक्त्व  
प्रतिपद्येते, नयान्तरानपेक्षतया स्वतन्त्रैकनयपक्षस्य दुर्नयत्वेन मिथ्यारूपत्वात् तयोरेकान्त  
द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनययोर्मिथ्यात्वे च यत्स्यात्तदाह—‘ ज भवदुःखविमोक्ष ’ यद् यस्मा  
दुःखदुःखविमोक्षं भवेत्सारे जायमानं यज्जन्ममरणादिदुःखं तस्माद् विमोक्षं विशेषेणा-  
पुनरावृत्त्या मोक्षं परिमोचनं अथवा भवस्य दुःखं भवदुःखम्, तस्य विमोक्षम्,  
दुःखपदमत्र लक्षणया स्वकारणीभूतकर्मपरम्, पञ्चम्यश्च सम्बन्धः कार्यकारणभावात्मा,

तस्य प्रकारतया भानाम्युपगमे मयनिष्ठकार्यतानिरूपितकारणताऽऽश्रयीभूतकर्मसि  
न्तोच्छेदमित्यर्थः । ससर्गतया भानस्वीकारे तु सनिष्ठकार्यतानिरूपितकारणतासम्बन्ध  
भवविशिष्टं यत् कर्म तस्याऽत्यन्तोच्छेदमित्यर्थः । 'दो वि न पुरेति पादिक' द्वा  
प्रत्येकं न पुरयतः, तौ द्वयपि द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयावेकैकौ परस्परनिरपेक्षौ  
विघत्तः, मिथ्याज्ञानरूपत्वाद्, यच्च मिथ्याज्ञानात्मकं तच्च दुःखत्रिमोक्ष विघत्ते, यथा ।  
मरीचिकादौ जलप्रान्तिः, मिथ्याज्ञानरूपौ च तौ नयाविति तावपि सम्यक्प्रकाशान्न  
भवदुःखत्रिमोक्ष न विघत्तः, तयोर्नययोर्मिथ्यात्वे च कारणात्कार्यमभिन्नमत एव सरक  
मित्येवमेकान्तद्रव्यार्थिकनयप्रतिपादितमेव पूर्ववर्तिनः कारणात् पश्चाद्द्वयि कार्यं मिश्रं  
अत एवासत्कार्यम् अमरतः सचालाभलक्षणत्वात्कार्यत्वस्येत्येवमेकान्तपर्यायार्थिकनयप्र  
पादितश्चासत्यमेव, नन्वेव तर्हि किमत्र तत्र मत्यमिति चेत्, उच्यते-कारणात्  
कथञ्चिन्नमभिन्नञ्च अत एव कथञ्चित्सचाऽसद्येत्पुमपरूपमिति जानीहि ॥ ५१ ॥

अष्टमेवार्थमुपसंहरति—

नत्थि पुढवीयिसिद्धो घटोत्ति ज तेण जुञ्जइ अणण्णो ।

ज पुण घटोत्ति पुच्चं ण आसि पुढवी तओ अण्णो ॥ ५२ ॥

"नत्थि पुढवीयिसिद्धो घटोत्ति ज" पदं यस्मात् 'पृथ्वीयिदिष्ट' पृथिव्या मृत्तिका  
कारणीभूताया दिदिष्टो विशिष्टो वा व्यतिरिक्तो भिन्नः कार्यभूतो घटो नास्ति मृत्ति  
व्यतिरिक्तस्वभावतया न दृश्यते 'तेण जुञ्जइ अण्णो' तेन तस्माद्देतोर्गुञ्जते अनन्त  
मृत्तिकातोऽभिन्न, यत्कार्यं यत्कारणात्मकं तत्तदभिन्नं यथा जलपुद्बुदो जलस्वरूपकारणात्  
इति स तदभिन्न, मृत्तिकास्वरूपकारणात्मकश्च घट इति मोऽपि तदभिन्नः, यद्वा यत्कार्यं य  
कारात्मकं तत्तदभिन्नं यथा जलपुद्बुदो जलविकारात्मक इति तदभिन्नः, यथा ना वेदान्त  
मायाविकारात्मकं घटपटादिजगत् इति तदभिन्न, पृथिवीविकारात्मकश्च घट इति सोऽपि  
तदभिन्नः, नन्वेव सति कार्यकारणयोर्दृश्यमाना भेदप्रतीतिरेव लक्ष्णा स्यात् । किञ्च तयोर्  
कार्यकारणभाव एव न स्यात्, भेद एव तद्भानादित्वात्तद्भानादित्यर्थमुत्तरार्द्धमाह-  
'पुण' यत्पुनः 'घटोत्ति' घट इति, पृथुपुढोदराद्याकारतालक्षणव्यक्तस्वरूपेण 'पुढ  
आसि' पूर्वं घटोत्पत्तेः प्राग् स नामीत्, नाभूत्, किन्तु 'पुढवी' पृथ्वी मृत्तिकेवासी  
अयम्भावः-कार्यकारणयोस्मर्त्तव्ये स्वकाल इव मृत्तिकात्मकपृथ्वीकालेऽपि घटः पृ  
पुढोदराद्याकारेणोपलभ्यते, न चोपलभ्यते 'तओ अण्णो' ततः तस्मात्कारणात् छा  
कारणीभूतमृदात्मकपृथ्वीतोऽन्यो घट इति । दशरूपालिरुपमाध्ययनशृङ्खलीकाया सा  
भूतगाथोत्तरार्द्धपाठस्त्वेवम्-"ज पुण घटुत्ति पुढ नामी पुढवी तओ अण्णो" इति । यत्पुनः  
इति पूर्वं नासीत् ततः तस्मात्कारणात् पृथिव्या अन्य इत्यर्थः । अयम्भावः-यो घटस्सोः



मृत्तिरैव, यतो घटो मृत्स्वरूप परित्यज्य न स्त्रस्वरूप घत्ते, ततोऽनुगतद्रव्यसामान्यस्वरूप-  
मन्तरेण घटात्मकविशेषस्वरूपानुपपत्तेर्घटो मृद्रव्यात्मक एव, मृत्तिरूपापि तदानीं घट  
एव, यतस्तापि घटात्मकविशेषस्वरूप परित्यज्य तदानीमन्यत्स्वरूप न विमर्त्ति, ततो  
घटात्मकविशेषस्वरूपमन्तरेण मृद्रव्यसामान्यस्वरूपाऽनुपपत्तेर्मृद्रव्यमपि घटविशेषात्मरूपेव,  
तयोरन्योन्यानुस्यूतत्वादिति तयोस्तद्रूपेणाऽभेदः, यदेव नियमेनाव्यग्रहितपूर्ववर्त्ति तदेव  
कारणम्, यच्च तज्जायमानत्वेन तद्रव्यग्रहितोत्तरवर्त्ति तत्कार्यमिति मृदः कारणत्वेन घटस्य  
च कार्यत्वेन पूर्वापरवर्त्तितया तयोर्भेद इत्येव यथा मृद्-घटयोः कथञ्चिद्धेदाभेदोभयात्मक  
त्वम्, एव सर्वत्र कार्यकारणयोस्तद्भावनीयम्, अत एव कार्यकारणयोः कथञ्चिद्धेदात्  
कारणात्मना कार्यं सत्, तयोश्च कथञ्चिद्धेदात् कार्यात्मना कार्यं पूर्वमदिति कार्यं  
कथञ्चित्सदसदात्मकमवसेयम् ॥ ५२ ॥

सदाद्येकान्तयादवत् कालाद्येकान्तरादेऽपि मिथ्यात्वमेवेत्याह—

कालो सहाय णियर्ह, पुञ्चकय पुरिसकारणेगता ।

मिञ्जत्तं ते चेव उ, समासओ हौति सम्मत्त ॥ ५३ ॥

कैश्चिदेकान्तरादिभिः 'कालो' काल एवासाधारणत्वेन हेतुः कार्यमात्रं प्रति मन्यते । यदाह—

“कालः पचति भूतानि, कालः सहरति प्रजाः ।

कालः सुप्तेषु जागर्ति, कालो हि दुरतिक्रमः ॥ १ ॥” इति । 'सहायणियर्ह'

“क' कण्टकानां प्रकरोति तैक्ष्ण्यं, विचित्रभाव मृगपक्षिणा च ।

स्वभावतः सर्वमिदं प्रवृत्तं, न कामचारोऽस्ति कुतः प्रसङ्गः ? ॥ १ ॥”

इति वचनात् कैश्चिच्च स्वभावो हेतुत्वेनाभ्युपगम्यते ।

“प्राप्तव्यो नियतिबलाश्रयेण योऽर्थः, सोऽवश्यं भवति नृणां शुभोऽशुभो वा ।  
भूतानां महति कृतेऽपि हि प्रयत्ने, नाभाव्य भवति न भाविनोऽस्ति नाशः ॥ १ ॥”

इत्पुक्तेः अन्यैश्च नियतिः, तदपरैश्च—

“यथा यथा पूर्वकृतस्य कर्मणः, फलनिधानस्थमिवावतिष्ठते ।

तथा तथा तत्प्रतिपादनोच्यता, प्रदीपहस्तेव मतिः प्रवर्तते ॥ १ ॥”

इत्यभिधानात् 'पुष्यरूप' पूर्वकृत कर्माख्य, अन्यैश्च 'पुरिसकारण' पुरुषकारण  
प्रक्षारूपपुरुषोऽसाधारणहेतुत्वेन—

“ऊर्णनाभ इवाशूना, चन्द्ररान्त इराभसा ।

प्ररोहाणामिच ह्यक्षः, स हेतु सर्वजन्मिना ॥ १ ॥”

तथा—“पुरुष एवैतत्सर्गं यद्भूतं यच्च भाव्यम्” इत्यादिवचनान्मन्यते, इत्येव “एगता

मिच्छन्त" एकान्ता मिथ्यात्वम्, जगद्विशिष्टकार्यं प्रति यत्कारणीभूत कालाद्यैकैः, तत्प्रति-  
 पादकैकान्तवादान्मर्येऽपि मिथ्यावादाः, यतो न हि किमप्येकमात्र स्वान्यहृदयनेषु कारण  
 कार्यमुत्पादयदृष्टम्, दृष्टानुमारिणी कल्पना प्रमाणभावमञ्जलि, न तु यथा तथा कल्पना,  
 सामग्री वै जनिकेति न्यायात् तदितरमकलकारणमत्वे मति तत्मत्त्वे तत्सत्त्वम्, तदभावे  
 तदभावा इत्यन्यव्यतिरेकाभ्या तदितरनिमित्तकारणमहकृतस्यैव विवक्षितस्यैकस्य प्रधान-  
 तथा कारणत्वे सिद्धे मति तदन्वेषां गौणतया कारणत्व सिद्ध्यत्येवेति स्वान्यकारणनि-  
 र्पैक्यकारणपक्षस्य दुर्नपत्त्वात्, ननु यदि कालाद्यैकैरुहेतरभ्युपगमरूपैकान्तपक्षा एकैक-  
 नयवादरूपत्वेन मिथ्यारूपास्तर्हि सर्वनयदृष्ट्याऽर्हन्तिद्वान्तमिद्वान्मम्यग्ररूपाः के इत्याशङ्का  
 परिहरन्नाह—“ते चेत् उ समासो ह्यन्ति सम्मत” त एव तु ममामतो भवन्ति सम्पत्त्वम्,  
 अप्यभावात्—त एव तु ममुदितात्मामग्रीप्रविष्टत्वेन मिथ्यस्महकारिमात्र प्राप्ताः, तत्राप्येको  
 विवक्षितो हेतुः प्रधानीभूतः, तदितरहेतुो गुणीभूता इत्येवमङ्गाङ्गिभावेन परस्परानहदृष्टत्  
 यस्मम्यग्रभावमधिगच्छन्ति, परस्परभाषेककालादियञ्चकारणसमुदायपक्षस्यैव सम्पत्त्वत्वेन  
 सर्वनयदृष्ट्या सिद्धान्तसिद्धस्य जिनमतरूपत्वात् । “मवणयमय जिणमय” इत्युक्तेः ।  
 एकैककारणमात्रेण कापि जायमानस्य कस्यापि कार्यस्यानुपलब्धे. कालादिकारणसमुदाये  
 कार्योपघायकत्रयनियमादेककारणपरिशेषत्वस्य च दुर्नपत्त्वेन मिथ्यारूपत्वादिति ॥ ५३ ॥

अन्यनिरपेक्षकालादिप्रत्येककारणाभ्युपगमात्तमकैकान्ततत्त्वपक्षा मिथ्यारूपाः, स्यात्पदो-  
 पादानेनाशेषान्यकारणभाषणास्तु त एव सम्पत्त्वा इति प्रतिपाद्य नास्त्येवात्मा १ न नित्य  
 आत्मा २ न कर्ता ३ कृत न वेदयते ४ नास्ति निर्माणम् ५ नास्ति मोक्षोपायः ६ इति पडे  
 कान्तविकल्पा अपि स्वस्वदर्शनप्रक्रियायादिभिश्चार्वाकपौद्गमादृष्यवेदान्तिमीमामकादिभिः  
 प्रकल्पिता मिथ्यारूपाः, त एव स्यात्पदाङ्कितास्तु मम्यग्रूपा इति प्रतिपादयितुमाह—

नत्थि ण निचो ण कुणह, कय ण वेण्ह नत्थि निव्वाण ।

नत्थि य भोक्वोवाओ, छम्मिच्छत्तस्म ठाणाह ॥ ५४ ॥

मद्याङ्गैभ्यो मदशक्तिवज्जले बुद्बुद्बुद्वा पञ्चभूतेभ्यः कायाकार आत्मेत्पद्यते तत्रैव च  
 विनश्यतीति भूतपरिणामत्वात् तद्व्यतिरिक्त आत्मा परलोकानुयाग्यस्ति । तदुक्तम्—  
 “विज्ञानधन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य सत्तास्ति” इति ।  
 यदि तद्व्यतिरिक्तस्याक्षर्युपलम्ब्येत, न चोपलम्ब्यते चक्षुरादीन्द्रियैः, ततो नास्त्येवात्मेति  
 चार्वाकमतमाश्रित्याह ‘नत्थि’ नास्ति आत्मेति शेषः ॥ १ ॥

“सुग्गी भवेय दुग्गी च, मा भूयमिति तृप्यतः ।

यैवाहमिति धीः सैव, सहज सत्यदर्शनम् ॥ १ ॥”

तत्र सत्त्वमात्मेत्यर्थः । कामयमानाश्च सुखादिकं विहितनिषिद्धसाधनमस्यानुतिष्ठन्तः  
कर्माशयानानिन्वाना जन्मादिकमनुभवन्ति । यदुक्तम्—

“ आत्मनि सति परसजा, स्वपरविभागात्परिग्रहद्वेषौ ।

अनयोः सम्प्रतिषद्धाः, सर्वकलेशाः प्रजायन्ते ॥ १ ॥ ” इति ।

यदि पुनरगी, नाह कश्चित्, किमपि मम नास्ति, न किञ्चिदपि वस्तु स्थिरम्, विश्व  
मेव क्षणभङ्गुरमलीकश्चेत्यवधारयेरन्, न किञ्चिदपि कामयेरन्, न चाकामयमानाः केचिदपि  
प्रवर्तन्ते, न चाप्रवर्तमाना अपि कर्माशयेन सिन्यन्ते, न चान्तरेणापि कर्माशय सम्भवो  
भोगस्यति भवति नैरात्म्यदर्शन साधनमपरमार्गस्येत्यभ्युपगमन्तुरौद्धमते चिन्मात्रमात्मा,  
यत्नचतुर्क्षणिकम्, यथा जलधरपटलम्, सधात्मेति सोऽपि क्षणिकः ‘ सर्वे सस्काराः  
क्षणिकाः ’ इत्युक्तेरित्यत आह—‘ ण निचो ’ न नित्य इति क्षणिकत्वादिति ॥ २ ॥

सादरूपमते अस्त्यात्मा नित्या, तथापि पुरुषः पुष्करपलाशप्रच्छिन्नेव इति म शोक्ताऽपि  
न कर्ता, किन्तु कर्ता प्रकृतिरेव । उक्तञ्च सादरूपतत्त्वकौमुद्याम्—

“ इत्येव प्रकृतिकृतो, महदादिविशेषभूतपर्यन्तः ।

प्रतिपुरुषविमोक्षार्थं, स्वार्थं ह्य परार्थं आरम्भः ॥ ५६ ॥ ”

“ प्रकृतिः करोति पुरुष उपभुङ्क्ते ” तथा “ बुद्ध्यध्ययसित्तमर्थं पुरुषश्चेतयते ” इति च ।  
तन्मतमाश्रित्याह—‘ न कुण्ड ’ न करोति आत्मा । ३ । अन्तःकरणाप्रच्छिन्नचैतन्यं जीव  
इति वेदान्तिगिरभ्युपगमादन्तःकरणधर्मत्वाद्भोक्तृत्वस्य तद्दृषाधिकजीवे चोपचारिकमेव  
भोक्तृत्वम्, न तु पारमार्थिकमिति वेदान्तिमतमाश्रित्याह “ ण वेपइ ” न वेदयते, न  
सुखादिभ्युपभुङ्क्ते आत्मा परमार्थवृत्त्या । यद्वा येन कृत कर्म नासौ तद्भुङ्क्ते क्षणिकत्वाच्च  
सन्तनेः, अत एव कृत न वेदयते इति बौद्धमतमाश्रित्योक्तम्—“ ण वेपइ ” इति ।  
अत्र यद्यपि वासनावासितपूर्वपूर्वविज्ञानमूत्ररोचर विज्ञानमूपनिबध्नातीति वासनावासितैः  
पूर्वपूर्वविज्ञानैरुत्तरोत्तरविज्ञानोत्पादे सिद्धे मरणशालिक विज्ञानमध्यनपेतप्रासनतया तत्पश्चा  
दपि मर्मादौ विज्ञानान्तरमुत्पादयेदेव, तच्चेद मनोविज्ञानमालयविज्ञानसञ्चारु विविधवासना-  
वामित जन्मन’ पूर्व मरणत’ पश्चादनुबद्धमन्तानक्रममेवेत्येव युक्तिमिद्वोऽनाद्यनन्तो विज्ञान  
मन्तान एव कर्म करोति तत्फलञ्चोपभुङ्क्ते इति बौद्धरूपगमात्तन्मतमाश्रित्य ‘ ण वेपइ ’ इति  
न युक्तम्, तथापि ज्ञानसन्तानस्य सन्तानिभ्यो ज्ञानव्यक्त्यात्मकस्यो भिन्नत्वाभ्युपगमे  
नामात्तरेणात्मैवाभ्युपगतमस्यादिति तदभिन्नस्य तस्यापि पूर्वोत्तरज्ञानव्यक्तीनां प्रतिक्षण-  
मन्यान्यत्वन तथात्परापरया परमार्थवृत्त्याऽननुगामित्वेन न तत्र कर्मकर्तृमोदत्वावो  
पपत्तिरित्यभिप्रेत्य तद्योक्तिरित्यवधेयम् ॥ ४ ॥

न केनापि पुमा रागादीनामत्यन्तक्षयः कर्तुं शक्यत इति सर्वतो न सम्भवति, किञ्च ये सातिशया दृष्टास्तेऽपि स्वस्वविषय एव न विषयान्तर इति दशकालम्बभावविप्रकृष्टार्थ-विषयकमिन्द्रियज्ञान न सम्भवति, तदुक्तं भद्रैः सर्वज्ञनिराकरणप्रस्तावे—

“ यत्राप्यतिशयो दृष्टः, स स्वार्थाऽनतिलङ्घनात् ।

दूरसूक्ष्मादिदृष्टौ स्या-न्न रूपे श्रोत्रघृत्तिता ॥ १ ॥

येऽपि सातिशया दृष्टाः, प्रज्ञामेधादिभिर्नराः ।

स्तोकस्तोकान्तरत्वेन, न त्यतीन्द्रियदर्शनात् ॥ २ ॥ ” इति

सर्वज्ञाभावात् ‘अग्निहोत्र जरामयं वा कुर्वति’ इति श्रुत्या यावज्जीवमग्निहोत्र क्रियाविधानतो मोक्षमाषकक्रियानुष्ठानकालाऽप्रदर्शनाच्च सर्वज्ञाऽनभ्युपगन्तृणां यज्वनां मते सर्वदुःखविमुक्तिवक्षणस्य निर्वाणस्याभावात् एवेत्याशयेनाह—‘ नत्थि निव्वान ’ नास्ति निर्वाणमिति ॥ ५ ॥ अस्ति मुक्ति पर तदुपायो नास्ति, सर्वभावानां नियतत्वेनाकस्मादेव भावादिति नियतिवादिमतेन यद्वा स्वभावादेव म्रुच्यते न मुक्तौ स्वभावादन्यः कोऽपि हेतु रिति मोक्षोपायो नास्तीति स्वभाववादिमतेनाह—“ नत्थि य मोक्खोपाओ ” नास्ति च मोक्षोपाय इति ॥ ६ ॥ एतानि पद् किमित्याशङ्क्यामाह—“ छम्पिच्छत्तस्म ठाणाह ” षट् मिथ्यात्वस्य स्थानानि, पद्मिस्थानैस्त्वचार्थाऽश्रद्धानलक्षण मिथ्यात्व भवति । चार्वाक बौद्धमाह्वयवेदान्तिमीमांसकादीनां स्वस्वदर्शनप्रक्रियानादिना अनाकलिततत्त्वाऽप्रज्ञापनीय ताप्रयोनकस्वस्वभ्युपगतार्थश्रद्धानलक्षणमभिग्रहिकमिथ्यात्व भवतीति यावत् । तत्तन्मत-खण्डनश्चैत्रम्—चार्वाकमतेन “ यथा जलबुद्बुदो जलातिरेकेण नापर’ कश्चिद् विद्यते, तथा भूतव्यतिरेकेण नापर. कश्चिदात्मा ” इत्यादिप्रकारणात्मा नास्तीत्यर्थक “ नत्थि ” इति प्रथमस्थानमुक्तम्, तन्महामोहविजृम्भितम्, यतश्शरीर विद्यमानकर्तृक आदिमत्प्रतिनिय-ताकारत्वात् यद् यदादिमत्प्रतिनियताकार तत्तद्विद्यमानकर्तृक दृष्ट, यथा घटः, यथा विद्यमानकर्तृक तदादिमत्प्रतिनियताकारमपि न भवति, यथाऽऽकाशम्, आदिमत्प्रति-नियताकार च शरीर दृश्यते तस्माद्विद्यमानकर्तृकमिति यस्तत्कर्ता स एवात्मा, न चाङ्गरादिवनस्पतौ वरमीकादौ च व्यभिचारः, तत्रापि गतिजातिशरीराङ्गोपाङ्गादिनाना विधनिचित्रकर्मादयपरिणामिन आत्मन एव शरीरकर्तृत्वेनाभ्युपगमात्, ननु तथाप्य-स्यानादित्व कथमिति चेत्, उच्यते—उपयोगलक्षण आत्मा गतिजातिशरीराङ्गोपाङ्गाद्यनु भवनीययोगात्मतया तान् पुद्गलान् परिणमयतीत्यात्मनः परिणामकत्व, तेषा परिणाम्य-त्वम्, पुद्गलाश्चात्मान मिथ्यादर्शनाऽविरतिप्रमादकषाययोगसुखदुःखोदयक्षयोपशमादि भावेन परिणमयन्ति, तद्भावेनात्मा परिणम्यते, स च मिथ्यादर्शनोदयादिभावो भवन्नमण-हेतुः, तद्दृश्यस्य ससरणात्, एतस्य कर्मकर्माद्वयस्यान्योन्यपरिणामकत्वादनादित्यम्, अत एव कर्मजीवमन्वन्धस्य बीजाङ्गरन्यायेनानादित्वेनोक्तमन्वन्धजस्य ॥

सिद्धम्, किं स्वमनीषिकया तदुच्यते ? आहोस्विदस्यस्य किञ्चिदुपनिषन्धनमार्यमपीति ? अमतीत्युच्यते उपनिषन्धनमस्य-‘ पुष्टिं भन ! कुक्कुडी पच्छा अडण, पुष्टिं अडण पच्छा कुक्कुडी ’ इत्यादि प्रश्नव्याकरणम् ‘ रोहा पुष्टिं एते पच्छावि एते, दोवि एते सासया भावा अणाणुपुष्ठी एसा रोहा इत्यादि । (मम० श० १, उ० ६, सू० ५३) एवमग्रेऽपि ज्ञेयम् । एव पुरुष तनुवन्नियताकारस्तचनूपत्तिवृद्धिक्षतमग्रसंरोहणस्त्रापविबोधोधाहुरोद्धेदपल्लवकुसुमोद्गमभावानां कर्तृत्वयाऽपि वनस्पत्यादानात्ममिद्धया नोक्तव्यमिचारः, निष्टङ्कयति तत्प्रामाण्यमाचाराद् प्रथमाध्ययनपञ्चमोद्देशक उच्यते-‘ से वेमि इम पि जाह धम्मय, एय पि जाह धम्मय, इम पि पुट्टिधम्मय ण्य पि पुट्टिधम्मय, इम पि चित्तमतय एय पि चित्तमतय, इम पि छिण्ण मिलाइ एय पि छिण्ण मिलाइ, इम पि आहारग एय पि आहारग, इम पि अणिच्चय एय पि अणि चय, इम पि अमासय एय पि असासय, इम पि चओवचइय एय पि चओवचइय, इम पि विपरिणामधम्मय एय पि विपरिणामधम्मय ’ ॥ ७७ ॥ इति । न च वैस्रसिकेऽग्नेन्द्रधनुरादौ व्यभिचार इति वाच्यम्, यद्यत्प्रायोगिक प्रतिनियताकारमित्येव हेत्वर्थत्वात्, यद्वा वैस्रसिकमिन्नत्वे सतीति हतौ विशेषणात् । न च शरीरमपि वैस्रसिकमेवेत्पुक्तानुमानाञ्जोक्तसाध्य सिद्धिस्तत्रैति वाच्यम्, तथा सति तस्मिन् विलक्षणचेष्टावचोपपत्तिरेव न स्यान्मृतशरीरव दिति । तथा इन्द्रियाणि विद्यमानाधिष्ठातृकाणि करणत्वात्, यद्यदिह करण तत्तद्विद्यमानाधिष्ठातृक दृष्टम्, यथा दण्डनास्यादिकम्, अधिष्ठातारमन्तरेण करणत्वात्पत्तिः, यथा काशस्य, यथा हृषीकाणां करणभूतानामधिष्ठाता स एवात्मा, स च तेभ्योऽन्यः, तथा इन्द्रियविषयक-दम्भक विद्यमानादातृक आदानादेयसद्भावात्, इह यत्र यत्रादानादेयसद्भावनस्तत्र तत्र विद्यमान आदाता ग्राहको दृष्टः, यथा सदशकायःपिण्डयोस्तद्विज्ञोऽयस्कारः, यथात्रेन्द्रियैः करणैर्विषया णामादाता-ग्राहकः स तद्विन्न आत्मेति, यथा च तिले तैल कुसुमे सौरभ ततः पृथक् तथा शरीरादात्माऽपि पृथक्, न च तिलेन्धनादिभ्यस्तैलाभ्यादयः कार्यात्मकाः पृथग्भूतास्साक्षाद् दृश्यन्ते इति तिरोभूततया ते तत्र सन्तीति कार्यलिङ्गतोऽनुमीयन्ते, न चात्मा शरीरात्पृ थग्भूत उपलभ्यत इति स तत्र नास्त्येवेति वाच्यम्, अरूपित्यादेर स चाग्नेन्द्रियैर्नोपलभ्यते न त्वभावात्, कालादिवत्, अह जाने, अह यने, अह सुखी, अह दुःखी, इत्यादिमानसप्रत्यक्षेण उपलभ्यत एव, न चाहम्पदवाच्य शरीरमेवेति वाच्यम्, अन्धकारेऽपि सोऽह सोऽह सुख्यह दुःख्यहमित्यादिप्रतीते, यच्च ‘ विज्ञानघनो एवैतेभ्यो भूतेभ्य ’ इत्याद्युक्त तेनाप्यात्मसत्ता प्रतीयत एव, तथाहि-‘ विज्ञानघनो ’ प्रतिप्रदेशमात्मनोऽनन्तज्ञानपर्यायमप्यत्वाद्विज्ञानपिण्ड आत्मा ‘ एतेभ्यो भूतेभ्यस्मगृत्पायेति ’ प्राक्तनकर्मवशात्तथाविधकायाकारात्मपरिणाम प्रति कायाकारपरिणतभूतानामपि कारणत्वाच्चेभ्यः कायाकारात्मपर्यायतया समुत्पद्य कापद्वारा स्वकर्मफलमनुभूय पुन कायविनाशे आत्माऽपि तदानीं तेनाकारेण विनश्यत्पर-कायाकारात्मपर्यायान्तरेणोत्पद्यते, न पुनस्त्वैर्भूतैरेव सह विनश्यतीति परलोके प्राक्तनी सञ्जा

नास्ति, तदुत्तरमवीयसज्ञामाणादिति । भूतचैतन्यादिनादस्तु पूर्वमेव निरस्त इत्यत्र नाधिक  
 निस्तृतिमापादुच्यते ११। एतेन भवतु पूर्वोक्तयुक्त्याऽऽत्मसिद्धिस्तथापि स क्षणिकज्ञानसन्ता-  
 मालैव, न तु तदाभयत्वेन तत्त्वतिरिक्तो नित्य आत्मास्तीत्यर्थकम् 'ण निधो' इति  
 द्वितीयस्थानमपि बौद्धानां निरस्तम्, नित्यात्मनोऽभावे योऽयं रसविदितः सुखदुःखा-  
 नुभवः स कस्य भवतीति वाच्यम्, आलयविज्ञानस्कन्धस्यायमनुभव इति चेत्, न,  
 तस्यापि क्षणिकत्वात्, ज्ञानक्षणस्य चातिशयमत्वात् सुखदुःखानुभवाभावप्रसङ्गः,  
 क्रियाफलवतोऽपि क्षणपोरत्यन्तमिभ्रत्वात् कृतनाशाऽकृताभ्यामापात्तिरिति, आलयविज्ञान  
 सन्तान एकोऽन्तीति चेत् तस्यापि सन्तानिव्यतिरिक्तस्याभावाद् चत्किञ्चिदेतद्, भावे  
 वा पर्यवसित विवादेन, नामान्तरेणात्मन एव स्वीकारात् । ऊः पुनरात्मस्थैर्यमाधकन्याय  
 प्रयोग इति चेत्, उच्यते, परप्रतीति पूर्वप्रतीत्याश्रयाश्रिता पूर्वप्रतीत्याश्रये साक्षात्क्रिय-  
 माणत्वात् पूर्वप्रतीतिवदिति । न च हेतुसिद्धिः, योऽहं घटमद्राक्षं सोऽहं त स्पृशामि  
 स्मरामि वेति प्रत्यभिज्ञया पूर्वप्रतीत्याश्रये उत्तरप्रतीतेः साक्षात्क्रियमाणत्वात् । मा च  
 प्रत्यभिज्ञा कर्तृभेदेऽनुपपद्यमाना पूर्वापरप्रतीत्योरेकरुत्कृत्व व्ययस्थापयति, प्रत्येतव्याद-  
 नन्यस्यैव प्रत्येतुरहमास्पदत्वात्, न हि भवति चैत्रोऽहं यमद्राक्षं मैत्रोऽहं त स्पृशामि स्मरामि  
 वेति प्रतिसन्धानम्, अथ पूर्वापरप्रतीतीनामेकरुत्कृत्वनिश्चयोऽपि तासां पादानोपादेयभावे-  
 नैवोपपद्यते, तथा चोक्तप्रत्यभिज्ञानेन द्रष्टुः पूर्वज्ञानस्याभेदो घटविषयरूपार्थान्प्रत्यक्षत्वमे-  
 घटविषयकस्मरणात्मके वा स्मर्तृपुरुचरज्ञाने आरोप्यते, तद्बलादेव चानुभवतिरि पूर्वज्ञाने  
 स्पर्शनप्रत्यक्षवच स्मरणञ्च वाऽऽरोप्यत इत्येव दिशा स्थैर्याऽभारेऽपि प्रत्यभिज्ञानस्यो-  
 पपत्तिरिति चेत्, भवम्, एकजातीयत्वे सति येन यदुत्पन्न तयोरुपादानोपादेयभाव इति  
 लक्षणस्यैव भवदभ्युपगवस्याऽसद्वृत्तमानत्वात्, तथाहि-तत्रोत्पत्तिस्मात्साक्षाद्विधयिता, किं वा  
 परपरयाऽपीति निरूपयद्वयम्, आद्यपक्षे यत्र चैत्रस्य प्राग् घटानुभवः, अन्तरा ज्ञानान्तर  
 कालान्तरे पुनर्घटस्मृतौ य घटमद्राक्ष तमेव स्मरामीत्याकारक प्रतिसन्धान तत्रापि व्ययहित  
 योरेकसन्तानिकयोर्घटानुभवघटस्मृत्योरुपादानोपादेयभावाभावप्रसङ्गया प्रतिसन्धान न  
 स्यात्, द्वितीयपक्षे च शिष्याचार्यधियाप्रप्युपादानोपादेयभावाप्रसङ्गस्यात्, तथा च तत्रापि  
 कदाचित् प्रतिमन्धानापत्तेः । अथ तत्र शिष्याचार्यविरक्षाप्रयत्नादिना विजातीयेन व्यवधा-  
 नान्न तत्प्रमदः, सति मन्मथे मजातीयव्यवधानस्यैव विरक्षितत्वादिति चेत्, तर्हि एकमन्ता-  
 नान्तापात्तिनामपि विजातीयविप्रक्षादिना व्ययघान केन निवारणीयम्, तथा च तत्रापि प्रति  
 सन्धान न स्यात् । अथैकाधारत्वे सति कार्यकारणभाव एवोपादानोपादेयभाव इति शिष्या  
 चार्यधियां न प्रतिमन्धानप्रमद इति चेत्, तदप्यसद्वृत्तमेव, यत्स्वतःैकाधारत्वं किमेकदेशवृत्ति-  
 त्वरूपम्, किं वैकालवृत्तित्वात्मकम्, नाद्यः, यतो ययोः पूर्वापरक्षणधारिणोः कार्यकारण  
 भावस्त्वयोर्नैकदेशवृत्तित्वम्, आधारस्य भवन्मते अलिङ्ग्ये-

न द्वितीयः, यपोरेकभ्रणवर्तिनोरेकाधारत्त तयोः कार्यकारणभावाभावात् । काल्पनिकैका-  
धारत्वाऽभ्युपगमे तु शरीरबुद्ध्याद्योरप्येकदेशवाऽभिमानात्कार्यकारणभावाभिमानाद्योपादा-  
नोपादेयभावप्रमत्तस्यात् । तदेव चौद्धमते उपादानोपादेयभावलक्षणस्यैवाऽमत्रतेनोक्तं युक्त-  
मिति पूर्वोक्तप्रत्यभिज्ञया पूर्वापरप्रतीत्योरेकरुर्तृरुत्प्रसिद्धेराऽऽत्मनो नित्यत्वाभ्युपगम एव  
श्रेयान् । तथा चौद्धागमोऽपि नित्यात्मप्रतिपादकोऽस्ति, स चायम्—

“ इत एकनवते कल्पे, शक्त्या मे पुरुषो हत ।

तेन कर्मविपाकेन, पादे विद्धोऽस्मि भिक्षवः ! ॥ १ ॥ ” तथा—

“ कृतानि कर्माण्यतिदारुणानि, तन्भवनत्यात्मनि गर्हणेन ।

प्रकाशनात्सवरणाच्च तेषा—मत्यन्तमूलोद्धरणं चदाभि ॥ १ ॥ ”

इत्येवमादिः । गौरवमीत्याऽधिकं यदत्र नोक्तं तदस्मद्बुद्धत्वण्डलाद्यकरुणलतिक्रान्तोऽव-  
सेयम्, सविस्तरपूर्वकृतक्षणिक्त्वपक्षनिरासेनाप्यात्मनो नित्यत्व रोद्धव्यम् । एतेन भवत्या-  
त्मनो नित्यत्वम्, तथापि स पुष्करपलायवक्षिणेष इति न कर्त्ता, प्रकृतेरेव कर्त्तृत्वादित्यर्थक-  
'न कृणद्' इति तृतीयस्थानमपि निरस्तम्, चेतनोऽहं करोमीत्यनुभवेनात्मन एव कर्त्तृ-  
त्वात्, तथाभ्युपगम एव य एव शुभामशुभां वा प्रवृत्तिं करोति स एव शुभमशुभं वा कर्म  
करोति स एव च सुखदुःखादिकं स्वर्गनरकादौ तत्फलमनुभवतीति प्रतीतिरभ्युपगमते,  
अन्यथाऽन्यः कर्त्ताऽन्यश्च भोक्तेरत्यसमञ्जसापत्तिस्स्यात् । 'प्रकृतिः करोति पुरुष उपभृष्टे'  
इति पुरुषे भ्रुनिक्रिया या ममाश्रिता साऽपि न सिद्ध्यति, तस्या अपि क्रियात्वात्, य एव  
क्रियां करोति स एव तत्फलमुपभृष्ट इत्यनुभवसिद्धस्य क्रियाकर्त्तृत्वेन भोक्तृत्वस्याऽभ्युपग-  
मश्रेयान् । अथ मुद्राप्रतिबिम्बोदयन्यायन भोग इति चेत्, एतत्तु निरन्तराः सुहृदः प्रत्ये-  
प्यन्ति, चाहमात्रत्वात्, प्रतिबिम्बोदयस्यापि च क्रियाविशेषत्वादव । तथा नित्ये चावि-  
कारिण्यात्मनि प्रतिबिम्बोदयस्याभावाद् यत्किञ्चिदेतदिति । ननु कर्त्तृत्वाश्रयो न चेतनो  
जन्यधर्माश्रयत्वाद् घटवदिति बाधकसत्त्वाच्चेतनोऽहं करोमीति चेतन्याशे भ्रम इति चेत्,  
कृत्यशेऽपि स किं नैव्यते, तत्रापि बुद्धिः कर्त्तृत्वमात्रप्रती जन्यत्वाद् घटवदिति बाधकस्य  
मत्त्वात्, चेतनत्वं कर्त्तृत्वयोस्मानाधिकारणप्रतीतावपि चेतनम्याकर्त्तृत्वे तस्मिन् सुख-  
दुःखौ न स्यातामिति सुखार्थं दुःखोच्छेदार्थश्च न कोऽपि प्रवृत्तिं कुर्यादिति निरीह जग-  
ज्जायेत, न च निरीह जगदिति चेतनाख्यात्मैव कर्त्तेति सिद्धम् ॥ ३ ॥

वेदान्तिमतमाश्रित्य 'ण वेद्' न वेदयते इति तृतीय स्थानं यदुक्तं तदपि न युक्तम्,  
जगतोऽनेकान्तरस्वरूपस्य पारमार्थिकमतो निराकर्तृमशक्यत्वेन त्रैलोक्याऽद्वितीयं सत्, प्रपञ्चः  
कल्पितोऽविद्या दोषविषया तत्र कारणम्, ब्रह्मवाग्निधालक्षणदोषपञ्चाङ्गदूषेणानामासते,  
मसौ च भवं, ब्रह्मभिन्नं किञ्चित्पारमार्थिकं नास्तीत्यादिरूपाया वेदान्तिप्रक्रियाया अयुक्तत्वेना

न्तःकरणावच्छिन्नचैतन्यरूपत्वस्यैवात्मन्यऽभिद्वत्वेन तत्र कल्पिते कल्पितस्यापारमार्थिकस्य सुखदुःखादिसवेदकत्वस्य वक्तुमशक्यत्वात्, यथा च वेदान्तिप्रक्रिया युक्तिरिक्ता तथा प्रागेवोपदर्शितेति पुनर्ग्रन्थगौरवमयान्नेह प्रदर्श्यते । चौद्धमतमाश्रित्य च “ण वेएइ” इत्यस्य यत्समर्थनं कृतं तदपि न युक्तम्, स्थिरात्मनः पूर्वमेव साधितत्वेन येनात्मना पूर्वकालावच्छेदेन यत्कर्म कृतं तस्मिन्नेवात्मनि तदुदयकाले तत्फलवेदनोपपत्तेः, मयैव यत्कृतं पुण्यपापकर्म तस्य सुखदुःखफलमहमेवानुभवातीति प्रतीतेः । ४ ॥ यद्य मीमांसकमतमाश्रित्य सर्वज्ञाभावात् ‘नत्थि निव्वान’ इति पञ्चमस्थानमुक्तम्, तदप्युक्तम्, रागादयस्सर्वथा क्षयिणः, देशतः क्षयोपलब्धे, दिनरकरनिरकरप्रतिरोधकमेघमालात् । तथा चोक्तम्—

“दोपावरणयोहानि-निशोपाऽस्त्यतिशायिनी ।

कचिद्यथा स्पहेतुभ्यो बहिरन्तर्मलक्षय’ ॥ १ ॥”

इत्यादिना प्राक् सर्वज्ञस्य साधितत्वात् तस्य परमशुद्ध्यानजन्याशेषकर्मक्षये मति तज्जन्यपरमानन्दरूपस्य निर्वाणस्य सिद्धेः । “यद्य यत्राप्यतिशयो दृष्टः” इत्याद्युक्तं, तदप्यज्ञानविलमितमेव, तस्येन्द्रियप्रत्यक्षापेक्षर्यैव चरितार्थत्वात्, सर्वज्ञज्ञान त्वतीन्द्रियप्रत्यक्षमेवेति । ननु सुशिक्षितोऽपि नटोऽतिशयितव्यापाममामादितलङ्घनातिशयो विंशतिहस्तादिपिस्तीर्णं क्षुद्रनदिकां लङ्घयति, न त्वतिशयितपरिणाहाम्भागीरथ्यादिनटीमिति । यदुक्तम्—

“दशहस्तान्तर व्योम्नि, यो नामोत्प्लुत्य गच्छति ।

न योजनमसौ गन्तु, शक्तोऽभ्यासशतैरपि ॥ १ ॥” इति ।

यथा लङ्घनस्य व्यवस्थितोत्कर्षता, तथैव ज्ञानस्यापि, दृश्यते च न्यायादिशास्त्रपारगतोऽपि व्याकरणशास्त्रविज्ञानशून्यो व्याकरणादिशास्त्रपरिनिष्ठितोऽपि न्यायादितन्त्रधियाऽस्पृष्टः, एवञ्च प्ररूपप्राप्तमपि ज्ञान व्यवस्थितप्ररूपत्वाच्च सर्वथा मिथ्याज्ञानमुन्मूलयितुमलम्, एव वैराग्यादेरपि व्यवस्थित एवोत्कर्षः, अतो न रागादेरपि सर्वथा निरूप्यो न्याय्य इति चेत्, अबोधविलसितमेतत्, यतो दृष्टान्तीकृतं लङ्घनं क्रियाविशेषदशरीरधर्मन्तरपटुता प्रसाध्य, पटुता च शक्तिविशेषरूपा व्यवस्थितलङ्घनानुकूलैव, कायो हि तत्तत्पूर्वोत्तरदेशविभागसयोगार्थमेव तादृशक्रियामपेक्षत, तौ च कायस्योपादेयो तदन्यदशता नात्ममात्कर्तुं प्रमविष्णू, लङ्घनमपि तदर्थमपेक्षमाणं न कायान्पदशतामवलम्बते, कायोऽपि च यावलङ्घयितव्यदेशप्रापकोक्तशक्तिविशेषमहकृतस्वगत्युपलम्भकत्वेन परिणतधर्मास्तिकायसहकृतश्च तावद्देशव्याप्येव गतिविशेषलङ्घनमुत्पादयितुं प्रयुर्नान्यथा, धर्मास्तिकायश्च लोकव्याप्यपि तत्त जीव पुद्गल प्रति तथैव तत्तत्स्वभावसव्यपेक्ष परिणतो, यथा कस्यचित्कृत्रचिदेव गत्युपलम्भको न तु सर्वस्य सर्वत्र, उक्तशक्तिविशेष एव तादृशलङ्घनप्रतिबन्धकश्लेष्माणपनयनद्वारा व्यापामप्रयत्न उपोद्गलको, न त्वपूर्वलङ्घनातिशयजनका, श्लेष्माणश्च तत्तलङ्घननिघातका



भूयो भूय उत्पादशीला न तत्तदेकप्रयत्नेनैव निर्मूलयितु योग्याः, यतो निष्पन्नपञ्चसप्तादि  
हस्तमानलङ्घनोऽपि भूयो व्यायामाऽनासेवने नोत्तरकालन्तलङ्घयति, तत्कस्य हेतोः, उद्धृती  
ऽपि तदतिशयः पुनः श्लेष्मोपचयादभिभूत एव सम्पद्यते, अत एव युगावस्थायामनवरत  
व्यायामलब्धविशत्यादिहस्तमानव्यापिलङ्घनातिशयो यावलङ्घयति न तावद्द्वयद्वयस्थायामि  
त्युपलभ्यमानमुपपन्नतरम्, तत एव च द्विहस्तादिपरिच्छिन्नलङ्घनप्रयत्न एकहस्तादिमित  
लङ्घनोपपन्नकारी, न ह्येक हस्तमलङ्घयिन्त्रैव द्विहस्त लङ्घयति कश्चित्, द्विहस्तादिकमलङ्घयि  
त्वा द्विहस्तादिकमिति द्विहस्तादिलङ्घनातिशये एकहस्तादिलङ्घनस्थान्तर्भावात् तत्प्रयत्नस्तदु-  
पपन्नम् इति न्यायप्राप्त एवति लङ्घनातिशये व्यवस्थितप्रकर्षत्वं युज्यते । एतेन ताप्यमानो  
दकस्य व्यवस्थितप्रकर्षतादृष्टान्तेन ज्ञानस्य व्यवस्थितप्रकर्षताऽपि निरस्ता, काथ्यमानस्योद्  
कस्य प्रतिक्षणमपचयतोऽत्यन्ततापप्रकर्षं नाशस्यैवावाप्या तदाश्रिततापप्रकर्षस्य व्यवस्थित  
त्वस्यैव न्याय्यत्वात्, दाष्टान्तिरु तु लङ्घनादिवज्ज्ञानस्य प्राप्यकारित्तेनार्थक्रियाकारित्वा  
भावेन यद्यद्विपयावच्छेदेन स्वप्रतिबन्धकारणापगमस्तत्तद्विषयप्रकाशकत्वं, तपोऽध्ययना  
दीनां च प्रतिबन्धकापगम एव व्यापारः, न तत्पूर्वज्ञानोत्पादने, जीवसहभागिनो ज्ञानस्या  
पूर्वत्वामानात्, सवथा प्रतिबन्धकापगमे च यावद्वस्तुपरिच्छेदिज्ञानमात्रिर्भ्रमन्धैव, न च  
ज्ञानस्य प्रतिनियतज्ञेयपरिच्छेदकत्वमेव स्वमात्रो न तु यावद्वस्तुपरिच्छेदकत्वमित्यत्र मान,  
स्वपरिच्छेद्यत्वेनामिमतादन्यस्यापरिच्छेदकत्वे च नाशरण प्रतिबन्धकम्, तस्यापि तद्विषय  
एव व्यवस्थितरूपत्वात्, नायोग्यत्व, परिच्छेद्यत्वयोग्यतावच्छेदकत्वस्य लाघवेन वस्तुत्व  
एव कल्पनीयत्वात्, तत्तज्ज्ञानपरिच्छेद्यत्वयोग्यतावच्छेदकप्रतिनियततत्तद्विषयमात्रगतानेका-  
नुगतधर्माणा कल्पने महागौरवात् । न च लङ्घनप्रयत्नाभ्यासवदुत्तरोत्तरज्ञानजनकाभ्या  
साद्ः पूर्वपूर्वज्ञानव्यवस्थितौ व्यापारः । तत्र हि उत्तरोत्तरलङ्घनस्य पूर्वपूर्वलङ्घननियतत्वम्,  
न चैव प्रकृते, व्याकरणादिशास्त्रज्ञानस्य न्यायादिशास्त्रज्ञानतो भिन्नविषयत्वेन नियत  
त्वाभावात्, अत एव श्रुतविस्मरणादिशीलस्य पुंसो व्याकरणादिशास्त्रमधीत्य न्यायादिशा  
स्त्रमध्येतरुत्तराध्ययनकाले पूर्वस्य विस्मरणमपि सङ्गच्छते, अन्यथा द्विहस्तादिलङ्घनाभ्यासे  
एकहस्तादिलङ्घनानुवृत्तिवद्दृढतयाऽनुवृत्तिरेव स्यात्, न तु विस्मरण, पूर्वजन्मान्पस्त  
लङ्घनातिशयः शरीरनिष्ठत्वाच्च यथा जन्मान्तरमनुव्रतति न तथा ज्ञानातिशयः, तथा  
सति एकत्र शास्त्रेऽलभमानप्रवेशो बहुः पित्रादिभिःशास्त्रान्तर समासाद्यमानपटुतातिशयः  
कथं सङ्गच्छेत, तस्मिन् जन्मन्पुमयोरपि शास्त्रयोस्त प्रत्यविशेषात् । तस्माद् यद्वि शास्त्र  
यन पूर्वजन्मन्पधीत तस्य तद्विषयकस्तस्कारोऽनुवर्तत इत्युत्तरजन्मनि तत्र ह्यतिति प्रवेशे  
नान्यधैत्येनेकजन्मान्पस्तभिन्नभिन्नशास्त्रार्थविषयकस्तस्कारेभ्यस्मद्बुद्धेभ्योऽपि प्रभूताति  
प्रभूतविषयकज्ञानानामुत्पत्तिस्मन्मयतीति न तस्य व्यवस्थितोत्कर्षता युक्तिमती । तय  
ज्ञानस्य जीवस्वभावत्वेन न प्रकर्षगमनेऽप्याश्रयनाश इति न ताप्यमानोदकेन समानो

योग्येमाविति । सर्वे पदार्थाः कस्यचित्प्रत्यक्षस्य विषयाः प्रमेयत्वात् घटादिवदित्यनुमान  
 च तत्र प्रमाणम् । अथार सकलपदार्थसाक्षात्कार्येकज्ञानविषयत्वं माह्वयते ? किं वा प्रतिनियत-  
 प्रतिभामकमिन्नमिन्नप्रत्यक्षविषयत्वं ? तत्र नाद्यः, घटादिषु प्रमेयत्वहेतोर्नियतावगाहनेक  
 प्रत्यक्षविषयत्वं व्याप्ततयैवोपलभ्यमानत्वेन हेतोर्विरोधाघ्रातत्वात्, साध्यविकलत्वाच्च दृष्टा-  
 न्तस्य । नापि द्वितीयः, अर्थान्तरत्वात् । एवमशेषज्ञेयानलम्बिप्रमाणविषयत्वमुत  
 तत्तद्विषयकप्रभिविषयत्व किं वान्यलक्षण प्रमेयत्व हेतुत्वेनोपन्यस्यते ?-तत्राद्यस्तु विवाद  
 गोचरीभूतेषु प्रत्येकरूपेण तस्याऽमम्भवेन भागामिद्धिप्रसङ्गतोऽमम्भवी, मम्भवे वा तत  
 एव साध्यमिद्धेनर्थकमनुमानोपन्यसनम्, दृष्टान्ते च तथाभूतप्रमाणप्रमेयत्वस्याद्याप्यसिद्धे  
 रसिद्धान्वयश्च हेतुः । द्वितीयपक्षोऽप्यमङ्गत एव, पक्षान्तर्गतेष्वतीन्द्रियेषु तस्यामम्भवेन  
 भागामिद्धत्वात्, अन्त्योऽप्यसिद्ध एव, तादृश्य प्रामाणिकैरनभ्युपगमादिति न च प्रेर्यम्,  
 सकलानुमानस्यैवमेवोच्छेदप्रसङ्गात्, तथा हि, पर्वतो वह्निमानित्यत्रापि कृशानु. प्रतिनियतः  
 किं वा पक्षदृष्टान्तोभयवृत्तित्त्वविशिष्टस्माभ्यते, तत्राद्ये यदि महानमधर्मिकस्तदा तद्भाष्य  
 धूम' पक्षेऽभावात्स्वरूपामिद्धः, पर्यतधर्मिकस्तदा धूमस्तद्व्याप्यतयाऽदृष्टीतत्वाद् व्याप्य  
 त्वासिद्धः । न द्वितीयोऽपि, कस्यापि बहुैरुक्तोभयवृत्तित्वाभावात् । एव धूमहेतावप्येवमेव  
 कथाद्वयी, तत्राद्यस्माध्यवर्धिमधर्मो दृष्टान्तेऽनन्वयी, दृष्टान्तधर्मिकश्च स्वरूपामिद्ध इत्यमम्भवी  
 द्वितीयोऽप्यसिद्धः, कस्यापि धूमस्योभयवृत्तित्वावमन्वात् । अथ नैव सविशेषणौ साध्य  
 हेतु क्रियेते, किन्तु निर्विशेषणौ सामान्यरूपावेवेति चेत्, तर्हि प्रकृतेऽपि कथं नैव विचार  
 पद्धतिशरण क्रियते । न च वाच्य धूमत्वावच्छिन्नस्य रङ्गित्वावच्छिन्नजन्यत्वेन तयोः कार्य  
 कारणभावतः कार्येण कारणानुमान प्रमाणभावमलम्पते, अत्र तु कार्यलिङ्गस्यैवामावतो  
 नोक्तसिद्धिरिति, ग्रहोपरामन्त्रोपधिश्चकत्यादितथाविधफलप्रमाधकातीन्द्रियगोचरवचन  
 विशेषः तत्साक्षात्कारिज्ञानपूर्वकस्तद्विषयानिसनाद्यलिङ्गानुपदशानन्वयव्यतिरेकपूर्वकवचन  
 विशेषत्वाद् अस्मदादिप्रसक्तितथाभूतवचनविशेषादित्येव तथाभूतवचनविशेषात्मकार्यलिङ्ग  
 स्यापि तत्प्रमाधकस्य सद्भावात्, इदञ्च प्रागेव निवेचितमिति नेह विविच्यते, तदेव सिद्ध-  
 सर्वज्ञः, मिद्धे च तस्मिन् परमशुक्लव्यानेनाश्लिष्टभवोपग्राहिकरुमणि निश्शेषत. क्षीणे तस्य  
 शुच्यवाप्तिरित्यस्यैव निर्माणमिति मिद्धम् 'अग्निहोत्र जरामर्यं वा कुर्यात्' इति श्रुतावपि  
 विकल्पार्थक 'वा' शब्देन मोक्षार्थिना मोक्षसाधकक्रियाकालोऽपि प्रदर्शित एवेति । अधिकश्च  
 प्रथमभाष्यानिश्रुतावेवोक्तमिति नेह विस्तार्यते । ५। एतेन 'नत्थि य मोत्योवाओ' सर्वमानानां  
 नियतत्वेनाकस्माद्व भावात्, स्वभावाद्वा भावादित्यनुवायवादिमतात्मक पष्ठं मिथ्यात्वं  
 स्थानमपि निरस्तम्, अकस्माद्भवतीत्यत्र यदा किं शब्दो हेतुपरस्तदा तस्य नजाऽभि-  
 सम्बन्धाद्धेतवभावे मति भवतीत्यर्था लभ्यते, यदा तु भवनक्रियाया नजा सम्बन्धस्तदा

प्रसज्यप्रतिपेधे भवननिपेधोऽर्थो लभ्यते, किञ्चब्दसमसमानेनापि नञा सह भवतीत्यस्यान्व  
यात् । तथा चाकस्माद्भवतीत्यस्य हेतोर्न भवतीति फलितार्थः । यद्वा अकस्माद्भवतीत्यस्य  
स्वस्माद्भवति यद्वाऽनुपाख्याद्भवतीत्यर्थः, अथवा अकस्मादिति स्वभावादित्यर्थे रूढतया  
स्वभावादस्य कादाचित्कत्वमिति पञ्चविकल्पाः, तत्र नाद्यः पक्षो युक्तः, हेतुनिपेधे भवन  
स्यानपेक्षत्वेन कालत्रयावच्छिन्नस्य सत्त्वस्यासत्त्वस्य वा प्रसङ्गात् । यदुक्त—

“ नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा, हेतोरन्यापेक्षणात् ।

अपेक्षातो हि भावाना, कादाचित्कत्वसम्भवः ॥ १ ॥ ” इति ।

न द्वितीयोऽपि पक्षस्तद्गतः, भवनप्रतिपेधे प्राक्पश्चादिव मध्येऽप्यभवनप्रसङ्गात्, न  
तृतीयोऽपि, यतस्त्वोत्पत्तेः पूर्वं यदि स्र स्यात्तदा नियतकालीनकार्योत्पत्तौ हेतुस्स्यात्,  
न चैवम्, स्वोत्पत्तेः पूर्वं स्वस्यैवाभावेन हेतुत्व न सम्भवतीति भावः । न चतुर्थोऽपि,  
अनुपाख्यस्य कार्यकारित्वाभावात्, तथाऽपि कार्यजनकत्वाऽभ्युपगमे प्रागप्यनुपाख्य  
स्यानुपाख्यतया भावाच्चतः कार्यस्य सत्त्वप्रसक्तौ मदातनन्व स्यात् । नापि पञ्चमः,  
स्वभाव इत्यस्य कोऽर्थः । किं स्रस्य भावः स्रभावः, किं वा स्वमेव भावः स्वभावः, तत्र  
नाद्यः, स्वस्य भावः स्वधर्मः, तथा च स्रधर्मात्स्वस्योत्पत्तिः प्रतिज्ञाता स्यात्, सा  
च न युक्ता, स्रधर्मेण स्वस्यानुत्पत्तेः, स्वपूर्वं स्रधर्मस्यैवाभावात्, आश्रयाभावे आश्रिता  
नुत्पत्तेः, न च द्वितीयोऽपि, पौर्वापर्यनियतस्य कार्यकारणभावस्यैकस्मिन् स्वात्मकरस्तु  
न्यसम्भवात्, नहि स्वमेव स्वस्मात्पूर्वगुत्तर च भवितुमर्हतीति, तदेव पञ्चविकल्पमध्ये  
एकोऽपि विकल्पो न युक्तः, नियतावधिकार्यदर्शनात्, अनियतावधित्वे निरवधित्वे वा  
कादाचित्कत्वस्वभावव्याप्नोपापातात्, तत्स्वभाव्ये च सहेतुकत्वस्यावश्यकत्वात्, तदुक्तं  
बुभुभाजलाबुदयनाचार्येण—

“ हेतुभूतिनिपेधो न, स्वानुपाख्यविधिर्न च ।

स्वभाववर्णना नैव-मवधेर्नियतत्वतः ॥ १ ॥ ” इति ।

तदेवमेकान्तनियतिवादस्यैकान्तस्वभाववादस्य चाऽप्रामाण्ये सिद्धे तदितरस्तम्पदर्शन-  
ज्ञानचारित्रात्मनो मोक्षोपायोऽस्तीति सिद्धम् ॥६॥ तस्माद्भवस्थितमेतदेकान्तरूपतया पडप्ये  
तानि मिथ्यात्वस्य स्थानानीति ॥ ५४ ॥

नेतान्येव मिथ्यात्वस्थानानि किन्तूक्तविपरीतान्यप्येकान्तवादे तथैवेत्याह—

अत्थि अविणासधम्मो, करेइ वेएइ अत्थि निब्बयाण ।

अत्थि य मोक्खवोधाओ, छम्मिच्छत्तस्स ठाणाइ ॥ ५५ ॥

‘अत्थि’ अस्त्या-मेत्येक स्थानम् ‘अविणासधम्मो’ अविनाशधर्म इति द्वितीयस्थानम्,

‘अविणासधम्मी’ इत्यपि मुद्रितमम्मतिग्रन्थे पाठः, अविनाशधर्मी, उभयत्र नित्य इत्यर्थः ‘करेइ’ करोतीति तृतीय ‘वेएइ’ वेदयत इति चतुर्थम्, अनयोः क्रमेणात्मा कर्त्ता मोक्ता चास्तीत्यर्थः, ‘अत्थि निव्वाण’ अस्ति निर्वाणमिति पञ्चमम्, ‘अत्थि य मोक्खोवाओ’ अस्ति च मोक्षोपाय इति षष्ठम् ‘छम्मिञ्छत्तस्म ठाणाइ’ एतानि पद् मिथ्यात्वस्य तन्वार्थाऽथद्वानलक्षणस्य स्थानानि । तत्र ‘अत्थि’ अस्त्यात्मेति’ पक्षः चार्त्ता कम्मिन्नात्मवादिनाम्, ‘अविणासधम्मी’ अविनाशधर्मीति पक्षश्च नैयायिकसाङ्ख्यमीमांसा कादीनामात्मनित्यत्ववादिनाम् । ‘करेइ’ करोतीति मतमात्मनिष्ठकर्मादिकर्तृत्ववादिनां नैयायिकमीमांसकादीनाम् ‘वेएइ’ वेदयते आत्मा स्वकृतकर्मफल सुखदुःखमनुभवतीत्य- म्युपगमस्तेषामेव । ‘अत्थि निव्वाण’ अस्ति निर्वाणमिति ‘अत्थि य मोक्खोवाओ’ अस्ति च मोक्षोपाय इति च पक्षद्वय नास्तिकमीमांसकस्यतिरिक्तानां ‘छम्मिञ्छत्तस्म ठाणाइ’ एतानि पद् आत्मत्वस्वस्वरूपेणात्माऽस्ति, अनात्मत्वात्मकपररूपेण नास्ति, स्वद्रव्यक्षेत्रकालमावापेक्षया कर्मकर्त्ता तत्फलमोक्ता च परद्रव्यक्षेत्राद्यपेक्षया चाकर्त्ता अमोक्ता चेत्यादिस्पाद्वादमुद्रणरहितानि मिथ्यात्वाधारता मजन्ते । एतद्विवेचनमनेरुषा पूर्वमुक्तमिति नोच्यते, चतुर्थपाद तु माथायाः केचिद् अन्यथा पठन्ति, ‘छस्सम्मत्तस्म ठाणाइ’ इति, अस्य च पूर्वोक्तस्याद्वादमर्यादयेतरधर्माऽजहद्वृत्त्या प्रवर्तमाना एते पद् पक्षाः सम्यक्त्वस्पाधारता प्रतिपद्यन्ते इत्यर्थः, उक्तार्थसमादिनयोपदेशग्रन्थोक्तस्य “पडेत्तद्वि- परीतानि, सम्यक्त्वस्थानकान्यपि” इति श्लोकार्द्धस्य वृत्तिश्चैवम्-एतेभ्यः प्रागुक्तैभ्यो विपरीतानि पद् सम्यक्स्थानान्यपि मरन्ति, अस्त्यात्मा, नित्यः, कर्त्ता, साक्षाज्जोक्ता, अस्ति मुक्तिः, अस्ति च तत्कारण रत्नत्रयमात्राज्यमिति । तदिदमुक्तम्—

“ अत्थि जिओ तत् णिओ, कत्ता भुत्ता स पुण्णपावाण ।

अत्थि धुव निव्वाण, तस्मोवाओ अ छट्ठाणा ॥ १ ॥ ” इति ॥ ५५ ॥

अथानेकान्तवादमवलम्ब्यैवापिसवाद्यनुमानप्रमाणप्रवृत्तेस्स्याद्वादिन एवाऽन्यथाऽनुप- पत्तिलक्षणव्याप्तिमद्देशोः पक्षे साध्यानुमितिरुपपद्यते, न त्वेकान्तवादिनः, साधर्म्यतो वैधर्म्यतो वा एकान्तमाध्यसाधकानुमानप्रमाणस्यैवानतारादिति प्रतिपिपादपिपुस्वरिराह—

साहम्मओ च्च अत्थ, साहेज्ज परो विहम्मओ वावि ।

अन्नोत्त पडिक्कुट्टा, दोण्ण वि णए असञ्चाया ॥ ५६ ॥

“ साहम्मओ च्च अत्थ साहेज्ज परो ” साधर्म्यतो वा अर्थ साधयेत् परः, समानानुत्पयः साध्यसामान्यान्वित माधनधर्मो यस्य असौ सधर्मा, तस्य भावः साधर्म्यम्, ततोऽर्थं माध्य धर्माधिकरणतया धर्मिण साधयेत् परः एकान्तनपवादी, अन्यविहेतुप्रदर्शनात् साध्यवर्मिणि विवक्षित साध्य यदि वैशेषिकादिः साधयेत्, यद्वा गमानो धर्मो यस्यासौ सधर्मा, साधर्म्यतो

प्रसज्यप्रतिपक्षे भवननिषेधोऽर्थो लभ्यते, किंशब्दमस्यमानेनापि नञा सह भवतीत्यस्यान्व-  
यात् । तथा चाकस्मान्भवतीत्यस्य हेतोर्न भवतीति फलितार्थः । यद्वा अकस्मान्भवतीत्यस्य  
स्वस्मान्भवति यद्वाऽनुपाख्याद्भवतीत्यर्थः, अथवा अकस्मादिति स्वभावादित्यर्थे रुढतया  
स्वभावादेव कादाचित्कत्वमिति पञ्चविकल्पाः, तत्र नाद्यः पक्षो युक्तः, हेतुनिषेधे भवन  
स्यानपेक्षत्वेन कालप्रयावच्छिन्नस्य सत्त्वस्यासत्त्वस्य वा प्रसङ्गात् । यदुक्त—

“ नित्य सत्त्वमसत्त्वं वा, हेतोरन्यापेक्षणात् ।

अपेक्षातो हि भावानां, कादाचित्कत्वसम्भवः ॥ १ ॥ ” इति ।

न द्वितीयोऽपि पक्षस्तद्गतः, भवनप्रतिषेधे प्राक्पश्चादिव मध्येऽप्यभवनप्रसङ्गात्, न  
वृत्तीयोऽपि, यतस्सोत्पत्तेः पूर्वं यदि ह्य स्यात्तदा नियतकालीनकार्योन्पत्तौ हेतुस्स्यात्,  
न चैवम्, स्वोत्पत्तेः पूर्वं स्वस्यैवाभावेन हेतुत्व न सम्भवतीति भावः । न चतुर्थोऽपि,  
अनुपाख्यस्य कार्यकारित्वाभावात्, तथाऽपि कार्यजनकत्वाऽभ्युपगमे प्रागप्यनुपाख्य  
स्यानुपाख्यतया भावाच्चतुर् कार्यस्य सत्त्वप्रसक्तौ सदातनत्व स्यात् । नापि पञ्चमः,  
स्वभाव इत्यस्य कोऽर्थः । किं स्वस्य भावः स्वभावः, किं वा स्वमेव भावः स्वभावः, तत्र  
नाद्यः, स्वस्य भावः स्वधर्मः, तथा च स्वधर्मात्स्वस्योत्पत्तिः प्रतिज्ञाता स्यात्, सा  
च न युक्ता, स्वधर्मेण स्वस्यानुत्पत्तेः, स्वपूर्वं स्वधर्मस्यैवाभावात्, आश्रयाभावे आश्रिता  
नुपपत्तेः, न च द्वितीयोऽपि, पौर्वापर्यनियतस्य कार्यकारणभावस्यैकस्मिन् स्वात्मकनस्त  
न्यसम्भवात्, नहि स्वमेव स्वस्मात्पूर्वमुत्तर च भवितुमर्हतीति, तदेव पञ्चविकल्पमध्ये  
एकोऽपि विकल्पो न युक्तः, नियतावधिकार्यदर्शनात्, अनियतावधित्वे निरवधित्वे वा  
कादाचित्कत्वस्वभावव्याकोपापातात्, तत्स्वाभाव्ये च सहेतुकत्वस्यावश्यकत्वात्, तदुक्तं  
कुसुमाञ्जलाजुदयनाचार्येण—

“ हेतुभूतिनिषेधो न, स्वानुपाख्यविधिर्न च ।

स्वभाववर्णना नैव-मद्यधेर्निघतत्वतः ॥ १ ॥ ” इति ।

तदेवमेकान्तनियतिवादस्यैकान्तस्वभाववादस्य चाऽप्रामाण्ये सिद्धे तदितरस्मभ्यग्दर्शन-  
ज्ञानचारित्रात्मयो मोक्षोपायोऽस्तीति सिद्धम् । ६। तस्माद्द्वयवस्थितमेतदेकान्तरूपतया पदप्ये  
वानि मिथ्यात्वस्य स्थानानीति ॥ ५४ ॥

नैतान्येव मिथ्यात्वस्थानानि त्रिन्तुक्तविपरीतान्यप्येकान्तवाद तर्ह्येवेत्याह—

अत्थि अत्रिणासधम्मो, करेह वेएह अत्थि निब्बाण ।

अत्थि य मोक्खोच्चाओ, छम्मिच्छत्तस्स ठाणाह ॥ ५५ ॥

‘अत्थि’ अस्त्याःअत्यक् स्थानम् ‘अत्रिणासधम्मो’ अत्रिणासधर्म इति द्वितीयस्थानम्,

‘अविणाशधर्मी’ इत्यपि सुद्विगतमम्मतिग्रन्थे पाठः, अविनाशधर्मी, उभयत्र नित्य इत्यर्थः ‘करेद्’ करोतीति तृतीय ‘वेदद्’ वेदयत इति चतुर्थम्, अनयोः क्रमेणात्मकर्त्ता मोक्ता चास्तीत्यर्थः, ‘अत्थि निष्ठाण’ अस्ति निर्माणमिति पञ्चमम्, ‘अन्धि मोक्त्वोवाओ’ अस्ति च मोक्षोपाय इति षष्ठम् ‘छम्मिञ्छत्तस्म ठाणाइ’ एतानि पदमिथ्यात्वस्य तत्त्वार्थाऽश्वद्वानलक्षणस्य स्थानानि । तत्र ‘अत्थि’ अस्त्यात्मेति पक्षः चार्त्ता कर्मिणात्मवादिनाम्, ‘अविणाशधर्मी’ अविनाशधर्मीति पक्षश्च नैयायिकमाह्वयमीमांसाकादीनामात्मनित्यत्ववादिनाम् । ‘करेद्’ करोतीति मतमात्मनिष्कर्त्तादिकर्तृत्ववादिनाम् नैयायिकमीमांसकादीनाम् ‘वेदद्’ वेदयते आत्मा स्वकृतकर्मफल सुखदुःखमनुभवंतीत्यभ्युपगमस्तेषामेव । ‘अत्थि निष्ठाण’ अस्ति निर्माणमिति ‘अत्थि च मोक्त्वोवाओ’ अस्ति च मोक्षोपाय इति च पक्षद्वय नास्तिकमीमांसकस्यतिरिक्तानां ‘छम्मिञ्छत्तस्म ठाणाइ’ एतानि पद आत्मत्वस्वरूपरूपेणात्माऽस्ति, अनात्मत्वात्मकपररूपेण नास्ति स्वद्रव्यक्षेत्रकालमावापेक्षया कर्मकर्त्ता तत्फलमोक्ता च परद्रव्यक्षेत्राद्यपेक्षया चाकृत्यमोक्ता चेत्यादिभ्याद्वाद्बुद्धाद्बुद्धणरहितानि मिथ्यात्वाधारतां मज्जन्ते । एतद्विवेचनमनेकस्य पूर्वश्लोकमिति नोच्यते, चतुर्थपाद तु गाथायाः केचिद् अन्यथा पठन्ति, ‘छस्सम्मत्तस्म ठाणाइ’ इति, अस्य च पूर्वोक्तस्याद्वादमर्यादयेतरधर्माऽजहद्वृत्त्या प्रवर्त्तमाना एते पक्षः सम्यक्त्वस्याधारता प्रतिपद्यन्ते इत्यर्थः, उक्तार्थसवादिनयोपदेशग्रन्थोक्तस्य “पडेत्तद्विपरीतानि, सम्यक्त्वस्यानकान्यपि” इति श्लोकार्द्धस्य वृत्तिशैवम्-एतेभ्यः प्रागुक्तेभ्यं विपरीतानि पद सम्यक्स्थानान्यपि मनन्ति, अस्त्यात्मा, नित्याः, कर्त्ता, माक्षाश्लोक्त अस्ति मुक्तिः, अस्ति च तत्कारण रत्नत्रयमात्राज्यमिति । तदिदमुक्तम्—

“ अत्थि जिओ तह णिओ, कत्ता भुत्ता स पुण्णपावाण ।

अत्थि धुव निष्वाण, तस्सोवाओ अ छट्ठाणा ॥ १ ॥ ” इति ॥ ५५ ॥

अथानेकान्तवादमवलम्ब्येवानिसवाद्यनुमानप्रमाणप्रवृत्तेस्स्याद्वादिन एवाऽन्यथाऽनुपत्तिलक्षणव्याप्तिमद्देतोः पक्षे साध्यानुमितिरुपपद्यते, न त्वेकान्तवादिनः, माधर्म्यतवैधर्म्यतो वा एकान्तसाध्यसाधकानुमानप्रमाणस्यैवानंतरादिति प्रतिपिपादपिपुस्त्रिराह—

साहम्मओ न्व अत्थ, साहेज्ज परो विहम्मओ वाचि ।

अन्नोत्त पडिकुट्ठा, दोण्ण वि ण्ण असन्वाया ॥ ५६ ॥

“ साहम्मओ इ अत्थ साहेज्ज परो ” साधर्म्यतो वा अर्थ साधयेत् परः, समानस्तुल्यसाध्यमानान्पान्त्रितः साधनधर्मो यस्य असौ मधर्मा, तस्य मात्रः साधर्म्यम्, ततोऽर्थ साध्यधर्माधिकरणतया धर्मिण साधयेत् परः एकान्तनयवादी, अन्यपिहेतुप्रदर्शनात् साध्यधर्मा विवक्षित साध्य यदि वैशेषिकादिः साधयत्, यद्वा ममानो धर्मा यस्पात्तो मधर्मा, सधर्म्य

भागः साधर्म्यं, तस्मात्, साध्येन सह हेतोस्त्वयव्याप्तिर्गृहीता यत्र तल्लक्षणमाधर्म्यदृष्टान्त  
 द्वाराऽन्वयिहेतोरित्यर्थं, अर्थं माध्यमिणि विरक्षित साध्य यदि परो वैशेषिकादिः  
 साधयेत् तदा अय इयामः तत्पुत्रत्वात् अपरतत्पुत्रवदित्यनुमाने तत्पुत्रत्वादेरपि गमकत्व  
 स्यात्, अन्वयमात्रस्य तत्रापि भावात् । “ विहर्म्यो वा वि ” वैधर्म्याद् विगतस्तथाभूतः  
 साधनधर्मो यस्मादमौ विधर्मा, तस्य भावो वैधर्म्यम्, तस्माद् व्यतिरेकिणो हेतोः प्रकृतं साध्य  
 साधयेत् । यद्वा विसदृशो धर्मो यस्य स विधर्मा विधर्मणो भावो वैधर्म्यम्, तस्मात्, अर्थात्  
 माधनाभावेन मह साध्याभावस्य व्याप्तिर्गृह्यते यत्र तल्लक्षणवैधर्म्यदृष्टान्तद्वारा व्यतिरेकिहेतो  
 र्यदि साध्य साधयेत्, माथायां वाशब्दस्य समुच्चयार्थत्वाद् वाशब्दस्य विकल्पार्थत्वे त्वपि  
 शब्दस्य समुच्चयार्थत्वाद्भास्यां वा, तथापि तत्पुत्रत्वादेरेव गमकत्वप्रसक्तिः, इयामत्वा  
 भावे तत्पुत्रत्वादेरन्यत्र गौरपुरुषेऽभावात्, उभाभ्यामपि तत्साधने अत एव साध्यसिद्धि  
 प्रमत्तिस्यात् । “ अन्नोन्न पडिङ्गुट्टा दीण्णावि एए असवाया ” अन्योन्य प्रतिक्लृष्टौ द्वावपि  
 एतावसद्वादौ । अयम्भावः—परः साध्य साधयन् न तावत्सामान्य साधयेत्, केवलस्य  
 तस्य वहित्वाश्चत्पगोत्वादह्नवेगमनदोहनाद्यर्थक्रियाकारित्वाभावेनामद्रूपतया प्राक् प्रति  
 पादितत्वात् । नाऽपि विशेषम्, प्रतिव्यक्तिभिन्नरूपत्वेन तस्याननुगतत्वेन व्याप्तिप्रहाभावेन  
 माधयितुमशक्यत्वात् । न च विशेषरूपयोस्साध्यहेत्वोस्मर्त्तोपसहारेण व्याप्तिप्रहाभावेऽपि  
 सामान्यरूपेणानुगतत्वात् ममवायसम्बन्धेन तद्विशिष्टयोस्तयोश्च भविष्यत्येवेति वाच्यम्,  
 समवायस्य पूर्वं निषिद्धत्वेन तेन सम्बन्धेन तद्विशिष्टत्वाऽसिद्धेः, “ पर्वतो जातिमद्रान् इत्या  
 दावतिप्रसङ्गाच्च ” अस्यायम्भावः—यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र जातिमानित्येन सामान्यरूपेणा  
 न्यव्याप्तेस्तद्भावेन धूमाद्बह्वेवद्वित्वेनेव सामान्यतो जातित्रालिङ्गितवद्वित्वेनापि बह्वेसिद्धि  
 प्रमत्तिस्यात्, न चेष्टापत्तिरिति वाच्यम्, धूमवद्वयोर्धूमत्वेन बह्वित्वेन यः कार्यकारणभाव  
 स्तद्वलादेव तयोस्त्वव्याप्तिप्रहाङ्गमेन बह्वयनुमान युक्तम्, यद्यपि यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र  
 जातिमानिति व्याप्तिस्ममरति पर मा न कार्यकारणभावमूलिका, न हि धूमत्वाच्छिन्न  
 म्प्रति बह्वित्वाच्छिन्नस्य यत्कारणत्वं तज्जातित्रावच्छिन्नवद्वित्त्रनिष्ठावच्छेदकतानिरूपित  
 किन्तु निरवच्छिन्नवद्वित्त्रनिष्ठावच्छेदकतानिरूपितमेवेति तद् धूमत्वेन धूमहेतुना निरवच्छि  
 न्नवद्वित्वेन बह्वेरेवानुमानेऽन्वयव्याप्तिप्राहकृतोपयुक्तमितीष्टापत्तेः कर्तुमशक्यत्वात् । नाप्यु  
 मयम्, उमयदोषानतिवृत्ते, नाप्यनुमयम्, तस्याऽसतो हत्वव्यापकत्वेन माध्यत्वाऽयोगात्,  
 तदनुमन्योन्य प्रतिक्लृष्टौ प्रतिक्षिप्तौ द्वावप्येतौ सामान्यविशेषकान्तावमद्वादाविति सिद्धम्,  
 इतरनिर्मुक्तस्यैकस्य शशशृङ्गादेरित् माधयितुमशक्यत्वात् । अत्राह नैयायिकः—नन्वनौ  
 पाधिरुमम्बन्धो व्याप्तिरिति तत्पुत्रत्वहेतौ शारुपाकजत्रस्य माध्यव्यापकत्वे मति साधना  
 व्यापकतयोपाधिन्वेन सोपाधिरुतयोक्तलक्षणव्याप्त्यभावाद्दुक्तहेतुव्याप्तेऽपत्त्याऽसिद्धेः, यस्मिंश्च  
 ह्यौ व्याप्यत्वासिद्धिस्तत्र व्यापकव्यभिचारिणो व्याप्यव्यभिचारित्त्रनियमाद् व्यभिचार

दोषोऽपि, अत एव मकलविपक्षव्यावृत्तिनिश्चयाभावेन पञ्चरूपाऽभावाच्चास्य समकत्वमिति चेत्, तर्ह्यन्यथाऽनुपपन्ननिश्चयाभावादेनासमकत्वं तत्पुत्रत्वहेतोरुक्तं स्यादिति निश्चिताऽन्यथाऽनुपपन्नत्वस्यैव हेतुलक्षणत्वमस्तु । एतेन रूपत्रयमादौ चौद्धोऽपि तत्पुत्रत्वहेतौ विपक्षे असम्यक् निश्चितं नास्ति, न हि श्यामत्वाऽसत्त्वे तत्पुत्रत्वेनाद्यस्य निवर्तनीयमित्यत्र प्रमाणमस्तीति वदन् निरस्तः । निश्चितान्यथानुपपन्नत्वमात्रस्यैकरूपस्य हेतुलक्षणत्वोपपत्तेरैकरूपस्यापि पञ्चरूपत्वस्येतादिकिञ्चित्करत्वात् " तदेव अनुपलब्धिः स्वभावकार्ये चेति " न्यायविन्दुद्वितीयपरिच्छेदध्वजोक्तानुपलब्धिसवभावकार्यभेदभिन्नहेतुत्रयेण " उदाहरणमात्रमर्थान्मात्रसाधनं हेतुः " । ३४ । " तथा वैधर्म्यात् " ३५ इति प्रथमाध्यायप्रथमाहिकवचनस्य तद्विपक्षत्रिंशत्तयाद्यत्रोक्तान्वयिष्यतिरेक्यन्यविष्यतिरेक्यान्मकहेतुत्रयेण च " अस्पेदं कार्यं कारणं सयोगिविरोधिममवापि चेति " ९-२-१ इति वैशेषिकध्वजत्रयमाध्यायद्वितीयाहिकप्रथमध्वजोक्तकार्यकारणसयोगिविरोधिममवापिरूपेषु हेतुभेदेषु च एवमन्यथायुक्तमकलहेतुभेदेषु प्रवर्तमानस्य सद्धेतुरूपलक्ष्यव्यापिनः सर्वसाधारणलक्षणादमिद्वादिद्वन्वाभामप्रपञ्चाद् व्यावर्तमानस्य निश्चितान्यथानुपपन्नत्वस्य हेतुलक्षणत्वं युक्तमित्दमभ्युपगन्तव्यम्, तथाविधस्यापि तदलक्षणत्वे हि न किञ्चित्कस्यचिदलक्षणं स्यादिति लक्ष्यलक्षणमाव एवोच्छिद्येत, तदुक्तं प्रमाणनपतत्त्वलीकालङ्कारे—

" निश्चितान्यथानुपपन्नयेकलक्षणो हेतुः ॥ ३ । ११ ।

न तु त्रिलक्षणकादिरिति । ३ । १२ ।

तस्य हेत्वाभासस्यापि सम्भवादिति । ३ । १३ । "

अत्र चौद्धाः प्राहुः—ननु निश्चितमाध्यायिनाभूतहेताधैरान्यथाऽनुपपन्नत्वं रूपम्, तत्र पक्षमत्रमपक्षसत्रविपक्षामत्रात्मकरूपत्रयमप्यस्त्येवेति तद्वत्त्वमेव हेतुलक्षणमस्तु, यतः पक्षसत्त्वस्य हेतुलक्षणाऽघटकत्वे शब्दोऽनित्यः चाक्षुषत्वात् रूपमदित्यत्र शब्दरूपपक्षे चाक्षुषत्वहेतोरभावात् हेतुस्वरूपाऽसिद्धोऽपि मपथे घटादौ वर्तते विपक्षे च शशशृङ्गादौ न वर्तते इति तस्य मपक्षमत्रविपक्षामत्रद्वयरूपमद्भावात्सद्धेतुत्वापत्त्या तज्ज्ञानेनानुमित्या पत्तिस्स्यात्, न च मा भवतीत्यमिद्वत्त्वव्यवच्छेदार्थं पक्षधर्मत्वं समकताद्गमभ्युपगन्तव्यम्, सपक्षमत्रस्य हेतुलक्षणाघटकत्वं च विरुद्धत्वव्युदायाऽसम्भवेन शब्दो नित्यः कृतस्त्वादि-त्यत्र नित्यत्वमाध्यामावव्याप्यतया विरुद्धेनाऽपि कृतकत्वहेतुना माध्यायानुमितिस्स्यात्, न च सा भवतीति विरुद्धत्वव्यवच्छेदार्थं मपक्षमत्रमप्यभ्युपगन्तव्यम् । विपक्षामत्रस्य हेतुलक्षणाघटकत्वाऽभावे ऋदो बह्विमान् प्रमेयत्रादित्यत्रानैकान्तिकत्वव्युदायस्याऽप्रममेन व्यभिचारिणः प्रमेयत्वहेतो पक्षे इदं सपथे च महानमादौ मत्त्वेन पक्षमत्रमपक्षसत्त्वद्वयविशिष्टेन तेन हेतुना ज्ञानेनानुमित्युत्पत्तिस्स्यादिति तथानैकान्तिकत्वव्यवच्छेदार्थं विपक्षा-



ऽसत्त्वरूपमप्यभ्युपगन्तव्यमिति पक्षधर्मतादिरूपत्रयमेव मर्षस्मिन् हेतावस्तीति तदेन  
लक्षणमप्युपगन्तव्यमिति चेत्, अस्तु, न च नियमेनानुमित्युपयुक्तं तत्, निश्चितान्यथा  
ऽनुपपन्नत्वात्मकनियतैकरूपमात्रेणाप्यनुमित्युपपत्तेरिति तत्सत्त्वमकिञ्चित्करम्, अत एव  
पात्रस्वामिनाऽप्येवमुक्तम्—

“ अन्यथाऽनुपपन्नत्व, यत्र तत्र त्रयेण किम् ? ।

नान्यथाऽनुपपन्नत्व, यत्र तत्र त्रयेण किम् ? ॥ १ ॥ ” इति ।

किञ्च न खलु कृत्तिकोदयाच्छरदोदयाद्यनुमाने पक्षधर्मता सम्भवति, अथ कालाका  
शादि भविष्यच्छरदोदयादिमत् कृत्तिकोदयादिमत्त्वात् पूर्वोपलब्धकालाकाशादिवदितीत्यमत्र  
पक्षधर्मताऽभिधीयते इति चेत्, तर्हि न कश्चिदपक्षधर्मत्वो हेतुः स्यात्, काककाष्ण्यादिरपि  
प्रासादघावल्यादौ माष्ये जगतो धर्मित्येन पक्षधर्मत्वस्य कर्तुं शक्यत्वात् । तथाहि जगत्  
प्रासादघावलययोगि काककाष्ण्ययोगित्वात् । तन्न नियमेन पक्षधर्मत्वं साध्यगमकताङ्गम्,  
अत एव मद्भोऽप्याह—

“ पित्रोश्च ब्राह्मणत्वेन, पुत्रब्राह्मणताऽनुमा ।

सर्वलोकप्रसिद्धा न, पक्षधर्ममपेक्षते ॥ १ ॥

नदीपुरोऽप्यधो देशे, दृष्ट' सन्नुपरिस्थिताम् ।

नियम्यो गमयत्येव, वृत्ता वृष्टि' नियामिकाम् ॥ २ ॥ ” इति ।

ननु हेतोर्नलद्वयम्, एक व्याप्तिरूपम्, द्वितीयश्च पक्षधर्मतारूपम्, तत्राद्यबलेनानुमितौ  
नियतसाध्यस्य भानम्, द्वितीयबलेन पक्षस्य तत्र भानमिति, यदि पक्षधर्मताऽङ्गं नाङ्गी  
क्रियते तदाऽनुमितौ कथं पक्षभान नियमेन स्यादिति चेत्, उच्यते, अनुमितौ पक्षधर्मत्व  
स्यानङ्गत्वेऽपि यद्वर्ष्यच्छेदन हेतोस्माद्य त्रिनाऽनुपपत्तिः प्रतिमन्धीयते तस्य धर्मिणोऽनु-  
मितौ धर्मितया भानमित्येव प्रतिनियतधर्मिभानं निर्वहत्येव, यथा नभश्चन्द्रास्तित्वं विना  
जलचन्द्रोऽनुपपन्न इत्यत्र, अत्र नहि समुद्रादिदेशान्तरवर्ति चन्द्रं त्रिना जलचन्द्रोऽनुपपन्नः,  
किन्तु नभसि चन्द्रं त्रिनैवेति नभ एव धिम्बभूतचन्द्रानुमितौ धर्मितया भासते, यद्वा यद्  
र्मिणि हतोर्ग्रहणं पक्षधर्मताज्ञानात्मकं साध्यानुमितिं जनयितुमलं तस्य धर्मिणोऽनुमितौ  
धर्मितया भानम्, यथा पर्वतो वह्निमान् धूमरत्नादित्यत्र, अत्र नहि अन्यदेशस्थितो धूमो  
गृहीतस्सन् स्याधिकरणदेशातिरिक्तदेशस्थितवह्न्यनुमितिं जनयितुं समर्थः, किन्तु यस्मिन्  
देशे गृहीतस्सन् अनुमितिं जनयति स एव देशोऽनुमितौ धर्मितया भासते इति । न चाऽप्रा-  
प्यन्यथाऽनुपपन्नत्वलक्षणव्याप्त्यच्छेदकतयैव पर्वतस्यानुमितौ कथं न भानमिति वाच्यम्,  
सर्वोपसंहारेण व्याप्तिग्रहणे धूमाधिकरणमात्राननुगामिनः पर्वतस्य विशिष्याप्रतिमामनेनाव-  
च्छेदकत्वाऽस्मभ्यत्रादिति । पक्षमत्त्वदेव सपक्षमत्र विपक्षासत्त्वमपि च साध्यगमकतानङ्ग

ज्ञेयम्, सर्वमनेकान्तात्मक उत्पादव्ययध्रौव्यलक्षणसत्त्वान्यथाऽनुपपत्तेः, सर्वमभिधेय प्रमेयत्वादित्यादौ सपक्षविपक्षाभावात् सपक्षसत्त्वविपक्षासत्त्वाभावेऽप्यनुमित्युपपत्तेः । ननु सपक्षसत्त्वस्य साध्यगमकतान्त्रत्ये तेन साध्यवदसत्त्वलक्षणविरोधदोषाऽव्युदासाद्बिरुद्धेनापि हेतुना, एव विपक्षासत्त्वस्य तदनङ्गत्वे तेन साध्याभाववद्दृष्टित्वलक्षणव्यभिचारदोषाऽव्युदासाद्बिरुद्धेनापि हेतुनाऽपि हेतुनाऽनुमित्युत्पत्तिस्स्यादिति न च वाच्यम्, निश्चिदान्यथानुपपन्नत्वलक्षणत्वादेव हेतोर्विरुद्धत्वादिदोषपरिहारसिद्धेः, न ह्यसिद्धविरुद्धादिषु हेत्वामासपु निश्चितान्यथाऽनुपपत्तिस्मभवतीति न विरुद्धादिहेतुनाऽनुमित्युत्पत्तिप्रसङ्ग इति निश्चितान्यथाऽनुपपत्तिरेव लक्षण हेतोरभ्युपगन्तव्यमिति । अत्र नैयायिकाः प्रत्यवतिष्ठन्ते, बौद्धाभ्युपगतत्रैरूप्य हेतोरलक्षण मा भूत्, एतानि सहकारफलानि पक्षानि एकशाखाप्रभवत्वाद् उपयुक्तसहकारफलरदित्यादावामताग्राहिप्रत्यक्षवाधितविषये, अय देवदत्तो मूर्खः चैत्रपुत्रत्वात् अपरतत्पुत्रवदित्यादौ अय देवदत्तो मूर्खो न भवति त्रिभिधशास्त्रव्याख्यानादिकलाकौशलशालित्वात् प्रतिपन्नप्राज्ञपुरुषवदिति प्रतिपक्षानुमानेन सत्प्रतिपक्षितेऽपि च हेतावस्य सम्भवात्, पञ्चरूपत्वं तु हेतुलक्षण भवत्येव, निर्दोषत्वात्, तथाहि यस्य पक्षधर्मता नास्त्यसावसिद्धो हत्वामासः, यथा शब्दोऽनित्यः चाक्षुषत्वात् रूपरदिति, सपक्षे सत्त्व यस्य नास्ति स विरुद्धः, यथा शब्दो नित्यः कृतकत्वादिति, यस्य त्रिपक्षाद्ब्रह्मचरिर्नास्त्यमावनैकान्तिक' यथा पर्वतो वह्निमान् प्रमेयत्वात् शब्दो नित्यः प्रमेयत्वाद्देति, यस्यावाधितविषयत्व नास्ति स कालात्ययापदिष्टः, यथा वह्निनुष्णो द्रव्यत्वादिति प्रत्यक्षवाधितविषयः, ब्राह्मणेन जनेन वा सुरा पेया द्रवत्वात् क्षीरवदित्यागमवाधितविषय', अत' स हेतुः कालात्ययापदिष्ट', यस्य निष्प्रतिपक्षता नास्ति स प्रकरणसमः, यथा शब्दोऽनित्यः नित्यधर्माऽनुपलब्धेषुटवत्, शब्दो नित्योऽनित्यधर्माऽनुपलब्धे' आकाशरदिति । तथा च पञ्चरूपाणि यस्मिन् हेतौ स एव निर्दुष्ट इति ज्ञातस्मन् व्याप्तिस्मृतिद्वाराऽनुमित्युत्पादक इति पञ्चरूपत्वमेव हेतुलक्षणमभ्युपगन्तव्यम् । यथोक्त जयन्तेन—

“ पञ्चलक्षणकालिङ्गाद्, गृहीतान्निपमस्मृतेः ।

परोक्षे लिङ्गिनि ज्ञान-मनुमान प्रचक्षते ॥ १ ॥ ” इति ।

अत्रोच्यते प्रतिविधानम्—हेतोः पञ्चरूपत्व लक्षण न युक्तम्, त्रैरूप्यवत्तस्यापि हत्वा मासेऽपि मारात् । यतोऽग्निजन्योऽय धूमः सत्त्वात्, पूर्वोपलब्धधूमवदित्यत्र अग्निजन्यत्वाभाववति घटे सत्त्वहेतोर्विद्यमानत्वेन व्यभिचारदोषाक्रान्ततया हत्वामासरूपेऽपि तस्मिन् हेतौ पक्षधर्मत्वं तावदस्ति, पक्षीभूते धूमे सत्त्वहेतोरसदिग्धत्वात्, मपक्षमच्चमपि तत्र विद्यते, पूर्वदृष्टे धूमेऽग्निजन्यत्वेन निश्चिते सत्त्वहेतोस्सद्भावात्, त्रिपक्षाऽमच्चमपि तत्र विद्यते स्वरविषाणादौ माष्याभावे साधनस्य सत्त्वस्याभावाविषयात् ।

विवादापन्ने धूमेऽग्निजन्यत्वस्य बाधकामावात्, विवादापन्नो धूमोऽग्निजन्यो न स्पर्शार्थं  
 धूमार्थो बह्वधानयनार्थं नैव प्रवर्त्तते, प्रवर्त्तते च तदर्थं तस्माद् धूमो धनञ्जयजन्य इति  
 प्रसङ्गविपर्ययाभ्यां विवादापन्ने धूमेऽग्निजन्यत्वस्य सिद्धेः । एवममत्प्रतिपक्षत्वमपि, अनग्नि  
 जन्यत्वमाधकस्यानुमानस्याग्राऽमम्भवादिति सिद्धं हेत्वाभासेऽपि मन्त्रहेतौ पञ्चरूपत्वम्,  
 तथा चालक्ष्ये मन्त्रहेतायुक्तलक्षणगमनादतिव्याप्तं तल्लक्षणं न समीचीनतामश्नुति ।  
 सामस्त्येन व्यतिरेकव्याप्तिनिश्चयस्यात्राभावात् सन्त्रहेतासिद्धं पञ्चरूपत्वमिति चेत्, न,  
 तस्य निश्चितान्यथाऽनुपपन्नत्वरूपत्वेन तदभावे शेषरूपाणामकिञ्चित्करत्वापत्तेस्तद्विकलत्वैव  
 पञ्चलक्षणत्वस्यालक्षणत्वेन साध्यत्वात्, यत्पुनरबाधितविषयत्वात्प्रतिपक्षत्वयोरभावादेक-  
 शाखाप्रमवत्त्वतत्पुत्रत्वहेतोरगमकत्वमगादि, तत्राप्यन्यथानुपपन्नत्वाभाव एव निमित्तम्, न  
 पुनरबाधितविषयत्वामत्प्रतिपक्षत्वयोर्भावात् । तयोः सतोरप्यगमकत्वस्यानन्तरमेव दर्शित  
 त्वात् । किञ्चाबाधितविषयत्वस्य तावन्निश्चितस्यैव हेत्वङ्गत्वमद्वीकार्यम्, अन्यथा पक्षधर्म  
 त्वात्पर्यनिश्चितस्य हेत्वङ्गत्वमङ्गत्वात् । न च तन्निश्चयः मम्भवति, तन्निश्चयसाध्य-  
 निश्चययोः परस्पराश्रयणात् । मति हि बाधाभावनिश्चये हेतोः माध्यनिश्चयः, तन्निश्चयाच्च  
 बाधाभावनिश्चय इति न तयोरन्यतरस्य सिद्धिः । यच्चान्यतः कुतश्चिद् बाधाऽभावनिश्च  
 यात् परस्पराश्रयपरिहारप्रतिपादनं क्रियते, तदपि न मनोरमम्, यतस्तन्निश्चयन्धनमनुपलम्भः  
 सवादो वा स्यात्, न तावदनुपलम्भः, सर्वमम्भन्धनस्तस्याऽसिद्धेः, आत्ममम्भन्धनस्त  
 स्फानैकान्तिकत्वात् । नाऽपि सवादः, प्रागनुमानप्रवृत्तेस्तस्यासिद्धेः, अनुमानोत्तरं तत्सिद्ध  
 म्पुपगमे परस्पराश्रयः, अनुमानात्प्रवृत्तौ सवादनिश्चयः, तत्राबाधितविषयत्वाऽवगमेऽनु  
 मानप्रवृत्तिरिति, न चापिनाभावनिश्चयादेवाबाधितविषयत्वनिश्चयः, हेतौ पञ्चरूपयोगिन्यपि  
 नाभावपरिममाप्तिवादिनामबाधितविषयत्वाऽनिश्चयेऽपिनाभावनिश्चयस्यैवाऽमम्भवात् । नन्वे  
 वमन्यथानुपपत्तिलक्षणाऽविनाभावोऽपि हेतुलक्षणं न मम्भवति, तन्निश्चयोऽपि साध्य-  
 सङ्गावनिश्चयापत्तः, सोऽपि चापिनाभावनिश्चयाधीन इत्येवमितरेतराश्रयस्य प्रसङ्गादिति  
 चेत्, न, अपिनाभावनियमस्य हेतौ तर्कारूपप्रमाणान्तरान्निश्चयोपगमादितरेतराश्रयानवका  
 शात्, नन्वेव तर्हि यस्मात्तर्कारूपप्रमाणादपिनाभावनिश्चयो हेतौ तत एव माध्यस्यापि सिद्धे-  
 स्तत्र हेतोरकिञ्चित्करत्वमिति चेत्, न, हेतोर्देशाद्विशेषावच्छिन्नस्य माध्यस्य माधनात् ।  
 तर्कप्रमाणान्तु सामान्यत एव तत्सिद्धः । तन्नैकशाखाप्रमत्त्वादेर्बाधितविषयत्वाद्देत्वाभास  
 त्वम्, किन्त्यन्यथानुपपत्त्यग्रादेवति । नाऽपि तत्पुत्रत्वाद्मत्प्रतिपक्षत्वाद्देत्वाभासत्वम्,  
 यत प्रतिपक्षस्तुल्यमलोऽतुल्यमलो वा स्यात्, द्वयोस्तुल्यमलत्वे बाध्यबाधकभावाऽनुपपत्तिः,  
 अतुल्यमलत्वं त्वनयोः किं पक्षधर्मत्वादिमात्रात्तत्तमनुमानबाधनमित् वा, न तावदाद्य-  
 पक्षो निरवद्यः, पक्षधर्मत्वादरुक्तहेतुद्रव्यस्याऽविशेषात्, मूर्त्यत्वाभावे माध्ये शाल्लक्ष्यारूपा  
 नाधिकलाकौशलशान्तिव्यस्यैव मूर्त्यत्वे माध्य तत्पुत्रत्वस्यापि पक्षधर्मत्वादिमम्भवात् । द्वितीय

पक्षोऽप्यसम्भाव्यः, अनुमानबाधजनिताऽनुत्पद्यत्वस्याऽऽद्याप्यसिद्धेः, नहि द्वयोः पक्षधर्म-  
त्वायविशेषे एकस्य बाध्यत्वमपरस्य बाधकत्व युक्तम्, अविशेषेणैव तत्प्रसङ्गात्, परस्परा-  
श्रयश्च, तथाऽनुत्पद्यत्वत्वे मत्यनुमानबाधा, तस्या च मत्यामतुल्यत्वत्वमिति । तदेव हेतौ  
पक्षधर्मत्वादिपक्षरूपग्रह मुख्य स्वीकृतं च निश्चितान्यथाऽनुपपन्नत्वमात्रमेकरूपम् । तदुक्तम्-

“ अन्यथाऽनुपपन्नत्व, रूपैः किं पञ्चभिः कृतम् ? ।

नान्यथानुपपन्नत्व, रूपैः किं पञ्चभिः कृतम् ? ॥ १ ॥ ” इति ।

तथा च निश्चितान्यथाऽनुपपन्नत्वं कलक्षणको हेतुरिति सिद्धम् । तदन्यो हेत्वामासः,  
हेतुपदाभासते इति व्युत्पत्तेर्दुहेतुरिति यावत् । अत्र नैयायिकास्तल्लक्षणन्त्वेन उदन्ति-अनु-  
मितितत्करणान्यतरप्रतिबन्धक्यथार्थज्ञानविषयवच्य दुष्टहेतुत्वम् । दोषमामान्यलक्षणन्तु-  
अनुमितितत्करणान्यतरप्रतिबन्धक्यथार्थज्ञानविषयत्वम्, अनुमितितत्करणान्यतरप्रतिबन्ध-  
कतावच्छेदक्यथार्थज्ञानविषयत्वमिति यावत्, तेनोदामीनविषयस्य ममूहालम्बनात्मरूपा  
दृशज्ञानविषयत्वेऽपि नातिप्रसङ्ग इति बोध्यम् । अस्यापि यद्वाचच्छिन्नविषयकज्ञान-  
सामान्यमनुमितिप्रतिबन्धक तद्वाचच्छिन्नत्व दोष-वमित्यत्र तात्पर्यम्, तेन न रह्यमावा-  
दावविध्याप्तिः, बह्व्यभाव-वावच्छिन्नविषयकस्य ‘ बह्व्यभाववान् इदः ’ इति ज्ञानस्यानु-  
मितिप्रतिबन्धकत्वेऽपि तादृशज्ञानसामान्यान्तर्गतस्य ‘ बह्व्यभावः ’ इत्याकारकज्ञानस्या  
ऽप्रतिबन्धकत्वेन बह्व्यभावत्वादेर्यद्रूपपदेनोपादानाऽमममात् जैनमते तु सद्हेतुभिन्न  
हेतुत्वमेव दुष्टहेतौर्लक्षणम्, अत एव जैनतर्कपरिभाषार्या “ सोऽयमनेकविधोऽन्यथाऽनु-  
पपयेकलक्षणो हेतुरुक्तः, अतोऽन्यो हेत्वामासः ” इत्युक्तं सङ्गच्छते । स त्रिविधः अमिद्ध  
विरुद्धानैकान्तिकमेदात्, तत्राप्रतीयमानस्वरूपो हेतुरसिद्धः, स्वरूपाप्रतीतिश्च कम्पचित्पुमो  
हेतोरज्ञानात्, कम्पचित् हेतुस्वरूपे सन्देहात्, कस्यचित्पुन विषययाङ्गवति, अमिद्धोऽपि  
हेत्वामास उभयामिद्धाऽन्यतरासिद्धमेदेन द्विविधः, यो हेतुर्वादिप्रतिवाद्युभयमतेन पक्षा-  
त्मके धर्मिण्यमिद्धः स आद्यः, उभयामपि पक्षे हेत्वमावाभ्युपगमात्, यथा शब्दः  
परिणामी चाक्षुपत्वादिति, अत्र चाक्षुपत्तहेतु परिणामवादिना जैनेन नैयायिकेन च प्रति-  
वादिना शब्दार्थमेके पक्षे नाभ्युपगत इति उभयासिद्धः, यश्च हतुः पक्षे चादिप्रतिवाद्यन्य-  
तरेणासिद्धः स द्वितीयः, यथा अचेतनास्तरव’ विज्ञानेन्द्रियाद्युर्निरोधलक्षणमरणरहितत्वा-  
दिति प्रयोग बौद्धौ जैन प्रति कुर्याच्छेदा “ से वेमि इम पि जाइधम्मय एय पि जाइधम्मय,  
इम पि बुद्धिधम्मय एय पि बुद्धिधम्मय, इम पि चित्तमतय एय पि चित्तमतय, इम पि छिण्ण  
मिलाइ एय पि छिण्ण मिलाइ, इम पि आहारग एय पि आहारगं, इम पि अणिच्चय एय पि  
अणिच्चय, इम पि अमायय एय पि अमायय, इम पि चओवचइय एय पि चओवचइय,



इम पि विपरिणामवम्मयं एय पि विपरिणामधम्मय” ( सू० ४७ ) इत्याचाराद्ब्रह्मोक्तेः—  
 तरूणा विज्ञानेन्द्रियायुर्निरोधलक्षणमरणमभ्युपगमञ्छत. प्रतिवादिनो जैनस्योक्तहेतुर्न सिद्ध  
 इति प्रतिपाद्यमिद्वोऽप्य हेतुः । एा चौद्धो वैशेषिकादिक प्रत्युक्तानुमान कुर्यात्तदापि “ यद्यपि  
 वृक्षादयोऽपि शरीरभेदा एव भोगाधिष्ठानत्वात्, न खलु भोगाधिष्ठानत्वमन्तरेण जीवन-  
 मरणस्वप्नजागरणभेदप्रयोगबीजमजातीयानुबन्धानुकूलोपगमप्रतिकूलापगमादयः सम्भ-  
 वन्ति, वृद्धिक्षतमग्नसरोहणे च भोगोपपादके स्फुटे एव । आगमोऽप्यस्ति—

“ नर्मदातीरसम्भूताः, सरलाञ्जुनपादपाः ।

नर्मदातोयसस्पर्शात्, ते यान्ति परमा गतिम् ॥१॥ ” इत्यादि ।

“ इमज्ञाने जायते वृक्षः कङ्कगृध्रादिसेवितः ” इत्यादि च, इत्येव वैशेषिकदर्शन-  
 चतुर्थाध्यायद्वितीयाह्निकपञ्चमसूत्रटीकायामुक्तत्वात्तरूणां विज्ञानेन्द्रियायुर्निरोधलक्षणमरण-  
 मुपगमञ्छत’ प्रतिवादिनो वैशेषिकादरपेक्षयोक्तहेतुर्न सिद्ध इति प्रतिपाद्यसिद्धोऽप्य हेतुः ।  
 सुखादयोऽप्येतना उत्पत्तिमत्त्वादित्येन जैन प्रति साह्यो यद्यनुमान विदधीत तदैकान्त-  
 सत्कार्यमादिमाह्वयमते प्रागसतः सत्तालामलक्षणोत्पत्तिमत्त्वं क्वचिदपि न सिद्धमिति  
 सुखादिपक्षेऽप्यसिद्धमेतदिति वाद्यसिद्धत्वादन्यतरासिद्धोऽप्य हेतुः । साध्याभावव्याप्तिो हेतु-  
 विरुद्ध, अत एव जैनतर्कभाषायां माध्यविपरीतव्याप्तिो विरुद्ध इत्युक्तं तल्लक्षणम्, तत्र  
 साध्यविपरीत इत्यस्य साध्यस्य तदभावेन मह परस्पराभावरूपत्वलक्षणप्रतिषेधप्रति-  
 षेधरुभाषो विरोध इति साध्यस्य विपरीत’ साध्यस्याऽभाव एवेत्यर्थः, यथा शब्दो  
 ऽपरिणामी कृतवत्त्वादिति, अत्राऽपरिणामित्वस्य साध्यस्याभावः परिणामित्वमेव, अमावा-  
 मानस्य प्रतिपोगिरूपत्वात्, तस्य व्याप्तत्वात्कृतत्वंहेतुर्विरुद्धः । यस्याऽन्यथाऽनुपपत्तिः  
 सन्दिग्धते सोऽनैकान्तिकः, अस्याऽन्यनिर्णीतसाध्यान्यथाऽनुपपत्तिको हेतुरनैकान्तिक इत्यथैव  
 पर्यवमानम्, यतो यस्मिन् हेतौ साध्याभाववद्दृष्टित्त्वं मन्दिक्षते यदा तदानीं तस्मिन्  
 हेतौ साध्यं विनाऽनुपपत्तिनिर्णयो न विद्यत इत्यनिर्णीतसाध्यान्यथाऽनुपपत्तिको हेतुः,  
 यस्मिन् हेतौ तन्निर्णयते यदा तदानीं तन्निर्णयात्मकप्रतिबन्धकमत्रात् साध्याभाववद्  
 दृष्टित्वात्मकव्याप्तिलक्षणाऽन्यथानुपपत्तिनिर्णयाऽसम्भवादप्यनिर्णीतसाध्यान्यथाऽनुपपत्तिको  
 हेतुरनैकान्तिकः, अथ सव्यभिचार इति नामान्तरम् । म द्वेषा निर्णीतविपक्षदृष्टिकः  
 मन्दिग्धविपक्षदृष्टिकश्च, आद्यो यथा शब्दो नित्य. प्रमेयत्वात् आत्मवदिति, अत्र नित्य  
 न्वसाध्यस्याऽभावोऽनित्यत्वं तद्वत्तया निश्चिते विपक्षे घटादौ प्रमेयत्वस्य हेतुर्वृत्ति-  
 निर्णीतेति भवति प्रमेयत्वहेतुर्निर्णीतविपक्षदृष्टिकानैकान्तिकः, द्वितीयो यथा अभिमतः  
 सर्वशो न भवति वक्तृत्वात् स्व्यापुरुषवदित्येन मीमांसकन. जैनाभ्युपगतमर्ज्ञ सर्वज्ञत्वा-  
 ऽभारमाधने वक्तृत्वहेतुसन्दिग्धविपक्षदृष्टिकः, सर्वज्ञत्वाभावात्मकसाध्यस्याभावः सर्व

इत्थं तद्वति मर्त्तुं वक्तव्यं हेतोस्मन्देहात् । एष स इयामो मित्रातनयत्वादित्याद्यधुदा  
 हार्यम् । एतेनोक्तानुमाने शाकपाकजस्य मित्रातनयत्रमाघनायच्छिद्यमानस्यत्राध्याय  
 पक्षे मति मित्रातनयत्वमाघनाऽव्यापकत्वादुपाधित्वेन तद्वत्त्वेन सोपाधिकृतया मित्रातन  
 यत्वहेतुत्वात्प्यत्राऽमिद्ध इति नैयायिकाऽभ्युपगमोऽपि निरस्तः, मित्रातनयत्वहेतोऽस्य  
 मत्रमाध्यामाववति विपक्षे घृत्तिस्तन्दिग्धेत्यस्यापि मन्दिग्धविपक्षघृत्तिकी हेतुरनेकान्तिक  
 इत्यत्रैवान्तर्भावोदिति । एतेनाप्रयोजकापरनामाऽकिञ्चित्कराग्यश्रुतयोऽपि हेत्वामामभेदो  
 धर्मभूषणेनाभिहितो निरस्तः, सिद्धमाघनवाधितविषयभेदाभ्यां द्विरिधतया व्यावर्णित  
 स्यास्य प्रतीतनिराकृताख्यपञ्चाभामभेदानतिरिक्तत्वात् । अयम्भावः—यत्र सिद्धमाघनदोष-  
 स्तत्र माध्यस्य सिद्धत्वेन यत्र च बाधितविषयत्व तत्र साध्यस्य निराकृतत्वेन “अप्रतीत-  
 मनिराकृतमभीप्सित माध्यम्” ३-१४ ॥ इति प्रमाणनयतत्कालो कालङ्कारवृत्तीपपरिच्छेद-  
 चतुर्दशश्लोकोत्पलक्षणलक्षितमाध्यस्यैवाभावेन तद्विशिष्टस्य मत्पक्षस्याभावात्तत्र पक्षभाष  
 एवेत्यतस्तदात्मकदोषाभिघ्नत्वात्तदुभयदोषस्य न तदुभयभेदभिन्नाऽकिञ्चित्कराग्यश्रुतयो  
 दोषोऽतिरिक्त इति । अत एव कालात्ययापट्टिोऽपि नैयायिकादिनाऽतिरिक्तदोषतयाऽभ्यु-  
 पगतो निरस्तो वेदितव्यः, साध्यमन्देहकाल एष साध्यमाघनकालस्तदत्ययस्तदतिक्रम  
 स्तस्मिन् काले बाधितमाध्यसाधनायाऽपट्टि प्रयुक्तो हेतुः कालात्ययापट्टि इत्यनेन  
 बाधितविषय एवोक्तो भवति, तस्य पूर्वोक्तरीत्या निराकृतपक्षामामदोषरूपतया हेत्वामा-  
 सत्वाऽभ्युपगमात् । न च यत्र पक्षदोषस्तत्र नियमेन हेतुदोषोऽपीति गान्यम्, तथा मति  
 माध्यविकल-माघनविकल-तदुभयविकल-दृष्टान्तलक्षणमाध्यमदृष्टान्तदोषाणां साध्यामाय  
 विकल-साधनामायविकल-माध्याभानयमाघनामायोभयविकलदृष्टान्तलक्षणवैधर्म्यदृष्टान्तदोषा  
 णामपि गान्यत्वापत्ते । प्रकरणमस्योऽपि नैयायिकेन पक्षमभेदतयाऽभ्युपगतो हेत्वामामो  
 नातिरिक्तः, तुल्यबलमाध्यतद्विपर्ययसाधकहेतुद्रयरूपे मयस्मिन् प्रकृतमाध्यमाघनपोरन्यथा-  
 ऽनुपपत्तिलक्षणादिनामावाऽनिश्चयेऽसिद्ध एवान्तर्भावोत्पद्येति । यथा न्यायमते मध्यमि-  
 चारस्य साधारणमाधारणानुपसंहारिभेदान त्रयो भेदाः, न तथा जैनराद्धान्ते, यतः  
 पक्षमात्रवृत्तिहेतुरमाधारणोऽभिमतः, तस्य माध्यमेन सहान्तर्वासिद्धिपक्षे महेतुत्तमुररी-  
 कृतमेव स्याद्वादिमि., अत एव प्रमाण स्वपरव्ययमापिज्ञान प्रमाणत्वान्यथानुपपत्ते  
 रित्यत्र पक्षमात्रवृत्तिोऽपि प्रमाणत्वस्य गमकत्वम्, शब्दस्यानित्यत्वे कृतकत्वमेव  
 प्रयोजकम्, न तु शब्दत्वमित्यप्रयोजकत्वादान्तर्वासिद्धिरमात्रदेयगमकत्व, तस्य पौद्गलिक  
 त्वादनित्य एव शब्द इत्यनित्यमात्रवृत्तित्वादनित्यत्वेन सह शब्दत्वस्य व्याप्तिरस्तीति  
 यदि विभाव्यते तदा गमकमनित्यत्वस्य तद्वत्त्वेवेति न तत्र कोऽपि दोषः, सर्वमनेकान्त-  
 त्मक वस्तुत्वादित्यत्र पक्षतापच्छेदकस्य साध्यस्य च केवलान्वयित्वेऽपि सदनुमानमिष्ट  
 मिति नानुपसंहारिण्यपि कोऽपि दोष इति जैनमत साधारणानैकान्तिकलक्षण एक एव

सव्यभिचारः, शब्दो नित्यः प्रमेयत्वादित्यत्र निर्णीतप्रपक्षवृत्तिकः प्रमेयत्वहेतुरनैकान्तिक एव, गगनारविन्द सुरभि अरविन्दत्वादित्यत्र हेतुर्न दृष्टः, किन्तु पक्षाप्रसिद्धैवानुमान न सम्भवतीति पक्षामिद्धिस्तत्र पक्षदोष इति । तदेव सिद्धे च हेतुदोषत्रये तद्रहितत्वाच्चिश्चितान्यथाऽनुपपत्त्येकलक्षणको हेतुर्गमकोऽभ्युपगन्तव्यः, न तु त्रिलक्षणकः पञ्चलक्षणको वा, उक्तदोषमुद्गरप्रहारजर्जरितत्वात्, सोऽपि गमको न माधर्म्यमात्रात्, न वा वैधर्म्यमात्रात्, न वा परस्पराननुविध्योभयमात्रात्, किन्तु प्रधानगौणभावेन परस्परस्वरूपा जहद्गुत्तिसाधर्म्यवैधर्म्यरूपात् । नन्वेव तर्हि केवलान्वयिहेतुना केवलव्यतिरेकिहेतुना च कथं साप्यानुमितिरिति चेत्, उच्यते समाधिः, जैनमते नैव कश्चिदेकान्तेन केवलान्वयी, वस्तुत्वप्रमेयत्वादिपरि यत्र तत्र यदवच्छेदेन वस्तुत्वप्रमेयत्वादिकं तदन्यावच्छेदेन तदभावोऽपीति वृत्तिप्रदत्यन्तामात्राप्रतियोगित्वलक्षणकेवलान्वयित्वस्य तत्रामावात्, नाप्येकान्तेन कश्चिद् व्यतिरेकी, अन्यपरहितस्य व्यतिरेकस्याप्रमिध्येः, व्याप्तेरन्यथानुपपन्नत्वरूपतया तथैवोपपन्नत्वरूपतया चाभिधानं भवति, तत्र प्रायमिहै अन्यव्याप्तिरभिधीयते द्वितीया व्यतिरेकव्याप्तिरिति गीयते, तत्र वस्तुत्वप्रमेयत्वादेव्याप्तिद्वयसद्भावेऽपि व्यवहारोऽन्यव्याप्ति एवेति केवलान्वयीति व्यवह्रियते, लक्षणाघातमकहेतोश्च व्यवहार इतरभेदसाधने व्यतिरेकव्याप्ति एवेति केवलव्यतिरेकीति व्यवह्रियते, तथैवोपपत्तिलक्षणव्याप्तिज्ञानतः केवलान्वयि हेतुनाऽनुमितिः, अन्यथानुपपत्तिलक्षणव्याप्तिज्ञानतः केवलव्यतिरेकिहेतुनाऽनुमितिरिति ज्ञेयम् । तादृशहेतुरपि नैकान्ततस्मान्मान्यात्मा, न वा विशेषात्मा, न वा परस्पराननुविद्धोभयात्मा साध्यसाधकः, साध्यमपि नैकान्ततस्मान्मान्यात्मक, न वा विशेषात्मक, न वा परस्पराननुविद्धोभयात्मक साधयितुं शक्यम्, एकान्तमान्यात्मकस्य एकान्तविशेषात्मकस्य परस्पराननुविद्धसामान्यविशेषोभयात्मकस्य चार्थस्य पूर्वमेव विस्तरेण निरस्तत्वात्, किन्तु परस्परजहद्गुत्त्या सामान्यविशेषात्मक एव हेतुस्तदात्मकस्यैव साध्यस्य साधक इत्यभ्युपगन्तव्यमिति ॥ ५६ ॥

अथ मामान्यमनुगतवृद्धिहेतुत्वेनानुगतस्वरूपम्, विशेषाश्च विभिन्नसामग्रीजायमानत्वेन व्यावृत्तपुच्छिहेतुतया च प्रतिव्यक्तिभिन्नरूपा इति तयोस्स्वरूपमिथो विभिन्नमेव, अत एव परस्परनिरपेक्षमेवेत्यन्यत् तन्निराचिकीर्षुस्मृतिराह—

द्वन्द्वद्वियवत्तच्च सामण्यं, पञ्जवस्त य विसेसो ।

एष समोवणीया, विभज्जवाय विसेसंति ॥ ५७ ॥

“द्वन्द्वद्वियवत्तच्च सामण्यं” द्रव्यार्थिकवक्तव्य सामान्यम्, द्रव्यार्थिकनयमते वक्तव्यमन्तव्यभ्युपगमनीयमिति यावत्, विशेषनिरपेक्ष सामान्यमात्रं, यदनुगतवृद्धिप्रियः तदेव सत्, तद्रूपं च सामान्यमेवेति तदेव मत्, न विशेषा अननुगतत्वात्तेषामित्येव सामान्यवादित्वात्तस्य, “पञ्जवस्त य विसेसो” पर्यायस्य च विशेष, पर्यायास्तिक

नयमते वक्तव्यस्तामान्यनिरपेक्षो विशेष एव, तन्मते यदेवार्थक्रियाकारि तदेव सत्  
जलाहरणाच्छादनाद्यर्थक्रियाकारी च घटपटादिविशेष', न पुनर्घटत्वपटत्वादिसामान्य-  
मित्यर्थक्रियाकारित्वेन विशेष एव सन्, न तु सामान्यमित्येव विशेषवादित्वा-  
त्तस्य, "एष समोवर्णीया" "एतौ समुपनीतौ" एतौ सामान्यविशेषौ अन्योन्य  
निरपेक्षौ एकैकरूपतया परस्परप्राधान्येन वा एकत्रोपनीतौ प्रदर्शितौ "विमज्जवाप  
विसेसेति" विमज्जवाद सामान्यविशेषोमयात्मकस्य वस्तुनः कथमित्यमित्याकाहा-  
निवृत्तये विमज्ज स्वस्वप्रतिनियतनिमित्त पृथगुपदर्श्य वादः एतन्निमित्तापेक्षया मामा  
न्यात्मकम्, एतन्निमित्तापेक्षया च विशेषात्मक वस्त्वित्येव प्रतिपादनात्मा, इत्यतोऽने  
कान्तवादो विमज्जवादः, त विशेषयत', अतिशयाते । अयम्भावः-वस्तुमात्र परस्परानुपक्त-  
सामान्यविशेषोमयात्मक तथैवाध्यक्षादिप्रमाणेनानुभूयमानत्वान् । न च हेत्वमिद्विरिति  
वाच्यम्, यतो नहि पुरुष-मर्ष-हेमद्रव्यादिमामान्यावस्था बाल-कुमारादिवक्रोर्ध्वमरलादि-  
कुण्डलमुद्रिकाद्याकारात्मकनानाविधावस्थाः परित्यज्याऽनुभूयते, पूर्वोक्ततदवस्थाऽनुस्यू  
ततयैव तस्याः प्रतीतेः, बालकुमारादिवक्रोर्धादि कुण्डलमुद्रिकादिवचद्विशेषावस्था अपि  
नहि पुरुषसर्पहेमद्रव्यादिसामान्यावस्थाविनिर्मुक्ता अनुभूयन्ते, अनुगतैकाकाशपुरुषमर्ष-  
हेमद्रव्यादिसामान्यानुविद्धतयैव तासा प्रतीतेः, एवं तिर्यगूघटत्वपटत्वादिसामान्यमतिरिक्त  
परिकल्प्य तत्र सामान्यत्वधर्मकल्पनाऽपेक्षया 'धर्मिकल्पनातो धर्मकल्पना लघीय  
सीति न्यायात् सिद्धघटादिव्यक्तावेव सामान्यत्रकल्पना युक्तैति परस्परसापेक्षसामान्य  
विशेषोमयात्मकयथार्थवस्तुस्वरूपप्रतिपादकतयाऽनेकान्तवाद सत्यवादस्वरूप परस्परनिर-  
पेक्षौ सामान्यविशेषौ अतिशयाते प्रत्यक्षादिप्रमाणवाधितत्वेनाऽमत्यरूपतयाऽनेकान्तवा-  
दतः तावतिशय लभेते, अप्रमाणभाव भजेते इति यावत् । विशेषे माध्येऽनुगमा  
भावत', सामान्ये साध्ये सिद्धसाधनतया साधनवैफल्यतः । कथं सिद्धसाधनमिति चेत्,  
इत्थं, धूमसामान्यस्य वह्निसामान्येन यद्वाग्निग्रहण तेन मर्षत्र धूमसामान्याधिकरणदेशे  
वह्निसामान्यमवधारितमेव, तस्यैव साधने सिद्धसाधन स्यादेवेति । प्रधानोभयरूपे साध्ये  
उभयदोषापत्तितः, अनुभयरूपे माध्ये उभयाभागतः साध्यत्वाऽयोगात्, तथाहि-वस्तु  
सामान्यस्वरूप विशेषस्वरूप वा भवेत्, यच्च न सामान्यस्वरूप न वा विशेषस्वरूप  
तत्त्वरविषाणकल्प न माध्य भवितुमर्हतीति । अनेकान्ते तु न माध्यसिद्धिरनुपपन्ना,  
कथञ्चिद्वह्निसाध्याः साध्यत्वेन 'पर्वतो द्रव्यवान्' इत्यादावनतिप्रमङ्गात्, वह्निस  
ाया द्रव्यवत्तासामान्यकोटीकृतत्वेऽपि कथञ्चिदतिरेकात्, विवादास्पदीभूतसामान्य-  
विशेषोमयात्मकमाध्यधर्माधारधर्मिमिद्वेश्च, अन्यथा 'पर्वतसामान्य वह्निसाध्याऽनुमि  
नोमि' 'इमं पर्वतं वह्निसाध्याऽनुमिनोमि' इत्यादि विमज्जाध्ययमायाकारानु-  
पपत्तेः, इतरत्र स

केवलसामान्यात्मकधर्मिणि ।



पर्वते वह्निरस्ति न वेति सशयो न निर्वर्तेत, एव पर्वतत्रिंशेपे माध्यमामान्यस्य पर्वतोऽय द्रव्यवानित्येव सिद्धौ पर्वतोऽय धूमजनकतापच्छेदकंन रदिन्वात्मकमामान्य- विशेषेण पर्वतीयरद्विव्यक्तित्रिंशेपनात्र वेति सशयश्च न निर्वर्तेतेति । तदेव विनादास्पदी- भूतमामान्यत्रिंशेपोभयात्मकरुमाध्यधर्मावारधर्मिणि शन्योन्यानुविद्धमाध्यर्भ्यैधर्म्यैस्वभात्र- द्यात्मकैकहेतुप्रदर्शनतो नैकान्तपक्षोक्तदोषावकाशः मम्मयी, अत एव गाथापश्चाधेन-एतौ मामान्यत्रिंशेपो ममुपनीतौ परस्परमव्यपेक्षतया ' स्यात्पदप्रयोगतो धर्मिणि अवस्थापितौ विमज्यनाद परस्परमापक्षमामान्यत्रिंशेपोभयात्मकप्रस्तुनो विमज्य पृथक्कृत्य सामान्या- द्विशेष विशेषात्सामान्य परस्परनिरपेक्षतया मर्था भेदमवलम्ब्य नादो विमज्यवाद एकान्तमामान्यनाद एकान्तत्रिंशेपनादश्च, त विशेषतः ' निराकुरुत', एवमेव तयोरात्म- लाभात् अन्यथाऽनुमानत्रिपयस्योक्तन्यायतोऽपस्वादित्यपि दर्शितम् ॥ ५७ ॥

अनुमाने विधेयतयोपन्यस्ते यस्मिन् माध्ये अतिकृशाग्रनुद्विरपि परप्रनादी एकमपि दूषण नोच्चारयितु शक्नोति तदेव माध्य साधयितु योग्यम्, नापरम्, तच्च स्याद्गर्भमेव, न न्वेकान्तात्मकमित्युपदर्शयन्नाह—

हेउचित्तओवणीय, जह वयणिज्ज परो नियत्तेह ।

जह त तथा पुरिल्लो, दाइतो केन जिच्चतो ॥ ५८ ॥

' हेउचित्तओवणीय ' हेतुविषयोपनीतम्, हेतुत्रिपयतया हेतुज्ञानजन्यानुमितिविधेय- तयोपनीतमुपन्यस्त माध्यधर्मिलक्षण प्रस्तु पूर्वपक्षवादिना " कार्यत्वलिङ्गतश्शब्दोऽनित्यः " इत्येव " जह वयणिज्ज " यथा वचनीय यथा प्रतिपाद्य ' परो नियत्तेह ' परो दूषणवादी निवर्त्तयति दूषयति, षोडशमतेन शब्दोऽनित्यत्वस्येष्टरेण कार्यत्वस्य कालिकमम्बन्धेन पटत्त्वपटत्वादिमत्रलक्षणस्याननुगतत्वेन प्रागभाप्रतियोगित्वलक्षणस्यापि च प्रतियोगि- भेदेन मिश्ररूपतयाऽननुगतत्वेन सिद्धमाध्यताऽननुगतमदोषाद्युपन्यासेन एकान्तवचनीयस्य तदितरधर्मानुपपत्तस्यानेकरोपदुष्टतया निवर्त्तयितु शक्यत्वात्, ' जह त तथा ' यदि तत्तथा द्वितीयधर्माक्रान्त, स्यात्पदगर्भमिति यावत् ' पुरिल्लो दाइतो ' पुरिल्लः पूर्वपक्षवादी अदर्शयिष्यत् ततोऽपि ' न जिच्चतो ' केनाजेष्यतः, स्यात्पदगर्भ माध्यविशिष्टधर्मिण दर्शयत् वादी न केनापि जेतु शक्य इत्यर्थः । तदेव विजिगीषुणा शास्त्रतत्त्वेन स्याद्गर्भ- साध्यप्रयोग एव कर्तुमुचित् । तदकरणे त्रैकान्तमाध्यस्यापश्चात् तत्प्रदर्शकोऽपस्वादित- तया निग्रहस्थानमनाप्नुयात् ॥ ५८ ॥

एतदेवाह—

एधन्तामभूय, सम्भूयमणिच्छिद्य च वयमाणो ।

लोद्वयपरिच्छिद्याण, वयणिज्जपहे पडइ चादी ॥ ५९ ॥

‘ एयन्तामभूय ’ एकान्ताऽमद्भूतम्, “ सभूयमणिच्छिद्य च वयमाणो ” सद्भूतमनिश्चितञ्च वदन् ‘ लोह्यपरिच्छिद्याणं ’ ( परिच्छिद्याण इत्यपि पाठः ) लौकिकपरीक्षकाणां लौकिकाश्च ते परीक्षकाश्च लौकिकपरीक्षकाः, तेषां लौकिकानां परीक्षकाणाञ्चेत्यर्थः ‘ वयणिञ्जपह पडइ वादी ’ वचनीयपथ वचनीयमार्गं निन्द्यमार्गमिति यावत् पतति वादी, निन्द्यमार्गमत्राप्नोति वादीत्यर्थं, स्याद्गर्भहेतोः स्याद्गर्भसाध्य परस्परसामान्य-विशेषात्मके पक्षे माधयन् वादी यथार्थतत्त्ववादितया निग्रहस्थान तत्त्वत्रित्परिदि नामाद-यतीति निश्चितान्यथाऽनुपपन्न एव हेतुः पक्षे तेन प्रयोक्तव्य’, तन्मात्रादत्र साध्यप्रतिपत्तेः, त्रिरूपादिक विद्यमानमप्यज्जिञ्चित्करत्वेन न प्रदर्शनीयम्, इतरथा हेतुगतेतरधर्मा अपि प्रदर्शनीयास्स्युः । प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनात्मक पञ्चायत्रवाक्यमपि नैव नियमेन परार्थानुमितिजननोपयुक्तम्, मन्दमतिश्रोत्रपेक्षया तद्रूपयुक्तत्वेऽपि व्युत्पन्नमतिश्रोत्रपेक्षया तदनुपयुक्तत्वाच्चस्य, प्रतिज्ञाहेतुमात्रादप्यनुमित्युत्पत्तेः, उक्तञ्च प्रमाणनयतत्रालोकालङ्कारे “ पक्षहेतुवचनात्मक परार्थानुमानेषुपचारात् । ३-२३ ॥ पक्षहेतुवचनलक्षणमत्रयत्रयमेव परप्रतिपत्तेरङ्ग न दृष्टान्तादिवचनम् ॥ ३-२८ ॥ इति ” ॥ ५९ ॥

अनेकान्तात्मकवस्तुन एवाऽऽव्यक्षादिप्रमाणसिद्धत्वेनाऽवाधिततया तत्प्ररूपणैव सन्मार्ग इत्युपसंहरनाह—

द्वय चित्त काल, भाव पञ्जाय-देश-सजोगे ।

भेद च पड्च समा, भावाण पञ्चवणपञ्जा ॥ ६० ॥

“ द्वय चित्त काल भाव पञ्जाय-दम सजोगे भेद च पड्च ” द्रव्य क्षेत्र काल भाव पर्याय-देशसयोगान् भेद च प्रतीत्यै ’ उक्तान्तौ साशानाश्रित्य वस्तुनो भेदे मति “ समा भावाण पञ्चवणपञ्जा ” “ समा भावानां प्रज्ञापनापर्याय ”-ममा समानरूपतया भावानां निखिलवस्तुना प्रज्ञापना प्रकर्षेण प्रत्यक्षादिप्रमाणाऽवाधिततया ज्ञापना प्ररूपणा स्याद्वा-दात्मिका या सा पर्यायपन्था मार्ग इति यावत्, सैत्र परमार्थवृत्त्या वस्तुनत्रसाधिकेत्यर्थः । तत्र द्रव्य पृथिव्यादि, क्षेत्र स्वारम्भकावयवस्वरूप तदाश्रय वाऽऽकाशम्, काल युगपदयुगपचिरक्षिप्र-प्रत्ययलिङ्गानुमेयम्, नत्रपुराणभावलक्षणवर्चनान्तरक वा, मात्र मूलाह्वरादिलक्षणम्, पर्याय रूपादिस्वभावम्, देश मूलाह्वरपत्रकाण्डादिक्रममात्रिविभागम्, सयोग भूम्यादिप्रत्येक-ममुद्रायम्, भेद द्रव्यपर्यायलक्षण प्रतिक्षणविवर्चात्मक वा, जीवाजीवादिभावानां प्रतीत्यै समानतया तदतदात्मकत्वेन प्रज्ञापना निरूपणा वा मा मत्पथ इति । यतो न द्रव्यक्षेत्र-कालभावपर्यायदेशसयोगभेदरहित वस्तु कनचित् प्र यक्षाद्यन्यतमप्रमाणेनात्रोष्णु शक्यम्, न च प्रमाणागोचरस्य सद्भवहारयोग्यतत्येकानेकात्मकत्वेनानुभूयमान वस्तुमात्रमनेकान्ता-त्मकमभ्युपेयम्, एतदनुभवसिद्धमप्येकानेकात्मक वस्तु, प्रतिसिपन् विरोधमीतो वैशेषिको

नैयायिको वा चित्रपटे चित्रैकरूपमपि कथमभ्युपेयात्, अत्र नव्यनैयायिका अवच्छेदकता सम्बन्धेन शुक्लादिक प्रति शुक्लादेः कारणत्वात् चित्रपटे तत्तदवयवगतशुक्लनीलादितश्शुक्लनीलादिनी नानारूपाण्येवाव्याप्यवृत्तिन्युत्पद्यन्ते, चित्रत्वव्यवहारस्तु परस्परममानाधिकरण नानारूपनिबन्धन इत्यभ्युपयन्ति । प्राचीननैयायिकास्तु मत्रिययावृत्तिव्याप्यवृत्तिवृत्तिजाती यानामव्याप्यवृत्तित्वविरोधाच्चित्रपटे न नानारूप, किन्तु विजातीय चित्ररूपमेवातिरिक्तमभ्युपगच्छन्ति, अत एवैक चित्ररूपमिति प्रतीत्युपपत्तिः, अतिरिक्तचित्ररूपत्वावच्छिन्नैक विषयताकल्पनाया लाघवात्, अन्यथा चित्रमितिप्रतीतेर्नीलत्वपीतत्वाद्यवच्छिन्नानाना विषयता कल्पनीया स्यादिति गौरव स्यात्, तदुभयमभ्यनुभवविरुद्ध, शुक्लनीलादिनाना रूपाणामेकस्य चित्ररूपस्य च चित्रपटेऽनुभूयमानत्वात्, तत्र तत्तदवयववच्छेदेन शुक्लनीलादिरूपाणा सम्पूर्णव्यवच्छेदेन चित्ररूपस्यैकस्य चैकत्र चित्रपटे वृत्तौ विरोधाभावे नानुभवानुरोधेन नानारूपसमानाधिकरणचित्ररूपस्य स्वीकार एव ज्यायान् । न चावयव गतशुक्लनीलादीनामेव परम्पराम्बन्धेनावयवविनि प्रतीत्युपपत्तेरवयविनि साक्षात्सम्बन्धेन चित्ररूपमेवैक रूप, तथाकल्पनायामवयवविगतनानारूपाऽकल्पनेन लाघवमिति वाच्यम्, शुक्लादीना साक्षात्सम्बन्धेनैव तत्रावयविनि प्रतीतेरित्य वाचकल्पने त्रुटिमात्रगतत्वमेव नीलाद्यशेषरूपाणां स्यात्, यतस्त्रुटिगतानामेव शुक्लादीनां परम्पराम्बन्धेनावयवविनि प्रतीत्युपपत्त्या तत्र नानारूपाऽकल्पनप्रयुक्तलाघव सुस्पष्टमेव । यदि साक्षात्सम्बन्धेना वयविनि शुक्लादिप्रतीतेरनुभूयमानायास्तद्वाचाज्ञेयमभ्युपगन्तु शक्य, तर्हि चित्रपटेऽपि साक्षात्सम्बन्धेनैव चित्रप्रतीतेरि नानाशुक्लादिरूपप्रतीतेरभ्यनुभूयमानत्वात् तद्वाचाज्ञेय परम्पराम्बन्धेनावयवगतशुक्लादिरूपविषयकत्वेन तत्रावयविनि शुक्लादिप्रतीत्युपपादन युक्तिसङ्गतम्, किन्तु साक्षात्सम्बन्धेनैव शुक्लादिविषयकत्वेनैव, एतेन चित्रपटाहो न शुक्लादिविशेषरूप, नापि चित्ररूप, किन्तु सामान्यमेव रूप चित्रपटप्रत्यक्षान्यथाऽनुपपत्त्या कल्पनीयम्, अन्यथा प्रत्यक्षप्रति उद्भूतरूपस्य कारणत्वेन तद्भावे चाक्षुषतत्प्रत्यक्षमेव न स्यादित्यपास्तम् । रूपविशेषाणामभावे चित्ररूपः पट इति प्रतिमासो न भवेत्, किन्तु रूपान् पट इत्येव स्यात्, यद्यपि अशेषविशेषविनिर्मुक्त सामान्य नास्त्येवेति तथा कल्पना न सम्भवत्येव, तथापि यदि कश्चिदेव कल्पयेत् सोऽपि उक्तप्रतिमासाभावाप्रमक्त्या निरसनीयः, अत्र यथा चित्ररूपः पट इति प्रतिमासो न भवेदिति दोषस्तथा तत्तदवयववच्छेदेन चित्रपट चक्षुस्तन्निरुपे सति शुक्ल. पट. पीतः पट इत्यादिप्रतिमासानामनुभूयमानानाम मात्रप्रसङ्गोऽपि दोषः, म चैकाधिकरण्यावच्छिन्नशुक्लादिसमुदाय एव कथञ्चित्समुदायतिरिक्त चित्रमिति शुक्लादिग्रह मत्थेय चित्रप्रतिभास इति चित्रप्रतिमासाभावःशुक्लादि प्रतिमासाभावप्रयुक्त एवेति हेतोश्चित्रप्रतिमासाभावप्रसक्त्या शुक्लादिप्रतिमासाभाव प्रमक्तिरभ्याधिस्तैः, यतः शुक्लादीनां द्विव्यादीनां तत्र प्रतिमासे तत्समुदायात्प्रमक्त्यस्य

चित्ररूपस्यापि प्रतिभासस्यादेव, तस्माच्चित्रपटे चित्ररूपमिव शुक्लादिनानारूपमप्युरीक-  
 र्चव्यम् । किञ्च यदि चित्ररूपमिव शुक्लादिनानारूपमपि पटे स्वीक्रियते तदा शुक्लाद्यैकैका-  
 वयवावच्छेदेन चक्षुस्मन्निकर्षे शुक्लाद्यैकैकरूपस्य प्रत्यक्ष शुक्लपीतादिनानावयवावच्छेदेन  
 चक्षुस्मन्निकर्षे चित्ररूपस्य प्रत्यक्षमिति विभाग उपपद्यते, चित्ररूपस्यैकस्यैव सद्भावे तु  
 शुक्लाद्यैकैकावयवावच्छेदेनापि चक्षुस्मन्निकर्षे चित्ररूपप्रत्यक्ष स्यात्, तत्र तत्सद्भावात्,  
 शुक्लादिनानारूपाणामभावेन तत्प्रत्यक्ष न स्यात् । ननु रूपप्रत्यक्ष तत्र भवत्येव, चित्रत्व-  
 प्रत्यक्षे तु परम्परयाऽवयवगतनीलेतररूपपीतेतररूपादिग्रहस्य कारणत्वेन शुक्लाऽवयवावच्छे-  
 देन चक्षुस्मन्निकर्षे शुक्लेतररूपग्रहस्याभावेन, एव पीतावयवावच्छेदेन चक्षुस्मन्निकर्षे पीते  
 तररूपग्रहस्याभावेन कारणाभावादेव न चित्रत्वस्य प्रत्यक्षम्, अत एव च त्र्यणुकावयव  
 गतरूपस्याऽप्रत्यक्षत्वेन परम्परया त्रमरेणापि तस्य ग्रहाभावेन तद्रूपकारणामावात् त्र्यणुक  
 चित्रस्य प्रत्यक्ष न भवतीति स्वीकुर्वन्त्युदयनाचार्या । यदि च चित्रत्वनिष्ठत्रिपयतामम्बन्धेन  
 प्रत्यक्षे स्वविशेष्यममवेतममवेतत्वसम्बन्धेन परम्परयाऽवयवगतनीलेतरपीतेतररूपादिमन्त्र-  
 ग्रहस्य हतुत्वे परम्परया घटावयवगतनीलेतररूपादिग्रहस्यापि स्वविशेष्यममवेतममवेतत्व  
 सम्बन्धेन चित्रपटगतचित्ररूपगतचित्रत्वे सत्त्वम्, यतः स घटावयवगतनीलेतररूपादिग्रहः  
 तद्विशेष्यो घटः तत्समवेत घटगतचित्ररूप तत्समवेतत्व चित्रत्वे, तच्च चित्रत्व यथा घटगत  
 चित्ररूपे तथा घटगतचित्ररूपेऽपीति तादृशग्रहात्मकहृतेऽस्मिन्वाच्छुक्लात्रयवावच्छेदेन चित्रपटेन  
 सह चक्षुस्मन्निकर्षे सति चित्रपटगतचित्ररूपवृत्तिचित्रत्वस्य प्रत्यक्षापत्तिस्स्यादिति निभाव्यते,  
 तदा विशेष्यतामम्बन्धेन चित्रत्वप्रकारकप्रत्यक्ष प्रत्येन परम्परयाऽवयवगतनीलेतरपीते  
 तररूपादिमन्त्रग्रहस्य स्वविशेष्यममवेतत्वसम्बन्धेन हतुत्वम्, एवञ्च घटावयवगतनीलेतर  
 रूपादिग्रहस्य स्वविशेष्यममवेतत्वसम्बन्धेन घटगतचित्ररूप एव सत्त्वं, न तु चित्रपटगत  
 चित्ररूपे इति न तस्योक्तकारणामावात् प्रत्यक्षापत्तिः, न चावयवगतनीलेतररूपादिग्रहस्य  
 नीलेतररूपत्वाद्यवच्छिन्नप्रकारताकग्रहत्वेन हतुत्व न सम्भवति, यथावयवगतनीलेतररूपा-  
 दर्शनं नीलेतररूपत्वादिना ग्रहः, किन्तु पीतत्वनिलत्वशुक्लत्वादिनां ग्रहस्त्वप्यवयवविचित्र  
 प्रत्यक्षोत्पत्तिर्भवति, न च तत्र नीलेतररूपत्वादिना ग्रह इति व्यभिचारेण तद्रूपेण चित्र  
 प्रत्यक्ष प्रति कारणत्वाऽसम्भवादिति वाच्यम्, विलक्षणचित्रप्रत्यक्षमिति नीलेतररूपत्वादिना  
 ग्रहस्य कारणत्व तद्विलक्षणचित्रप्रत्यक्षमिति तु नीलेतरपीतादिनाऽवयवगतनीलेपीतादि  
 ग्रहस्य कारणत्वमित्यत्र कार्यतावच्छेदरुमेदेन कारणताभेदापगमे व्यभिचाराऽप्रमक्तेः ।  
 अथवा नीलेतररूपादे, पीतादश्च नीलेतररूपत्वादिद्वयाप्यवयवग्रहस्य चित्रप्रत्यक्षे कारणत्वं  
 नीलेतररूपत्वादिद्वयाप्य च नीलेतररूपत्वं पीतत्वादिकञ्चेति नीलेतररूपादिग्रहस्य पीतादि  
 ग्रहस्य च नीलेतररूपत्वादिद्वयाप्यवयवप्रकारकग्रहत्वेनैकरूपेण कारणत्वसम्भवाद्द्वैलक्षण्यस्य

कार्यतावच्छेदकक्रीटारप्रवेशेऽपि न व्यभिचारः, तथा चोक्तकारणामात्रात् व्यणुक्चित्ररूप  
 प्रत्यक्ष न भवतीत्युदयनाचार्यमत सद्गतमेवेति चेत्, अत्र ममाधीयते-अवयवगतनीले  
 तररूपपीतेतररूपादिमन्त्रग्रहरूपकारणस्य पूर्वोक्तस्यामात्रात् व्यणुक्चित्ररूपप्रत्यक्षानभ्युपगमे  
 चतुरणुक्चित्रप्रत्यक्ष न स्यात्, यतो यत्र चित्ररूप तत्र शुक्लादिनानारूप यदीष्टं भवता  
 स्यात्तदा व्यणुक्चित्ररूपाग्रहेऽपि शुक्लादिरूपग्रहसम्भवेन नीलेतररूपादिग्रहत्वेन तस्य चित्र  
 रूपग्रहस्य प्रति कारणत्वतस्तेन चतुरणुक्चित्रप्रत्यक्ष भवदुक्तकार्यकारणमात्रत्वात्सम्भवेदपि,  
 न च त्वेष्टम्, तथा च चित्रावयववारञ्चचित्रावयवविचित्रग्रहेऽवयवप्रतिशेषकनीलेतररूपत्वादि  
 व्याप्यचित्रत्वात्तच्छिन्नप्रकारकग्रहस्यैव हेतुत्वं वाच्यम्, तद्वत्त्वात् चतुरणुक्चित्रप्रत्यक्ष तदा  
 स्याद्यदि व्यणुक्चित्रप्रत्यक्ष भवेत्, न च मरदुक्तकार्यकारणभावे तत् सम्भवतीति विशेष्य  
 तामभ्यन्धेन चित्रत्वात्प्रकारकप्रत्यक्षे परम्परयाऽवयवगतनीलेतररूपादिमन्त्रग्रहस्य स्वप्रतिशेष्य  
 समवेतत्सम्भन्धेन हेतुत्वं न युक्तम्, तथा च सन्निकर्षमात्रस्यैव हेतुत्वेन यदि चित्रावयवविनि  
 नानारूप नाभ्युपगम्यते तदा शुक्लावयवावच्छेदेनापि चक्षुस्मन्निकर्षे चित्रप्रत्यक्षापत्ति-  
 स्स्यादेवेति चित्रावयवविनि नानारूपमभ्युपेयमिति चित्रावयवविनि शुक्लावयवावच्छेदेन शुक्ल  
 रूपस्यैव प्रत्यक्षमिति निर्गलितार्थः । यदि चावयवविनि शुक्लादिनानारूपस्याऽभावेऽपि न  
 शुक्लावयवावच्छेदेन चक्षुस्मन्निकर्षे सति चित्ररूपप्रत्यक्षापत्तिः, शुक्लेतरनीलेतरपीतेतररूपा-  
 दिमदवयवावच्छेदेनेन्द्रियसन्निकर्षस्य चित्ररूपप्रत्यक्षे कारणत्वेन शुक्लावयवावच्छेदेन चक्षुस्म  
 न्निकर्षस्थले तदऽभावात्, न च यत्रावयवनीलादिगतनीलत्वादिग्रहप्रतिबन्धकदोषसद्भावात्  
 प्रावयवनीलाद्यग्रह चित्ररूपप्रत्यक्ष न मरति, तदपि स्यात्, नीलेतरपीतेतररूपादिमदवयवा  
 वच्छेदेन सन्निकर्षस्य सद्भावात् । यद्यि च तदनुरोधेनावयवगतनीलेतररूपादिमन्त्रग्रहस्यापि  
 कारणत्वं तत्रोपेयते तदा प्रमरेणुचित्रप्रत्यक्षानुपपत्तिस्तदवस्थैवेति वाच्य, अवयवगतनीलादि-  
 गतनीलत्वादिग्रहप्रतिबन्धकदोषामावानामपि चित्रत्वात्प्रत्यक्षे हेतुत्वाभ्युपगमेन तत्र चित्रत्व-  
 प्रत्यक्षापत्तिरारणात् । एवञ्च प्रमरेणुचित्रप्रत्यक्षमभ्युपपद्यते, यतो यत्रैकस्य द्व्यणुक्स्य नील  
 रूपमपरस्य पीतमित्यादिस्थल एव चित्र व्यणुक् भवति, तत्र नीलेतरपीतेतररूपादिमद्व्यणु  
 कारकभाव्यावच्छेदेन व्यणुके चक्षुस्सन्निकर्षो विद्यते, द्व्यणुके महत्त्वाभावादेव न तद्गत  
 नीलादिप्रत्यक्षमिति तत्प्रतिबन्धकदोषस्तत्र नास्तीति तदभावेऽपि विद्यत इति व्यणुक्-  
 चित्रप्रत्यक्ष तत्र स्यादेवेति विभाव्यते, तदा नीलपीतादिव्यक्तीनां भेदात्तद्गतनीलत्वादिग्रह-  
 प्रतिबन्धकदोषाणामननुगतत्वात्तदभावात्तदामप्यनेत्वात्तेषां चित्रप्रत्यक्षे कारणत्वेऽनन्तहेतु  
 हेतुमद्भावकल्पनगौरव स्यात्, अतः कल्पेऽप्येव नीलादिनानारूपेषु चित्रत्वं व्यासज्यवृत्त्य  
 भ्युपगन्तव्यम्, तस्य च समानाधिकरणनानारूपग्रहव्यङ्ग्यत्वं इति नानारूपग्रहे सत्येव चित्र  
 त्वग्रह इति शुक्लाद्येकावयवावच्छेदेन चक्षुस्मन्निकर्षे शुक्लाद्येकरूपस्यैव प्रहातमानाधिकरण-  
 नानारूपग्रहरूपव्यङ्ग्यत्वाभावन न तत्र चित्रत्वाग्रह । न चैवमपि गौरवम्, समानाधिकरणनाना-

रूपाणामननुगतत्वेन समानाधिकरणनीलपीतग्रहः, एव समानाधिकरणरक्तशुक्रग्रहः, इत्यादीनां भिन्नानां भिन्नरूपेण कारणत्वेनानेकविधकारणत्वरूपमद्वादिदिति वाच्यम् । समानाधिकरणनानारूपग्रहाणां भेदगर्ममामानाधिकरण्यमभ्यन्धेन रूपविशिष्टरूपग्रहत्वेनैकरूपेण कारणत्वेनैव चित्रत्वरूपप्रत्यक्षप्रत्यक्षभ्युपगमेनोक्तमौरवाभावात् । यत्र रूपविशिष्टरूपग्रहो नास्ति तत्र मन्त्रिकर्षमात्राचित्रत्वावगाह्येन चित्रप्रत्यक्षं भवति । एतच्च परम्परयाऽप्यवगतनीलेतरपीतेतररूपादिमत्तग्रहस्य चित्रत्वरूपप्रकारकचित्रप्रत्यक्षे हेतुत्वरूपेऽपि भवदभ्युपगमे ममानम्, एतत्प्रत्यक्षे चित्ररूपमतिरिक्तं नास्ति, किन्तु नानारूपाणामेव चित्रत्वरजात्या व्यामज्यवृत्तिरूपया ग्रहणे सति चित्रत्वव्यवहारो भवति । यदि च यत्र शुक्लादिनानारूपाण्यवयवविन्यनुभूयन्ते तत्र नानावयवावच्छिन्नपर्याप्तवृत्तिक्रमेण चित्ररूपमप्यनुभूयते, तस्य चैकावयवावच्छेदाभावादेवैकावयवावच्छेदेन चित्राभावप्रतीतिरभ्युपगद्यते तदा चित्रावयवद्वयस्य शुक्लादिनानारूपस्वभावात् चित्रैकरूपात्मकस्वभावात्त्वञ्चैकानेकचित्रद्रव्यस्वभावः स्याद्वात्तच्च विद्धिः परिदृष्टोऽभ्युपगन्तव्य एव, तत्र शुक्लादिस्वभावो देशनियतधर्मः, चित्रस्वभावस्कन्धनियतधर्म इति देशग्राहकमामग्रीतः शुक्लादिग्रहः, स्कन्धग्राहकमामग्रीतः चित्ररूपस्वभावग्रहः इति रुदाचिदेशावच्छेदेनेन्द्रियमन्त्रिकर्षे शुक्लाद्यैकैकरूपवत्तया शुक्लः पट इत्याकाररु चित्रपटप्रत्यक्षं रुदाचिच्च स्कन्धावच्छेदेनेन्द्रियमन्त्रिकर्षे चित्रः पट इत्याकारकं चित्रप्रत्यक्षमिति नियम उपपद्यते, अनयैव दिशा द्विहस्तादिमितेऽत्रयत्रिणि देशावच्छेदेन पितस्तादिमितानेरुपरिमाणवत्त्व स्कन्धावच्छेदेन द्विहस्तादिमितैरुपरिमाणवत्त्वमित्येकानेरुपरिमाणवत्त्वमपि स्वीक्रियते, तत्र च नानापरिमाणानि देशनियतधर्मात्मकानि, विवृष्टितैरुपरिमाणं तु स्कन्धनियतधर्मात्मकमिति देशावच्छेदेन सन्निकर्षे देशनियतपितस्तादिपरिमाणस्य प्रत्यक्षं स्कन्धावच्छेदेन सन्निकर्षे स्कन्धनियतविवृष्टितपरिमाणस्य प्रत्यक्षम्, एव चित्ररमस्पर्शगन्धादिस्थलेऽपि ज्ञातव्यमिति दिक् । चित्रद्रव्यमेव स्वमामग्रीप्रभवमभ्युपगन्तव्यम्, तत एव चित्रवदितररूपोभयस्वभावस्य द्रव्यस्य सम्भवाः, न त्ववयवगतशुक्लादिप्रत्येकरूपेणात्रयत्रिणि शुक्लादिममानजातीयरूपस्य शुक्लेतररूपादिपटून्नात्रयवगतेन तत्र चित्ररूपस्य चोत्पत्तिरित्येकान्ताभ्युपगमो युक्तः, तथा सति -यत्रैकस्मिन्नवयव उत्कृष्ट नीलमपरस्मिन्नापकृष्ट नीलं तदन्यस्मिन्नवयवेऽपकृष्टतर नीलं तेष्ववयवत्रिणि चित्ररूपमृत्पद्यते, उत्कर्षापरकर्षाश्च नीलादिप्रत्येकगता अनन्तप्रकाराः, तैरुपयुक्तानि चित्ररूपमनन्तप्रकारं तत्र नैयायिकपरिकल्पितनीलेतररूपादिपटून् नास्ति । अथ च विवृष्टिं भवतीति व्यभिचारेण नीलेतररूपादिपटूकस्य चित्ररूपसामान्यमिति काण्डेन न सुम्भवाति, विजातीयचित्रमिति नीलेतररूपादिपटूकस्य कारणत्वं तदन्यत्रिजातीयचित्रमिति उत्कृष्टनीलाऽपकृष्टनीलादिममुदायस्य कारणत्वमित्यभ्युपगमे तरतमभावन नीलाऽत्रानात्रातिभेदानामनन्तत्वेन तद्वत्समुदायप्रभवचित्ररूपैजात्यानामप्यनन्तत्वेन तद्विजातीयचित्रमिति

तत्तद्विजातीयोत्कृष्टापकृष्टनीलादिसमुदायस्य कारणत्वेऽनन्तकार्यकारणभावप्रसङ्गतो गौरवं  
स्यादतो शुद्धिहानिभ्यां पट्टस्थानपतितवर्णपर्यायचित्रद्रव्यं स्वामाग्रीप्रभवमेवाभ्यु-  
पेयम्, न च तत्र नीलत्वादिकमप्यवगतनीलादिकार्यतावच्छेदक, चित्रत्रयोत्कृष्टापकृष्टाप-  
वगतनीलादिकार्यतावच्छेदकम्, पट्टादिकृष्ट तन्त्रादिकार्यतावच्छेदकमित्येव तत्तत्कारण  
नियम्यतत्तत्कार्यतावच्छेदकमपि मद्भावेन एकानेकस्वमात्रचित्रद्रव्यत्वस्वार्थसमाजमिद्वत्वेन  
न तदत्रच्छिन्नम्प्रति कश्चिदकारणत्वमिति चित्रद्रव्यस्य स्वामाग्रीप्रभवत्वाभ्युपगमो न  
सम्भवतीति वाच्यम्, उक्तदिशाऽर्थसमाजमिद्वत्तया परसमर्थितस्य निरुक्तचित्रद्रव्यत्वस्य  
तथागव्यत्वस्य स्वभावविशेषस्य कार्यतावच्छेदकत्व स्वीक्रियते, तथाभवत्स्वभावबलाद्यो  
त्पद्यमान तद्रव्यमेकानेकस्वभावमेवोत्पद्यते, न तु तदन्तःप्रविष्टनीलत्वचित्रत्वादिधर्माणां  
स्वत्वप्रतिनियतमामग्रीबलाच्च सम्पत्तिः, अतो वस्तुतो नार्थसमाजमिद्वत्त्वं निरुक्तचित्रद्रव्य  
त्वस्वति । एतेन यत्र शुद्धाद्येकैकावयवावच्छेदेन चक्षुस्तधिकर्षस्तत्रैकचित्ररूपपक्षे चित्र  
प्रत्यक्षापादनं यत्प्राकृतं तत्र युक्तम्, चित्रप्रत्यञ्जनकतावच्छेदकतया चक्षुस्त्योगगतवैजा  
त्यस्य स्वीकारेण तादृशवैजात्यस्यैकावयवावच्छेदेन चक्षुस्त्योगेऽभावेन तत्र चित्रप्रत्यक्षापच्य  
सम्भवादिति निरस्तम्, यद्दमेक्षिकयाऽनन्तान्तरचित्रानुभवादनन्तवैजात्यरूपनापत्ते  
रत्यन्ताऽप्रामाणिकतादिति दृष्टव्यम् । चित्रानयप्रिनि नैक चित्ररूप किन्त्वव्याप्यवृत्तीनि  
शुक्लनीलादीनि नानारूपाण्येवेति नव्यनैयायिकमतेऽप्यवयवगतोत्कृष्टापकृष्टनीलाभ्याम  
वयविन्यवच्छिन्नयोर्कृष्टापकृष्टनीलयोरुपपत्तिः स्यात्, तत्तदवयवावच्छिन्नोत्कृष्टनील  
म्प्रति कारणस्य तत्तदवयवगतोत्कृष्टनीलस्य तत्तदवयवावच्छिन्नापकृष्टनीलम्प्रति कारणस्य  
तत्तदवयवगतापकृष्टनीलस्य च स्यात्, तथा समवायमन्वयेन नीलम्प्रति स्वसमवायि  
समवेत्तत्रमन्वयेन नील कारणमिति तद्घटितमामान्यसामग्रीबलादनच्छिन्नस्य नीलस्य  
चोत्पत्तिः प्रसज्यत, यदि च अवयवगतनीलतरत्वाद्यवच्छिन्न प्रति अवयवगतनीलतर  
त्वादिनाऽवयवगतनीलतरादरेण कारणत्वमुपेयत, न तु नीलम्प्रति नीलस्य सामान्यतः  
कार्यकारणभाव इति न तत्रानच्छिन्नस्य नीलस्योत्पत्तिः, तदा एतावत्कारणसमुदाय-  
लक्षणमामग्रीसत्त्वं नीलत्वावच्छिन्नस्योत्पत्तिरिति निश्चयमात्रलक्षणाकस्मिन्नत्वतो नीलत्वा  
वच्छिन्नार्थितया प्रवृत्तिविरह आसज्यत, यत्र चोत्कृष्टापकृष्टनीलादिलक्षणावच्छिन्ननील  
विशेषाः प्रतीयन्ते तत्रानच्छिन्न नीलसामान्यमपि प्रतीयते तादृशप्रतीतेर्नीलमामान्यानुत्प  
त्तावनुपपन्नमानस्य स्यात्, यत्र च पटे क्वलशुक्लमेव रूपं तत्रापि स्वल्पबहुवयवावच्छेदेन-  
न्द्रियमन्त्रिरूपेऽणुमहस्योपतशुक्लविशेषाभ्युपगमं शुक्लमामान्यं च प्रतीयते एवेत्येकानेक-  
रूपविशिष्टतया द्रव्यप्रतीतिरिक्तानेकार्णविशिष्टद्रव्यपरिमाणाम्पुपगमं विना न कथमपि  
सम्भवतीत्येकानेकस्वरूपद्रव्याभ्युपगमं स्याद्वादिनं प्रमाणचूलाभवलम्भते । एतेन चित्र-  
रूपस्य व्याप्यवृत्तेरुपमाभ्युपगमपक्षे रूपमात्रस्य सर्वत्र व्याप्यवृत्तेरेवाभ्युपगमात् तस्य

किञ्चिद्वच्छेदेन प्रत्यक्षं, यदुपपत्तये कारणान्तर कल्पनीय भवेत्, अद्याप्यवृत्तिनीलाद्यभ्युपगमपक्षे तु किञ्चिद्वच्छेदेन तत्प्रत्यक्षोपपत्तये कारणान्तर कल्पनीयमिति गौरवमिति न, यतोऽव्याप्यवृत्तिसयोगादिप्रत्यक्षानुरोधेन अद्याप्यवृत्तिद्रव्यमत्रेतनिष्ठत्रिपयतामम्बन्धेन चासुपप्रत्यक्षतराच्छिन्नमिति प्रति चक्षुरिन्द्रियस्य स्वसयोगावच्छेदकाच्छिन्नमत्रायामम्बन्धावच्छिन्नाधारतामन्निकर्षेण यत्कारणत्व तेनैवाव्याप्यवृत्तिनीलादिप्रत्यक्षस्य सम्भवे न तदर्थं कारणान्तर कल्पनीय, यत्र नीलपीतरूपालिकाभ्यामेक नीलपीतोमयरूपत्कपालद्वितीयमपि तथाविधमेव कपालं ताभ्यामारब्धस्य घटस्य नीले नीलकपालिकैः परम्परावच्छेदिके युक्तमन्निकर्षतश्चक्षुषा तत्प्रत्यक्षमप्युपपद्यत इति निरस्तम्, आत्मा मूलोभयावच्छेदेन वृक्षे दीर्घतन्तुसयोगस्यानुभवसिद्धस्य प्रत्यक्षे चक्षुषो यथा स्वसयोगावच्छेदकात् आत्मा मूलोभयावच्छिन्नमत्रायामम्बन्धावच्छिन्नाधारतामन्निकर्षेण कारणत्व तथा नीलनीलतरोभयाद्यवच्छिन्नविलक्षणरूपस्यानुभवसिद्धस्य प्रत्यक्षे चक्षुषः स्वसयोगावच्छेदकनीलनीलतरोभयपर्यायावच्छेदकताकमत्रायामम्बन्धावच्छिन्नाधारतामन्निकर्षेण कारणत्वकल्पनस्यावश्यकत्वात्, यदि चोक्तसयोगस्थले नैकः सयोगोऽवयवद्वयावच्छिन्नः, किन्वेकैकावयवत्रयवच्छिन्नमयोगद्वय एव, एव नीलनीलतराभयवोभयावच्छिन्नमपि न विलक्षणैकरूप, किन्तु नीलावयवत्रयवच्छिन्ननीलमत्रयविविन्यन्यदन्यश्च नीलतराभयवच्छिन्ननीलतरमिति न नीलनीलतरोभयपर्यायावच्छेदकताकमत्रायामम्बन्धावच्छिन्नाधारतामन्निकर्षकल्पनस्यावश्यकत्वमित्युच्यते, तदा सजातीमत्रिजातीपदार्थेषु जायमान ममूहालम्बनज्ञान यथैक तथा नीलनीलतराभयवच्छिन्नैश्च सर्वैरत्रयविविनि स्वस्यावच्छेदन समुत्पद्यमान रूपमविरोधाद्यापकमेवोत्पद्यत इति वृत्तिकृतोऽभिमतमसङ्गतमापद्येत, ननुपदर्शितसयोगस्थले तत्तदवयवावच्छेदेन सयोगद्वयमप्यनुभूयते कार्त्स्न्येनैकसयोगोऽप्यनुभूयत इत्येकानेकसयोगकल्पन तथैकैकानेकरूपकल्पनमपि युक्तमेवेत्युच्यते तदैकानेकरूपवस्तुस्वीकर्तृस्याद्वादिन एव जेतुता, एतेन नानारूपवदवयवारण्ये व्याप्यवृत्तीन्त्येव नीलपीतादीन्युत्पद्यन्ते, नीलादिक प्रति नीलेतरादिप्रतिबन्धकत्वनीलादिकारणत्वकल्पनापेक्षया व्याप्यवृत्तिनीलादिकल्पनाया एव न्याय्यत्वादित्यपि परेषां मत् निरस्तम्, नीलरूपालावच्छेदेन चानुसन्निकर्षे पीताद्युपलम्भापत्तरेपि तत्र दोषत्वात्, तदाहुः सम्मतिटीकाकृतः—“ आश्रयव्यापित्वेऽप्येकावयवमहितेऽप्यत्रयनिष्पलम्भमानेऽपरावयवानुपलब्धावप्यनरूपप्रतिपत्तिः स्यात्, सर्वरूपाणामाश्रयव्यापित्वादिति ”। न च नीलाद्यवयवावच्छिन्नमन्निकर्षस्य नीलादिप्राहकत्वकल्पनया न दोषः, यत्र नीलपीतरूपालिकाभ्यां नीलपीतरूपद्वयत्कपालमेकमपरश्च तथा ताभ्यां नीलपीतोमयरूपघटस्योत्पत्तिः, तत्र निरुक्तघटे नीलरूपस्य पीतरूपालिकावच्छिन्ननीलपीतोमयरूपालावच्छेदेन चानुसन्निकर्षात्प्रत्यक्षापत्तेः। नीलप्राहकस्य नीलपीतोमयरूपवत्कपालात्मकनीलाद्यवयवावच्छिन्नमन्निकर्षस्य मद्भागात्, न च नीलप्रत्यक्षे



केवलनीलावयवावच्छिन्नसन्निकर्ष एव कारणमिति नीलपीतोभयवत्कपालस्य केवलनीलावयवरूपत्वाभावात्पीतकपालिकायाश्च नीलरूपवत्त्वम्यैवाभावात् पीतकपालिकावच्छिन्ननीलपीतोभयकपालावच्छेदेन सन्निकर्षाद् घटनीलप्रत्यक्षापत्तिरिति वाच्य, यत्र नीलपीतपरमाणुभ्यामेक नीलपीतोभयवद्द्वयशुक्ल तथा द्वितीय तथा तृतीय च द्व्यणुरमुत्पन्न, तैश्च त्रिभिर्नीलपीतोभयवद्द्विर्द्वयशुक्लैर्नीलपीतोभयवत्त्रयणुकमुत्पद्यते तस्य प्रमरेणोर्नीलस्य प्रत्यक्ष न स्यात्, तदवयवस्य द्व्यणुस्य केवलनीलत्वाभावेन तदवच्छिन्नप्रमरेणुचक्षुस्मन्निकर्षस्य केवलनीलावयवावच्छिन्नसन्निकर्षत्वाऽभावात्, नीलपरमाणुरूपावयवपरम्परावच्छिन्नप्रमरेणुचक्षुस्मन्निकर्षस्य केवलनीलावयवावच्छिन्नसन्निकर्षरूपत्वेऽपि तस्य परमाणुसन्निकर्षस्यैव द्रव्याग्राहकत्वेन तद्गतरूपाग्राहकत्वादिति, यथा चोक्तदिशा एकानेकतया रूपस्य चित्रत्व व्यवस्थिति पद्धतिगोति तथा वस्तुमात्रेऽपि, ग्राह्ये यथा चैकानेकतया चित्रस्वभावत्वमनुभवसिद्ध तथा ग्राहके ज्ञानेऽपि, तत्राखण्डाया एकाकारताया सखण्डानाञ्च नानाप्रकारताविशेष्यता सांसर्गिकविषयताना परनिरूपितानां शुद्धानां चानुलोमप्रतिलोमभावेन समानसवित्सवेद्यतानियामकवैचित्र्यशालिनीनाश्च बह्वीनामनुभवात्, अत एव “सायज्ञजोषविरजो तिगुचो छसु सजओ, उवउत्तो जयमाणो आया सामाइय होइचि ” सप्तनयात्मकमहावाक्यार्थजज्ञाने एका विशिष्टा प्रमाणाकारता अनेकाश्चाशिक्षयो नयविषयताः परस्परसयोगजाश्च बह्व्योऽनुभूयन्त इति, यदा च चित्ररूपदृष्टान्तावष्टम्भेन सर्वेषां ग्राह्याणां ग्राहकाणाञ्चानेकान्तात्मकत्वं प्रमाणकोटिमाटीकृतं तदा तन्निराकरणे चित्रे एकानेकरूप रूप प्रामाणिकमभ्युपगच्छन्नैवापिकवैशेषिकैर्कर्तुमशक्यमिति सुप्लूक्तम्—

“ चित्रमेकमनेक च, रूप प्रामाणिक वदन् ।

योगो वैशेषिको वाऽपि, नानेकान्त प्रतिक्षिपेत् ॥ १ ॥” इति ॥६०॥

ये तु स्वीयागमसूत्रतात्पर्यविवेचनाऽकुशलिनः प्रत्यक्षादिप्रमाणबाधितार्थस्याप्यागमस्यान्वपरम्परान्यायेन प्रामाण्यमाश्रयन्ति त परमार्थदृष्ट्याऽनवगतसूत्रतात्पर्याऽर्था एवेति प्रतिपादयितुमाह—

पाठेकनयपहगय, सुत्त सुत्तहरसदस्तुद्धा ।

अचिकोचियसामत्था, जहागमविभक्तपडिचत्ती ॥ ६१ ॥

“पाठेकनयपहगय सुत्त” प्रत्येकनयपथगत सूत्रम्—एकैकरूपद्वहादितत्तन्नयप्रसृततत्तपरवाद्यागमगतं सूत्र ‘अथातो ब्रह्मजिज्ञासा’ ‘जन्माद्यस्य यत’ इत्यादिवेदान्तदर्शनसूत्र, ‘अथातो धर्मजिज्ञासा’ ‘चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः’ इत्यादिमीमांसादर्शनसूत्रम् ।

धर्मविशेषप्रसूताद् द्रव्यगुणकर्ममामान्यविशेषमववायानां पदार्थानां नाद्यमर्थवैधर्म्यां तत्त्वज्ञानाच्चिन्नेयम् ॥ ४ ॥ इत्यादिवैशेषिकदर्शनसूत्रम् ।

प्रमाणप्रमेयसंख्यप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवाद्ब्रह्मवितण्डाहेत्यामामच्छ-  
 लत्रातिनिग्रहस्थानाना तच्चञ्जानाद् निःश्रेयसाधिगमः ॥ १ ॥ इत्यादिनैयायिकदर्शन-  
 सूत्रम्, परलोकिनोऽभावात् परलोकामावः । १ । इत्यादिचार्याक्रमतत्त्वम्, " धूमिकाः  
 सर्वसंस्कारा विज्ञानमात्रमेवेदं मो जिनपुत्राः । यद् इदं त्रैधातुक " इति " प्रासप्राहकोमय-  
 न्युत्तम् " इति चौदशदर्शनसूत्राधीत्य " सुचहरसदसतुष्टा " सूत्रपरमन्दसन्तुष्टाः—  
 'सूत्रधरा वयम्' इति शब्दमात्रमन्तुष्टा अखर्वगर्गविष्टाः, 'अविकोपियमामन्या' अविको-  
 विदसामर्थाः—विष्टिष्टाः कोविदाः पण्डिता रिकोविदाः पण्डिततमाः, न रिकोविदा इत्य-  
 विकोविदा, तेषां सामर्थ्यमिव मामर्थ्यं येषां ते अविकोविदसामर्थ्याः, अविदितसामर्थ्या-  
 परपरहस्यभूतभावार्थाः । कथं ते तथाविधा इत्याशङ्क्या तत्र इत्युपाह—यथागमविमत्त-  
 पद्धिती—अत्राकारप्रक्षेपाद् यथागमविमत्तप्रतिपत्त्य, आगममनतिक्रम्येति यथागम यथा  
 श्रुतमित्यर्थ, यथागममेवार्थिक्ता अविविक्ता प्रतिपत्तिर्बोधो यथां ते तथा, पश्चिमार्थे  
 सूत्रामिप्रायस्तदनमिद्वत्त्वन तद्यतिरिक्तप्रियप्रतिपत्तिरत्वादितरजनवत्, तत्त्वमयाधोनग्रस  
 भङ्ग्यादिमङ्गलितप्रथार्यसूत्रार्थविवचनत परसुद्धिर्हीना इत्यर्थः । अथवा स्वयुध्या एव  
 एकनयदर्शनेन कतिचित्सूत्राणि अधी य कश्चिद् 'सूत्रधरा वयम्' इति गर्विता यथाव  
 स्थिताऽन्यनयमप्यसूत्रधारांरक्षितानाद् अविदितस्वैदुष्यस्वरूपा यथागमविमत्तप्रति-  
 पत्त्य इत्यभिप्रायः ॥ ६१ ॥

अन्यनयानपर्थक्यनयमाश्रित्य सूत्रामिप्राय व्याख्यानयता तथा दूषणोपदर्शनायाह—

सम्मदसणमिणमो सयलसमत्तवपणिञ्जणिहोस ।

अत्तुक्कोसविण्टा सलाहमाणा विणासेत्ति ॥ ६२ ॥

'सम्मदसणमिणमो' सम्प्रदर्शनमेतत्, तर्किक स्वरूपमित्याशङ्क्यायामाह—'सयलसमत्त-  
 वपणिञ्जणिहोस' सकलममाप्तवचनीयनिर्दोषम्—गजनिमीलिकान्यायेन परस्परम्परिपयेतरि-  
 पयापरित्यागप्रवृत्ताशेषतत्तन्नयगोचराजिनप्रवृत्ताशेषमात्रविषयक्रमपूर्वाहलम्बनज्ञानविशेषान्मक  
 सम्प्रदर्शनम्, तत्र स्पष्टान्त्यमित्यादिमरुलधर्मपरिसमाप्तवचनीयतया निर्दोषम्, निरु-  
 क्तस्वरूप सम्प्रदर्शनं स्यात्पदघटितमेव वचनं प्रवर्त्तयति, स्यात्पदश्च तत्रैकैकधर्मप्रति-  
 पादकवचनघटकमपि मदानेकान्तघोतकत्वात्मकलानपि धर्मान्तरबोधयतीति तदुपटित  
 स्पष्टान्त्यमित्यादिवचनं मरुलधर्मप्रतिपादकत्वरुलक्षणमरुलधर्मपरिसमाप्तवचनमिति तत्रवर्त्तक  
 सम्प्रदर्शनं सकलधर्मपरिसमाप्तवचनीय तच्चेन च निर्दोषम् । ननु स्यात्पदघटितं वचनं  
 सकलधर्मप्रतिपादकं चेत्तर्हि मरुलधर्मान्तर्गतान्मिलाप्यधर्मप्रतिपादकमपि स्यात्, शोभित्ति  
 चेत्तर्हि वचनप्रतिपाद्यत्वादनमिलाप्यमाया एव न स्युरिति चेद्, मरुत्, पशोऽन्मि  
 लाप्यमाया अपि स्वस्वसाधारणधर्मस्वरूपेणानभिलाप्याः, न तु प्रमेयत्वादिधर्मवैरादि,

अन्यथा प्रमेयत्वादिविकलास्ते शशशृङ्गकल्पस्म्यु' । अत एवानभिलाषभावे प्रमेयत्वादिना स्याद्वचनव्ययं स्वासाधारणधर्मस्वरूपेण स्याद्वचनव्यय इत्यादिसप्तमङ्गीमङ्गटना युज्यते, नान्यथेति । तर्हि कुर्वन्तीत्येव क्रियाकाङ्क्षायामाह—' विणासेति ' विनाशयन्ति, ते के इत्याशङ्काया तत्कर्तृभूतपदमाह—' अतुक्कोमपिगङ्गा मलाहमाणा ' आत्मोर्कपिनिष्ठाः श्लाघमानाः । अयम्भाव -एकनयनादिनस्त्वपिषे सूत्राभिप्राय व्याख्येयं सूत्रचरितार्थी-करणेनात्मोत्कर्षणं निष्ठा अनेकान्तकराम्भितवस्तुबोध प्रत्यनादरमानप्रदर्शनेन स्याद्वाद तत्रप्रतिपादकागमप्रत्यनीकाः ' वयं सूत्रधरा ' इत्येव स्व प्रथमन्तः सम्प्यदर्शितं न स्वात्मनि व्यवस्थापयन्ति ॥ ६२ ॥

अथ न ते आगमप्रत्यनीकास्तद्भक्तत्वात् तद्देशपरिगानवन्तश्चेति कथं तद्विनाशयन्तीत्याशङ्कानिष्टस्यर्थमाह—

न ह्यसासनभक्तीमेत्तण्ण सिद्धतजाणओ होइ ।

न विजाणओ वि णियमा पण्णवणाणिच्छओ णाम ॥ ६३ ॥

' न ह्यसासनभक्ती ' इत्यादि—न खलु ज्ञानभक्तिमात्रेण सिद्धान्तज्ञाता प्रमाण गोचरानन्तधर्माध्यासितैकैकरस्तुप्रतिपादकस्याद्वादसिद्धान्तस्य ज्ञाता भवति, न च सिद्धान्तप्रतिपाद्यस्याद्वादगर्भयथाऽवस्थितवस्तुतत्रपरिज्ञानमन्तरेण भावसम्पत्त्वम्, जिनप्रवृत्तमिन्नाऽपक्षाऽनिरुद्धनित्यानित्यत्वादिस्याद्वादधर्माङ्कितनिखिलमात्रागाहिसमूहात्मनापाय ज्ञानात्मरुचिरूपत्वात्तस्य, स्याद्वादतत्ररूपेणाज्ञातस्यार्थस्य तद्रूपेण रुचिप्रियत्वात्तनुपपत्तेः, अतथाभूतार्थज्ञानस्य च परमार्थदृष्ट्याऽवग्रहादिरूपतयाऽनेकान्तप्रियस्यपि तदावरणदोषेणानेकान्तविषयरूपेणानुच्छितस्य तथा रोचयितुमशक्यत्वात्, यच्चात्मादृशां प्रमादप्रस्ताना प्रवचनानुराग एव शुभोपाय इति मन्यमानानां सासनभक्तिमात्रेण श्रद्धानुसारिणां सम्पत्त्व तत् ' सत्स्वरूपादिमार्गणाभ्यानैस्तन्निर्णयो भारतम्पत्त्र, मामान्यतस्तु द्रव्यसम्पत्त्वम् ' इति ज्ञानविन्दुवचनात् तेषामोषतो प्रवचनानुरागमात्रेण " तदेव सत्यं निश्चयं यज्जिनेन्द्रैः प्रवेदितम् " इति ज्ञानाहितयामनारूपं द्रव्यसम्पत्त्वमेवेति जानीहि, ' ण विजाणओ वि णियमा पण्णवणाणिच्छओ णाम ' न विज्ञाताऽपि जीवादितत्रैकदशविज्ञाताऽपि, नियमात् प्रज्ञापनानिश्चितो नाम—नामति ज्ञोमलामन्त्रणे, अनेकान्तात्मरूपस्तुस्वरूपपथार्थ-प्ररूपणाया निश्चितो भवति, एकदेशज्ञानगतस्मरूपपर्यायविशिष्टवस्तुज्ञानविकलतया सम्पत्त्वत्प्ररूपणाऽसम्भवात्, तथा च पूर्वापरैकवाक्यतया सकलानन्तधर्मात्मकजीवादितत्रप्रतिपादकरूपमन्दर्भस्य प्रमाणनपद्वारणं प्रवृत्तस्य तात्पर्यज्ञातेन सिद्धान्तज्ञाता, न पुनरपरिहृतविरोधवदकदशज्ञाता, तस्यैकनपद्वारा प्रवृत्तत्वात्, अत एव न स स्याद्वादप्ररूपणार्था सम्पत्त्वसमर्थे इति सिद्धम् । जीवाजीवासनादिमत्प्रपदार्थतत्रनिरूपणं चूडङ्गीकायामसत्कृत

अथवा १ ॥ १३

तन्नाशयप्रत्ययविक्रमदीक्षया च विल्लरेण कृतमिति तत एव चावसेयम्, ग्रन्थगौरव-  
मीत्यां नैह प्रतन्वते ॥ ६३ ॥

कृत्वाध्वरसंविग्ध सारवद् विश्वतो ह्रस्वम् । अन्तोममनवद्यञ्च, सूत्र सूत्रमिदो विदुः  
॥ १ ॥ इति लक्षण सूत्रम्, अत एव महापुरुषप्रणीतत्वेन गम्भीरार्थमिति न तन्मात्र  
प्रमाणनयनार्थान्यर्थावबोधमम्, किन्तु पदार्थवाक्यार्थमहावाक्यार्थैरन्वयार्थमेदमिच-  
व्याख्यानद्वारंति प्रतिपादयितुमाह—

सुप्त अन्यनिमेषेण न सुप्तमेत्सेण अत्थपडिचत्ती ।

अत्थगर्ह उण णयवायगहणलीणा दुरभिगम्मा ॥ ६४ ॥

'सुप्त' अत्रार्थैर्बहुधांश्च सूचयतीति सूत्रम्, 'अन्यनिमेषेण' अर्थने परिच्छिद्यत  
वर्ष, स च द्विविध, तत्रैकोऽर्थसूत्रेण सूत्रितः साक्षात्सूत्रस्याऽभिधेयः, द्वितीयश्च सूचि-  
तोऽर्थस्याऽऽश्रितः, सामर्थ्यगन्प इति यावद्, अत एव चतुर्दशभिरपि पूर्वैः कश्चिन्नाशब्द,  
कश्चित् मन्वन्तया सर्वोऽप्यभिलाष्यः पदार्थोऽभिधीयत एवेति विशेषावश्यकृतीकोक्त  
सूत्रेण, तस्य निमन स्वान सूत्रम्, अनन्तार्थसूत्रमेव सूत्रम्, अर्थप्रतिपत्तिश्च न निर्युक्त्या  
दिनिषेधसूत्रमात्रेण, यत् 'सूत्र केवलसुप्त जीहा पुण होइ पायडा अत्यो ॥ १५५ ॥'  
इत्युपदेशस्योक्तेर्व्याख्यानरहित सूत्र मूक मूकपुरुषतुल्यम् कस्यचिदर्थस्याऽवाचकम्,  
सूत्रमात्रेण प्रमाणनयनयगर्मेतात्त्विकार्याऽप्रतीतेः, अर्थ' पुन' प्रकटा जिह्वा, परावबोध  
इत्युक्तम्। अर्थः पुनः—'पयवकमहावक्त्यमेदपञ्च च एत्थ चत्तारि । सुयभावाऽवगमग्नि  
इति पुराणा विणिदिह्वा ॥ ८५९ ॥' इत्युपदेशपदोक्तेः सूत्रभावावगमहेतुभूत, पदार्थ  
वाक्यार्थमहावाक्यार्थैरन्वयार्थमेदेन चतुर्धा मणितः । तत्र पदार्थो यथाश्रुतार्थः, पयते  
व्यर्थेऽर्थः सामान्यरूपोऽचालिताऽप्रत्यवस्थापितो येनेति व्युत्पत्तेः । तदाह—'अत्थपदेण हु  
जमा एष पय होइ मिदु' इति । वाक्यार्थो दूषणोक्तिलक्षणचालनात्मकः, महावाक्यार्थश्च  
दूषणा दूषणपरिहारलक्षणप्रत्यवस्थानायोच्चरितस्य वाक्यममूहात्मकमहावाक्यस्वार्थः, ऐद  
म्यार्थश्च तात्पर्यार्थः । एव प्रतिशून्यसूत्रक्रमेण व्याख्याने निश्चितप्रामाण्यरु सम्प्रदाने  
शुल्लक्ष्म्य निराकाङ्क्षप्रतीतिरूपं स्यात्, तच्च वाक्यार्थादिज्ञान शब्दप्रयोज्यमतिरूप भुत-  
शास्त्रमन्त्र कुर्वते श्रुतवृद्धाः, अत एव ममानाक्षरलाभानां चतुर्दशपूर्वविदामपि इहस्थान  
परितत्त्व यथोक्ताध्वरलामानुमारिभिरेव तैस्तैर्गम्यार्थविषयकैः क्षयोपशमवैकल्यादिचित्रै-  
र्गतिविशेषैश्च भूयत, तथा चोक्त विशेषावश्यकभाष्ये—'अक्षरलक्ष्मेण समा  
पार्थिवैरेदि । न त्रि य मईविसेसे सुयनाजन्मतरे जाण । १४३ ।' इति ।  
त्रि च एवडा ॥ ८५६ ॥' इत्युपदेशपदवचनाद् जिह्वातुल्य

कार्यमापेक्षसूत्रेण निश्चितप्रामाण्यकृत्वात्पर्यायप्रतीतिः, न तु सूत्रमात्रेणेत्याह ' न सुवमेवेव  
 अत्यपद्विवृत्ती ' न सूत्रमात्रेणार्थप्रतिपत्तिः, निस्सीममिद्वान्तायाधितपरमार्थप्राहिबुद्धिरत  
 निधिसुगुरुपरम्पराविदितसूत्रार्थमावाचार्यकृतव्याख्यानरहितेन सूत्रेणार्थप्रतिपत्तिः पौनो  
 पर्यायाधितार्थप्रतिपत्तिर्न, अविष्टेन सूत्रेणायधार्थप्रतीतेरपि भावात् । यथाऽऽस्थितार्थ  
 प्रतिपत्तिस्सूत्रमात्रेण दुःशक्येत्यत्र हतुगर्भविशेषणमाह ' अत्यगई पुण णयवायगइण  
 लीणा ' ये गत्यर्थास्ते ज्ञानार्था इति यचनाद् अर्थगतिः अर्थस्य यथाऽऽस्थितस्य गतिः  
 प्रतिपत्तिः पुनर्नयवादगहनलीना, " नत्थि णएण निहूण सुत्त अत्थो य जिणमए किञ्चि "   
 इत्युक्तेः शतशतप्रमेदविशिष्टैरैकैरुनगमाद्युद्धादिनयमेदविशिष्टद्रव्याधिकरूपीयार्थिकनय  
 वादादेव गहन विपिनम्, तत्र लीना तस्मात् तद्विषयविपयिकेति यावत्, अत एव  
 ' दुरभिगम्मा ' दुरधिगम्मा दुरवयोधेत्यर्थः ॥ ६४ ॥

अशेषतत्तन्मया अतिसूक्ष्मविषयमत्तमार्थविषयकत्वेन कुशाग्रबुद्धिभिरैवावसेया इति तत्त  
 दृष्टितसूत्रार्थप्रतिपत्तिरपि मन्दमेघमां दुःशक्येत्यतोऽधीतसूत्रेणार्थमम्पादने विधिनाऽधिक-  
 तरो यत्नः कर्तव्यः, यतोऽर्थशुद्धेरुभयविशुद्धिस्सूत्रार्थोभयनिर्मलतारूपा सम्पद्यते, अन्यथा  
 विपरीतशास्त्रार्थप्रतिपत्तिलक्षणविपर्ययाद्यापत्तेःशासनमालिन्वकारित्वात् स्यादित्याशयेनाह-

तम्हा अहिगयसुत्तेण, अत्थसपायणम्मि जह्यच्च ।

आयरियधीरहत्था, एदि मत्ताणं चिलंबेन्ति ॥ ६५ ॥

' तम्हा अहिगयसुत्तेण ' तस्मात् सूत्रादर्धो षलीयानिति हेतोः, अधिगतसूत्रेण  
 अधिगतमधीतमशेष सूत्र येनामौ अधिगतसूत्रः, तेन, ' अत्थसपायणम्मि जह्यच्च ' अर्थ  
 सम्पादने, अर्थविषयकप्रमाणतत्तन्मयस्वरूपावधारणे, यतितन्व दृढयत्नपरेण भाव्यम्,  
 दृढो यत्नः कर्तुंमुचित इति यावत् । अधीत्य सूत्र तत्तन्मयशुक्तिवत्प्रतिस्पर्द्धिनयशुक्ति  
 सत्वादः श्रोतव्यः, श्रुत्वा च सर्वनयसत्त्वादिनिश्चयपरिशुद्धयथावस्थितार्थतया सूत्र भाव  
 नीयम्, प्रमाणपरस्परसापेक्षतत्तन्मयापेक्षानेकान्तार्थप्रतिपादकतया सूत्रयथावत्तात्पर्यमाव  
 नाऽकरणे शासनविडम्बनाकारित्वदोषप्रतिपादनायोत्तरार्द्धमाह— " आयरियधीरहत्था "   
 आचार्यधीरहस्ताः, धीरो लजाविनयशिक्षारूलादिरहितत्वेन घृष्टताशाली हस्तो येषां ते  
 धीरहस्ताः, आचार्याश्च ते धीरहस्ताश्च आचार्यधीरहस्ताः, यथा केचिदनम्यस्तकर्माणीऽपि  
 घृष्टतया कर्मणि व्याघृष्टहस्ताः तथा सद्गुरुपासनादिभिरशिक्षिततत्तन्मयपरमेशास्त्रार्था अपि  
 शास्त्रार्थविवेचने घृष्टतया व्याघृष्टाः, एवम्भूताऽऽचार्याः किं कुर्वन्तीत्याशङ्कयामाह— " इदि  
 मत्ताणं चिलंबेन्ति " महाऽऽज्ञामातृशासन विडम्बयन्तीति ज्ञायताम्, तदेवमनधीताऽश्रुत  
 यथाऽदपरिभाषिताममतात्पर्यां जिनशासन विगोपयन्तीति सिद्धम् ॥ ६५ ॥

पशुश्रुतत्वादिदार्तात्सूत्रतात्पर्याधीनययोधादनिश्चितशास्त्रार्थस्य सिद्धान्तप्रत्यनीकत्वमाह-

जह जह बहुस्तुओ समओ अ, सिस्सगणसपरिवुडो अ ।  
अविणिच्छिओ अ सम्म, तह तह सिद्धतपडिणीओ ॥ ६६ ॥

‘जह जह बहुस्तुओ’ यथा यथा बहुश्रुतः परिपठितब्रह्मागमः श्रुतपञ्चप्रवादितया बहुश्रुतत्वरूपातिमानिति यावत्, ‘समओ अ’ मम्मतश्च सिद्धान्तोपनिषद्विचारवतुरजना विदितशास्त्राभिप्रायानां गतानुगतिकप्रवाहपविताना तदनुवर्तिनां चान्येषां वाशाहम्पर दर्शनमाश्रोदितविस्मयानां मुग्धमतीनां च शास्त्रज्ञानेन बहुमतः, ‘सिस्सगणसपरिवुडो अ’ शिष्यगणसपरिवृतश्च शास्त्रतत्त्वानभिज्ञैर्विनेयवृन्दैः समन्तात् परिवृतश्च ‘अविणिच्छिओ अ’ अविनिश्चितश्च तथाविधपरिवारदर्पाञ्छास्त्रपर्यालोचनेऽनादरादविनिश्चितागमैदम्पर्यश्च, यद्वा सम्यगपरिणतश्च प्रवचने ऐदम्पर्याऽगुणानात् विरत्यप्रहृन्वाद्य, ‘तह तह सिद्धतपडिणीओ’ तथा तथा सिद्धान्तप्रत्यनीकः, यथापदपरिमात्रितागमतात्पर्यस्सोऽपरिणतदेशनया यथास्थितसिद्धान्तस्य विपर्यासापादनान्मुग्धजनानामभ्रष्टोत्पादकत्वेन वस्तुस्थित्या सिद्धान्त विनाशकः, अन्यागमेभ्यस्तच्छाघत्रापादनादिति । अभिहितश्च सिद्धान्ते—

“सन्वन्नूरि पणीय, सो उत्तममइमण्ण गभीर ।

तुच्छकहणाइ हिट्ठा, सेसाण वि कुणइ सिद्धंत ॥ १ ॥

अविणिच्छिओ ण सम्म, उस्सग्गावत्रायजाणओ रोह ।

अविमयपओगओ सिं, सो सपरविणासओ नियमा ॥ २ ॥” इति ।

तदर्थथायम्—सर्वज्ञैः प्रणीत सोऽविनिश्चित उत्तम प्रधानमतिशयेन गभीर भावार्थमार तुच्छकथनया अपरिणतदेशनयाऽद्यः शेषाणामपि सिद्धान्तानां करोति तथाविधलोक प्रति सिद्धान्तमिति गार्थः । अविनिश्चितः समये न मम्यगुत्तमार्गपवादज्ञो भवति सर्वत्रैव, ततश्चाऽविषयप्रयोगतोऽनयोक्तमार्गपवादयोस्तथाविधस्वरपरविनाशको नियमात् कूटत्रैव-वदिति गार्थः ॥ ६६ ॥

तस्मान्छास्त्रमधीत्य तदर्थावधारण विधेयम्, अवधृतश्च तदर्थो प्रमाणनयाभिप्रायतो यथावत्परिभाषनीयः, अन्यथा तत्फलपरिज्ञानविकलताप्रसक्तिसंस्थादित्यत आह—

यद्वा स्याद्वाद एव प्रवचनमारः, एतद्वोधेनैव प्रवचनस्य फलवत्त्वात्, “एमे आया” इत्यादिनापि तन्त्रपरिकर्मितमतीनामात्मा स्यादकः स्यादनेक इत्यादिमत्समज्ञोपरिकरितयोध-स्यैवोत्पत्तेः, एकनयानधारणे मिथ्यादृष्टिवचनाऽविशेषप्रसङ्गात् । अत एव भगवद्बुपदिष्टया प्रवचनमूलत्रिपद्याभ्येकनस्तुनि द्रव्याधिकपर्यापार्थिकनयापेक्षकथञ्चित्त्यत्त्वानित्यत्योमय-धर्मसमावेशलक्षणस्याद्वाद एव प्रोक्त इत्येतस्मिन्ऽभिज्ञाते चरणकरणाजुष्टानस्य निश्चय-शुद्धस्मारोऽविज्ञातस्स्यात्, स्याद्वादमुद्रामुद्रितजीवाजीयादिनयत्तत्रविषयकापायज्ञानारमक कचिरूपमम्परदर्शनशुद्धिशून्यत्वादिति प्रतिपादयितुमाह—

चरणकरणप्पहाणा, ससमयपरसमयमुक्त्वावाचारा ।

चरणकरणस्स सार, निच्छयशुद्धं न याणति ॥ ६७ ॥

‘चरणकरणप्पहाणा’ चरणकरणप्रधानाः—चरण “वयसमणघम्म” इत्यादिमाथोक्तसप्ततिभेदम्, करणमपि “पिण्डविसोही समिद्धं” इत्यादिमाथोक्तसप्ततिभेदम्, ताभ्यां प्रधानाः, तदुभयानुष्ठानसततप्रवृत्त्येकलीनाः, ‘ससमयपरसमयमुक्त्वावाचारा’ स्वसमयपरसमयमुक्तव्यापाराः, स्वसमयपरसमययोर्मुक्तोऽनाद्यतो व्यापारः स्याद्वा दपरिकर्मितधिया विवेचनात्मा यैस्ते तथा, चरणकरणानुष्ठानेनैव कृतार्था वय किमस्माकं तर्ककर्मक्षेत्रेण वादरसिकरमणीयेन स्याद्वादेन प्रयोजनमित्येव द्रव्यानुयोगशास्त्राभ्यासाद्वापृच्छा इत्यर्थः, ‘चरणकरणस्स सार’ चरणकरणस्य चरणकरणानुष्ठानस्य मारस्वजन्यफलोत्कर्षाङ्गम्, ‘निच्छयशुद्धं’ निश्चयशुद्ध परमार्थदृष्ट्याऽन्यदातम्, न तु बाह्यक्रियायत्नोक्तदृष्ट्यैवापाततो रमणीयमित्यर्थः, ‘न याणति’ न जानन्ति, न विचारयन्ति, तदावरणदोषात्, एवञ्च तेषामल्पफलमेव चरणकरणानुष्ठानमित्यर्थः ।

यद्वा पूर्वोक्तयोश्चरणकरणयोः प्रधानास्तदनुष्ठानतत्पराः, स्वसमय-परसमयमुक्तव्यापारावय स्वसमयः प्रमाणनयाभ्या यथावस्थितानेकान्तात्मकवस्तुतत्प्रतिपादकत्वात्, अयञ्च परसमयः प्रमाणान्तरवाधितैकान्ततत्त्वप्रतिपादकत्वात्, न चात्र प्रमाणान्तरवाधितत्वस्य विशेषणस्याऽसिद्ध्या तद्विशिष्टोक्तहेत्वसिद्धिरिति वाच्यम्, तत्त्वज्ञयप्रवर्तिततत्त्वसमयान्तरत्वेषु नयान्तरप्रतिपाद्यपुक्तिप्रकरैरेनेकशो वाधितत्वस्य प्रदर्शनादित्येतस्मिन् परिज्ञानेऽनादृताः, नरसिद्धवज्रात्यन्तररूपमत एव समयान्तरतत्त्वविलक्षणमनेकान्ततत्त्व यथावदनवबुध्यमानाश्चरणकरणयोः सार फल निश्चयशुद्ध निश्चयश्च तच्छुद्धश्च ज्ञानदर्शनोपयोगात्मकनिष्कलङ्क न जानन्ति नानुभवन्ति, ज्ञानदर्शनचारित्रात्मककारणप्रभवत्वात्तस्य, कारणामात्रे च कार्यस्याऽमम्भवात्, अन्यथा तस्य निर्हेतुकत्वापत्तेः, चरणकरणयोश्च चारित्रात्मकत्वात्, द्रव्यपर्यायात्मकजीवादितत्त्वावगमस्वभावरूपभावेऽभावात्, अथवा चरणकरणयोस्सारं निश्चयेन शुद्ध सम्यग्दर्शनं ते न जानन्ति, न हि यथावस्थितवस्तुतत्त्वावबोधमन्तरेण तद्बुद्धिः, न च स्वसमयपरसमयतात्पर्यानिवृत्तमे तद्बोधो धोटिकादेरिव सम्भवी । अथ जीवादिद्रव्यार्थपर्यायार्थाऽपरिज्ञानेऽपि यदर्हद्विरुक्त तदेवैक सत्यमित्येतावतैव सम्यग्दर्शनसद्भावः “मण्णइ तमेव सच्च गिस्सक ज जिणेहि पण्णत्त” इत्याद्यागमप्रामाण्यात्, न, स्वसमयपरसमयपरमार्थाऽनभिज्ञैरिनावरणज्ञानदर्शनतात्मकजिनस्वरूपाज्ञानवद्विस्त्वदभिहितभावानां सामान्यरूपतयाप्यन्यव्यवच्छेदेन सत्यस्वरूपत्वेन ज्ञानमशयत्वात्, नन्वेवमागमविरोधः सामायिकमात्रविदो

शक्तिप्रतिपादनात् सकलशास्त्रार्थवैकल्यव्यवस्थे

फलाञ्जनात्, न च यथोपदर्शितचरणकरणे मय्यदर्शनत्रैकल्ये सम्भवति, ज्ञानादित्रितय-  
स्यापि तत्र पाठादिति, मैवम्, ये यथोदितचरणकरणप्ररूपणासेवनद्वारेण प्रधानादाचार्यास्त्व-  
समयपरसमयवृत्तव्यापारा न भवन्तीति नञोऽत्र सम्बन्धात् ते चरणकरणमार निश्चय-  
शुद्ध ज्ञानस्यैव, गुर्वावया प्रवृत्ते, चरणगुणस्थितस्य सा शोः सर्वनयनिश्चयतयाऽभ्युपगमात्  
“ त सब्रणयविसुद्ध ज चरणगुणद्विओ साह ” इत्याद्यागमप्रामाण्यात् । अगीतार्थस्यापि  
गीतार्थनिश्चितस्य तत्पारतन्त्र्यस्यैव फलतो ज्ञानदर्शनलक्षणत्वात् । आह च हरिभद्राचार्यः—

“ गुरुपारतन्त्रनाण, सहृहणं एय सगय चेष ।

एत्तो उ चरिन्तीण, मासतुसार्हण निदिष्ट ॥ ११-७ ॥ स्ति ”

गीतार्थाऽनिश्चितागीतार्थस्य स्वतन्त्रचरणकरणप्रवृत्तेर्भताद्यनुष्ठानवैकल्य त्वभ्युपगम्यत  
एव । “ गीपत्यो य विहारो, चीओ गीपत्यमीमि ( निस्सि ) ओ मणिओ । इत्तो तइयविहारो,  
नाणुजाओ जिणवरेहि ॥ १ ॥ ” इत्याद्यागमप्रामाण्यादिति ।

यदा पूर्वोक्तयोश्चरणकरणयोः प्रधानाः—तदनुष्ठानापितत्रिकरणाः, स्वसमयपरममय  
वृत्तव्यापाराः—अय स्वसमय\* द्रव्यार्थिकनयापेक्षया स्यान्नित्यमेव पर्यायार्थिकनयापेक्षया  
स्यादनित्यमेवेत्यादिमत्तमङ्गीपरिकरितार्थबोधचनकृत्यात्, अयञ्च परममयः अन्यनया-  
नपेक्षनयगोचरैकान्ततत्त्वप्रतिपादकत्वात्, इत्येतस्मिन् परिज्ञानेऽनादृताः, तत्तन्मयप्रसृतत  
त्त्वपरममयप्रतिपादैकान्ततत्त्वचक्षुष्याने नयान्तरप्रतिपाद्येन तत्त्वतत्त्वनिराकरणशुक्तिममूहे-  
नाप्रामाण्यज्ञाने मत्येव तद्विषयासत्यत्वनिश्चय, तस्मिन् सति प्रमाणनयाभ्यां स्वसमय  
प्रतिपाद्यभिन्नापेक्षात्रिरुद्धक्षणाऽशुणि कत्वमित्यानित्यत्वाद्यनन्तघर्माक्रान्तानेकान्तात्मका-  
र्षयथार्थनिश्चयो भवितुमर्हतीति स्वपरममयतत्त्वमत्यामत्यस्वनिवेचनानुद्यमवन्तोऽनेकान्त  
तत्त्व यथावदनवबुध्यमानाः चरणकरणयोस्मार निश्चयेन शुद्ध सम्पद्दर्शनं ते न जानन्ति,  
एतो भगवता प्रवचनं भव्याद्विज्ञानानां स्याद्वाद्द्वानार्थमेवोपदिष्टमिति यथार्थस्याद्वाद  
निश्चयबोधमन्तरण स्वपक्षस्तन् परपक्षश्चासन्नित्येव स्वपक्षपरपक्षयोर्विधिनिषेधयोः कर्तुम-  
शक्यत्वात् नास्ति स्याद्वादत्वरुचिलक्षणसम्यक्त्वम्, जिनप्रज्ञप्तभावविषयकसमूहालम्बन-  
ज्ञानविशेषस्यैव रुचितयाऽऽम्नातत्वात्, तादृशबोधश्च वस्तुत्वव्यापकाऽनेकान्तत्वप्रति-  
सन्धानाहितवासनावतामेव, तादृशवामनाऽपि च स्वपरसमयनिरन्तरवृत्तव्यापाराणामेव,  
न च ते तादृशव्यापारा इति न निश्चयेन शुद्ध सम्पद्दर्शनमनुभवन्ति, “ छप्पिय जीव-  
निकाए, सहहमाणो ण सहह भावा ” इत्यादिनाऽत्र प्रागेयोक्तत्वादविविक्तपट्कापपरि-  
ज्ञानेऽपि स्याद्वादेन विविक्तपट्कापपरिज्ञान विनोद्यतस्तद्रागमात्रेण द्रव्यसम्यक्त्वस्येव  
प्रापि स्वसमयपरममयनिवेचनं विना द्रव्यसम्यक्त्वस्यैव भावात् । नन्वेव तथाविधाऽगी-  
तार्थस्य स्रष्टेपरुचिमम्यक्त्वमुच्छिद्येतेति चेत्, मैवम्, यत आद्यारुचेः प्रियगीतार्थाऽऽह्यम्



मार्गानुसारिणो यत्सम्यक्त्वं तद्द्रव्येण भुवते निपुणाः स्याद्वाद्प्रतिपत्तियोग्यतायास्त-  
 ज्ञान्यनिर्जराजनरुक्कर्मक्षयोपशमरूपायास्तेष्वखण्डितत्वात् । अभिहितश्च—

“ जिणवयणमेव तत्त, एत्थ रुई होइ दव्वस्सम्मत्त ।

जह् भावा नाणसिद्धा, परिसुद्ध तस्स सम्मत्त ॥ ” इति ।

एतच्च विवेचितं प्रागेव । यद्वा ये यदोदितचरणकरणप्ररूपणासेवनद्वारेण प्रधानादा-  
 चार्यात् स्वसमयपरसमयमुक्तव्यापारा न मनन्तीति नवोऽत्र सम्बन्धात् ते चरणकरणसार  
 निधयशुद्ध जानन्त्येव, गुर्वान्नया प्रवृत्तेरिति ॥ ६७ ॥

परस्परनिरपेक्षे ज्ञानक्रिये न मोक्षसाधिके किन्तु परस्परमापेक्षे एव ते, यतो मोक्षत्वा-  
 वच्छिन्नमप्रति न केवलक्रिया, न वा ज्ञानमात्र कारणम्, किन्तु मोक्षानुकूलशक्तिमत्त्वेन  
 रूपेण मिथस्तापेक्षज्ञानक्रियोभयमेवेति प्रतिपादयितुमाह—

नाण किरियारहिय, किरियामेत्त च दो वि एगता ।

असमत्था दाएउ, जम्म-मरणदुक्खमा भाई ॥ ६८ ॥

‘ नाणं किरियारहिय ’ ज्ञान स्याद्वादाद्धितजीवादिपदार्थसार्थप्रकाशक ज्ञान क्रियारहित  
 शास्त्रविहितपञ्चमहाप्रतादिसदनुष्ठानक्रियानिरपेक्षम्, ‘ किरियामेत्त च ’ क्रियामात्र च,  
 मात्रपदेन तदितरव्यवच्छेदादुक्तलक्षणज्ञाननिरपेक्षा क्रिया च यथोक्तानुष्ठानात्मिका, ‘ दो  
 वि एगता ’ ‘ द्वावप्येकान्तौ ’ अभ्यते गम्यते निश्चीयते इत्यन्तः, धर्मः, एकश्चासावन्त-  
 थैकान्तः, एकान्तथैकान्तथैकान्तौ, मित्रापेक्षाऽविरुद्धधर्मान्तरविनिर्मुक्तत्वेन केवलैकधर्मा  
 त्मकौ द्वावपि पक्षौ ‘ जम्ममरणदुक्खमाभाई ’ जन्ममरणदुःखेभ्यो मा भैपीरिति ‘ दाएउ  
 असमत्था ’ दर्शयितुममर्थो । नन्वेव तर्हि तेभ्यो मा भैपीरिति दर्शयितुं कस्ममर्थ इति  
 चेत्, उच्यते, परस्परमापेक्षसमृद्धितत्तदुभयात्मकपक्ष एव, तथाहि-पुरुषो न ज्ञानमात्रेण  
 भयेभ्यो मुच्यते क्रियारहितत्वात्, महानगरे दक्षमाने सति दृष्टपलायनमार्गपङ्कवत्,  
 न वा पुरुषः क्रियामात्रेण भयेभ्यो मुच्यते सज्ज्ञानरहितत्वात्, महानगरे प्रदीप्यमाने सति  
 दक्षमानगृहाद्यमिमुखपलायमानान्धवत् । तदुक्त विशेषावश्यकनिर्मुक्तौ—

“ ह्य नाण कियाहीण, ह्या अघाणओ किया ।

पासतो पगुलो दङ्गो, धावमाणो अ अघओ ॥ १ ॥ ” इति ॥ ११५९ ॥

यद्वा ज्ञानमात्र नेप्सितार्थप्रापक सत्क्रियाऽमहकृतज्ञानत्वात्, महारण्यदाहे सति दृष्ट  
 पलायनमार्गस्वदेशप्राप्त्यभिमुखगमनक्रियाशून्यपङ्कज्ञानवत्, क्रियाऽपि केवला नेप्सितार्थ-  
 साधिका सज्ज्ञानासहकृतक्रियात्वात्, अतिसकटपुरदाहे दक्षमानगृहाद्यमिमुखप्रपलाय-  
 मानान्धपुरुषगतिक्रियावत् । समृद्धितज्ञानक्रियोभयपक्षे त्वेवमनुमानप्रयोगः—सम्यग्ज्ञान

सम्यक्क्रियोमयवान् पुरुषो भयेभ्यो मुच्यते उभयसयोगरत्वात्, महाऽऽरण्यदाहभीतान्ब  
स्कन्धारूढपङ्कजदिति । तदुक्त विशेषावश्यकनिर्घुक्तौ—

“ सजोगसिद्धीए फल वयति, न हु एकचक्षेण रहो पयाइ ।

अघो य पद्गू य वणे समिचा, ते सपउत्ता नगर पविट्टा ॥१॥ ” इति ।

एतदर्थसंवादकतयोक्तश्चान्यत्र—

“ चक्षुष्मानेक' स्यादन्धोऽन्यस्तन्मतानुवृत्तिपरः ।

गन्तारौ गन्तव्य प्राप्नुत एतौ युगपदेव ॥ १ ॥ ” इति ।

यद्वा सम्यक्क्रियासम्यग्ज्ञानोभय इष्टफलसिद्धिजनक परस्परसहकारित्वात्, अन्धपङ्क-  
सम्यक्क्रियाज्ञानोमपवदिति । नन्वेन ज्ञानक्रियाभ्यां द्वाभ्यां जन्ममरणमयविमृक्ति  
लक्षणमोक्ष इति प्रतिपादितम् ।

“ नाण पयासय सोऽओ, तवो सजमो य गुत्तिकरो ।

तिण्ह पि समाओगे, मोऽओ जिणसासणे भणिओ ॥११६९॥” इति ॥

विशेषावश्यकनिर्घुक्त्या तु ज्ञानतप'सयमेभ्यस्त्रिभ्यो मोक्ष इत्यभिहितमिति कथं न  
विरोध इति चेत्, अज्ञानविलसितमेतत्, तपःसयमयो, क्रियारूपत्वेन तपोः क्रियाया-  
मेवान्तर्भावात् । तदुक्तम्—

“ सजमतयोमई ज सवरनिज्जरफला मया किरिया ।

तो तिगसजोगो वि हु, ताउ चिय नाण-किरियाओ ॥११७४॥ ” इति ।

एतेन सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग इति तत्तार्थाधिगमाद्यध्वरेणापि सह विरोधो  
निरस्त', यतो ज्ञानप्रद्वेषेनैवेह सम्यग्दर्शनमाधिप्यते, तदन्तरेण तस्याप्यभावात्, मिथ्या-  
दृष्टिज्ञानस्याज्ञानत्वेन पूर्वमेव प्रतिपादनात् । यद्वा मतिज्ञानस्यैव हृदिरूपो योऽप्यायांश्च  
स्तद्रूपत्वेन मय्यग्दर्शनस्य ज्ञानात्मकतया मद्गहनयामिप्रायेण मय्यग्दर्शनज्ञानयोर्ज्ञानत्वेन  
रूपेणैकत्वविवक्षणादिति, गोशृण्पन्थायेन सम्यग्दर्शनज्ञानयोः पृथग् विवक्षया तु  
सम्यग्दर्शनादिप्रितयस्यैव मोक्षानुकूलैरुत्थक्तिमत्त्वात्च्छिन्नकारणत्वलक्षण मोक्षमार्गत्व  
तत्तार्थाधिगमाद्यध्वरेण निहितमिति सर्वमवदातम् । ननु सम्यग्दर्शनादिश्रयस्य ज्ञान  
क्रियोमयस्य वा मोक्षकारणत्वमस्तु तथापि तदकन रूपेणैति चेत्, उच्यते, अन्नप  
व्यतिरेकाभ्यां कार्यकारणभावग्रह इति ताभ्यां सम्यग्दर्शनत्वेन सम्प्राप्तानत्वेन सम्यक्  
चारित्रत्वेन यद्वा ज्ञानत्वेन क्रियात्वेन प्रत्येकरूपेण मोक्षमप्रति स्वेतरसकलकारणसहकृतस्य  
सम्यग्दर्शनादः कारणत्वग्रहात्तत्तन्वापेक्षयैकैरुस्यापि परस्परसापेक्षस्य कारणत्वम्, सामग्री

वै जनिकेति न्यायात्प्रमाणापेक्षया मम्यदर्शनादित्रयममूहस्य ज्ञानक्रियोभयस्य वा मोक्षा-  
नुकूलशक्तिमत्त्वेन रूपेणैकमेव कारणत्वमित्यग्युपगन्तव्यम्, तत्र द्वारद्वारिभावकल्पनादि-  
कमधिक पूर्वमेवोक्तमिति ॥ ६८ ॥

दुरवगाहगम्भीराक्षोभ्यपदार्षरत्नरत्नाकरस्य नानानिधतरद्गोपमविविधतत्तन्नयमङ्गस्य  
नाऽऽत्मरूपानेकादित्यसमूहवस्तुताविकल्पदार्थप्रकाशस्य सवितृसहस्रवद्भास्वरत्नात्केनाप्य-  
नमिभवनीयस्य जिनवचनस्यापूर्वमाहात्म्यज्ञापनात्मकस्तृतिरूप शिष्यप्रशिष्यादावेतत्प्रक-  
रणाभ्ययनाऽविच्छेदार्थश्चाऽन्तिममङ्गल प्रतिपिपादयिषुः जिनवचनयथार्थगुणस्तनकरणै  
कलालतो विश्वविश्वार्च्यक्रमाब्जश्रीधरिः प्रकरणपरिसमाप्तावन्तिमगाथामाह—

मह मिच्छादसणसमूहमद्वयस्त अमयसारस्त ।

जिणवयणस्त भगवओ, सविग्गसुहात्तिगम्मस्त ॥ ६९ ॥

‘ मह ’ इत्यस्य ‘ जिणवयणस्य ’ इत्यनेनान्वयः, भद्र-कल्याण यथास्थिततत्त्व-  
ज्ञानोत्पादनद्वारा भव्याङ्गिघ्राताखण्डाऽप्रतिद्वन्द्वाऽऽनन्दसन्दोहाऽप्रतिघातिनीरुक्त्वप्रापकत्व  
मवै वाक्य क्रियया परिसमाप्यत इतिवचनात् अस्तिरति शेषः, रागद्वेषमोहान् भावारीन्  
जयन्तीति जिनाः, उच्यते यत्तद्वचनम्, जिनाना वचन जिनवचन तस्य, जिनप्रणीतवचनस्येति  
यावत्, अनेनास्य ‘ जिणान् सामन मिद्धं ’ इत्यनेनोक्त विशिष्टपुरुषप्रणीतत्वनिबन्धन प्रामाण्य  
निगमयति, “ सवणयमय जिणवयण ” इत्यागमोक्तिमनुस्मरचाह—‘ मिच्छादमणसमूहमह  
यस्य ’ इति-मिध्यादर्शनसमूहमयस्य-एकान्ततत्तन्नयप्रसूतनिखिलपरममयार्थविषयताभ्या  
पकविषयताकषोभोत्पादकस्य, अथवाऽऽनयवार्थे मयट्प्रत्ययविधानान्मिध्यादर्शनसमूहा  
नैगमादयः, “ एकेको वि सयविहो ” इत्यावश्यकनिर्घुक्तिवचनात् एकैकस्य नैगमादेर्न  
यस्य शतमेदत्वेन पूर्वं प्रतिपादितत्वात् शतशतप्रमेदविशिष्टा नयाः परस्परमापक्षतत्तन्नय  
वाक्यघातघटिततया अवयवा यस्य तन्मिध्यादर्शनसमूहमय, तस्य । सर्वैरेव क्षेत्रज्ञाश्राहि  
भिर्नैर्धर्मिलितै, सम्पूर्णमनन्तघर्मात्मक वस्तु निश्चीयते इति तन्निश्चयजनकत्वाद्भगवच्छासन  
नयसमूहात्मक प्रमाणम्, अत एव सम्पूर्णाभिमतफलसाधकम्, तदन्यशासन त्वेकश्रादिनय  
माप्रभतावलम्बित्वेन समग्रनयविकल्पप्रमाणम्, अतो न सम्पूर्णाभिमतफलसाधक विकल  
क्रियावत्, यथा निषक्प्रतिचारकातुरौषघाद्यन्यतराङ्गनिकला क्रिया न सपूर्णाभिप्रेतकल  
माघनी तथाऽन्यशासनमपि । जिनशासन तु सकलनयात्मकापिकलाङ्गसम्पन्नत्वेन न तथा  
निधमित्यभूतस्य तस्य । ननु मिध्यादर्शनानां तत्तन्नयप्रसूतपरप्रवादानां प्रत्येकावस्थायां  
मिध्यादृष्टित्वात् तन्मूहेऽपि प्रचुरविपलनसमुदाये विपत्राज्यैरत् महामिध्यादृष्टित्वप्रसक्त्या  
तन्मय चिनवचनमपि कथं मम्यग्भात् प्रपद्यते, यतो न हि विपकणिकासमूहमय क्रिमपि  
वस्तु अश्वतभाव प्रपद्यमान केवामपि दृष्टिगोचर भवतीति चेत्, मेवम्, वस्तुतत्त्वानव-

बोधत्, यतस्ताथाद् दृश्यत एव प्रचुरविपलवसमूहोऽपि प्राहकुशलक्रियपीयूषपाणिमहार्यं च  
 कृतमिथोविशिष्टद्रव्यसयोगनिशेषापादितपरिणामान्तराऽऽपन्नो निर्विपीसन्नगदरूपता लोह-  
 समूहोऽपि स्पर्शमणिस्पर्शतस्सुवर्णभावमात्मसात्कुर्वाण इत्येतस्मिन् लोकसिद्धे किं विनादेन ?  
 तद्वत् मिथ्यादर्शनसमूहोऽपि स्याद्वादतच्चत्रयथास्थानविनियोजितपरस्परसापेक्षभावोऽत एव  
 दूरीभूतविरोधभावत्वेनाऽविरोधभावङ्गतः समामादितस्याद्वादस्वरूपस्सम्बन्धत्वमासादयतीति  
 यथार्थभावेन सर्वनपविपयप्रतिपादकतया तन्मय जिनवचनमपि सम्प्रग्रूपमेव, अत  
 एव जिनवचनसमुद्रस्यैते प्रत्येकनयास्तरङ्गा वेदान्तमाह्वयगौद्वादितत्तदर्शनप्रकृतिभूताः,  
 तन्मयश्च जिनवचनसमुद्रो रत्नत्रयममल प्रखत इति तदर्थिनस्वत्कर्तारि भवन्त नग्रीभूया  
 श्रयन्ते, अभिहितार्थसवादि चेद नादिगनकेशरिश्रीसिद्धसेनदिवाकरभगवद्वचनम्—

“ नयास्तय स्यात्पदलाञ्छना इमे, रसोपधिद्धा इव लोहघातवः ।

भवन्त्यभिप्रेतफला यतस्ततो, भवन्तमार्याः प्रणता हितैपिणः ॥१॥” इति ।

‘अमयसारस्म’ इति-न विद्यते मृत मरण यस्मिन् असौ अमृतो मोक्षः, त मारयति-  
 गमयति मोक्षस्वरूपप्रतिपादकत्वाद् बोधयति मोक्षकहेतुतया त प्रापयतीति वा यत्त  
 अमृतसारम्-तस्येत्यर्थः । ‘अमयसायस्स’ इति पाठे तु अमृतत्वं स्याद्यते यत्तदमृतत्वाद्-  
 अमृततुल्यमिति यावत्, अमृतमासाद्यमानमनिर्वचनीयानन्दमन्दोहं जनयति तद्वदिदमपि  
 निनवचनमधीयमान श्रूयमाण वा शुक्लपाक्षिकसविग्रभविग्रातानामनुपमप्रमोदभरमुत्पा  
 दयति, एवविषयस्य तस्येत्यर्थः । भगवतो-क्षीराश्रवाद्यनेकलब्ध्याद्यैश्वर्याद्यर्थममन्वि-  
 तत्वेन भगवतः, अनेन विशेषणेन तस्य ऐहिकमम्पद्विशेषजनकत्वमाह । सविग्गसुहा-  
 दिगम्मस्स’ सविग्गसुखाधिगम्यस्य, सविग्गैः “ यथेह लज्जाम्भोमि, पूरितो लवणो-  
 दधिः । शरीरमानमैर्दुःस्वैरमह्येयैर्भवस्तथा ॥ १ ॥ ” इत्येव भवस्वरूपभाजनया भवनि-  
 मुखैः, कारागारविपुत्रैः कारागार इव ससारोऽनन्तदुःखमयस्थानत्वेन तैर्ह्येव एव, अव्या-  
 पाधाखण्डपरमानन्दैकनिकतनत्वेन तद्विपरीतलक्षणो मोक्षोपादाय एतेत्येव परमार्थतत्त्वं  
 विचारणया मोक्षमभिलिप्सुभिः “ काम ! जानामि ते मूल, सङ्कल्पात् किल जायसे ।  
 अतस्त न करिष्यामि, ततो मे किं करिष्यसि ? ॥ १ ॥ ” इति भाजनया कारणात्मक-  
 सङ्कल्पोच्छ्रित्या तत्कार्यभूतकाममोगामक्तिनिवृत्तैः, भवामिनन्दिनां जिनवचन कर्णशूलाय  
 मानमिति न तु तै, इदमेव जिनवचन श्रोतृयथार्थानुबोधजनकत्वेन तस्य भ्रमप्रमाद-  
 विप्रलिप्ताद्यनामक्तपुरुषप्रणीतत्वेनाऽविसवाद्यऽसद्विगद्यत्वादिगुणोपेतमित्यतः सुनेनाधि-  
 गम्यन्तेऽवबोध्यते यत्तत् सविग्गसुखाधिगम्यम्, एतद्विशेषणेनापि विशिष्टतुल्यतिशय-  
 सवित्समन्वितपतिवृषनिषेच्यत्वमस्य प्रतिपादितम् । एतद्विधगुणगणालङ्घतस्य जिनवचनस्य

सामायिकादिभिन्दुसारपर्यन्तश्रुताम्बोधेः कल्याणमस्त्विति प्रकरणपरिसमाप्तौ अन्त्यमन्त्रं  
सम्पादनार्थमसाधारण्यार्थगुणोत्कीर्तनात्मिका स्तुतिमाह हरिर्भगवानिति भावः ।

कल्याणकृद्दर्शनसूरिगीत-गुणौघतीर्योदयसूरसूरिम् ।

मत्तया सदाऽऽनन्दनताङ्गिसूरिम्, विशुद्धविज्ञानविकाशधरिम् ॥ १ ॥

मध्यात्मपद्योल्लमनार्कसूरिं, विपासुतत्त्वाऽमृतपापिसूरिम् ।

अपूर्वावप्यवरास्यसूरिं, कस्तूरसा स्तौति न नेमिसूरिम् ॥ २ ॥

दिदूमात्रमेव समदर्शि तृतीयकाण्डे, द्रव्यानुयोगमितिमङ्गनयागमान्धेः ।

नव्योक्तिमेरुमधनात् पिषतात्तदुत्थ, सन्त्यज्य दुर्नयविष सुनयामृतं ह्यः ॥ ३ ॥

पवित्रेऽहंचैत्यैर्धुपुर इव प्रह्लादनपुरे, चतुर्मास स्थित्वा स्वगुरुकृपया वैक्रमशुभे ।

शराभ्रद्युब्धे नवतिजिनरूप्याणकदिने, तृतीये काण्डेऽह लघुविष्टृतिपूर्तिं विहितवान् ॥३॥

इत्यतिविषमैदयुगीनकालप्रमात्रक्रमिकप्रहीयमानायुर्वलोत्साहश्रद्धासन्नेगश्रवणाकाह्लाऽत्र-  
धारणादिशक्तीनां भव्याङ्गिमातानां प्रमाणनानाविधनयनिशेषसप्तमङ्ग्यादिसङ्घटितजिन  
वचनप्रतिपादानेकान्ततरत्रश्रवणमेव दुर्लभम्, श्रुत्याऽप्यतिक्रुण्ठितप्रज्ञत्वात्तेषां सर्वनयप्रपञ्च  
संस्कृतधीगम्यतरत्रावबोधो दुश्शक्यः कदाचित्कथञ्चिदुपजाततथाविद्यज्ञानावरणकर्मक्षयोप  
शमप्रारब्ध्वाचस्वावबोधो सुशक्येऽप्यध्यापनकाले परप्रत्यायन प्रत्यादरः कार्यसन्मुखभाव  
गमयितुमशक्यः, तस्य तथाभावेन गमयितुं शक्यत्वेऽपि महान्न्यार्थसस्मरणं स्मृतार्थप्रतिपाद  
नञ्चास्यन्तरेणशयेति मत्वा जिनामिहिततरत्रजिज्ञासवो विस्तरग्रन्थभीरवोऽमी विनीतविनेया  
मन्यस्यदृष्टयोऽऽ एवाऽनाग्रहिणो विनेयभावेनोपसन्नाः ऋष नामाल्पग्रन्थेनाल्पीयसा कालेन  
पूर्वाक्ततरत्रमधीयेरन्नित्यनुग्रहबुद्ध्या " दूमनिसादिवागररूपस्रणजो " इत्यादि पञ्चवस्तुवच  
नाद् दुःपमाकालनिशादिवाकररूपत्वेनवाप्त्यर्थनाम्ना तार्किकशिरोमणिश्रीसिद्धसेन-  
दिवाकरेण प्रणीतस्य निर्हारदत्तच्छवाग्लटामदवारिप्रयादिद्विरदपनघटाऽकृण्ठधीनियोजित  
युक्तियातात्मरुक्मपीठमेदिवज्जोपमद्रव्यानुयोगप्रतिपाद्यापेक्षामेदप्रयोज्याविरोचभाक्तरदत्-  
दान्मरुनेकान्ततरत्रप्रामाण्यनिश्चयाकाऽमेधयुक्तिव्रातसङ्घटितस्य सम्मतितर्कप्रकरणस्य  
विश्राणुपमप्रौढप्रभावप्रमावितरीतरागप्रसङ्गामन -तीर्थोद्वारैकधुसीण -धीतपोगच्छनमोनमो  
मणि-शामनमन्नाद् -मद्धारकाचार्य-श्रीविजयनेमिसूरिश्चरचरणारविन्देन्द्रिरायमाण-  
-तत्पद्मविचन्द्र-समज्ञानपापवाचस्पति-सिद्धान्तनिशारदविठ्ठ-तपोगच्छमद्धारकाचार्य-  
-विजयदर्शनसूरि-निरचिता सम्मतितर्कमहार्णवावतारिकारूपसम्प्रसिद्धकैकशुटीका  
समाप्तिमगादिति ।

## ॥ अथ प्रशस्तिः ॥

इत्थं सम्पन्निकर्माद्यैः कथाप्रयोगैरे,  
 मृतं प्रोक्तवाक्यैश्च वादप्रयोगैर्निर्णीतम् ।  
 वाम्प्रत्ययप्रयोगैर्विदुषा विद्वन्मनोराजैर्न,  
 दृष्ट्वा वा प्रददन्ति कुम्भनन्दनकाञ्चनानि न वै ॥ १ ॥

तां अपि मुखात्प्रवृत्तैः सौख्यैरेवैव मदा,  
 मन्मथैः सविता अथवाक्यनिर्णयैः नञ्जीनरी ।  
 अथवाक्यविराजितैः कविभिः कान्दकेन्दैः मदा,  
 न्यायार्थव्यवहाराङ्गुलिभोजनानां विदां दृष्टिना ॥ २ ॥

नित्या नामन एते वादादपि न्यायैः कवेः वन्द्यो,  
 नरो विद्वत्विद्यायुक्तेषु प्रवृत्तैः कान्दकेन्दैः नागमः ।  
 वाक् क्विन् विद्वन्मनुकैः कान्दकेन्दैः कान्दकेन्दैः कान्दकेन्दैः,  
 तादादायमचञ्चिता नृप सहेन्दैः न चान्यागमः ॥ ३ ॥

वादिभ्यश्चनविता तु प्रवृत्तैः कान्दकेन्दैः युक्तिवो,  
 तादेन्दैः कान्दकेन्दैः न विद्वत्ता विदि प्रवाति स्फुटम् ।  
 म्माशागेभ्यश्चनविता पन्थमनङ्गीमयो,  
 निर्वैराणुपतो न वादिनिर्णयैः मवेत्तरतः ॥ ४ ॥

वादिभ्यश्चनविताश्च मन्मथैः संनयिता लक्षण,  
 प्रत्येकं तु विमर्षितं सुवर्तैः पर्ययया दक्षिणम् ।  
 वीणां वचनं दृष्टिदमदरे सवादिनायादृत्वम्,  
 वचनं न पदद्वयं ददाति तमुक्त्वा ममुक्त्वामितम् ॥ ५ ॥



# ॥ अथ प्रशस्तिः ॥

ग्रन्थे सम्मतितर्कनामचिदिते काण्डप्रयोच्छासिते,  
 मूले धृतिरगाधवीचनवता वादप्रयोच्छासिनी ।  
 अख्यामाऽमयदेवसुरविदुषा विद्वन्मनोरञ्जिनी,  
 दृग्वा या प्रभवन्ति कुण्ठमतपस्तत्राऽवगाढ न वै ॥ १ ॥  
 तेषां तत्र सुखानगाहनकृते नौकोपमेयं मया,  
 व्याख्यात्या रचिता प्रमाणनयनिशेषेभ्य मङ्गीमरैः ।  
 तच्चत्तत्रविचारसारकलिताऽस्तवानन्दकेनै सदा,  
 न्यायाचार्ययशस्सीकृतपथोव्लामा विदां दृष्टिगा ॥ २ ॥  
 नित्यो नागम एति मानपदवीं नाऽपौरुषेयस्तयो,  
 नेद्यो विश्वविचायकोऽस्ति प्रमितस्तत्कर्तृको नाममः ।  
 आप्तः किन्तु जिनस्तदुक्तिरमनाऽनकान्ततत्त्वान्वया,  
 स्याद्वादागमसञ्ज्ञिता ननु भवेन्मान न चान्यागमः ॥ ३ ॥  
 वादिवातसमर्थिता तु सकलैकान्तप्रया युक्तितो,  
 वादऽन्योऽन्यकदर्शिता न विमलां सिद्धिं प्रयाति स्फुटम् ।  
 स्याद्वादोऽमलनीतिसङ्गकलितो यत्सहमङ्गीमपो,  
 नियोगानुगतो न वादिनिकरैर्दूष्यो भवेत्तत्त्वम् ॥ ४ ॥  
 नीतिव्यामिममामतोऽत्र सकला संनष्टितां तद्वत्,  
 प्रत्यक तु विभावित बुधवरैर्पयप्रया दर्शितम् ।  
 सरीणां यचन तदिष्टमनये सवादन दार्ढ्यम्,  
 यत्तत्र च यदुक्तं तदाग्निं ह्युक्तम् ॥ ५ ॥  
 मद्वास्तमनयप्रपासुमयाः मन्दर्शिनः केदरे,  
 यो मङ्गलः यतो नवाद्दत्त इवेककालेनम् ॥  
 पो धर्मो यदप्यथाऽत्र क्लेशे मन्त्रेऽस्ति तदर्थम्,  
 युक्तिमात्रमयनं सुविशेषं ॥ ६ ॥  
 सुख्यैकैकमुददिदं सत्त्वं ब्रह्म त्स्वभावात् ॥  
 द्विदिदिधर्मैरेकवत्त्वं सत्त्वं तद्वत् ॥  
 त्रिदिदिधर्मैरेकवत्त्वं सत्त्वं तद्वत् ॥  
 चतुर्दिदिधर्मैरेकवत्त्वं सत्त्वं तद्वत् ॥



निक्षेपेषु सुलक्षितेषु सकलव्यापित्वमेकैकशो,  
 नामादेरुपपादित मतमिदाप्याविष्कृता सागमा ।  
 नीतीनामिह योजना नियमिता सवादिता कल्पना-  
 शिल्पानां वचनैः सुयुक्तिकलितैः पक्षप्रथाभासुरैः ॥ ८ ॥  
 द्रव्यार्थस्य नयस्य यश्च विषयः सामान्यनामाखिल-  
 व्यापी द्रव्यपदार्थ एक उदितो नित्योऽनुगामित्वभाक् ।  
 यः पर्यायनये विशेष इतराऽसम्भिन्नरूपस्तयो-  
 रेकान्ताऽनुमतिं विधूय विमर्तां मापेक्षता स्यापिता ॥ ९ ॥  
 ध्रौव्य द्रव्यनयाश्रित जनिलयौ पर्यायनीत्याश्रितौ,  
 समिन्न त्रितय प्रतिक्षणगत सरं समस्तेष्वपि ।  
 प्रोक्त तत्प्रभुणा यथा प्रमितितो विज्ञैस्तथा साधितम्,  
 यच्चैकान्तिमत कदाग्रहगत सत्य ह्यत तत्स्फुटम् ॥ १० ॥  
 सत्कार्यादिप्रथाऽपि कापिलमुखैरादेदिता खण्डिता,  
 ह्यन्योन्यप्रतिपक्षभावलमिता साऽन्योऽन्ययुक्त्याऽऽहता ।  
 स्याद्वादिप्रविभाजिता तु सदसत्कार्यप्रथा मानतो,  
 निर्णीता परवादिभुक्तिनिकरैर्नैवापनेया वरा ॥ ११ ॥  
 एकान्त्यन्यतमप्रवर्तितमते क्लृप्तापि नो युज्यते,  
 हिंसादिर्निजलक्षणैकनिपतो मेदप्रमेदाश्रितः ।  
 स्याद्विसादिकमार्हते तु सकल पट्टकायग युक्तितोऽ-  
 ऽनेकान्त परकीयभुक्तिनिबन्धाऽनालीढमुत्तम्भितम् ॥ १२ ॥  
 ससारो न च युज्यते परमते तत्कारणाऽयोगतो,  
 नो भुक्तिः परवादिकल्पनगता तद्वैतयोगात्ततः ।  
 स्याद्वादेोक्तिममर्थितौ सजनकौ स्तो बन्धमोक्षौ उरा-  
 प्रित्यादि स्फुटमार्हते तु सकल युक्त्या व्यवस्थापितम् ॥ १३ ॥  
 ज्ञान चैकमपि स्वभावबलतः सर्वाविमास्यैव यत्,  
 तत्किञ्चिद्विषयावमासि नियताऽऽश्रयैव कर्मोत्थया ।  
 ज्ञान पञ्चविध ततस्त्वमिमत नैव स्वतस्तत्कृत-  
 त्तच्छ्रोचरहेतुशक्तिनियमः सस्थापितो युक्तिभिः ॥ १४ ॥  
 सर्वज्ञस्य प्रसिद्धिरेव-भूदिता तत्खण्डनप्रक्रिया,  
 मिमासाद्युपदौहिता प्रतिहता सक्षेपतो मानतः ।

धर्माच्च प्रसङ्गतो बहुविधा सन्दर्शिता सागमाऽ-  
 नेकान्तप्रविचारणा परमतोत्खातेन पुष्टिकृता ॥ १५ ॥  
 स्याद्वादे सकलार्थगे स्वयमपि स्याद्वादयुक्ते ततोऽ-  
 नेकान्तस्त्वनवस्थया न हि यथा दूष्यो भवेद्वादिमिः ।  
 तत्तद्युक्तिप्रदर्शनं ननु तथा न्योक्तिकान्तं कर्तुं,  
 श्रीमद्वाचकपुद्गल्योक्तिविमलाऽऽलोकोऽत्र सन्दर्शितः ॥ १६ ॥

पत्कर्मार्थकमार्हते तनुतयाऽनायातमसंयोगि तत्,  
 मान्य पौद्गलिक भवभ्रमणकृत् सञ्जादनादाश्रुतिः ।  
 तत्संपूर्णलये निराश्रुतिरसौ जीवोऽमलज्ञानवान्,  
 मुक्तस्त्रिद्विशिलातले विजयते स्वानन्दपूर्णो विशुः ॥ १७ ॥

मुक्तेर्मार्गे उदीरितो निनत्ररं स्तनत्रय त्वात्मनो,  
 ज्ञान दर्शनमस्त्वलद्रति तथा चारिप्रमेतभ्रिकम् ।  
 एकैकं न च तत्समर्थममितो मुक्तौ न चैवाश्रुतम्,  
 सम्पक् तभ्रितय मुनिर्भूतिहृते वाञ्छन्ति तद्योगिनः ॥ १८ ॥

तत्राशेषविशेषगोचरचर ज्ञान मत्र केवल,  
 सामान्य त्वस्त्रिलं प्रकाशयति यन् त केवल दर्शनम् ।  
 एकस्मिन्समये तयोस्तु भवन श्रीमद्भवादी जगौ,  
 सिद्धे श्रीत्रिनमद आप्रवरत्नैर्दानिकृन्तु यजे ॥ १९ ॥

न्योक्तिप्रविताननैकनिपुन श्रीसिद्धमेनो जगौ,  
 मेदो नैव तयोम्भवतो न च तदाऽऽन्योर्निदा कर्त्तव्यः ।  
 स्वासामान्यविशेषगोचरकृता नेदरसौ वाचिकी,  
 तस्मात्केवलमेकमेव निश्चिदो ज्ञानं दर्शनम् ॥ २० ॥

रन्ध्रे मिय एव युक्तिवन्तो गदान्कान्तं किं,  
 तथकीत्यवन्तन्वेन प्रदिदे नेदे निश्चिद्वन्तुः ।  
 नाज्ञानादुपदौहित न च निश्चिद्वैक्यने ददु,  
 श्रीमद्वाचकपुद्गलेन वदन्तः तद्वाचिके १९०० ॥ २१ ॥

एव निरुक्तमन्वयं चैतरे चारीते चैतरे  
 तन्प्रायश्चित्तोक्तिं तु सङ्घर्षे नै के चैतरे  
 स्यान्नागान्य विदे अन्वयं चैतरे निश्चिद्वन्तुः  
 मता चत्त निश्चिद्वैक्यने चैतरे चैतरे चैतरे ॥ २२ ॥

मिथ्यैकान्तनयोष एव प्रथितश्चैकान्तताऽपाकृतौ,  
 सापेक्षोक्तिविराजितस्सुसमयः स्याद्वादानामाऽमलः ।  
 गम्यगदर्शनमेष एव सुनय\* धर्माऽग सज्ज्ञानजा,  
 येषां ते चरणैकतानहृदया मुख्यङ्गनालिङ्गिताः ॥ २३ ॥  
 नानैकान्तमत निरर्गलतया मर्वत्र लब्धोदय,  
 क्षेप्तु कोऽपि कृती विद्वेकचतुरो योग्यो मवेद्वादिषु ।  
 यस्याचित्रमनेकमेकमुदित वैशेषिकाद्यैस्तथा,  
 बौद्धैर्ज्ञानमपीदृश च प्रकृतिः साङ्ख्यैश्चिथिता तादृशी ॥ २४ ॥  
 इत्याद्या विषयाः प्रसङ्गशतशान्ये विधादालया,  
 युक्तिप्रातसमर्थिता ननु मया मोदाय निघावताम् ।  
 गङ्गाम्भोमिलिता भवन्ति शुचयो नापः कुगर्तोद्गता,  
 किं ? तद्वद्विषया इमेऽपि प्रथिताः स्याद्वाद्दमद्गोदुराः ॥ २५ ॥  
 प्राचीनोक्त्युपशोभिता श्रुतवचस्तनादवद्वादरा,  
 घृत्तिस्सम्मतिरर्कगूढविपर्ययदम्पर्यमात्रान्वया ।  
 नन्वेवास्तु तथापि नूतनधिया नोपेक्षणीया बुधै-  
 र्यस्मान् मूलमशेषमेव सुगम समर्गतोऽस्याः स्फुटम् ॥ २६ ॥  
 धीमन्तो बहुधाधिपाऽऽलिमहिता चार्चयमानां घराः,  
 न्यायव्याकरणादिशास्त्रनिचपप्रोच्छासवद्बोद्यमाः ।  
 हेमव्याकरणोक्तिमङ्गमनया हेमप्रभायां कृति,  
 कृत्वा पाणिनिजां कृतिं बहुमतां कुर्यन्त ईपत्रभाम् ॥ २७ ॥  
 जैनन्यायविचारसारघटितां न्यायप्रभाख्यां कृति,  
 कृत्वा बौद्धविचारखण्डनपरे सत्खण्डखाद्येऽमले ।  
 न्यायैकान्तकथामशुद्धयपनयान्कुर्यन्त आप्तोद्गतां,  
 जैनन्यायकथाप्रचारनिरताः शास्त्रार्थवद्वादराः ॥ २८ ॥  
 नीतिप्रातसमर्थनैकमनसो नीत्यर्थशास्त्रोद्यमाः,  
 स्याद्वादोभविषुद्भयो निजकृतिप्रोञ्जितस्रोचयाः ।  
 \*अन्याऽमातत्रिमात रूल्पनिकरश्रीमसभङ्गीगिरो ।  
 युक्तिप्रातसुगुम्फितैकलसितथीन्यायसिन्धुप्रमाः ॥ २९ ॥

\* अन्येषाममातोऽपि अविहितोऽपि विमातो विशेषेणावगत कल्पनिकरा पक्षसमूहो  
 यत्रैतादृशसमभङ्गीगिरो येषां ते तथा, अर्थाद्विशिष्टसमभङ्गीमन्मप्रजेतार इत्यर्थ ॥ २९ ॥

न्यायालोकविराजमानकृतपोऽर्हत्स्थापनापूजनाऽऽ-  
चान्तस्वान्तसुभक्तिपातप्रतिमामार्तण्डमत्कीर्तय ।  
स्पृश्यास्पृश्यविवेकप्रोषफलकग्रन्थक्रियाकर्मठा,  
वृष्या सम्मतितर्कशृत्तिगतया विद्वज्जनामोददाः ॥ ३० ॥

तीर्थोद्धारपरायणाः प्रतिदिन व्याख्यानतो धर्मगान्,  
श्रीसिद्धाचलदर्शनादिकृतये श्रीमङ्गयात्रोन्मुखान् ।  
सत्क्षेत्रेषु विविच्य मव्यमनसः सद्भवदानोद्यतान्,  
मन्वान् जनमतप्रचारचतुरान् कुर्वन्त इष्टार्थिनः ॥ ३१ ॥

श्राद्धं कोऽपि जिनार्चनादिविधुरो माभूत्क्वचिद्भावुको,  
धर्माराधनकृत्कदाऽपि समये चेत्याशयालिङ्गिताः ।  
श्रीसेरीसकदम्बतीर्थमद्भुवातालघ्नजादौ जिन-  
चैत्यानि प्रतिमाश्च कारयितुमत्युक्ताः प्रतिष्ठा जनैः ॥ ३२ ॥

स्त्रीणां प्रवराः श्रुतोक्तविधिना सम्यक्क्रियाऽऽराधनाः,  
सम्यग्ज्ञानविराजिता हतरिपुत्राताश्च महर्शनाः ।  
मन्त्राराधनतरपराः सुरगुरुप्रणामिमानापहा,  
अस्माकं गुरवो जपन्ति सुवने श्रीनेमिस्तुरीचरा ॥ ३३ ॥

\*यस्या नाऽऽस्प्यतुलाकथाऽपि शशिनाऽध्यात्रिफ्रतोपेक्ष्यते ?  
स्यात्पादेऽप्यवरोपिता कमलशी-ताश्वादिता नो वरा ।  
माता सुन्दरतादिकस्य न धनी बुद्ध्यादिमिस्सम्मतः,  
सा वीरप्रतिमाऽवरा मधुपुरी-सस्थाऽस्तु भूत्यै मदा ॥ ३४ ॥

\* यस्या वीरप्रतिमायाः शशिना चन्द्रेण सम, आस्यतुलाकथाऽपि सुखसादृश्यवर्णनाऽपि,  
नोपेक्ष्यते, काक्वा उपेक्ष्यते एव, यस्या पादेऽपि चरणेऽपि, अवरोपिता कल्पिता कमलशीता  
श्वादिता कमलचन्द्रत्वान्तिका, नो नैव, वरा भेष्टा स्यात्, सा कल्पनाऽपि वास्तविकसादृश्याऽ-  
भावाद्ऽप्युक्तेव । यस्या प्रतिमाया सुन्दरतादिकस्य सौन्दर्यादिगुणस्य माता एतादृशमस्यासौन्दर्या  
दिकमित्येव नियमनकर्ता, अपरिमितसौन्दर्यादिगुणस्य परिमितसौन्दर्यादिवर्णनमबोधविलि-  
सितमित्येतस्मात्कारणाद् बुद्ध्यादिमि बुद्ध्यात्मात्मकधनेन धनी धनवान् न सम्मतः, परीक्ष  
काणामिति क्षेपः, चतुर्थचरणार्थस्तु व्यक्त एव, अत्र शशिनाथाऽऽख्याध्यापकनाम, पिता कमलशी  
माता धनी, स्वनामसुन्दर इति रयापित भवति । इत्येव चतुर्विंशत्तमपद्यार्थो हेय ।

तद्गुह्यया गुरुभक्तिसम्बलितया वृत्तिर्मयोल्लामिता,  
 येय सम्मतितर्कतत्त्वमननैकान्तप्रसक्ताऽमला ।  
 साऽनेकान्तमतावगाहचतुरा बुद्धिं त्रिघायोज्ज्वलां,  
 ससारे च शिवे समानमनसा ह्युक्तिं विधत्तात्सताम् ॥ ३५ ॥

श्रीमद्दर्शनसूरिणा जिनमते श्रद्धा स्वकीया दृढां,  
 कर्तुं वृत्तिरिय जिनागमगतानेकान्ततत्त्वार्थगा ।  
 दृग्धाऽतो न परोपकारजनन चेन्मास्तु भक्तिर्दृढा,  
 स्वस्पैवास्तु निरन्तराभ्यसनतो जैनागमे कामिता ॥ ३६ ॥

पर्ये बाणखखाक्षिभिः ( २००५ ) परिमिते सवत्सरे वैक्रमे ।  
 मार्गोऽर्के धवल्ले च पालनपुरे त्रिश्वाधिपे सत्तिथौ ।  
 लघ्वी सम्मतितर्कशास्त्रविष्टिश्शास्त्रीयतत्त्वानुगा,  
 पूर्विं दर्शनसूरिणा वरगुरोर्नीता सुधादृष्टितः ॥ ३७ ॥

द्वेषः ह्युक्तिभिरस्ति क्लृप्तिसतधियामत्रास्तु नैवार्थिनः,  
 प्राज्ञ मन्यजना मनागपि न तत्स्पर्श क्षमन्ते तत' ।  
 स्यादेतेन परोपकार इति मे चित्तेऽपि नोऽहृममते,  
 स्वान्तस्तोषकृते श्रुतव्यसनिताऽत्रास्मान् न्ययुङ्क्त ध्रुवम् ॥ ३८ ॥

अनुपयोगतो जाता, स्खलना काचिदत्र ताम् ।  
 गुणैकदृष्टयस्सन्तः क्षमन्तामिति प्रार्थये ॥ ३९ ॥

विश्वातिशाधि श्रीवीरप्रभुशासनसमुन्नतिसमुन्नतमतिप्रकर्षाखण्डप्रौढ-  
 प्रभावशालि-सूरिसार्वभौम-शासनसम्राट्-सुगृहीतनामधेय-  
 श्रीतपोगच्छभट्टारकाचार्य-श्रीविजयनेमिसुरीश्वर-पट्टाल  
 ङ्काराऽऽप्तन्यायवाचस्पतिशास्त्रविशारदविह्व-तपोगच्छ  
 चार्य-श्रीविजयदर्शनसूरिप्रणीत-सम्मतितर्कमहार्ण-

वाचतारिकारयलघुटीकासमीचीन

॥ श्रीसम्मतितर्कप्रकरणं समाप्तम् ॥

॥ सम्प्रतिर्कमहावतारिकास्वटीकायाः शुद्धिपत्रकम् ॥

श्रु	पङ्क्तिः	जयदम्	शुद्धम्
१	१४	तमना	तमनाम्
१०	२७	इत्यादि म	इत्यादिम
१४	२५	समुग्या	समुग्वा
१५	११	त्रितु	यितुं
१०	२०	सिद्ध	सिद्धं
२३	४	प्रामान्यग्रा	प्रामान्याग्रा
२५	१२	मान्तर	चाकचक्य
२५	१७	ज्ञानमपि	ज्ञानद्वयमपि
२७	१९	दोषमलादा	दोषमलादा
३३	९	मुष्टाय	मुष्टयाय
३४	३०	त्निकरनिर्ग	दिनकरनिर्कर
४	१५	इत्यादि मिद्धा	इत्यादिमिद्धा
४०	२८	त्मन	त्मन.
४१	२३	पग्नौ	परेक्षो
५१	१९	पन्या	पन्या
६०	२०	हाराति	हारविपयाति
६१	१०	व्यवहियते	अवहियते
६३	८	गुणिभूता	गुर्णाभूता
६४	४	योग काल	योगकाल
६४	१८	नय शाखा	नयः शाखा
६५	४	स्रज	स्रज-
६५	९	दृष्टव्य	द्रष्टव्य.
६५	१०	विशेष्यस्य	विशेष्यम्
६६	२४	धाम्यु	धाम्भ्यु
६८	१२	मेतत्, तस्य	मेतत् तस्य
६९	२६	प्योऽर्थः नदे	प्योऽर्थं, तदे
७०	६	बोधालुपपत्ति	बोधालुपपत्ति
७२	२९	स्वगाहि	स्वगाहि

शुद्धम्	पङ्क्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
७५	११	रिति स्वात	रिति, स्वात
७६	१३	इति ताम	इति नाम
७६	२०	तत्तदपेक्षा-	तत्तदपेक्षा-
८०	२७	इति, ताव	इतिताव
८१	१६	चोत्तरापे	चोत्तरोत्तरापे
८८	१०	पर्यायाश्चापि	पर्याया अपि,
९२	७	दि च	दिच
९३	२	रूया	रूया
९३	१२	निरस्ता	निरस्ता,
९४	२१	द्रव्यमि	द्रव्यत्वमि
९६	११	वचनेन भेदः,	वचने न भेदः,
९६	२६	स्तिरुनयास्तिरुनयाभ्यु०	स्तिरुनयाभ्यु०
१०३	२४	गुणा र	गुणाः र
१०६	४	विज्ञाता	विज्ञाय
१०६	४	गार्थं त	गार्थं त
१०७	१३	मिति " कर्म	मितिकर्म
१०७	१५	वह्य.	वह्ययः
१०९	२७	त्तत्त्वे	त्तत्त्वे
११२	७	तादऽभावे	तदभापे
११३	१४	ज्ञानप्रा	ज्ञानाप्रा
११३	१४	पयास	पयास
११३	१५	तत्प्रा	तदप्रा
११३	१५	वानपप्रा	वाक्याप्रा
११४	५	मन्य	मन्योन्य
११८	१४	प्रति-	प्रति-
१२०	२९	कारणेः द	कारणे द
१२१	१४	कम-वकार घटावारक	कोऽन्धकारो घटावारकः
१२४	१९	रेव भूत-	रेव हि भूत-
१२५	२०	त्याद् अ	त्याद्, अ

श्लोक	पङ्क्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्
१२८	६	नाप्युकारेण	नाप्युपकारेण
१२८	७	दिति तदेव	दिति । तदव
१२८	८	नुलग्धि	नुपनग्धि
१२८	१८	भेदाऽ	भेदाऽ-
१२८	२१	दान	दान-
१२८	२६	उपादान	उपादान
१३०	२	नुलग्धि	नुपनग्धि
१३०	८	कोऽपि हि कृ	कोऽपि कृ
१३३	१३	पिंरै	पिंरै
१३३	२१	बौद्धा विपं	बौद्धो विपं
१३३	२८	त्रिमद्रव	त्रिन्मद्रूप
१३४	२३	कारत्वान्	कारस्त्वान्
१३९	३	दृष्टव्य	द्रष्टव्य
१३९	४	पुद्रगले	पुद्गलेः
१३९	१५	इत्यम्या	इति, अम्या
१४१	३	तुलना	तुलना
१४२	३	त्रिदशेदा	त्रिदशे
१४३	२८	दमित्व	दमित्व-
१४४	२९	दृष्टव्य	द्रष्टव्य,
१४७	१	पृथक् ल	पृथक्लगत
१४७	१९	भवेद्विगोष	भवद्विगोष
१४७	३०	भू	भू
१४९	२२	पसार्य	पसार्य
१५०	२२	पञ्चत्वा	पञ्चत्वा
१५१	६	द्विक्त्त	द्विक्त्त
१५२	९	रमत्व	रमत्व
१५२	२०	दकृष्य	दकृष्य
१५४	८	ता नि	तानि
१५४	८	तनि	तविचिनि





पृष्ठम्	परिक्रम'	अशुद्धम्	शुद्धम्
१५४	१२	तत्त्वेन	तत्त्वेन
१५९	१८	क्रमसङ्घ	क्रम सङ्घ
१५९	३०	स्कारेण-	स्कारेण
१६३	२४	णियओ-नियत'	णियओ इति व्यवहितोक्त
१६३	२५	णियओ-इत्यस्यात्रा-	स्यात्रापि सम्बन्धान्नियतः
		प्यलुरुर्पणाद् नियतः	नियओ-नियत'
१६५	५	अव्यक्तत्रय च	अव्यक्तव्यं च
१६५	१४	व्यञ्जास्ति	व्यञ्च भवति
१६५	२२	दृष्टव्य	द्रष्टव्य
१६६	१	अत्रत्यव्यप	अत्रत्यव्यं
१६७	१०	दिदुर्नय	दिर्दुर्नय'
१६८	२३	ज्ञानस्यापि	ज्ञानस्य
१७०	३	या । तृतीय	या, तृतीय
१७०	१६	काङ्क्षाया	काङ्क्षा
१७१	९	वान्यम्, तान	वाच्यम्, न तान
१७१	९	तद्, एरु	तत्, तथा सति एरु
१७१	२९	घटित	घटित-
१७२	४	जिज्ञासा	जिज्ञासा-
१७२	६	रत्नात्	रत्नात्
१७३	१८	पर्याय, वस्तु	पर्यायं वस्तु
१७४	२४	दशे	देशे
१७६	२६	गत । न तु	गत, न तु
१७६	२९	एकोरस्त्वान,	एकोरस्त्वेष्व,
१७७	१	तृतीय भद्र	तृतीयभद्र.
१७७	५	अर्थनये	अर्थनये,
१८३	२४	योगान्	योगप्रसङ्गात्
	७	णेन १	णेन १ ।
	१३	तद्रूपेणासाधा	तद्रूपेण साधा

क्र.	श्लोक-	श्लोक	श्लोक
१८०	२०	ननुः ॥	ननुः
१८९	२१	ननुः ॥	ननुः ॥
१९१	२२	ननुः ॥	ननुः ॥
१९२	२३	ननुः ॥	ननुः ॥
१९२	२४	ननुः ॥	ननुः ॥
१९३	२५	ननुः ॥	ननुः ॥
१९३	२६	ननुः ॥	ननुः ॥
१९३	२७	ननुः ॥	ननुः ॥
१९६	२८	ननुः ॥	ननुः ॥
१९७	२९	ननुः ॥	ननुः ॥
१९७	३०	ननुः ॥	ननुः ॥
२००	३१	ननुः ॥	ननुः ॥
२०३	३२	ननुः ॥	ननुः ॥
२०३	३३	ननुः ॥	ननुः ॥
२०६	३४	ननुः ॥	ननुः ॥
२१०	३५	ननुः ॥	ननुः ॥
२११	३६	ननुः ॥	ननुः ॥
२१६	३७	ननुः ॥	ननुः ॥
२२०	३८	ननुः ॥	ननुः ॥
२२२	३९	ननुः ॥	ननुः ॥
२२४	४०	ननुः ॥	ननुः ॥
२२६	४१	ननुः ॥	ननुः ॥
२२८	४२	ननुः ॥	ननुः ॥
२२८	४३	ननुः ॥	ननुः ॥
२२९	४४	ननुः ॥	ननुः ॥
२२९	४५	ननुः ॥	ननुः ॥
२२९	४६	ननुः ॥	ननुः ॥
२२९	४७	ननुः ॥	ननुः ॥
२२९	४८	ननुः ॥	ननुः ॥
२३१	४९	ननुः ॥	ननुः ॥

पृष्ठम्	पङ्क्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
२३४	४	विरोधसामग्र्य	निरोधिसामग्र्य
२३४	१३	अभिलाप	अभिलाप
२३७	२१	सर्वार्थत्वा	सर्वार्थविषयकत्वा
२४५	१४	दृष्टव्यम्	द्रष्टव्यम्
२४६	२८	रूप विषयाशे	रूपविषयाशे
२४७	६	मस्मदृच्च	मस्मदृच्च
२४७	३०	नवविषयक	नवविषयक
२४८	२	नीत सर्वा	नीतसर्वा
२५०	९	वाचत्सादिः,	वाचत्सादिः,
२५३	२८	साउय जीरो	साउयजीरो
२५५	१	त्वात्माऽसद्ग्रह्येः,	त्वात्माऽसद्ग्रह्येः,
२५७	१४	प्रावचिरु	प्रावचनिक
२५७	२१	रण्यानी भय	रण्यानीभय
२६३	३	चिदि	चिति
२६९	१०	सत्,	सत्,
२७१	१	चद्रूपा	चद्रूपा
२७२	२१	पत्या	पत्या
२७७	१०	नेति । स्तन्य	नेति स्तय
२७८	१५	लक्षणशथ	लक्षणशथ
२८०	१६	पर्यायगुणा	पर्यायगुणा
२८०	३०	पर्यायाशे	पर्यायशे
२८०	३१	गुणा पर्यायाशे	गुण पर्यायशे
२८५	१५	मोति, यतो नहि	मोति, नहि
२९१	२२	निःस्त्वैक्यन	निःस्त्वैक्यन
२९२	७	स्याद्वादतस्तव तु	स्याद्वादतस्तु तव
२९३	५	कालभावे	कालभावे
२९७	८	गाथाटीकाया	गाथाटीकाया
२९७	९	भुवते	भुवते,
२९८	११	मयन्ते	मयन्ते,

पृष्ठम्	पङ्क्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
३००	२२	दृष्टव्याः	द्रष्टव्या
३०५	१४	स्वभावात्तयो	स्वभावात्तयो
३०५	२३	वस्तुनोऽभावात्	विगमस्याभावात्
३११	१०	प्रतिक्षेपा	प्रति क्षेपा
३१२	११	भ्योत्पत्त्यन्त	भ्योत्पत्त्यन्त
३१७	१०	महत्त्वा	महत्त्वा
३१८	११	तदात्मना-	तदात्मना
३२०	१०	सामग्री	सामग्री-
३२४	१३	शिरोमणिवाक्यमपि	शिरोमणिधृतवाचस्पति मिश्रवाक्यमपि
३२७	१६	चक्षुषे	चक्षुषे
३२८	१७	नियतसङ्ख्या	नियतसङ्ख्या
३२८	२२	भावेनऽ-	भावेनाऽ
३३०	५	निश्चयती	निश्चययती
३३२	१५	इत्युक्तलक्षणनैगमस्य	उक्तनैगमलक्षणस्य
३३२	२६	नयनत्वा	नयतत्त्वा
३३४	१२	तदानयादि	तदानयनादि
३३४	२५	अस्मिँल्लक्षणे	अस्मिँल्लक्षणे
३३५	३	त्यादि व्यय	त्यादिव्यय
३३६	१	प्रकृतिः स्का	प्रकृतिरुभ्या
३३६	१८	भ्युपगम	भ्युपगम-
३३६	२२	गतेन	गते न
३३८	७	यथेन्द्रशक्र	यथेन्द्रशक्र-
३४१	१०	प्रसृता	प्रसूता
३४१	१७	प्रसृता	प्रसूता
३४१	१८	दृष्टव्यम् ।	द्रष्टव्यम् ।
३४१	२८	सम्भता वयम्	सम्भतारयम्
३४२	२१	अभूवन्	अभूवन्
३४३	२६	उपप्लुत	उपप्लुत

श्लोकम्	पदिक्तः	अशुद्धम्	
२३४	४	विरोधसामग्र्य	
२३४	१३	अभिलाष	
२३७	२१	सर्वार्थत्वा	
२४५	१४	दृष्टव्यम्	सप्त
२४६	२८	रूप विषयाशे	५८
२४७	६	मस्मद्व्य	रूपनि
२४७	३०	नचकविषयक	मस्मद
२४८	२	नीत सर्वा	नचविष
२५०	९	वाचत्सादि,	नीतसर्वा
२५३	२८	साउय जीवो	वाचत्सादि
२५५	१	त्वात्माऽसद्व्ययः,	साउयजीवो
२५७	१४	प्रावचिरु	त्वात्माऽसद्व्य
२५७	२१	रण्यानी भय	प्रावचनिक
२६३	३	चिदि	रण्यानीभय
२६९	१०	सत्,	चिदि
२७१	१	चद्रूपा	सत्,
२७२	२१	पत्या	चद्रूपा
२७७	१०	नेति । स्तय	पत्या
२७८	१५	लक्षणश्व	नेति स्तय
२८०	१६	पर्यायगुणा	लक्षणश्व
२८०	३०	पर्यायाथे	पर्यायगुणा
२८५	३१	गुणा पर्यायाथे	पर्यायथे
२९१	१५	मोति, यतो नहि	गुण पर्यायथे
२९२	७	निरुत्त्वरुथन	मोति, नहि
२९३	५	स्याद्वादतस्तु तु	निरुत्त्वरुथन
२९७	८	कालभानै	स्याद्वादतस्तु तु
२९७	९	गाथाटीकाया	कालभानै
२९८	११	दुनते	गाथाटीकाया
		मयन्ते	दुनते,
			मयन्ते,

शुद्धम्	पङ्क्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
३००	२२	दृष्टव्याः	द्रष्टव्याः
३०५	१४	स्वभावनत्तयो	स्वभावनत्तयो
३०५	२३	वस्तुनोऽभावात्	विगमस्याभावात्
३११	१९	प्रतिक्षेपा	प्रति क्षेपा
३१२	११	भ्योत्पत्यन्त	भ्योत्पत्यन्त
३१७	१९	महत्त्वा	महत्त्वा
३१८	११	तदात्मना-	तदात्मना
३२०	१०	सामग्री	सामग्री-
३२४	१३	शिरोमणिवाक्यमपि	शिरोमणिधृतवाचस्पति मिश्रवाक्यमपि
३२७	१६	त्तदपेश	त्तदपेशा
३२८	१७	नियतसङ्ख्या	नियतसङ्ख्यया
३२८	२२	भावेनऽ-	भावेनाऽ
३३०	५	निश्चयती	निश्चाययती
३३२	१५	इत्युक्तलक्षणनैगमस्य	उक्तनैगमलक्षणस्य
३३२	२६	नयनत्वा	नयतत्त्वा
३३४	१२	तदानयनादि	तदानयनादि
३३४	२५	अस्मिँल्लक्षणो	अस्मिँल्लक्षणे
३३५	३	त्यादि च्यन	त्यादिव्यव
३३६	१	प्रकृतिरुस्का	प्रकृतिरुस्या
३३६	१८	भ्युपगम	भ्युपगम-
३३६	२२	गतेन	गते न
३३८	७	यथेन्द्रशक्र	यथेन्द्रशक्र-
३४१	१०	प्रसृता	प्रसूता
३४१	१७	प्रसृता	प्रसूता
३४१	१८	दृष्टव्यम् ।	द्रष्टव्यम् ।
३४१	२८	सम्भता वयम्	सम्भतावयम्
३४२	२१	अभूयन्	अभूयन्
३४३	२६	उपप्लुत	उपप्लुत

पृष्ठम्	पङ्क्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
३४४	१	दृष्टा	द्रष्टा
३४५	२१	द्वयत्रय	द्वयनयत्रय
३४५	२३	स्यात्पद्	स्यात्पद
३४६	३०	तथा चायं	यथा चाय
३४७	११	प्रसृत	प्रसूत
३५५	२१	कारत्वात्	कारत्वाद् ,
३५५	२३	दृश्यते	दृश्यते,
३५७	३	मात्मैव,	नात्मैव,
३५७	८	चेत्	चेत् ,
३५७	२५	पत्ते. ।	पत्तिः ।
३६१	२२	प्रवर्त्तितथा	प्रवर्त्तिततथा
३६२	६	रन्यापे	रयानपे
३६८	२६	देर्वाधित	देर्वाधित
३७०	१२	प्राथमिकी अवयव्याप्ति	प्राथमिकी व्यतिरेकव्याप्ति
३७२	१०	द्वितीया व्यतिरेकव्याप्ति	द्वितीया अवयव्याप्ति
३७२	१८	भया	भया-
३७४	१९	बौध	बौद्ध
३७६	३	नीलादिनी	नीलादीनि
३७६	३	व्याप्यवृत्तिन्यु	व्याप्यवृत्तीन्यु
३७९	१४	ग्रह इति	ग्रह इति
३८०	८	तथाभवत्त्व	तथाभव्यत्व
३८०	१५	दृष्टव्यम् ।	द्रष्टव्यम् ।
३८९	२३	त ए परुचि	तपरुचि
३९०	५	यदोदित	ययोदित
३९२	१७-२७	नयप्रसृत	नयप्रसूत







